हिन्दी समिति ग्रन्थमाला संख्या—२१३

धर्मशास्त्र का इतिहास

चतुर्थ भाग (अध्याय १ से २५)

मूल लेखक :
भारतरत्न, महामहोपाध्याय, डॉ० पाण्डुरङ्ग वामन काणे

अनुवादक :
अर्जुन चौबे काश्यप, एम० ए०

हिन्दी समिति

उत्तर प्रदेश शासन
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन
हिन्दी भवन
महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ

हिन्दी समिति ग्रन्थमाला संख्या---२१३

धर्मशास्त्र का इतिहास

चतुर्थ भाग (अध्याय १ से २५)

(व्रत, उत्सव, काल, पञ्चाङ्ग, शान्ति, पुराण-अनुशीलन आदि)

मूल लेखक

भारतरत्न, महामहोपाध्याय, डॉ० पाण्डुरंग वामन काणे

●

अनुवादक

अर्जुन चौबे काश्यप, एम० ए०

हिन्दी

समिति

उत्तर प्रदेश शासन

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन हिन्दी भवन

महात्मा गान्धी मार्ग, लखनऊ

● ● ●

धर्मशास्त्र का इतिहास

भाग ४

प्रथम संस्करण
१९७३

इस भाग का मूल्य
अठारह रुपये

प्रकाशक
हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश शासन, लखनऊ

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

प्रकाशक की ओर से

● ● ●

धर्म एक ऐसा व्यापक शब्द है जो सामने आते ही किसी जाति या समाज का इतिहास और उसके जीवन की भूमिका प्रस्तुत करने में समर्थ होता है। 'धर्म' शब्द में जाति विशेष की सभ्यता, संस्कृति, आचार-विचार, रहन-सहन, रीति-रिवाज तथा जीवन प्रणाली की प्रक्रिया और निदर्शन प्रस्तुत होता है। धर्म की परिभाषा भी हमारे दार्शनिकों, चिन्तकों और मनीषियों ने अपने-अपने समय, विचार और चिन्तन के परिणाम स्वरूप भिन्न-भिन्न रूपों में प्रस्तुत की है। 'धारणाद् धर्म इत्याहुः' के अनुसार धर्म जीवन का मूलाधार है। इसी से मनुष्य को प्रेरणा और प्रकाश उपलब्ध होता है। यही धर्म जीवन की गतिविधि और प्रगति में सहायक होता है। कहने का अर्थ यह है कि धर्म वस्तुतः संकुचित नहीं, अपितु विशद, महान् और उदात्त भावना से प्रकाशमान होता है। संसार में जितने भी धर्म हैं, उनका अपना महत्व और स्वत्व तो है ही, किन्तु हिन्दू धर्म और हिन्दू जाति की अपनी विशेष महत्ता और सत्ता रही है। हिन्दू धर्म अन्य सभी धर्मों और जातियों का समादर और सम्मान करने में अग्रणी रहा है।

इसी हिन्दू धर्म की शास्त्रीय विशेषताओं तथा इसके अन्तर्गत उपलब्ध विभिन्न शाखाओं और क्षेत्रों का विशद परिचय एवं सैद्धान्तिक विवरण प्रस्तुत ग्रंथ 'धर्मशास्त्र का इतिहास' में अंकित करने की चेष्टा की गयी है। इसके सम्मान्य और विद्वान् रचनाकार भारत-रत्न पांडुरंग वामन काणे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के लेखक और प्राच्य इतिहास एवं साहित्य के मनीषी चिन्तक रहे हैं। उन्होंने संस्कृत और संस्कृति के साहित्य का प्रगाढ़ अध्ययन तो किया ही, किन्तु उनकी सबसे महत्वपूर्ण साधना और सेवा यह है कि हमें इस प्रकार के अनमोल और महत्वपूर्ण ग्रंथ उपलब्ध हुए। श्री काणे जैसे राष्ट्रीय ख्याति के विद्वानों के विद्या-व्यसन और निष्ठा की प्रशंसा करनी ही पड़ती है। ऐसे विद्वानों और मनीषियों के प्रति हम कृतज्ञ हैं। उनकी इन कृतियों से जिज्ञासुओं और आनेवाली पीढ़ी को प्रेरणा और प्रकाश मिलेगा, हमारा यह निश्चित मत है। हमें यह कहने में संकोच नहीं कि 'धर्मशास्त्र का इतिहास' हमारे भारतीय जीवन का इतिहास है और इसमें हम अपने अतीत की गौरवमयी गाथा और नियामक सूत्रों का निर्देश और सन्देश प्राप्त करते हैं। विद्वान् लेखक ने बड़े मनोयोग और श्रम से इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है। इसे एक तरह से हिन्दू जाति का विश्वकोश कहें तो अन्यथा न होगा। इसमें लेखक ने धर्म, धर्मशास्त्र, जाति, वर्ण, उनके कर्तव्य, अधिकार, संस्कार, आचार-विचार, यज्ञ, दान, प्रतिष्ठा, व्यवहार, तीर्थ, व्रत, काल आदि का ववेचन करते हुए सामाजिक परम्परा और उसकी उपलब्धियों का विस्तृत और आवश्यक विवरण प्रस्तुत किया है। वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराण, रामायण, महाभारत आदि ग्रंथों से संकेत सूत्र और सन्दर्भ एकत्र करना कितना कठिन है, इसकी कल्पना की जा सकती है।

'धर्मशास्त्र का इतिहास' पाँच भागों में प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक इसका चौथा भाग है। इन सभी भागों की एक संयुक्त अनुक्रमणिका हम अलग पुस्तिका के रूप में प्रस्तुत करेंगे। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कागज की महर्घता और मुद्रण, वेष्टन आदि की दरों में पर्याप्त वृद्धि हो जाने पर भी हमने इसका मूल्य पहले छपे हुए भागों की भाँति ही रखा है। हमें विश्वास है कि प्रचार और प्रसार की दृष्टि से हमारे इस आयास का स्वागत किया जायगा। हमारी यह चेष्टा होगी कि भविष्य में भी हम इस प्रकार के महनीय ग्रन्थ उचित मूल्य पर ही अपने पाठकों को उपलब्ध करायें।

हम एक बार पुनः हिन्दी के छात्रों, पाठकों, अध्यापकों, जिज्ञासुओं और विद्वानों से, विशेषतः उन लोगों से जिन्हें भारत और भारतीयता के प्रति विशेष ममत्व और अपनत्व है, यह अनुरोध करना चाहेंगे कि वे इस ग्रन्थ का अवश्य ही अध्ययन करें। इससे उन्हें बहुत कुछ प्राप्त होगा। इससे अधिक कुछ कहा नहीं जा सकता। हमारी अभिलाषा है, यह ग्रन्थ प्रत्येक परिवार में सुलभ हो और समादृत हो।

सधन्यवाद !

काशीनाथ उपाध्याय 'भ्रमर'
सचिव,
हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश शासन

कार्तिकी पूर्णिमा, सं० २०३० (१९७३ ई०)
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, हिन्दी भवन,
महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ
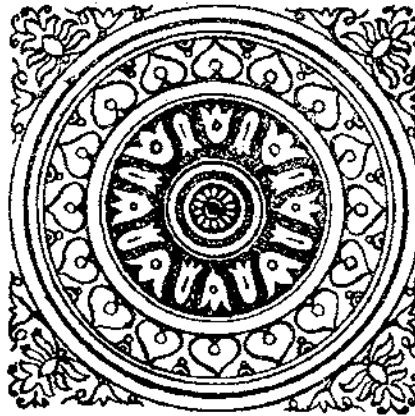
प्राक्कथन

'व्यवहारमयूख' के संस्करण के लिए सामग्री संकलित करते समय मेरे ध्यान में आया कि जिस प्रकार मैंने 'साहित्यदर्पण' के संस्करण में प्राक्कथन के रूप में "अलंकार साहित्य का इतिहास" नामक एक प्रकरण लिखा है, उसी पद्धति पर 'व्यवहारमयूख' में भी एक प्रकरण संलग्न कर दूँ, जो निश्चय ही धर्मशास्त्र के भारतीय छात्रों के लिए पूर्ण लाभप्रद होगा। इस दृष्टि से मैं जैसे-जैसे धर्मशास्त्र का अध्ययन करता गया, मुझे ऐसा दीख पड़ा कि सामग्री अत्यन्त विस्तृत एवं विशिष्ट है, उसे एक संक्षिप्त परिचय में आबद्ध करने से उसका उचित निरूपण न हो सकेगा। साथ ही उसकी प्रचुरता के समुचित परिज्ञान, सामाजिक मान्यताओं के अध्ययन, तुलनात्मक विधिशास्त्र तथा अन्य विविध शास्त्रों के लिए उसकी जो महत्ता है, उसका भी अपेक्षित प्रतिपादन न हो सकेगा। निदान, मैंने यह निश्चय किया कि स्वतन्त्र रूप से धर्मशास्त्र का एक इतिहास ही लिपिबद्ध करूँ। सर्वप्रथम, मैंने यह सोचा, एक जिल्द में आदि काल से अब तक के धर्मशास्त्र के कालक्रम तथा विभिन्न प्रकरणों से युक्त ऐतिहासिक विकास के निरूपण से यह विषय पूर्ण हो जायगा। किन्तु धर्मशास्त्र में आने वाले विविध विषयों के निरूपण के बिना यह ग्रन्थ सांगोपांग नहीं माना जा सकता। इस विचार से इसमें वैदिक काल से लेकर आज तक के विधि-विधानों का वर्णन आवश्यक हो गया। भारतीय सामाजिक संस्थानों में और सामान्यतः भारतीय इतिहास में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं तथा भारतीय जनजीवन पर उनके जो प्रभाव पड़े हैं, वे बड़े गम्भीर हैं।

यद्यपि उच्च कोटि के विश्वविद्यालय के विद्वानों ने धर्मशास्त्र के विशिष्ट विषयों पर विवेचन का प्रशस्त कार्य किया है, फिर भी, जहाँ तक मैं जानता हूँ, किसी लेखक ने धर्मशास्त्र में आये हुए समग्र विषयों के विवेचन का प्रयास नहीं किया। इस दृष्टि से अपने ढंग का यह पहला प्रयास माना जायगा। अतः इस महत्त्वपूर्ण कार्य से यह आशा की जाती है कि इससे पूर्व के प्रकाशनों की न्यूनताओं का ज्ञान भी सम्भव हो सकेगा। इस पुस्तक में जो त्रुटि, दुरूहता और अदक्षता प्रतीत होती हैं, उनके लिए लेखनकाल की परिस्थिति एवं अन्य कारण अधिक उत्तरदायी हैं। इन बातों की ओर ध्यान दिलाना इसलिए आवश्यक है कि इस स्वीकारोक्ति से मित्रों को मेरी कठिनाइयों का ज्ञान हो जाने से उनका भ्रम दूर होगा और वे इस कार्य की प्रतिकूल एवं कटु आलोचना नहीं करेंगे। अन्यथा, आलोचकों का यह सहज अधिकार है कि प्रतिपाद्य विषय में की गयी अशुद्धियों और संकीर्णताओं की कटु से कटु आलोचना करें।

आद्योपान्त इस पुस्तक के लिखते समय एक बड़ा प्रलोभन यह था कि धर्मशास्त्र में व्याख्यात प्राचीन एवं मध्य कालीन भारतीय रीति, परम्परा एवं विश्वासों की अन्य जन समुदाय और देशों की रीति, परम्परा तथा विश्वासों से तुलना की जाय। किन्तु मैंने यथासंभव इस प्रकार की तुलना से दूर रहने का प्रयास किया है। फिर भी, कभी-कभी कतिपय कारणों से मुझे ऐसी तुलनाओं में युक्त होना पड़ा है। अधिकांश लेखक (भारतीय तथा यूरोपीय) इस प्रवृत्ति के हैं कि वे आज का भारत जिन कुप्रथाओं से आक्रान्त है, उनका पूरा उत्तरदायित्व

जातिप्रथा एवं धर्मशास्त्र में निर्दिष्ट जीवन-पद्धति पर डाल देते हैं, किन्तु इस विचार से सर्वथा सहमत होना बड़ा कठिन है। अतः मैंने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि विश्व के पूरे जनसमुदाय का स्वभाव साधारणतः एक जैसा है और उसमें निहित सुप्रवृत्तियाँ एवं दुष्प्रवृत्तियाँ सभी देशों में एक सी ही हैं। किसी भी स्थान विशेष में आरम्भ कालिक आचार पूर्ण लाभप्रद रहते हैं, फिर आगे चलकर सम्प्रदायों में उनके दुरुपयोग एवं विकृतियाँ सम्पन्न रूप से स्थान ग्रहण कर लेती हैं। चाहे कोई देश विशेष हो या समाज, वे किसी न किसी रूप में जाति-प्रथा या उससे भिन्न प्रथा से आबद्ध रहते आये हैं।

संस्कृत ग्रन्थों से लिये गये उद्धरणों के सम्बन्ध में दो शब्द कह देना आवश्यक है। ये उद्धरण इस पुस्तक में दिये गये तर्कों की भावनाओं को समझने में एक सीमा तक सहायक होंगे। साथ ही, भारतवर्ष में इनके लिए अपेक्षित पुस्तकों को सुलभ करने वाले पुस्तकालयों या साधनों का भी अभाव है। उपर्युक्त कारणों से सहस्रों उद्धरण पादटिप्पणियों में उल्लिखित हुए हैं। अधिकांश उद्धरण प्रकाशित पुस्तकों से एवं बहुत थोड़े से अवतरण पाण्डुलिपियों और ताम्र-लेखों से उद्धृत हुए हैं। शिलालेखों, ताम्रपत्रों के अभिलेखों या अवतरणों के सम्बन्ध में भी उसी प्रकार का संकेत अभिप्रेत है। इन तथ्यों से एक बात और प्रमाणित होती है कि धर्मशास्त्र में निहित विधियाँ जो कई हजार वर्षों से जनसमुदाय द्वारा आचरित हुई हैं तथा शासकों द्वारा विधि के रूप में स्वीकृत हुई हैं, उनसे यह निश्चित होता है कि ऐसे नियम पंडितम्मन्य विद्वानों या कल्पनाशास्त्रियों द्वारा संकलित काल्पनिक नियम मात्र नहीं रहे हैं। वे व्यवहार्य होते रहे हैं। जिन पुस्तकों के मुझे लगातार उद्धरण देने पड़े हैं और जिनसे मैं पर्याप्त लाभान्वित हुआ हूँ, उनमें से कुछ ग्रंथों का उल्लेख आवश्यक है। यथा—ब्लूमफील्ड की 'वैदिक अनुक्रमणिका', प्रोफेसर मैकडानल और कीथ की 'वैदिक अनुक्रमणिकाएँ', मैक्समूलर द्वारा सम्पादित 'प्राच्य धर्म पुस्तकें।'

इसके अतिरिक्त मैं असाधारण विद्वान् डा० जाली का स्मरण करता हूँ जिनकी पुस्तक को मैंने अपने सामने आदर्श के रूप में रखा है। मैंने निम्नलिखित प्रमुख पंडितों की कृतियों से भी बहुमूल्य सहायता प्राप्त की है, जो इस क्षेत्र में मुझसे पहले कार्य कर चुके हैं, जैसे डा० बुहलर, राव साहब बी० एन० मंडलीक, प्रोफेसर हापकिन्स, श्री एम० एम० चक्रवर्ती तथा श्री के० पी० जायसवाल। मैं 'वाई' के परमहंस केवलानन्द स्वामी के सतत साहाय्य और निर्देश (विशेषतः श्रौत भाग) के लिए, पूना के चिन्तामणि दातार द्वारा दर्श-पौर्णमास के परामर्श और श्रौत के अन्य अध्यायों के प्रति सतर्क करने के लिए, श्री केशव लक्ष्मण ओगले द्वारा अनुक्रमणिका भाग पर कार्य करने के लिए और तर्कतीर्थ रघुनाथ शास्त्री कोकजे द्वारा सम्पूर्ण पुस्तक को पढ़कर सुझाव और संशोधन देने के लिए असाधारण आभार मानता हूँ। मैं इंडिया आफिस पुस्तकालय (लंदन) के अधिकारियों का और डा० एस० के० बेल्वेल्कर, महामहोपाध्याय प्रोफेसर कुप्पुस्वामी शास्त्री, प्रोफेसर रंगस्वामी आयंगर, प्रोफेसर पी० पी० एन० शास्त्री, डा० भवतोष भट्टाचार्य, डा० आल्सडोर्फ, प्रोफेसर एच० डी० वेलणकर, विल्सन कालेज बम्बई आदि का बहुत ही कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने मुझे अपने अधिकार में सुरक्षित संस्कृत की पाण्डुलिपियों के बहुमूल्य संकलनों के अवलोकन की हर संभव सुविधाएँ प्रदान कीं। विभिन्न प्रकार के निदेशन में सहायता देने के लिए मैं अपने मित्र समुदाय तथा डा० बी० जी० परांजपे, डा० एस० के० दे, श्री पी० के० गोडे और श्री जी० एन० वैद्य का [एवं प्रस्तुत हिन्दी संस्करण के सम्पादन में सूझ-बूझ के साथ संशोधनार्थ सतर्क रहने के लिए श्री चिरंजीव शर्मा शास्त्री का—'प्रकाश०'] आभार मानता हूँ। हर प्रकार की सहायता के बावजूद इस पुस्तक में होने वाली न्यूनताओं, च्युतियों और उपेक्षाओं से मैं पूर्ण परिचित हूँ। अतः इन सब कमियों के प्रति कृपालु होने के लिए मैं विद्वानों से प्रार्थना करता हूँ।

—पाण्डुरंग वामन काणे

विषय-सूची

(पञ्चम खण्ड, अध्याय १ से २५ तक, पूर्वार्ध)

उद्धरण-संकेत

अग्नि=अग्निपुराण
अ० वे० या अथर्व०=अथर्ववेद
अनु० या अनुशासन०=अनुशासन पर्व
अन्त्येष्टि०=नारायण की अन्त्येष्टिपद्धति
अ० क० दी०=अन्त्यकर्मदीपक
अर्थशास्त्र, कौटिल्य०=कौटिलीय अर्थशास्त्र
आ० गृ० सू० या आपस्तम्बसू०=आपस्तम्बगृह्यसूत्र
आ० ध० सू० या आपस्तम्बधर्म०=आपस्तम्बधर्मसूत्र
आप० म० पा० या आपस्तम्बम०=आपस्तम्बमन्त्रपाठ
आ० श्रौ० सू० या आपस्तम्बश्रौ०=आपस्तम्बश्रौतसूत्र
आश्व० गृ० सू० या आश्वलायनगृ०=आश्वलायनगृह्यसूत्र
आश्व० गृ० प० या आश्वलायन गृ० प०=आश्वलायन-गृह्यपरिशिष्ट
ऋ० या ऋग्०=ऋग्वेदसंहिता
ऐ० आ० या ऐतरेय आ०=ऐतरेयारण्यक
ऐ० ब्रा० या ऐतरेय ब्रा०=ऐतरेय ब्राह्मण
क० उ० या कठोप०=कठोपनिषद्
कलिवर्ज्य०=कलिवर्ज्यविनिर्णय
कल्प० या कल्पतरु, कृ० क०=लक्ष्मीधर का कृत्यकल्पतरु
कात्या० स्मृ० सा०=कात्यायनस्मृतिसारोद्धार
का० श्रौ० सू० या कात्यायन श्रौ०=कात्यायन श्रौतसूत्र
काम० या कामन्दक=कामन्दकीय नीतिसार
कौ० या कौटिल्य० या कौटिलीय०=कौटिलीय अर्थशास्त्र
कौ०=कौटिल्य का अर्थशास्त्र (डॉ० शाम शास्त्री का संस्करण)
कौ० ब्रा० उप० या कौषीतकिब्रा०=कौषीतकिब्राह्मण-उपनिषद्
गं० भ० या गंगाभ० या गंगाभक्ति०=गंगाभक्तितरंगिणी
गंगावा० या गंगावाक्या०=गंगावाक्यावली
गरुड़=गरुड़पुराण
गृ० र० या गृहस्थ०=गृहस्थरत्नाकर
गौ या गौ० ध० सू० या गौतमधर्म०—गौतमधर्मसूत्र
गौ० पि० सू० या गौतमपि०=गौतमपितृमेधसूत्र
चतुर्वर्ग०=हेमाद्रि की चतुर्वर्गचिन्तामणि या केवल हेमाद्रि
छा० उप० या छान्दोग्य-उप०=छान्दोग्योपनिषद्
जीमूत०=जीमूतवाहन
जै० या जैमिनि०=जैमिनिपूर्वमीमांसासूत्र
जै० उप०=जैमिनीयोपनिषद्
जै० न्या० मा०=जैमिनीयन्यायमालाविस्तर
ताण्ड्य०=ताण्ड्यमहाब्राह्मण
ती० क० या ती० कल्प०=तीर्थकल्पतरु
तीर्थ प्र० या ती० प्र०=तीर्थप्रकाश
ती० चि० या तीर्थचि०=वाचस्पति का तीर्थचिन्तामणि
तै० आ० या तैत्तिरीया०=तैत्तिरीयारण्यक
तै० उ० या तैत्तिरीयोप०=तैत्तिरीयोपनिषद्
तै० ब्रा० =तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै० सं०=तैत्तिरीय संहिता
त्रिस्थली० या त्रि० से०=भट्टोजि का त्रिस्थलीसेतुसारसंग्रह
त्रिस्थली०=नारायण भट्ट का त्रिस्थलीसेतु
नारद० या ना० स्मृ०=नारदस्मृति
नारदीय० या नारद०=नारदीयपुराण
नीतिवा० या नीतिवाक्या०=नीतिवाक्यामृत
निर्णय० या नि० सि०=निर्णयसिन्धु
पद्म०=पद्मपुराण
परा० मा०=पराशरमाधवीय
पाणिनि या पा०=पाणिनि की अष्टाध्यायी
पार० गृ० या पारस्करगृ०=पारस्करगृह्यसूत्र
पू० मी० सू० या पूर्वमी०=पूर्वमीमांसासूत्र
प्रा० त० या प्राय० तत्त्व०=प्रायश्चित्ततत्त्व
प्रा०, प्राय० प्र० या प्रायश्चित्तप्र०=प्रायश्चित्तप्रकरण
प्राय० प्रका० या प्रा० प्रकाश=प्रायश्चित्तप्रकाश

प्राय० वि०, प्रा० वि० या प्रायश्चित्तवि०=प्रायश्चित्त-विवेक
प्रा० म० या प्राय० म०=प्रायश्चित्तमयूख
प्रा० सा० या प्राय० सा०=प्रायश्चित्तसार
बु० भू०=बुधभूषण
बृ० या बृहस्पति०=बृहस्पतिस्मृति
बृ० उ० या बृह० उप०=बृहदारण्यकोपनिषद्
बृ० सं० या बृहत्सं०=बृहत्संहिता
बौ० गृ० सू० या बौधायनगृ०=बौधायनगृह्यसूत्र
बौ० ध० सू० या बौधा० ध० या बौधायनधर्म०=बौधायनधर्मसूत्र
बौ० श्रौ० सू० या बौधा० श्रौ० सू०=बौधायनश्रौतसूत्र
ब्र०, ब्रह्म० या ब्रह्मपु०=ब्रह्मपुराण
ब्रह्माण्ड०=ब्रह्माण्डपुराण
भवि० पु० या भविष्य०=भविष्यपुराण
मत्स्य०=मत्स्यपुराण
म० पा० या मद० पा०=मदनपारिजात
मनु या मनु०=मनुस्मृति
मानव० या मानवगृह्य०=मानवगृह्यसूत्र
मिता०=मिताक्षरा (विज्ञानेश्वर कृत याज्ञवल्क्यस्मृति-टीका)
मी० कौ० या मीमांसाकौ०=मीमांसाकौस्तुभ (खण्डदेव)
मेधा० या मेधातिथि=मनुस्मृति पर मेधातिथि की टीका या मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि
मैत्री-उप०=मैत्र्युपनिषद्
मै० सं० या मैत्रायणी०=मैत्रायणी संहिता
य० ध० सं० या यतिधर्म०=यतिधर्मसंग्रह
या०, याज्ञ या याज्ञ०=याज्ञवल्क्यस्मृति
राज०=कल्हण की राजतरंगिणी
रा० ध० कौ० या राज० कौ०=राजधर्मकौस्तुभ
रा० नी० प्र० या राजनी० प्र०=मित्र मिश्र का राज-नीतिप्रकाश
राज० र० या राजनीतिर०=चण्डेश्वर का राजनीति-रत्नाकर
वाज० सं० या वाजसनेयी सं०=वाजसनेयी संहिता
वायु०=वायुपुराण
वि० चि० या विवादचि०=वाचस्पति मिश्र का विवाद-चिन्तामणि
वि० र० या विवादर०=विवादरत्नाकर
विश्व० या विश्वरूप=याज्ञवल्क्यस्मृति की विश्वरूपकृत टीका
विष्णु०=विष्णुपुराण
विष्णु या वि० ध० सू०=विष्णुधर्मसूत्र
वी० मि०=वीरमित्रोदय
वै० स्मा० या वैखानस०=वैखानसस्मार्तसूत्र
व्यव० त० या व्यवहार०=रघुनन्दन का व्यवहारतत्त्व
व्य० नि० या व्यवहारनि०=व्यवहारनिर्णय
व्य० प्र० या व्यवहारप्र०=मित्र मिश्र का व्यवहारप्रकाश
व्य० म० या व्यवहारम०=नीलकण्ठ का व्यवहारमयूख
व्य० मा० या व्यव० मा०=जीमूतवाहन की व्यवहारमातृका
व्यव० सा०=व्यवहारसार
श० ब्रा० या शतपथब्रा०=शतपथब्राह्मण
शातातप=शातातपस्मृति
शां० गृ० या शांखायनगृ०=शांखायनगृह्यसूत्र
शां० ब्रा० या शांखायनब्रा०=शांखायनब्राह्मण
शां० श्रौ० सू० या शांखायन श्रौत०=शांखायनश्रौतसूत्र
शान्ति०=शान्तिपर्व
शुक्र० या शुक्रनीति०=शुक्रनीतिसार
शु० कौ० या शुद्धिकौ०=शुद्धिकौमुदी
शु० क० या शुद्धिकल्प०=शुद्धिकल्पतरु (शुद्धि पर)
शु० प्र० या शुद्धिप्र०=शुद्धिप्रकाश
शूद्रकम०=शूद्रकमलाकर
श्रा० क० ल० या श्राद्धकल्प०=श्राद्धकल्पलता
श्रा० क्रि० कौ० या श्राद्धक्रिया०=श्राद्धक्रिया-कौमुदी
श्रा० प्र० या श्राद्धप्र०=श्राद्धप्रकाश
श्रा० वि० या श्राद्धवि०=श्राद्धविवेक
स० श्रौ० सू० या सत्या० श्रौ०=सत्याषाढश्रौतसूत्र
स० वि० या सरस्वतीवि०=सरस्वतीविलास

सा० ब्रा० या साम० ब्रा०=सामविधान ब्राह्मण
स्कन्द या स्कन्दपु०=स्कन्दपुराण
स्मृ० च० या स्मृतिच०=स्मृतिचन्द्रिका
स्मृ० मु० या स्मृतिमु०=स्मृतिमुक्ताफल
सं० कौ० या संस्कारकौ०=संस्कारकौस्तुभ
सं० प्र०=संस्कारप्रकाश
सं० र० मा० या संस्कारर०=संस्काररत्नमाला
हि० गृ० या हिरण्य० गृ०=हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र

इंग्लिश नामों के कतिपय संकेत

ए० जी० =(एंश्येण्ट जियाग्रफी आव इण्डिया)
ए-इन० ए० =आइने अकबरी (अबुल फजल कृत)
ए० आई० आर० =आल इण्डिया रिपोर्टर
ए० एस० आर० =आक्यलाजिकल सर्वे रिपोर्ट्स
ए० एस० डब्लू० आई० =आक्यलाजिकल सर्वे आव वेस्टर्न इण्डिया
बी० बी० आर० ए० एस० =बाम्बे ब्रांच, रायल एशियाटिक सोसाइटी
बी० ओ० आर० आई० =भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना
सी० आई० आई० =कार्पस इंस्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम्
ई० आई० =एपिग्रैफिया इण्डिका (एपि० इण्डि०)
आई० ए० =इण्डियन एण्टिक्वेरी (इण्डि० ऐण्टि०)
आई० एच० क्यू० =इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली
जे० ए० ओ० एस० =जर्नल आव दि अमेरिकन ओरिएण्टल सोसाइटी
जे० ए० एस० बी० =जर्नल आव दि एशियाटिक सोसाइटी आव बेंगाल
जे० बी० ओ० आर० एस० =जर्नल आव दि बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी
जे० आर० ए० एस० =जर्नल आव दि रायल एशियाटिक सोसाइटी (लन्दन)
एस० बी० ई० =सैक्रेड बुक आव दि ईस्ट (मैक्समूलर द्वारा संपादित)

卐

प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों तथा लेखकों का काल-निर्धारण

[इनमें से बहुतों का काल सम्भावित, कल्पनात्मक एवं विचाराधीन है। ई० पू०=ईसा के पूर्व; ई० उ०=ईसा के उपरान्त]

४०००—१००० (ई० पू०) : यह वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों एवं उपनिषदों का काल है। ऋग्वेद, अथर्ववेद एवं तैत्तिरीय संहिता तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण की कुछ ऋचाएँ ४००० ई० पू० के बहुत पहले की भी हो सकती हैं, और कुछ उपनिषदें (जिनमें कुछ वे भी हैं जिन्हें विद्वान् लोग अत्यन्त प्राचीन मानते हैं) १००० ई० पू० के पश्चात्कालीन भी हो सकती हैं। (कुछ विद्वान् प्रस्तुत लेखक की इस मान्यता को कि वैदिक संहिताएँ ४००० ई० पू० प्राचीन हैं, नहीं स्वीकार करते)। ब्लूमफील्ड वैदिक साहित्य की उत्पत्ति २००० ई० पू० मानते हैं (रिलीजन आव दी वेद, पृ० २०, न्यूयार्क, १९०८) तथा वैदिक भावनाओं एवं सिद्धान्तों का प्रचलन इससे बहुत पहले से स्वीकार करते हैं। विंटरनित्ज का कथन है कि यह अधिक संभव है कि वैदिक साहित्य का अज्ञात काल १२०० या १५०० ई० पू० की अपेक्षा २००० ई० पू० से २५०० ई० पू० के अधिक समीप है (प्राब्लम्स आव इंडियन लिटरेचर, पृ० २०, कलकत्ता)। कुछ पश्चिमी विद्वान् वास्तविक तथ्यों के रहते हुए भी अपनी मान्यता पर ही अधिक जोर देते हैं। ये अन्य उपलब्ध भारतीय साहित्य और अपुष्ट अनुमानों का विश्वास अधिक करते हैं।

८००-५०० (ई० पू०) : यास्क की रचना निरुक्त।

८००—४०० (ई० पू०) : प्रमुख श्रौतसूत्र (यथा आपस्तम्ब, आश्वलायन, बौधायन, कात्यायन, सत्याषाढ़ आदि) एवं कुछ गृह्यसूत्र (यथा आपस्तम्ब एवं आश्वलायन)।

५००—३०० (ई० पू०) : गौतम, आपस्तम्ब, बौधायन, वसिष्ठ के धर्मसूत्र एवं पारस्कर तथा कुछ अन्य लोगों के गृह्यसूत्र।

५००—३०० (ई० पू०) : पाणिनि।

५००—२०० (ई० पू०) : भगवद्गीता।

४००—२०० (ई० पू०) : जैमिनि का पूर्वमीमांसासूत्र।

३००—२०० (ई० पू०) : पाणिनि के सूत्रों पर वार्तिक लिखने वाले वररुचि कात्यायन।

३००(ई० पू०)१००(ई० उ०) : कौटिल्य का अर्थशास्त्र (अपेक्षाकृत पहली सीमा के आसपास)

२००(ई० पू०)१००(ई० उ०) : मनुस्मृति।

१५०(ई० पू०)१००(ई० उ०) : पतञ्जलि का महाभाष्य (संभवत: अपेक्षाकृत प्रथम सीमा के आसपास)।

१००(ई० पू०)१००(ई० उ०) : उपवर्ष, पूर्व एवं उत्तर मीमांसासूत्रों के वृत्तिकार।

१००(ई० पू०)३००(ई० उ०) : योगसूत्र के रचयिता पतञ्जलि।

१००—३०० (ई० उ०) : याज्ञवल्क्यस्मृति।

१००—३०० (ई० उ०) : विष्णुधर्मसूत्र।

१००—४०० (ई० उ०) : नारदस्मृति।

२००—५०० (ई० उ०) : वैखानसस्मार्तसूत्र।

२००—४०० (ई० उ०) : जैमिनि के पूर्वमीमांसासूत्र के भाष्यकार शबर (अपेक्षाकृत पूर्व समय के आसपास)।

२५०—३२५ (ई० उ०) : ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका।

३००—५०० (ई० उ०) : बृहस्पतिस्मृति (अभी तक इसकी प्रति नहीं मिल सकी है)। एस० बी० ई० (जिल्द ३३) में व्यवहार के अंश अनूदित हैं और प्रो० रंगस्वामी आयंगर ने धर्म के बहुत से विषय संगृहीत किये हैं जो गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज़ द्वारा प्रकाशित हैं।

३००—६०० (ई० उ०) : कुछ विद्यमान पुराण, यथा—वायु०, विष्णु०, मार्कण्डेय०, ब्रह्माण्ड, मत्स्य०, कूर्म०।

४००—६०० (ई० उ०) : कात्यायनस्मृति (अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी है)।

४००—५०० (ई० उ०) : माठरवृत्ति, सांख्यकारिका पर।

४००—५०० (उ० ई०) : व्यासरचित योगसूत्रभाष्य।

४७६— (ई० उ०) : आर्यभट, 'आर्यभटीयम्' के लेखक

५५०—७०० (ई० उ०) : युक्तिदीपिका , सांख्यकारिका की व्याख्या।

५००—५७५ (ई० उ०) : वराहमिहिर; पंचसिद्धान्तिका, बृहत्संहिता, बृहज्जातक आदि के लेखक।

६००—६५० (ई० उ०) : कादम्बरी एवं हर्षचरित के लेखक बाण।

६५०—६६० (ई० उ०) : पाणिनि की अष्टाध्यायी पर 'काशिका'-व्याख्याकार वामन—जयादित्य।

६५०—७०० (ई० उ०) : कुमारिल का तन्त्रवार्तिक, श्लोकवार्तिक, टुप्टीका।

६८०—७२५ (ई० उ०) : मण्डन मिश्र, विधिविवेक, भावनाविवेक आदि के लेखक (मीमांसक)।

७००—७५० (उ० ई०) : गौडपाद, सांख्यकारिका के व्याख्याकार एवं शंकराचार्य के परम-गुरु।

७००—७५० (ई० उ०) : उम्बेक (प्रसिद्ध मीमांसक)।

७१०—७७० (ई० उ०) : शालिकनाथ (प्रसिद्ध मीमांसक)।

८२०—९०० (ई० उ०) : वाचस्पति मिश्र, योगभाष्य, भामती आदि के लेखक।

६००—९०० (ई० उ०) : अधिकांश स्मृतियाँ, यथा—पराशर, शंख, देवल तथा कुछ पुराण, यथा—अग्नि०, गरुड़०, विष्णुधर्मोत्तर०।

७८८—८२० (उ० ई०) : महान् अद्वैतवादी दार्शनिक शंकराचार्य।

७९०—८५० (ई० उ०) : याज्ञवल्क्यस्मृति के टीकाकार विश्वरूप (सुरेश्वराचार्य)।

८२५—९०० (ई० उ०) : मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि।

७८०—८७० (ई० उ०) : वराहमिहिर कृत बृहज्जातक के टीकाकार उत्पल।

९००—११०० (ई० उ०) : पार्थसारथि मिश्र, शास्त्रदीपिका, तन्त्ररत्न, न्यायरत्न के लेखक।

१०५०—११५० (ई० उ०) : भवनाथ या भवदेव, न्यायविवेक के लेखक।

११००—११३० (ई० उ०) : लक्ष्मीधर, कृत्यकल्पतरु (कल्पतरु) निबन्धकार।

१००५—१०५० (ई० उ०) : बहुत से ग्रन्थों के लेखक धारेश्वर भोज।

१०८०—११०० (ई० उ०) : याज्ञवल्क्यस्मृति-टीका मिताक्षरा के लेखक विज्ञानेश्वर।

१०८०—११०० (ई० उ०) : मनुस्मृति के टीकाकार गोविन्दराज।

११००—११३० (ई० उ०) : कल्पतरु या कृत्यकल्पतरु नामक विशाल धर्मशास्त्र-विषयक निबन्ध के लेखक लक्ष्मीधर।

११००—११५० (ई० उ०) : दायभाग, कालविवेक एवं व्यवहारमातृका के लेखक जीमूतवाहन।

११००—११५० (ई० उ०) : प्रायश्चित्तप्रकरण एवं अन्य ग्रन्थों के रचयिता भवदेव भट्ट।

११००—११३० (ई० उ०) : अपरार्क, शिलाहारराजा ने याज्ञवल्क्यस्मृति पर एक टीका लिखी।

१११४—११८३ (ई० उ०) : भास्कराचार्य, जो सिद्धान्तशिरोमणि के, जिसका लीलावती एक अंश है, प्रणेता हैं।

११२७—११३८ (ई० उ०) : सोमेश्वर देव का मानसोल्लास या अभिलषितार्थचिन्तामणि।

११५०—११६० (ई० उ०) : कल्हण की राजतरंगिणी।

११५०—११८० (ई० उ०) : हारलता एवं पितृदयिता के प्रणेता अनिरुद्ध भट्ट।

११५०—१२०० (ई० उ०) : श्रीधर का स्मृत्यर्थसार।

११५०—१३०० (ई० उ०) : मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक।

११५०—१३०० (ई० उ०) : गौतम एवं आपस्तम्बधर्मसूत्रों तथा कुछ गृह्यसूत्रों के टीकाकार हरदत्त।

११५८—११८३ (ई० उ०) : वल्लालसेन, बंगाल (गौड) के राजा, अद्भुतसागर, दानसागर आदि के लेखक।

११७५—१२०० (ई० उ०) : धनञ्जय के पुत्र एवं ब्राह्मणसर्वस्व के प्रणेता हलायुध।

१२००—१२२५ (ई० उ०) : देवण्ण भट्ट की स्मृतिचन्द्रिका।

१२६०—१२७० (ई० उ०) : हेमाद्रि का चतुर्वर्गचिन्तामणि।

१२००—१३०० (ई० उ०) : वरदराज का व्यवहारनिर्णय।

१२७५—१३१० (ई० उ०) : पितृभक्ति, समयप्रदीप एवं अन्य ग्रन्थों के प्रणेता श्रीदत्त।

१३००—१३७० (ई० उ०) : गृहस्थरत्नाकर, विवादरत्नाकर, क्रियारत्नाकर आदि के रचयिता चण्डेश्वर।

१३००—१३८६ (ई० उ०) : वैदिक संहिताओं एवं ब्राह्मणों के भाष्यों के संग्रहकर्ता सायण।

१३००—१३८६ (ई० उ०) : पराशरस्मृति की टीका पराशरमाधवीय तथा अन्य ग्रन्थों के रचयिता एवं सायण के भाई माधवाचार्य।

१३६०—१३९० (ई० उ०) : मदनपाल एवं उसके पुत्र के संरक्षण में मदनपारिजात एवं महार्णवप्रकाश संगृहीत किये गये।

१३६०—१४४८ (ई० उ०) : गंगावाक्यावली आदि ग्रन्थों के प्रणेता विद्यापति के जन्म एवं मरण की तिथियाँ। देखिए इण्डियन ऐण्टीक्वेरी (जिल्द १४, पृ० १९०-१९१), जहाँ देवसिंह के पुत्र शिवसिंह द्वारा विद्यापति को प्रदत्त बिसपी नामक ग्राम-दान के शिलालेख में चार तिथियों का विवरण उपस्थित किया गया है (यथा शक १३२१, संवत् १४५५, ल० स० २८३ एवं सन् ८०७)।

१३७५—१४५० (ई० उ०) : याज्ञवल्क्य की टीका दीपकलिका, प्रायश्चित्तविवेक, दुर्गोत्सवविवेक एवं अन्य ग्रन्थों के लेखक शूलपाणि।

१३७५—१५०० (ई० उ०) : विशाल निबन्ध धर्मतत्त्वकलानिधि (श्राद्ध, व्यवहार आदि के प्रकाशों में विभाजित) के लेखक एवं नागमल्ल के पुत्र पृथ्वीचन्द्र।

१४००—१५०० (ई० उ०) : तन्त्रवार्तिक के टीकाकार सोमेश्वर की न्यायसुधा।

१४००—१४५० (ई० उ०) : मिसरू मिश्र का विवादचन्द्र।

१४२५—१४५० (ई० उ०) : मदनसिंह देव राजा द्वारा संगृहीत विशाल निबन्ध मदनरत्न।

१४२५—१४६० (ई० उ०) : शुद्धिविवेक, श्राद्धविवेक आदि के लेखक रुद्रधर।

१४२५—१४९० (ई० उ०) : शुद्धिचिन्तामणि तीर्थचिन्तामणि आदि के रचयिता वाचस्पति।

१४४०—१५०० (ई० उ०) : दण्डविवेक, गंगाकृत्यविवेक आदि के रचयिता वर्धमान।

१४९०—१५१५ (ई० उ०) : दलपति का नृसिंहप्रसाद, जिसके भाग हैं—श्राद्धसार, तीर्थसार आदि।

१५००—१५२५ (ई० उ०) : प्रतापरुद्रदेव राजा के संरक्षण में संगृहीत सरस्वतीविलास।

१५००—१५४० (ई० उ०) : शुद्धिकौमुदी, श्राद्धक्रियाकौमुदी आदि के प्रणेता गोविन्दानन्द।

१५१३—१५८० (ई० उ०) : प्रयोगरत्न, अन्त्येष्टिपद्धति, त्रिस्थलीसेतु के लेखक नारायण भट्ट।

१५२०—१५७५ (ई० उ०) : श्राद्धतत्व, तीर्थतत्व, प्रायश्चित्ततत्त्व आदि के लेखक रघुनन्दन।

१५२०—१५८९ (ई० उ०) : टोडरमल के संरक्षण में टोडरानन्द ने कई सौख्यों में शुद्धि, तीर्थ, प्रायश्चित्त, कर्मविपाक एवं अन्य १५ विषयों पर ग्रन्थ लिखे।

१५५४—१६२६ (ई० उ०) : अप्पय्य दीक्षित, विधिरसायन आदि अनेक ग्रन्थों के लेखक।

१५६०—१६२० (ई० उ०) : द्वैतनिर्णय या धर्मद्वैतनिर्णय के लेखक शंकर भट्ट।

१५९०—१६३० (ई० उ०) : वैजयन्ती (विष्णुधर्मसूत्र की टीका), श्राद्धकल्पलता, शुद्धिचन्द्रिका एवं दत्तकमीमांसा के लेखक नन्द पण्डित।

१६१०—१६४० (ई० उ०) : निर्णयसिन्धु शूद्रकमलाकर आदि २० ग्रन्थों के लेखक कमलाकर भट्ट।

१६००—१६६५ (ई० उ०) : खण्डदेव, मीमांसक, भाट्टदीपिका आदि के लेखक।

१६१०—१६४० (ई० उ०) : मित्र मिश्र का वीरमित्रोदय, जिसके भाग हैं तीर्थप्रकाश, प्रायश्चित्तप्रकाश, श्राद्धप्रकाश आदि।

१६१५—१६४५ (ई० उ०) : प्रायश्चित्त, शुद्धि, श्राद्ध आदि पर १२ मयूखों (यथा—नीतिमयूख, व्यवहार-मयूख आदि) में रचित भगवन्तभास्कर के लेखक नीलकण्ठ।

१६२०—१६९० (ई० उ०)	: गागाभट्ट (विश्वेश्वर) भट्टचिन्तामणि आदि के लेखक।
१६४५—१६७५ (ई० उ०)	: राजधर्मकौस्तुभ, स्मृतिकौस्तुभ आदि के प्रणेता अनन्तदेव।
१७००—१७४० (ई० उ०)	: वैद्यनाथ का स्मृतिमुक्ताफल।
१६७०—१७५० (ई० उ०)	: तीर्थेन्दुशेखर, प्रायश्चित्तेन्दुशेखर, श्राद्धेन्दुशेखर आदि लगभग ५० ग्रन्थों के लेखक नागेश भट्ट या नागोजिभट्ट।
१७३०—१८२० (ई० उ०)	: मिताक्षरा पर 'बालम्भट्टी' नामक टीका के लेखक बालम्भट्ट।
१७९० (ई० उ०)	: धर्मसिन्धु के लेखक काशीनाथ उपाध्याय।

●

पञ्चम खण्ड

व्रत, उत्सव, काल एवं शान्ति आदि

अध्याय १

ऋग्वेद में व्रत

व्रत शब्द की गणना संस्कृत के उन शब्दों में होती है, जिनका प्रचलन सहस्रों वर्ष पुराना है। 'व्रत' शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ-सम्बन्धी विकास के विषय में विद्वानों के बीच गम्भीर मतभेद रहे हैं।[1] यहाँ पर बहुत ही संक्षेप में उनका विवरण उपस्थित किया जायगा।

'सेंट पीटर्सबर्ग कोश' में 'व्रत' की उत्पत्ति 'वृ' (वृञ् वरणे, वरण करना, चुनना) से मानी गयी है, तथा उस कोश में इस शब्द के महत्त्वपूर्ण अर्थ इस प्रकार हैं—(१) संकल्प, आदेश, विधि, निर्दिष्ट व्यवस्था; (२) वशता, आज्ञापरता, सेवा; (३) स्वामित्व अथवा रिक्थ; (४) व्यवस्था, निर्धारित उत्तराधिकार, क्षेत्र; (५) वृत्ति, व्यापार, आचारिक कर्म, प्रवृत्ति में संलग्नता, आचार अथवा रीति; (६) धार्मिक कार्य, उपासना, कर्तव्यता; (७) कोई अनुष्ठान, धार्मिक या तपस्या-सम्बन्धी कर्म या आचरण-सेवन, संकल्प, पुनीत कर्म; (८) सामान्य रूप से संकल्प, निश्चित हेतु; (९) अन्य विशिष्ट अर्थ। मैक्समूलर ने इसकी व्युत्पत्ति 'वृ' से की है, जिसका अर्थ है 'रक्षण करना', और प्रतिपादित किया है कि इसका प्रारम्भिक अर्थ इस भाव में था, जिसे हम आवेष्टित, रक्षित, पृथक् रूप से रक्षित के अर्थ में लेते हैं, आगे चलकर इसका अर्थ हुआ निर्णीत, निश्चित, विधि (कानून), विधान और पुनः कालान्तर में अर्थ-विकास हुआ 'आधिपत्य या सत्ता।' ह्विटनी ने मैक्समूलर की व्युत्पत्ति को असन्तोषजनक मानकर उसे सेंट पीटर्सबर्ग के कोश से निकाल दिया और घोषित किया कि उन्हें 'वृ' (वरण करना) से इसकी व्युत्पत्ति करना अमान्य है। उन्होंने यह भी कहा कि 'वृ' से संकल्प, अनुशासन (आदेश) अर्थ नहीं निकलता, केवल 'वरण करना या अधिक मान देना' उपयुक्त ठहरता है। किन्तु उन्होंने यह स्वीकार किया है कि 'वरण करने' एवं 'अनुशासन' में सम्बन्ध अवश्य है। उन्होंने विरोध उपस्थित किया कि 'त' का आगम या प्रत्यय के रूप में प्रयोग बहुत ही कम होता है, और कहा कि यदि कोई तुल्यार्थक शब्द है तो वह है 'मर्त' जो 'मृ' (मरना) से बना है। उन्होंने 'व्रत' का 'वृत्' (वृतु वर्तने, प्रवृत्त रहना या प्रारम्भ करना या आगे बढ़ना) से व्युत्पादन अधिक अच्छा माना है। यद्यपि उन्होंने यह माना है कि 'वृत्' से 'अ' प्रत्यय के साथ 'व्रत' की व्युत्पत्ति अपवाद रूप में ही है। उन्होंने सोचा कि 'व्रज' एवं 'त्रद' शब्द उनकी व्युत्पत्ति को सँभाल लेते हैं और कहा कि 'व्रत' शब्द ऋग्वेद में गति-सम्बन्धी क्रियापदों, यथा—'चर्', 'सश्च्' या 'सच्' के साथ बहुधा आता है।

१. देखिए JBBRAS, खण्ड २९ (१९५४), पृष्ठ १–२८।

प्रो० वी० एम्० आप्टे[2] ने ह्विटनी की बात मानी है और कहा है कि 'वृत्' से ही 'व्रत' व्युत्पन्न हुआ है। उन्होंने बलपूर्वक प्रतिपादित किया है कि 'वृ' का 'वरण करना या चुनना' तथा 'रक्षण करना' या 'आवेष्टित करना' अर्थ असम्भव है। उन्होंने कहा है कि ऋग्वेद में कोई व्रत शब्द ऐसा नहीं है जिससे 'संकल्प या इच्छा, आदेश, आज्ञाकारिता अथवा निर्दिष्ट हेतु' का अर्थ प्रकट हो सके। उनका मत है कि 'वृत्' का अर्थ न केवल 'आगे बढ़ना या प्रवृत्त रहना या आरम्भ करना' है (जैसा कि ह्विटनी ने प्रतिपादित किया है), प्रत्युत इसका अर्थ 'अभिमुख होना अर्थात् घूम जाना, अपनी ओर अभिमुख होना, चतुर्दिक् घूम जाना, एक ही स्थान पर परिभ्रमण करना या आगे बढ़ना' भी है, अतः 'व्रत' शब्द का अर्थ न केवल विधि, कर्म का क्रम या विधि, आचार-विधि है, प्रत्युत इसका अर्थ 'चक्राकार गति या परिभ्रमण' तथा 'वृत्ताकार मार्ग' भी है।

प्रस्तुत लेखक के मत से ह्विटनी एवं प्रो० आप्टे के मत त्रुटिपूर्ण हैं। 'वृत्' से 'व्रत' की व्युत्पत्ति अमान्य है। उन पदों में जहाँ धातु 'वृत्' 'अभि', 'आ', 'नि', 'परि', 'प्र' या 'वि' नामक उपसर्गों के साथ प्रयुक्त हुई है, उनसे 'वृत्' के मौलिक अर्थ को निकालने में हमें सहायता नहीं मिलती, क्योंकि उपसर्ग बहुधा धातु का अर्थ ही परिवर्तित कर देते हैं, और यह सन्देहास्पद है कि 'वृत्' धातु अपने वास्तविक रूप में ही ऋग्वेद में 'आगे बढ़ना' (ह्विटनी के मतानुसार) के अर्थ में प्रयुक्त हुई है। यह भी नहीं माना जा सकता कि बिना उपसर्गों के प्रयुक्त 'वृत्' धातु ऋग्वेद में 'चक्राकार या वृत्ताकार घूमना या आगे बढ़ना' (प्रो० आप्टे के मतानुसार) के अर्थ में आयी है। प्रस्तुत लेखक के मतानुसार 'वृत्' का सीधा अर्थ है 'होना, ठहरना, पालन करना।' ऋग्वेद में 'वृत्' का प्रयोग इसके आगे या पीछे बिना उपसर्ग के बहुत कम हुआ है।[3]

प्रो० आप्टे ने आरोप लगाया है कि विद्वानों ने बहुधा व्रत के अर्थों के लिए अपने को केवल 'विधि, विधान, आदेश, यज्ञ, संकल्प, निर्दिष्ट हेतु, कर्तव्य' तक ही सीमित रखा है, उन्होंने ऋग्वेद में प्रयुक्त अर्थ 'मार्ग या वृत्ताकार मार्ग' की ओर अपना ध्यान नहीं दिया है। उनके मतानुसार ऋग्वेद में वर्णित दिव्य व्रतों का अर्थ है स्वर्गिक पथ, दिव्य फेरे, समय समय पर स्वयं देवों द्वारा आकाश के चारों ओर फेरा लगाना', न कि किसी विशिष्ट देवता द्वारा निर्धारित पुनीत विधियाँ या कानून। 'ओरायन' (पृ० १५४) में लिखित तिलक के इस निर्देश पर कि ऋग्वेद में वर्णित 'ऋत का पथ' राशि-चक्र की विस्तृत मेखला है, जिसका अतिक्रमण ज्योतिष्मान् तारागण कभी नहीं करते, प्रो० आप्टे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि ऋग्वेद के ऋत शब्द का अर्थ है राशि-चक्र की मेखला।[4] किन्तु प्रसिद्ध वैदिक विद्वानों को यह सिद्धान्त अमान्य है। परन्तु प्रस्तुत लेखक के मत से ऋग्वेद में 'ऋत' तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, जिनमें एक है 'प्रकृति की गति' या 'अखिल ब्रह्माण्ड में नियमित सामान्य विधा या व्यवस्था।' 'वह पथ जिसके द्वारा आदित्यों का दल ऋत को पहुँचता है' (ऋ० १।४१।४) या 'ऋत का चक्र, जिसमें १२ तीलियाँ (१२ राशियाँ या मास) हैं, बिना थके लगातार आकाश में चक्कर लगाते रहते हैं, (ऋ० १।१६४।११)—ये उदाहरण प्रथम अर्थ के लिए पर्याप्त हैं। किन्तु ऋत के ये अर्थ व्रत के अर्थ पर कुछ

२. देखिए डकन कालेज रिसर्च इंस्टीच्यूट, पूना का बुलेटिन, तृतीय खण्ड, पृष्ठ ४०७–४८८।

३. स्वर्भानोरध यदिन्द्र माया अवो दिवो वर्तमाना अवाहन्। ऋ० ५।४०।६; रथं वामनुगायसं य इषा वर्तते सह। न चक्रमभि बाधते। ऋ० ८।५।३४; नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते। ऋ० १०।३४।९।

४. Annals of the B. O. R. I. Silver Jubilee Volume, P P. 55-56.

प्रकाश नहीं डालते। 'ऋत' एवं 'व्रत' समानार्थक नहीं हैं। प्रो० आप्टे का मत ठीक नहीं है। 'ऋत' शब्द भारोपीय है, किन्तु व्रत शब्द हिन्द-ईरानी भी नहीं है, भारोपीय होने की तो बात ही निराली है।

प्रो० आप्टे ने प्रतिपादित किया है कि 'व्रत' शब्द के अर्थ-सम्बन्धी विकास के दो समानान्तर स्वरूप हैं, यथा दिव्य स्वरूप एवं मानवीय स्वरूप। किन्तु 'व्रत' शब्द के अर्थ में इस प्रकार का अन्तर नहीं स्वीकृत किया जा सकता। प्रो० आप्टे ने दिव्य स्वरूप के लिए छह तथा मानवीय स्वरूप के लिए चार, अर्थात् 'व्रत' के अर्थों का कुल मिलाकर दस दलों में बाँटा है। उन्होंने 'व्रत' के लिए कुल मिलाकर ६० अंग्रेजी अर्थ दिये हैं, जब कि ऋग्वेद में कुल २२० बार 'व्रत' शब्द आया है। हम इस विषय में यहाँ पर अधिक विस्तार में नहीं जायेंगे।

अब प्रस्तुत लेखक अपने मत के अनुसार ऋग्वेद में प्रयुक्त 'व्रत' शब्द की व्युत्पत्ति उपस्थित करेगा। यह शब्द 'वृ' (वरण करना) धातु से बना है। इस धातु से 'वर' (दूल्हा, जो किसी कन्या या उसके अभिभावक द्वारा कई व्यक्तियों में से चुना जाता है) शब्द निकला है (ऋ० ९।१०१।१४ एवं १०।८५।८-९)। वरण करना वरण करने वाले व्यक्ति की इच्छा या संकल्प पर निर्भर रहता है। अतः 'वृ' का तात्पर्य इच्छा करना भी है। इस प्रकार जब 'व्रत' शब्द 'वृ' से निकला है और उसके साथ 'त' लगा हुआ है तो 'व्रत' का अर्थ हुआ 'जो संकल्पित है' या केवल संकल्प या इच्छा। जो व्यक्ति शक्ति-सम्पन्न या अधिकारी होता है उसकी इच्छा अन्य लोगों के लिए आदेश या कानून (विधि) होती है। भक्तजन विश्वास करते हैं कि देवों ने कुछ अनुशासन अथवा आदेश निर्धारित किये हैं जिनका वे स्वयं तथा अन्य जीवगण अनुसरण करते हैं। इससे 'विधि, विधान या कानून' का भाव स्पष्ट हो जाता है। किसी उच्चाधिकारी का आदेश आरोपित होता है और उसका अर्थ होता है आज्ञापालन करने की कर्तव्यता। जब आदेश पालित होते हैं, और उसी प्रकार कर्तव्य बहुत समय तक सम्पादित होते रहते हैं तो वे कर्तव्यता या अनुग्रह-बन्धन अर्थात् परम्परानुगत आचारों या व्यवहारों का रूप पकड़ लेते हैं। जब लोग ऐसा विश्वास करते हैं या अनुभव करते हैं कि उन्हें कुछ कर्म देवों द्वारा निर्धारित समझ कर करने चाहिए, तब धार्मिक उपासना एवं कर्तव्य के भाव की सृष्टि होती है। जब कोई व्यक्ति देवों के अनुग्रह की प्राप्ति के लिए अपने आचरण या भोजन पर विशिष्ट रोक लगाता है तो वह पुनीत संकल्प या धार्मिक आचार-कर्म का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार 'वृ' से व्युत्पन्न 'व्रत' शब्द के कतिपय अर्थ हैं आदेश या विधि (कानून), आज्ञापालन या कर्तव्यता, धार्मिक या नैतिक व्यवहार, धार्मिक उपासना या आचरण, पुनीत या गम्भीर संकल्प या स्वीकरण तथा आचरण-सम्बन्धी कोई भी संकल्प। ऋग्वेद में जहाँ भी 'व्रत' शब्द आया है उसका अर्थ उपर्युक्त अर्थों में ही बैठ जाता है।

यहाँ पर हम ह्विटनी एवं प्रो० आप्टे द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों एवं मतान्तरों की व्याख्या स्थानाभाव के कारण नहीं कर सकेंगे। इतना ही कहना पर्याप्त है कि प्रो० आप्टे ने 'व्रत' शब्द की जो व्युत्पत्ति 'वृत्' धातु से की है वह उद्धरणों से सिद्ध नहीं होती। आज से लगभग कम-से-कम २५ शताब्दियों पूर्व यास्क ने 'व्रत' की जो व्युत्पत्ति 'वृ' (वृञ् धातु) से की, वह अधिकांश विद्वानों को मान्य है।

यहाँ पर 'ऋत', 'व्रत' एवं 'धर्मन्' शब्दों के पारस्परिक सम्बन्धों एवं उनके अर्थों का स्पष्टीकरण आवश्यक है। 'ऋत' के तीन अर्थों की व्याख्या इस महाग्रन्थ के चतुर्थ खण्ड में की जा चुकी है। 'व्रत' की व्याख्या ऊपर हो चुकी है। ऋग्वेद में 'धर्मन्' प्रयुक्त हुआ है, न कि 'धर्म'। 'धर्म' शब्द की व्याख्या इस महाग्रन्थ के प्रथम खण्ड के आरम्भ में की जा चुकी है। ऋग्वेद में 'धर्मन्' शब्द कभी-कभी पुंल्लिग में तथा बहुधा विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है (ऋ० १।१८७।१, १०।९२।२)। १०।२१।३ (त्वं धर्माण आसते) में पुंल्लिग है, अन्य स्थानों पर यह स्पष्ट रूप से नपुंसक लिंग में है (अतो धर्माणि धारयन्) १।२२।१८, और देखिए ५।२६।६, ९।६४।१। इन मन्त्रों

में धर्म का अर्थ है 'धार्मिक कर्म या यज्ञ', जो स्पष्टतः 'व्रत' के एक अर्थ के सन्निकट आ जाता है। १।१६४।४३ एवं ५० (=१०।९०।१६) में यज्ञों को आदिम-धर्मन् की संज्ञा दी गयी है (देखिए ३।१७।१ में प्रथमा धर्मा, एवं ३।३।१ में सनता धर्माणि)। कहीं-कहीं 'धर्मन्' का वास्तविक अर्थ नहीं है, यथा ४।५३।३ एवं ५।६३।७, जहाँ अर्थ है 'निर्दिष्ट नियम या आचारण के नियम।' कहीं-कहीं तो 'धर्मन्' का स्पष्ट अर्थ है 'व्रत', यथा ७।८९।५,[5] जिसका अर्थ है—"जब हम विमोहित होकर या असावधानी के कारण आपके धर्मों के विरोध में हो जायँ, हे वरुण! हमें उस पाप के कारण हानि न पहुँचाओ" (और देखिए ऋ० १।२५।१)। ऋ० ६।७०।१ में आया है—"द्यावा (स्वर्ग) एवं पृथिवी, जो कभी नष्ट नहीं होते और जो बीजों के आधिक्य से भरपूर हैं, वे वरुण के 'धर्मन्' द्वारा पृथक्-पृथक् स्थिर रखे हुए हैं।" और देखिए ऋ० ८।४०।१, जहाँ स्वर्ग को अटल रूप से स्थिर रखना वरुण के व्रतों में एक व्रत कहा गया है।

यद्यपि ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों में 'व्रत' एवं 'धर्मन्' के अर्थ मिलते जुलते-से प्रतीत होते हैं, तथापि कुछ ऐसे भी मन्त्र हैं जहाँ तीनों (ऋत, व्रत एवं धर्मन्) या केवल दो ही पृथक्-पृथक् रूप से प्रकट हो जाते हैं। यहाँ एक बात लिख देना आवश्यक है, अथर्ववेद के उन अंशों में, जिन्हें पाश्चात्य विद्वान् पश्चात्कालीन ठहराते हैं, 'धर्म' शब्द 'धर्मन्' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (यथा, १८।२।७, १४।१।५१)। ऋग्वेद के ५।६३।७ में तीनों शब्द आये हैं।[6] ऐसा कहा गया है—"हे विज्ञ मित्र एवं वरुण! आप लोग स्वभावतः (या अपने आचरण के स्थिर या अटल नियमों के अनुसार) असुर की जैसी आश्चर्यमय शक्ति से अपने धर्मों की रक्षा करते हैं; आप ऋत के नियमों के अनुसार सम्पूर्ण विश्व पर शासन करते हैं, आप स्वर्ग में सूर्य को, जो देदीप्यमान रथ के सदृश है, स्थापित करते हैं।" 'व्रत' एवं 'धर्मन्' ऋग्वेद के ५।७२।२ एवं ६।७०।३ में भी प्रयुक्त हुए हैं। 'ऋत' एवं 'व्रत' १।६५।२, २।२७।८, ३।४।७ एवं १०।६५।८ में आये हैं। सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि 'ऋत वह अखिल ब्रह्माण्डीय व्यवस्था है, जो अति प्राचीन काल से विराजमान है।' 'व्रत' का अर्थ है 'वे विधियाँ अथवा विधान' जो सभी देवों अथवा पृथक्-पृथक् व्यक्तिगत रूप से देवों द्वारा निर्धारित हैं। 'धर्मन्' का अर्थ है धार्मिक कृत्य या यज्ञ या निर्दिष्ट नियम।

क्रमशः ऋत की धारणा धुँधली पड़ती चली गयी और पृष्ठभूमि में छिप गयी तथा 'सत्य' ने उसे आत्मसात् कर लिया। 'धर्मन्' एक विभु (व्यापक) धारणा बन गया और 'व्रत' समाज के सदस्य के रूप में किसी व्यक्ति या केवल किसी व्यक्ति द्वारा पालित होने वाले पुनीत संकल्पों एवं आचरण-सम्बन्धी नियमों तक सीमित रह गया।

५. अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः। ऋ० ७।८९।५।

६. धर्मणा मित्रावरुणा विपश्चिता व्रता रक्षेथे असुरस्य मायया। ऋतेन विश्वं भुवनं वि राजथः सूर्यमा धत्थो दिवि चित्र्यं रथम्। ऋ० ५।६३।७।

अध्याय २

वैदिक साहित्य, सूत्रों एवं स्मृतियों में व्रत; व्रतों की परिभाषा एवं महत्ता

गत अध्याय में हमने ऋग्वेद में प्रयुक्त 'व्रत' शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ-सम्बन्धी विकास के विषय में पढ़ लिया है। अब हम इस विषय में वैदिक संहिताओं एवं ब्राह्मणों का अवलोकन करेंगे। ऋग्वेद की कतिपय पंक्तियाँ अन्य वैदिक संहिताओं में भी मिलती हैं। इस प्रकार के स्थलों पर व्रत 'दैवी आदेश' या 'आचरण-सम्बन्धी नैतिक विधियों' के अर्थ में आया है, उदाहरणार्थ, ऋग्वेद का १।२२।१९ तै० सं० के १।३।६।२ में आया है—"इन्द्र के सहायक मित्र विष्णु के कर्मों को देखो, जिनके द्वारा वह अपने व्रतों अर्थात् आदेशों की रक्षा करता है।"[1] यह अथर्ववेद (७।२६।६), वाज० सं० (६।४) में भी आया है। और देखिए ऋ० ८।११।३६, जो अथर्व० १९।५९।१, वाज० सं० ४।१६, तै० सं० १।१।१४।४-५ एवं १।२।३।१ में भी पाया जाता है; ऋ० १।२४।१५ का उद्धरण वाज० सं० के १२।१२ एवं अथर्व० के ७।८३। (८८) ३ एवं १८।४।५९ में पाया जाता है। ऋ० १०।१९१।३ सर्वथा अथर्व० ६।६४।२ है, केवल अथर्व० में ऋ० का 'व्रतम्' 'मनः' रूप में आया है (समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं व्रतं सह चित्तमेषाम्)। ऋ० के ७।१०३।१ में, जहाँ ऐसा उल्लेख है कि मेढक, जो वर्ष भर मौन रूप से पड़े रहते हैं और वर्षागमन पर बोलने लगते हैं, उन ब्राह्मणों के समान माने गये हैं जो धार्मिक व्रत करते हैं (अथर्व० ४।१५।१३)। और देखिए ऋ० १०।१२।५ एवं अथर्व० १८।१।३३, ऋ० १०।२।४ एवं अथर्व० १९।५९।२ तथा ऋ० १।८४।१२ एवं अथर्व० २०।१०९।३। इन सभी स्थलों में 'व्रतम्' एवं 'व्रतानि' उल्लिखित हैं। अग्नि को बहुधा 'व्रतपा' कहा गया है (ऋ० ५।२।८, ६।८।२, ८।११।१ एवं १०।३२।६); सूर्य को भी ऐसा ही कहा गया है (ऋ० १।८३।५)। अन्य संहिताओं में अग्नि को 'व्रतपा' तथा 'व्रतपति' कहा गया है। मिलाइए अथर्व० २०।२५।५ (सूर्यो व्रतपाः) एवं ऋ० १।८३।५ तथा अथर्व० १९।५९।१ (त्वमग्ने व्रतपा असि) एवं ऋ० ८।११।१। वाज० सं० (१।५) में आया है[2]—'हे अग्नि !

१. विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा। ऋ० १।२२।१९।

२. व्रतमुपैष्यन् ब्रूयादग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामीति। तै० सं० १।६।७।२; अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि। वाज० सं० १।५; अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं तदशकं तन्मेऽराधीदमहं य एवास्मि सोऽस्मि। वाज० सं० २।२८; अग्ने व्रतपते त्वं व्रतानां व्रतपतिरसि। तै० सं० १।३।४।३; व्रतेन त्वं व्रतपते समक्तो विश्वाहा सुमना दीदिहीह। अथर्व० ७।७४(७८)।४; देखिए शतपथ १।१।१।२ जिसमें वाज० सं० १।५ एवं २।२८ उल्लिखित हैं।

व्रतों के पति, मैं व्रत करूँगा। मैं इसे पूर्ण कर सकूँ। मेरा यह संकल्प सफल हो, यहाँ मैं असत्य से सत्य की ओर जाऊँ।" तै० सं० (१।३।४।३) ने भी अग्नि को व्रतपति कहा है।

वैदिक संहिताओं में कहीं-कहीं व्रत को किसी देवता या देवताओं के आदेश के रूप में लिया गया है (देखिए तै० सं० ४।३।११।१, २, ३ या अथर्व० ७।४०(४१)१, ७।६८(७०) १)। किन्तु संहिताओं (ऋग्वेदीय संहिताओं के अतिरिक्त), ब्राह्मणों, उपनिषदों में बहुधा अधिक स्थलों पर व्रत दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, यथा (१) धार्मिक कृत्य या संकल्प या आचरण तथा भोजन-सम्बन्धी रोक (जब कि व्रत धारण किया जाता है), अथवा (२) विशिष्ट भोजन, जो किसी धार्मिक कृत्य या संकल्प में संलग्न व्यक्ति के लिए व्यवस्थित किया जाता है, यथा गाय का दूध, यवागू (जौ की लपसी या माँड़) या गर्म दूध तथा दही का मिश्रण (आमिक्षा)। यास्क ने निरुक्त में ये दोनों अर्थ दिये हैं।[3] प्रथम अर्थ के लिए देखिए तै० सं० २।५।५।६ (यह उसका व्रत है; उसे असत्य नहीं बोलना चाहिए, मांस नहीं खाना चाहिए, स्त्री-गमन नहीं करना चाहिए और न उसे रेह से वस्त्र स्वच्छ करना चाहिए, क्योंकि देवता लोग यह सब नहीं करते); तै० सं० ५।७।६।१, जहाँ आया है, "पक्षी अग्नि ही हैं, अग्नि चयन करने वाला जब पक्षी (का मांस) खाता है तो (समझना चाहिए कि) वह अग्नि खा रहा है, ऐसा करने से उसको क्लेश प्राप्त होगा; (अतः) उसे यह व्रत (पक्षी का मांस न खाना) वर्ष भर करना चाहिए, क्योंकि व्रत एक वर्ष से अधिक नहीं चलता।" शांखायन ब्राह्मण (६।६) में आया है, 'उसे व्रत करना है, अर्थात् उसे सूर्योदय एवं सूर्यास्त नहीं देखना है।'[4] तै० सं० (१।२६।६) में आया है, "यह व्रत उसके लिए (जिसने आरुणकेतुक-चयन कृत्य कर लिया है) है, उसे वर्षा होते समय दौड़ना नहीं चाहिए, उसे जल में मूत्र त्याग या मल-त्याग नहीं करना चाहिए, थूकना नहीं चाहिए, नग्न-स्नान नहीं करना चाहिए, कमल-दल या सोने पर पैर नहीं रखना चाहिए और न कछुवा का मांस खाना चाहिए।"

बृहदारण्यकोपनिषद् (१।५।२१-२३) में आया है, 'अब व्रत के विषय में मीमांसा आरम्भ होती है; प्रजापति ने अंगों की सर्जना की, जो सर्जित होकर एक-दूसरे से स्पर्धा करने लगे; वाक् (वाणी) ने कहा, मैं केवल बोलूँगी (अन्य कुछ न करूँगी) . . .अतः केवल एक ही व्रत करना चाहिए, यथा केवल भीतर साँस लेनी चाहिए, वायु नहीं छोड़नी चाहिए, क्योंकि (यदि कोई अंग किसी दूसरे अंग का कर्म कर दे) इससे दुर्दान्त मृत्यु पकड़ लेगी।'[5] तै० उप० (३।७-१०) में आया है, 'अन्न (भोजन) की निन्दा नहीं करनी चाहिए, यही व्रत है।. .अन्न

३. व्रतमिति कर्मनाम निवृत्तिकर्म वारयतीति सतः। इदमपीतरद् व्रतमेतस्मादेव वृणोतीति सतः। अन्नमपि व्रतमुच्यते। यदावृणोति शरीरम्। निरुक्त २।१४।

४. तस्य व्रतमुद्यन्तमेवैनं नेक्षेतास्तं यन्त चेति। शां० ब्रा० ६।६। जैमिनि (४।१।३) ने इस कथन की ओर किया संकेत है और शबर का कथन है कि ये प्रजापति-व्रत हैं, ये पुरुषार्थ हैं न कि क्रत्वर्थ, इससे सूर्योदय एवं सूर्यास्त न देखने के संकल्प या व्रत की ओर संकेत है। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।११।३१।२०, उद्यन्तमस्तं यन्तं चादित्यं दर्शने वर्जयेत्), मनु० (४।३७), वसिष्ठधर्मसूत्र (१२।१०-१२) ने इस तथा अन्य नियमों का निर्धारण सभी स्नातकों के लिए किया है।

५. अथातो व्रतमीमांसा। प्रजापतिर्ह कर्माणि ससृजे तानि सृष्टान्यन्योन्येनास्पर्धन्त वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे।... तस्मादेकमेव व्रतं चरेत्प्राण्याच्चैवापान्याच्च नेन्मा पाप्मा मृत्युराप्नुवदिति। बृह० उप० १।५।२१-२३। यही वाक्य वेदान्तसूत्र ३।३।४३ का आधार है।

(भोजन) नहीं त्यागना चाहिए, यही व्रत है, अन्न (भोजन) अधिक बनाना चाहिए... (आश्रय के इच्छुक व्यक्ति को) आश्रय देना अस्वीकार नहीं करना चाहिए, यही व्रत है, अतः किसी विधि से अधिक अन्न प्राप्त करना चाहिए।"[६] छान्दोग्योपनिषद् (अध्याय २, खण्ड १३-२१) में उन विधानों के सम्बन्ध में, जो सामनों की उपासना के समय, तप्त सूर्य के लिए वर्षा होने पर, ऋतुओं, लोकों, पालतू पशुओं, ब्राह्मणों के विरोध में कुछ न कहने के विषय में हैं तथा वर्ष भर (या कभी भी नहीं) मांस न खाने के विषय में हैं, 'तद् व्रतम्' का उल्लेख कई बार हुआ है।

व्रत के दूसरे अर्थ के लिए वैदिक साहित्य के कुछ उद्धरण निम्न हैं—तै० सं० (६।२।५।१) में आया है, 'वह (दीक्षित) व्रत करता है, पहले एक स्तन से, फिर दो से, फिर तीनों से और अन्त में चारों स्तनों से दूध पीता है, इसे **क्षुरपवि** व्रत कहते हैं, **यवागू** (दीक्षित) क्षत्रिय का व्रत है, **आमिक्षा** (गर्म दूध तथा दही का मिश्रण) वैश्य का व्रत है।"[७] शतपथब्राह्मण (३।२।२।१० एवं १६) ने व्यवस्था दी है कि वैदिक यज्ञ के लिए दीक्षित व्यक्ति को दूध पीने का व्रत लेना चाहिए। ऐतरेय ब्राह्मण (१।२५।४) में व्यवस्था है कि दीक्षित उपसद् दिनों में व्रत के रूप में चार स्तनों से दूध लेता है, फिर तीन, दो तथा एक से लेता है। मिलाइए तैत्तिरीय आरण्यक (२।८), जहाँ ब्राह्मण याज्ञिक (यजमान) के लिए दूध, क्षत्रिय के लिए यवागू तथा वैश्य के लिए आमिक्षा की व्यवस्था दी हुई है।

ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण ग्रन्थों के काल में 'व्रत' शब्द के दो गौण रूप आ चुके थे, यथा (१) व्यक्ति के आचरण के लिए उचित व्यवस्था तथा (२) उपवास, अर्थात् याज्ञिक (यजमान) का रात भर गार्हपत्य अग्नि के समीप रहना या उपवास करना। प्रथम का उदाहरण ऐतरेय ब्राह्मण के अन्त में आता है, 'यह व्रत उसके लिए है (उस राजा के लिए जिसने 'ब्रह्मणः परिमरः' नामक व्रत लिया है), उसे अपने शत्रु के बैठने के पूर्व नहीं बैठ जाना चाहिए (उसके बैठने के उपरान्त बैठना चाहिए), (सूचना मिलने पर) यदि वह सोचता है कि शत्रु खड़ा है तो उसे भी खड़ा हो जाना चाहिए; अपने शत्रु के लेट जाने पर पर ही लेटना चाहिए, यदि वह समझता है कि उसका शत्रु बैठ गया है तो उसे बैठना चाहिए, उसे अपने शत्रु के सोने के पूर्व ही नहीं सोना चाहिए, यदि वह जानता है कि उसका शत्रु जगा हुआ है तो उसे भी सजग रहना चाहिए; यदि उसके शत्रु का सिर पाषाण की भाँति कठोर रहे (या शत्रु के सिर पर पाषाण का टोप हो) तो भी वह (राजा जो परिमर व्रत करता है) शीघ्र उसे पछाड़ देता है' (ऐ० ब्रा० ८।२८)।

व्रत का दूसरा गौण अर्थ **उपवास** ठहरता है (अर्थात् यजमान दर्श-इष्टि एवं पूर्णमास-इष्टि में गार्हपत्य तथा अन्य अग्नियों के पास रात्रि बिताता है और उपवास करता है या भोजन की मात्रा कम करता है), 'वह दर्श एवं पूर्णमास इष्टियों में उपवास इसलिए करता है कि देवता लोग बिना व्रत में लगे हुए व्यक्ति की हवि को नहीं ग्रहण करते, अतः वह (देवताओं को प्रसन्न करने के लिए) उपवास करता है कि जिससे वे उसके यज्ञ-कर्म में भाग लें' (देखिए ऐतरेय ब्राह्मण ७।२)।

६. अन्नं न निन्द्यात्। तद् व्रतम्।...अन्नं बहु कुर्वीत तद् व्रतम्।...न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत। तद् व्रतम्। तस्माद्यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात्। तै० उप० ३ (भृगुवल्ली), ७-१०।

७. अथैकं स्तनं व्रतमुपैत्यथ द्वावथ त्रीनथ चतुर एतद्वै क्षुरपवि नाम व्रतं...यवागू राजन्यस्य व्रतं...आमिक्षा वैश्यस्य पयो ब्राह्मणस्य...तै० सं० ६।२।३।१-३। क्षुरपवि अथर्व० (१२।५।२० एवं ५५) में भी आया है।

ऊपर कहे गये व्रत के दोनों अर्थ श्रौत सूत्रों में पाये जाते हैं, उदाहरणार्थ आप० श्रौ० सू० ४।२।५-७, ४।१६।११, ५।७।६ एवं १६, ५।८।१, ५।२५।२-२०, ९।३।१५, ११।१।७, ९।१८।९; आश्व० श्रौ० सूत्र २।२।७, ३।१३।१-२; शां० श्रौ० सू० २।३।२६, जिनमें प्रथम अर्थ प्रकट होता है तथा आ० श्रौ० सू० १०।२२।४, १०।१७।६, ११।१५।३ एवं ६ में दूसरा अर्थ (यथा भोजन या दूध आदि)। गृह्य सूत्रों एवं धर्मसूत्रों में भी व्रत के ये दो अर्थ प्रकट होते हैं। उदाहरणार्थ आश्व० गृ० सू० ३।१०।५-७ में आया है--'उसके लिए ये व्रत हैं, उसे रात्रि में स्नान नहीं करना चाहिए, नग्न-स्नान नहीं करना चाहिए, वर्षा होते समय नहीं दौड़ना चाहिए आदि'; पारस्कर गृ० सू० के अनुसार स्नातकों को समावर्तन के उपरान्त तीन दिनों तक कुछ व्रत करने पड़ते हैं, यथा मांस न खाना, जल-ग्रहण के लिए मिट्टी के पात्र को न लेना, स्त्रियों, शूद्रों, शवों, कौओं को न देखना, शूद्रों से न बोलना, सूर्याभिमुख होकर मल-मूत्र न त्यागना और न थूकना, या ये कर्म न करके केवल सत्य बोलना। गौतम (८।१५), शांखायन-गृह्य (२।११-१२), गोभिल गृ० (३।१।२६-३१) आदि ने कुछ ऐसे व्रतों का उल्लेख किया है (जो अब अप्रचलित हैं) जिन्हें प्रत्येक वेदपाठी छात्र को करना अनिवार्य था। आप० ध० सू० (२।१।१।१) ने विवाहोपरान्त पति-पत्नी के लिए यह निर्धारित किया है कि वे दिन में केवल दो बार खायें, भरपेट नहीं खायें, पर्व के दिनों में उपवास करें। इसी प्रकार उसमें (१।११।३०।६, १।११।३१) स्नातकों के लिए व्रतों की व्यवस्था है (अथ स्नातकव्रतानि)। पाणिनि (३।२।८०) में एक विशिष्ट सूत्र है 'व्रते'। और देखिए पाणिनि (३।१।२१)।

प्रायश्चित्तों में बहुत से कठोर नियमों के पालन का व्रत लेना पड़ता है। मनुस्मृति (११।११७, १७०, १७६ एवं १८१), याज्ञवल्क्य (३।२५१, २५२, २५४, २५८), शंख (१७।६, २२, ४२, ६१, ६२) आदि स्मृतियों ने इन्हें व्रत की संज्ञा दी है। महाभारत में व्रत मुख्यतया धार्मिक संकल्प के रूप में आया है, जिसमें व्यक्ति को अन्न-सम्बन्धी या सामान्य व्यवहार में कुछ रुकावटों का पालन करना पड़ता है। देखिए वनपर्व २९६।३, उद्योग० ३९।७१-७२, शान्ति० ३५।३९, अनुशासन १०३।३४। महाभारत में ऐसी आचरण-व्यवस्था के लिए भी नियम हैं, जिन्हें यह आवश्यक नहीं कि हम धार्मिक कहें, उदाहरणार्थ सभापर्व (५८।१६) में युधिष्ठिर कहते हैं कि यह मेरा शाश्वत व्रत है कि मैं बुलाये जाने पर जूआ खेलना अस्वीकार नहीं कर सकता।[1] 'व्रत' शब्द के गौण अर्थों के अतिरिक्त इसके मुख्य अर्थ का प्रयोग ई० सन् की प्रथम शताब्दियों से आगे धार्मिक संकल्प के रूप में भी ग्राह्य था, जो किसी तिथि, सप्ताह-दिन, मास में लिया जाता था, और जो किसी देवी या देवता की पूजा करने पर किसी वांछित फल की प्राप्ति के लिए होता था, ऐसी स्थिति में अन्न एवं आचरण में किसी प्रकार के नियन्त्रण की व्यवस्था होती थी। इसी अर्थ में हम इस विभाग में व्रत का प्रयोग करेंगे।

व्रत प्रायश्चित्त-स्वरूप हो सकते हैं या बन्धन रूप में, यथा ब्रह्मचारी या स्नातक या गृहस्थ के लिए अथवा इच्छा-जनित या स्वारोपित, जिनसे किसी विशिष्ट साध्य की उपलब्धि हो। प्रायश्चित्त-सम्बन्धी व्रतों का उल्लेख इस महाग्रन्थ के चौथे खण्ड में हो चुका है। ब्रह्मचारियों, स्नातकों एवं गृहस्थों के व्रतों का वर्णन दूसरे खण्ड में किया जा चुका है। इस पाँचवें खण्ड में हम स्वारोपित (स्वतः गृहीत) व्रतों की मीमांसा करेंगे।

१. आहूतोऽहं न निवर्ते कदाचित्तदाहितं शाश्वतं वै व्रतं मे। सभापर्व ५८।१६।

सभी धर्मों में संकल्पों एवं व्रतों की व्यवस्था है। प्राचीन एवं नवीन बाइबिल (टेस्टामेण्ट) में व्रतों की पुनीतता का उल्लेख है। देखिए इसैआह १९।२१, जाब २२।२७, साम २२।२५, एक्ट २१।२३। जैनों में पंच महान् व्रत तथा बौद्धों में पंचशील हैं।

व्रत की विस्तारपूर्वक परिभाषा के विषय में मध्यकाल के निबन्धों में बड़ी विवेचना उपस्थित की गयी है। शबर (जैमिनि, ६।२।२०) ने निष्कर्ष निकाला है कि व्रत एक मानस क्रिया है, जो प्रतिज्ञा के रूप में होती है, यथा 'मैं यह नहीं करूँगा।' मेधातिथि (मनु ४।१३) ने इसे स्वीकार किया है। अग्निपुराण ने व्यवस्था दी है कि शास्त्र द्वारा घोषित नियम ही व्रत है, इसी को तप भी कहा गया है; व्रत को तप कहा गया है, क्योंकि इससे कर्ता को सन्ताप मिलता है; इसे नियम भी कहा जाता है, क्योंकि इसमें ज्ञान के कतिपय अंगों पर नियन्त्रण करना पड़ता है।[9] मनु (२।३) ने घोषित किया है कि संकल्प सभी कामों (इच्छाओं) का मूल है, सभी यज्ञों, सभी व्रतों का मूल है, और इनकी विशेषताएँ अर्थात् यम संकल्प से ही उत्पन्न होते हैं।[10] किन्तु प्रत्येक संकल्प व्रत नहीं कहा जा सकता। यहाँ यह विचारणीय है कि अमरकोश के अनुसार 'नियम' एवं 'व्रत' समानार्थी हैं और व्रत में उपवास आदि होते हैं जो पुण्य उत्पन्न करते हैं।[11] आप० ध० सू० (१।२।५७) में आया है कि 'तप' शब्द ब्रह्मचारी के आचार-नियमों के लिए प्रयुक्त होता है (नियमेषु तपः शब्दः)। मिताक्षरा (याज्ञ० १।१२९) के अनुसार व्रत मानसिक संकल्प है जिसके द्वारा कुछ किया जाता है या कुछ नहीं किया जाता है, दोनों कर्तव्य रूप में लिये जाते हैं। इसीलिए श्रीदत्त ने अपने समयप्रदीप में सम्भवतः शबर एवं मिताक्षरा से संकेत लेकर व्रत की परिभाषा यों की है—'यह एक निर्दिष्ट संकल्प है जो किसी विषय से सम्बन्धित है, जिससे हम कर्तव्य के साथ अपने को बाँधते हैं' (स्वकर्मविषयो नियतः संकल्पो व्रतम्)। उन्होंने यह भी कहा है कि यह भावात्मक (मैं इसे अवश्य करूँगा) या अभावात्मक (मुझे इसे नहीं करना चाहिए) हो सकता है। उन्होंने आगे कहा है कि वह संकल्प, जिसके साथ कोई प्रतिबन्ध लगा हो और जो शास्त्रों द्वारा निर्धारित न हो, व्रत नहीं कहलाता, यथा यदि कोई ऐसा कहे कि वह उपवास करेगा यदि उसके पिता मना न करें, नहीं तो वह

९. शास्त्रोदितो हि नियमो व्रतं तच्च तपो मतम्। नियमास्तु विशेषास्तु व्रतस्यैव दमादयः॥ व्रतं हि कर्तृसन्तापात्तप इत्यभिधीयते। इन्द्रियग्रामनियमान्नियमश्चाभिधीयते॥ अग्नि० १७५।२-३। यही श्लोक गरुड़पुराण (१।१२८।१) में भी है।

१०. संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसम्भवाः। व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः॥ मनु (२।३)। याज्ञ० (३।३१२-३१३) ने दस यमों का उल्लेख किया है, यथा ब्रह्मचर्य, दया, अहिंसा, दम आदि, एवं दस नियमों का वर्णन किया है, यथा स्नान, मौन, उपवास, शौच आदि; किन्तु योगसूत्र में केवल पाँच यमों (अहिंसासत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः) एवं पाँच नियमों (शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः) का उल्लेख है। मनु (४।२०४) एवं अत्रि (श्लोक ४७) ने व्यवस्था दी है कि यमों का पालन अवश्यमेव होना चाहिए। (अर्थात् ये प्रमुख कर्तव्य हैं), किन्तु नियमों में ऐसी बात नहीं है। वायुपुराण (१६।१७-१९) ने बहुत से नियम बताये हैं (जिनमें अहिंसा, अस्तेय एवं ब्रह्मचर्य भी हैं)। एकादशीतत्त्व ने मनु (२।३) का उद्धरण देते हुए व्याख्या की है कि 'अनेन कर्मणा इदमिष्टं फलं साध्यते इत्येवंविषया बुद्धिः संकल्पस्तदनन्तरमिष्ट-साधनतया अवगते तस्मिन् इच्छा जायते ततस्तदर्थं प्रयत्नं कुर्वीत इत्येवं यज्ञाः संकल्पसम्भवाः।'

११. नियमो व्रतमस्त्री तच्चोपवासादि पुण्यकम्। अमरकोश।

नहीं करेगा; तो यह व्रत नहीं कहा जायगा, क्योंकि व्रत में संकल्प प्रमुख विषय है। यदि कोई दुर्बल बुद्धि का व्यक्ति या अज्ञानी व्यक्ति बिना किसी संकल्प के व्रत करे तो वह मात्र शरीर-क्लेश कहा जायगा न कि व्रत। कृत्यरत्नाकर ने अपने पूर्ववर्ती विद्वानों द्वारा उपस्थापित व्रत की कई परिभाषाएँ दी हैं, जिनमें देवेश्वर की परिभाषा यों है—'व्रत वह है जो व्रतकाण्ड में परिगृहीत है।' यह परिभाषा परिभाषा-सम्बन्धी प्रयास की निराशा की द्योतक है और जिज्ञासु को पूर्व स्थिति में ही छोड़ देती है। संकल्प का व्रत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है; यह लघु-विष्णु की उक्ति के आधार पर कहा गया है—'ऋत्विकों का वरण यज्ञ का प्रारम्भ है, संकल्प व्रत का और जप (किसी इष्ट देवता के सम्मान में) मन्त्रों का।'[१२] शूलपाणि ने श्रीदत्त के समान ही व्रत की परिभाषा की है। लक्ष्मीधर ने कृत्यकल्पतरु में व्रत की परिभाषा नहीं की है। प्रो० के० वी० रंगस्वामी आयंगर ने कृत्यकल्पतरु के व्रतकाण्ड की भूमिका में कहा है कि रघुनन्दन ने अपने व्रततत्त्व में व्रत की परिभाषा करने का प्रयास छोड़ दिया है। किन्तु प्रो० आयंगर ने यह नहीं देखा कि रघुनन्दन ने अपने एकादशीतत्त्व में व्रत की परिभाषा की मीमांसा की है और इसी से उन्होंने अपने व्रततत्त्व में उसे पुनः नहीं लिखा। रघुनन्दन नारायण एवं श्रीदत्त की परिभाषाएँ उल्लिखित करते हैं और व्रत को संकल्प मानने को सन्नद्ध नहीं होते, प्रत्युत यह कहते हैं कि व्रत का तात्पर्य है भाँति-भाँति के कृत्य जिनके लिए संकल्प किया जाता है, व्रत एक नियम है (नियन्त्रित करने वाली विधि) जो शास्त्रों द्वारा व्यवस्थित है, उपवास द्वारा विशिष्टीकृत है, यह प्रत्येक नियम नहीं है, यथा ऋतुकालाभिगामी स्यात् (याज्ञ० १।७९, मनु ३।४५)। व्रतप्रकाश (वीरमित्रोदय का एक अंश) ने व्रत को एक विशिष्ट संकल्प माना है जो विद्वानों को व्रत के रूप में भली भाँति विदित है, जैसे कि मन्त्र वे हैं जो विद्वानों के बीच में मन्त्रों के रूप में विख्यात हैं। धर्मसिन्धु (पृ० ९) ने व्रत को पूजा आदि से समन्वित धार्मिक कृत्य माना है। यद्यपि प्रत्येक व्रत के मूल में और इसके लिए आग्रह के फलस्वरूप कोई संकल्प अवश्य होना चाहिए, अतः ऐसा लगता है कि रघुनन्दन एवं धर्मसिन्धु की परिभाषाएँ व्रत के लोकप्रिय अर्थ की द्योतक हैं। किसी व्रत में कई बातें सम्मिलित रहती हैं, यथा स्नान, प्रातः सन्ध्या, संकल्प, होम, पूजा (इष्ट देवता की), उपवास, ब्राह्मणों, कुमारियों या विवाहित स्त्रियों, दरिद्रों को भोजन-दान, गौ, धन, वस्त्र, मिठाई आदि का दान तथा व्रत की अवधि के भीतर आचरण-सम्बन्धी कुछ विशिष्ट नियमों का परिपालन। इनमें कुछ का वर्णन विस्तार के साथ आगे किया जायगा, किन्तु कुछ यहीं वर्णित होंगे।

अग्निपुराण (१७५।१२) में आया है कि व्रत करने वाले को प्रति दिन स्नान करना चाहिए, सीमित मात्रा में भोजन करना चाहिए, गुरु, देवों एवं ब्राह्मणों का सम्मान करना चाहिए, क्षार, क्षौद्र, लवण, मधु एवं मांस का त्याग कर देना चाहिए। देवल का कथन है कि पूर्व रात्रि में बिना कुछ खाए स्नान करने के उपरान्त मन को एकाग्र करके, सूर्य तथा अन्य देवों का आवाहन करके व्यक्ति को प्रातःकाल व्रत का आरम्भ करना चाहिए। मध्यकाल के लेखकों ने व्रत के विषय में पूर्वकालीन संक्षिप्त उल्लेखों को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर उपस्थित किया है। व्रतकालविवेक का कथन है कि संकल्प के पूर्व नारायण-स्मरण एवं नमस्कार होना चाहिए। गणेश की पूजा के विषय में मतभेद है। व्रतकालविवेक में आया है कि गणेश-पूजा अन्य देवों की पूजा के पहले करना कोई आवश्यक नहीं है।

१२. प्रारम्भो वरणं यज्ञे संकल्पो व्रतजापयोः। नान्दीश्राद्धं विवाहादौ श्राद्धे पाकपरिक्रिया॥ लघुविष्णु, मदनपारिजात (पृ० ४२३) द्वारा उद्धृत, स्मृत्यर्थसार (पृ० १७), व्रतकालविवेक (पृ० ९)।

सामान्य नियम तो यह है कि व्रत का संकल्प प्रातःकाल होना चाहिए, किन्तु यहाँ भी विरोधी मत प्रकाशित किये गये हैं (देखिए भविष्यपुराण, उत्तर, ११।६-८)।

होम एवं पूजा में अन्तर है। प्राचीन धर्माधिकारियों के मत से वैदिक मन्त्रों के साथ होम स्त्रियों एवं शूद्रों द्वारा नहीं किया जाना चाहिए। सिद्धान्त रूप से तीन वर्ण वैदिक मन्त्रों के साथ होम कर सकते हैं, किन्तु विद्वान् ब्राह्मणों का कहना है कि कलियुग में योग्य क्षत्रिय एवं वैश्य नहीं पाये जाते। कमलाकर भट्ट जैसे लेखकों ने यहाँ तक कह डाला कि शूद्र पुराणों को नहीं पढ़ सकते, वे केवल ब्राह्मणों द्वारा उनका पारायण सुन सकते हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि अधिकांश में लोग केवल पूजा करने लगे और अग्नि में होम करना कम होने लगा। कुछ लेखकों के मत से उसी देवता के लिए होम होना चाहिए जिसके अनुग्रह के लिए व्रत किया जाता है। वर्धमान आदि लेखकों के मत से व्रत में होम इष्ट देव के सम्मान में होना चाहिए या वह केवल व्याहृतिहोम होना चाहिए (होम के साथ भूः स्वाहा, भुवः स्वाहा, स्वः स्वाहा, भूर्भुवः स्वः स्वाहा)। अग्निपुराण (१७५।६०) के अनुसार सामान्य रूप से सभी व्रतों के अन्त में जप, होम एवं दान होना चाहिए। विष्णुधर्मोत्तर में व्यवस्था है कि जो उपवास-व्रत करता है उसे इष्ट देव के मन्त्रों का मौन पाठ करना चाहिए, इष्ट देव का ध्यान करना चाहिए, उस देव के विषय की कथाएँ सुननी चाहिए, उसकी मूर्ति की पूजा करनी चाहिए, उसके नामों का उच्चारण करना चाहिए तथा अन्य लोगों को नाम-गायन करते हुए सुनना चाहिए।

पूर्वमीमांसा के लेखकों ने होम, याग एवं दान के अन्तर या भेद को समझाया है। शबर (जै० ४।२।२८) ने संक्षेप में कहा है—'अपना सम्पूर्ण त्याग तीनों कृत्यों में पाया जाता है, किन्तु याग वह है जिसमें इष्ट देव के निमित्त किसी वस्तु का त्याग होता है और वह मन्त्र के साथ होता है, किन्तु होम में एक बड़ी बात और है, और वह है अग्नि में किसी वस्तु को छोड़ना; दान में अपनी किसी वस्तु का त्याग करना होता है जो अन्ततोगत्वा दूसरे की हो जाती है। एक स्थान पर शबर (जै० ९।१।६) ने याग को केवल देवता की पूजा माना है (अपि च यागो नाम देवता-पूजा)।

मनु (२।१७६) एवं याज्ञ० (१।९९।१००, १०२) से प्रकट होता है कि देवतापूजा एवं होम में अन्तर है। देवतापूजा होम के उपरान्त होती है, जैसा कि मरीचि एवं हारीत (स्मृतिच० १, पृ० १९८ एवं स्मृतिमु०, आह्निक, पृ० ३८३ में उद्धृत) से पता चलता है। देवतापूजा के विषय में हमने इस महाग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में देख लिया है। कुछ बातें जो वहाँ छूट गयी हैं, यहाँ दी जा रही हैं। देवपूजा की विधि में १६ उपचार होते हैं, किन्तु उनकी संख्या ३६ या ३८ तक भी है और कम भी बतायी गयी है, यथा १३, १४, १२, १० या ५। इस विषय में मतैक्य नहीं है।[13] ब्रह्मवैवर्तपुराण ने १६, १२ एवं ५ उपचारों की चर्चा की है। यदि कोई व्यक्ति पाँच उपचार भी न कर सके तो वह केवल दो कर सकता है, यथा चन्दन एवं पुष्प, यदि इतना भी न कर सके तो श्रद्धा मात्र पर्याप्त है (वर्षक्रियाकौमुदी, पृ० १५७ में उद्धृत कालिकापुराण)। शबर (जै० ५।१।४) के भाष्य (कम से कम चौथी शताब्दी के उपरान्त नहीं) से प्रकट है कि उपचारों का क्रम तब तक व्यवस्थित हो चुका था। व्रतार्क एवं वर्षक्रियाकौमुदी (पृ० २००-२०१) के मत से सभी व्रतों में सामान्य रूप से पुरुषसूक्त (ऋ० १०।९०) के प्रत्येक मन्त्र

१३. ३८ उपचारों के लिए देखिए व्रतराज पृ० ४४। एकादशीतत्त्व (पृ० १८) में ३६ उपचार उद्धृत हैं। प्रपंचसार में १६ उपचार निम्न हैं—आसनं स्वागतं पाद्यमर्घ्यमाचमनीयकम्। मधुपर्काचमस्नानवसनाभरणानि च॥ सुगन्धसुमनोधूपदीपनैवेद्यवन्दनम्। प्रयोजयेदर्चनायामुपचारांश्च षोडश॥

का पाठ प्रत्येक उपचार के साथ क्रम से होना चाहिए (यथा आवाहन, आसन, पाद्य, अर्घ्य, आचमनीयक, स्नान, वस्त्र, यज्ञोपवीत, अनुलेपन या गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, दक्षिणा, प्रदक्षिणा)। कुछ ग्रन्थों में इनमें प्रत्येक के साथ एक या अधिक पौराणिक मन्त्रों का भी समावेश पाया जाता है। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि ये उपचार (विशेषतः पुष्प, गन्ध, धूप, दीप एवं नैवेद्य) वैदिक युग में नहीं थे और आगे चलकर अनार्यों से ग्रहण किये गये। ऋग्वेद (१०।१८४।२) एवं अथर्व० (३।२२।४) में अश्विनौ का वर्णन नील कमलों की माला से युक्त किया गया है (पुष्करस्रजा); मरुतों को भी माला-युक्त वर्णित किया गया है (ऋ० ५।५३।४)। ऋग्वेद के मन्त्रों में (३।५९।१ एवं ५) घृत के साथ हव्य देने का उल्लेख है। देवों से अपूप, पुरोडाश, धाना, दूध, दही, मधु आदि खाने की प्रार्थना की गयी है (ऋ० ३।५३।८, ३।५२।१-७, ४।३२।१६, ८।९१।२; अथर्व० १८।४।१६-२६)। यह सब मूर्ति के समक्ष नैवेद्य देने की ओर संकेत है। शतपथ ब्राह्मण (१।१।१।११) में 'उपचार' शब्द 'सम्मान' अथवा सम्मान प्रकट करने की विधि के अर्थ में प्रयुक्त है। तै० आ० (१०।४०) में 'मेधा-जनन' नामक मन्त्र का उल्लेख है, जो जातकर्म के अवसर पर शिशु के कान में कहा जाता था—'सविता देव, सरस्वती देवी एवं नील कमलों की माला धारण करने वाले अश्विनीकुमार देव तुममें मेधा (बुद्धि) उत्पन्न करें।' इसके प्रमाण हैं कि गृह्य सूत्रों से बहुत पहले १६ उपचारों में बहुत से विख्यात थे, निघण्टु (३।१४) में ऐसे ४४ क्रिया शब्दों का उल्लेख है जिनका अर्थ है 'पूजा', जिनमें 'पूजयति' भी है। और देखिए शब्द 'सुपाणिः' (ऋ० ३।३३।६), जिसे निरुक्त में समझाते हुए कहा गया है कि 'पाणि' शब्द 'पण' से बना है जिसका अर्थ है सम्मान देना, लोग हाथों को जोड़कर देवों की पूजा करते हैं। अतः प्रकट है कि निरुक्त के पूर्व 'नमस्कार' पूजा करने का एक रूप था। और देखिए ऋग्वेद (३।३१।१) जिसमें 'सपर्यन्' शब्द निघण्टु द्वारा 'पूजयन्' का समानार्थक माना गया है। पाणिनि (५।३।९९) और महाभाष्य से प्रकट है कि उन दिनों देवों की प्रतिमाएँ बनती थीं, बिकती थीं, जिससे कि उनकी पूजा हो।[१४] आश्व० गृ० सू० (१।२४।७) ने व्यवस्था दी है कि जब ऋत्विक्, आचार्य, दूलह, राजा, स्नातक या सम्बन्धी (श्वशुर, चाचा, मामा आदि के सदृश) को मधुपर्क देना हो तो प्रत्येक के बारे में अतिथि को आसन, पाद-प्रक्षालन के लिए जल, अर्घ्यजल, आचमन-जल, मधु-मिश्रण तथा गाय की तीन बार घोषणा होनी चाहिए। इसी सूत्र ने एक अन्य स्थान पर गन्ध, माल्य, धूप, दीप, आच्छादन (वस्त्र) श्राद्ध के समय ब्राह्मणों को देने की बात चलायी है (४।८।१)। उपर्युक्त मन्त्रों में ही १६ में ९ उपचारों का उल्लेख हो गया है। धर्मसूत्रों के काल में ही 'पूजा' गौण अर्थ में होने लगी (अर्थात् बिना गन्ध, पुष्प आदि के सम्मान देना)। याज्ञ० (१।२२९) ने श्राद्ध में आवाहन, अर्घ्य, गन्ध, माल्य, धूप, दीप आदि का उल्लेख किया है। जब मूर्ति-पूजा का प्रचलन हो गया तो उपचार, जो योग्य व्यक्तियों के सम्मान एवं पूजा के लिए व्यवस्थित थे, आगे चलकर इसके साथ प्रयुक्त हो गये। प्रस्तुत लेखक के मत से यह सिद्धान्त कि पूजा एवं उपचार द्रविड़ों या अनार्यों से ग्रहण किये गये हैं, सिद्ध नहीं किया जा सकता और केवल कल्पनापरक है, वास्तव में मूर्ति-पूजा स्वदेशोद्भव विकास है। मध्य काल के लेखकों ने बड़ी सावधानी

१४. जीविकार्थे चापण्ये। पा० (५।३।९९); मौर्यैर्हिरण्यार्थिभिरर्चाः प्रकल्पिताः। भवेत्तासु न स्यात्। यास्त्वेताः संप्रति पूजार्थास्तासु भविष्यति। महाभाष्य। सोने एवं धन के लोभी मौर्य लोग बेचने के लिए शिव, स्कन्द की प्रतिमाएँ बनाते थे, जिन्हें 'शिवक' आदि कहा जाता था। किन्तु उन्हें, जो पूजा के निमित्त प्रतिष्ठापित होती थीं और जो पुजारियों की जीविका की साधन थीं, 'शिव', 'स्कन्द' आदि कहा जाता था। महाभाष्य (पा० १।१।२५) में आया है, 'काश्यपग्रहणं पूजार्थम्'।

से प्रकट किया है कि वास्तव में याग (वैदिक या अन्य यज्ञ) एवं पूजा में कोई मौलिक भेद नहीं है, क्योंकि दोनों में इष्ट देव के लिए कुछ दिया जाता है।

व्रत पर लिखे गये कुछ ग्रन्थों ने विस्तार के साथ बहुत-से उपचारों के विषय में लिखा है, विशेषतः पुष्पों के विषय में, जो मूर्ति-पूजा में चढ़ाये जाते हैं; पुष्प चढ़ाने के फलों, गन्ध के विविध प्रकारों या धूप, भोजन आदि के विषय में प्रभूत विस्तार पाया जाता है (हेमाद्रि, कृत्यरत्नाकर, पृ० ७०-७१, ७७-७९, वर्षक्रियाकौमुदी, पृ० १५६-१८१)। स्थानाभाव से हम यहाँ संक्षेप में लिखेंगे। बहुत-सी बातें द्वितीय खण्ड में आ चुकी हैं, जो बातें वहाँ नहीं दी हुई हैं उन्हें दिया जा रहा है। स्मृतिच० (पृ० २०१) ने पद्मपुराण का उद्धरण दिया है कि गन्धों में चन्दन परम पुनीत है, अगरु, चन्दन से उत्तम है, गहरे रंग वाला (कृष्ण) अगरु और भी उत्तम है, पीला अगरु कृष्ण से श्रेष्ठ है। हेमाद्रि ने 'चतुः सम' की व्याख्या की है, इसे त्वक्, पत्रक, लवंग एवं केसर (या कस्तूरी के दो भाग, चन्दन के चार, केसर के तीन एवं कपूर का एक) कहा है। इन्होंने सर्वगन्ध को कुंकुम (केसर), चन्दन, उशीर (खस), मुस्ता, लामज्ज (सुगन्धित घास की जड़ें), कपूर तथा तीन सुगंधित वस्तुएँ (यथा त्वक्, एला, पत्रक) माना है तथा 'यक्षकर्दम' को कपूर, अगरु, कस्तूरी, चन्दन एवं कक्कोल ठहराया है। अग्निपुराण (२०२।१) ने सर्वप्रथम कहा है कि हरि पुष्प, गन्ध, धूप, दीप एवं नैवेद्य से प्रसन्न होते हैं और फिर ऐसे पुष्पों का विभेद किया है जो चढ़ाने के योग्य या अयोग्य हैं। कल्पतरु (व्रत, पृ० १८०-१८१) ने भविष्यपुराण (ब्राह्मपर्व, १९७।१-११) का उद्धरण देकर पूजा में प्रयुक्त विविध पुष्पों के पुण्य-फलों का उल्लेख किया है, यथा मालती पुष्प के उपयोग से पुजारी देवता का सामीप्य पाता है, करवीर पुष्प से स्वास्थ्य एवं अतुलनीय सम्पत्ति की प्राप्ति होती है, मल्लिका के उपयोग से सभी प्रकार के आनन्द मिलते हैं, पुण्डरीक (कमल) से कल्याण एवं अधिक काल तक रहने वाली सम्पत्ति मिलती है, सुगन्धि-युक्त कुब्जक से सर्वोत्तम ऐश्वर्य प्राप्त होता है, कमल (श्वेत एवं नील) से निष्कलंक ख्याति मिलती है, विविध मुकुरकों से रोग-निवारण होता है, मन्दार से कुष्ठ के सभी प्रकारों का क्षय होता है, बिल्व से धन-प्राप्ति होती है, अर्क से सूर्य कल्याण करता है, बकुल पुष्पों की माला से सुन्दर कन्या प्राप्त होती है, किंशुक पुष्प से पूजित होने पर सूर्य दुःख का हरण करता है, अगस्त्य पुष्पों से इष्ट देव सफलता देते हैं, कमल-पुष्प-पूजा से सुन्दर पत्नी मिलती है, वनमाला से थकावट दूर होती है, अशोक पुष्प से सूर्य-पूजा करने पर त्रुटियाँ नहीं होतीं और जपा पुष्प से पूजित होने पर सूर्य पूजक को दुःखरहित करता है। निबन्धों में धूप के विषय में भी बहुत कुछ लिखा गया है। कल्पतरु (व्रत, पृ० १८२-१८३) में आया है—चन्दन जलाने से सूर्य पूजक के सन्निकट आता है (अर्थात् अनुग्रह करता है), जब अगरु जलाया जाता है तो वह वांछित फल देता है, स्वास्थ्य चाहने वाले को गुग्गुल जलाना चाहिए, पिण्डांग के प्रयोग से सूर्य स्वास्थ्य, धन एवं सर्वोत्तम कल्याण देता है, कुण्डक के प्रयोग से कृतार्थता मिलती है, श्रीवासक से व्यापार में सफलता मिलती है तथा रस एवं सर्जरस के प्रयोग से सम्पत्ति की प्राप्ति होती है। बाण ने चण्डिका के मन्दिर में गुग्गुल के जलने का वर्णन किया है (कादम्बरी, पूर्वार्ध)। कल्पतरु (व्रत, पृ० ६-७), हेमाद्रि (व्रत), कृत्यरत्नाकर (पृ० ७८) ने भविष्यपुराण का उद्धरण देते हुए 'अमृत', 'अनन्त', 'यक्षांग', 'महांग' नामक धूपों का उल्लेख किया है। भविष्यपुराण (ब्राह्मपर्व, १९८।१९) में आया है कि पुष्पों में 'जाती' सर्वश्रेष्ठ है, कुण्डक सर्वोत्तम धूप है, सुगंधित पदार्थों में केसर सर्वश्रेष्ठ है, गन्धों में चन्दन सर्वोपरि है, दीप के लिए घृत सर्वोत्तम है तथा नैवेद्य भोजनों में मोदक मिठाई सर्वश्रेष्ठ है। यह बात विचारणीय है कि गुग्गुल तथा अन्य पदार्थों का जलाना व्यावहारिक महत्त्व भी रखता है, क्योंकि इससे मक्खी-मच्छरों का विनाश होता है (देखिए गरुड़० १।१७७।८८-८९)।

यह वास्तव में सत्य है कि अधिकांश व्रतों में ब्राह्मणों को खिलाया जाता था, किन्तु ऐसा समझना ठीक नहीं है कि दरिद्रों, अन्धों एवं निराश्रितों को सर्वथा छोड़ दिया जाता था। बहुत-से व्रतों में यह स्पष्ट रूप से व्यवस्था

दी हुई है कि दरिद्रों, अन्धों एवं निराश्रितों को भोजन दिया जाना चाहिए। अवियोगव्रत की चर्चा करते हुए कल्पतरु (व्रत, पृ० ७५) एवं हेमाद्रि ने कालिकापुराण से एक लम्बा उद्धरण दिया है जिसमें ऐसी व्यवस्था है कि व्रत-दिवस पर स्वादिष्ठ एवं सुगंधित अन्न एवं रुचिपूर्ण पेय दीनों, अन्धों, बधिरों आदि को देना चाहिए।[15] और देखिए कल्पतरु (व्रत), पृ० ३९० (हरि-व्रत), पृ० ३९१ (पात्रव्रत), पृ० ३९७ (महाव्रत), हेमाद्रि एवं कृत्य० र०, पृ० ४८१ (शिव-रात्रिव्रत), कृत्य र०, पृ० ४६१ (मित्रसप्तमी)। भविष्य० (उत्तर, २२।३३-३४) ने कहा है कि व्रत करने वाले को चाहिए कि वह अपनी सामर्थ्य के अनुसार अन्धों, दीनों एवं निराश्रितों को भोजन दे। श्राद्धों, विशेषतः गया-श्राद्ध में पुराणों ने पर्याप्त व्यय करने की बात चलायी है और यथाशक्ति कम व्यय करने वालों की भर्त्सना की है (देखिए मत्स्य० १००।३६)। उभयद्वादशीव्रत पर भविष्योत्तर में आया है कि व्रती को कम व्यय नहीं करना चाहिए। और देखिए कालिकापुराण, पद्म० (६।३९।२१), मत्स्य० (६२।३४, ९१।१०९, ९५। ३२, ९८।१२)।

व्रती को कुछ विशेष गुणों से समन्वित होना चाहिए। अग्निपुराण (१७५।१०-११) में दस गुणों का वर्णन है, यथा क्षमा, सत्य, दया, दान, शौच, इन्द्रियनिग्रह, देवपूजा, अग्निहवन, सन्तोष एवं अस्तेय। ये दस धर्म सभी व्रतों के लिए हैं। देवल के अनुसार ब्रह्मचर्य, शौच, सत्य एवं आमिषवर्जन नामक चार वरिष्ठ गुण हैं। ब्रह्मचर्य का नाश पर-स्त्री को देखने, स्पर्श करने एवं बात करने से हो जाता है, किन्तु मासिक धर्म की निवृत्ति के उपरान्त आज्ञापित दिनों में अपनी पत्नी से सम्भोग करना वर्जित नहीं है। नारदीयपुराण (पूर्वार्ध, ११०।४८) में आया है कि सभी व्रतों में ब्रह्मचर्य की व्यवस्था है, उनमें केवल यज्ञिय भोजन ही करना चाहिए। **हविष्यान्न** कई प्रकार से परिभाषित है। मनु (३।२५७) ने व्यवस्था दी है कि मुनियों के योग्य भोजन (यथा नीवार), दूध, सोमरस, अनुपस्कृत (जो दुर्गंधियुक्त न हो) मांस, अक्षारलवण (प्राकृतिक नमक) यज्ञिय भोजन कहे गये हैं। यद्यपि स्मृतियों में मांस (श्राद्ध कर्म में) का प्रयोग निषिद्ध नहीं है किन्तु देवलस्मृति आदि के मतानुसार व्रतों में इसका निषेध होना चाहिए। कृत्य र० (पृ० ४००) ने समयप्रदीप का लम्बा उद्धरण देकर व्रत-काल के भोजन पर प्रकाश डाला है, यथा सर्वप्रथम यव (जौ), उसकी अनुपस्थिति में व्रीहि (चावल), इसके अभाव में अन्य भोजन, किन्तु माष (उरद), कोद्रव, चना, मसूर, चीन एवं कपित्थ को छोड़कर। भोजन के विषय में बहुत-से पुराणों में मतभेद है, क्या खाया जाय, क्या छोड़ दिया जाय, स्पष्ट नहीं हो पाता। इसके विस्तार में हम नहीं जायँगे। पद्म० में आया है कि नक्तव्रत में छः बातें की जानी चाहिए, यथा हविष्य भोजन, स्नान, सत्य भाषण, अल्प भोजन, अग्नि-पूजन, पृथिवी-शयन। भजबल के अनुसार काँसा, मांस, मसूर, चना, कोद्रव, शाक, मधु तथा दूसरे के घर में पका अन्न वर्जित है। व्रत के दिन, हारीत के अनुसार व्रती को पतितों, पाषण्डियों, नास्तिकों से बात नहीं करनी चाहिए और न असत्य-भाषण तथा अश्लील बात कहनी चाहिए। शान्ति० (१५।३९) में आया है कि व्रती को स्त्रियों, शूद्रों एवं पतितों से बातचीत नहीं करनी चाहिए। और देखिए वृद्धयोगी-याज्ञवल्क्यस्मृति (७।१४७-१४८)।

पुराणों ने तीर्थयात्राओं के सदृश व्रतों की भी महिमा गायी है। ई० पू० में ही वैदिक मार्गियों द्वारा किये जाने वाले व्रतों का प्रचलन समाप्त हो चुका था तथा वैदिक यज्ञों से सम्बन्धित व्रत भी बहुत कम होते थे। गृह्य एवं धर्मसूत्रों तथा मनु एवं याज्ञ० जैसी प्राचीन स्मृतियों में भी पौराणिक काल के व्रतों को महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं

१५. दीनान्धबधिरादीनां तद्दिने वानिवारितम्। कल्पयेदन्नपानं च सुमृष्टं रुच्यमात्मनः।। हेमाद्रि (व्रत १।४४३), कृत्य र० (पृ० ४५५): प्रणम्य भोजयेद् भक्त्या व्रतिनश्च द्विजैः सह। कल्पयेद् भोजनं श्रेष्ठं सर्वेष्वेध तपस्विषु। दीनान्धकृपणानां च सर्वेषामनिवारितम्।। हे० (व्रत, २, पृ० ३८२), पात्रव्रत।

प्राप्त हो सका था। प्राचीन यज्ञ-सम्बन्धी विधि के विरोध में जैन एवं बौद्ध धर्म आ खड़े हुए थे। सामान्य जनता को जैन एवं बौद्ध प्रभावों में पड़ने से रोकने के लिए वैदिक धर्मावलम्बी विद्वानों ने सम्भवतः व्रतों की प्रभूत महत्ता गायी है और उनके कर्ताओं को स्वर्ग एवं आध्यात्मिक फलों का प्रलोभन दिया है। यज्ञों की अपेक्षा व्रत सरल थे। व्रतों में कुछ सामान्य लोक-व्यवहार भी सम्मिलित हो गये, यथा कुक्कुटी-मर्कटी-व्रत, शीतलाव्रत आदि। ब्रह्मपुराण (२९।६१) का कथन है, 'केवल एक दिन की सूर्य-पूजा से उत्पन्न फल विपुल दक्षिणा वाले सैकड़ों वैदिक यज्ञों अथवा ब्राह्मणों द्वारा भी प्राप्त नहीं किया जा सकता।' पद्मपुराण (३।४-२७) ने जयन्तीव्रत की प्रशंसा में लिखा है कि इसके व्रती के शरीर में सभी देवता एवं तीर्थ अवस्थित हो जाते हैं। गरुड़पुराण (हेमाद्रि, व्रत, २, पृ० ८६९) में आया है कि कांचनपुरी-व्रत गंगा, कुरुक्षेत्र, काशी एवं पुष्कर से भी अधिक पवित्र करने वाला है। भविष्य० (उत्तर, ७।१) का कथन है कि व्यक्ति व्रतों, उपवासों एवं नियमों की नौका द्वारा नरकों के समुद्र को बड़ी सरलता से पार कर जाता है। महाभारत एवं पद्मपुराण (५।३।४-६) में ऐसा आया है कि मनु द्वारा व्यवस्थित कृत्य तथा वैदिक कृत्य कलियुग में नहीं किये जा सकते, अतः युधिष्ठिर से बहुत सरल, अल्पव्ययसाध्य, अल्पकष्टकर किन्तु अत्यधिक फल देने वाले ऐसे मार्ग की घोषणा की गयी, जो पुराणों का सार था, यथा दोनों पक्षों की एकादशी को नहीं खाना चाहिए, जो ऐसा करता है, वह नरक नहीं जाता। भविष्यपुराण में वर्णित उभयद्वादशीव्रत के विषय में कहा गया है कि प्रभास, गया, पुष्कर, वाराणसी, प्रयाग या पूर्व एवं पश्चिम तथा उत्तर के सभी तीर्थ कार्तिक व्रत से श्रेष्ठ नहीं हैं। अनुशासनपर्व (१०६।६५-६७) में घोषित हुआ है कि उपवास से बढ़कर या उसके बराबर कोई तप नहीं है और दरिद्र व्यक्ति यज्ञों का फल उपवास से प्राप्त कर सकते हैं। वराह पुराण (३९।१७-१८) में एक प्रश्न है—'एक दरिद्र किस प्रकार परमात्मा की प्राप्ति कर सकता है ?' उत्तर मिला है कि वह व्रतों एवं उपवासों से ऐसा कर सकता है। लिंगपुराण (पूर्वार्ध, ८३।४) ने व्यवस्था दी है कि जो एक वर्ष तक नक्त व्रत (केवल एक बार संध्या को खाना) करता है और प्रत्येक पक्ष की चतुर्दशी, अष्टमी तिथियों में शिव-पूजा करता है वह सभी यज्ञों का फल पाता है और परम लक्ष्य की प्राप्ति करता है। भविष्य० में आया है कि जो ब्राह्मण पवित्र अग्नियाँ (श्रौत एवं स्मार्त) नहीं रखते, वे व्रतों, उपवासों, आचरण-सम्बन्धी नियन्त्रणों, भाँति-भाँति के दानों और विशेषतः विशिष्ट तिथियों पर उपवास से देवों को प्रसन्न रख सकते हैं।

मत्स्य०, ब्रह्म० एवं अन्य पुराणों का प्रमुख मन्तव्य है कम प्रयास से अधिक फल की प्राप्ति। ब्रह्मपुराण में आया है कि कलियुग में केवल 'केशव' का नाम लेने से व्यक्ति को वही फल मिलता है जो कृतयुग में गम्भीर मनोयोग, त्रेता में यज्ञों तथा द्वापर में (मूर्ति) पूजा से प्राप्त होता था। मत्स्य० में आया है—महर्षि ऐसे यज्ञों की प्रशंसा नहीं करते जिनमें पशुओं का हनन होता है; जिनका धन तप है वे यथाशक्ति (खेतों आदि से एकत्र) अन्नों, मूलों, फलों, शाकों एवं जलपात्रों के दान से स्वर्ग में अटल स्थिति प्राप्त करते हैं, तप कई कारणों से यज्ञों से श्रेष्ठ है। पद्मपुराण ने तो अत्युक्ति की सीमा तोड़ दी है—'केवल हरि ही उस व्यक्ति की श्रेष्ठता बता सकते हैं जो कार्तिक में भक्ति के साथ हरि (एकादशी) के दिन एक दीप का दान करता है, या विष्णु-व्रत सर्वोत्तम है और एक सौ पुनीत वैदिक यज्ञ इसके बराबर नहीं हैं।' ऐसी ही बात स्कन्दपुराण (हेमाद्रि द्वारा 'व्रत' में उद्धृत, खण्ड १, पृ० ३१८, ३२१) में भी है—देव लोग नियन्त्रण रखने वाले नियमों (अर्थात् व्रतों) से अपने स्थान प्राप्त कर सके, वे व्रतों के गुणों के कारण ही तारागण की भाँति देदीप्यमान हैं।

वैदिक यज्ञों एवं व्रतों में विशिष्ट अन्तर भी थे। अधिकांश यज्ञों का फल था स्वर्ग-प्राप्ति, किन्तु पुराणों के अनुसार अधिकांश व्रतों से इसी लोक में प्रकट फल प्राप्त होते हैं। और भी, व्रतों का सम्पादन सभी कर सकते हैं, यहाँ तक कि शूद्र, कुमारियाँ, विवाहित स्त्रियाँ, विधवाएँ तथा वेश्याएँ भी।

कुछ व्रत ब्रह्मचारियों के लिए नियत थे (वेद-व्रत) और कुछ स्नातकों के लिए। इस विषय में हमने खण्ड दो में पढ़ लिया है। ईसा की प्रथम शताब्दियों पूर्व एवं पश्चात् व्रतों की व्यवस्था प्रचलित थी, जैसा कि आप० ध० सू०, कालिदास के नाटकों, मृच्छकटिक एवं रत्नावली से सिद्ध होता है। देखिए आप० ध० सू० २।८। १८-२०।३-९। शाकुन्तल (अंक २) में कथन है कि दुष्यन्त की माता ने व्रत किया था। विक्रमोर्वशीय में रोहिणी-चान्द्रायण-व्रत की ओर संकेत है। रघुवंश (१३।६७) में आसिधार-व्रत का उल्लेख है। मृच्छकटिक (अंक १) में अभिरूपपति नामक व्रत का, जो भर्तृ-प्राप्ति व्रत के सदृश है, वर्णन है। रत्नावली में (अंक १ के अन्त में) मदन-महोत्सव उल्लिखित है। लगता है, ईसा की प्रथम तीन शताब्दियों में व्रतों की संख्या अधिक नहीं थी। कालान्तर में इनकी संख्या लगभग एक सहस्र हो गयी। तिथियों एवं ज्योतिष-सम्बन्धी विषयों के आरम्भिक निबन्धों में एक है राजा भोज (११वीं शताब्दी का पूर्वार्ध) द्वारा लिखित राजमार्तण्ड, जिसमें लगभग २४ व्रतों का उल्लेख है। लक्ष्मीधर (१२वीं शताब्दी का पूर्वार्ध) के कृत्यकल्पतरु में लगभग १७५ व्रतों का उल्लेख है। शूलपाणि (१३७५-१४३० ई०) के व्रतकालविवेक में केवल ११ व्रतों का वर्णन है। हेमाद्रि ने ७०० व्रतों के नाम बतलाये हैं। इससे प्रकट होता है कि तेरहवीं शताब्दी के अन्त में, जब भारत के अधिकांश भागों पर बाह्य आक्रामकों ने अधिकार कर लिया था, मन्दिर तोड़े-फोड़े जा रहे थे, सहस्रों जन विधर्म में सम्मिलित किये जा रहे थे, उन दिनों विद्वान् एवं अभिज्ञ लोग विशाल बौद्धिक कार्य (हेमाद्रि का महाग्रन्थ २२०० पृष्ठों में छपा है) में संलग्न थे, या व्रतों, यात्राओं एवं श्राद्धों पर अतुल सम्पत्ति व्यय कर रहे थे और इस बात से अनभिज्ञ थे कि उनके चतुर्दिक् राजनीतिक एवं धार्मिक भय खड़े हो रहे हैं।

महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज द्वारा सम्पादित व्रतकोश (सरस्वती भवन सीरीज) में १६२२ व्रत हैं। यह संख्या भ्रामक है, क्योंकि कहीं-कहीं एक ही नाम के विभिन्न पर्याय आ गये हैं और कई व्रत एक ही व्रत के अन्तर्गत आ गये हैं तथा उनमें कुछ शान्तियों, उत्सवों एवं स्नानों के नाम परिगणित हो गये हैं। यदि ठीक से नामकरण किया जाय तो व्रतकोश में लगभग १००० व्रतों की ही गणना हो सकेगी।

व्रत धारण करने पर उसे समाप्त अवश्य कर लेना चाहिए, क्योंकि प्रमादवश छोड़ देने पर बड़े कष्टदायक प्रतिफल भुगतने पड़ते हैं। छागलेय ने घोषित किया है--यदि व्यक्ति प्रथम अंगीकार कर लेने पर, आगे मोहवशात् व्रत का त्याग कर देता है तो वह जीता हुआ चाण्डाल बन जाता है और मरने पर कुत्ता। ऐसी स्थिति में, जब व्यक्ति लालचवश, असावधानी के कारण या प्रमादवश व्रत को तोड़ देता है तो उसे पुनः करने के लिए तीन दिनों का उपवास करना पड़ता है तथा मुण्डन कराना होता है। निर्णयसिन्धु के मत से उसे व्रत का शेषांश केवल पूरा करना होता है या शूलपाणि के अनुसार फिर से आरम्भ करना पड़ता है। वराहपुराण में आया है कि जो व्यक्ति एकादशी के दिन व्रतारम्भ करता है और मूर्खतावश छोड़ देता है तो वह बुरी दशा को प्राप्त होता है।

व्रत के मध्य में मृत्यु हो जाने से व्रत-फल नष्ट नहीं होता। अंगिरा ने व्यवस्था दी है कि यदि कोई व्यक्ति किसी लाभ के लिए धार्मिक कर्म करता है और पूर्ण होने के पूर्व मर जाता है, तो मृत्यु के पश्चात् भी उसे पूर्ण फल प्राप्त होता है। ऐसा ही मनु ने भी कहा है।

अशौच में कोई व्रत नहीं करना चाहिए। किन्तु विष्णुधर्मसूत्र (२२।४९) में ऐसी व्यवस्था है कि अशौच से राजा को राजकीय कर्तव्यों के पालन में कोई बाधा नहीं पड़ती और न व्रती को ही अपने व्रत के सम्पादन में। लघु-विष्णु में ऐसा आया है कि व्रत, यज्ञ, विवाह, श्राद्ध, होम, पूजा, जप में आरम्भ कर दिये जाने पर अशौच नहीं लगता, किन्तु आरम्भ होने के पूर्व अशौच का प्रभाव पड़ता है, अर्थात् तब ये कर्म आरम्भ नहीं किये जा सकते। यही बात याज्ञ० (३।२८-२९) में भी है। शास्त्रों में ऐसा आया है कि सभी जीवों, रोग, प्रमाद (कार्य को टालना

या विस्मरण करना), गुरुशासन के भय से व्रत नहीं टूटता, जब तक (इस प्रकार का) भय केवल एक बार उत्पन्न हो। मत्स्य०, अग्निपुराण एवं सत्यव्रत में ऐसी व्यवस्था है कि जब स्त्री लम्बी अवधि का व्रत आरम्भ कर दे तो मासिक धर्म हो जाने (रजस्वला हो जाने), गर्भवती हो जाने, जनन हो जाने से व्रत भंग नहीं होता, बल्कि व्रत इस प्रकार के अशौच में अन्य व्यक्ति द्वारा चलाया जा सकता है, किन्तु उपवास आदि शारीरिक कृत्य चलते रहने चाहिए। कुछ ऐसे विषय भी हैं जिनसे व्रत भंग नहीं होता, यथा जल पीना, जड़-मूल, फल, दूध, यज्ञिय पदार्थ का सेवन, किसी ब्राह्मण की इच्छा या आदेश, गुरु की आज्ञा एवं दवा-प्रयोग। हेमाद्रि के मत से दूध पीना आदि व्रत पर प्रभाव नहीं डालता यदि व्रती स्त्री हो, बच्चा हो या अधिक पीड़ा में हो। व्रती को निम्न बातें छोड़ देनी चाहिए---शरीर या सिर पर तेल लगाना, ताम्बूल-सेवन, चन्दन-लेप, या ऐसे कर्म जिनसे शारीरिक शक्ति या उत्तेजना बढ़े।

उपवास किन दशाओं में खण्डित होता है, इसका आगे विचार किया जायगा।

होम के विषय में कुछ शब्द अपेक्षित हैं। स्त्रियाँ मन्त्रों के साथ होम नहीं कर सकतीं (मनु ९।१८)। उनके लिए पुरोहित ही होम करता है। यदि किसी वस्तु का निर्देश न हो तो आहुति घृत की होती है (गोभिल का कर्म-प्रदीप, १।११३)। आहुतियों की संख्या १०८, २८ या ८ या उतनी होनी चाहिए जिसका निर्देश हो। समयप्रदीप में उस अग्नि के विषय में लम्बा विवेचन पाया जाता है, जिसमें होम किया जाता है। याज्ञ० (१।९७) के मत से आहिताग्नि (जिसने अपने घर में पवित्र अग्नि प्रतिष्ठापित कर रखी हो) को विवाहित होने पर अपनी प्रतिष्ठापित अग्नि का प्रयोग करना चाहिए। कुछ लोगों के मत से याज्ञ० का नियम केवल गृह्य कृत्यों के लिए ही है, और आहिताग्नि को अपने व्रतों में सामान्य अग्नि का प्रयोग करना चाहिए। जिसके पास स्मार्त अग्नि न हो उसे भी सामान्य अग्नि में ही व्रत-होम करना चाहिए या पुरोहित द्वारा होम कराना चाहिए।

अध्याय ३

व्रताधिकारी, व्रत द्वारा इच्छित वस्तुलाभ, व्रतों का श्रेणी-विभाजन, व्रत-सम्बन्धी साहित्य, व्रतों के लिए काल

व्रतों के अधिकारी कौन लोग हैं? सभी जातियों के लोग, यहाँ तक कि शूद्र भी व्रताधिकारी हैं। देवल ने व्यवस्था दी है—'इसमें सन्देह नहीं कि व्रतों, उपवासों, नियमों तथा शरीरोत्ताप (शरीर को कष्ट देने) से पापों से छुटकारा मिलता है।'[1] स्त्रियाँ भी व्रतों की अधिकारी हैं। पुराणों एवं निबन्धों ने केवल स्त्रियों के लिए कुछ व्रतों की व्यवस्था की है। मनु (५।१५५), विष्णुधर्मसूत्र एवं कतिपय पुराणों ने व्यवस्था दी है कि कोई स्त्री पृथक् रूप से यज्ञ, कोई पृथक् व्रत या उपवास नहीं कर सकती, वह पति-शुश्रूषा से ही स्वर्ग में सम्मान प्राप्त करती है।[2] विष्णुधर्मसूत्र (२५।१६) में आया है कि वह स्त्री, जो पति के जीवित रहते किसी उपवासयुक्त व्रत को करती है, अपने पति की आयु हरती है और स्वयं नरक में जाती है।[3] परलोक-कल्याण के लिए जो कुछ नारी बिना पिता, पति या पुत्र की सहमति के करती है, वह विफल होता है (आदित्यपुराण, हेमाद्रि, व्रत, १, पृ० ३२ में उद्धृत)। मध्यकाल के निबन्धों ने इन बातों की व्याख्या इस प्रकार की है कि कुमारी, विवाहित नारी एवं विधवा किसी व्रत के सम्पादन के पूर्व कम से कम अपने पिता, पति एवं पुत्र से सम्मति ले लें। इससे स्पष्ट है कि निर्दिष्ट व्यक्तियों से सहमति लेकर नारी स्वयं कोई स्वतन्त्र व्रत कर सकती है। निबन्धों को इस विषय में शंख-लिखित के सूत्र से सहायता मिल जाती है (देखिए स्मृतिचन्द्रिका, २, पृ० २९१)। पति की आज्ञा से नारी जप, दान, तप आदि कर सकती है (लिंगपुराण, पूर्वार्ध, ८४।१६)। क्या नारी अन्य व्यक्ति से होम कराये? इस विषय में विभिन्न मत हैं (देखिए मनु २।६६, ९।१८ एवं याज्ञ० १।१३)। पराशर का अनुगमन करते हुए व्यवहारमयूख ने प्रतिपादित किया है कि शूद्र किसी ब्राह्मण द्वारा होम करा सकता है, शूद्रों एवं नारियों के लिए इस विषय में एक ही नियम है अतः किसी व्रत में नारी ब्राह्मण के द्वारा होम करा सकती है। और देखिए रुद्रधर (शुद्धिविवेक के लेखक) एवं वाचस्पति। निर्णयसिन्धु (३, पूर्वार्ध, प० २४९) ने नारी द्वारा किये जाने वाले व्रत में होम के विषय में व्यवहारमयूख

१. व्रतोपवासनियमैः शरीरोत्तापनैस्तथा। वर्णाः सर्वेऽपि मुच्यन्ते पातकेभ्यो न संशयः॥ देवल (हेमाद्रि द्वारा व्रत, खण्ड १, पृ० ३२५ में उद्धृत)।

२. नास्ति स्त्रीणां पृथग्यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्। पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥ मनु (५।१५५), विष्णुधर्मसूत्र (२५।१५)। देखिए हेमाद्रि, व्रत, भाग १, पृ० ३२६ एवं व्र० का० वि०, पृ० ११।

३. पत्यौ जीवति या योषिदुपवासं व्रतं चरेत्। आयुः सा हरते भर्तुर्नरकं चैव गच्छति॥ विष्णु० ध० सू० २५।१६। यही अंगिरा (५।४०) में भी है।

की बात मानी है। मत्स्य० में आया है कि गर्भवती स्त्री अथवा हाल ही में जिसे सन्तानोत्पत्ति हुई हो ऐसी स्त्री उपवास न करके केवल नक्तव्रत (केवल एक बार सन्ध्या काल के उपरान्त भोजन) करे तथा आशौच से युक्त कुमारी या कोई नारी (रजस्वला या किसी अन्य दशा में) किसी अन्य व्यक्ति द्वारा व्रत करा ले, किन्तु पवित्र हो या अपवित्र, उसे उपवास तो करना ही चाहिए (तिथितत्त्व, पृ० १२१-१२२)।

व्याधि या दुर्घटना आदि में पड़ा हुआ व्यक्ति किसी प्रतिनिधि द्वारा व्रत करा सकता है। इस विषय में कुछ निश्चित नियम बने हैं। सत्याषाढश्रौतसूत्र (३।१) में आया है—'स्वामी (यजमान), पत्नी, पुत्र, उचित देश एवं काल, अग्नि, इष्टदेव, कृत्य एवं शास्त्र के अंश के विषय में प्रतिनिधि की व्यवस्था नहीं है।' सभी धार्मिक कृत्य तीन श्रेणियों में विभाजित हैं, यथा **नित्य** (अपरिहार्य), **नैमित्तिक** (जब कोई निमित्त या अवसर हो या घटना घटे) एवं **काम्य** (किसी अभिप्राय या वस्तु की प्राप्ति के लिए किया गया)। इस विषय में इस महाग्रन्थ के चौथे खण्ड में लिखा जा चुका है। त्रिकाण्डमण्डन (२।२-३ एवं ८) ने इन तीनों कृत्यों के विषय में निम्नोक्त नियम लिखे हैं, "काम्य कृत्यों में प्रतिनिधि नहीं होता, नित्य एवं नैमित्तिक में प्रतिनिधि की व्यवस्था होती है, कुछ लोग प्रारम्भ हो गये काम्य कृत्यों में प्रतिनिधि की बातें चलाते हैं। मन्त्र, देव, अग्नि (गार्हपत्य, आहवनीय या दक्षिणाग्नि), क्रिया (यथा प्रयाज), ईश्वर (स्वामी या यजमान) के लिए प्रतिनिधि नहीं होता; कुछ लोगों के मत से देश एवं काल के विषय में प्रतिनिधि नहीं होता। अग्निहोत्री (यदि उसकी पत्नी मृत हो गयी हो) सोने या कुश की प्रतिमा बना सकता है, किन्तु पत्नी अपने पति के स्थान पर किसी प्रतिनिधि या प्रतिमा को रखकर कोई कृत्य नहीं कर सकती।" यदि व्रती आरम्भ कर देने पर अयोग्य हो जाय तो प्रतिनिधि द्वारा व्रत पूर्ण करा सकता है। ऐसे प्रतिनिधि ये हैं—पुत्र, पत्नी, भाई, पति, बहिन, शिष्य, पुरोहित (दक्षिणा के लिए) तथा कोई मित्र। पैठीनसि का कथन है कि पत्नी द्वारा संकल्पित व्रत पति तथा पति द्वारा संकल्पित व्रत पत्नी कर सकती है, यदि दोनों अयोग्य हैं तो कोई अन्य व्यक्ति कर सकता है, इस प्रकार व्रत भंग नहीं होता (निर्णयसिन्धु, पृ० २९, कालनिर्णय, पृ० २६२)। कात्यायन (कालनिर्णय, पृ० २६२-२६३) में आया है—'जो अपने पिता या माता, भाई, पति के लिए, विशेषतः अपने गुरु के लिए उपवास करता है वह सौ गुनी श्रेष्ठता प्राप्त करता है, यदि कोई अपने पितामह के लिए एकादशी का उपवास करता है, वह पूरा फल पाता है। प्रतिनिधि-सम्बन्धी ये नियम सभी वर्णों के लिए हैं।

यह एक अद्भुत बात है कि म्लेच्छों को भी (यदि वे श्रद्धालु हों और व्रतों में विश्वास रखते हों) व्रत करने की व्यवस्था दी गयी है, जैसा कि हेमाद्रि में उद्धृत देवीपुराण के शब्दों से प्रकट होता है।[४] शान्तिपर्व (६५।१३-२५) में इन्द्र ने राजा मान्धाता से कहा है कि यवनों, किरातों, गान्धारों, चीनों, शबरों, बर्बरों, शकों, आन्ध्रों आदि को अपने माता-पिता की सेवा करनी चाहिए, वे वेद में व्यवस्थित कृत्यों को कर सकते हैं, वे मृत पितरों का श्राद्ध कर सकते हैं, जन-कल्याण के लिए कूप खुदवा सकते हैं और ब्राह्मणों को दान दे सकते हैं। भविष्य० (ब्राह्मपर्व, १६। ६१-६२) का कथन है कि हैहयों, तालजंघों, तुर्कों, यवनों एवं शकों ने ब्राह्मणों के गौरव की प्राप्ति की इच्छा से प्रतिपदा को उपवास किया।

एक अन्य विचारणीय बात यह है कि महाभारत के अनुसार ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों को लगातार तीन दिनों तक उपवास नहीं करना चाहिए, किन्तु वैश्य एवं शूद्र लगातार दो दिनों तक उपवास कर सकते हैं। यही बात देवल ने भी कही है।

४. **क्वचिन्म्लेच्छानामप्यधिकारो हेमाद्रौ देवीपुराणे। स्नातैः प्रमुदितैर्हृष्टैर्ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्नृपैः। वैश्यैः शूद्रैर्भक्तियुक्तैर्म्लेच्छैरन्यैश्च मानवैः। स्त्रीभिश्च कुरुशार्दूल तद्विधानमिदं शृणु॥ व्रतार्क।**

मध्य एवं वर्तमान काल के अधिकांश प्रचलित व्रत काम्य हैं, अर्थात् ऐसे व्रत जिनसे इस लोक में या कभी-कभी परलोक या दोनों में किसी विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति हो। अधिकांश में व्रत सांसारिक हैं, किन्तु उन पर धार्मिक रंग चढ़ा हुआ है, यद्यपि कुछ अनुशासन लगे हुए हैं, यथा उपवास, पूजा, ब्रह्मचर्य, सत्य-भाषण, किन्तु उनमें भौतिक दृष्टिकोण पाया जाता है; ये सामान्य जन की इच्छाओं से अभिप्रेरित हैं। काम्य बातें बहुत-सी हैं, उनके विषय में थोड़ा प्रकाश डाला जाता है। अग्निपुराण (१७५।४४ एवं ५७) में उनकी चर्चा इस प्रकार है--धर्म (पुण्य), सन्तति, धन, सौन्दर्य, सौभाग्य, सदाचरण, कीर्ति, विद्या, आयु, शुचिता, आनन्दोपभोग, स्वर्ग, मोक्ष आदि। कल्पतरु (व्रत, पृ० १-२) के अनुसार व्रत से ब्रह्मलोक, शिवलोक, वैकुण्ठ की प्राप्ति होती है, आनन्द एवं विजय का उपभोग होता है; कृत, त्रेता, द्वापर एवं कलियुगों में सुजय, राम, धनञ्जय एवं विक्रम नामक राजाओं को लोक-शासन व्रतों से ही प्राप्त हुआ, शंकर ने हरि से कहा है कि व्रत मनुष्य के लिए सर्वोत्तम कृत्य है; प्रत्येक युग में बहुत-से नियम व्यवस्थित हैं, किन्तु वे व्रतों के सोलहवें भाग को भी नहीं पा सकते; विक्रम की गुणवती पुत्री वसुन्धरा, दशार्ण देश में रहती हुई, व्रतों के द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकी; देवों, ऋषियों, सिद्धों आदि ने उपवास द्वारा ही परमोच्च पूर्णता प्राप्त की है।

व्रतों का श्रेणी-विभाजन

इस अध्याय में ऐसे ही व्रतों का उल्लेख है जो अधिकतर स्वारोपित या ऐच्छिक हैं, अतः उन्हें तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। पद्मपुराण (४।८४।४२-४४) में आया है--'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अकल्कता (कुटिलता या छाद्मिकता से दूर रहना), इन्हें **मानस** व्रत कहा जाता है, जिससे हरि प्रसन्न रहते हैं; दिन में केवल एक बार भोजन करना, नक्त (केवल एक बार सूर्यास्त के उपरान्त भोजन करना), उपवास (दिन भर का), अयाचित (ऐसा भोजन जो बिना माँगे मिल जाय), इन्हें मानवों के लिए **कायिक** व्रत कहा जाता है; वेदाध्ययन, विष्णु के नामों को बार-बार स्मरण करना (विष्णु-कीर्तन), सत्यभाषण, अपैशुन्य (पीठ पीछे निन्दा न करना), इन्हें **वाचिक** व्रत कहा जाता है।[५]

दूसरा विभाजन काल पर आधारित है, यथा एक दिन का, पाक्षिक, मासिक, एक ऋतु का, उत्तरायण या दक्षिणायन, वार्षिक या कई वर्षों वाला व्रत। व्रत एक वर्ष का या एक वर्ष से अधिक का या जीवन भर का हो सकता है। किसी मास में किये जाने वाले व्रतों के बारे में कहते समय मलमास (अधिक मास) के प्रश्न पर भी विचार करना चाहिए। इसके विषय में हम काल आदि के विभाग में विवेचन करेंगे। धर्मशास्त्रों में तिथियों के विषय में लम्बा विवेचन पाया जाता है और इसके विषय में हम यहीं विवेचन करेंगे। काल एवं मुहूर्तों की व्याख्या आगे के विभाग में की जायगी। व्रतों में अधिकतर तिथि-व्रत हैं। हेमाद्रि में वारव्रतों, नक्षत्रव्रतों, योगव्रतों, संक्रान्तिव्रतों, मासव्रतों, ऋतुव्रतों, संवत्सरव्रतों एवं प्रकीर्णक व्रतों का अनुक्रमिक उल्लेख पाया जाता है। और देखिए कृत्य-कल्पतरु। अधिकतर व्रत-सम्बन्धी ग्रन्थ आरम्भ में कुछ सामान्य बात कहने के उपरान्त तिथिव्रतों से ही व्रत-विवेचन का आरम्भ करते हैं। समयप्रदीप वाले व्रत-विवेचन का क्रम भिन्न है। वह गणेश-व्रतों के विवेचन के

५. अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमकल्कता। एतानि मानसान्याहुर्व्रतानि हरितुष्टये।। एकभुक्तं तथा नक्तमुपवासमयाचितम्। इत्येवं कायिकं पुंसां व्रतमुक्तं नरेश्वर।। वेदस्याध्ययनं विष्णोः कीर्तनं सत्यभाषणम्। अपैशुन्यमिदं राजन् वाचिकं व्रतमुच्यते।। पद्म० (४।८४।४२-४४)। वराह० (३७।४-६)।

उपरान्त सूर्यव्रतों, शिवव्रतों, विष्णुव्रतों आदि की व्याख्या उपस्थित करता है। कुछ व्रत न केवल किन्हीं निश्चित तिथियों में ही किये जाते हैं, प्रत्युत उनके लिए किसी निश्चित मास, सप्ताह या नक्षत्र या इनमें से सभी का होना आवश्यक माना जाता है। एक अन्य व्रत-विभाजन कर्ताओं की व्रत-योग्यता पर निर्भर है। व्रतों का अधिकांश सभी पुरुषों एवं नारियों के लिए होता है। कुछ तो, यथा हरितालिका एवं वटसावित्री केवल नारियों के लिए हैं, कुछ केवल पुरुषों के लिए होते हैं और कुछ तो ऐसे हैं जो केवल राजाओं या क्षत्रियों या वैश्यों के लिए हैं।

व्रतों का साहित्य विशाल है। सम्भवतः तीर्थयात्रा एवं श्राद्ध के विषयों के अतिरिक्त पुराणों ने किसी अन्य विषय पर उतना नहीं लिखा है जितना व्रतों पर। कुछ पुराणों में तो व्रतों पर सहस्रों श्लोक रचे गये हैं, यथा भविष्य के ब्राह्मपर्व में ७५०० श्लोक, उत्तरखण्ड में ५००० श्लोकों से अधिक हैं, मत्स्य० में १२३० श्लोक, वराह० में ७०० एवं विष्णुधर्मोत्तर में १६००। गणना की जाने पर पता चला है कि पुराणों में व्रतों पर लगभग २४००० श्लोक हैं। व्रतों एवं उत्सवों के बीच विभाजन-रेखा खींचना दुस्तर है। बहुत-से उत्सवों में धार्मिक तत्त्वों का समावेश है और उसी प्रकार बहुत-से व्रतों में उत्सवों की गन्ध मिल जाती है। इस ग्रन्थ में कुछ ऐसे व्रतों का उल्लेख मिलेगा जिन्हें लोग सर्वथा उत्सव कह सकेंगे।

व्रतों की विषय-सामग्री काल एवं तिथि के विवेचन से परिपूर्ण है। व्रतों पर बहुत-से निबन्ध एवं टीकाएँ पायी जाती हैं। इस विभाग में हम केवल व्रतों या उनके साथ तिथियों से सम्बन्धित ग्रन्थों की तालिका देंगे, काल एवं सामान्य मुहूर्तों वाले ग्रन्थों की चर्चा नहीं होगी। किन्तु ऐसा करने पर भी उलट-फेर का हो जाना तथा एक-दूसरे का समावेश हो जाना सम्भव है। जीमूतवाहन के कालविवेक के एक श्लोक में सात पूर्ववर्ती लेखकों के नाम आये हैं जिन्होंने धार्मिक कृत्यों के सम्बन्ध में काल का विवेचन किया है, यथा—जितेन्द्रिय, शंखधर, अन्धूक, सम्भ्रम, हरिवंश एवं योग्लोक। ये लेखक ११वीं शताब्दी के अर्ध भाग के पूर्व हुए होंगे। किन्तु इन लेखकों में सभी के ग्रन्थ अभी उपलब्ध नहीं हो सके हैं। धारा के राजा भोज के दो ग्रन्थों में व्रतों के साथ काल का भी वर्णन है। इनमें से एक ग्रन्थ का नाम है राजमार्तण्ड, जो अभी अप्रकाशित है, किन्तु इसके बहुत-से श्लोक यत्र-तत्र उद्धृत हैं। राजमार्तण्ड व्रत-सम्बन्धी चर्चा का सबसे प्राचीन निबन्ध है। दूसरे ग्रन्थ का नाम है भूपालसमुच्चय या भूपालकृत्यसमुच्चय या व्रतों, दानों आदि पर कृत्यसमुच्चय। यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है, किन्तु इसके उद्धरण निबन्धों में पाये जाते हैं।

वैदिक साहित्य, सूत्रों, रामायण, महाभारत, पुराणों एवं राजमार्तण्ड के अतिरिक्त निम्न ग्रन्थों में वर्णित व्रतों का उल्लेख इस महाग्रन्थ में हुआ है—लक्ष्मीधर का कृत्यकल्पतरु; जीमूतवाहन का कालविवेक; हेमाद्रि की चतुर्वर्गचिन्तामणि (व्रत-सम्बन्धी); श्रीदत्त का समयप्रदीप (पाण्डुलिपि); चण्डेश्वर का कृत्यरत्नाकर; आदित्य-सूरि का कालादर्श (पाण्डुलिपि); माधव का कालनिर्णय या कालमाधव एवं कालनिर्णयकारिका; शूलपाणि के तिथिविवेक, व्रतकालविवेक एवं दुर्गोत्सवविवेक; अल्लाडनाथ का निर्णयामृत; गोविन्दानन्द की वर्षक्रियाकौमुदी; गदाधर का कालसार; रघुनन्दन के तिथितत्त्व, एकादशीतत्त्व, जन्माष्टमीतत्त्व, दुर्गार्चनपद्धति, कृत्यतत्त्व एवं व्रत-तत्त्व; मित्रमिश्र का व्रतप्रकाश (वीरमित्रोदय का एक भाग) एवं समयप्रकाश (वीरमित्रोदय का एक भाग); नीलकण्ठ का समयमयूख या कालमयूख; शंकरभट्ट का व्रतार्क (पाण्डुलिपि); दिवाकर का तिथ्यर्क; हारीत वेंकटनाथ का दर्शनिर्णय; शंकरभट्ट घारे की व्रतोद्यापनकौमुदी; विश्वनाथ का व्रतराज; विष्णुभट्ट की पुरुषार्थचिन्तामणि; अहल्याकामधेनु (पाण्डुलिपि); काशीनाथ का धर्मसिन्धु। इनमें व्रतों के लिए अत्यधिक महत्त्व के ग्रन्थ ये हैं—कृत्यकल्पतरु (जिससे हेमाद्रि एवं कृत्यरत्नाकर ने उद्धरण लिये हैं), हेमाद्रि (व्रत), माधव का काल-निर्णय, कृत्यरत्नाकर, वर्षक्रियाकौमुदी, रघुनन्दन के ग्रन्थ एवं निर्णयसिन्धु। व्रतार्क एवं व्रतराज जैसे ग्रन्थ विशाल ग्रन्थ

हैं, किन्तु उनमें हेमाद्रि के तथा अन्य ग्रन्थों के बहुत-से अंश ज्यों-के-त्यों रखे हुए हैं। इन कतिपय ग्रन्थों में व्रतों का विवेचन असन्तुलित है, यथा वर्षक्रियाकौमुदी ने प्रतिपदा, द्वितीया एवं तृतीया के व्रतों का वर्णन केवल दो पृष्ठों (२९-३०) में किया है, किन्तु एकादशी पर २२ पृष्ठों का विवेचन है (पृ० ४२-६४)।

यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि इस विभाग का सम्बन्ध धर्मशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थों में उल्लिखित एवं विवेचित व्रतों से है। स्त्रियों या जन जातियों या अशिक्षित व्यक्तियों द्वारा सम्पादित सभी व्रतों अथवा बंगाली, हिन्दी तथा मराठी भाषाओं में लिखित ग्रन्थों में उल्लिखित व्रतों के विवरण का प्रयास यहाँ नहीं किया गया है। ऐसा करने से इस ग्रन्थ का आकार बहुत बढ़ जाता।[६]

व्रतों के आरम्भ करने के काल

निर्दिष्ट तिथियों पर होने वाले व्रतों के अतिरिक्त इसके विषय में विस्तारपूर्ण व्यवस्थाएँ की गयी हैं कि सामान्य एवं विशिष्ट रूप से व्रत एवं अन्य धार्मिक कृत्य किन्हीं निर्दिष्ट कालों में ही आरम्भ किये जायँ। उदाहरणार्थ, गार्ग्य का कथन है--'जब बृहस्पति एवं शुक्र ग्रह अस्त हो गये हों (आकाश में सूर्य के निकट होने से जब न दिखाई पड़ें) या जब वे बाल या वृद्ध कहे जाने की दशा में हों तथा मलमास में, तब न व्रत का और न उसके उद्यापन (समाप्त करने के कृत्य) का आरम्भ होना चाहिए' (हेमाद्रि, व्रत, पृ० २४५, नि० सि०, पृ० २३, मदनरत्ने गार्ग्यः)। बृहस्पति (गुरु) एवं शुक्र की बालावस्था उनके उदय हो जाने के उपरान्त की एक निश्चित अवधि है तथा वृद्धत्व या वार्धक उनके अस्त होने के पूर्व का एक निश्चित काल है। इन अवधि-कालों के विषय में एकमति नहीं है और ये काल विभिन्न देशों में विभिन्न हैं, ये परिस्थिति की कठिनाई के अनुसार भी माने जाते हैं, किन्तु वराहमिहिर के मत से जो अधिक मान्य काल हो उसे मान लेना चाहिए। राजमार्तण्ड में इस विषय में कई श्लोक हैं, जिनमें एक है--जब शुक्र पश्चिम में उदित होता है तो वह दस दिनों तक बाल है, किन्तु जब पूर्व में उदित होता है तो तीन दिनों तक बाल होता है; पूर्व में अस्त होने पर एक पक्ष तक यह वृद्ध है, किन्तु पश्चिम में अस्त होता है तो यह पाँच दिनों तक वृद्ध है (और देखिए गार्ग्य, हेमाद्रि, व्रत, १, पृ० २४६)। देवीपुराण में ऐसी व्यवस्था है कि जब गुरु या शुक्र सिंह राशि में हों तो कोई धार्मिक कर्म नहीं आरम्भ करना चाहिए। लल्ल (समयमयूख में उद्धृत) का कथन है कि गुर्वादित्य में (जब सूर्य बृहस्पति के गृह में हों अर्थात् धनु और मीन राशि में हों

६. यदि काणे के समान अन्य विद्वान् लेखक भारत के सामान्य जनों द्वारा सम्पादित व्रतों एवं उत्सवों, लोक-जीवन, वन-जीवन, पर्वत-जीवन अथवा विभिन्न प्रान्तों के विभिन्न जीवन-पहलुओं का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक अध्ययन करें और इन सभी अध्ययनों का लेखा-जोखा उपस्थित किया जाय तो वह भारतीय समाजविज्ञान एवं नृ-शास्त्र पर अभूतपूर्व आलेखन सिद्ध होगा। कतिपय अध्ययन हो चुके हैं, यथा प्रो० बी० के० सरकार का 'फोक एलिमेण्ट इन हिन्दू कल्चर', श्रीमती स्टीवेंसन का 'राइट्स आव दि ट्वाइस-बर्न', अण्डरहिल का 'हिन्दू रिलिजस ईयर', बी० ए० गुप्ते का 'हिन्दू हालीडेज एण्ड सेरीमनीज', आर० सी० मुकर्जी का 'ऐंश्येण्ट इण्डियन फास्ट एण्ड फीस्ट्स', श्री ऋग्वेदी का मराठी ग्रन्थ 'हिस्ट्री आव आर्यन फेस्टीवल्स' आदि। किन्तु इन ग्रन्थों में (अण्डरहिल के ग्रन्थ में कुछ धर्मशास्त्रीय उल्लेख हैं) धर्मशास्त्र-सम्बन्धी उल्लेखों का सर्वथा अभाव है। आशा है इस संक्षिप्त अनुवाद से प्रेरित होकर विद्वान् जन इस महत्त्वपूर्ण कार्य में लगेंगे। --रूपान्तरकार।

या जब बृहस्पति सूर्य के गृह में हों अर्थात् सिंह राशि में) किये गये कर्म निन्द्य हैं। व्रतराज के अनुसार नर्मदा के उत्तर में धार्मिक कृत्य सिंह राशि के बृहस्पति में नहीं करने चाहिए। किन्तु अन्य स्थानों में केवल सिंहांश में (अर्थात् पूर्वाफाल्गुनी के प्रथम चरण में) कर्तव्य हैं। रत्नमाला (३।१५) के मत से सोमवार, बुधवार, बृहस्पतिवार एवं शुक्रवार धार्मिक कर्मों में शुभ हैं, किन्तु मंगलवार, शनिवार एवं रविवार को वही कर्म सफल होते हैं जिनके लिए स्पष्ट रूप से व्यवस्था दी गयी हो। भुजबल (पृ० २०९) के मत से मंगलवार सभी प्रकार के शुभ कर्मों के लिए अनुपयोगी है, किन्तु कृषि, अध्ययन (सामवेद के) एवं युद्धों के लिए ठीक है।

काल तथा इसके विभाजन, यथा अयनों (उत्तर एवं दक्षिण), ऋतुओं, मास, पक्ष, सप्ताह, दिनों आदि के विषय में दार्शनिक विवेचन अन्य विभाग में किया जायगा। यहाँ तिथियों के विषय में विवेचना होगी।

'तिथि' शब्द ऋग्वेद एवं अन्य वैदिक संहिताओं में नहीं आता। किन्तु ऋग्वेद में भी इसके विषय में भावना एवं अनुभूति अवश्य रही होगी। पश्चात्कालीन वैदिक ग्रन्थों में 'अमावास्या' के दो प्रकार कहे गये हैं, **सिनीवाली** (वह दिन जब अमावास्या चतुर्दशी से मिल जाती है) एवं **कुहू** (जब अमावास्या दूसरे पक्ष की प्रतिपदा तिथि से मिल जाती है)। इसी प्रकार पूर्णमासी दो प्रकार की है, **अनुमति** (चतुर्दशी से मिली हुई) एवं **राका** (दूसरे पक्ष की प्रतिपदा से जुड़ी हुई)। ऋग्वेद में सिनीवाली को दैव रूप प्राप्त है, वह दो देवों की बहिन कही गयी है, उसे हविर्भाग प्राप्त होता है, उससे सन्तान की प्रार्थना की गयी है। बृहदारण्यकोपनिषद् (६।४।२१) में गर्भाधान के लिए सिनीवाली एवं अश्विनों की आराधना की गयी है। ऋग्वेद (२।३२।४-५, अथर्व० ७।४८।१-२) में राका का भी ऐसा ही उल्लेख है। अनुमति के लिए देखिए ऋग्वेद (१०।५९।६ एवं १०।१६७।३)। वाज० सं० में प्रार्थना है—'आज अनुमति हमारे यज्ञ का अनुमोदन करे।' निरुक्त (११।२९) में अनुमति एवं राका के विषय में विवेचन हुआ है, निरुक्तिकारों (व्युत्पत्ति करने वालों) के अनुसार अनुमति एवं राका देवों की पत्नियाँ हैं, किन्तु याज्ञिकों के मत से वे पूर्णमासी के दो प्रकार हैं, (श्रुति में) ऐसा ज्ञात है कि प्रथम पूर्णमासी अनुमति है और दूसरी राका। इसी प्रकार निरुक्त में सिनीवाली एवं कुहू के विषय में विवेचन है (११।३१)। अथर्व० (६।११।३) में प्रजापति, अनुमति एवं सिनीवाली एक साथ उल्लिखित हैं। कुहू का उल्लेख अथर्ववेद में हुआ है, जहाँ उसे देवता कहा गया है और यज्ञ में उसका आह्वान हुआ है, जिससे वह याजक को सम्पत्ति एवं योद्धा पुत्र दे। तै० सं० (१।८।८१) एवं श० ब्रा० (९।५।१।३८) में अनुमति, राका, सिनीवाली एवं कुहू का उल्लेख है और वे चरु (भात के हविष्य) की अधिकारी मानी गयी हैं। अति प्राचीन अतीत में इन शब्दों का निर्माण कैसे हुआ, यह कठिन समस्या है। 'अनुमति' की व्युत्पत्ति 'मन्' से की जा सकती है, किन्तु पूर्णमासी एवं चतुर्दशी के संयोग को यह संज्ञा क्यों दी गयी, इस पर प्रकाश नहीं पड़ता। सम्भवतः 'कुहू' कुह (कहाँ) से बना है (ऋ० १।२४।१०, १०।४०।२), जो उस दिन को कहा जाता है जब चन्द्रकला तिरोहित रहती है और जब आदिम लोग आश्चर्य में पड़ कर पूछते थे "चन्द्र कहाँ जाता है?" किन्तु 'राका' एवं 'सिनीवाली' की व्युत्पत्ति दुस्तर है। अमावास्या को अथर्ववेद (७।७९, ८४।१-४) ने देवता के रूप में सम्बोधित किया है, जिनमें प्रथम मन्त्र में यज्ञ में उपस्थित होने तथा सम्पति एवं वीर पुत्र के लिए प्रार्थना की गयी है और दूसरे मन्त्र से संकेत मिलता है कि यह शब्द 'अमा' (एक साथ या घर) एवं 'वस्' (वास करना) से बना है। शत० ब्रा० में आया है—'राजा सोम, अर्थात् चन्द्र देवों का भोजन है, जब वह (चन्द्र) आज की रात्रि पूर्व या पश्चिम में नहीं दिखाई देता तब वह इस पृथिवी पर आता है और यहाँ जलों एवं ओषधियों में प्रवेश कर जाता है, वह देवों की सम्पत्ति एवं भोजन है, जब वह (जलों एवं ओषधियों के) साथ रहता है तो वह (रात्रि) 'अमावास्या' कहलाती है' (१।६।४।५)। और देखिए शत० ब्रा० (६।२।२।१६)।

ऐतरेय ब्राह्मण (४०।५) में आया है कि अमावास्या में चन्द्र सूर्य में मिल जाता है। यही बात आप० ध० सू० में भी है। अतः 'अमावास्या' नाम इसलिए पड़ा कि उस दिन (ऐसी कल्पना की गयी) चन्द्र रात्रि में जलों एवं ओषधियों के साथ पृथिवी पर रहता है या उस रात्रि में वह सूर्य के साथ रहता है। कभी-कभी नाम विरोधी अर्थ में भी होते हैं, मूर्ख को समझदार एवं वीर को कायर बना दिया जाता है। इसी प्रकार अमावास्या को 'दर्श' भी कहा गया है, क्योंकि उस दिन चन्द्र नहीं दिखाई पड़ता (किन्तु दूसरे दिन दिखाई पड़ जायगा)। वैदिक साहित्य में एक अन्य प्रसिद्ध तिथि है 'अष्टका' (पूर्णमासी के उपरान्त आठवाँ दिन, विशेषतः माघ मास में), जिस दिन पितरों को पिण्ड दिया जाता है। अत्यन्त प्राचीन काल में भी चन्द्र के चार स्वरूप निर्धारित थे, यथा—पूर्ण चन्द्र, अर्ध चन्द्र, चन्द्र का पूर्ण अभाव तथा उसके आठ दिनों के उपरान्त। तै० ब्रा० (१।५।१०।५) में आया है कि १५वें दिन चन्द्र समाप्त-सा हो जाता है और पुनः १५वें दिन पूर्ण हो जाता है। इससे प्रकट है कि तैत्तिरीय ब्राह्मण के पूर्व यह भली भाँति विदित था कि चान्द्र मास में ३० चन्द्र दिन (तिथियाँ) होते हैं। शत० ब्रा० (१।६।३।३५) में आया है कि 'प्रजापति की संधियाँ (जोड़), जब वे प्राणियों की सर्जना में प्रवृत्त थीं, ढीली पड़ गयीं; संवत्सर वास्तव में प्रजापति है और इसके (संवत्सर के) जोड़ दिन एवं रात्रि के दो सन्धि-स्थल, पूर्णमासी, अमावास्या एवं ऋतुओं के आरम्भ (प्रथम दिन) हैं। अथर्ववेद, तैत्तिरीय संहिता एवं अन्य वैदिक ग्रन्थों में पूर्णमासी एवं अमावास्या शब्द अधिकतर आते हैं, किन्तु ऋग्वेद में ये अनुपस्थित हैं। "आरम्भिक पूर्णमासी **अनुमति** है और बाद वाली **राका**, इसी प्रकार आरम्भिक अमावस्या **सिनीवाली** है और बाद वाली **कुहू**।" ऐसी उक्ति ऐतरेय ब्रा० (३२।९) में आयी है, जहाँ यह व्यक्त किया गया है कि 'यह वही तिथि है (जब धार्मिक कृत्य किये जाने चाहिए) और अकेली है जिससे सम्बन्धित होकर सूर्य अस्त होता है और उदित होता है।' इससे स्पष्ट होता है कि ऐ० ब्रा० के पूर्व तिथियों के विषय में मतभेद उत्पन्न हो गया था।

'तिथि' शब्द संहिताओं में भी नहीं पाया जाता, किन्तु ऐत० ब्रा०, गृह्य एवं धर्म सूत्रों में पाया जाता है।

गोभिलगृह्यसूत्र (१।१।१३ एवं २।८।१२ एवं २०) ने पवित्र अग्नि स्थापित करने के विषय में व्यवस्था देते हुए शुभ तिथि एवं नक्षत्र के समवाय का उल्लेख किया है और एक स्थान पर तिथि एवं नक्षत्र तथा केवल तिथि के स्वामी का उल्लेख किया है। कौशीतकीगृह्य० (१।२५) ने उस तिथि को हवि देने की बात कही है जिस दिन शिशु उत्पन्न होता है और जलाशयों, कूपों, पोखरों के निर्माण के लिए शुक्ल पक्ष की किसी शुभ तिथि की व्यवस्था दी है (५।२)।

निरुक्त (४।५) ने ऋ० ५।४।५ में अग्नि के लिए प्रयुक्त 'अतिथि' के दो अर्थ किये हैं, जिनमें एक है 'जो दूसरों के घरों में विशिष्ट तिथियों को पहुँचता है।'[7] पाणिनि में तिथि के लिए कोई सूत्र नहीं है। पतञ्जलि ने

७. अतिथिः अभ्यतितः गृहान् भवति। अभ्येति तिथिषु परकुलानि इति वा। निरुक्त (४।५)। यहाँ अतिथि में 'अ' 'अत्' (या 'इ' ?) नामक मूल से परिकल्पित किया गया है। मिलाइए मनु (३।११२)। 'तिथि' शब्द 'तन्' से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है फैलाना, जैसा कि मध्य काल के लेखकों का मत है। 'तन्यन्ते कलया यस्मात्तस्मात्तास्तिथयः स्मृताः।' सिद्धान्तशिरोमणि (माधव, पृ० ९८ एवं पुरुषार्थचिन्तामणि, पृ० ३२ में उद्धृत)। कालमाधव में आया है—तनोति विस्तारयति वर्धमानां क्षीयमाणां वा चन्द्रकलामेकां यः कालविशेषः सा तिथिः, यद्वा यथोक्तकलया तन्यते इति तिथिः। पृ० ९८।

पूर्णमासी तिथि का उल्लेख किया है। इससे प्रकट होता है कि वैदिक कालों में (कम-से-कम ऐतरेय ब्राह्मण के पूर्व) विशिष्ट धार्मिक कृत्यों की उचित तिथियों के विषय में विभिन्न मत-मतान्तर थे। यह समय लगभग ३००० वर्ष पुराना है। 'तिथि' शब्द ई० पू० ८०० ई० के लगभग साधारण प्रयोग में आ गया था।

सूर्य से १२ अंश की दूरी तक जाने के लिए चन्द्र को जो समय लगता है उस अवधि को तिथि कहा गया है। सूर्यसिद्धान्त में आया है--'तिथि चान्द्र दिन है, जब चन्द्र सूर्य को छोड़कर (अमावास्या के अन्तिम क्षण पर) प्रति दिन पूर्व दिशा में १२ अंश (भाग) पार करता है।' चन्द्र की गति अनियमित है, इसलिए चन्द्र १२ भाग कभी-कभी ६० घटिकाओं में, कभी अधिक (६५ घटिकाओं तक) में और कभी-कभी कम घटिकाओं (५४ घटिकाओं तक) में पार करता है। इसका परिणाम यह होता है कि कभी तो एक दिन में एक तिथि होती है और कभी दो तिथियाँ; अधिकतर एक दिन में दो तिथियाँ होती हैं, अर्थात् प्रातःकाल छठ है तो अपराह्न, सन्ध्याकाल एवं रात्रि में सप्तमी। यह भी सम्भव है कि एक दिन में तीन तिथियाँ हों, अर्थात् सोमवार को छठ की केवल दो घटिका शेष हों, तदुपरान्त सप्तमी केवल ५६ घटिकाओं की अवधि की हो और आगे अष्टमी उसी दिन दो घटिकाएँ अपने में समेट ले। इसका उलटा भी है; केवल एक तिथि तीन दिनों तक चलती रह सकती है। उदाहरणार्थ, सोमवार की अन्तिम दो घटिकाएँ छठ की प्रथम दो घटिकाएँ हों, तदुपरान्त मंगल की ६० घटिकाएँ छठ में ही समाहित हों और अन्तिम दो घटिकाएँ बुध के प्रातःकाल तक चलती रहें। जिस दिन तीन तिथियाँ पड़ जाती हैं वह राजमार्तण्ड के अनुसार अति पवित्र (शुभ) दिन माना जाता है, किन्तु जब एक तिथि तीन दिनों तक चलती रहती है तो वह वैवाहिक कार्यों के लिए अशुभ मानी जाती है। यह तिथि आक्रमण करने, शुभ धार्मिक कृत्य करने या पुष्टिकर्म के लिए भी अशुभ ठहरायी गयी है। यदि कोई तिथि सूर्योदय के पूर्व से आरम्भ होती है अथवा इसका आरम्भ सूर्योदय से मिल जाता है और आगे आने वाले सूर्योदय तक वह चलती रहती है तो ऐसी तिथि (यथा प्रतिपदा, द्वितीया आदि या जो भी हो) दोनों दिनों की होती है और एक ही नाम की दो तिथियाँ एक के उपरान्त एक प्रकट होती हैं। इसे उस तिथि की वृद्धि कहते हैं। यदि कोई तिथि सूर्योदय के कुछ देर उपरान्त आरम्भ होती है और दूसरे दिन सूर्योदय के पूर्व समाप्त हो जाती है तो इसका किसी पूरे दिन के साथ संयोग नहीं हो सकता, तब उसे पंचांग में नहीं रखा जाता और तिथि-क्षय माना जाता है। दिन से तिथि छोटी होती है अतः वृद्धि की अपेक्षा क्षय का योग अधिक लग जाया करता है।

गोभिलगृह्यसूत्र से प्रकट है कि उसके बहुत पहले से बहुत सी तिथियों के साथ उनके देव या पति समन्वित हो चुके थे। वराहमिहिर की बृहत्संहिता (९८।१-२) में तिथिपतियों के नाम ये हैं--पहला ब्रह्मा, दूसरा ब्रह्मा, तीसरा हरि, चौथा यम, पाँचवाँ चन्द्र, छठा कार्तिकेय, सातवाँ इन्द्र, ८वें वसु लोग, ९वें नाग लोग, १०वाँ धर्म, ११वाँ शिव, १२वाँ सविता, १३वाँ मदन, १४वाँ कलि, १५वें विश्वेदेव लोग तथा अमावास्या के पितर लोग। इन तिथियों में इनके पतियों के अनुरूप कर्म किये जाने चाहिए। किन्तु अन्य लेखकों ने वराहमिहिर से भिन्न तिथि-पतियों की सूची दी है। देखिए रत्नमाला (२), स्कन्दपुराण (१।१।३३।७८-८३), गरुड० (१।१३७।१६-१९) एवं नारदपुराण (१।५६।१३३-१३५)।

वराहमिहिर ने तिथियों को पाँच दलों में बाँटा है--नन्दा, भद्रा, विजया या जया, रिक्ता एवं पूर्णा। उन्होंने यह कहा है कि इन तिथियों पर इनके पतियों के योग्य कर्म किये जाने चाहिए और सफलकाम होना चाहिए। इन तिथियों में किये गये कर्म उनके नाम के अनुरूप फल देते हैं। नन्दा तिथियाँ प्रतिपदा, षष्ठी, एकादशी हैं, भद्रा द्वितीया, सप्तमी, द्वादशी हैं, विजया तृतीया, अष्टमी, त्रयोदशी हैं, रिक्ता चतुर्थी, नवमी एवं चतुर्दशी हैं, पूर्णा पंचमी, दशमी एवं पूर्णिमा हैं। आथर्वण ज्योतिष में भी यही बात पायी जाती है। उसमें आया है कि नन्दा, भद्रा,

जया, रिक्ता एवं पूर्णा के दिन हैं क्रम से शुक्रवार, बुधवार, मंगलवार, शनिवार एवं बृहस्पतिवार और इन दिनों में सफलता एवं मनोरथ की प्राप्ति होती है।

पहली से पन्द्रहवीं तिथि तक पन्द्रह निषिद्ध वस्तुओं के सेवन से जो हानि होती है उसके विषय में तिथितत्त्व (पृ० २७-२८) में उल्लेख है। निर्णयसिन्धु (पृ० ३२) ने भूपाल के मुहूर्तदीपक से उद्धरण देकर पहली से पन्द्रहवीं तिथि तथा अमावास्या को सेवन योग्य वस्तुओं एवं निषिद्ध कर्मों का वर्णन किया है।[८] दूसरी ओर भविष्य० (ब्राह्मपर्व, १६।१८-२०) ने पन्द्रहों तिथियों में सेवन करने योग्य वस्तुओं का उल्लेख किया है, यथा दूध प्रतिपदा को; पुष्प द्वितीया को; क्षार के अतिरिक्त सभी कुछ तृतीया को; तिल, दूध, फल एवं शाक सप्तमी एवं अष्टमी को; आटा, बिना पका भोजन एवं घृत एकादशी को, पायस (दूध में पकाया हुआ चावल), गोमूत्र, जौ, जल जिसमें कुश डाला गया हो। और देखिए वामन० (१४।४८-५१)।

तिथियों द्वारा समय का गिनना बहुत प्राचीन क्रिया है और भारतीय ही है। पश्चिमी विद्वानों ने भारतीय ज्योतिष, नक्षत्रविद्या आदि पर चीनी, बैबीलोनी, अरबी, यूनानी प्रभावों की चर्चा तो की है, किन्तु किसी को ऐसा साहस नहीं हुआ कि वह यह सिद्ध करने का प्रयास करे कि तिथि-सिद्धान्त पर बाह्य प्रभाव पड़ा है। यूनानी प्रभाव के सिद्धान्तों पर अगले प्रकरण में वर्णन किया जायगा।

वैदिक (एवं स्मार्त) व्यवस्थाएँ तिथियों के अनुसार दो प्रकार की हैं--(१) दोनों पक्षों की एकादशी को करने योग्य बातें, यथा 'एकादशी को उपवास करना चाहिए' तथा (२) ऐसी व्यवस्थाएँ जो एकादशी को वर्जित बातों पर बल देती हैं, यथा 'एकादशी के दिन नहीं खाना चाहिए।' इस प्रकार की दोनों व्यवस्थाओं के लिए तिथियाँ अंग हैं। गर्ग के मत से तिथि, नक्षत्र, वार आदि पुण्य एवं पाप के साधन हैं, ये प्रधान कर्म में सहकारी हैं, किन्तु स्वतन्त्र रूप से फलदायक नहीं हैं।[९]

तिथियों के दो प्रकार हैं--**पूर्णा** एवं **सखण्डा**। धर्मसिन्धु में उल्लिखित विभाजनों का वर्णन कुछ ग्रन्थों में नहीं पाया जाता। निर्णयसिन्धु ने दो प्रकार दिये हैं, यथा **शुद्धा** एवं **विद्धा**। तिथ्यर्क ने **सम्पूर्णा** एवं **खण्डा** दो प्रकार बताये हैं। स्कन्दपुराण में आया है--"प्रतिपत्प्रभृतयः सर्वा उदयादोदयाद्रवेः। सम्पूर्णा इति विख्याता हरिवासरवर्जिताः॥" इस विषय में देखिए स्मृतिच० (२, पृ० ३५७) एवं तिथ्यर्क (पृ० ३)। जब कोई एक तिथि सूर्योदय से ६० नाड़िकाओं (घटिकाओं) तक पूरे दिन को घेरती है तो उसे **पूर्णा** कहते हैं (अर्थात् तिथि का आरम्भ ठीक सूर्योदय से होता है और अन्त ठीक दूसरे सूर्योदय के पूर्व ६० घटिकाओं में हो जाता है)। इसके अतिरिक्त अन्य तिथियाँ **सखण्डा** कही जायँगी। पुनः सखण्डा के दो प्रकार हैं--शुद्धा एवं विद्धा। शुद्धा तिथि वह है जो सूर्योदय से सूर्यास्त तक चलती है (शिवरात्रि आदि) या अर्ध रात्रि तक चलती है। अन्य सखण्डा तिथियाँ विद्धा कही जाती हैं। **वेध** के दो प्रकार हैं--प्रातःवेध एवं सन्ध्यावेध,

८. भूपालः। कूष्माण्डं बृहती क्षारं मूलकं पनसं फलम्। धात्री शिरः कपालान्त्रं नखचर्मतिलानि च। क्षुरकर्माङ्गनासेवां प्रतिपत्प्रभृति त्यजेत्॥ नि० सि० (पृ० ३२)। धात्री का अर्थ है आमलक, शिरः का नारिकेल, कपाल का अलाबु, अन्त्र का पटोलक, नख का शिम्बी एवं चर्म का मसूरिका। विशिष्ट तिथियों में निषिद्ध वस्तुओं के सेवन से उत्पन्न परिणामों के विषय में तिथितत्त्व में विस्तार के साथ वर्णन है।

९. तिथिनक्षत्रवारादि साधनं पुण्यपापयोः। प्रधानगुणभावेन स्वातन्त्र्येण न ते क्षमाः॥ गर्ग (तिथितत्त्व, पृ० ४ द्वारा **उद्धृत)। और देखिए पु० चि० (पृ० ३३)।**

जिनमें प्रथम सामान्यतः सूर्योदय से ६ घटिकाओं तक चलकर दूसरी तिथि में मिल जाता है और दूसरा वह है जो सूर्यास्त के ६ घटिका पूर्व किसी दूसरी तिथि से मिल जाता है। कुछ तिथियों में ६ घटिकाओं की ही अवधि निर्धारित होती है।

जो तिथि ६० घटिकाओं वाली होती है और सूर्योदय से आरम्भ होती है अर्थात् जब वह पूर्णा होती है तो कोई कठिनाई नहीं होती। किन्तु धर्मसिन्धु के अनुसार जब शुद्धा तिथि होती है तो कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। कुछ सामान्य नियम ध्यान देने योग्य हैं। श्रुति में आया है--'पूर्वाह्णो वै देवानां मध्यन्दिनो मनुष्याणामपराह्णः पितृणाम्' (शत० ब्रा० २।४।२।८), अर्थात् दोपहर के पूर्व का समय देवों का, मध्याह्न (दोपहर) वाला मनुष्यों का तथा अपराह्ण वाला पितरों का है। मनु (४।१५२) में आया है--'व्यक्ति को प्रातःकाल ये कर्तव्य करने चाहिए--शरीर की शुद्धि, दन्त धावन, स्नान, आँखों में अंजन लगाना एवं देव-पूजा पूर्वाह्ण में ही हो जानी चाहिए।' अतः देवों के लिए दिन में किये जाने वाले सभी धार्मिक कृत्य निर्दिष्ट तिथियों में प्रातःकाल ही किये जाने चाहिए। किन्तु वे सभी व्रत, जो संध्याकाल या रात्रि में सम्पादित किये जाने वाले होते हैं, उसी तिथि में किये जाने चाहिए, भले ही वह किसी दूसरी तिथि से मिश्रित (विद्धा) हो। यह बात ध्यान देने योग्य है कि मास के दोनों पक्षों में सभी तिथियाँ पूर्व या उपरान्त वाली तिथि को तीन मुहूर्तों (अर्थात् ६ घटिकाओं) से प्रभावित करती हैं। कुछ तिथियाँ कई घटिकाओं से वेध उत्पन्न करती हैं, यथा पंचमी १२ घटिकाओं से षष्ठी का, दशमी १५ घटिकाओं से एकादशी का वेध करती है। कभी-कभी विद्धा तिथियाँ धार्मिक कर्मों के योग्य ठहरती हैं, कभी-कभी सर्वथा प्रतिकूल ठहरती हैं। जब तक उचित तिथि का निश्चय न हो जाय तब तक श्रौत एवं स्मार्त कृत्य, व्रत, दान तथा अन्य कर्म, जैसा कि वेद द्वारा व्यवस्थित है, उचित फल नहीं देते। वह तिथि, जो कालव्यापी होती है (यथा प्रातः, मध्याह्न, पूरे दिन आदि वाली) और जो किसी धार्मिक कृत्य के लिए प्रतिपादित रहती है, वह उस कृत्य के योग्य ठहरती है। पहला सिद्धान्त है कि काल (किसी कृत्य के लिए निर्धारित समय) केवल **विस्तार** नहीं है, प्रत्युत यह एक **निमित्त** (अवसर) है, जिसके होने से कृत्य होता है और जो कृत्य उसके भीतर नहीं सम्पादित होता, वह असम्पादित सा रह जाता है। देखिए तै० सं० २।२।५।४। उसमें आया है--'वह व्यक्ति स्वर्गच्युत हो जाता है, जो दर्शपूर्णमास कृत्य करने में पूर्णमासी या अमावास्या के काल का अतिक्रमण कर देता है।' हेमाद्रि ने उचित काल में किये जाने वाले कृत्यों की महत्ता पर बल दिया है, और कहा है कि शिष्टों की निन्दा से बचने के लिए ही गौण काल का आश्रय लिया जाता है, या अपने सन्तोष देने के लिए, या जब कोई अन्य विकल्प नहीं होता।

यदि कोई तिथि दो दिनों वाली हो और निश्चित समय वाली हो, या वह निर्दिष्ट समय के एक भाग तक ठहरने वाली हो, तो सामान्य नियम यह है कि **युग्मवाक्य** द्वारा निर्णय करना चाहिए। उदाहरणार्थ, मान लिया जाय कोई व्रत किसी तिथि के दोपहर में होने वाला हो, तो वह तिथि दोपहर के समय दो दिनों में पायी जा सकती है या मान लिया जाय कि कोई तिथि दोपहर के एक या दो घटिका उपरान्त आरम्भ होती है और दूसरे दिन दोपहर के पूर्व एक या दो घटिका पहले ही समाप्त हो जाती है, तो ऐसी स्थिति में कौन-सी तिथि (पूर्व-विद्धा या पर-विद्धा) कृत्य के लिए उचित है, इसका निर्णय सामान्य सिद्धान्त के अनुसार युग्मवाक्य द्वारा किया जायगा। युग्मवाक्य का अनुवाद निम्न रूप से किया जा सकता है--'निम्न तिथियों के जोड़े बड़ा फल देने वाले होते हैं, यथा द्वितीया एवं तृतीया, चतुर्थी एवं पंचमी, षष्ठी एवं सप्तमी, अष्टमी एवं नवमी, एकादशी एवं द्वादशी, चतुर्दशी एवं पूर्णिमा तथा अमावास्या एवं प्रतिपदा। इससे विपरीत, अन्य तिथियों के जोड़ों से भयंकर हानि होती है, इनसे संचित पुण्य समाप्त हो जाते हैं।' एक प्रश्न पूछा जा सकता है--जब द्वितीया प्रतिपदा से युक्त हो **(पूर्वविद्धा)** और दूसरे दिन तृतीया से युक्त **(परविद्धा)** तो ऐसी स्थिति में द्वितीया तिथि को किया जाने वाला व्रत किस तिथि को

किया जाय ? इसका उत्तर है---सामान्य नियम यह है कि ऐसी स्थिति में जब कि द्वितीया तृतीया से संयुक्त हो तो उसी को उचित माना जाता है न कि उस द्वितीया को जो प्रतिपदा से संयुक्त हो। इसी प्रकार जब व्रत तृतीया को सम्पादित होने वाला हो और तृतीया द्वितीया से संयुक्त हो और चतुर्थी से भी मिली हो, तो ऐसी स्थिति में द्वितीया से संयुक्त तृतीया को उचित माना जाता है, न कि चतुर्थी से संयुक्त तृतीया को। परिणाम यह निकला कि प्रतिपदा एवं द्वितीया, तृतीया एवं चतुर्थी, पंचमी एवं षष्ठी, सप्तमी एवं अष्टमी, नवमी एवं दशमी, एकादशी एवं द्वादशी, त्रयोदशी एवं चतुर्दशी, पूर्णिमा एवं प्रतिपदा तथा अमावास्या एवं चतुर्दशी का सम्मिलन अनुचित ठहरता है।[10]

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि उपर्युक्त नियमों में अपवाद भी होते हैं। कुछ लोगों के मत से ये नियम शुक्ल पक्ष की तिथियों से सम्बन्धित हैं न कि कृष्ण पक्ष से। किन्तु अपरार्क (पृ० २१६), कालनिर्णय (पृ० १७२), व्रतकालविवेक (भाग ७, पृ० ८७), निर्णयसिन्धु (पृ० १८) के अनुसार उपर्युक्त नियम कृष्ण पक्ष की तिथियों से भी सम्बन्धित ठहराये गये हैं, क्योंकि अमावास्या का प्रतिपदा से संयुक्त होना इसे सिद्ध कर देता है। यह विचारणीय है कि युग्मवाक्य (जब कि यह कृष्ण पक्ष के लिए भी प्रयुक्त हो) कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा तथा दोनों पक्षों की दशमी एवं त्रयोदशी की ओर संकेत नहीं करता। इस विषय में देखिए हेमाद्रि (काल, पृ० ९३), का० नि० (पृ० २३१), का० वि० (पृ० ५०१)। पितरों के कृत्यों से युग्मवाक्य का सम्बन्ध नहीं है। गृह्यपरिशिष्ट ने व्यवस्था दी है कि पितर लोग उस तिथि पर आते हैं जो सूर्यास्त के समय उपस्थित रहती है, और स्वयं ब्रह्मा ने ऐसी तिथि एवं अपराह्न पितरों के लिए व्यवस्थित किये हैं (व० क्रि० कौ०, पृ० १६, व्र० का० वि०, पृ० ८६, तिथिविवेक, पृ० २२२)। अब इस विषय के विस्तार में हम यहाँ नहीं पड़ेंगे। अन्य बातों के लिए देखिए व्र० का० वि० (पृ० ८९), व० क्रि० कौ० (पृ० १०) आदि।

कालादर्श में एक विचित्र सिद्धान्त आया है कि तिथियों के क्षय एवं वृद्धि का कारण मनुष्यों के पुण्य एवं पाप हैं। इसमें तिथियों की कोटियाँ यों हैं---**खर्व** (६० घटिकाओं का उचित विस्तार), **दर्प** (६० घटिकाओं से अधिक विस्तार) एवं **हिंस्र या हिंसा** (६० घटिकाओं से कम का विस्तार)। देखिए राजमार्तण्ड (११३२)।

कुछ ग्रन्थों में एक सामान्य नियम की व्यवस्था है कि जब महीना के नाम वाले नक्षत्र में पूर्णिमा का चन्द्र हो और उसमें बृहस्पति भी हो तो उसके साथ 'महा' विशेषण लगता है। उदाहरणार्थ, कार्तिक की पूर्णिमा उस तिथि

१०. युग्माग्नियुगभूतानां षण्मुन्योर्वसुरन्ध्रयोः। रुद्रेण द्वादशी युक्ता चतुर्दश्या च पूर्णिमा॥ प्रतिपद्यप्यमावास्या तिथ्योर्युग्मं महाफलम्। एतद् व्यस्तं महादोषं हन्ति पुण्यं पुरा कृतम्॥ यह हेमाद्रि द्वारा (काल पर, पृ० ६७) उद्धृत है। युग्म, अग्नि, युग, भूत, मुनि, वसु, रन्ध्र एवं रुद्र क्रम से २, ३, ४, ५, ७, ८, ९, ११ नामक संख्याओं के स्थान पर रखे गये हैं। माध्यमिक निबन्धों में ये पंक्तियाँ विभिन्न ग्रन्थों से उद्धृत मानी गयी हैं। स्मृतिच० (पृ० ३५०), अपरार्क (पृ० २१४, २१६), निर्णयसिन्धु (पृ० १८) ने इन्हें निगम (वैदिक उक्तियाँ) माना है; किन्तु कालविवेक (पृ० ४७५), व्र० का० वि० (पृ० २१४), व० क्रि० कौ० (पृ० २) ने इन्हें गृह्यपरिशिष्ट का माना है; तिथितत्त्व (पृ० ३) ने इन्हें निगम एवं गृह्यपरिशिष्ट दोनों ही की उक्तियाँ ठहराया है। ये पद्य अग्निपुराण (१७५।३६-३७) एवं गरुड़पुराण (१।१२८।१६-१७) के हैं। और देखिए कालादर्श, राजमार्तण्ड (११२३-२४), समयप्रदीप, जीमूतवाहनकृत कालविवेक (पृ० ४७५-५०२)।

में, जब चन्द्र एवं बृहस्पति कृत्तिका में हों, तो महाकार्तिकी तिथि कहलायेगी। राजमार्तण्ड एवं भविष्य० में प्रतिपादित है कि कुछ तीर्थों में महाचैत्री आदि तिथियों (अन्य शेष ११ 'महा' पूर्णिमाओं के साथ) के दिन स्नान करने से बड़े फल प्राप्त होते हैं, यथा प्रयाग में महामाघी के दिन, नैमिषारण्य में महाफाल्गुनी पर, शालग्राम में महाचैत्री पर, महाद्वार में महावैशाखी पर, पुरुषोत्तम में महाज्यैष्ठी पर, कनखल में महाषाढ़ी पर, केदार में महाश्रावणी पर, बदरी में महाभाद्री पर, कुब्जाम्र में महाश्विनी पर, पुष्कर में महाकार्तिकी पर, कान्यकुब्ज में महामार्गशीर्षी पर तथा अयोध्या में महापौषी पर। देखिए राजमार्तण्ड (१३८९-१३९२), व० क्रि० कौ० (पृ० ८०, जहाँ ये बातें भविष्य० में लिखित मानी गयी हैं) तथा हेमाद्रि (काल, पृ० ६४२)।

कुछ तिथियों में बहुत-से कर्म निषिद्ध ठहराये गये हैं। ऐसे कृत्यों एवं कर्मों की तालिकाएँ बड़ी लम्बी हैं। दो-एक उदाहरणार्थ पर्याप्त हैं। देवल (कृ० र०, पृ० ५४७, व० क्रि० कौ०, पृ० ८६) में आया है—पंचदशी, चतुर्दशी और विशेषतः अष्टमी को तैल, मांस, व्यवाय (मैथुन) एवं क्षुरकर्म का व्यवहार नहीं होना चाहिए। नारदीय (१।१५६।१४०-१४१) में व्यवस्था है कि षष्ठी को तैल, अष्टमी को मांस, चतुर्दशी को क्षुरकर्म एवं पूर्णिमा तथा अमावास्या, को मैथुन का प्रयोग नहीं होना चाहिए। कुछ तिथियों में तैल, शाक, फल आदि वर्जित हैं (देखिए तिथितत्त्व, पृ० २७-२८)।

अध्याय ४

पृथक्-पृथक् व्रत : चैत्र-प्रतिपदा, रामनवमी, अक्षयतृतीया, परशुराम-जयन्ती, दशहरा, सावित्री-व्रत

महाभारत में व्रत के आरम्भ के विषय में आया है[1]—'जलपूर्ण ताम्र पात्र को हाथ में लेकर उत्तराभिमुख होकर उपवास का या जो भी व्रत धारण करने की बात मन में उठे उसका संकल्प करना चाहिए।' देवल (कल्प० व्रत, पृ० ४; स० प्र०, कृ० र०, पृ० ५४) में आया है—(गत रात्रि में) बिना भोजन किये, स्नान करके, आचमन करके, सूर्य देवता तथा अन्य देवों के समक्ष घोषणा करके व्रत करना चाहिए। वराह० (३९।३२; का० नि० २६८; व० क्रि० कौ०, पृ० ६०-६१; ति० त०, पृ० ११० और देखिए नारदीय० १।२३।१५, जहाँ समान श्लोक आया है) में इस प्रकार का संकल्प है—'एकादशी को निराहार रहकर मैं दूसरे दिन खाऊँगा, हे पुण्डरीकाक्ष (विष्णु), हे अच्युत, आप मेरे आश्रय बनें।' उपवास या व्रत के लिए संकल्प प्रातः करना चाहिए। दिन का पहला पाँचवाँ भाग, जो तीन घटिकाओं का होता है, प्रातः कहलाता है। जब तिथि प्रातःकाल नहीं आरम्भ होती, प्रत्युत अपराह्ण में आरम्भ होती है, तब भी संकल्प प्रातःकाल ही किया जाता है। यह तब किया जाता है जब कि व्रत उसी तिथि को किया जाने वाला होता है, भले ही वह विद्धा हो। जब संकल्प नहीं किया[2] जाता तो व्यक्ति को व्रत का फल बहुत कम होता है और आधा पुण्य समाप्त हो जाता है।

अब हम विभिन्न तिथियों को किये जाने वाले पृथक्-पृथक् व्रतों का विवेचन करेंगे। सर्वप्रथम **प्रतिपदा-व्रत** पर प्रकाश डालेंगे।

हम आगे के प्रकरण में यह लिखेंगे कि प्राचीन एवं माध्यमिक कालों में किस प्रकार वर्षारम्भ करने वाले मास विभिन्न देशों में विभिन्न थे। यहाँ चैत्र की प्रतिपदा से आरम्भ करेंगे और मास का अमावास्या (अमान्त) से अन्त समझेंगे और चैत्र से आरम्भ कर प्रत्येक मास एवं उसकी तिथियों में किये जाने वाले व्रतों एवं उत्सवों का उल्लेख करेंगे। शेष का विवरण व्रतों की सूची में उपस्थित किया जायगा।

१. गृहीत्वौदुम्बरं पात्रं वारिपूर्णमुदङमुखः। उपवासं तु गृह्णीयाद्यद्वा संकल्पयेद् बुधः॥ देवतास्तस्य तुष्यन्ति कामिकं तस्य सिध्यति। अन्यथा तु वृथा मर्त्याः क्लिश्यन्ति स्वल्पबुद्धयः॥ शान्ति० (कालविवेक, पृ० ४५६; कल्पतरु, व्रत, पृ० ४; कृ० र०, पृ० ५४, व० क्रि० कौ०, पृ० ६१ में उद्धृत), अनुशासनपर्व (१२६।२०) में यही बात कुछ शब्द-अन्तरों के साथ आयी है। और देखिए ति० त० (पृ० ११०)।

२. संकल्पाकरणे फलहानिमाह भविष्यपुराणे। संकल्पेन विना राजन् यत्किंचित्कुरुते नरः। फलं चाल्पाल्पकं तस्य धर्मस्यार्धक्षयो भवेत्॥ कृत्यकल्प० (पृ० ४२४)।

भारत के उन भागों में, जहाँ वर्ष का आरम्भ चैत्र से होता है, प्रतिपदा तिथि को लोग धार्मिक कृत्यों एवं शुभ आयोजनों द्वारा मनाते हैं। चैत्र के शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा तिथि के कृत्यों पर ब्रह्मपुराण में जो आया है उस पर कालों के निबन्धों में लम्बा आख्यान है, यथा कल्पतरु (नैयतकाल, पृ० ३७७-३८२), हेमाद्रि (व्रत, भाग १, पृ० ३६०-३६५), कृत्यरत्नाकर (पृ० १०३-११०), व्रतराज (पृ० ४९-५३)। उस पुराण में आया है कि ब्रह्मा ने चैत्र मास के शुक्ल पक्ष के प्रथम दिन सूर्योदय के समय संसार का निर्माण किया और उसी दिन से काल-गणना का शुभारम्भ हुआ। उसी दिन सब कल्मषों (पापों) को नाश करने वाली महाशान्ति का कृत्य किया जाना चाहिए। सर्वप्रथम ब्रह्मा की पूजा सभी ख्यात उपचारों के साथ की जानी चाहिए, इसके उपरान्त 'ओम्' एवं 'नमः' के साथ अन्य देवों की पूजा, प्रत्येक पल से लेकर सभी युगों की, दक्ष की कन्याओं की तथा अन्त में विष्णु की पूजा होनी चाहिए। इसके उपरान्त ब्राह्मणों का सम्मान भोजन एवं दक्षिणा से करना चाहिए, सम्बन्धियों एवं भृत्यों को भेंट या दान देना चाहिए, यविष्ठ नामक अग्नि में होम करना चाहिए, विशिष्ट भोजन बनवाना चाहिए तथा बड़े-बड़े उत्सव किये जाने चाहिए। भविष्यपुराण (ब्राह्मपर्व, १६।४४; हेमाद्रि, व्रत, पृ० ३३६ एवं वर्षक्रियाकौमुदी, पृ० २८ में उद्धृत) में आया है कि यह तिथि ब्रह्मा द्वारा सर्वश्रेष्ठ तिथि घोषित हुई है और इसे सर्वप्रथम पद (स्थान) मिला है, अतः इसे **प्रतिपदा** कहा जाता है। चैत्र प्रतिपदा को वर्ष के स्वामी की पूजा होती है, उस दिन प्रत्येक गृहस्थ द्वारा तोरण एवं पताकाएँ लगायी जाती हैं। उस दिन तेल लगाकर स्नान करना चाहिए, नीम की पत्तियाँ खायी जानी चाहिएँ, शक या संवत् का नाम (फल) पंचांग से सुनना चाहिए। इसी प्रकार वर्ष के स्वामी, देवताओं (वर्ष के मन्त्रियों), अन्नों एवं द्रवों आदि के देवों के नाम सुनने चाहिए। आजकल भी ये कृत्य देश में किसी-न-किसी रूप में किये जाते हैं।

प्रतिपदा का शुभारम्भ प्रातःकाल होता है। जब प्रतिपदा दो दिनों तक सूर्योदय के समय हो तो प्रथम का वरण करना चाहिए, किन्तु यह किसी दिन सूर्योदय के समय न हो तो पूर्वविद्धा का ही वरण होना चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि सूर्योदय के उपरान्त चार घटिकाओं तक अमावास्या हो तो प्रतिपदा ५६ घटिकाओं की उस दिन तथा कुछ घटिका दूसरे दिन तक रहती है, ऐसी स्थिति में अमावास्या से संबद्ध होने पर भी वर्ष का आरम्भ हो जाता है और दूसरे दिन पर-विद्धा होने पर द्वितीया तिथि को प्रतिपदा नहीं मानना चाहिए। यदि चैत्र में मलमास हो तो बहुत-से लोगों के मत से मलमास वाली प्रतिपदा से वर्ष का आरम्भ मान लिया जाना चाहिए।[३] समयमयूख के अनुसार जब चैत्र मलमास हो तो वर्ष एवं वसन्त का आरम्भ इसी से होता है, किन्तु तेल से स्नान एवं वर्षफल का श्रवण शुद्ध मास से करना चाहिए। धर्मसिन्धु (पृ० ३८) में आया है कि तैल-स्नान आदि कृत्यों के संकल्प में नये वर्ष का उच्चारण मलमास के प्रथम दिन से होना चाहिए, किन्तु ध्वजारोपण, निम्बपत्राशन, वत्सरादि फलश्रवण शुद्ध मास में किये जाने चाहिए। सामान्य विश्वास है कि चैत्र-शुक्ल प्रतिपदा वर्ष के ३॥ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मुहूर्तों में एक है। साम्राज्य-लक्ष्मीपीठिका (पृ० १२८-१३२) में चैत्र-शुक्ल के इस महान् उत्सव का

३. चैत्रस्य मलमासत्वे तैलाभ्यंगशाकश्रवणादि शुद्ध एव कार्यम्। यद्यपि वत्सरवसन्तयोः प्रवृत्तिर्जाता तथापि तत्प्रयुक्तकृत्यम्—षष्ट्या तु दिवसैर्मासः कथितो बादरायणैः। पूर्वमर्धं परित्यज्य कर्तव्या उत्तरे क्रिया।। इति वचनादुत्कृष्योत्तर एव कार्यम्। स० म० (पृ० १३)। पु० चि० (पृ० ५७) ने इस मत का विरोध किया है। वर्षक्रियाकौमुदी (पृ० २२७) ने 'पूर्वमर्धं परित्यज्य उत्तरार्धं प्रशस्यते' पढ़ा है। और देखिए राजमार्तण्ड (कालविवेक, पृ० १३९), ज्योतिःशास्त्र।

विस्तारपूर्वक वर्णन है, जो सर्वप्रथम राजा या प्रमुख अधिकारी या सात गाँव वाले भूमिपति द्वारा मनाया जाना चाहिए।

चैत्र मास की दूसरी महत्त्वपूर्ण तिथि है नवमी, जो शुक्ल पक्ष में होती है और जिस दिन विष्णु के सातवें अवतार राम की जयन्ती मनायी जाती है और उस दिन **रामनवमी व्रत** किया जाता है। इस विषय में हेमाद्रि (व्रत, भाग १, पृ० ९४१-९४६), व० क्रि० कौ० (पृ० ५२३-५२९), तिथितत्त्व (पृ० ५९-६२), निर्णयसिन्धु (पृ० ८३-८६), मुकुन्दवन यति के शिष्य आनन्दवन यति की अगस्त्यसंहिता एवं रामार्चनचन्द्रिका आदि निबन्धों में विस्तार के साथ वर्णन है। यह विचित्र बात है कि इसका उल्लेख कृत्यकल्पतरु में, जो कृत्यों पर एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, नहीं मिलता। प्रतीत होता है, राम-सम्प्रदाय की प्रसिद्धि कृष्ण-सम्प्रदाय के उपरान्त हुई। अमरकोश ने विष्णु, नारायण, कृष्ण, वासुदेव, देवकीनन्दन एवं दामोदर को एक-दूसरे का पर्याय माना है, इसने राम (दाशरथि) का उल्लेख नहीं किया है, प्रत्युत उसे हलधर का पर्याय माना है। यहाँ हम रामनवमी का संक्षिप्त उल्लेख करेंगे। रामार्चनचन्द्रिका एवं व्रतार्क में प्रतिपादित है कि इसका सम्पादन सभी लोग कर सकते हैं, यहाँ तक कि इसके अधिकारी चाण्डाल भी हैं।

अगस्त्यसंहिता (हेमाद्रि, व्रत, भाग १, पृ० ९४१) में आया है कि राम का जन्म चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की नवमी को मध्याह्न में हुआ था, उस समय पुनर्वसु नक्षत्र में चन्द्र था, चन्द्र और बृहस्पति दोनों समन्वित थे, पाँच ग्रह अपनी उच्च अवस्था में थे, लग्न कर्कटक था और सूर्य मेष राशि में था। माधव के कालनिर्णय (पृ० २२९-२३०) में आया है—'जब नवमी दो तिथियों में हो, तब यदि वह पहली तिथि के मध्याह्न में हो तो व्रत उसी दिन होना चाहिए। किन्तु यदि नवमी दोनों दिनों के मध्याह्न में पड़ती हो, या जब किसी भी दिन मध्याह्न को नवमी न हो तो दशमी से युक्त नवमी में व्रत होना चाहिए, न कि अष्टमी से युक्त नवमी में। यदि नवमी पुनर्वसु से संयुक्त हो तो वह तिथि अत्यन्त पुनीत ठहरती है। यदि अष्टमी, नवमी एवं पुनर्वसु एक स्थान पर हों तब भी नवमी दूसरे दिन (अर्थात् दशमी से संयुक्त नवमी) होनी चाहिए। अन्य विस्तारों को हम यहीं छोड़ते हैं।

ऐसा कुछ लोगों का मत है कि रामनवमी नित्य व्रत है और सब के लिए है, किन्तु कुछ अन्य लेखकों के मत से यह केवल राम-भक्तों के लिए नित्य है और अन्य लोगों के लिए, जो विशिष्ट फल (पाप-मुक्ति या संसार-निवृत्ति या मुक्ति) चाहते हैं, काम्य है। अगस्त्यसंहिता में आया है—'यह सब के लिए है, यह सांसारिक आनन्द एवं मुक्ति के लिए है। वह व्यक्ति भी, जो अशुद्ध है, पापिष्ठ है, यह सर्वोत्तम व्रत करके सब से सम्मान पाता है, और ऐसा हो जाता है मानो साक्षात् राम हो। जो व्यक्ति रामनवमी के दिन भोजन करता है वह कुम्भीपाक में घोर कष्ट पाता है। जो व्यक्ति एक रामनवमी व्रत भी कर लेता है उसकी सभी इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं और उसके पाप कट जाते हैं। और भी आया है—'उस दिन सदा उपवास करना चाहिए, राम-पूजा करनी चाहिए, उसे रात्रि

४. सर्वेषामप्ययं धर्मो भुक्तिमुक्त्येकसाधनम्। अशुचिर्वापि पापिष्ठः कृत्वेदं व्रतमुत्तमम्। पूज्यः स्यात् सर्वभूतानां यथा रामस्तथैव सः। यस्तु रामनवम्यां तु भुङक्ते स च नराधमः। कुम्भीपाकेषु घोरेषु पच्यते नात्र संशयः॥...एकामपि नरो भक्त्या श्रीरामनवमीं मुने। उपोष्य कृतकृत्यः स्यात्सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ अगस्त्यसंहिता (हेमाद्रि, व्रत, भाग १, पृ० ९४२)। और देखिए नि० सि० (पृ० ८४), स्मृ० मु० (काल, पृ० ८३६)।

भर पृथिवी पर बैठकर जागरण करना चाहिए।' यहाँ 'सदा' शब्द से प्रकट होता है कि यह 'नित्य' व्रत है किन्तु अन्य लोगों के मत से यह 'काम्य' है, क्योंकि यहाँ पाप से मुक्ति का फल भी मिलता है। निर्णयसिन्धु एवं तिथितत्त्व जैसे ग्रन्थों का निष्कर्ष है कि यह 'नित्य' एवं 'काम्य' दोनों है, जैसा कि "संयोगपृथक्त्व" नामक मीमांसा का न्याय कहता है; 'अग्निहोत्र' के प्रकरण में वेद का कहना है—'वह अग्नि में दधि का होम करता है'; वहीं दूसरा वचन है—'जो शारीरिक शक्ति चाहता है उसे अग्नि में दधि का होम करना चाहिए।' अर्थ यह है कि दो भिन्न वाक्यों में 'दधि' शब्द अलग-अलग वर्णित है, अतः दधि के साथ होम नित्य भी है और काम्य भी।

हेमाद्रि (व्रत, भाग १, पृ० ९४१-९४६), नि० सि० (पृ० ८३-८६), तिथितत्त्व (पृ० ५९-६२), कृ० त० वि० (पृ० ९६-९८), व्रतराज (पृ० ३१९-२९), व्रतार्क (१७२-१८२) में रामनवमी व्रत की विधि इस प्रकार है—चैत्र के शुक्ल पक्ष की अष्टमी के दिन भक्त को स्नान करना चाहिए, सन्ध्या करनी चाहिए, एक ऐसे ब्राह्मण को आमन्त्रित कर सम्मानित करना चाहिए जो वेदज्ञ हो, शास्त्रज्ञ हो, राम की पूजा में भक्ति रखता हो, राम-भक्तों की विधि जानता हो, और उससे प्रार्थना करनी चाहिए, 'मैं राम की प्रतिमा का दान करना चाहता हूँ।' इसके उपरान्त शरीर में लगाने के लिए उस ब्राह्मण को तेल देना चाहिए, स्नान कराना चाहिए, श्वेत वस्त्र पहनाना चाहिए, पुष्प देना चाहिए, उसे सात्विक भोजन देना चाहिए और स्वयं भी वही खाना चाहिए तथा सदा राम का ध्यान करना चाहिए। उस दिन रात्रि में उसे एवं आचार्य (सम्मानित ब्राह्मण) को बिना भोजन किये रहना चाहिए, दिन भर राम-कथाएँ सुननी चाहिए और स्वयं तथा आचार्य को पृथिवी पर ही सुलाना चाहिए (खाट पर नहीं)।

दूसरे दिन प्रातःकाल उठकर, स्नान, सन्ध्या-वन्दन करना चाहिए, चार द्वारों वाले ध्वजासंयुक्त मण्डप का निर्माण करना चाहिए, और तोरण, ध्वजा एवं पुष्पों से अलंकृत करना चाहिए। पूर्व द्वार पर शंख, चक्र एवं गरुड़, दक्षिण में धनुष एवं बाण, पश्चिम में गदा, तलवार एवं केयूर, उत्तर में कमल, स्वस्तिक-चिह्न एवं नीले रत्न रखने चाहिए। मण्डप में चार अंगुल ऊँची वेदिका बनानी चाहिए और मण्डप में पवित्र गानों एवं नृत्यों का आयोजन होना चाहिए। उसे ब्राह्मणों से आशीर्वाद ग्रहण करना चाहिए और तब संकल्प करना चाहिए कि 'मैं रामनवमी के दिन पूर्ण उपवास करूँगा और राम-पूजा में संलग्न राम की स्वर्ण-प्रतिमा बनवा कर राम को प्रसन्न करने के लिए उसका दान करूँगा'; इसके उपरान्त वह कहे—'मेरे गम्भीर पापों को राम दूर करें।' राम की मूर्ति को आधार पर रखना चाहिए, इस मूर्ति के दो हाथ होने चाहिए; जानकी की मूर्ति राममूर्ति की दाहिनी जाँघ पर होनी चाहिए। मूर्ति को पंचामृत से स्नान कराना चाहिए। इसके उपरान्त मूलमन्त्र का पाठ होना चाहिए और न्यासों की प्रतिष्ठा होनी चाहिए।[5] उत्सव या पूजा मध्याह्न में की जाती है। ऋग्वेद के सोलह मन्त्रों (१०।९०) एवं पौराणिक मन्त्रों के साथ सोलह उपचारों से राम की प्रतिमा का पूजन करना चाहिए, प्रतिमा के विभिन्न अंगों की भी पूजा करनी चाहिए (श्री रामभद्राय नमः पादौ पूजयामि आदि)। इसके उपरान्त मूल मन्त्र के साथ वेदिका

५. वैदिक मन्त्रों (ऋ० १०।९० के सोलह मन्त्रों) के साथ शरीर के कतिपय अंगों का स्पर्श से पवित्रीकरण ही न्यास है। मूल मन्त्र या तो ६ अक्षर हैं, यथा 'श्री राम राम राम' या १३ अक्षर हैं, यथा 'श्रीराम जय राम जय जय राम।' आजकल पुजारी लोग ऋ० १०।३।३ को वैदिक मूलमन्त्र के रूप में कहते हैं—'भद्रो भद्रया सचमान आगात् स्वसारं जारो अभ्येति पश्चात्। सुप्तकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन् रुशद्भिर्वर्णैरभि राममस्थात्।' यहाँ 'राम' शब्द आया है, किन्तु दूसरे अर्थ में। सायण ने अर्थ किया है—'रामं कृष्णं शार्वरं तमः।'

पर या कुण्ड में होम करना चाहिए और पुनः साधारण अग्नि में घृत या पायस (दूध एवं शक्कर में पकाये हुए चावल) की १०८ आहुतियाँ देनी चाहिए। इसके उपरान्त आचार्य को कंकण, कुण्डल, अँगूठी, पुष्पों, वस्त्रों आदि से सम्मानित करना चाहिए और निम्नलिखित मन्त्र का पाठ करना चाहिए--'हे राम, आज मैं आप से अनुग्रह प्राप्त करने के लिए आपकी इस स्वर्ण-प्रतिमा को, जो अलंकारों एवं वस्त्रों से सज्जित है, दान-रूप में दूँगा।' उसे आचार्य को दक्षिणा तथा अन्य ब्राह्मणों को सोना, गाय, वस्त्रों का जोड़ा, अन्न यथाशक्ति देना चाहिए और ब्राह्मणों के साथ भोजन करना चाहिए। ऐसा करने से वह ब्राह्मण-हत्या जैसे महापातकों एवं जघन्य पापों से छुटकारा पा लेता है। जो व्यक्ति यह व्रत करता है मानो अपने हाथ में मुक्ति धारण कर लेता है और सूर्यग्रहण पर कुरुक्षेत्र में तुलापुरुष के दान का पुण्य प्राप्त करता है (देखिए तुलापुरुष महादान के लिए इस महाग्रन्थ का खण्ड दो)। हेमाद्रि में अपेक्षाकृत संक्षिप्त उल्लेख है, किन्तु तिथितत्त्व (पृ० ६१-६२), नि० सि० (पृ० ८५), व्रतार्क ने अगस्त्यसंहिता से अधिक ग्रहण कर विस्तार के साथ उल्लेख किया है। उनके मत से राम-प्रतिमा के पार्श्व में भरत, शत्रुघ्न एवं लक्ष्मण की (हाथ में धनुष के साथ) एवं दशरथ की मूर्तियाँ भी दाहिनी ओर हों तथा कौसल्या की प्रतिमा की भी पूजा होनी चाहिए जिसके साथ पौराणिक मन्त्र कहे जाने चाहिए। रामार्चनचन्द्रिका ने दस एवं पाँच आवरणों की पूजा की भी चर्चा की है।

रामनवमी का व्रत चैत्र के मलमास में नहीं किया जाता। यही बात जन्माष्टमी एवं अन्य व्रतों के साथ भी पायी जाती है।

वर्तमान समय में बहुत-से लोग रामनवमी पर उपवास नहीं करते, और कदाचित् ही कोई होम या प्रतिमा-दान करता है, किन्तु मध्याह्न काल में राम-मन्दिरों में उत्सव किये जाते हैं। आजकल नासिक, तिरुपति, अयोध्या एवं रामेश्वर में बड़ी धूमधाम के साथ यह उत्सव मनाया जाता है और सहस्रों व्यक्ति वहाँ जाते हैं। आजकल 'राम' नाम से बढ़कर कोई अन्य नाम हिन्दुओं की जिह्वा पर नहीं पाया जाता।

वैशाख मास में शुक्ल पक्ष की तृतीया एक महत्त्वपूर्ण तिथि है। इसे **अक्षय-तृतीया** कहते हैं। विष्णुधर्मसूत्र में इसका अति प्राचीन उल्लेख है। मत्स्य० (६५।१-७), नारदीय० (१।११२।१०) में यह उल्लिखित है। वहाँ आया है कि इस दिन उपवास करना चाहिए, वासुदेव की पूजा अक्षत चावल से की जानी चाहिए, उनसे अग्नि में होम करना चाहिए तथा उनका दान करना चाहिए। इस प्रकार के कृत्य से व्यक्ति सभी पापों से छुटकारा पाता है, जो कुछ उस दिन दान किया जाता है, वह अक्षय हो जाता है। मत्स्य० में आया है कि उस दिन जो भी कुछ दिया जाता है, या जिसका यज्ञ किया जाता है या जो कुछ कहा जाता है (जप), वह फल रूप में अक्षय होता है, इस तिथि का उपवास भी अक्षय फल देने वाला होता है, यदि इस तृतीया में कृत्तिका नक्षत्र हो तो वह विशिष्ट रूप से फल देने योग्य ठहरती है। भविष्य० (३०।१-१९) में इसका विस्तार से उल्लेख है। उसमें आया है--'यह युगादि तिथियों में परिगणित होती है, क्योंकि कृत युग (सत्य युग) का आरम्भ इसी से हुआ, इस दिन जो कुछ भी किया जाता है, यथा स्नान, दान, जप, अग्नि-होम, वेदाध्ययन, पितरों को जलतर्पण--सभी अक्षय होते हैं।' इसमें व्यवस्था है कि इस तिथि में जल-पात्रों, छत्रों एवं पादत्राणों के दान से इनमें कमी नहीं पड़ती, इसी से इसे अक्षय तृतीया कहते हैं। देखिए वि० ध० सू० (९०।१६-१७)। कन्नौज के राजा गोविन्दचन्द्र के 'लार' नामक दान-पत्रों से पता चलता है कि सं० १२०२ में मंगल की अक्षय-तृतीया (अप्रैल १५, ११४६ ई०)

के दिन राजा ने गंगा में स्नान करके किसी श्रीधर ठक्कुर को एक ग्राम दान दिया (एपि० इण्डिका, भाग ७, पृ० ७९)। जब तृतीया पूर्वाह्न में होती है तो उपर्युक्त धार्मिक कृत्य किये जाते हैं, किन्तु जब वह दो दिनों तक रहती है तो उनमें पश्चात्कालीन वाली व्रत के लिए उपयुक्त ठहरायी गयी है। विस्तार से अध्ययन के लिए देखिए हेमाद्रि (व्रत, भाग १, पृ० ५००-५१२ एवं काल, पृ० ६१८), व्रतराज (पृ० ९३-९६) एवं स्मृ० कौ० (पृ० १०९)। इस तिथि में युगादि-श्राद्ध के पिण्ड नहीं दिये जाते। **अक्षयतृतीया** वर्ष भर के अत्यन्त शुभ ३।। दिनों में से एक है (यह स्वयं ३ है)।

वैशाख के शुक्ल पक्ष की तृतीया को **परशुरामजयन्ती** भी मनायी जाती है।[६] इसका सम्पादन रात्रि के प्रथम प्रहर में होता है (सूर्यास्तोत्तरं त्रिमुहूर्तः प्रदोषः, धर्मसिन्धु, पृ० ९)। स्कन्द० एवं भविष्य० में आया है कि वैशाख शुक्ल पक्ष की तृतीया को रेणुका के गर्भ से विष्णु उत्पन्न हुए, उस समय नक्षत्र पुनर्वसु था, प्रहर प्रथम था, छह ग्रह उच्च थे और राहु मिथुन राशि में था। परशुराम की प्रतिमा की पूजा की जाती है और 'जमदग्निसुतो वीरः क्षत्रियान्तकरः प्रभो। गृहाणार्घ्यं मया दत्तं कृपया परमेश्वर॥' (धर्मसिन्धु, पृ० ४६) नामक मन्त्र के साथ अर्घ्य दिया जाता है। यदि तृतीया 'शुद्धा' (अन्य तिथि से न मिली हुई) हो तो उस दिन उपवास करना चाहिए, किन्तु यदि तृतीया दो दिनों वाली हो, प्रथम प्रहर वाली थोड़ी भी सन्ध्याकाल में हो तो उपरान्त वाले दिन को व्रत किया जाना चाहिए, नहीं तो (यदि तृतीया विद्धा हो और रात्रि के प्रथम प्रहर से आगे न बढ़े) तो दो दिनों में पहले वाले दिन उपवास करना चाहिए। परशुराम के कुछ मन्दिर भी हैं, विशेषतः कोंकण में, यथा चिप्लून में, जहाँ परशुराम-जयन्ती बड़ी धूमधाम से मनायी जाती है। देखिए नि० सि० (पृ० ९५), स्मृ० कौस्तुभ (पृ० ११२), पु० चि० (८९), हेमाद्रि (व्रत, भाग १, पृ० ११७) जहाँ विस्तार से वर्णन है। भारत के बहुत से भागों में यह जयन्ती नहीं मनायी जाती। किन्तु दक्षिण में इसका सम्पादन होता है।

ज्येष्ठ के शुक्ल पक्ष की दशमी को **दशहरा** नामक व्रत किया जाता है। ब्रह्मपुराण (६३।१५) में आया है कि ज्येष्ठ शुक्ल पक्ष की दशमी को 'दशहरा' कहते हैं क्योंकि यह दस पापों को नष्ट करती है (देखिए व० क्रि० कौ०, पृ० २८०)। मनु (१२।५-७) ने दस पापों को तीन श्रेणियों में बाँटा है, यथा कायिक, वाचिक एवं मानस। राजमार्तण्ड (१३९७-१४०५) ने इस व्रत का वर्णन किया है। नि० सि० (पृ० ९८) तथा अन्य निबन्धों में इसका अन्य आधार माना गया है, यथा ज्येष्ठ शुक्ल दशमी को मंगलवार (वराह० के अनुसार) या बुधवार (स्कन्द० के अनुसार), हस्त नक्षत्र, व्यातिपात, गर (करण), आनन्द योग पर, जब कि चन्द्र एवं सूर्य क्रमशः कन्या एवं वृषभ राशियों में हों; जब ये सब हों या इनमें अधिकांश हों, तो व्यक्ति को गंगा-स्नान करके पापमुक्त होना चाहिए। बुधवार एवं हस्त से आनन्द योग होता है। ऐसा कल्पित है कि इसी तिथि पर गंगा

---

६. महाभारत में परशुराम की गाथा (यथा २१ बार क्षत्रियों का नाश करना, कश्यप को पृथिवी का दान, राम के मिलने पर वीरता का ह्रास, महेन्द्र पर्वत पर निवास, पश्चिमी सागर को पीछे हटा देना आदि) पायी जाती है। देखिए आदि० (२।३, १०३।६२), सभा० (१४।२), वन० (११६।१४, ११७।९), उद्योग० (१७८।६२), द्रोण० (७०), कर्ण० (४२।३-९), शल्य० (४९।७-१०)। परशुराम के विषय में पुराणों में भी उल्लेख है, देखिए ब्रह्म० (२१३।११३-१२३), वायु० (९१।६७-८६), ब्रह्माण्ड० (३।२१-४७ एवं ५७-५८, जहाँ गोकर्ण एवं शूर्पारक की रक्षा की है), विष्णुधर्मोत्तर (१।३५)। इनमें से कुछ अनुश्रुतियाँ २००० वर्ष से अधिक प्राचीन होंगी। रघुवंश (६।४२, ११।६४-९१) में भी परशुराम-सम्बन्धी किंवदन्तियों का उल्लेख है।

पृथिवी पर मंगलवार को हस्त नक्षत्र में अवतरित हुई, अतः प्रारम्भिक रूप में यह व्रत दशाश्वमेघ पर गंगा-स्नान, पूजा एवं दान से सम्बन्धित था। आगे चलकर यह किसी भी बड़ी नदी में स्नान करने, अर्घ्य, तिल एवं जल-तर्पण से सम्बन्धित हो गया। अन्य बातों के विस्तार के लिए देखिए काशीखण्ड, त्रिस्थलीसेतु, कृत्यतत्त्व (४३१), व्रतराज (पृ० ३५२-३५५), पु० चि० (पृ० १४४-१४५)। आजकल गंगोत्सव अधिकतर कृष्णा, गोदावरी, नर्मदा एवं गंगा के तट पर अवस्थित ग्रामों एवं नगरों में किया जाता है। वाराणसी, प्रयाग, हरिद्वार, नासिक में यह उत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है। यदि ज्येष्ठ में मलमास हो तो उसी मास में इसे किया जाना चाहिए।

ज्येष्ठ की पूर्णिमा (उत्तर में अमावस्या) को सधवा नारियाँ भारत के कतिपय भागों में आजकल भी **सावित्री व्रत** या **वटसावित्री व्रत** करती हैं। महाभारत (वन०, अध्याय २९३-२९९) एवं पुराणों (मत्स्य०, अध्याय २०८-२१४; स्कन्द०, प्रभासखण्ड, अध्याय १६६; विष्णुधर्मोत्तर (२।३६-४१) में भारतीय नारियों के समक्ष पतिव्रता के आदर्श के रूप में सावित्री की कथा बहुत ही प्रसिद्ध रही है। सावित्री एवं सत्यवान् की कथा बड़ी मार्मिक है और इसका उल्लेख बड़ी सदाशयता के साथ होता रहा है। हेमाद्रि (व्रत, भाग १, पृ० २५८-२७२) ने भविष्योत्तर से प्राप्त **ब्रह्मसावित्री व्रत** तथा स्कन्द० से **वटसावित्री व्रत** का उल्लेख किया है। किन्तु प्रथम भाद्रपद में त्रयोदशी से लेकर पूर्णिमा तक तीन दिनों में मनाया जाता है न कि ज्येष्ठ में, और द्वितीय ज्येष्ठ की पूर्णिमा को सधवा द्वारा या पुत्रहीन विधवा द्वारा किया जाता है। व्रतकालविवेक (पृ० २०) ने द्वितीय अर्थात् **वटसावित्री व्रत** को **महासावित्री व्रत** कहा है। निर्णयसिन्धु (पृ० १००) ने हेमाद्रि द्वारा उल्लिखित इस व्रत को भाद्रपद में माना है और कहा है कि यह उन दिनों प्रचलित था। व्रतप्रकाश में ब्रह्मसावित्री व्रत का उल्लेख है। किन्तु आज का प्रचलित वटसावित्री व्रत दसवीं शताब्दी के बहुत पहले से सम्पादित होता रहा होगा। अग्नि० (१९४।५-८) ने संक्षेप में एक व्रत का उल्लेख किया है जो तत्त्वों के आधार पर आज के वटसावित्री व्रत के समान ही है। राजमार्तण्ड (१३९४, कृ० र०, पृ० १९२, वर्षक्रियाकौमुदी, पृ० २६०, तिथितत्त्व, पृ० १२१) का कथन है—'ज्येष्ठ शुक्ल चतुर्दशी को श्रद्धासमन्वित नारियाँ वैधव्य से छुटकारा पाने के लिए सावित्री व्रत करती हैं। दक्षिण में इसका अनुसरण होता है। नि० सि० ने भविष्य० के आधार पर कहा है कि यह व्रत अमावास्या को किया जाता है, किन्तु कृत्यतत्त्व (पृ० ४३०) एवं तिथितत्त्व (पृ० १२१) के अनुसार यह व्रत ज्येष्ठ की पूर्णिमा के उपरान्त कृष्ण चतुर्दशी को होता है।

यदि पूर्णिमा दो दिनों वाली हो तो व्रत चतुर्दशी को पूर्णिमा से विद्धा होने की दशा में किया जाना चाहिए। यह व्रत तीन दिनों तक किया जाता है और द्वादशी या त्रयोदशी से आरम्भ किया जाता है। किन्तु यदि चतुर्दशी १८ घटिकाओं की हो और उसके उपरान्त पूर्णिमा आ जाय तो चतुर्दशी को छोड़ दिया जाता है (काल-निर्णय, पृ० ३०१)।

वट की पूजा का सम्बन्ध सम्भवतः इस बात से है कि जब सत्यवान् की मृत्यु की घड़ी आयी तो उसने वट वृक्ष की छाया का आश्रय लिया, उसकी शाखा का सहारा लिया तथा अवरुद्ध श्वास से सावित्री से कहा कि मेरे सिर में पीड़ा है। व्रतराज (३१२-३२०) एवं अन्य मध्य काल के ग्रन्थों में विधि का वर्णन है। 'मैं अपने पति एवं पुत्रों की लम्बी आयु एवं स्वास्थ्य तथा इस लोक एवं परलोक में वैधव्य से मुक्ति के लिए सावित्री व्रत करूँगी' ऐसा कहकर स्त्री इस व्रत का संकल्प करती है। उसे वट के मूल पर जल छिड़कना चाहिए, इसके चारों ओर धागा बाँधना चाहिए,

उपचारों के साथ उसकी पूजा करनी चाहिए और अपने सौन्दर्य, सद्नाम, सम्पत्ति एवं वैधव्य-मुक्ति के लिए सावित्री की पूजा (मूर्ति की या केवल मानसिक रूप से), उसके पैर से ऊपर तक का स्मरण करके करनी चाहिए। इसके उपरान्त यम एवं नारद की पूजा करनी चाहिए और पुजारी को 'वायन' अर्थात् दान देना चाहिए और दूसरे दिन उपवास तोड़ना चाहिए। बंगाल में वटसावित्री व्रत के स्थान पर ज्येष्ठ कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी को सावित्री चतुर्दशी मानी जाती है। यह चौदह वर्षों की होती है। यदि स्त्री तीन दिनों तक उपवास के योग्य न हो तो वह त्रयोदशी को नक्त, चतुर्दशी को अयाचित भोजन तथा पूर्णिमा को व्रत करे।[७]

७. त्रिरात्रं नियमं कुर्यादुपवासस्य भक्तितः। अशक्ता चेत् त्रयोदश्यां नक्तं कुर्याज्जितेन्द्रिया। अयाचितं चतुर्दश्यां पौर्णमास्यामुपोषणम्॥ भविष्योत्तर (हेमाद्रि, व्रत, भाग २, पृ० २६९ द्वारा उद्धृत)। ब्रह्मसावित्री व्रत के लिए देखिए हेमाद्रि (भाग २, पृष्ठ २६९-२७२) जहाँ ब्रह्मा की पत्नी सावित्री की, जो हाथों में वीणा एवं पुस्तक लिये रहती हैं, पूजा का उल्लेख है।

अध्याय ५

एकादशी

आषाढ़ मास में सब से महत्त्वपूर्ण तिथि है **एकादशी**। पुराणों एवं मध्यकाल के निबन्धों में एकादशी के विषय में एक विशाल साहित्य है। एकादशी पर तो पृथक् रूप से कई निबन्ध हैं, यथा शूलपाणि का एकादशीविवेक एवं रघुनन्दन का एकादशीतत्त्व। इनके अतिरिक्त कालविवेक (पृ० ४२५-४५१), हेमाद्रि (काल, पृ० १४५-२८८), माधव कृत कालनिर्णय (पृ० २३३-२७५), व्रतराज (पृ० ३६१-४७५), कालतत्त्वविवेचन (पृ० ९४-१७२) ने एकादशी पर (विवेचन के लिए) सैकड़ों पृष्ठ लिख डाले हैं। किन्तु हम स्थान-संकोच से संक्षेप में ही लिखेंगे।

यदि कोई पुराणों के कतिपय कथनों की जाँच-पड़ताल करे तो पता चलेगा कि उनमें कुछ तो एकादशी के दिन केवल भोजन करना वर्जित करते हैं और कुछ एकादशी व्रत की व्यवस्था करते हैं। प्रथम के कुछ उदाहरण निम्न हैं। नारदीय में आया है---'सभी प्रकार के पाप एवं ब्राह्मण-हत्या के समान अन्य पाप हरि के दिन में भोजन में आश्रय लेते हैं; जो एकादशी के दिन भोजन करता है वह उन पापों का भागी होता है; पुराण बारम्बार यही रटते हैं 'जब हरि का दिन आता है तो भोजन नहीं करना चाहिए, भोजन नहीं करना चाहिए।'[1] इस व्यवस्था से एकादशी की विधि उस दिन कुछ भी पकी हुई वस्तु के न खाने में है। उन कथनों में जहाँ 'व्रत शब्द आया है, ऐसा नहीं समझना चाहिए कि वे केवल वर्जना (यथा भोजन न करना) करते हैं, प्रत्युत ये भावात्मक रूप भी रखते हैं, यथा प्रजापति व्रत में आता है, 'सूर्योदय नहीं देखना चाहिए', जिसकी व्याख्या जैमिनि (४।१।३-६ एवं ६।२।२०) ने की है। उदाहरणार्थ, मत्स्य० एवं भविष्य० में आया है, 'जब व्यक्ति एकादशी को उपवास करता है और द्वादशी को खाता है, चाहे शुक्ल पक्ष में या कृष्ण पक्ष में, वह विष्णु के सम्मान में बड़ा व्रत करता है।' उन कथनों में, जहाँ 'उपवास' शब्द आया है और जो (एकादशी करने के कारण) फल की व्यवस्था देते हैं वहाँ ऐसा समझना चाहिए कि वे व्रत की भी व्यवस्था देते हैं न कि केवल किसी वस्तु के न सेवन की ही बात करते हैं। वे कथन भी, जो एकादशी के दिन भोजन करने की भर्त्सना करते हैं, इस प्रकार भी समझे जा सकते हैं कि मानो

१. **यानि कानि च पापानि ब्रह्महत्यासमानि च। अन्नमाश्रित्य तिष्ठन्ति सम्प्राते हरिवासरे।। तानि पापान्यवाप्नोति भुञ्जानो हरिवासरे। रटन्तीह पुराणानि भूयो भूयो वरानने। न भोक्तव्यं न भोक्तव्यं संप्राप्ते हरिवासरे।।** नारदीय (हेमाद्रि, काल०, पृ० १५३; का० नि०, पृ० २३५)। और देखिए **नारदीयपुराण (उत्तर, २४।४। २३।२४)। मिलाइए ब्रह्मवैवर्त, कृष्णजन्म खण्ड, २६।२३** 'सत्यं सर्वाणि पापानि ब्रह्महत्यादिकानि च। सन्त्येवौदनमाश्रित्य श्रीकृष्णव्रतवासरे।।' **एकादशीतत्त्व (पृ० १६)।**

उन्होंने केवल व्रत की बात चलायी है और वर्जना की नहीं। इस विषय में मीमांसा का नियम है—'जिसकी निन्दा की जाती है उसकी निन्दा में केवल प्रवृत्त रहना ही निन्दा नहीं है, प्रत्युत वह, जो निन्दित होता है उसके विरोधी कर्तव्य के सम्पादन की स्तुति के लिए होती है।'[२] वे कथन जो व्रत के विषय में प्रतिपादन करते हैं, दो प्रकार के हैं, यथा वे, जो एकादशी को **नित्य** मानते हैं, और वे, जो किसी वांछित वस्तु की प्राप्ति के लिए प्रतिपादित हैं, अर्थात् **काम्य**। नारद (हेमाद्रि, काल, पृ० १५९; नि० सि० ३७) में आया है—'विष्णु के भक्त एवं वे जो विष्णु को परम लक्ष्य मानते हैं, उन्हें सदा प्रत्येक पक्ष में एकादशी के दिन उपवास करना चाहिए।' कात्यायन (हेमाद्रि, काल, पृ० १६२; का० नि०, पृ० २३६; एकादशीतत्त्व, २८) में एकादशी के बारे में काम्य-विधि यों कही गयी है—'जो विष्णु को परम लक्ष्य मानता है, जो संसार-सागर पार करना चाहता है या जो ऐश्वर्य, सन्तति, स्वर्ग, मोक्ष आदि प्राप्त करना चाहता है, उसे दोनों पक्षों की एकादशी को भोजन नहीं करना चाहिए।' इसका निष्कर्ष यह निकला कि एकादशी **नित्य** एवं **काम्य** दोनों है और यहाँ पर 'संयोग-पृथक्त्व' (देखिए ऊपर 'रामनवमी' का वर्णन) का सिद्धान्त लागू होता है। दोनों पक्षों की एकादशियों पर एकादशी व्रत केवल उन्हीं के लिए **नित्य** है जो गृहस्थ नहीं हैं; यह व्रत गृहस्थों के लिए केवल शुक्ल पक्ष की एकादशी पर ही नित्य है, कृष्ण पक्ष में नहीं, क्योंकि देवल में आया है—'दोनों पक्षों की एकादशी में पका भोजन नहीं करना चाहिए, यह वन में रहने वाले यतियों एवं मुनियों का धर्म है, किन्तु गृहस्थ को ऐसा केवल शुक्ल पक्ष की एकादशी में करना चाहिए (नि० सि०, ३६; समयप्रकाश, पृ० ६२; कालविवेक, पृ० ४२६; हेमाद्रि, काल०, पृ० १५०; ए० त०, पृ० ३६; ब्रह्मवैवर्त० ४।२६।३८)। पद्मपुराण में आया है कि गृहस्थ को केवल शयनी (आषाढ़ शुक्ल ११) एवं बोधिनी (कार्तिक शुक्ल ११) के मध्य में पड़ने वाली कृष्ण एकादशियों पर उपवास करना चाहिए, अन्य कृष्ण पक्ष की एकादशियों पर नहीं (ब्रह्मवैवर्त ४।२६।३९; का० नि०, पृ० २९; नि० सि०, पृ० ३६; समयप्रकाश, पृ० ६३। इन सभी में पद्म० का उद्धरण है)। नारद (हेमाद्रि, काल, पृ० १८३ आदि) में एक वचन आया है—'पुत्रवान् गृही को संक्रान्ति पर, कृष्ण एकादशी पर एवं चन्द्रसूर्य-ग्रहण पर उपवास नहीं करना चाहिए।' निष्कर्ष यह निकला कि गृहस्थ को केवल शुक्ल एकादशी पर ही उपवास करना चाहिए (यही उसके लिए **नित्य** है), किन्तु वह **काम्य** व्रत शयनी एवं बोधिनी के मध्य में पड़ने वाली कृष्ण एकादशियों पर भी कर सकता है, किन्तु यदि वह पुत्रवान् हो तो उसे शयनी एवं बोधिनी के मध्य में पड़ने वाली कृष्ण एकादशियों में उपवास नहीं करना चाहिए। विधवा यति के सदृश है; सधवा को केवल शुक्ल पक्ष की एकादशी पर उपवास करना चाहिए। किन्तु यह ध्यान रखने योग्य है कि ये प्रतिबन्ध वैष्णवों के लिए नहीं हैं (देखिए ए० त०, पृ० ३८; हेमाद्रि, काल, पृ० १८१), उन्हें सभी एकादशियों पर उपवास करना होता है। हेमाद्रि (व्रत, भाग १, पृ० ९९९) का मत है कि सभी को दोनों पक्षों की एकादशियों पर उपवास करने का अधिकार है।

इस भाग के द्वितीय अध्याय में व्रतों की अतिशय प्रशंसा एवं महिमा के विषय में प्रकाश डाला जा चुका है। प्रायश्चित्तस्वरूप उपवासों के विषय में हमने इस ग्रन्थ के चौथे भाग में पढ़ लिया है। एकादशी पर किये जाने वाले उपवास की अतिशय प्रशंसा में पुराणों एवं निबन्धों में विस्तार के साथ अत्युक्तियाँ भरी पड़ी हैं। नारद-पुराण

२. न्याय यह है—"नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवृत्ता अपि तु विधेयं स्तोतुम्" (देखिए तन्त्रवार्तिक, जैमिनि १।२।७, पृ० ११५)। शबर अधिक स्पष्ट हैं—"नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रयुज्यते। किं तर्हि। निन्दितादितरत् प्रशंसितुम्। तत्र न निन्दितस्य प्रतिषेधो गम्यते किंत्वितरस्य विधिः। शबरभाष्य (जैमिनि, २।४।२१)।

में एकादशी-माहात्म्य पर एक लम्बी उक्ति है (हेमाद्रि, काल, पृ० १४६; का० नि०, पृ० २७३-२७४)। कुछ श्लोकों का अर्थ यों है—'एकादशीव्रत से उत्पन्न अग्नि से सहस्रों जीवनों में किये गये पापों का ईंधन जलकर भस्म हो जाता है। अश्वमेध एवं वाजपेय जैसे सहस्रों यज्ञ एकादशी पर किये गये उपवास के सोलहवें अंश तक भी नहीं पहुँच सकते। यह एकादशी स्वर्ग एवं मोक्ष प्रदान करती है, राज्य एवं पुत्र देती है, अच्छी पत्नी देती है और शरीर को स्वास्थ्य देती है। गंगा, गया, काशी, पुष्कर, कुरुक्षेत्र, नर्मदा, देविका, यमुना, चन्द्रभागा हरि के दिन के समान नहीं हैं।' देखिए पद्मपुराण (आदिखण्ड, ३१।१५७, १६०, १६१ एवं १६२)। अनुशासन (१०७।१३६, १३७ एवं १३९) में उपवास की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा है। पद्म० (ब्रह्मखण्ड, १५।२-४) में आया है—'एकादशी नाम श्रवण मात्र से यमदूत शंकित हो जाते हैं। सभी व्रतों में श्रेष्ठ शुभ एकादशी पर उपवास करके हरि को प्रसन्न करने के लिए रात्रि भर जागना चाहिए और विष्णुमन्दिर के मण्डप को पर्याप्त रूप से सजाना चाहिए। जो व्यक्ति तुलसीदलों से हरिपूजा करता है वह एक दल से ही करोड़ों यज्ञों का फल प्राप्त करता है।' वराह० (अध्याय ३०) में आया है कि ब्रह्मा ने कुबेर को एकादशी दी और उसने (कुबेर ने) उसे उस व्यक्ति को दिया जो संयमित रहता है, शुद्ध रहता है, केवल वही खाता है जो पका हुआ नहीं है; कुबेर प्रसन्न होने पर सब कुछ देता है। पद्म० (ब्रह्मखण्ड, १३।५३) ने एक नारी का आख्यान लिखा है—वह अति झगड़ालू थी, अपने प्रेमी के विषय में सोचती थी और इसके कारण वह अपने पति द्वारा निन्दित हुई और पीटी गयी। वह क्रोधित होकर बिना भोजन किये रात्रि में मर गयी। वह उपवास करने के कारण (जो जान-बूझ कर या प्रसन्नतापूर्वक नहीं किया गया था, प्रत्युत क्रोधावेश में किया गया था) शुद्ध हो गयी। गरुड़पुराण (१।१२७।१२) में आया है कि यदि एक पलड़े पर सम्पूर्ण पृथिवी का दान रखा जाय और दूसरे पर हरि का दिन (एकादशी) तो एकादशी महापुण्या एवं श्रेष्ठ ठहरती है। आषाढ़ शुक्ल की एकादशी को महा-एकादशी एवं शयनी कहा जाता है।

ऊपर हमने व्रतों के अधिकारियों से सम्बन्धित सामान्य नियमों का उल्लेख कर दिया है, अब यहाँ एकादशी से सम्बन्धित कुछ विशिष्ट नियमों का वर्णन करेंगे। नारद (का० नि०, पृ० २५७; ए० त०, पृ० ३५) ने व्यवस्था दी है—'जो मानव आठ वर्ष से अधिक अवस्था का हो और ८० वर्ष से कम अवस्था का हो, यदि वह मोहवश एकादशी के दिन भोजन कर लेता है, वह पापी होता है।' यही बात कात्यायन में भी है। इन दोनों उल्लेखों से प्रकट है कि सभी जातियों एवं आश्रमों के लोगों को एकादशीव्रत करने का अधिकार है, किन्तु उपर्युक्त वयों (उम्र) की दशाओं का पालन आवश्यक है।

लोगों की दुर्बलताओं को ध्यान में रखकर ऋषियों ने एकादशी पर सम्पूर्ण उपवास के नियम को ढीला कर दिया। नारदपुराण (उत्तरार्ध, २४।७-८) में आया है—'मूल, फल, दूध एवं जल का सेवन मुनीश्वर लोग एकादशी पर कर सकते हैं, किन्तु किसी ऋषि ने ऐसा नहीं प्रदर्शित किया है कि एकादशी पर पका हुआ भोजन खाना चाहिए।' वायुपुराण (का० नि०, पृ० २६१; का० वि०, पृ० ४३१; व० क्रि० कौ०, पृ० ५७) ने व्यवस्था दी है कि रात्रि में हविष्य, भात के अतिरिक्त कोई भोजन, फल, तिल, दूध, जल, घी, पंचगव्य, वायु, इनमें से प्रत्येक आगे वाला अपने से पीछे वाले से (एकादशी पर) अपेक्षाकृत गृहणीय है। वायुपुराण में सम्पूर्ण उपवास (जल भी नहीं) की चर्चा है। बौधायन (हेमाद्रि, काल, पृ० १७६); का० नि०, पृ० २६१) ने घोषित किया है कि जो पूर्ण उपवास के लिए अयोग्य हैं, या जो ८० वर्ष से अधिक वय वाले हैं उन्हें एकभक्त होना चाहिए या अन्य विकल्पों का सहारा लेना चाहिए। मत्स्य० (व० क्रि० कौ०, पृ० ६९) में आया है कि जो एकादशी को उपवास करने में अशक्त हों उन्हें नक्त भोजन करना चाहिए (एक बार रात्रि में), यदि कोई बीमार हो तो वह अपनी ओर से अपने पुत्र या किसी अन्य को उपवास करने को कह सकता है।

मार्कण्डेय (हे०, काल, पृ० १७६; का० नि०, पृ० २६१; का० वि०, पृ० ४३०) ने कहा है कि कोई एकभक्त, नक्त, अयाचित, पूर्णोपवास या दान की विधियों का आश्रय ले सकता है, किन्तु उसे (एकादशी के साथ) द्वादशीव्रत के सम्पादन के फलों से वंचित नहीं होना चाहिए। यहाँ पूर्ण उपवास के स्थान पर बहुत-से विकल्प रखे गये हैं, जिनकी व्याख्या आवश्यक है, किन्तु इसके पूर्व मनु (११।३०, शान्ति० १६५।१७) का एक नियम द्रष्टव्य है—'यदि कोई प्रभु (शक्त) होने पर भी अर्थात् किसी कृत्य की प्रमुख व्यवस्थाओं के योग्य होने पर भी वचनों द्वारा प्रतिपादित विकल्पों का आश्रय लेता है, तो वह दुर्मति है और कृत्य से उत्पन्न पारलौकिक फलों की प्राप्ति नहीं कर सकता।' अतः एकभक्त, नक्त एवं अयाचित का सहारा पारलौकिक फलों की प्राप्ति नहीं करा सकता।' अतः एकभक्त, नक्त एवं अयाचित का सहारा तभी लेना चाहिए जब कि व्यक्ति कठोर व्रत का पालन करने में अशक्त हो। एकभक्त का अर्थ है आधे दिन के उपरान्त केवल एक बार दिन में खाना।

एकभक्त व्रत भी है जो स्वतन्त्र रूप से भी सम्पादित होता है। अनुशासनपर्व (१०६।१७-३०) ने मार्गशीर्ष से कार्तिक तक किये जाने वाले एकभक्त व्रत के लिए फल घोषित किये हैं और अन्य स्थान (१०७।१३-१२६) पर एक मास के तीस दिनों में किये गये व्रत के फलों का विस्तार से उल्लेख किया है (देखिए कृत्यकल्पतरु, पृ० ४५७-४६८, जहाँ अनुशासन० का सम्पूर्ण उद्धरण है; हेमाद्रि, व्रत, भाग २, पृ० ९३० ३१) और देखिए कृत्यकल्पतरु (पृ० ४१९-४२१), कृ० र० (पृ० ४०६-७ और आगे) एवं हे० (व्रत, भाग २, पृ० ७४८ ७९८) जहाँ अनुशासन० (१०६।१७-३०) में विभिन्न स्थानों और मासों में किये जाने वाले एकभक्त का उल्लेख है।

नक्त—लिंगपुराण, नारद एवं अन्य पुराणों में नक्त का वर्णन है (लिंग, पूर्वार्ध, ८३।१०।१२-१३६; नारद०, उत्तर, ४३।११-१२); भीख माँगना उपवास से श्रेष्ठ है, अयाचित भोजन भीख से उत्तम है, नक्त अयाचित से उत्तम है, अतः नक्त-विधि करनी चाहिए। हविष्य खाना, स्नान, सत्यता, अल्प भोजन, अग्नि में आहुतियाँ देना, भूमिशयन—ये छः नक्त व्रत में किये जाने चाहिए। नक्त के समय के विषय में विभिन्न मत हैं। हेमाद्रि (काल, पृ० ११२-११५) ने नक्त काल का वर्णन विस्तार के साथ किया है। प्रथम नियम यह है कि नक्त व्रत में विद्धा होने पर वही तिथि ग्राह्य होती है जो प्रदोष में होती है। स्कन्द० के अनुसार सूर्यास्त के उपरान्त ६ घटिकाओं तक प्रदोष-अवधि रहती है, किन्तु विश्वादर्श के मत में यह सूर्यास्त के उपरान्त ३ घटिकाओं की होती है। पुरुषार्थचिन्तामणि ने दूसरी अवधि को प्रदोष की उचित अवधि ठहराया है। कुछ लोगों ने तारागण के प्रकट हो जाने की अवधि में नक्त को उचित ठहराया है और कुछ लोगों ने सूर्यास्त के पूर्व एक प्रहर (दो घटिका) की अवधि ठीक मानी है। वास्तव में मुख्य काल वही है जब तारे प्रकट हो जाते हैं, अन्य काल गौण हैं। नक्त के दो अर्थ हैं—प्रथम काल-अवधि तथा दूसरा नक्त-काल में भोजन-ग्रहण। उपवास के अतिरिक्त नक्त एक विशिष्ट व्रत भी है। देखिए व्रतों की तालिका।

अयाचित का तात्पर्य है ऐसा भोजन करना जो बिना माँगे या प्रार्थना किये प्राप्त होता है। संकल्प यह है—'रात या दिन में मैं माँगकर या प्रार्थना करके प्राप्त कर भोजन नहीं करूँगा।' इसके लिए कोई निश्चित काल नहीं है, क्योंकि किसी भी समय किसी द्वारा भोजन लाया जा सकता है। किन्तु ऐसा भोजन केवल एक बार किया जाता है। यदि पत्नी या भृत्य बिना किसी निर्देश के पका भोजन ले आयें तो उसे ही खाना चाहिए।

'एकभक्त', 'नक्त' एवं 'अयाचित' शब्द प्राचीन काल में प्रायश्चित्तों (यथा कृच्छ्र) के सिलसिले में प्रयुक्त होते थे, जो कालान्तर में पुराणों द्वारा उपवास के विषय में प्रयुक्त हो गये (देखिए आप० ध० सू० १।९।२७।७; गौतम, २६।१-५; याज्ञ० ३।३१८)।

पद्मपुराण (उत्तरखण्ड, अध्याय ३६) ने एकादशी के जन्म की एक कल्पनात्मक गाथा दी है।

पुराणों की अत्युक्तियों को छोड़ दिया जाय तो एकादशी पर किये जाने वाले उपवास की अन्तर्हित धारणा आध्यात्मिक सिद्ध होती है। यह मन का अनुशासन है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रसन्नतापूर्वक उपवास करने से मनुष्य को गर्हित वासनाओं से निवृत्ति मिलती है और मन की ऐसी अवस्था हो जाती है जब कि परमात्मा का अनुग्रह प्राप्त होता है। देखिए भगवद्गीता (२।५९)।[३] बृहदारण्यकोपनिषद् में आया है—'ब्राह्मण लोग वेदाध्ययन, यज्ञों, दानों एवं निराहार से उस महान् आत्मा को जानने की इच्छा रखते हैं।'[४]

एकादशी पर उपवास दो प्रकार का होता है—प्रथम वह है जिसमें निषेध का परिपालन होता है, यथा पका भोजन न ग्रहण करना, और दूसरा है व्रत का रूप। प्रथम में सभी लोग, यहाँ तक कि पुत्रवान् गृहस्थ भी, कृष्ण पक्ष में भी इसे करते हैं, किन्तु दूसरे में सन्ततिमान् गृहस्थ इसे कृष्ण पक्ष में नहीं करता; उसे संकल्प नहीं करना चाहिए, उसे केवल भोजन (पका भोजन) नहीं करना चाहिए, किन्तु ब्रह्मचर्य आदि का पालन करना चाहिए। शयनी एवं बोधिनी के मध्य कृष्ण पक्षों की एकादशियों पर पुत्रवान् गृहस्थों को भी यह व्रत करने का अधिकार है। इसी प्रकार जो विष्णु में लय हो जाना चाहते हैं, लम्बी आयु चाहते हैं, पुत्र चाहते हैं उन्हें दोनों पक्षों की एकादशियों पर काम्य व्रत करना चाहिए। वैष्णव गृहस्थों को कृष्ण पक्ष की एकादशियों पर भी उपवास करना चाहिए। एकादशी व्रत सभी के लिए नित्य है, यहाँ तक कि शिव, विष्णु एवं सूर्य के भक्तों के लिए भी। व्रत रूप में भी उपवास के दो प्रकार हैं, नित्य एवं काम्य। संक्षेप में निर्णयसिन्धु एवं धर्मसिन्धु में उल्लिखित ये ही नियम हैं। केवल उपवास एवं उपवास-व्रत में मुख्य अन्तर यही है कि प्रथम में कोई संकल्प नहीं होता, व्यक्ति केवल भोजन का त्याग करता है, किन्तु दूसरे में संकल्प होता है और अन्य बातें भी होती हैं।

अब हम एकादशीव्रत का संक्षिप्त वर्णन उपस्थित करेंगे। नारद० (पूर्वार्ध, २३।१२) में निम्न विधि है—दशमी तिथि में व्रती को दन्तधावन क्रिया के उपरान्त स्नान करना चाहिए, विष्णु मूर्ति को पंचामृत से नहलाना चाहिए और उपचारों के साथ उसकी पूजा करनी चाहिए। एकादशी को स्नान करने के उपरान्त उसे मूर्ति को पंचामृत में स्नान कराकर चन्दन, पुष्पों आदि से विष्णु-पूजा करनी चाहिए और मन्त्रोच्चारण करना चाहिए—"एकादश्यां निराहारः स्थित्वा चाहं परेऽहनि। भोक्ष्येऽहं पुण्डरीकाक्ष शरणं मे भवाच्युत॥" (नारद, पूर्वार्ध, २३।१५)। उसे भोजन नहीं करना चाहिए, इन्द्रिय-निग्रह करना चाहिए, विष्णु-मूर्ति के समक्ष पृथिवी पर बैठना चाहिए, विष्णु से सम्बन्धित संगीत, गीत एवं नृत्य में संलग्न जागते रहना चाहिए तथा पुराणोक्त विष्णु-गाथाएँ सुननी चाहिए। द्वादशी को स्नान करके मूर्ति को दूध में स्नान कराकर निम्न प्रार्थना करनी चाहिए—"अज्ञान-तिमिरान्धस्य व्रतेनानेन केशव। प्रसीद सुमुखो भूत्वा ज्ञानदृष्टिप्रदो भव॥" (नारद, पूर्वार्ध, २३।२०; धर्मसिन्धु, पृ० २०; हे०, व्रत, भाग १, पृ० १००७)। इसके उपरान्त ब्राह्मणों को भोजन देना चाहिए तथा यथाशक्ति दक्षिणा देनी चाहिए। तब आह्निक पंचयज्ञ (ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, वैश्वदेव, बलि एवं अतिथिपूजन) करना चाहिए और स्वयं सम्बन्धियों के साथ मौन रूप से भोजन करना चाहिए। उपवास व्रत में संलग्न रहते समय चाण्डालों, महापापियों, नास्तिकों, कदाचरण करने वालों, परनिन्दकों को नहीं देखना चाहिए, उसे वृषली के पति, अयोग्य लोगों के लिए यज्ञ कराने वाले पुरोहित, धन-लिप्सा से मन्दिर-प्रतिमाओं की पूजा करने वाले, धन के लिए गाने

३. विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः। रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥ गीता २।५९।

४. स वा एष महानज आत्मा...तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन। बृह० उप० ४।४।२२।

एवं दवा करने वाले, मागध, देव-ब्राह्मण विरोधी, दूसरे के यहाँ भोजन करने के अभ्यासी या लोभी एवं बलात्कार करने वाले से बात नहीं करनी चाहिए। उपवास व्रत में संलग्न व्यक्ति को शरीर-मन से पवित्र रहना चाहिए, नियन्त्रित रहना चाहिए और सबका भला करने को उद्यत रहना चाहिए। मनु (३।१५२) का कथन है कि धन लेने वाले वैद्यों एवं पूजा-वृत्ति वाले पुजारियों को श्राद्ध में नहीं बुलाना चाहिए। एकादशी व्रत की विधि के विषय में ब्रह्मवैवर्त (४।२६।१-९२) में भी उल्लेख है। यह ध्यान देने योग्य है कि एकादशी व्रत में होम की व्यवस्था नहीं है।

धीरे-धीरे ऊपर वर्णित विधि में बहुत-सी बातें जुड़ती चली गयीं। उपवास व्रत में संलग्न व्यक्ति को तीन दिनों के भीतर चार बार भोजन-त्याग करना चाहिए; दशमी को केवल एक बार मध्याह्न में खाना चाहिए, एकादशी को दोनों काल उपवास करना चाहिए तथा द्वादशी को एक बार भोजन त्याग करना चाहिए। सामान्य नियम यह है कि व्रतों के लिए संकल्प प्रातःकाल किया जाता है, किन्तु एकादशी में निबन्धों ने अपवाद रख दिये हैं। का० नि० (पृ० २६७) के मत से दशमी की रात्रि में नियमों के विषय में संकल्प करना चाहिए। यदि एकादशी दशमी से संयुक्त हो तो उपवास-संकल्प रात्रि में होना चाहिए, यदि दशमी अर्धरात्रि से आगे बढ़ जाय और एकादशी इसमें संयुक्त हो जाय तो संकल्प दूसरे दिन अपराह्न में करना चाहिए। हे० (व्रत, भाग १, पृ० १००६) एवं का० नि० (पृ० २६८) ने व्यवस्था दी है कि पुष्पों आदि से अलंकृत मण्डप में विष्णु-प्रतिमा की पूजा होनी चाहिए। स्कन्द० (हे०, व्रत, भाग १, पृ० १००८) में आया है कि द्वादशी को उपवास तोड़ते समय तुलसीदल से युक्त नैवेद्य ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि इससे करोड़ों हत्याओं के पापों से छुटकारा मिलता है।

मध्यकालीन निबन्धों में एकादशी व्रत की विधि का अतिशय विस्तार किया गया है। देखिए धर्मसिन्धु (पृ० १९)। यहाँ स्थान-संकोच से इसका वर्णन नहीं किया जायगा।

एकादशी का धार्मिक स्वरूप बढ़ता गया और चान्द्र वर्ष के बारह महीनों की चौबीस एकादशियों एवं मलमास की दो एकादशियों को विभिन्न संज्ञाएँ दे दी गयीं। ये संज्ञाएँ कब दी गयीं, कहना सम्भव नहीं है, किन्तु कुछ तो २००० वर्ष प्राचीन हैं।[५] नामों में अन्तर की व्याख्या यहाँ नहीं की जायगी। एक कारण यह प्रतीत होता है कि कुछ पुराणों में मास **पूर्णिमान्त** हैं तो कुछ में **अमान्त**, और पूर्णिमान्त गणना में जो भाद्र कृष्ण है वह अमान्त गणना में श्रावण कृष्ण है।

ज्येष्ठ शुक्ल की एकादशी को **निर्जला** कहते हैं क्योंकि इसमें जल का भी प्रयोग नहीं होता, केवल स्नान करते समय या आचमन करते समय ही जल प्रयोग होता है। ग्रीष्म ऋतु के ज्येष्ठ मास में निर्जल रहना बड़ा कष्ट-साध्य होता है, अतः निर्जला एकादशी की विशिष्ट व्यवस्था की गयी है (हे०, व्रत, भाग १, पृ० १०८९-१०९१)। आषाढ़ शुक्ल की एकादशी की रात्रि से कार्तिक शुक्ल एकादशी के दिन तक चार मासों तक विष्णु शयन करते हैं, अतः इन दो एकादशियों को क्रम से **शयनी** (विष्णु के शयन से सम्बन्धित) एवं **प्रबोधिनी** या प्रबोधनी (विष्णु के

५. चैत्र शुक्ल से लेकर एकादशी के २४ नाम क्रमशः ये हैं—कामदा, वरूथिनी, मोहिनी, अपरा, निर्जला, योगिनी, शयनी, कामिका (या कामदा), पुत्रदा, अजा, परिवर्तिनी, इन्दिरा, पापांकुशा, रमा, प्रबोधिनी (बोधिनी), उत्पत्ति, मोक्षदा, सफला, पुत्रदा, षट्तिला, जया, विजया, आमलकी (या आमर्दकी), पापमोचनी। मलमास की दो एकादशियों के नाम पद्म० ६।६४ एवं ६५ के अनुसार कमला एवं कामदा हैं, किन्तु अहल्याकामधेनु में कैवल्यदा एवं स्वर्गदा हैं।

प्रबोध या जागरण से सम्बन्धित) कहा गया है। वर्षा काल में चार मासों तक भारत के बहुत-से भागों में यातायात की सुविधाएँ प्राचीन काल में नहीं थीं, इसी से सब काम ठप्प हो जाते थे और तभी विष्णु को भी शयन करते हुए परिकल्पित कर लिया गया है। यह भी सम्भव है कि विष्णु-शयन का सम्बन्ध वैदिक आर्यों के पूर्व पुरुषों की उन परिस्थितियों से हो जब कि वे उत्तरी अक्षांशों में रहते थे और जहाँ चार मासों तक सूर्य या तो दिखाई ही नहीं पड़ता था या बहुत ही मन्दा प्रकाश करता था। चार मासों का विष्णु-शयन अन्य रूपों से भी व्याख्यात हो सकता है। ऐसा माना गया है कि विष्णु न-केवल अपने शेष सर्प पर सोते हैं, प्रत्युत वे भाद्रपद की शुक्ल एकादशी को मानवों के सदृश करवट भी बदलते हैं। अतः भाद्रपद की वह एकादशी **परिवर्तिनी** भी कही जाती है। इसी प्रकार अन्य तिथियों में देवों एवं देवियों के शयन की बात उठी है (देखिए राजमार्तण्ड, व० क्रि० कौ०, पृ० २८५-२८६ में उद्धृत)। विष्णु-शयन की तिथियों के विषय में भी अन्तर्भेद पाया जाता है, किसी मत से एकादशी को, किसी से द्वादशी को तथा तीसरे मत से आषाढ़ शुक्ल की १५वीं तिथि को विष्णु शयन करते हैं। वन० (२०३।१२) के मत से विष्णु शेष के फण पर सोते हैं। कालिदास में भी शयन का उल्लेख है (मेघदूत)। बहुत-से कारणों के आधार पर यह सिद्ध किया जा सकता है कि विष्णु-शयन की अनुश्रुति कम-से-कम २००० वर्ष प्राचीन है।

पुराणों एवं निबन्धों में देवों के शयन की तिथियों के विषय में बड़ा विस्तार पाया जाता है। वामन० (१६।६-१६) में आया है—'आषाढ़ की एकादशी को विष्णु के शयन के लिए शेष नाग के फणों के समान शय्या बनानी चाहिए, शुद्ध होकर द्वादशी को आमन्त्रित ब्राह्मणों से आज्ञा लेकर भगवान् को सुलाना चाहिए।' पुराणों में ऐसा आया है कि कामदेव आषाढ़ की त्रयोदशी को कदम्ब पुष्पों पर सोते हैं, यक्ष लोग चतुर्दशी को, शिव पूर्णिमा को व्याघ्र-चर्म पर, और ब्रह्मा, विश्वकर्मा, पार्वती, गणेश, यम, स्कन्द, सूर्य, कात्यायनी, लक्ष्मी, नागराज एवं साध्य लोग क्रम से कृष्ण पक्ष की प्रथमा से एकादशी की तिथियों में सोते हैं। का० वि० (पृ० २२५), हेमाद्रि (काल, पृ० ८८८-८८९) के उद्धरणों से पता चलता है कि पवित्रारोपण (देवों को जनेऊ देना) एवं शयन के लिए कुबेर, लक्ष्मी, भवानी, गणेश, सोम, गुह, भास्कर, दुर्गा, माताएँ, वासुकि, ऋषिगण, विष्णु, काम एवं शिव क्रम से प्रथमा से लेकर चतुर्दशी तक की तिथियों के स्वामी हैं।

एक आवश्यक नियम स्मरण रखने योग्य है कि जिसका जो नक्षत्र हो या जिस तिथि का जो स्वामी हो, शयन, करवट-परिवर्तन तथा अन्य कार्य (जागरण आदि) उसी तिथि एवं नक्षत्र में होते हैं। शयन की तिथियों के विषय में प्रभूत मतभेद है। विस्तार-भय से हम इसे यहीं छोड़ते हैं।

एकादशी व्रत के अधिकारियों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं, वैष्णव एवं स्मार्त। पद्म० (३।१।२०-३२, ४।१०।६५-६६, ६।२५२।७४, ६।५९), विष्णु० (३।७।२०-३३, ३।८।९-१९), भागवत एवं कुछ निबन्धों में 'वैष्णव' शब्द परिभाषित है। वैष्णव वह है जो वैखानस, पांचरात्र आदि सम्प्रदायों के वैष्णव आगमों के अनुसार दीक्षा लिये रहता है। वैष्णव-परिभाषा के लिए देखिए स्कन्दपुराण एवं प्रो० एस्० के० दे द्वारा लिखित 'वैष्णव फेथ एवं मूवमेण्ट' (पृ० ३६४-३६६ एवं ४१३)।

जब एकादशी दशमी एवं द्वादशी से संयुक्त होती है तो किस तिथि पर उपवास किया जाय? इस प्रश्न का उत्तर व्यक्ति के वैष्णव एवं स्मार्त होने पर निर्भर है। इस विषय में जो नियम हैं, वे बड़े गूढ़ हैं और हम स्थान-संकोच से उनका विवेचन छोड़ रहे हैं। देखिए हे० (काल, पृ० २०६-२८८), का० नि० (पृ० २३३-२५६), ति० त० (पृ० १०४-१०८), स० प्र० (पृ० ६६-७४), नि० सि० (पृ० ३७-४४), स्मृतिमुक्ताफल (काल, पृ० ८३९-८४४) एवं ध० सि० (पृ० १६-१९)।

अन्य तिथियों की भाँति एकादशी भी दो प्रकार की होती है, यथा **सम्पूर्णा** एवं **विद्धा** या **खण्डा**। जब तिथि ६० घटिकाओं की हो और सूर्योदय से आरम्भ हो तो उसे सम्पूर्णा कहते हैं। गरुड़० एवं भविष्य० के मत से वही एकादशी सम्पूर्णा है जो सूर्योदय के पूर्व दो मुहूर्तों (अर्थात् ४ घटिका पूर्व) से आरम्भ होती है और जब वह दिन भर रहने वाली होती है।

नारद एवं अन्य पुराणों ने दशमी से संयुक्त एकादशी की निन्दा की है। गान्धारी ने दशमी से संयुक्त एकादशी को उपवास किया, अतः उसके सौ पुत्र महाभारत में मारे गये। नारद० (पूर्वार्ध, अध्याय २९) ने एकादशी एवं द्वादशी का विवेचन किया है।

ब्रह्मवैवर्तपुराण (हे०, काल, पृ० २५५-२५९) में एकादशी के चार वेधों का उल्लेख है, यथा अरुणोदय-वेध, अतिवेध, महावेध एवं योग। किन्तु यहाँ पर इनका वर्णन नहीं किया जायगा। वैष्णवों के लिए दशमी के सूर्योदय के उपरान्त ५६ घटिकाओं से अधिक विस्तृत होने पर जब एकादशी का आरम्भ हो जाता है और वह दूसरे दिन पूरे दिन भर रहती है तब इसी को अरुणोदय-वेध कहा जाता है, और वैष्णव लोग ऐसी एकादशी को जो अरुणोदय वेध के उपरान्त आती है, उपवास नहीं कर सकते। यही बात तब भी होती है जब दशमी सूर्योदय के पूर्व ३, २ या १ घटिका तक चली आयी रहती है या दशमी तब तक रहती है जब तक सूर्य उदित होता रहता है और एकादशी का आरम्भ होता है (अर्थात् जब एकादशी सूर्योदयवेध वाली रहती है)। ऐसी स्थिति में भी उपवास नहीं होता, प्रत्युत वह द्वादशी को होता है। यदि द्वादशी तीन दिनों तक रहती है तो उसी दिन उपवास होता है जिस दिन द्वादशी सम्पूर्णा होती है और दूसरे दिन जब द्वादशी का अन्त होता है, पारण किया जाता है। उपर्युक्त दशाओं के अतिरिक्त अन्य स्थितियों में एकादशी के दिन उपवास तथा द्वादशी के दिन पारण होता है। नारद० (पूर्वार्ध, २०। ४५) में आया है कि जब दो एकादशियाँ हों, चाहे शुक्ल पक्ष में या कृष्ण पक्ष में, गृहस्थ को प्रथम में तथा यतियों को दूसरी में उपवास करना चाहिए। संन्यासियों एवं विधवाओं के लिए वैष्णवों के नियम ही व्यवस्थित हैं। स्मार्त (वैष्णवों के अतिरिक्त अन्य) लोग अरुणोदयवेध से प्रभावित नहीं होते, वे सूर्योदयवेध का सिद्धान्त अपनाते हैं, अर्थात् यदि सूर्योदय के पूर्व दशमी हो और एकादशी सूर्योदय से आरम्भ होती हो तो स्मार्त लोग एकादशी को उपवास करते हैं।

भोजन, शारीरिक एवं मानसिक कार्यों के विषय में कुछ प्रतिबन्ध हैं जो कि संकल्प से लेकर पारण तक एकादशी व्रत में चलते रहते हैं (हे०, व्रत, भाग १, पृ० १००८)। किसी व्यक्ति के मृत हो जाने पर भी यह व्रत नहीं टूटता। क्षमा, सत्य, दया, दान, शौच, इन्द्रिय निग्रह, देव-पूजा, होम, सन्तोष एवं अस्तेय नामक सामान्य धर्म सभी व्रतों में पालित होते हैं। दशमी, एकादशी एवं द्वादशी पर विभिन्न नियम हैं, किन्तु ये एक-दूसरे से मिल-से जाते प्रकट होते हैं। दशमी के लिए शाक, मांस, मसूर की दाल, (एकभक्त के उपरान्त) पुनर्भोजन, मैथुन, द्यूत, अधिक जलसेवन—वैष्णव लोगों को इनका त्याग करना चाहिए। मत्स्य० (हे०, काल, पृ० १९३) के अनुसार निम्न बारह त्याज्य हैं—काँसे के पात्र, मांस, सुरा, क्षौद्र (मधु), तैल, असत्य भाषण, व्यायाम, प्रवास (यात्रा), दिवास्वाप (दिन का शयन), धनार्जन, तिलपिष्ट, मसूर की दाल।

एकादशी व्रत के उपवास के दिन बहुत-से प्रतिबन्ध हैं, आगे कुछ दिये जाते हैं—पतितों, पाखण्डों, नास्तिकों आदि से सम्भाषण, असत्य भाषण, द्यूत आदि। व्रत के दिन अन्त्यजों एवं ग्राम के बाहर रहने वालों से न बात करना तथा न उन्हें देखना, रजस्वला, पातकियों, सूती नारियों (जिसने हाल ही में जनन किया हो) से भी सम्भाषण करना या उनको देखना वर्जित है। और देखिए देवल (कृत्यकल्प, व्रत, पृ० ४, कृ० र०, पृ० ५७ आदि में उद्धृत), राज-मार्तण्ड (११६७) एवं व्यास (गरुड़०, १।१२८।६७; हे०, काल०, पृ० २०१)।

द्वादशी के दिन विष्णु-पूजा होती है और निम्न बातें नहीं की जाती हैं, यथा दिन-शयन, दूसरे का भोजन, दोपहर के उपरान्त पुनर्भोजन, मैथुन, मधु, काँसे के बरतन का प्रयोग, मांस एवं तैल का प्रयोग। और देखिए ब्रह्म-पुराण (हे०, काल, पृ० २०३)।

कुछ पुराणों (यथा ब्रह्मवैवर्त) ने आठ प्रकार की द्वादशियों का उल्लेख किया है, यथा उन्मीलनी, वञ्जुली, त्रिस्पर्शा, पक्षवर्धिनी, जया, विजया, जयन्ती एवं पापनाशिनी। देखिए हे० (काल, पृ० २६०-२६३), नि० सि० (४३), स्मृ० कौ० (२५०-२५४) आदि। अन्य विस्तार यहाँ छोड़ा जा रहा है।

उद्यापन या पारण या पारणा के साथ एकादशी व्रत का अन्त होता है। 'पारण' शब्द की व्युत्पत्ति कुछ लोगों ने "पार कर्मसमाप्तौ" धातु से की है, जिसका अर्थ है 'किसी कृत्य को समाप्त करना।' कूर्म० के अनुसार एकादशी को व्रत एवं द्वादशी को पारण होना चाहिए। किन्तु त्रयोदशी को पारण नहीं होना चाहिए, क्योंकि वैसा करने से १२ द्वादशियों के पुण्य नष्ट हो जाते हैं। किन्तु ऐसी व्यवस्था होने पर भी कुछ विधियों में त्रयोदशी को पारण हो सकता है। यदि एक दिन पूर्व से एकादशी दशमी से संयुक्त हो और दूसरे दिन की द्वादशी से भी संयुक्त हो तो उपवास द्वादशी को होता है, किन्तु यदि उपवास के उपरान्त द्वादशी न हो तो त्रयोदशी के दिन पारण होता है। सामान्य नियम यह है कि सभी व्रतों में पारण प्रातःकाल होता है।

अध्याय ६

चातुर्मास्य

आषाढ़ शुक्ल एकादशी या द्वादशी या पूर्णिमा को या उस दिन जब सूर्य कर्क राशि में प्रविष्ट होता है, **चातुर्मास्य** व्रत का आरम्भ किया जाता है।[1] यह चाहे जब आरम्भ हो, कार्तिक शुक्ल द्वादशी को समाप्त हो जाता है। व्रती को उस दिन उपवास एवं देव-पूजा करके ऐसा कहना चाहिए—'हे देव, मैंने यह व्रत आपकी उपस्थिति में लिया है, यदि आप मेरे प्रति अनुग्रह करें तो यह निर्विघ्न समाप्त हो जाय; व्रत ग्रहण के उपरान्त बीच ही में मैं मर जाऊँ तो आपके अनुग्रह से यह पूर्णरूपेण समाप्त माना जाय' (गरुड़० १।१२१।२-३)। जब गुरु (बृहस्पति) या शुक्र अस्त हो जायँ तब भी इसका आरम्भ किया जा सकता है। चार मासों तक व्रती को कुछ खाद्य पदार्थ त्याग देने होते हैं, यथा श्रावण में शाक, भाद्रपद में दही, आश्विन में दूध एवं कार्तिक में दालें। कुछ लोगों के मत से कुछ या सभी प्रकार के शाक त्यागने होते हैं। व्रती को शय्या-शयन, मांस, मधु आदि भी त्यागने पड़ते हैं। व्रत समाप्त होने पर व्रती ब्राह्मणों को निमन्त्रित कर भोजन कराता है और दक्षिणा देता है और प्रार्थना करता है—'हे प्रभु, आपको प्रसन्न करने के लिए मेरे द्वारा यह व्रत लिया गया था; हे जनार्दन, जो भी दोष हो, आपकी कृपा से यह पूर्ण हो।' यह व्रत आज भी, विशेषतः नारियों द्वारा सम्पादित होता है। चातुर्मास्य व्रत में कुछ वस्तुओं के त्याग के फलों के विषय में कृत्यतत्त्व (पृ० ४३५), व्रतार्क, व्रत प्रकाश एवं अन्य मध्यकालिक निबन्धों में मत्स्य० एवं भविष्य० (११६-९) के लम्बे-लम्बे उद्धरण पाये जाते हैं। कुछ वचन निम्न हैं—'गुड़-त्याग से मधुर स्वर प्राप्त होता है, तैल-त्याग से अंग सुन्दर हो जाते हैं, घृत-त्याग से सौन्दर्य मिलता है, शाक-त्याग से बुद्धि एवं बहुपुत्र प्राप्त होते हैं, शाक एवं पत्रों के त्याग से पक्वान्न की प्राप्ति होती है तथा दधि-दुग्ध-त्याग से व्यक्ति गौओं के लोक में जाता है।[2]

१. चातुर्मासिकव्रतग्रहणे कालचतुष्टम्। आषाढी पौर्णमासी शुक्ला एकादशी द्वादशी कर्कटसंक्रान्तिश्च। का० वि० (पृ० ३३२); हे० (व्रत, भाग २, पृ० ८०६); ति० त० (पृ० १११); गरुड़ (१।१२१।१) ने एकादशी एवं आषाढ़ी पौर्णमासी को चातुर्मास्य व्रत कहा है।

२. चतुरो वार्षिकान् मासान् देवस्योत्थापनावधि। मधुस्वरो भवेन्नित्यं नरो गुडविवर्जनात्। तैलस्य वर्जनादेव सुन्दरांगवाप्नुप्रजायते। कटुतैलपरित्यागात् शत्रुनाशमनानुयात्। ताम्बूलवर्जनाद् भोगी रक्तकण्ठः प्रजायते। घृतत्यागात्सुलावण्यं सर्वं स्निग्धं वपुर्भवेत्। फलत्यागाच्च मतिमान् बहुपुत्रः प्रजायते। शाकपत्राशनत्यागात् पक्वान्नादो नरो भवेत्।...दधिदुग्धपरित्यागाद्गोलोकं लभते नरः॥ व्रतप्रकाश, कृत्यतत्त्व (पृ० ४३५)।

७

वैदिक काल में चातुर्मास्य नामक यज्ञ होते थे जो फाल्गुन (या चैत्र), आषाढ़ एवं कार्तिक की पूर्णिमा के दिवसों में सम्पादित होते थे और क्रम से वैश्वदेव, वरुणप्रघास एवं साकमेध नाम से पुकारे जाते थे (शुनासीरीय नामक चौथे यज्ञ की चर्चा यहाँ नहीं होगी)। देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २। आप० श्रौ० सूत्र (८।४।१३) में स्पष्ट रूप से आया है कि वैश्वदेव (चातुर्मास्य के पर्व) का सम्पादन वसन्त में तथा वरुणप्रघास का वर्षा ऋतु में होता है। यह ध्यान में रखने योग्य है कि इन ऋतु-सम्बन्धी यज्ञों में व्रती को कुछ कृत्यों का त्याग करना होता था, यथा शय्या-शयन, मांस, मधु, नमक, मैथुन एवं शरीरालंकरण जो एकादशीव्रत के प्रतिबन्धों से मिलते हैं। याज्ञ० (१।१२५) ने सोम यज्ञ को धनिक के लिए प्रति वर्ष करने की व्यवस्था दी है (अर्थात् इसे नित्य ठहराया है)। यही बात प्रत्येक अयन में पशुबन्ध के लिए तथा आग्रयणेष्टि (जो नवान्न होने पर किया जाता है) एवं चातुर्मास्यों के लिए भी प्रयुक्त हुई है। यहाँ पर वैदिक चातुर्मास्यों की ओर संकेत किया गया है। ये पौराणिक काल के चातुर्मास्य व्रत नहीं हैं।

याज्ञवल्क्यस्मृति में 'व्रत' शब्द प्रायश्चित्त के अर्थ में प्रयुक्त है (३।२५१, २५२, २५४, २६६, २६९, २८२, २९८, ३००)। उसमें 'व्रत' शब्द ब्रह्मचर्य के अर्थ में भी आया है (यथा ३।१५); और भोजन-व्यवस्था के अर्थ में भी 'व्रत' का प्रयोग है (३।२८९)। कहीं भी किसी दिन (तिथि), नक्षत्र आदि में किये जाने वाले कृत्यों के अर्थ में 'व्रत' शब्द नहीं आया है, जैसा कि हम पुराणों में पाते हैं। इससे प्रकट होता है कि याज्ञवल्क्यस्मृति के काल तक पुराणों में वर्णित व्रतों को प्रधानता नहीं प्राप्त हो सकी थी। इसके १००० से अधिक श्लोकों में कोई भी पौराणिक अर्थ में 'व्रत' शब्द का प्रयोग नहीं करते।

अध्याय ७

नागपञ्चमी, मनसापूजा, रक्षाबन्धन, कृष्णजन्माष्टमी

श्रावण मास में बहुत से महत्त्वपूर्ण व्रत किये जाते हैं, जिनमें शुक्ल पक्ष की पंचमी को किया जाने वाला नागपंचमी व्रत प्रसिद्ध है। भारत के सभी भागों में नागपंचमी विभिन्न प्रकार से सम्पादित होती है। कुछ लोगों के मत से वर्ष भर के सर्वोत्तम शुभ ३½ दिनों में नाग पंचमी ½ शुभ दिन है। किन्तु कुछ लोग यह महत्त्व अक्षयतृतीया को देते हैं, जैसा कि हमने इस भाग के चौथे अध्याय में देख लिया है। भविष्य (ब्रह्म पर्व, ३२।१-३९) में नागपंचमी का विस्तार के साथ उल्लेख है (कृ० क०, व्रत, पृ० ८७ ९० ; हे०, व्रत, भाग १, पृ० ५५७-५६०)। संक्षेप में यहाँ उल्लेख किया जाता है----जब लोग पंचमी को दूध से वासुकि, तक्षक, कालिय, मणिभद्र, ऐरावत, धृतराष्ट्र, कर्कोटक एवं धनञ्जय नामक सर्पों को नहलाते हैं तो ये नाग उनके कुटुम्बों को अभयदान दे देते हैं। भविष्य० (१।३२) में यह कथा आयी है--- नागों की माता कद्रू ने अपनी बहिन विनता से बाजी लगायी कि इन्द्र के घोड़े उच्चैःश्रवा की पूँछ काली है। विनता के अनुसार पूँछ एवं शरीर दोनों सफेद थे, किन्तु कद्रू कहती थीं कि पूँछ काली है किन्तु घोड़ा श्वेत है। कद्रू ने अपने पुत्रों से पूँछ में लिपट जाने को कहा जिससे वह काली दृष्टिगोचर हो, किन्तु उन्होंने इस धोखेबाजी से अपने को विलग रखा, जिस पर कद्रू ने उन्हें शाप दिया कि तुम्हें अग्नि जला डालेगी (जनमेजय के सर्पसत्र में)। लोगों को चाहिए कि वे नागों की सोने, चाँदी या मिट्टी की प्रतिमाएँ बनायें और करवीर एवं जाती पुष्पों तथा गंधादि से उनकी पूजा करें। पूजा का परिणाम होगा सर्प-दंश से मुक्ति। और देखिए भविष्योत्तर पुराण (अध्याय ३६) एवं हेमाद्रि (काल, पृ० ६२१); का० वि० (पृ० ४१३); कृ० र० (पृ० २३४)। सौराष्ट्र में नागपंचमी श्रावण कृष्ण पक्ष में सम्पादित होती है।

बंगाल एवं दक्षिण भारत में (महाराष्ट्र में नहीं) मनसा देवी-पूजन होता है जो अपने घर के आँगन में स्नुही (थूहर) की टहनी पर श्रावण के कृष्ण पक्ष की पंचमी को किया जाता है। देखिए राजमार्तण्ड, समयप्रदीप, कृत्यरत्नाकर, तिथितत्त्व आदि। सर्वप्रथम सर्प-भय से दूर रहने के लिए मनसा देवी-पूजन का संकल्प होता है, तब गन्ध, पुष्प, धूप, दीप एवं नैवेद्य दिया जाता है और तब अनन्त एवं अन्य नागों की पूजा होती है जिसमें प्रमुख रूप से दूध-घी का नैवेद्य चढ़ाया जाता है। घर में नीम की पत्तियाँ रखी जाती हैं, स्वयं व्रती उन्हें खाता है और ब्राह्मणों को भी खिलाता है। ब्रह्मवैवर्तपुराण (२।४५-४६) ने मनसा देवी के जन्म, उसकी पूजा, स्तोत्र (प्रशंसा) के विषय में उल्लेख किया है।

दक्षिण भारत में श्रावण शुक्ल पंचमी को काठ की चौकी पर लाल चन्दन से सर्प बनाये जाते हैं या मिट्टी के पीले या काले रंगों के साँपों की प्रतिमाएँ बनायी या खरीदी जाती हैं और उनकी पूजा दूध से की जाती है। विभिन्न प्रकार के साँपों को लेकर सँपेरे घूमते रहते हैं, उनके साँपों को लोग दूध देते हैं और उन्हें धन भी देते हैं।

यदि पंचमी चतुर्थी या षष्ठी से संयुक्त हो तो षष्ठी से संयुक्त पंचमी को वरीयता प्राप्त होती है। व्रतकालविवेक में आया है कि हस्त नक्षत्र में या उससे विहीन ज्येष्ठ शुक्ल दशमी को मनसाव्रत किया जाता है जिससे मनसा देवी विषधर सर्पों से व्रती की रक्षा करती हैं।[१]

भारत में सर्प-पूजा का आरम्भ कब हुआ यह एक कठिन समस्या है। ऋग्वेद में इस विषय में कोई संकेत नहीं मिलता। इतना अवश्य आया है कि इन्द्र अहि (सर्प) के शत्रु हैं (ऋ० २।३०।१, २।१९।३)। अहि-हत्या की चर्चा भी हुई है (ऋ० १।१६५।६, ३।४७।४)। और देखिए फण वाले अहिः को (ऋ० ६।७५।१४)। बृ० उप० (४।४।७ एवं प्रश्न० ४।५) में साँप ('पादोदर', जिसके पाँव शरीर के भीतर होते हैं) के केंचुल का उल्लेख है। और देखिए (ऋ० ९।८६।४४)। तै० सं० (४।२।८।३) एवं वाज० सं० (१३।६-८) में सर्पों को नमस्कार किये जाने की ओर संकेत है। अथर्ववेद (८।१४।१३-१५) में तक्षक एवं धृतराष्ट्र नामक सर्पों के नाम आये हैं। काठक सं० (५-६) ने पितरों, सर्पों, गन्धर्वों, जलों एवं ओषधियों को 'पंचजन' कहा है, किन्तु ऐत० ब्रा० (१३।७) ने देवों, मनुष्यों, गन्धर्वों, अप्सराओं, सर्पों एवं पितरों को 'पंचजन' माना है। इससे प्रकट है कि पश्चात्कालीन वैदिक काल में सर्प लोग गन्धर्वों के समान एक जाति के अर्थ में लिये जाने लगे थे।

आश्व० गृ० (२।१।१-१५), पारस्कर गृ० (२।१४) एवं अन्य गृह्यसूत्रों में श्रावण की पूर्णिमा को 'सर्पबलि' कृत्य किये जाने का उल्लेख है। देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड २। महाभारत में नागों का बहुल उल्लेख है। आदि० (३५ वाँ अध्याय) ने बहुत-से नागों (शेष से आरम्भ कर) का उल्लेख किया है और इसके १२३।७१ में तथा उद्योग० (१०३।९-१६) में नागों के बहुत नाम आये हैं। अर्जुन ने जब १२ वर्ष के ब्रह्मचर्य का व्रत लिया था तो वे नागों के देश (ऐसी जाति जिसका चिह्न 'नाग' था) में गये थे और अपनी ओर आकृष्ट नागकुमारी उलूपी से विवाह किया था। अश्वमेध के अश्व की रक्षा में आये हुए अर्जुन से मणिपुर में चित्रांगदा के पुत्र बभ्रुवाहन ने युद्ध किया और अर्जुन को मार डाला, जो संजीवन रत्न से पुनर्जीवित किये गये (आश्वमेधिक पर्व, अध्याय ७९-८१)। सर्पों का सम्बन्ध विष्णु एवं शिव दोनों से है। विष्णु शेष नाग के फण की शय्या पर सोते हैं और शिव नागों को गले में यज्ञोपवीत के रूप में रखते हैं (वनपर्व २०३।१२, २७२।३८-३९; अनुशासन० १४।५५)।[२] भगवद्गीता (१०।२८-२९) में भगवान् कृष्ण ने अपने को 'सर्पों' में वासुकि तथा 'नागों' में अनन्त कहा है। 'सर्प' एवं 'नाग' में क्या अन्तर किया गया है, स्पष्ट नहीं हो पाता। सम्भवतः 'सर्प' शब्द सभी रेंगने वाले जीवों तथा 'नाग' फन या फण वाले साँप के लिए प्रयुक्त है। पुराणों में नागों के विषय में बहुत-सी कथाएँ हैं। देखिए वोगेल कृत 'इण्डिएन सर्पेण्ट लोर' (१९२६) जहाँ महाभारत, पुराणों एवं राजतरंगिणी के आधार पर कष्टसाध्य शोध-कार्य उपस्थित किया गया है। सम्भवतः वर्षा ऋतु में सर्प-दंश से बहुत-से लोग मर जाया करते थे, अतः सर्प-पूजा का आरम्भ सर्प-भय से ही हुआ। आजकल भी प्रति वर्ष प्रायः १०,००० व्यक्ति भारत में सर्प-दंश से मृत हो जाते हैं,

१. यथा कृत्यकामधेनुधृतो व्यासः। ज्येष्ठशुक्लदशम्यां तु हस्तर्क्षे ब्रह्मरूपिणी। कश्यपान्मनसा देवी जातेति मनसा स्मृता। तस्मात्तां पूजयेत्तत्र वर्षे वर्षे विधानतः। अनन्ताद्यष्टनागांश्च नरो नियमतत्परः॥... हस्तनक्षत्रयुतदशाम्यां पूजयेदित्येको विधिः। केवलदशम्यामपीत्यपरश्च। कालविवेक (इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, जिल्द १७, संख्या ४, पूरक पृ० १६)।

२. नागयज्ञोपवीती च नागचर्मोत्तरच्छदः। अनुशासन० (१४।५५)। रुद्र का वर्णन यों है---सहस्रशीर्षा पुरुषः स्वर्भुगुहावस्वतोन्द्रियः। फटासहस्रविकटं शेषं पर्यंकभाजनम्॥ वनपर्व (२७२।३८)।

जब कि जंगली हिंसक पशुओं से केवल ३००० के लगभग लोग मारे जाते हैं। गृह्यसूत्रों में वर्णित सर्पबलि की पूर्णिमा तिथि शुक्ल पक्ष की पंचमी में क्यों परिवर्तित हो गयी, स्पष्ट रूप से कारण नहीं ज्ञात हो पाता। विषुवत् रेखा पर पहले वर्षा हो जाने के थोड़े परिवर्तन के कारण ही ऐसा हो सका होगा। पीपल जैसे पवित्र वृक्षों के नीचे सर्पों की प्रस्तर-प्रतिमाएँ द्रविड़ देश में साधारण रूप से प्राप्त होती हैं। दक्षिण में कुछ नाग-मन्दिर भी पाये जाते हैं, यथा सतारा जिले में बत्तिस शिरालेन एवं हैदराबाद में भोग पराण्देन नामक स्थानों में।

श्रावण की पूर्णिमा को अपराह्ण में एक कृत्य होता है जिसे रक्षाबन्धन कहते हैं। देखिए हे० (व्रत, भाग २, पृ० १९०-१९५), नि० सि० (पृ० १२१), पु० चि० (पृ० २८४-२८५), व्रतार्क। श्रावण की पूर्णिमा को सूर्योदय के पूर्व उठकर देवों, ऋषियों एवं पितरों का तर्पण करने के उपरान्त अक्षत, तिल, धागों से युक्त रक्षा बनाकर धारण करना चाहिए। राजा के लिए महल में एक वर्गाकार भूमि-स्थल पर जल-पात्र रखा जाना चाहिए, राजा को मन्त्रियों के साथ आसन ग्रहण करना चाहिए, वेश्याओं से घिरे रहने पर गानों एवं आशीर्वचनों का ताँता लगा रहना चाहिए; देवों, ब्राह्मणों एवं अस्त्र-शस्त्रों का सम्मान किया जाना चाहिए, तत्पश्चात् राजपुरोहित को चाहिए कि वह मन्त्र के साथ 'रक्षा' बाँधे—'आप को वह रक्षा बाँधता हूँ जिससे दानवों के राजा बलि बाँधे गये थे, हे रक्षा, तुम (यहाँ) से न हटो, न हटो।'[३] सभी लोगों को, यहाँ तक कि शूद्रों को भी, यथाशक्ति पुरोहितों को प्रसन्न करके रक्षा-बन्धन बँधवाना चाहिए। जब ऐसा कर दिया जाता है तो व्यक्ति वर्ष भर प्रसन्नता के साथ रहता है। हेमाद्रि ने भविष्योत्तरपुराण का उद्धरण देते हुए लिखा है कि इन्द्राणी ने इन्द्र के दाहिने हाथ में रक्षा बाँधकर उसे इतना योग्य बना दिया कि उसने असुरों को हरा दिया। जब पूर्णिमा चतुर्दशी या आने वाली प्रतिपदा से युक्त हो तो रक्षा-बन्धन नहीं होना चाहिए। इन दोनों से बचने के लिए रात्रि में ही यह कृत्य कर लेना चाहिए।

यह कृत्य अब भी होता है और पुरोहित लोग दाहिनी कलाई में रक्षा बाँधते हैं और दक्षिणा प्राप्त करते हैं। गुजरात, उत्तर प्रदेश एवं अन्य स्थानों में नारियाँ अपने भाइयों की कलाई में रक्षा बाँधती हैं और भेंटें लेती-देती हैं।

श्रावण की पूर्णिमा को पश्चिमी भारत (विशेषतः कोंकण एवं मलाबार में) न केवल हिन्दू, प्रत्युत मुसलमान एवं व्यवसायी पारसी भी, समुद्र-तट पर जाते हैं और समुद्र को पुष्प एवं नारियल चढ़ाते हैं। श्रावण की पूर्णिमा को समुद्र में तूफान कम उठते हैं और नारियल इसीलिए समुद्र-देव (वरुण) को चढ़ाया जाता है कि वे व्यापारी जहाजों को सुविधा दे सकें।

श्रावण (अमान्त) कृष्णपक्ष की अष्टमी को **कृष्णजन्माष्टमी** या **जन्माष्टमी व्रत** एवं उत्सव प्रचलित है, जो भारत में सर्वत्र मनाया जाता है और सभी व्रतों एवं उत्सवों में श्रेष्ठ माना जाता है। कुछ पुराणोंमें ऐसा आया है कि यह भाद्रपद के कृष्ण पक्ष की अष्टमी को मनाया जाता है। इसकी व्याख्या यों है कि पौराणिक वचनों में मास पूर्णिमान्त हैं तथा इन मासों में कृष्ण पक्ष प्रथम पक्ष है। पद्म० (३।१३), मत्स्य० (५६), अग्नि० (१८३) में कृष्ण-जन्माष्टमी के माहात्म्य का विशिष्ट उल्लेख है।

कृष्ण-पूजा की प्राचीनता एवं कृष्ण के विषय में संक्षेप में कुछ कह देना आवश्यक है। छान्दोग्योपनिषद् (३।१७।६) में आया है कि कृष्ण देवकीपुत्र ने घोर आंगिरस से शिक्षाएँ ग्रहण कीं। कृष्ण नाम के एक वैदिक कवि थे जिन्होंने अश्विनों से प्रार्थना की है (ऋ० ८।८५।३)। अनुक्रमणी ने ऋ० ८।८६-८७ को कृष्ण-आंगिरस का माना

३. देवद्विजातिशस्ता सुस्त्री रर्घ्यैः समर्चयेत् प्रथमम्। तदनु पुरोधा नृपतेः रक्षां बध्नीत मन्त्रेण॥ येन बद्धो बली राजा दानवेन्द्रो महाबलः। तेन त्वामभिबध्नामि रक्षे मा चल मा चल॥ भविष्योत्तर० (१३७।१९-२०)।

है। जैन परम्पराओं में कृष्ण २२ वें तीर्थंकर नेमिनाथ के समकालीन माने गये हैं और जैनों के प्राक्-इतिहास के ६३ महापुरुषों के विवरण में लगभग एक-तिहाई भाग कृष्ण के सम्बन्ध में ही है। महाभारत में कृष्ण-जीवन भरपूर है। महाभारत में वे यादव राजकुमार कहे गये हैं, वे पाण्डवों के सबसे गहरे मित्र थे, बड़े भारी योद्धा थे, राजनीतिज्ञ एवं दार्शनिक थे। कतिपय स्थानों पर वे परमात्मा माने गये हैं और स्वयं विष्णु कहे गये हैं (शान्ति, ४७।२८; द्रोण, १४६।६७-६८; कर्ण, ८७।७४; वन, ४९।२०; भीष्म, २१।१३-१५)। युधिष्ठिर (द्रोण, १४९। १६-३३), द्रौपदी (वन, २६३।८-१६) एवं भीष्म (अनुशासन, १६७।३७-४५) ने कृष्ण के विषय में प्रशंसा-गान किये हैं। हरिवंश, विष्णु, वायु, भागवत एवं ब्रह्मवैवर्त पुराण में कृष्ण-लीलाओं का वर्णन है जो महाभारत में नहीं पाया जाता।

पाणिनि (४।३।९८) से प्रकट होता है कि इनके काल में कुछ लोग वासुदेवक एवं अर्जुनक भी थे, जिनका अर्थ है क्रम से वासुदेव एवं अर्जुन के भक्त। पतञ्जलि के महाभाष्य के वार्तिकों में कृष्ण-सम्बन्धी व्यक्तियों एवं घटनाओं की ओर संकेत है, यथा वार्तिक सं० ६ (पा० ३।१।२६) में 'कंस' तथा बलि के नाम; वार्तिक सं० २ (पा० ३।१। १३८) में 'गोविन्द'; एवं पा० ३।२।२१ के वार्तिक में वासुदेव एवं कृष्ण। पतञ्जलि में 'सत्यभामा' को 'भामा' भी कहा गया है। 'वासुदेववर्ग्यः', 'अक्रूरवर्ग्यः' (वार्तिक ११, पा० ४।२।१०४), 'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च' (पा० ४।१।११४) में, उग्रसेन (को अन्धक कहा गया है) एवं वासुदेव तथा बलदेव (को वृष्णि कहा गया है) आदि शब्द आये हैं। अधिकांश विद्वानों ने पतञ्जलि को ई० पू० दूसरी शताब्दी का माना है। कृष्ण-कथाएँ इसके बहुत पहले की हैं। आदि० (१।२५६) एवं सभा० (३३।१०-१२) में कृष्ण को वासुदेव एवं परमब्रह्म एवं विश्व का मूल कहा गया है। ई० पू० दूसरी या पहली शताब्दी के घोसुण्डी अभिलेख (एपि० इण्डि०, १६, पृ० २५-२७; ३१, पृ० १९८ एवं इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, ६१, पृ० २०३) में कृष्ण को 'भागवत एवं सर्वेश्वर' कहा गया है। यही बात नानाघाट अभिलेखों (ई० पू० २०० ई०) में भी है। बेसनगर के गरुडध्वज अभिलेख में वासुदेव को 'देव-देव' कहा गया है। ये प्रमाण सिद्ध करते हैं कि ई० पू० ५०० के लगभग उत्तरी एवं मध्य भारत में वासुदेव की पूजा प्रचलित थी। अधिक प्रकाश के लिए देखिए श्री आर० जी० भण्डारकर कृत 'वैष्णविज्म, शैविज्म' आदि (पृ० १-४५), जहाँ वैष्णव सम्प्रदाय एवं इसकी प्राचीनता के विषय में विवेचन उपस्थित किया गया है।

यह आश्चर्यजनक है कि कृष्णजन्माष्टमी पर लिखे गये मध्यकालिक ग्रन्थों ने भविष्य०, भविष्योत्तर०, स्कन्द०, विष्णुधर्मोत्तर०, नारदीय एवं ब्रह्मवैवर्त पुराणों से उद्धरण तो लिये हैं किन्तु उन्होंने उस भागवत पुराण को अछूता छोड़ रखा है जो पश्चात्कालीन मध्य एवं वर्तमानकालीन वैष्णवों का 'वेद' माना जाता है। भागवत में कृष्ण-जन्म का विवरण संदिग्ध एवं साधारण है। वहाँ ऐसा आया है कि जन्म के समय काल सर्वगुणसम्पन्न एवं शोभन था, दिशाएँ स्वच्छ एवं गगन निर्मल एवं उडुगण युक्त था, वायु सुखस्पर्शी एवं गन्धवाही था और जब जनार्दन ने देवकी के गर्भ से जन्म लिया तो अर्धरात्रि थी तथा अन्धकार ने सबको ढँक लिया था।[४]

४. अथ सर्वगुणोपेतः कालः परमशोभनः। यर्ह्येवाजनजन्मर्क्षं शान्तर्क्षग्रहतारकम्॥ दिशः प्रसेदुर्गगनं निर्मलोडुगणोदयम्।...ववौ वायुः सुखस्पर्शः पुण्यगन्धवहः शुचिः।...निशीथे तम उद्भूते जायमाने जनार्दने। देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः॥ भागवत० १०।३।१-२, ४, ८। यहाँ 'अजनजन्मर्क्षं' शब्द का प्रयोग अपूर्व है—न विद्यते जनः जन्म यस्य स अजनः (प्रजापति, जो आत्मभू या स्वयंभू कहा गया है)। यहाँ 'अजनजन्मर्क्षं' का अर्थ, लगता है, जिसका जन्मनक्षत्र वह रोहिणी है जिसका प्रजापति (अजन) देवता है। दूसरे एवं चौथे श्लोकों में रघुवंश (३।१४) के पद 'दिशः प्रसेदुर्मरुतो ववुः सुखाः' की ध्वनि फूट रही है।

भविष्योत्तर० (४४।१-६९) में कृष्ण द्वारा कृष्णजन्माष्टमी व्रत के बारे में युधिष्ठिर से स्वयं कहलाया गया है—मैं वसुदेव एवं देवकी से भाद्र कृष्ण अष्टमी को उत्पन्न हुआ था, जब कि सूर्य सिंह राशि में था, चन्द्र वृषभ में था और नक्षत्र रोहिणी था (७४-७५ श्लोक)। जब श्रावण के कृष्ण पक्ष की अष्टमी को रोहिणी-नक्षत्र होता है तो वह तिथि जयन्ती कहलाती है, उस दिन उपवास करने से सभी पाप जो बचपन, युवावस्था, वृद्धावस्था एवं बहुत-से पूर्वजन्मों में हुए रहते हैं, कट जाते हैं। इसका फल यह है कि यदि श्रावण कृष्णपक्ष की अष्टमी को रोहिणी हो तो न यह केवल जन्माष्टमी होती है, किन्तु जब श्रावण की कृष्णाष्टमी से रोहिणी संयुक्त हो जाती है तो जयन्ती होती है।

अब प्रश्न यह है कि 'जन्माष्टमी व्रत' एवं 'जयन्ती व्रत' एक ही हैं या ये दो पृथक् व्रत हैं। कालनिर्णय (पृ० २०९) ने दोनों को पृथक् व्रत माना है, क्योंकि दो पृथक् नाम आये हैं, दोनों के निमित्त (अवसर) पृथक् हैं (प्रथम कृष्णपक्ष की अष्टमी है और दूसरी रोहणी से संयुक्त कृष्णपक्ष की अष्टमी), दोनों की विशेषताएँ पृथक् हैं, क्योंकि जन्माष्टमी व्रत में शास्त्र ने उपवास की व्यवस्था दी है और जयन्ती व्रत में उपवास, दान आदि की व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त जन्माष्टमी व्रत नित्य है (क्योंकि इसके न करने से केवल पाप लगने की बात कही गयी है) और जयन्ती व्रत नित्य एवं काम्य दोनों है, क्योंकि उसमें इसके न करने से न केवल पाप की व्यवस्था है प्रत्युत करने से फल प्राप्ति की बात भी कही गयी है। एक ही श्लोक में दोनों के पृथक् उल्लेख भी हैं। हेमाद्रि, मदनरत्न, निर्णयसिन्धु आदि ने दोनों को भिन्न माना है। नि० सि० (पृ० १२६) ने यह भी लिखा है कि इस काल में लोग जन्माष्टमी व्रत करते हैं न कि जयन्ती व्रत। किन्तु जयन्तीनिर्णय (पृ० २५) का कथन है कि लोग जयन्ती मनाते हैं न कि जन्माष्टमी। सम्भवतः यह भेद उत्तर एवं दक्षिण भारत का है।

वराहपुराण एवं हरिवंश में दो विरोधी बातें हैं। प्रथम के अनुसार कृष्ण का जन्म आषाढ़ शुक्ल द्वादशी को हुआ था। हरिवंश के अनुसार कृष्ण-जन्म के समय **अभिजित्** नक्षत्र था और **विजय** मुहूर्त था। सम्भवतः इन उक्तियों में प्राचीन परम्पराओं की छाप है।

मध्यकालिक निबन्धों में जन्माष्टमी व्रत के सम्पादन की तिथि एवं काल के विषय में भी विवेचन पाया जाता है (देखिए का० नि०, पृ० २१५-२२४); कृत्यतत्त्व, पृ० ४३८-४४४; तिथितत्त्व, पृ० ४७-५१। समयमयूख (५०-५१) एवं नि० सि० (पृ० १२८-१३०) में इस विषय में निष्कर्ष दिये गये हैं।

सभी पुराणों एवं जन्माष्टमी-सम्बन्धी ग्रन्थों से स्पष्ट होता है कि कृष्णजन्म के सम्पादन का प्रमुख समय है श्रावण कृष्णपक्ष की अष्टमी की अर्धरात्रि (यदि पूर्णिमान्त होता है तो भाद्रपद मास में किया जाता है)। यह तिथि दो प्रकार की है—(१) बिना रोहिणी नक्षत्र की तथा (२) रोहिणी नक्षत्र वाली। निर्णयामृत (पृ० ५६-५८) में १८ प्रकार हैं, जिनमें ८ शुद्धा तिथियाँ, ८ विद्धा तथा अन्य २ हैं (जिनमें एक अर्धरात्रि में रोहिणी नक्षत्र वाली तथा दूसरी रोहिणी से युक्त नवमी, बुध या मंगल को)। यहाँ पर विभिन्न मतों के विवेचन में हम नहीं पड़ेंगे। केवल तिथितत्त्व (पृ० ५४) से संक्षिप्त निर्णय दिये जा रहे हैं—यदि जयन्ती (रोहिणीयुक्त अष्टमी) एक दिन वाली है, तो उसी दिन उपवास करना चाहिए, यदि जयन्ती न हो तो उपवास रोहिणी युक्त अष्टमी को होना चाहिए, यदि रोहिणी से युक्त दो दिन हों तो उपवास दूसरे दिन किया जाता है, यदि रोहिणी नक्षत्र न हो तो उपवास अर्धरात्रि में अवस्थित अष्टमी को होना चाहिए या यदि अष्टमी अर्धरात्रि में दो दिनों वाली हो या यदि वह अर्धरात्रि में न हो तो उपवास दूसरे दिन किया जाना चाहिए।

यदि जयन्ती बुध या मंगल को हो तो उपवास महापुण्यकारी होता है और करोड़ों व्रतों से श्रेष्ठ माना जाता है और जो व्यक्ति बुध या मंगल से युक्त जयन्ती पर उपवास करता है वह जन्म-मरण से सदा के लिए छुटकारा पा लेता है।

जन्माष्टमी व्रत में प्रमुख कृत्य हैं उपवास, कृष्ण-पूजा, जागर (रात का जागरण, स्तोत्र-पाठ एवं कृष्ण-जीवन-सम्बन्धी कथाएँ सुनना) एवं पारण।

तिथितत्त्व (पृ० ४२-४७), समयमयूख (पृ० ५२-५७), कालतत्त्वविवेक (पृ० ५२-५६), व्रतराज (पृ० २७४-२७७), धर्मसिन्धु (पृ० ६८-६९) ने भविष्योत्तर० (अध्याय ५५) के आधार पर जन्माष्टमी व्रत-विधि पर लम्बे-लम्बे विवेचन उपस्थित किये हैं। यहाँ हम प्रथम दो से संक्षेप में विधि पर प्रकाश डालते हैं, क्योंकि दोनों मे बहुत सीमा तक साम्य है।

व्रत के दिन प्रातः व्रती को सूर्य, सोम (चन्द्र), यम, काल, दोनों सन्ध्याओं (प्रातः एवं सायं), पंच भूतों, दिन, क्षपा (रात्रि), पवन, दिक्पालों, भूमि, आकाश, खचरों (वायु-दिशाओं के निवासियों) एवं देवों का आह्वान करना चाहिए, जिससे वे उपस्थित हों।[5] उसे अपने हाथ में जलपूर्ण ताम्र पात्र रखना चाहिए, जिसमें कुछ फल, पुष्प, अक्षत हों और मास आदि का नाम लेना चाहिए और संकल्प करना चाहिए---'मैं कृष्णजन्माष्टमी व्रत कुछ विशिष्ट फल आदि तथा अपने पापों से छुटकारा पाने के लिए करूँगा।' तब वह वासुदेव को सम्बोधित चार मन्त्रों का पाठ करता है जिसके उपरान्त वह पात्र में जल डालता है। उसे देवकी के पुत्र-जनन के लिए प्रसूति-गृह का निर्माण करना चाहिए, जिसमें जल से पूर्ण शुभ पात्र, आम्रदल, पुष्पमालाएँ आदि रखना चाहिए, अगरु जलाना चाहिए और शुभ वस्तुओं से अलंकरण करना चाहिए तथा षष्ठी देवी को रखना चाहिए। गृह या उसकी दीवारों के चतुर्दिक् देवों एवं गन्धर्वों के चित्र बनवाने चाहिए (जिनके हाथ जुड़े हुए हों), वसुदेव (हाथ में तलवार से युक्त), देवकी, नन्द, यशोदा, गोपियों, कंस-रक्षकों, यमुना नदी, कालिय नाग तथा गोकुल की घटनाओं से सम्बन्धित चित्र आदि बनवाने चाहिए। प्रसूति-गृह में परदों से युक्त बिस्तर तैयार करना चाहिए। व्रती को किसी नदी (या तालाब या कहीं भी) में तिल के साथ दोपहर में स्नान करके यह संकल्प करना चाहिए---'मैं कृष्ण की पूजा उनके सहगामियों के साथ करूँगा।' उसे सोने या चाँदी आदि की कृष्ण-प्रतिमा बनवानी चाहिए, प्रतिमा के गालों का स्पर्श करना चाहिए और मन्त्रों के साथ उसकी प्राण-प्रतिष्ठा करनी चाहिए। उसे मन्त्र के साथ देवकी व उनके शिशु श्री कृष्ण का ध्यान करना चाहिए तथा वसुदेव, देवकी, नन्द, यशोदा, बलदेव एवं चण्डिका की पूजा स्नान, धूप, गन्ध, नैवेद्य आदि के साथ एवं मन्त्रों के साथ करनी चाहिए। तब उसे प्रतीकात्मक ढंग से जातकर्म, नाभि-छेदन, षष्ठीपूजा एवं नामकरण आदि संस्कार करने चाहिए। तब चन्द्रोदय (या अर्धरात्रि के थोड़ी देर उपरान्त) के समय किसी वेदिका पर अर्घ्य देना चाहिए, यह अर्घ्य रोहिणी युक्त चन्द्र को भी दिया जा सकता है, अर्घ्य में शंख से जल-अर्पण होता है जिसमें पुष्प, कुश, चन्दन-लेप डाले हुए रहते हैं, यह सब एक मन्त्र के साथ होता है। इसके उपरान्त व्रती को चन्द्र का नमन करना चाहिए और दण्डवत् झुक जाना चाहिए तथा वासुदेव के विभिन्न नामों वाले श्लोकों का पाठ करना चाहिए और अन्त में प्रार्थनाएँ करनी चाहिए।[6] व्रती को रात्रि भर कृष्ण की प्रशंसा के स्तोत्रों, पौराणिक कथाओं,

५. सूर्यः सोमो यमः कालः सन्ध्ये भूतान्यहः क्षपा। पवनो दिक्पतिर्भूमिराकाशं खचरामराः। ब्राह्मं शासनमास्थाय कल्पध्वमिह सन्निधिम्॥ ति० त० (पृ० ४५) एवं स० म० (पृ० ५२)।

६. भूमि पर गिर, प्रणाम करते समय का एक मन्त्र यह है---शरणं तु प्रपद्येहं सर्वकामार्थसिद्धये। प्रणमामि सदा देवं वासुदेवं जगत्पतिम्॥ स० म० (पृ० ५४) एवं ति० त० (पृ० ४५)। दो प्रार्थनामन्त्र ये हैं---त्राहि मां सर्वदुःखघ्न रोगशोकार्णवाद्धरे। दुर्गतांस्त्रायसे विष्णो ये स्मरन्ति सकृत् सकृत्। सोऽहं देवातिदुर्वृत्तस्त्राहि मां शोकसागरात्। पुष्कराक्ष निमग्नोऽहं मायाविज्ञानसागरे॥ वही।

गानों एवं नृत्यों में संलग्न रहना चाहिए। दूसरे दिन प्रातःकाल के कृत्यों के सम्पादन के उपरान्त, कृष्ण-प्रतिमा का पूजन करना चाहिए, ब्राह्मणों को भोजन देना चाहिए, सोना, गौ, वस्त्रों का दान 'मुझ पर कृष्ण प्रसन्न हों' शब्दों के साथ करना चाहिए। उसे "यं देवं देवकी देवी वसुदेवादजीजनत्। भौमस्य ब्रह्मणो गुप्त्यै तस्मै ब्रह्मात्मने नमः।। सुजन्म-वासुदेवाय गोब्राह्मणहिताय च। शान्तिरस्तु शिवं चास्तु" का पाठ करना चाहिए तथा कृष्ण-प्रतिमा किसी ब्राह्मण को दे देनी चाहिए और पारण करने के उपरान्त व्रत को समाप्त करना चाहिए (देखिए स० म०, पृ० ५५; ति० त०, पृ० ४३)।

विधि के अन्तरों के लिए देखिए ध० सि० (पृ० ६८-६९)। धर्मसिन्धु में आया है कि शूद्रों को वैदिक मन्त्र छोड़ देने चाहिए, किन्तु वे पौराणिक मन्त्रों एवं गानों का सम्पादन कर सकते हैं। समयमयूख एवं तिथितत्त्व में वैदिक मन्त्रों के प्रयोग का स्पष्ट संकेत नहीं मिलता।

मध्यकालिक निबन्धों में जन्माष्टमी व्रत के प्रमुख उद्देश्य के विषय में चर्चा उठायी गयी है। कुछ लोगों के मत से उपवास एवं पूजा दोनों प्रमुख हैं (भविष्य०, समयमयूख, पृ० ४६; हे०, काल, पृ० १३१ में उद्धृत)। स० म० ने व्याख्या के उपरान्त निष्कर्ष निकाला है कि उपवास केवल 'अंग' है, किन्तु पूजा ही प्रमुख है। किन्तु तिथि-तत्त्व ने भविष्य० एवं मीमांसासिद्धान्तों के आधार पर कहा है कि उपवास ही प्रमुख है और पूजा केवल 'अंग' (अर्थात् सहायक तत्त्व) है। अब हम इस विषय को यहीं छोड़ते हैं, विशेष विवरण के लिए देखिए हारीत वेंकटनाथकृत 'दशनिर्णयी' का एक अंश 'जयन्तीनिर्णय', जिसमें इस विषय का विशद विवेचन किया गया है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि प्रत्येक व्रत के अन्त में पारण होता है, जो व्रत के दूसरे दिन प्रातः काल किया जाता है। जन्माष्टमी एवं जयन्ती के उपलक्ष्य में किये गये उपवास के उपरान्त पारण के विषय में कुछ विशिष्ट नियम हैं। ब्रह्मवैवर्त० (कालनिर्णय, पृ०२२६) में आया है—'जब तक अष्टमी चलती रहे या उस पर रोहिणी नक्षत्र रहे तब तक पारण नहीं करना चाहिए; जो ऐसा नहीं करता, अर्थात् जो ऐसी स्थिति में पारण कर लेता है वह अपने किये कराये पर पानी फेर देता है और उपवास से प्राप्त फलों को नष्ट कर देता है; अतः तिथि तथा नक्षत्र के अन्त में ही पारण करना चाहिए।' और देखिए नारदपुराण (का० नि०, पृ० २२७; ति० त०, पृ० ५२), अग्निपुराण, तिथितत्त्व एवं कृत्यतत्त्व (पृ० ४४१) आदि। पारण के उपरान्त व्रती 'ओं भूताय भूतेश्वराय भूतपतये भूतसम्भवाय गोविन्दाय नमो नमः' नामक मन्त्र का पाठ करता है। कुछ परिस्थितियों में पारण रात्रि में भी होता है, विशेषतः वैष्णवों में, जो व्रत को नित्य रूप में करते हैं न कि काम्य रूप में।

'उद्यापन' एवं 'पारण' के अर्थों में अन्तर है। एकादशी एवं जन्माष्टमी जैसे व्रत जीवन भर किये जाते हैं। उनमें जब कभी व्रत किया जाता है तो पारण होता है, किन्तु जब कोई एक व्रत केवल एक सीमित काल तक करता है और उसे समाप्त कर लेता है तो उसकी परिसमाप्ति का अन्तिम कृत्य है उद्यापन।

अध्याय ८

हरितालिका, गणेशचतुर्थी, ऋषिपंचमी एवं अनन्तचतुर्दशी

हरितालिका व्रत नारियों का व्रत है। यह भाद्रपद के शुक्ल पक्ष की तृतीया को सम्पादित होता है। इस व्रत का कृत्यकल्पतरु एवं हेमाद्रि में कोई उल्लेख नहीं है। पश्चात्कालीन मध्यकालिक निबन्ध, यथा निर्णयसिन्धु (पृ० १३३), व्रतार्क (४४), व्रतराज (पृ० १०३-११०) एवं अहल्याकामधेनु (२८२-२९५) इसका वर्णन करते हैं। राजमार्तण्ड (१२५७-१२५८) में भाद्रपद के शुक्ल पक्ष की चतुर्थी को किये जाने वाले हरितालीचतुर्थी व्रत का उल्लेख है और ऐसा लिखा गया है कि यह पार्वती को प्यारा (प्रीतिदायक) है। महाराष्ट्रीय नारियों में यह अत्यधिक प्रचलित है। इसका संक्षिप्त वर्णन किया जा रहा है। नारियों को तैल एवं त्रिफला (तिष्यफला) के लेप से स्नान कर रेशमी वस्त्र धारण करने चाहिए। तिथि आदि का नाम लेकर निम्न संकल्प करना चाहिए—'मम समस्तपापक्षय-पूर्वकं सप्तजन्मराज्याखण्डितसौभाग्यादिवृद्धये उमामहेश्वरप्रीत्यर्थं हरितालिकाव्रतमहं करिष्ये। तत्रादौ गणपतिपूजनं करिष्ये' (व्रतराज, पृ० १०३)। उसे उमा एवं शिव का नमन करना चाहिए। मन्त्रों के साथ आवाहन, आसन, पाद्य, अर्घ्य आदि सोलह उपचारों के सम्पादन से उमा-पूजन करना चाहिए। पुष्प देने के उपरान्त व्रती को पाँव से लेकर सिर तक उमा के सभी अंगों की पूजा करनी चाहिए। इसके उपरान्त धूप, दीप, नैवेद्य, आचमनीय, गन्ध (कपूर, चन्दन), ताम्बूल, पूगीफल, दक्षिणा, अलंकार, नीराजन (दीप डुलाना) के कृत्य किये जाने चाहिए। इसके उपरान्त उमा के विभिन्न नामों (गौरी, पार्वती आदि) एवं शिव के विभिन्न नामों (हर, महादेव, शम्भु आदि) से पूजा होनी चाहिए; पुष्प दान करना चाहिए, उमा एवं महेश्वर की प्रतिमाओं की प्रदक्षिणा करनी चाहिए, प्रत्येक बार मन्त्र के साथ नमस्कार करना चाहिए, प्रार्थना एवं शुभ वस्तुओं के साथ पात्रों में दान करना चाहिए।[1]

यह व्रत बंगाल, गुजरात आदि में नहीं प्रचलित है।

माधव (का० नि०, पृ० १७६) ने व्यवस्था दी है कि यदि तृतीया तिथि द्वितीया एवं चतुर्थी से संयुक्त हो तो व्रत दूसरे दिन किया जाना चाहिए, जब कि तृतीया कम से कम एक मुहूर्त (दो घटिका) तक अवस्थित रहे और तब चतुर्थी का प्रवेश हो।

---

१. नमस्कारमन्त्र यह है—'अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम। तस्मात्कारुण्यभावेन क्षमस्व परमेश्वरि॥' प्रार्थनामन्त्र यह है—'पुत्रान् देहि धनं देहि सौभाग्यं देहि सुव्रते। अन्यांश्च सर्वकामांश्च देहि देवि नमोस्तु ते॥' वायनमन्त्र यह है—'सौभाग्यारोग्यकामाय सर्वसम्पत्समृद्धये। गौरीगौरीशतुष्ट्यर्थं वायनं ते ददाम्यहम्॥'

वर्तमान समय में नारियाँ पार्वती, शिवलिंग एवं पार्वती की किसी सखी की मिट्टी की प्रतिमाएँ खरीद कर पूजा करती हैं।

इस व्रत का 'हरितालिका' नाम क्यों पड़ा, कहना कठिन है। व्रतराज (पृ० १०८) का कथन है कि यह व्रतराज (व्रतों में राजा) है और इसका यह नाम इसलिए पड़ा कि पार्वती अपने घर से अपनी सखियों द्वारा ले जायी गयी थीं।[२]

व्रतराज में आया है कि शिव ने अपनी वह व्रत-कथा पार्वती से कही थी, जिसके द्वारा उन्हें पार्वती प्राप्त हुई थीं और वे उनकी अर्धांगिनी हो सकी थीं। वराह० (अध्याय २२) में गौरी एवं शिव के विवाह का लम्बा उल्लेख है।

भारत के कतिपय भागों में (किन्तु बंगाल एवं गुजरात में नहीं) भाद्रपद के शुक्लपक्ष की चतुर्थी को **गणेश चतुर्थी** का उत्सव किया जाता है। यह **वरदचतुर्थी** के नाम से भी विख्यात है (स० म०, पृ० ३९)। इसका सम्पादन मध्याह्न में होता है (का० नि०, पृ० १८१ एवं नि० सि०, पृ० १३३)। यदि चतुर्थी तिथि तृतीया और पंचमी से संयुक्त हो तथा मध्याह्न में चतुर्थी हो तो तृतीया से संयुक्त चतुर्थी मान्य होती है। यदि मध्याह्न में चतुर्थी न हो, किन्तु दूसरे दिन पंचमी से युक्त मध्याह्न में हो तो परविद्धा (आने वाली पंचमी से संयुक्त) को ही उत्सव होता है। संक्षेप में विधि यों है। आजकल मिट्टी की रँगी हुई गणेश-प्रतिमा ली जाती है, उसकी प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है, १६ उपचारों के साथ विनायक-पूजा होती है। चन्दन से युक्त दो दूर्वा-दल प्रत्येक दस नामों से समर्पित किये जाते हैं, इस प्रकार कुल २० दूर्वादलों का प्रयोग होता है, इसके उपरान्त दसों नामों को एक साथ लेकर २१वाँ दूर्वादल समर्पित होता है।[३] एक दूर्वा नैवेद्य रूप में, दस ब्राह्मणों को तथा शेष दस स्वयं व्रती या उसका कुटुम्ब खाता है। अन्य विवरणों के लिए देखिए पु० चि० (पृ० ९४) एवं व्रतराज (पृ० १४४-१५१)। यदि भाद्रपद के कृष्णपक्ष की चतुर्थी रविवार या मंगलवार को पड़ती है तो उसे 'महती' चतुर्थी कहते हैं (ध० सि०, पृ० ७२)। गणेश-पूजन में महत्त्वपूर्ण वैदिक मन्त्र है ऋ० २।२३।१ (तै० सं० २।३।१४।३ गणानां त्वा गणपतिं हवामहे), जो वास्तव में ब्रह्मणस्पति को सम्बोधित है, किन्तु मध्य एवं वर्तमान काल की धारणाओं में गणेश ने उस वैदिक देवता की विशेषताएँ ग्रहण कर ली हैं। गणेशचतुर्थी में २१वीं संख्या महत्त्व रखती है।

ध्यान के लिए गणेश का जो स्वरूप निर्धारित है वह यों है—'उन सिद्धि-विनायक का ध्यान करना चाहिए जो एक दाँत वाले हैं, जिनके कर्ण सूप के समान हैं, जो नाग का जनेऊ धारण करते हैं और जो हाथों में पाश एवं अंकुश धारण करते हैं।'[४]

माध्यमिक एवं वर्तमान काल में एक ऐसी धारणा रही है कि यदि कोई इस गणेशचतुर्थी को चन्द्र देख लेता है तो उस पर चोरी आदि का झूठा अभियोग लग जाता है। यदि कोई त्रुटिवश चन्द्र का दर्शन कर लेता है तो

२. आलिभिर्हरिता यस्मात्तस्मात्सा हरितालिका। व्रतराज (पृ० १०८)। ऐसी कल्पना करना संभव है कि पार्वती की प्रतिमा हरिताल से पीले रंग में रँगी जाती थी और इसी से 'हरितालिका' नाम पड़ा।

३. दस नाम ये हैं—गणाधिप, उमापुत्र, अघनाशन, विनायक, ईशपुत्र, सर्वसिद्धि, एकदन्त, इभवक्त्र, मूषकवाहन एवं कुमारगुरु।

४. तत्र गणेशरूपं स्कान्दे—एकदन्तं शूर्पकर्णं नागयज्ञोपवीतिनम्। पाशांकुशधरं देवं ध्यायेत्सिद्धिविनायकम्। इति। नि० सि० (पृ० १३३) एवं स्मृतिकौ० (पृ० २१०)।

उसे झूठे अभियोग के प्रतिफलों से छुटकारा पाने के लिए उस पौराणिक पद्य का पाठ करना चाहिए जो एक दाई द्वारा बच्चे से कहा गया था---'एक सिंह ने प्रसेनजित् को मारा, सिंह को जाम्बवंत ने मार डाला, मत रोओ, हे सुकुमारक, यह तुम्हारी स्यमन्तक मणि है।' (देखिए, हे०, व्रत०, भाग १, पृ० ५२९-५३०; वही, काल, पृ० ६८१; हरिवंश १।३८।३६; विष्णु० ४।१३।४२; वायु० ९६।४२; पद्म० ६।२७६।१९; ब्रह्म० १६।३६)। 'सुकुमारक' किसी लड़के का नाम हो सकता है या केवल प्यार का नाम हो सकता है। यह गाथा मौसल पर्व (३।२३) एवं कतिपय पुराणों में आयी है। देखिए वायु (९६।२०-५२), अग्नि (१७५।४०-४४), मत्स्य (अध्याय ४५), विष्णु (४।१३।३-१८), भागवत (१०, उत्तरार्ध), पद्म (५।१३।७८-८३, ६।२७६।५६, ५-३७) एवं ब्रह्म (१६।१२-४५)। सूर्य ने प्रसेन के भाई सत्राजित् को देदीप्यमान स्यमन्तक मणि दी जो प्रतिदिन ८ भार सोना उत्पन्न करती थी (भागवत १०।५६।११); कृष्ण ने इसे पाने का प्रयास किया, किन्तु नहीं पा सके। इस मणि से युक्त प्रसेन शिकार खेलने गया और सिंह द्वारा मार डाला गया, किन्तु भालुओं के नेता जाम्बवंत ने सिंह को मार डाला और स्यमन्तक ले ली और उसके साथ अपनी गुफा में चला गया। सत्राजित् एवं यादवों ने शंका की कि कृष्ण ने उस मणि को प्राप्त करने के लिए प्रसेन को मार डाला है। कृष्ण को यह अभियोग बहुत बुरा लगा और उन्होंने प्रसेन एवं सिंह के शवों को खोज निकाला और जब उन्होंने गुफा में दाई को उस प्रकार का सम्बोधन करते सुना तो उसमें प्रवेश किया। गुफा में कृष्ण एवं जाम्बवंत से मल्लयुद्ध हुआ। जब बहुत दिनों तक कृष्ण गुफा से बाहर नहीं निकले तो उनके अनुयायी यादव द्वारका चले आये और कृष्ण की मृत्यु का सन्देश घोषित कर दिया। २१ दिनों के उपरान्त जाम्बवंत ने हार स्वीकार कर ली (भागवत में २८ दिन उल्लिखित हैं, १०।५८।२४) और कृष्ण से सन्धि कर ली तथा अपनी पुत्री जाम्बवती का विवाह कृष्ण से कर दिया तथा स्यमन्तक मणि दहेज में दे दी। द्वारका लौटने पर कृष्ण ने वह मणि प्रसेन के भाई सत्राजित् को दे दी और इस प्रकार झूठे अभियोग से उन्हें छुटकारा मिला। वायु (९६।५८) एवं मत्स्य (४५।३४) आदि पुराणों में आया है कि मिथ्यारोप से छुटकारा पाने वाले कृष्ण की यह गाथा जो सुनता है वह ऐसे मिथ्यारोप में नहीं फँसता। तिथितत्त्व (पृ० ३२) में ऐसी व्यवस्था है कि भाद्रपद के शुक्ल पक्ष की चतुर्थी को जो व्यक्ति असावधानी से चन्द्र देख लेता है उसे दाई वाली गाथा का श्लोक पानी के ऊपर पढ़कर उस पानी को पी लेना चाहिए और स्यमन्तक मणि की कहानी सुन लेनी चाहिए।

जब भाद्रपद शुक्ल पक्ष चतुर्थी को गणेश-पूजन होता है तो उसे **शिवा** तिथि कहा जाता है। जब गणेश का सम्मान माघ शुक्ल चतुर्थी को होता है तो उसे **शान्ता** तथा जब शुक्ल पक्ष की चतुर्थी मंगलवार को हो तो उसे सुखा कहा जाता है। देखिए हेमाद्रि (व्रत, भाग १, पृ० ५१२-१३, पृ० ५१३-५१४ एवं पृ० ५१५-५१९)।

आजकल गणेश सबसे अधिक प्रचलित देव हैं और प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कृत्य में उनका आवाहन सर्वप्रथम होता है, वे ज्ञान के देव हैं, साहित्य के अधिष्ठाता-देव हैं, सफलता दायक हैं और विघ्नविनाशक हैं।

गणेश-पूजन एवं गणेश-प्रतिमाओं के विषय में देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड दो। विशेष अध्ययन के लिए देखिए ब्रह्मवैवर्त का गणेशखण्ड (४६ अध्यायों में), गणपत्यथर्वशीर्ष, अहल्याकामधेनु, कृत्यकल्पतरु (व्रत, पृ० ८४-८७) आदि।

भाद्रपद के शुक्लपक्ष की पंचमी को **ऋषिपञ्चमीव्रत** सम्पादित होता है। प्रथमतः यह सभी वर्णों के पुरुषों के लिए प्रतिपादित था, किन्तु अब यह अधिकांश में नारियों द्वारा किया जाता है। हेमाद्रि (व्रत, भाग १, पृ० ५६८-५७२) ने ब्रह्माण्डपुराण को उद्धृत कर विशद विवरण उपस्थित किया है। व्यक्ति को नदी आदि में स्नान करने तथा आह्निक कृत्य करने के उपरान्त अग्निहोत्रशाला में जाना चाहिए, सातों ऋषियों की प्रतिमाओं को पंचामृत में नहलाना चाहिए, उन पर चन्दन-लेप, कर्पूर लगाना चाहिए, पुष्पों, सुगन्धित पदार्थों, धूप, दीप, श्वेत

वस्त्रों, यज्ञोपवीतों, अधिक मात्रा में नैवेद्य से पूजा करनी चाहिए और मन्त्रों के साथ अर्घ्य चढ़ाना चाहिए।[५] इस व्रत में केवल शाकों का प्रयोग होता है और ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है। इसके करने से सभी पापों एवं तीनों प्रकार के दुःखों से छुटकारा मिलता है[६] तथा सौभाग्य की वृद्धि होती है। जब नारी इसे सम्पादित करती है तो उसे आनन्द, शरीर-सौन्दर्य, पुत्रों एवं पौत्रों की प्राप्ति होती है।

पश्चात्कालीन निबन्ध व्रतार्क, व्रतराज (पृ० २००-२०६) आदि ने भविष्योत्तर० से उद्धृत कर बहुत-सी बातें लिखी हैं, जहाँ कृष्ण द्वारा युधिष्ठिर को सुनायी गयी एक कथा भी है। जब इन्द्र ने त्वष्टा के पुत्र वृत्र का हनन किया तो उन्हें ब्रह्महत्या का अपराध लगा। उस पाप को चार स्थानों में बाँटा गया, यथा अग्नि (धूम से मिश्रित प्रथम ज्वाला), नदियों (वर्षाकाल के पंकिल जल), पर्वतों (जहाँ गोंद वाले वृक्ष उगते हैं) में तथा स्त्रियों (रजस्वला) में। अतः मासिक धर्म के समय लगे पाप से छुटकारा पाने के लिए यह व्रत स्त्रियों द्वारा किया जाना चाहिए।

इसका संकल्प यों है---'अहं ज्ञानतोऽज्ञानतो वा रजस्वलावस्थायां कृतसंपर्कजनितदोषपरिहारार्थमृषिपञ्चमीव्रतं करिष्ये।' ऐसा संकल्प करके अरुन्धती के साथ सप्तर्षियों की पूजा करनी चाहिए (व्रतार्क)। व्रतराज (पृ० २०१) के मत से इस व्रत में केवल शाकों या नीवारों या साँवा (श्यामाक) या कन्द-मूलों या फलों का सेवन करना चाहिए तथा हल से उत्पन्न किया हुआ अन्न नहीं खाना चाहिए। आजकल जब पुरुष भी इस व्रत को करते हैं तो वैदिक मन्त्रों का पाठ होता है, यथा **कश्यप** ऋषि के लिए ऋग्वेद (९।११४।२), **अत्रि** के लिए ऋ० (५।७८।४), **भरद्वाज** के लिए ऋ० (६।२५।९), **विश्वामित्र** के लिए ऋ० (१०।१६७।४), **गोतम** के लिए ऋ० (१।७८।१), **जमदग्नि** के लिए ऋ० (३।६२।१८) एवं **वसिष्ठ** के लिए ऋ० (७।३३।११)। अरुन्धती के लिए भी मन्त्र है---"अत्रेर्यथानसूया स्याद् वसिष्ठस्याप्यरुन्धती। कौशिकस्य यथा सती तथा त्वमपि भर्तरि॥' यह अरुन्धती के आवाहन के लिए है। यह व्रत सात वर्षों का होता है। सात घड़े होते हैं और सात ब्राह्मण निमन्त्रित रहते हैं, जिन्हें अन्त में ऋषियों की सातों प्रतिमाएँ (सोने या चाँदी की) दान में दे दी जाती हैं। यदि सभी प्रतिमाएँ एक ही कलश में रखी गयी हों तो वह कलश एक ब्राह्मण को तथा अन्यों को कलशों के साथ वस्त्र एवं दक्षिणा दी जाती है।

यदि पंचमी तिथि चतुर्थी एवं षष्ठी से संयुक्त हो तो ऋषिपंचमी व्रत चतुर्थी से संयुक्त पंचमी को किया जाता है न कि षष्ठीयुक्त पंचमी को। किन्तु इस विषय में मतभेद है। देखिए का० नि० (पृ० १८६), हेमाद्रि, माधव, निर्णयसिन्धु आदि।

५. अर्घ्यमन्त्रः। कश्यपोत्रिर्भरद्वाजो विश्वामित्रोथ गौतमः। जमदग्निर्वसिष्ठश्च सप्तैते ऋषयः स्मृताः॥ गृह्णन्त्वर्घ्यं मया दत्तं तुष्टा भवत मे सदा॥ हे० (व्रत, भाग १, पृ० ५७१); स्मृति कौ० (पृ० २१७); व्रतराज (पृ० २००)। वराहमिहिर की बृहत्संहिता (१३।५-६) में सप्तर्षियों के नाम आये हैं (जो पूर्व से आरम्भ किये गये हैं) यथा मरीचि, वसिष्ठ, अंगिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु; १३।६ में आया है कि साध्वी अरुन्धती वसिष्ठ के पास हैं।

६ तीन दुःख ये हैं---आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक। 'आध्यात्मिकादि मैत्रेय ज्ञात्वा तापत्रयं बुधः। उत्पन्नज्ञानवैराग्यः प्राप्नोत्यात्यन्तिकं लयम्॥' (विष्णु० ६।५।१)। आध्यात्मिक दुःख शारीरिक (रोग आदि) एवं मानसिक (चिन्ता, ईर्ष्या आदि) हैं; आधिभौतिक दुःख पशुओं, मनुष्यों, पिशाचों आदि से उत्पन्न होते हैं; आधिदैविक दुःखों की उत्पत्ति तुषारपात, पवन, वर्षा आदि से होती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भ में ऋषिपंचमी व्रत सभी पापों की मुक्ति के लिए सभी लोगों के लिए व्यवस्थित था, किन्तु आगे चलकर यह केवल नारियों से ही सम्बन्धित रह गया। किन्तु सौराष्ट्र में इसका सम्पादन नहीं होता।

भाद्रपद के शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी को अनन्तचतुर्दशी का व्रत किया जाता है। इसका उल्लेख कृत्यकल्पतरु में नहीं है। इसमें अनन्त के रूप में हरि की पूजा होती है। पुरुष दाहिने तथा नारियाँ बाँये हाथ में अनन्त धारण करती हैं। रुई या रेशम के धागे कुंकमी रंग में रँगे होते हैं और उनमें चौदह गाँठें होती हैं। इन्हीं धागों से अनन्त का निर्माण होता है। यह व्यक्तिगत पूजा है, इसका कोई सामाजिक धार्मिक उत्सव नहीं होता। अग्निपुराण (१९२। ७-१०) में इसका विवरण है। चतुर्दशी को दर्भ से बनी हरि की प्रतिमा की, जो कलश के जल में रखी होती है, पूजा होती है। व्रती को धान के एक प्रस्थ (प्रसर) आटे से रोटियाँ (पूड़ी) बनानी होती हैं जिनकी आधी वह ब्राह्मण को दे देता है और शेष अर्धांश स्वयं प्रयोग में लाता है। यह व्रत नदी-तट पर किया जाना चाहिए, जहाँ हरि की कथाएँ सुननी चाहिए। हरि से इस प्रकार की प्रार्थना की जाती है—'हे वासुदेव, इस अनन्त संसार रूपी महासमुद्र में डूबे हुए लोगों की रक्षा करो तथा उन्हें अनन्त के रूप का ध्यान करने में संलग्न करो, अनन्त रूप वाले तुम्हें नमस्कार' (अग्नि० १९२।९)। इस मन्त्र से हरि की पूजा करके तथा अपने हाथ के ऊपरी भाग में या गले में धागा बाँधकर या लटकाकर (जिस पर मन्त्र पढ़ा गया हो) व्रती अनन्त व्रत करता है तथा प्रसन्न होता है। यदि हरि अनन्त हैं तो १४ गाँठें हरि द्वारा उत्पन्न १४ लोकों की द्योतक हैं।

हेमाद्रि (व्रत, भाग २, पृ० २६-३६) में अनन्त व्रत का विवरण विशद रूप से आया है, उसमें कृष्ण द्वारा युधिष्ठिर से कही गयी कौण्डिन्य एवं उसकी स्त्री शीला की गाथा भी आयी है। कृष्ण का कथन है कि 'अनन्त' उनके रूपों का एक रूप है और वे काल हैं जिसे अनन्त कहा जाता है। अनन्त व्रत चन्दन, धूप, पुष्प, नैवेद्य के उपचारों के साथ किया जाता है। इस व्रत के विषय में अन्य बातों के लिए देखिए वर्षक्रियाकौमुदी (पृ० ३२४-३३९), तिथितत्त्व (पृ० १२३), का० नि० (पृ० २७९), व्रतार्क आदि। ऐसा आया है कि यदि यह व्रत १४ वर्षों तक किया जाय तो व्रती विष्णुलोक की प्राप्ति कर सकता है (हेमाद्रि, व्रत, भाग २, पृ० ३५)।

इस व्रत के उपयुक्त समय एवं तिथि के विषय में कई मत प्रकाशित हो गये हैं। माधव (का० नि० २७९) के अनुसार इस व्रत में मध्याह्न कर्मकाल नहीं है किन्तु वह तिथि, जो सूर्योदय के समय तीन मुहूर्तों तक अवस्थित रहती है, अनन्तव्रत के लिए सर्वोत्तम है। किन्तु नि० सि० (पृ० १४२) ने इस मत का खण्डन किया है।

आजकल भी अनन्त चतुर्दशी व्रत किया जाता है, किन्तु व्रतियों की संख्या धीरे-धीरे कम होती जा रही है।

अध्याय ९

नवरात्र या दुर्गोत्सव

सम्पूर्ण भारत में आश्विन शुक्ल पक्ष की प्रथम तिथि से लेकर नवमी तक दुर्गापूजा का उत्सव, जिसे नवरात्र भी कहते हैं, किसी-न-किसी रूप में मनाया जाता है। कुछ ग्रन्थों (निर्णयामृत, पृ० ५६; स० म०, पृ० १५) ने व्यवस्था दी है कि दुर्गोत्सव शरद (आश्विन शुक्ल) एवं वसन्त (चैत्र शुक्ल) दोनों में अवश्य किया जाना चाहिए।[1] किन्तु आश्विन का दुर्गोत्सव ही धूमधाम के साथ मनाया जाता है, विशेषतः बंगाल, बिहार एवं कामरूप में।

यदि व्यक्ति ९ दिनों तक यह उत्सव करने में असमर्थ हो तो उसे आश्विन शुक्ल सप्तमी से आरम्भ कर तीन दिनों तक कर लेना चाहिए। तिथितत्त्व (पृ० ६७ एवं १७३) ने दुर्गापूजा की अवधियों के बारे में कई विकल्प दिये हैं---(१) पूर्णिमान्त आश्विन के कृष्णपक्ष की नवमी से आश्विन शुक्ल की नवमी तक; (२) आश्विन शुक्ल की प्रथमा से नवमी तक; (३) षष्ठी से नवमी तक; (४) सप्तमी से नवमी तक; (५) महाष्टमी से नवमी तक; (६) केवल महाष्टमी पर; (७) केवल महानवमी पर। इन विकल्पों में बहुत-से कालिका एवं अन्य पुराणों में भी हैं।

दुर्गोत्सव पर विशाल साहित्य है, व्रतों, तिथियों एवं पूजा पर लिखने वाले सभी निबन्धों ने विशद प्रकाश डाला है। कुछ ग्रन्थ तो केवल इसी पर लिखित हैं, यथा शूलपाणि का दुर्गोत्सवविवेक; दुर्गापूजाप्रयोगतत्त्व, जिसका रघुनन्दन लिखित दुर्गार्चनपद्धति एक अंश है; विद्यापति की दुर्गाभक्तितरंगिणी; विनायक (नन्दपण्डित) कृत नवरात्र-प्रदीप; उदयसिंह (१५वीं शती का अर्धांश) की दुर्गोत्सवपद्धति। इनके अतिरिक्त मार्कण्डेयपुराण (अध्याय ७८-९०) में 'देवीमाहात्म्य' (या सप्तशती या चण्डी) भी है, जिसमें विष्णु, शंकर, अग्नि एवं देवों से संगृहीत तेजों से उत्पन्न देवी का स्वरूप, उसके द्वारा शिव से त्रिशूल, विष्णु से चक्र, इन्द्र से वज्र की प्राप्ति तथा महिषासुर, चण्ड, मुण्ड, शुम्भ एवं निशुम्भ नामक दानवों का वध एवं विजय-प्राप्ति वर्णित है। कालिकापुराण, बृहन्नंदिकेश्वरपुराण एवं देवीपुराण ने भी दुर्गा एवं उसकी पूजा का विशद वर्णन उपस्थित किया है।

यह पूजा नित्य एवं काम्य दोनों है। कालिकापुराण (६३।१२-१२) ने व्यवस्था दी है कि जो प्रमाद, छल, मत्सर या मूर्खता के वश में आकर दुर्गोत्सव नहीं करता उसकी सभी कांक्षाएँ क्रुद्ध देवी द्वारा नष्ट हो जाती हैं। यह काम्य भी है, क्योंकि दुर्गोत्सव करने से फलों की प्राप्ति भी होती है। सभी को देवी की पूजा करनी चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से अतुलनीय महत्ता प्राप्त होती है और धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष पुरुषार्थों की प्राप्ति होती है। तिथितत्त्व (पृ० ६५) में आया है कि भवानी को प्रसन्न करने के लिए, उस वर्ष में आनन्द के लिए, भूत-पिशाचों के नाश के

१. शरद्वसन्तयोस्तुल्य एव दुर्गोत्सवः कार्यः। निर्णयामृत, पृ० ५६ एवं समयमयूख, पृ० १५।

एवं स्व-प्रसन्नता के लिए भवानी-पूजा करनी चाहिए। देवीपुराण में आया है[2]—'यह एक महान् एवं पवित्र व्रत है जो महान् सिद्धियाँ देता है, सभी शत्रुओं को नष्ट करता है, सभी लोगों का उपकार करता है, विशेषतः अति वृष्टियों में। यह पुनीत यज्ञों के लिए ब्राह्मणों द्वारा, भूमिपालन के लिए क्षत्रियों, गोधन के लिए वैश्यों, पुत्रों एवं सुखों के लिए शूद्रों, सौभाग्य के लिए नारियों, अधिक धन के लिए धनिकों द्वारा सम्पादित होता है, यह शंकर आदि द्वारा सम्पादित हुआ था।' आगे चलकर यह पूजा सामान्य सीमा पर उतर आयी, जैसा कि मार्कण्डेय० (८९।११-१२) में आया है—'वार्षिक महापूजा में जो शरत्काल में होती है, मेरे माहात्म्य को भक्तिपूर्वक सुनने से व्यक्ति सभी प्रकार की बाधा से निर्मुक्त एवं मेरे प्रसाद से धनधान्य से समन्वित हो जाता है।' भविष्य० (पूजाप्रकाश, पृ० ३०९ में उद्धृत) से दुर्गा-पूजा की अतिशयोक्तिपूर्ण महत्ता प्रकट हो जाती है—'अग्निहोत्र आदि कर्म, दक्षिणा से युक्त वेद-यज्ञ चण्डिकापूजा के सामने लाख का एक अंश भी नहीं है।'

यह दुर्गापूजा सभी लोगों द्वारा सम्पादित की जा सकती है। न-केवल चारों वर्णों के लोग ही इसे कर सकते हैं, प्रत्युत इसे अन्य लोग भी जो जातियों के बाहर हैं, कर सकते हैं। दुर्गापूजा का सामूहिक रूप भी है, यह केवल धार्मिक व्रत ही नहीं है, इसका सामाजिक महत्त्व है (यथा मित्रों को निमन्त्रित कर उनको खिलाना-पिलाना)। भविष्य० (हे० व्रत, भाग १, पृ० ९१०; ति० त०, पृ० ६८; नि० सि०, पृ० १६४; स्मृतिकौ०, पृ० २०१, का० त० नि०, पृ० २६७) में आया है—'इसका सम्पादन विन्ध्य पर्वत में (विन्ध्यवासिनी देवी के मन्दिर में), सभी स्थानों, नगरों, गृहों, ग्रामों एवं वनों में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, राजाओं, वैश्यों, शूद्रों द्वारा, भक्तों द्वारा, उनके द्वारा जिन्होंने स्नान कर लिया है, जो प्रमुदित एवं हर्षित हैं, म्लेच्छों तथा अन्य लोगों (प्रतिलोम आदि) द्वारा तथा नारियों द्वारा हो सकता है।' भविष्य० (कृ० र०, पृ० ३५७; नि० सि०, पृ० ११४; ति० त०, पृ० ६८, कृत्यकल्प०, नैयतकालिक, पृ० ४१०) में यह भी आया है—'दुर्गापूजा म्लेच्छों आदि द्वारा, दस्युओं (चोरी करने वालों, निष्कासित हिन्दुओं) द्वारा, अंग, बंग एवं कलिंग के लोगों द्वारा, किन्नरों, बर्बरों एवं शकों द्वारा की जाती है।' पश्चात्कालीन निबन्धों में यह सावधानीपूर्वक आया है कि म्लेच्छों को मन्त्रों के साथ जप या होम या पूजा का अधिकार नहीं है, जैसा कि शूद्र ब्राह्मण द्वारा ऐसा करते हैं, किन्तु वे लोग देवी के लिए पशुओं की बलि या सुरा-दान मानसिक रूप में कर सकते हैं।[3]

स्कन्द० एवं भविष्य० (ति० त०, पृ० ६८; का० त० वि०, पृ० २६९-२७०) में ऐसा उल्लेख हुआ है कि चण्डिका-पूजा के तीन प्रकार हैं—सात्त्विकी, राजसी एवं तामसी, जिनमें सात्त्विकी पूजा में जप होता है, नैवेद्य दिया जाता है किन्तु मांस का प्रयोग नहीं होता; राजसी में बलि एवं नैवेद्य होता है और मांस का प्रयोग होता है; किन्तु तामसी में सुरा एवं मांस का प्रयोग होता है, किन्तु जप एवं मन्त्रों का प्रयोग नहीं होता। इस अन्तिम प्रकार का सम्पादन किरातों (वनवासी आदि) द्वारा होता है। रघुनन्दन ने प्रायश्चित्ततत्त्व (पृ० ५२०) में लिखा है कि दुर्गापूजा में सुरा का प्रयोग कलियुग की प्रथा नहीं है।

२. महासिद्धिप्रदं धन्यं सर्वशत्रुनिबर्हणम्। सर्वलोकोपकारार्थं विशेषादतिवृष्टिषु। कृत्यर्थं (क्रत्वर्थं?) ब्राह्मणाद्यैश्च क्षत्रियैर्भूमिपालने। गोधनार्थं विशा वत्स शूद्रैः पुत्रसुखार्थिभिः। सौभाग्यार्थं स्त्रिया कार्यमाढ्यैश्च धनकांक्षिभिः। महाव्रतं महापुण्यं शंकराद्यैरनुष्ठितम्॥ देवीपुराण (हे०, व्रत, भा १, पृ० ९०१; कृ० र०, पृ० ३५९; दुर्गाभक्तितरंगिणी, पृ० १६; ति० त०, पृ० ६७)।

३. अतो म्लेच्छादीनां न शूद्रवद् ब्राह्मणद्वारापि जपे होमे समन्त्रकपूजायां वाधिकारः किन्तु तैस्तत्तदुपचाराणां सुराद्युपहारसहितानां पश्वादिबलेश्च मनसोत्सर्गमात्रं देवीमुद्दिश्य विधेयमिति सिद्धम्। स्मृतिकौ० (पृ० २९१)।

हमने देख लिया है कि आषाढ़ शुक्ल प्रतिपदा से पूर्णिमा तक प्रमुख देव चार मासों के लिए शयन आरम्भ करते हैं। दुर्गा इन दिनों में आषाढ़ शुक्ल अष्टमी को शयन करने जाती हैं। अतः आश्विन में वे सोती रहेंगी। अतः उनके बोधन के लिए वचनों की व्यवस्था हुई है। किन्तु यहाँ भी मतैक्य नहीं है। तिथितत्त्व (पृ० ७१) में आया है कि यदि अठारह भुजाओं वाली देवी की पूजा करनी हो तो आश्विन के शुक्लपक्ष के पूर्व कृष्णपक्ष की नवमी तिथि पर देवी को जगाना चाहिए, किन्तु यदि दस भुजाओं वाली देवी की पूजा करनी हो तो आश्विन शुक्लपक्ष षष्ठी को बोधन कराना चाहिए। किन्तु रघुनन्दन इस बात को अमान्य ठहराते हैं और कहते हैं कि दस भुजा वाली देवी का बोधन पिछले कृष्णपक्ष की नवमी को या शुक्लपक्ष की षष्ठी को होना चाहिए। यदि बोधन नवमी को हो तो संकल्प इस प्रकार का होना चाहिए—'अमुकगोत्रः श्री-अमुकदेवशर्मा अतुलविभूतिकामः संवत्सरसुखकामो दुर्गाप्रीतिकामो वा वार्षिकशरत्कालीन-दुर्गामहापूजामहं करिष्ये' (दुर्गार्चनपद्धति, पृ० ६००)। व्रती आश्विन शुक्लपक्ष की प्रथमा को भी आरम्भ कर सकता है और बोधन शुक्लपक्ष की षष्ठी को हो सकता है। संकल्प के उपरान्त ऋ० (७।१६।११) का पाठ होता है। इसके उपरान्त घट की प्रतिष्ठा होती है जिसमें जल, आम्रपल्लव या अन्य वृक्षों की टहनियाँ डाली जाती हैं और दुर्गा की पूजा १६ या ५ उपचारों से की जाती है। इसके उपरान्त चन्दन-लेप एवं त्रिफला (केशों को पवित्र करने के लिए) एवं कंघी चढ़ायी जाती है। द्वितीया तिथि को केशों को ठीक स्थान पर रखने के लिए रेशम की पट्टी दी जाती है। तृतीया को पैरों को रँगने के लिए अलक्तक, सिर के लिए सिन्दूर, देखने के लिए दर्पण दिया जाता है। चतुर्थी तिथि को देवी को मधुपर्क दिया जाता है, मस्तक पर तिलक के लिए चाँदी का एक टुकड़ा तथा आँखों के लिए अंजन दिया जाता है। पंचमी तिथि को अंगराग एवं शक्ति के अनुसार आभूषण दिये जाते हैं।

यदि दुर्गापूजा षष्ठी को (ज्येष्ठा नक्षत्र से संयुक्त हो या न हो) हो तो व्रती को प्रातःकाल बेल के वृक्ष के पास जाना चाहिए और संकल्प करना चाहिए, वेदमन्त्र (ऋ० ७।१६।११) कहना चाहिए, घट-स्थापन करना चाहिए और बिल्व वृक्ष को दुर्गा के समान पूजना चाहिए। यदि पूजा प्रतिपदा को ही आरम्भ कर दी गयी हो तो व्रती को बेल वृक्ष के पास सायंकाल (चाहे ज्येष्ठा हो या न हो) जाना चाहिए और देवी का बोधन मन्त्र के साथ करना चाहिए—'रावण के नाश के लिए एवं राम पर अनुग्रह करने के लिए ब्रह्मा ने तुम्हें अकाल में जगाया, अतः मैं भी तुम्हें आश्विन की षष्ठी की सन्ध्या में जगा रहा हूँ।' दुर्गा-बोधन के उपरान्त व्रती को चाहिए कि वह बेल वृक्ष से यह कहे—'हे बेल वृक्ष, तुमने श्रीशैल पर जन्म लिया है और तुम लक्ष्मी के निवास हो, तुम्हें ले चलना है, चलो, तुम्हारी पूजा दुर्गा के समान करनी है।' इसके उपरान्त व्रती बेल वृक्ष पर मही (मिट्टी), गंध, शिला, धान्य, दूर्वा, पुष्प, फल, दही, घृत, स्वस्तिक-सिन्दूर आदि को प्रत्येक के साथ मन्त्र का उच्चारण करके रखता है और उसे दुर्गा के शुभ निवास के योग्य बनाता है। इसके उपरान्त वह दुर्गा-पूजा के मण्डप में आता है, आचमन करता है और अपराजिता लता को या नौ पौधों की पत्तियों को एक में गूँथता है। नव पत्रिका हैं कदली, दाड़िमी, धान्य, हरिद्रा, माणक, कचु, बिल्व, अशोक, जयन्ती। प्रत्येक के साथ विशिष्ट मन्त्र का पाठ होता है। इसी दिन दुर्गा की मिट्टी की प्रतिमा बिल्व की शाखा के साथ घर में लायी जाती है और पूजित होती है। अन्य विवरण हम यहाँ नहीं दे पा रहे हैं।

सप्तमी तिथि को, चाहे वह मूल-नक्षत्र से युक्त हो या रहित हो, व्रती स्नान करके बिल्व (बेल) वृक्ष के पास जाता है, पूजा करता है, हाथ जोड़कर कहता है—'हे सौभाग्यशाली बिल्व, तुम सदा शंकर के प्यारे हो, तुमसे एक शाखा लेकर मैं दुर्गापूजा करूँगा; हे प्रभु, टहनी काटने से कष्ट का अनुभव न करना; हे बिल्व, तुम पेड़ों के राजा हो, मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ।' इस प्रकार कहकर वह दक्षिण-पश्चिम या उत्तर-पश्चिम दिशा को छोड़कर कहीं

से कोई शाखा काट लेता है। उस शाखा में फल हो सकते हैं या नहीं भी हो सकते हैं। काटते समय मन्त्र-पाठ होता है।[४] इसके उपरान्त उस शाखा को व्रती पूजा-मण्डप में लाता है और एक पीढ़े पर रख देता है। इसके उपरान्त का विवरण स्थान-संकोच से छोड़ दिया जा रहा है। जानकारी के लिए देखिए कालिकापुराण (६१।११-२०); मत्स्य० (२६०।५६-६६), दु० भ० त० (पृ० ४-५ एवं ७५-७६), व० क्रि० कौ० (पृ० ४१३-४१४); दुर्गार्चन० (पृ० ६६६-६७); का० त० वि० (पृ० २८५)।

दुर्गापूजा में पशु-बलि के विषय में बहुत कुछ लिखा गया है। कुछ बातें यहाँ दी जा रही हैं। कालिका-पुराण (७१।३-५ एवं ९५-९६) में दुर्गा एवं भैरव के सम्मान में बलि दिये जाने वाले जीवों का उल्लेख है—पक्षी, कच्छप (कछुआ), ग्राह, मछली, नौ प्रकार के मृग, भैंसा, गवय, बैल, बकरी, नेवला, शूकर, खड्ग, कृष्ण हरिण, शरभ, सिंह, व्याघ्र, मानव, व्रती का रक्त। किन्तु इनमें मादा जीवों का निषेध है और लिखा हुआ है कि जो मादा की बलि देता है, वह नरक में जाता है। बलि के पशु के कान कटे हुए नहीं होने चाहिए। सामान्यतः बकरे एवं भैंसे काटे जाते हैं। ऐसा आया है कि विन्ध्यवासिनी देवी पुष्प, धूप, विलेपन तथा अन्य पशुओं की बलि से उतनी प्रसन्न नहीं होतीं जितनी भेड़ों एवं भैंसों की बलि से (हे०, व्रत, भाग १, पृ० ९०९)। वर्षक्रियाकौमुदी (पृ० ३९७) में आया है—'देवी को घोड़ा या हाथी की बलि कभी नहीं देना चाहिए; यदि कोई ब्राह्मण सिंह, व्याघ्र या मनुष्य की बलि करता है तो वह नरक में पड़ता है और इस लोक में भी अल्प जीवन पाता है तथा सुख एवं समृद्धि से वंचित हो जाता है; यदि कोई ब्राह्मण अपना रक्त देता है तो वह आत्महत्या का अपराधी होता है; यदि कोई ब्राह्मण सुरा चढ़ाता है तो वह ब्राह्मण-स्थिति खो देता है। यदि सुरा-दान करना ही हो तो काँसे के पात्र मे नारियल-जल देना चाहिए या ताम्रपात्र में मधु देना चाहिए।' किन्तु कुछ मत उपर्युक्त कथन के विरोध में पड़ते हैं। कालिकापुराण (दु० भ० त०, पृ० ५३) में आया है—अज, महिष एवं नर क्रम से बलि, महाबलि एवं अतिबलि घोषित हैं। यद्यपि पशु की बलि होती है किन्तु देवी को सामान्यतः उसका रक्त एवं सिर चढ़ाया जाता है। कालिका० (७१।२०-२२) मे आया है कि मन्त्रपूत (मन्त्र के साथ चढ़ाया हुआ) शोणित (रक्त) एवं शीर्ष (सिर) अमृत कहे गये हैं। देवी-पूजा में कुशल व्रती मांस बहुत ही कम चढ़ाता है, केवल रक्त एवं सिर का प्रयोग होता है जो अमृत हो जात हैं। कालिका० में पुनः आया है कि शिवा (दुर्गा) बलि का सिर एवं मांस दोनों ग्रहण करती हैं, किन्तु व्रती को केवल रक्त एवं सिर ही पूजा में चढ़ाना चाहिए, समझदार लोगों को चाहिए कि वे मांस का प्रयोग होम एवं भोजन में करें। दुर्गार्चनपद्धति में (पृ० ६६९-६७१) बलि किये जाने एवं रक्त-शीर्ष चढ़ाने के विषय में विस्तार के साथ लिखा है, जिसे हम स्थान-संकोच से यहाँ नहीं दे रहे हैं। अन्य बातों के लिए देखिए कालिका-पुराण। कुछ लोगों के हृदय पशु-बलि से द्रवित हो उठते हैं अतः कालिका० ने अन्य व्यवस्थाएँ दी हैं, यथा कूष्माण्ड-बलि, ईख, मद्य, आसव (गुड़, पुष्पों एवं ओषधियों से प्राप्त)। इस विषय में और देखिए अहल्याकामधेनु। (इस समय नर-बलि अवैध घोषित है।)

ऐसा विश्वास बहुत प्राचीन काल से रहा है कि बलि के जीव स्वर्ग में जाते हैं। देखिए ऋ० (१।१६२।२१, वाज० सं० २३।१६) एवं मनु (५।४२)। हेमाद्रि (व्रत, भाग १, पृ० ९०९) में आया है कि देवी को प्रसन्न करने के लिए जो पशु बलि होते हैं वे स्वर्ग को चले जाते हैं और जो उन्हें मारते हैं वे पापी नहीं होते।

४. 'ओम् छिन्धि छिन्धि फट् फट् हुं फट स्वाहा' इत्यनेन छेदयेत्। दुर्गार्चनपद्धति, पृ० ६६५; व० क्रि० कौ०, पृ० ४०१।

यहाँ तक विषयान्तर रहा। वास्तव में बलि नवमी तिथि को की जाती है। अभी अष्टमी तिथि के कृत्य का वर्णन करना शेष है। पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र से युक्त या विहीन अष्टमी तिथि को, जिसे महाष्टमी कहा जाता है, व्रती स्नान एवं आचमन करके पूर्व या उत्तर की ओर मुख होकर दर्भों के आसन पर बैठता है और अपने को पवित्र करता है। इसके उपरान्त वह प्राणायाम करता है और अपने विभिन्न अंगों (सिर से पैर तक) का न्यास करता है। इस विषय में देखिए दुर्गार्चनपद्धति (पृ० ६७८-६८१), नि० सि० (पृ० १७९-१८१)। अन्य विस्तार यहाँ छोड़ दिये जा रहे हैं।

महाष्टमी पूजा के दिन व्रती उपवास करता है। किन्तु पुत्रवान् व्रती ऐसा नहीं करता। अष्टमी तिथि को पूजा, नवमी तिथि को बलि, दशमी तिथि को देवी का विसर्जन आदि कृत्य किये जाते हैं।

अष्टमी तिथि को कुमारियों एवं ब्राह्मणों को खिलाया जाता है। देवीपुराण में आया है कि 'दुर्गा होम, दान एवं जप से उतनी प्रसन्नता नहीं व्यक्त करतीं जितनी कुमारियों को सम्मान देने से।' कुमारियों को दक्षिणा भी दी जाती है। और देखिए स्कन्द० जहाँ कुमारियों का विभाजन किया गया है—कुमारिका (दो वर्ष की), त्रिमूर्ति (तीन वर्ष की), कल्याणी, रोहिणी, काली, चण्डिका, शाम्भवी, दुर्गा, सुभद्रा। इनका वर्णन हम यहाँ नहीं करेंगे।

अब हम संक्षेप में नवमी तिथि (महानवमी) का वर्णन करेंगे। नवमी को चाहे उत्तराषाढ़ा नक्षत्र हो या न हो, महाष्टमी के समान ही पूजा की जाती है। पुरानी क्रियाओं का ही पुनरावर्तन होता रहता है, अन्तर केवल यह होता है कि इस दिन अधिक पशुओं की बलि की जाती है। इस विषय में विस्तार के लिए देखिए राजनीतिप्रकाश (पृ० ४३९-४४४) जहाँ देवीपुराण से लम्बे उद्धरण लिये गये हैं।

दशमी तिथि को स्नान, आचमन के उपरान्त १६ उपचारों के साथ पूजा की जाती है। बहुत-से कृत्यों के उपरान्त, यथा मूर्ति से विभिन्न वस्तुओं को हटाकर, किसी नदी या तालाब के पास जाकर संगीत, गान एवं नृत्य के साथ मन्त्रोच्चारण करके प्रतिमा को प्रवाहित कर दिया जाता है। ऐसी प्रार्थना की जाती है—'हे दुर्गा, विश्व की माता, आप अपने स्थान को चली जायँ और एक वर्ष के उपरान्त पुनः आयें।' इसके उपरान्त शबरोत्सव होता है। इसका अर्थ यह है कि दशमी तिथि को देवी-प्रतिमा के जल-प्रवाह के उपरान्त शबरों (वनवासी, भील आदि) से सम्बन्धित कृत्य (दुर्गापूजा के उपरान्त आनन्दाभिव्यक्ति के रूप में) किये जाने चाहिए। कालविवेक में आया है कि लोग विसर्जन के उपरान्त शबरों की भाँति पत्तियों से देह को ढँककर, कीचड़ आदि से शरीर को पोतकर नृत्य, गान एवं संगीत में प्रवृत्त हों आनन्दातिरेक से प्रभावित हो जायँ। और देखिए कालिकापुराण (६२।२० एवं ४३; ६२।३१) जहाँ क्रीड़ाकौतुक, मंगल एवं शबरोत्सव आदि का उल्लेख है। शबरोत्सव से यही अर्थ निकाला जा सकता है कि देवी की दृष्टि में सभी लोग बराबर हैं, अतः दशमी तिथि में सबको एक साथ मिलकर आनन्दोत्सव मनाना चाहिए। विसर्जन के उपरान्त लोग मित्रों के यहाँ जाते हैं और मिठाइयाँ खाते हैं। शबरोत्सव आजकल प्रचलित नहीं है।

प्रतिमा के लिए दो-एक बातें लिख देना आवश्यक है। ऐसी ही प्रतिमा का पूजन होता है जिसमें देवी सिंह एवं महिषासुर के साथ निर्मित हुई हों। मार्कण्डेय० (८०।३८ एवं ४०) में आया है कि देवी महिषासुर के गले पर चढ़ गयीं, उसे अपने त्रिशूल से मारा तथा अपनी भारी तलवार से उसके सिर को काट डाला और उसे भूमि पर गिरा दिया। आजकल देवी की प्रतिमा के साथ लक्ष्मी एवं गणेश की प्रतिमाएँ दाहिनी ओर तथा सरस्वती एवं कार्तिकेय की प्रतिमाएँ बायीं ओर बनी रहती हैं। प्रतिमा सोने, चाँदी, मिट्टी, धातु, पाषाण आदि की बन सकती है, या केवल देवी का चित्र मात्र हो सकता है। देवी की पूजा लिंग में, वेदिका पर या पुस्तक में, पादुकाओं पर,

प्रतिमा में, चित्र में, त्रिशूल में, तलवार में या जल में हो सकती है। और देखिए गरुड़ एवं भविष्यपुराण (दु० भ० त०, पृ० ४, ६ एवं ७)।

दुर्गा के बाहुओं के विषय में मतैक्य नहीं है। वराह० (९५।४१) में देवी के २० हाथ एवं २० हथियार हैं (९५।४२-४३)। देवीभागवत० (५।८।४४) में १८ हाथ कहे गये हैं। हेमाद्रि (व्रत, भाग १, पृ० ९२३-९२४) ने आठ एवं दस हाथों का उल्लेख किया है। और देखिए विद्यापति (पृ० ६-७)।

'नवरात्र' शब्द के विषय में कई मत हैं। कुछ लोगों के अनुसार नवरात्र का तात्पर्य है '९ दिन एवं रात्रि'। यह केवल समय का द्योतक है जिसमें व्रत किया जाता है, यह कर्म का नाम नहीं है। किन्तु कुछ लोग इसे व्रत से सम्बन्धित मानते हैं, जो आठ दिनों तक चल सकता है जब कि तिथि-क्षय हो, या १० दिनों तक, यदि पहले दिन से नवें दिन तक तिथि की कोई वृद्धि हो। पहला मत कालतत्त्वविवेक (पृ० १६५) में तथा दूसरा पुरुषार्थचिन्तामणि (पृ० ६१) में प्रकाशित है। हम इसके विवेचन में यहाँ नहीं पड़ेंगे।

नवरात्र में दुर्गापूजा के प्रमुख विषय, चाहे वे ३ दिनों (सप्तमी से प्रारम्भ होकर) तक चलें, या ९ दिनों (प्रथमा से नवमी) तक चलें, चार हैं, यथा **स्नपन** (प्रतिमा-स्नान), **पूजा, बलि** एवं **होम**। ऊपर हमने स्थानाभाव से स्नपन का विवेचन नहीं किया है। इस विषय में देखिए दुर्गार्चनपद्धति (पृ० ६७४), व्रतराज (पृ० ३४०) एवं अन्य निबन्ध। इन चारों कृत्यों में **पूजा** सबसे महत्त्वपूर्ण है और उपवास केवल पूजा का अंग है।

एक अन्य प्रश्न है---पूजा का समय क्या होना चाहिए? समयमयूख (पृ० १४) ने प्रातः काल, निर्णयसिन्धु (पृ० १६५) ने रात्रि काल माना है। किन्तु देवीपुराण एवं कालिकापुराण से व्यक्त होता है कि प्रातः, मध्याह्न एवं रात्रि तीनों ठीक हैं। इस प्रश्न के विषय में हम अन्य मतमतान्तरों का उल्लेख नहीं करेंगे।

ऊपर **कलश** या **घट** के विषय में संकेत किया जा चुका है। पूर्ण कलश पवित्रता एवं समृद्धि का प्रतीक है, ऐसा वैदिक काल से ही प्रकट है (ऋ० ३।३२।१५ 'आपूर्णो अस्य कलशः')। इसके विषय में दुर्गाभक्तितरंगिणी (पृ० ३), नि० सि० (पृ० ७६७), व्रतराज (पृ० ६२-६६), पुरुषार्थचिन्तामणि (पृ० ६६-६७) आदि में विशद उल्लेख है। दुर्गार्चनपद्धति (पृ० ६६३) में भी घट-स्थापन कृत्य का वर्णन है। यह दिन में किया जाता है न कि रात्रि में। पवित्र मिट्टी की वेदिका बनती है, उस पर यव (जौ) एवं गेहूँ के अन्न बो दिये जाते हैं और वहाँ सोने, चाँदी, ताम्र या मिट्टी का घट रख दिया जाता है, उसमें जल भरा जाता है, जिसमें चन्दन, सर्वौषधि, दूर्वा, पंचपल्लव, सात स्थानों की मिट्टी, फल, पंचरत्न एवं सोना डाल दिया जाता है। उपर्युक्त सभी कृत्यों के साथ वैदिक मन्त्रों का पाठ होता रहता है। घट को वस्त्र से घेर दिया जाता है, उसके मुख पर पूर्णपात्र (चावल से युक्त) रख दिया जाता है और उस पर वरुण-पूजा की जाती है। इसके उपरान्त घट में दुर्गा का आवाहन किया जाता है, सभी देवों की प्रतिष्ठा होती है, उपचार किये जाते हैं, प्रार्थना की जाती है। अन्य बातें विस्तार-भय से छोड़ दी जा रही हैं।

हेमाद्रि (व्रत, भाग १, पृ० ९०६) ने देवीपुराण से उद्धरण देकर अश्वों के सम्मान का उल्लेख किया है। दुर्गापूजा सबकी होती है। राजा या जिनके पास घोड़े होते हैं उन्हें द्वितीया तिथि से नवमी तक घोड़ों का सम्मान करना चाहिए। देखिए दुर्गाभक्तितरंगिणी (पृ० ५६-६३ एवं ६७-६९)। राजाओं को **लोहाभिसारिका** कृत्य करना पड़ता था। इस कृत्य को नीराजन भी कहा गया है। देखिए कृत्यकल्पतरु (पृ० ४०८-४१०) जहाँ नैयतकालिक विभाग में देवी-पूजा का उल्लेख है। इसमें दुर्गाष्टमी व्रत की चर्चा है, जिसके विषय में हेमाद्रि ने भी कुछ अन्तरों के साथ विवेचन उपस्थित किया है (व्रत, भाग १, पृ० ८५६-८६२)।

दुर्गापूजा की प्राचीनता के विषय में हमने इस महाग्रन्थ के खण्ड दो में पढ़ लिया है। यहाँ कुछ विशेष बातों का उल्लेख हो रहा है। तै० सं० (१।८।६।१) में अम्बिका को शिव की बहिन कहा गया है, किंतु तै० आ० (१०।१८) में शिव को अम्बिका या उमा का पति कहा गया है। वन० (अध्याय ६) में दुर्गा को यशोदा एवं नन्द की लड़की कहा गया है और उसे वासुदेव की बहिन कहा गया है और काली, महाकाली एवं दुर्गा की संज्ञा से विभूषित किया गया है। जब कृष्ण के कहने पर अर्जुन (भीष्म०, २३) ने दुर्गास्तोत्र का पाठ किया तो कई नामों का उल्लेख हुआ, यथा कुमारी, काली, कपाली, कपिला, भद्रकाली, महाकाली, चण्डी, कात्यायनी, कौशिकी, उमा। किन्तु महाभारत की इन उक्तियों की तिथियों के समय के विषय में कुछ निश्चित निर्णय देना सम्भव नहीं है। साहित्यिक ग्रन्थों एवं सिक्कों से दुर्गा-पूजा की प्राचीनता पर कुछ निश्चित तालिका उपस्थित होती है। रघुवंश (सर्ग २) में पार्वती द्वारा लगाये गये देवदारुवृक्ष की रक्षा के निमित्त नियुक्त एक सिंह का उल्लेख है। पार्वती को गौरी (रघुवंश, २।२६ एवं कुमारसम्भव, ७।९५) एवं भवानी (कुमार० ७।८४), चण्डी (मेघदूत, १।३३) कहा गया है। कुमारसम्भव में शिव का अर्धनारीश्वर स्वरूप भी उल्लिखित है (७।२८)। उसी ग्रन्थ में माताओं (७।३०, ३८), काली (मुण्डों का आभूषण धारण किये, ७।३९) के नाम आये हैं। मालतीमाधव (अंक ५) में चामुण्डा को पद्मावती नगरी में मानव-बलि दिये जाने का उल्लेख है। मृच्छकटिक (६।२७) में शुम्भ एवं निशुम्भ का दुर्गा द्वारा मारा जाना उल्लिखित है। यदि कालिदास का समय ३५०-४५० ई० है तो दुर्गापूजा ३०० ई० के पहले से अवश्य प्रचलित है। इस पर सिक्कों से भी प्रकाश पड़ता है। गुप्तकुल के सम्राट् चन्द्रगुप्त प्रथम (३०५-३२५ ई०) के सिक्कों पर सिंहवाहिनी देवी का चित्र है। तत्पूर्वकालीन कुषाण राजा 'कनिष्क' के सिक्कों पर भी चन्द्र एवं (बायीं ओर झुके हुए) सिंह के साथ देवी का चित्र है, देवी के हाथ में पाश एवं राजदण्ड है। पाश एवं वाहन सिंह से प्रकट होता है कि वह देवी दुर्गा है न कि लक्ष्मी। इससे हम प्रथम या दूसरी शताब्दी तक पहुँच जाते हैं।

दो नवरात्रों (चैत्र एवं आश्विन) की व्यवस्था क्यों की गयी है ? यहाँ केवल अनुमान लगाने से कुछ प्रकाश मिल सकता है। यह सम्भव है कि ये दोनों पूजाएँ वसन्त एवं शरद् कालीन नवान्नों से सम्बन्धित रही हों। दुर्गापूजा पर शाक्त सिद्धान्तों एवं प्रयोगों का प्रभाव पड़ा है। घोष ने अपने ग्रन्थ 'दुर्गापूजा' में कल्पना की है कि वैदिक काल की उषा ही पौराणिक एवं तान्त्रिक दुर्गा है। किन्तु यह अमान्य है। कहाँ वेदकाल की सुन्दर एवं शोभनीय उषा और कहाँ कालिकापुराण की भयंकर दुर्गा ? दोनों के बीच में जोड़ने वाली कोई कड़ियाँ नहीं हैं। दुर्गा का सम्बन्ध ज्योतिष की (पाँचवीं-छठी राशि) सिंहवाहिनी दुर्गा से हो सकता है, किन्तु इससे भी कोई विशिष्ट प्रकाश नहीं पड़ता।

इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली (जिल्द २१ पृ० २२७-२३१) में श्री एन० जी बनर्जी ने उदयसिंह की दुर्गोत्सवपद्धति की ओर निर्देश किया है, जिसमें जय के लिए महानवमी एवं संकल्प से आरम्भ हुआ है और अन्त किया गया है घोड़ों के प्रयाण करने के विवरण से, जो दशमी को होता है। इससे उन्होंने कहा है कि यह दुर्गापूजा आरम्भ में सैनिक कृत्य था जो आगे चलकर धार्मिक हो गया। उन्होंने अपनी स्थापना के लिए रघुवंश (४।२४-२५) का हवाला दिया है जिसमें शरद् के आगमन पर रघु द्वारा आक्रमण करने के लिए शान्ति कृत्य (अश्वनीराजना) किया गया है। यह बात बृहत्संहिता (अध्याय, ४४) से भी सिद्ध की गयी है जहाँ घोड़ों, हाथियों एवं सैनिकों का नीराजन करना आश्विन या कार्तिक के शुक्ल पक्ष की अष्टमी, द्वादशी या पूर्णिमा तिथियों में कहा गया है। किन्तु यह धारणा भ्रामक है, क्योंकि ऐसा बहुधा पाया गया है कि बहुत-से उत्सव समान तिथियों में होते हैं, यथा उत्तर भारत में रामलीला का उत्सव नवरात्र से संयुक्त हो दस दिनों तक चलता है। रामलीला एवं नवरात्र दोनों स्वतन्त्र कृत्य हैं।

अध्याय १०

विजयादशमी एवं दिवाली (दीपावली)

आश्विन शुक्ल की दशमी को विजयादशमी कहा जाता है। इसका विशद वर्णन हेमाद्रि (व्रत, भाग १, पृ० ९७०-९७३), निर्णयसिन्धु (पृ० ६९-७०), पुरुषार्थचिन्तामणि (पृ० १४५-१४८), व्रतराज (पृ० ३५९-३६१), कालतत्त्वविवेचन (पृ० ३०९-३१२), धर्मसिन्धु (पृ० ९६) आदि में किया गया है। कालनिर्णय (पृ० २३१-२३३) के मत से शुक्ल पक्ष की जो तिथि सूर्योदय के समय उपस्थित रहती है उसे कृत्यों के सम्पादन के लिए उचित समझना चाहिए और यही बात कृष्ण पक्ष की उन तिथियों के विषय में भी पायी जाती है जो सूर्यास्त के समय उपस्थित रहती हैं।[1] हेमाद्रि (व्रत, भाग १, पृ० ९७३) ने विद्धा दशमी के विषय में दो नियम प्रतिपादित किये हैं---वह तिथि, जिसमें श्रवण-नक्षत्र पाया जाय, स्वीकार्य है तथा वह दशमी, जो नवमी से संयुक्त हो। किन्तु अन्य निबन्धों में तिथि-सम्बन्धी बहुत-से जटिल विवेचन उपस्थित किये गये हैं। दो-एक निम्न हैं। यदि दशमी नवमी तथा एकादशी से संयुक्त हो तो नवमी स्वीकार्य है यदि इस पर श्रवण नक्षत्र न हो। स्कन्दपुराण में आया है---'जब दशमी नवमी से संयुक्त हो तो अपराजिता देवी की पूजा दशमी को उत्तर-पूर्व दिशा में अपराह्ण में होनी चाहिए। उस दिन कल्याण एवं विजय के लिए अपराजिता-पूजा होनी चाहिए।' (हे०, व्रत, भाग १, पृ० ९७३, पुराणसमुच्चय का उद्धरण; नि० सि०, पृ० १८९)। यह द्रष्टव्य है कि विजया-दशमी का उचित काल है अपराह्ण, प्रदोष केवल गौण काल है। यदि दशमी दो दिनों तक चली गयी हो तो प्रथम (नवमी से संयुक्त) स्वीकृत होनी चाहिए। यदि दशमी प्रदोष काल में (किन्तु अपराह्ण में नहीं) दो दिनों तक विस्तृत हो तो एकादशी से संयुक्त दशमी स्वीकृत होती है। जन्माष्टमी में जिस प्रकार रोहिणी मान्य नहीं है उसी प्रकार यहाँ श्रवण निर्णीत नहीं है। यदि दोनों दिन अपराह्ण काल में दशमी न अवस्थित हो तो नवमी से संयुक्त दशमी मान ली जाती है, किन्तु ऐसी दशा में जब दूसरे दिन श्रवण-नक्षत्र हो तो एकादशी से संयुक्त दशमी मान्य होती है। ये निर्णय निर्णयसिन्धु के हैं। अन्य विवरणों एवं मतभेदों के लिए देखिए हे० (व्रत, भा० १, पृ० ९७३), नि० सि० (पृ० १२९), स० म० (पृ० ६९), भृगु (स० म०, पृ० ६९), धर्मसिन्धु (पृ० ९६-९७), मुहूर्तचिन्तामणि (११।७४)।

विजयादशमी वर्ष की तीन अत्यन्त शुभ तिथियों में एक है, अन्य दो हैं चैत्र शुक्ल की एवं कार्तिक शुक्ल की प्रतिपदा। इसीलिए भारत में बच्चे इस दिन अक्षरारम्भ करते हैं (सरस्वती पूजन), इसी दिन लोग नया कार्य

१. तथा च मार्कण्डेयः। शुक्लपक्षे तिथिर्ग्राह्या यस्यामभ्युदितो रविः। कृष्णपक्षे तिथिर्ग्राह्या यस्यामस्तमितो रविः इति।...तत्पूर्वोत्तरविद्धयोर्दशम्योः पक्षभेदेन व्यवस्था द्रष्टव्या। का० नि० (पृ० २३१-२३३)।

आरम्भ करते हैं, भले ही चन्द्र आदि ज्योतिष के अनुसार ठीक से व्यवस्थित न हों, इसी दिन श्रवण-नक्षत्र में राजा शत्रु पर आक्रमण करते हैं और विजय तथा शान्ति के लिए इसे शुभ मानते हैं।

इस शुभ दिन के प्रमुख कृत्य हैं अपराजिता-पूजन, शमी-पूजन, सीमोल्लंघन (अपने ग्राम या राज्य की सीमा को लाँघना), घर को पुनः लौट आना एवं घर की नारियों द्वारा अपने समक्ष दीप घुमवाना, नये वस्त्रों एवं आभूषणों को धारण करना, राजाओं के द्वारा घोड़ों, हाथियों एवं सैनिकों का नीराजन तथा परिक्रमण कराना।

दशहरा या विजयादशमी सभी जातियों के लोगों के लिए एक महत्त्वपूर्ण दिन है, किन्तु राजाओं, सामन्तों एवं क्षत्रियों के लिए यह विशेष रूप से शुभ दिन है।

धर्मसिन्धु (पृ० ९६) में अपराजिता-पूजा की विधि संक्षेप में यों है—'अपराह्न में गाँव के उत्तर-पूर्व जाना चाहिए, एक स्वच्छ स्थल पर गोबर से लीप देना चाहिए, चन्दन से ८ कोणों का एक चित्र खींच देना चाहिए, संकल्प करना चाहिए (मम सकुटुम्बस्य क्षेमसिद्ध्यर्थमपराजितापूजनं करिष्ये; राजा के लिए—'मम सकुटुम्बस्य यात्रायां विजयसिद्ध्यर्थमपरा०')। इसके उपरान्त उस चित्र (आकृति) के बीच में अपराजिता का आवाहन करना चाहिए और इसी प्रकार उसके दाहिने एवं बायें जया एवं विजया का आवाहन करना चाहिए और साथ ही 'क्रियाशक्ति को नमस्कार' एवं 'उमा को नमस्कार' कहना चाहिए। इसके उपरान्त 'अपराजितायै नमः, जयायै नमः, विजयायै नमः' मन्त्रों के साथ अपराजिता, जया, विजया की पूजा १६ उपचारों के साथ करनी चाहिए और यह प्रार्थना करनी चाहिए, 'हे देवी, यथाशक्ति जो पूजा मैंने अपनी रक्षा के लिए की है, उसे स्वीकार कर आप अपने स्थान को जा सकती हैं।' राजा के लिए इसमें कुछ अन्तर है। राजा को विजय के लिए ऐसी प्रार्थना करनी चाहिए—'वह अपराजिता जिसने कण्ठहार पहन रखा है, जिसने चमकदार सोने की मेखला (करधनी) पहन रखी है, जो अच्छा करने की इच्छा रखती है, मुझे विजय दे', इसके उपरान्त उसे उपर्युक्त प्रार्थना करके विसर्जन करना चाहिए। तब सब को गाँव के बाहर उत्तर-पूर्व में उगे शमी वृक्ष की ओर जाना चाहिए और उसकी पूजा करनी चाहिए। शमी की पूजा के पूर्व या उपरान्त लोगों को सीमोल्लंघन करना चाहिए। कुछ लोगों के मत से विजयादशमी के अवसर पर राम एवं सीता की पूजा करनी चाहिए, क्योंकि उसी दिन राम ने लंका पर विजय प्राप्त की थी। राजा द्वारा की जाने वाली पूजा के विषय में देखिए हेमाद्रि (व्रत, भाग १, पृ० ९७०-७१), तिथितत्त्व (पृ० १०३)। निर्णयसिन्धु एवं धर्मसिन्धु तथा अन्य निबन्धों में शमी-पूजा के विषय में कुछ अन्य विस्तार पाये जाते हैं।[२] यदि शमी वृक्ष न हो तो अश्मन्तक वृक्ष की पूजा की जानी चाहिए।

इस अवसर पर कहीं-कहीं भैंसे या बकरे की बलि दी जाती है। भारत में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व देशी राज्यों में, यथा बड़ोदा, मैसूर आदि रियासतों में विजयादशमी (या दशहरा जैसा कि प्रचलित है) के अवसर पर दरबार लगते थे और हौदों से युक्त हाथियों एवं दौड़ते तथा उछल कूद करते हुए घोड़ों की सवारियाँ राजधानी की

२. तथा भविष्ये। शमी शमयते पापं शमी लोहितकण्टका। धारिण्यर्जुनबाणानां रामस्य प्रियवादिनी॥ करिष्यमाणयात्रायां यथाकालं सुखं मया। तत्र निर्विघ्नकर्त्री त्वं भव श्रीरामपूजिते॥ इति। नि० सि० (पृ० १९०), पु० चि० (पृ० १४७), ध० सि० (पृ० ९६))। विराटपर्व (अध्याय ५) में आया है कि जब पाण्डवों ने विराट की राजधानी में रहना चाहा तो उन्होंने अपने अस्त्र-शस्त्र (यथा, प्रसिद्ध गाण्डीव धनुष एवं तलवारें आदि) एक श्मशान के पास पहाड़ी पर स्थित शमी वृक्ष पर रख दिये थे। ऐसा भी परिकल्पित है कि राम ने लंका पर आक्रमण दशमी को ही किया था, जब श्रवण नक्षत्र था।

सड़कों पर निकलती थीं और जुलूस निकाला जाता था। प्राचीन एवं मध्य कालों में घोड़ों, हाथियों, सैनिकों एवं स्वयं का नीराजन उत्सव राजा लोग करते थे। कालिदास (रघु० ४।२४-२५) ने वर्णन किया है कि जब शरद ऋतु का आगमन होता था तो रघु 'वाजिनीराजना' नामक शान्ति कृत्य करते थे। वराह ने बृहत्संहिता (अध्याय ४४, कर्न द्वारा सम्पादित) में अश्वों, हाथियों एवं मानवों के शुद्धियुक्त कृत्य का वर्णन विस्तार से किया है। निर्णयसिन्धु ने सेना के नीराजन के समय के मन्त्रों का उल्लेख यों किया है---'हे सब पर शासन करने वाली देवी, मेरी वह सेना जो चार भागों (हस्ती, रथ, अश्व एवं पदाति) में विभाजित है, शत्रुविहीन हो जाय, और आपके अनुग्रह से मुझे सभी स्थानों में विजय-प्राप्ति हो।' तिथितत्त्व में ऐसी व्यवस्था है कि राजा को अपनी सेना को शक्ति प्रदान करने के लिए नीराजन करके जल या गोशाला के समीप खंजन को देखना चाहिए और उसे निम्न मन्त्र से सम्बोधित करना चाहिए---'खंजन पक्षी, तुम इस पृथ्वी पर आये हो, तुम्हारा गला काला एवं शुभ है, तुम सभी इच्छाओं को देने वाले हो, तुम्हें नमस्कार है।'[3] तिथितत्त्व (पृ० १०३) ने खंजन के देखे जाने आदि के बारे में प्रकाश डाला है। बृहत्संहिता (अ० ४५) ने खंजन के दिखाई पड़ने तथा किस दिशा में कब उसका दर्शन हुआ आदि के विषय में घटित होने वाली घटनाओं का उल्लेख किया है। देखिए कृत्यरत्नाकर (पृ० ३६६-३७३), वर्षक्रियाकौमुदी (पृ० ४५०-४५१)। मनु (५।१४) एवं याज्ञ० (१।१७४) ने खंजन को उन पक्षियों में परिगणित किया है जिन्हें नहीं खाना चाहिए (सम्भवतः यह प्रतिबन्ध इसीलिए था कि यह पक्षी शकुन या शुभ संकेत बताने वाला कहा जाता रहा है)।

उत्तरी भारत में रामलीला के उत्सव दस दिनों तक चलते रहते हैं और आश्विन की दशमी को समाप्त होते हैं, जिस दिन रावण एवं उसके साथियों की आकृतियाँ जलायी जाती हैं।

इसके अतिरिक्त इस अवसर पर और भी कई प्रकार के कृत्य होते हैं, यथा हथियारों की पूजा, दशहरा या विजयादशमी से सम्बन्धित वृत्तियों (पेशों) के औजारों या यन्त्रों की पूजा। स्थान-संकोच से यह विवरण नहीं उपस्थित किया जायगा।

दशहरा उत्सव की उत्पत्ति के विषय में कई कल्पनाएँ की गयी हैं। भारत के कतिपय भागों में नये अन्नों की हवि देने, द्वार पर धान की हरी एवं अनपकी बालियों को टाँगने तथा गेहूँ आदि के अंकुरों को कानों या मस्तक या पगड़ी पर रखने के कृत्य होते हैं, अतः कुछ लोगों का मत है कि यह कृषि का उत्सव है। कुछ लोगों के मत से यह रण-यात्रा का द्योतक है, क्योंकि दशहरा के समय वर्षा समाप्त हो जाती है, नदियों की बाढ़ थम जाती है, धान आदि कोष्ठागार में रखे जाने वाले हो जाते हैं। सम्भवतः यह उत्सव इसी दूसरे मत से सम्बन्धित है। भारत के अतिरिक्त अन्य देशों में भी राजाओं के युद्ध-प्रयाण के लिए यही निश्चित ऋतु थी। शमी-पूजा भी प्राचीन है। वैदिक यज्ञों के लिए शमी वृक्ष में उगे अश्वत्थ (पीपल) की दो टहनियों (अरणियों) से अग्नि उत्पन्न की जाती थी। अग्नि शक्ति एवं साहस की द्योतक है, शमी की लकड़ी के कुन्दे अग्नि-उत्पत्ति में सहायक होते हैं। देखिए अथर्ववेद (७।११।१), तै० ब्रा० (१।२।१।१६) एवं (१।२।१।७), तै० आ० (६।९।२) जहाँ शमी एवं अग्नि की पवित्रता एवं उपयोगिता की ओर मन्त्रसिक्त संकेत है। इस उत्सव का सम्बन्ध नवरात्र से भी है। क्योंकि इसमें महिषासुर के

३. **कृत्वा नीराजनं राजा बालवृद्ध्यै यथा बलम्। शोभनं खंजनं पश्येज्जलगोगोष्ठसंनिधौ।। नीलग्रीव शुभग्रीव सर्वकामफलप्रद। पृथिव्यामवतीर्णोसि खञ्जरीट नमोस्तु ते।। ति० त० (पृ० १०३); नि० सि० (पृ० १९०), व० क्रि० कौ० (पृ० ४५०)।**

विरोध में देवी के साहसपूर्ण कृत्यों का भी उल्लेख होता है और नवरात्र के उपरान्त ही वह उत्सव होता है। दशहरा या 'दसेरा' शब्द 'दश' (दस) एवं 'अहन्' से ही बना है। इस शब्द एवं ऊपर वर्णित 'दुर्गोत्सव' के साथ आये 'दशहरा' में अन्तर है। उत्तर भारत में विजया दशमी को दशहरा (दसेरा) भी कहा जाता है।

दिवाली—दीपों के उत्सव को सम्पूर्ण भारत में मान्यता प्राप्त है। किन्तु इसके कृत्य विभिन्न प्रकार से विभिन्न युगों एवं विभिन्न प्रान्तों में सम्पादित होते रहे हैं। किसी देव या देवी के सम्मान में किया गया यह केवल एक उत्सव नहीं है, जैसा कि कृष्णजन्माष्टमी या नवरात्र है। यह चार या पाँच दिनों तक चलता है और इसमें कई पृथक्-पृथक् कृत्य हैं। दीपावली के दिवस तो तीन ही हैं। इसे अधिक ग्रन्थों में **दीपावली** और कहीं-कहीं **दीपालिका** (भविष्योत्तर, अध्याय १४०, उपसंहार) संज्ञा दी हुई है। यदि इस उत्सव के किसी एक कृत्य पर विशेष बल दिया जाता है तो उसे **सुखरात्रि** (राजमार्तण्ड, १३४६-१३४८ एवं कालविवेक, पृ० २३२, ४०३-४०४), **यक्षरात्रि** (वात्स्यायन कामसूत्र, १।४।४२), **सुखसुप्तिका** (व्रतप्रकाश, हेमाद्रि, व्रत, भाग २, पृ० ३४८-३४९) की संज्ञाएँ भी प्राप्त हो गयी हैं। प्रो० पी० के० गोडे ने इस उत्सव की प्राचीनता पर विद्वत्तापूर्ण प्रकाश डाला है (गंगानाथ झा इंस्टीच्यूट जर्नल, जिल्द ३, पृ० २०५-२१६)। भविष्योत्तर में दो अर्थ वाला एक पद्य मिलता है।[4] नि० सि०, कालतत्त्वविवेचन (पृ० ३१५) के अनुसार चतुर्दशी, अमावास्या एवं कार्तिक प्रतिपदा के तीन दिनों तक यह कौमुदी-उत्सव होता है।[5]

सभी बातों के संयोग से दीपावली लगभग ५ दिनों तक चलती रहती है। इसमें पाँच दिनों तक पाँच कृत्य होते हैं, यथा धन-पूजा, नरकासुर पर विष्णु-विजय का उत्सव, लक्ष्मी-पूजा, बलि पर विष्णु की विजय का उत्सव, द्यूत-दिवस एवं भाई-बहिन-प्यार के आदान-प्रदान का उत्सव। आश्विन (अमान्त) के कृष्णपक्ष की त्रयोदशी से ही पाँच दिनों तक दीप-प्रकाश एवं पटाकों के छोड़ने के कृत्य होते रहते हैं। त्रयोदशी को 'धनतेरस' कहा जाता है। इस दिन धन्वन्तरि-जयन्ती का पर्व भी चिकित्सक लोग मनाते हैं। इसके पूर्व या उसी दिन घर, द्वार, आँगन स्वच्छ किये जाते हैं, लीपे-पोते जाते हैं, पात्र आदि को चमका दिया जाता है। देखिए पद्म० (६।११४।४), स्कन्द० (निर्णयामृत का उद्धरण, नि० सि०, पृ० २९६) एवं का० त० वि० (पृ० ३२३)।

चतुर्दशी से लेकर चार दिनों के उत्सव का वर्णन भविष्योत्तर में विस्तार के साथ दिया हुआ है। कुछ अन्य बातों का समावेश करते हुए हम इसी के आधार पर यहाँ प्रकाश डाल रहे हैं।

कार्तिक के कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को दिनोदय में नरक से बचने के लिए तैल मालिश कर स्नान करना चाहिए, सिर पर अपामार्ग की टहनियों को घुमाना चाहिए और इनके साथ जोती हुई भूमि की मिट्टी एवं काँटे भी होने

४. उपशमितमेघनादं प्रज्वलितदशाननं रमितरामम्। रामायणमिव सुभगं दीपदिनं हरतु वो दुरितम्॥ भविष्योत्तर० (१४०।७१)। प्रथम पंक्ति से दीपदिन एवं रामायण के तीन अंग-विशेष की ओर संकेत है। उपशमिताः मेघानां नादाः यस्मिन् (दीपदिन के सम्बन्ध में), उपशमितः मेघनादः यस्मिन् (रामायण के सम्बन्ध में); प्रज्वलितानि दशानां दीपवर्तीनाम् आननानि अग्राणि यस्मिन् (दीपदिन के साथ), प्रज्वलितः दशाननः रावणः यस्मिन् (रामायण के साथ); रमिताः रामाः युवतयः यस्मिन् (दीपदिन), रमितः रामः येन (रामायण)।

५. इषासितचतुर्दश्यामिन्दुक्षयतिथावपि। ऊर्जादौ स्वातिसंयुक्ते तदा दीपावली भवेत्। कुर्यात्संलग्नमेतच्च दीपोत्सवदिनत्रयम्॥ नारदसंहिता (नि० सि०, पृ० १९७, का० त० वि०, पृ० ३१५, व्रतराज, पृ० ५६३)।

चाहिए। इसके उपरान्त तिल-युक्त जल का तर्पण यम को किया जाता है और उसके सात नाम लिये जाते हैं।[६] पुराणों की व्यवस्था के अनुसार नरक के लिए (जिससे नरक में न पड़ना पड़े) एक दीप जलाना चाहिए और उसी सन्ध्या में ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि के मन्दिरों में, मठों, अस्त्रागारों, चैत्यों (वे उच्च स्थल जहाँ पुनीत वृक्ष-पौधे लगे रहते हैं), सभाभवनों, नदियों, भवन-प्राकारों, उद्यानों, कूपों, राजपथों एवं अन्तःपुरों में, सिद्धों, अर्हतों (जैन साधुओं), बुद्ध, चामुण्डा, भैरव के मन्दिरों, अश्वों एवं हाथियों की शालाओं में दीप जलाने चाहिए (भविष्योत्तर, १४०।१५-१७)। अन्य ग्रन्थों में ऐसा आया है कि इस दिन स्नान के बीच में अपामार्ग की टहनियों या पत्तियों या तुम्बी या प्रपुन्नाट की शाखाओं को शरीर पर घुमाना चाहिए, जिससे कि नरक (कष्ट) भग जाय और नरकासुर की स्मृति में चार दीप जलाने चाहिए। ऐसा आया है कि चतुर्दशी को लक्ष्मी तैल में और गंगा सभी जलों में निवास करने को दीपावली पर आती हैं और इसलिए जो व्यक्ति प्रातः तैल-स्नान करता है, वह यमलोक नहीं जाता। वर्तमान काल में दक्षिण में लोग चतुर्दशी को स्नान के उपरान्त कारीट नामक कड़ुवा फल पैर से कुचलते हैं, जो सम्भवतः नरकासुर के नाश का द्योतक है। तैल-स्नान अरुणोदय के समय होना चाहिए, किन्तु यदि किसी कारण ऐसा नहीं किया जा सके तो सूर्योदय के उपरान्त भी यह हो सकता है। धर्मसिन्धु (पृ० १०४) के मत से उस अवसर पर यतियों को भी तैल-स्नान करना चाहिए।[७] सम्भवतः आरम्भिक रूप में यह चतुर्दशी नरकचतुर्दशी कही जाती थी, क्योंकि नरक से बचने के लिए यम को प्रसन्न रखना पड़ता है। आगे चलकर प्राग्ज्योतिष नगरी (कामरूप) के राजा नरकासुर के कृष्ण द्वारा वध की कथा इसमें संयुक्त हो गयी। जब पृथिवी का संपर्क कृष्ण के वराहावतार से हुआ तो नरकासुर की उत्पत्ति हुई। इसी कथा से नरकचतुर्दशी का मिलन हो गया। आजकल केवल नरकासुर का नाममात्र ले लिया जाता है, यमतर्पण नहीं किया जाता।[८] विष्णु० (५।२९) एवं भागवत० (१०।५९, उत्तरार्ध) में नरकासुर के उपप्लवों (उपद्रवों, लूटखसोट) का वर्णन है। उसने देवताओं की माता अदिति के आभूषण छीन लिये, वरुण को छत्र से वंचित कर दिया, मन्दर पर्वत के मणिपर्वत शिखर को छीन लिया, देवताओं, सिद्धों एवं राजाओं की १६१०० कन्याएँ हर लीं और उन्हें प्रासाद में बन्दी बना लिया। कृष्ण ने उसे मार डाला। यदि पुराणों की बातें ऐतिहासिक तथ्य हैं तो उन्होने कृपा कर उन कन्याओं से विवाह करके उन अभागी कन्याओं की सामाजिक स्थिति उन्नत कर दी।

६. मदनपारिजात (२९६) ने वृद्धमनु से उद्धृत कर विभिन्न नाम दिये हैं—'यमाय धर्मराजाय मृत्यवे चान्तकाय च। वैवस्वताय कालाय सर्वभूतक्षयाय च॥ औदुम्बराय दध्नाय नीलाय परमेष्ठिने। वृकोदराय चित्राय चित्रगुप्ताय वै नमः॥' व० क्रि० कौ० (पृ० ४५९), नि० सि० (पृ० १९९) में भी इसका उद्धरण है। और देखिए पद्म० (६।१२४।१३-१४)। चतुर्दशी होने के कारण यम के १४ नाम दिये हुए हैं। इन १४ नामों के लिए देखिए भविष्योत्तर० (१४०।१०) एवं हेमाद्रि (व्रत, भाग २, पृ० ३५२)।

७. अरुणोदयकालस्यैव मुख्यत्वप्रतिपादनात्। केनचिन्निमित्तेनारुणोदयोदयकालेतिक्रान्ते सूर्योदयोत्तरमप्यभ्यंगः कर्तव्यः। पु० चि० (पृ० २४१)। और देखिए ध० सि० (पृ० १०४)।

८. 'यमाय नमः यमं तर्पयामि' के रूप में यम तर्पण होता है। यह तर्पण दक्षिणदिशाभिमुख होकर तिलयुक्त जल से तीन अंजलियों से किया जाता है और जब पिता जीवित हों तो सव्य होकर या मृत हों तो अपसव्य होकर ऐसा करना चाहिए।

तिथितत्त्व (पृ० १२४) एवं कृत्यतत्त्व (पृ० ४५०-५१) के अनुसार इस चतुर्दशी को चौदह प्रकार के शाक-पातों का सेवन करना चाहिए।

वर्षक्रियाकौमुदी, धर्मसिन्धु (पृ० १०४), पु० चि० (पृ० २५३), स० म० (पृ० ११७) आदि ग्रन्थों ने व्यवस्था दी है कि आश्विन कृष्णपक्ष की चतुर्दशी और अमावास्या की सन्ध्याओं को मनुष्यों को अपने हाथों में उल्काएँ (मशाल) लेकर अपने पितरों को दिखाना चाहिए और इस मन्त्र का पाठ करना चाहिए--'मेरे कुटुम्ब के वे पितर जिनका दाह-संस्कार हो चुका है, जिनका दाह-संस्कार नहीं हुआ है और जिनका दाह-संस्कार केवल प्रज्वलित अग्नि से (बिना धार्मिक कृत्य के) हुआ है, परम गति को प्राप्त हों। ऐसे पितर लोग, जो यमलोक से यहाँ महालया श्राद्ध पर आये हैं (भाद्रपद या आश्विन के कृष्णपक्ष में, पूर्णिमान्त गणना के अनुसार) उन्हें इन उल्काओं से मार्गदर्शन प्राप्त हो और वे (अपने लोकों को) पहुँच जायँ।'

मध्यकालिक निबन्धों ने आश्विन कृष्णपक्ष (अमान्त) की चतुर्दशी पर निम्न कृत्यों की व्यवस्था की है--अभ्यंग स्नान (तैल स्नान), यम तर्पण, नरक के लिए दीपदान, रात्रि में दीपदान, उल्कादान (हाथ में मशाल लेना), शिव-पूजा, महारात्रि-पूजा तथा केवल रात्रि में भोजन (नक्त) करना। अब केवल तीन (तैल स्नान, नरक-दीपदान एवं रात्रिदीपदान) ही प्रचलित हैं। स्नान के उपरान्त लोग नये वस्त्र एवं आभूषण धारण करते हैं, मिठाइयाँ और रात्रि में भाँति-भाँति के व्यंजन भोजन करते हैं। नि० सि० (पृ० १९७), पु० चि० (पृ० २४१), ध० सि० (पृ० १०४) में तैल-स्नान (अभ्यंग-स्नान) एवं त्रयोदशी से युक्त चतुर्दशी पर लम्बा विवेचन उपस्थित किया गया है। हम उसे यहाँ नहीं लिखेंगे। कृत्यतत्त्व (पृ० ४५०) में नरकचतुर्दशी को भूतचतुर्दशी की संज्ञा दी हुई है।

आश्विन कृष्णपक्ष चतुर्दशी, अमावास्या एवं कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा को प्रातःकाल तैल-स्नान (तेल लगाकर स्नान करना) व्यवस्थित किया गया है, क्योंकि इससे धन एवं ऐश्वर्य मिलता है।

यह अमावास्या महत्त्वपूर्ण दिन है। इसमें प्रातःकाल तैल-स्नान करके अलक्ष्मी (दुर्भाग्य एवं फटेहाली) को दूर करने के लिए लक्ष्मी-पूजा की जानी चाहिए। कुछ लोगों के मत से पीपल (अश्वत्थ), उदुम्बर, प्लक्ष, आम्र एवं वट की छाल को पानी में उबाल कर स्नान करना चाहिए और स्त्रियों द्वारा अपने सामने दीपदान कराना चाहिए। अन्य विवरणों के लिए देखिए भविष्योत्तर (अध्याय १४०, श्लोक १४-२९), हेमाद्रि (व्रत, भाग २, पृ० ३४८-३४९)। आजकल यह दिन वैश्यों एवं व्यापारियों द्वारा विशेष रूप से मनाया जाता है। वे अपने बही-खातों की पूजा करते हैं, अपने मित्रों, क्रेताओं एवं अन्य व्यापारियों को निमन्त्रित करते हैं और उनका ताम्बूल एवं मिठाइयों से सत्कार करते हैं। पुराने खाते बन्द किये जाते हैं और नये खोले जाते हैं। ऐसी अनुश्रुति है कि ब्रह्मा ने ब्राह्मणों को रक्षाबन्धन (श्रावण पूर्णिमा), क्षत्रियों को दशहरा (विजयदशमी), वैश्यों को दिवाली एवं शूद्रों को होलिका के उत्सव दिये हैं। लक्ष्मी-पूजा की रात्रि को सुखरात्रि कहते हैं। देखिए कृत्यतत्त्व (पृ० ४५२), व० क्रि० कौ०, ध० सि० (पृ० १०७)। इस अवसर पर लक्ष्मी-पूजा के साथ-साथ कुबेर की पूजा भी होती है, जिससे सुख मिले। इससे इसी रात्रि को सुखरात्रि भी कहते हैं।

भविष्योत्तर० (१४०।१४-२९) में अमावास्याकृत्य वर्णित है जो संक्षेप में यों है--प्रातःकाल अभ्यंग-स्नान, देव-पितरों की पूजा, दही, दूध, घृत से पार्वण-श्राद्ध, भाँति-भाँति के व्यंजनों से ब्राह्मण-भोजन; अपराह्न में राजा की अपनी राजधानी में ऐसी घोषणा करानी चाहिए कि आज बलि का आधिपत्य है, हे लोगो, आनन्द मनाओ। लोगों को अपने-अपने घरों में नृत्य एवं संगीत का आयोजन करना चाहिए, एक-दूसरे को ताम्बूल देना चाहिए, कुंकुम लगाना चाहिए, रेशमी वस्त्र धारण करना चाहिए, सोने एवं रत्नों के आभूषण धारण करने चाहिए। नारियों को सज-धजकर गोल बनाकर चलना चाहिए, सुन्दर कुमारियों को इधर-उधर चावल बिखेरने चाहिए और

विजय के लिए नीराजन (दीप घुमाना) करना चाहिए। राजा को चाहिए कि वह अर्धरात्रि के समय राजधानी में घूमकर लोगों के आनन्दोत्सव का निरीक्षण करे। जब अर्धरात्रि बीत जाय और पुरुषों की आँखें नींद से मतवाली हो जायँ तो नारियों को चाहिए कि वे सूपों एवं ढोलकों को पीट-पीटकर शोर-गुल करें और इस प्रकार अपने गृह-प्रांगण से अलक्ष्मी को भगायें।

कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा वर्ष की तीन अत्यन्त प्रमुख शुभ तिथियों में परिगणित होती है। ध० सि० (पृ० १०६) में आया है कि यद्यपि चतुर्दशी एवं उसके आगे के तीन दिन दीपावली की संज्ञा से विभूषित हैं; तथापि वह दिन जो स्वाति-नक्षत्र से संयुक्त है, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस दिन भी अभ्यंग-स्नान (तैल-स्नान) करने का नियम है। इस तिथि पर सबसे महत्त्वपूर्ण कृत्य है बलि-पूजन। भविष्योत्तर० (१४०-४७-७३) में यह यों वर्णित है---रात्रि में पाँच प्रकार के रंगीन चूर्णों से खचित भूमि पर एक वृत्त पर दो हाथों वाले बलि की आकृति राजा द्वारा बनायी जानी चाहिए। आकृति पर सभी आभूषण हों, उसके पास विन्ध्यावलि (बलि की पत्नी) भी हो और चारों ओर से कूष्माण्ड, बाण, मुर आदि असुर घेरे हुए हों। मूर्ति या आकृति पर मुकुट एवं कर्णाभूषण हों। राजा को अपने मन्त्रियों एवं भाइयों के साथ प्रासाद के मध्य में भाँति-भाँति के कमलों से पूजा करनी चाहिए, चन्दन, धूप, नैवेद्य (मांस एवं मदिरा से युक्त) भोजन देना चाहिए और यह मन्त्र कहना चाहिए--"बलिराज नमस्तुभ्यं विरोचन-सुत प्रभो। भविष्येन्द्र सुराराते पूजेयं प्रतिगृह्यताम्।" अर्थात् 'विरोचन के पुत्र राजा बलि, तुम्हें प्रणाम, देवों के शत्रु एवं भविष्य के इन्द्र, यह पूजा लो।' इसके उपरान्त उसे क्षत्रियों की गाथाओं पर आधारित नृत्यों, गानों, नाटकों आदि का अवलोकन कर रात्रि भर जागना चाहिए। सामान्य लोगों को भी अपने घरों में बलि की प्रतिमा को पर्यंक पर सजाना चाहिए। यह प्रतिमा चावल से बनी हुई होनी चाहिए और उस पर पुष्प एवं फल रखे रहने चाहिए। जो कुछ भी थोड़ा या अधिक दान इस अवसर पर किया जाता है वह अक्षय होता है और विष्णु को प्रसन्न करता है। कृत्यतत्त्व (पृ० ४५३) में आया है कि बलि को तीन पुष्पांजलियाँ दी जानी चाहिए। भविष्योत्तर ने जोड़ दिया है कि यह तिथि बलि के राज्य का विस्तार करती है, इस पर किये गये स्नान एवं दान सौगुना फल देते हैं।

यदि प्रतिपदा अमावास्या या द्वितीया से संयुक्त हो, तो बलि-पूजा, जिसका समय रात्रि है, अमावास्या से संयुक्त प्रतिपदा को की जानी चाहिए। यही बात माधव ने भी कही है (कालनिर्णय, पृ० २६)।

बलि विष्णुभक्त प्रह्लाद के पुत्र विरोचन का पुत्र था। वन० (२८।२) में आया है कि एक बार बलि ने अपने पितामह से पूछा कि 'कौन उत्तम है, क्षमा या तेज।' शान्ति० (२२५।१३) में ऐसा उल्लेख है कि बलि ने ब्राह्मणों से ईर्ष्या की। बलि बहुत शक्तिमान् था, उसने देवों का तेज छीन लिया। बलि की गाथा ब्रह्म० (७३), कूर्म० (१।१७), वामन० (अध्याय ७७ एवं ९२), स्कन्द० (अध्याय २४५-२४६), भविष्योत्तर० (१४०) में आयी है। बलि ने अश्वमेध यज्ञ किया। विष्णु ने वामन रूप धारण किया और बलि से तीन पग भूमि माँगी। यद्यपि शुक्र ने बलि को सचेत कर दिया था कि वामन और कोई नहीं साक्षात् विष्णु हैं, तथापि बलि ने तीन पग भूमि देने की प्रतिज्ञा की। वामन ने अपना रूप बढ़ाया और दो पगों से स्वर्ग एवं भूमिलोक को नाप लिया। जब वामन ने तीसरे पग के लिए भूमि माँगी तो बलि ने अपनी गरदन बढ़ा दी और इस प्रकार बलि पाताल लोक में दबा दिया गया। विष्णु ने प्रसन्न होकर बलि को पाताल लोक का अधिपति बना दिया और उसे भविष्य में होने वाले इन्द्र की स्थिति प्रदान की। यह कथा अति प्राचीन है। महाभाष्य (पाणिनि, ३।१।२६) में आया है---'जब कोई बलि-बन्धन की कथा कहता है या रंगमंच पर उसे खेलता है तो ऐसा कहा जाता है 'बलिं बन्धयति' (वह बलि को बाँधता है), जब कि बलि बहुत पहले बन्दी हुआ था।' इससे प्रकट है कि बलि की कथा नाटकों या कविताओं में २००० वर्ष पहले आ गयी थी।

बलिप्रतिपदा को वामनपुराण में **वीरप्रतिपदा** और **द्यूतप्रतिपदा** भी कहा गया है (कृत्यतत्त्व, पृ० ४५२)। पुराणों में आया है कि उस दिन पार्वती ने द्यूतक्रीड़ा में शंकर को हराया, जिससे शंकर दुखी एवं पार्वती प्रसन्न हुईं। उस दिन की हार से वर्ष भर धन की हानि होती है और विजय से वर्ष कल्याणकारी होता है। भारत के कतिपय भागों में इस दिन जूआ खेला जाता है, और बहुत-से लोग हारते हैं या जीतते हैं। नेपाल जसे छोटे राज्य में बलिप्रतिपदा के दिन सन् १९५५ ई० में ३० लाख रुपयों की बाजी हारी-जीती गयी थी!

इस दिन भी दीपदान होता है। ऐसा वचन है—'बलिराज्य के दिन दीपदान से लक्ष्मी स्थिर होती हैं, दीपदान से ही यह दीपावली कही गयी है। बलिराज्य आने पर जो दीपावली-उत्सव नहीं मनाता, उसके घर में किस प्रकार दीप जलेंगे?' (धर्मसिन्धु, पृ० १०६; पु० चि०, पृ० २४३-२४४)। बलिराज्य चतुर्दशी से लेकर तीन दिनों तक चलता है। अन्य बातें यहाँ छोड़ी जा रही हैं। विशेष विस्तार से अध्ययन के लिए देखिए ध० सि० (पृ० १०६), का० त० वि० (पृ० ३२१), नि० सि० (पृ० २०) आदि। प्रतिपदा को बहुत-से कृत्य होते हैं, यथा बलि-पूजा, दीपदान, गौओं एवं बैलों की पूजा, गोवर्धन की पूजा, मार्गपाली (सड़क की रक्षिका) को बाँधना, नववस्त्र-धारण, द्यूत-क्रीड़ा, पुरुषों एवं सधवा नारियों के समक्ष दीप घुमाना, एक शुभ माला को बाँधना। आजकल इनमें केवल दो-तीन ही किये जाते हैं, बलि-पूजा, दीपदान एवं द्यूत-क्रीड़ा। अतः हम संक्षेप में ही लिखेंगे। गौओं, बछड़ों एवं बैलों को सजाकर उनकी पूजा दो मन्त्रों से की जाती है। इस दिन गायों को दुहा नहीं जाता, बैलों पर सामान नहीं ढोये जाते। यह कार्तिक प्रतिपदा को किया जाता है। यह जब द्वितीया से संयुक्त हो तो कृत्य नहीं करना चाहिए, क्योंकि पुत्र, पत्नी या धन की हानि होती है, अतः वैसी स्थिति में अमावास्या से युक्त प्रतिपदा ही मान्य ठहरायी गयी है। देवल के अनुसार प्रतिपदा को गौओं की पूजा से प्रजा, गौएँ एवं राजा समृद्धिशाली होते हैं।

गोवर्धन-पूजा में वे लोग, जो गोवर्धन पर्वत के पास रहते हैं, वहीं जाते हैं, और प्रातःकाल उसकी पूजा करते हैं, किन्तु वे लोग, जो दूर रहते हैं, गोबर से या भोज्यान्न से गोवर्धन बना लेते हैं या चित्र खींचकर सोलहों उपचारों से गोवर्धन एवं कृष्ण को पूजा करते हैं और मन्त्रों का पाठ करते हैं। उन मन्त्रों में इन्द्र द्वारा की गयी अति वृष्टि से गोकुल को कृष्ण द्वारा बचाये जाने की घटना की ओर संकेत है। बड़े पैमाने पर नैवेद्य भोग लगाया जाता है। इसी से, जैसा कि स्मृतिकौस्तुभ (पृ० १७४) में आया है, **गोवर्धन-पूजा** को **अन्नकूट** (भोजन का टीला या शिखर) भी कहा गया है (विष्णुपुराण, ५।११।५-२५; वराह, १६४, पद्मपुराण)। आजकल बिहार एवं उड़ीसा में 'गायदाँड़' (गायदाण्) नामक उत्सव होता है जो कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा को अपराह्ण में सम्पादित होता है। उस दिन गायों के शरीर पर लाल एवं पीले रंग लगाये जाते हैं, सींगों पर तेल और गेरू लगाया जाता है। इस प्रकार से अलंकृत गौएँ एक छोटे छौने (सूअर के बच्चे) का पीछा करती हैं और अपने नोकीले सींगों से उसे मार डालती हैं। रस्सी से बँधे हुए छौने को ग्वाला लोग गायों के बीच फेंकते हैं और गाएँ भड़क कर उसका पीछा करती हैं और अपने सींगों से उसे दबाती हैं। यह दृश्य सचमुच बड़ा बीभत्स होता है।

अपराह्ण में ही इस प्रतिपदा को **मार्गपाली-बन्धन** कृत्य किया जाता है। अपने घर के आचार के अनुसार कुश या काश की रस्सी बनायी जाती है और पूर्व दिशा में स्थित किसी वृक्ष या लम्बे स्तम्भ में उसे बाँधा जाता है। उसका नमन करना होता है और मन्त्र के साथ प्रार्थना की जाती है। उस रस्सी के नीचे से सभी—राजा, ब्राह्मण आदि गौओं, हाथियों के साथ निकलते हैं। इसी प्रकार उसी ढंग की रस्सी से रस्साकशी की जाती है। एक ओर राजकुमार लोग और दूसरी ओर निम्न जाति के लोग होते हैं। यह कृत्य किसी मन्दिर के समक्ष, या महल में या चौराहे पर किया जाता है और समान संख्या में लोग दोनों ओर लग जाते हैं। यदि निम्न जाति के लोग जीत जाते हैं तो समझा जाता है कि राजा उस वर्ष विजयी रहेगा (आदित्यपुराण, नि० सि०, पृ० २०२; व्रतराज, पृ०

७०)। प्रातःकाल (यदि प्रतिपदा द्वितीया से युक्त हो) नारियों द्वारा नीराजन-उत्सव किया जाता है। यदि प्रतिपदा थोड़ी देर रहने वाली हो तो द्वितीया की संध्या में **मंगलमालिका** (शुभ कृत्यों का एक समूह या शुभ मालिकाओं का एक समूह) का कृत्य होता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि आश्विन शुक्ल चतुर्दशी सहित इन तीन दिनों को **कौमुदीमहोत्सव** की संज्ञा मिली है। भविष्योत्तर एवं पद्म० में 'कौमुदी' की व्युत्पत्ति 'कु' (पृथिवी) एवं 'मुद्' (प्रसन्न होना) से की गयी है, जिसका अर्थ है 'जिसमें लोग इस पृथिवी पर आपस में प्रसन्नता की प्राप्ति करते हैं।' दूसरा अर्थ यह है कि इस उत्सव में 'बलि को कुमुदों' (कुमुदिनियों) का दान किया जाता है।

वैदिक काल में आश्विन या शरद् में बहुत-से कृत्य किये जाते थे, यथा **आश्वयुजी** एवं **आग्रयण या नवसस्येष्टि**। पहला कृत्य सात पाकयज्ञों में परिगणित है (गौतमधर्मसूत्र, ८।१९) जो आश्विन की पूर्णिमा को सम्पादित होता था। इन दोनों कृत्यों का वर्णन इस महाग्रन्थ के खण्ड २ में हो चुका है। किन्तु इन कृत्यों में हम दिवाली उत्सव की गन्ध नहीं पाते। दिवाली के उद्गम के विषय में कुछ कहना सम्भव नहीं है। इस विषय में कुछ परिकल्पनाएँ की गयी हैं जो यथातथ्य नहीं लगतीं (देखिए श्री बी० ए० गुप्ते का लेख 'दिवाली फोकलोर', इण्डियन एण्टीक्वेरी, जिल्द ३२, पृ० २३७-२३९)।

कार्तिक शुक्ल द्वितीया को एक सुन्दर उत्सव होता है, जिसका नाम है **भ्रातृद्वितीया या यमद्वितीया**। भविष्य० (१४।१८-७३) में आया है---कार्तिक शुक्ल द्वितीया को यमुना ने यम को अपने घर पर भोजन के लिए निमन्त्रित किया, इसी से इसे संसार में यमद्वितीया के नाम से घोषित किया गया; समझदार लोगों को इस दिन अपने घर में मध्याह्न का भोजन नहीं करना चाहिए, उन्हें अपनी बहिन के घर में स्नेहवश खाना चाहिए; ऐसा करने से कल्याण या समृद्धि प्राप्त होती है। बहिनों को भेंट दी जानी चाहिए। सभी बहिनों को स्वर्णाभूषण, वस्त्र, आदर-सत्कार एवं भोजन देना चाहिए; किन्तु यदि बहिन न हो तो अपने चाचा या मौसी की पुत्री या मित्र की बहिन को बहिन मानकर ऐसा करना चाहिए। इसके विस्तार के लिए देखिए हेमाद्रि (व्रत, भाग १, पृ० ३८४ ३८५; का० वि०, पृ० ४०५; कृ० र०, पृ० ४१३; व० क्रि० कौ०, पृ० ४७६-४७८; ति० त०, पृ० २९; नि० सि०, पृ० २०३; कृत्यतत्त्व, पृ० ४५३)।

भ्रातृद्वितीया का उत्सव एक स्वतन्त्र कृत्य है, किन्तु यह दिवाली के तीन दिनों में सम्भवतः इसीलिए मिला लिया गया कि इसमें बड़ी प्रसन्नता एवं आह्लाद का अवसर मिलता है जो दिवाली की घड़ियों को बढ़ा देता है। भाई दरिद्र हो सकता है, बहिन अपने पति के घर में सम्पत्ति वाली हो सकती है; वर्षों से भेंट नहीं हो सकी है आदि-आदि कारणों से द्रवीभूत होकर हमारे प्राचीन लेखकों ने इस उत्सव की परिकल्पना कर डाली है। भाई-बहिन एक दूसरे-से मिलते हैं, बचपन के सुख-दुख की याद करते हैं। इस कृत्य में धार्मिकता का रंग भी जोड़ दिया गया है। ऋ० (१०।१०) में वर्णित यम एवं यमी का आख्यान यहाँ आ गया है।

पद्मपुराण में ऐसा आया है कि जो व्यक्ति अपनी विवाहिता बहिनों को वस्त्रों एवं आभूषणों से सम्मानित करता है, वह वर्ष भर किसी झगड़े में नहीं पड़ता और न उसे शत्रुओं का भय रहता है। भविष्योत्तर एवं पद्म० ने कहा है—'जिस दिन यम को यमुना ने इस लोक में स्नेहपूर्वक भोजन कराया, उस दिन जो व्यक्ति अपनी बहिन के हाथ का बनाया हुआ भोजन करता है वह धन और सुन्दर भोजन पाता है।'

वैदिक काल तथा मनु (३।११), याज्ञ० (१।५३) जैसी आरम्भिक काल की स्मृतियों के काल में भाई से विहीन कुमारियों के विवाह में कठिनाई होती थी। किन्तु इसी भावना या व्यवहार से भ्रातृ-द्वितीया का उद्गम मान लेना उचित नहीं है।

अध्याय ११

मकरसंक्रान्ति एवं महाशिवरात्रि

मकर-संक्रान्ति---यह एक अति महत्त्वपूर्ण धार्मिक कृत्य एवं उत्सव है। आज से लगभग ८० वर्ष पूर्व, उन दिनों के पंचांगों के अनुसार, यह १२वीं या १३वीं जनवरी को पड़ती थी, किन्तु अब विषुवतों के अग्रगमन (अयन-चलन) के कारण १३वीं या १४वीं जनवरी को पड़ा करती है। 'संक्रान्ति' का अर्थ है सूर्य का एक राशि से दूसरी राशि में जाना, अतः वह राशि जिसमें सूर्य प्रवेश करता है, संक्रान्ति की संज्ञा से विख्यात है। जब सूर्य धनु राशि को छोड़कर मकर राशि में प्रवेश करता है तो मकरसंक्रान्ति होती है।[1] राशियाँ बारह हैं, यथा मेष, वृषभ, मिथुन, कर्कट, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ, मीन। मलमास पड़ जाने पर भी वर्ष में केवल १२ राशियाँ होती हैं। प्रत्येक संक्रान्ति पवित्र दिन के रूप में ग्राह्य है। मत्स्य० (अध्याय ९८) ने संक्रान्ति-व्रत का वर्णन किया है। एक दिन पूर्व व्यक्ति (नारी या पुरुष) को केवल एक बार मध्याह्न में भोजन करना चाहिए और संक्रान्ति के दिन दाँतों को स्वच्छ करके तिलयुक्त जल से स्नान करना चाहिए। व्यक्ति को चाहिए कि वह किसी संयमी ब्राह्मण गृहस्थ को भोजन सामग्रियों से युक्त तीन पात्र तथा एक गाय यम, रुद्र एवं धर्म के नाम पर दे और चार श्लोकों को पढ़े, जिनमें एक यह है 'यथा भेदं न पश्यामि शिवविष्ण्वर्कपद्मजान्। तथा ममास्तु विश्वात्मा शंकरः शंकरः सदा॥' (मत्स्य० ९८।१७), अर्थात् 'मैं शिव एवं विष्णु तथा सूर्य एवं ब्रह्मा में अन्तर नहीं करता, वह शंकर, जो विश्वात्मा है, सदा कल्याण करने वाला हो' (दूसरे 'शंकर' शब्द का अर्थ है-- शं कल्याणं करोति)। यदि हो सके तो व्यक्ति को चाहिए कि वह ब्राह्मण को आभूषणों, पर्यंक, स्वर्णपात्रों (दो) का दान करे। यदि वह दरिद्र हो तो ब्राह्मण को केवल फल दे। इसके उपरान्त उसे तैल-विहीन भोजन करना चाहिए और यथाशक्ति अन्य लोगों को भोजन देना चाहिए। स्त्रियों को भी यह व्रत करना चाहिए। संक्रान्ति, ग्रहण, अमावास्या एवं पूर्णिमा पर गंगा-स्नान महापुण्यदायक माना गया है, और ऐसा करने पर व्यक्ति ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है।[2] प्रत्येक संक्रान्ति पर सामान्य जल (गर्म नहीं किया हुआ) से स्नान करना नित्यकर्म कहा जाता है, जैसा कि देवीपुराण (का० वि०, पृ०

१. रवेः संक्रमणं राशौ संक्रान्तिरिति कथ्यते। स्नानदानतपःश्राद्धहोमादिषु महाफला॥ नागरखण्ड (हे०, काल, पृ० ४१०); मेषादिषु द्वादशराशिषु क्रमेण सञ्चरतः सूर्यस्य पूर्वस्माद्राशेरुत्तरराशौ संक्रमणं प्रवेशः संक्रान्तिः। अतस्तद्राशिनामपुरःसरं सा संक्रान्तिर्व्यपदिश्यते। का० नि० (पृ० ३३१)।

२. संक्रान्त्यां पक्षयोरन्ते ग्रहणे चन्द्रसूर्ययोः। गंगास्नातो नरः कामाद् ब्रह्मणः सदनं व्रजेत्॥ भविष्य० (व० क्रि० कौ०, पृ० ५१४)।

३८० का० नि०, पृ० ३३३ आदि में उद्धृत) में घोषित है—'जो व्यक्ति संक्रान्ति के पवित्र दिन पर स्नान नहीं करता वह सात जन्मों तक रोगी एवं निर्धन रहेगा; संक्रान्ति पर जो भी देवों को हव्य एवं पितरों को कव्य दिया जाता है वह सूर्य द्वारा भविष्य के जन्मों में लौटा दिया जाता है।'

प्राचीन ग्रन्थों में ऐसा लिखित है कि केवल सूर्य का किसी राशि में प्रवेश मात्र ही पुनीतता का द्योतक नहीं है, प्रत्युत सभी ग्रहों का अन्य नक्षत्र या राशि में प्रवेश पुण्यकाल माना जाता है (का० नि०, पृ० ३४५)। हे० (काल, पृ० ४३७) एवं का० नि० (पृ० ३४५) ने क्रम से जैमिनि एवं ज्योतिःशास्त्र से उद्धरण देकर सूर्य एवं ग्रहों की संक्रान्ति का पुण्यकाल को घोषित किया है—'सूर्य के विषय में संक्रान्ति के पूर्व या पश्चात् १६ घटिकाओं का समय पुण्य समय है; चन्द्र के विषय में दोनों ओर एक घटी १३ पल पुण्यकाल है; मंगल के लिए ४ घटिकाएँ एवं एक पल; बुध के लिए ३ घटिकाएँ एवं १४ पल; बृहस्पति के लिए चार घटिकाएँ एवं ३७ पल; शुक्र के लिए ४ घटिकाएँ एवं एक पल तथा शनि के लिए ८२ घटिकाएँ एवं ७ पल।'

ग्रहों की भी संक्रान्तियाँ होती हैं, किन्तु पश्चात्कालीन लेखकों के अनुसार 'संक्रान्ति' शब्द केवल रवि-संक्रान्ति के नाम से ही द्योतित है, जैसा कि स्मृतिकौस्तुभ (पृ० ५३१) में उल्लिखित है।

वर्ष भर की १२ संक्रान्तियाँ चार श्रेणियों में विभक्त हैं—(१) दो **अयन-संक्रान्तियाँ** (मकर-संक्रान्ति, जब **उत्तरायण** का आरम्भ होता है एवं कर्कट-संक्रान्ति, जब **दक्षिणायन** का आरम्भ होता है), (२) दो **विषुव-संक्रान्तियाँ** (अर्थात् मेष एवं तुला संक्रान्तियाँ, जब रात्रि एवं दिन बराबर होते हैं), (३) वे चार संक्रान्तियाँ, जिन्हें **षडशीतिमुख** (अर्थात् मिथुन, कन्या, धनु एवं मीन) कहा जाता है तथा (४) **विष्णुपदी** या **विष्णुपद** (अर्थात् वृषभ, सिंह, वृश्चिक एवं कुम्भ) नामक संक्रान्तियाँ।[३]

आगे चलकर संक्रान्ति का देवीकरण हो गया और वह साक्षात् दुर्गा कही जाने लगी। देवीपुराण (हे०, काल, पृ० ४१८-४१९; कृ० र०, पृ० ६१४-६६५ एवं कृत्यकल्प, पृ० ३६१-३६१) में आया है कि देवी वर्ष, अयन, ऋतु, मास, पक्ष, दिन आदि के क्रम से सूक्ष्म-सूक्ष्म विभाग के कारण सर्वगत विभु रूप वाली है। देवी पुण्य एवं पाप के विभागों के अनुसार फल देने वाली है। संक्रान्ति के काल में किये गये एक कृत्य से भी कोटि-कोटि फलों की प्राप्ति होती है। धर्म से आयु, राज्य, पुत्र, सुख आदि की वृद्धि होती है, अधर्म से व्याधि, शोक आदि बढ़ते हैं। विषुव (मेष एवं तुला) संक्रान्ति के समय जो दान या जप किया जाता है या अयन (मकर एवं कर्कट संक्रान्ति) में जो सम्पादित होता है, वह अक्षय होता है। यही बात विष्णुपद एवं षडशीति-मुख के विषय में भी है।

---

३. पञ्चसिद्धान्तिका (३।२३-२४, पृ० ९) ने परिभाषा की है—'मेषतुलादौ विषुवत् षडशीतिमुखं तुलादिभागेषु। षडशीतिमुखेषु रवेः पितृदिवसा येऽवशेषाः स्युः॥ षडशीतिमुखं कन्याचतुर्दशेऽष्टादशे च मिथुनस्य। मीनस्य द्वाविंशे षड्विंशे कार्मुकस्यांशे॥' तुला आदिर्यस्याः सा तुलादिः कन्या। द्वादशैव भवन्त्येषां द्विज नामानि मे शृणु। एकं विष्णुपदं नाम षडशीतिमुखं तथा॥ विषुवं च तृतीयं च अन्ये द्वे दक्षिणोत्तरे॥ कुम्भालिगोहरिषु विष्णुपदं वदन्ति स्त्रीचापमीनमिथुने षडशीतिवक्त्रम्। अर्कस्य सौम्यमयनं शशिधाम्नि याम्यमृक्षे झषे विषुवति त्वजतौलिनोः स्यात्॥ ब्रह्मवैवर्त (हे०, काल, पृ० ४०७)। कुछ शब्दों की व्याख्या आवश्यक है—अलि वृश्चिक, गो वृषभ, हरि सिंह, स्त्री कन्या, चाप धनुः, शशिधाम्नि शशिगृह कर्कटक, सौम्यायन उत्तरायण, याम्य दक्षिणायन (यम दक्षिण का अधिपति है), झष मकर, अज मेष, तौली (जो तराजू पकड़े रहता है) तुला।

सूर्य जब एक राशि छोड़कर दूसरी में प्रवेश करता है तो उस काल का यथावत् ज्ञान हमारी मांसल आँखों से सम्भव नहीं है, अतः संक्रान्ति की ३० घटिकाएँ इधर या उधर के काल का द्योतन करती हैं (का० नि०, पृ० ३३३)।

सूर्य का दूसरी राशि में प्रवेश-काल इतना कम होता है कि उसमें संक्रान्ति-कृत्यों का सम्पादन असम्भव है, अतः इसकी सन्निधि का काल उचित ठहराया गया है। देवीपुराण में संक्रान्ति-काल की लघुता का उल्लेख यों है— 'स्वस्थ एवं सुखी मनुष्य जब एक बार पलक गिराता है तो उसका तीसवाँ काल 'तत्पर' कहलाता है, तत्पर का सौवाँ भाग 'त्रुटि' कहा जाता है तथा त्रुटि के सौवें भाग में सूर्य का दूसरी राशि में प्रवेश होता है। सामान्य नियम यह है कि वास्तविक काल के जितने ही समीप कृत्य हो वह उतना ही पुनीत माना जाता है।' इसी से संक्रान्तियों में पुण्यतम काल सात प्रकार के माने गये हैं—३, ४, ५, ७, ८, ९ या १२ घटिकाएँ। इन्हीं अवधियों में वास्तविक फल-प्राप्ति होती है। यदि कोई इन अवधियों के भीतर प्रतिपादित कृत्य न कर सके तो उसके लिए अधिकतम काल-सीमाएँ ३० घटिकाओं की होती हैं; किन्तु ये पुण्यकाल-अवधियाँ षडशीति (इसमें अधिकतम पुण्यकाल ६० घटिकाओं का है) एवं विष्णुपदी (जहाँ १६ घटिकाओं की इधर-उधर छूट है) को छोड़कर अन्य सभी संक्रान्तियों के लिए है।

ये बारह संक्रान्तियाँ सात प्रकार की (सात नामों वाली) हैं जो किसी सप्ताह के दिन या किसी विशिष्ट नक्षत्र के सम्मिलन के आधार पर उल्लिखित हैं; वे ये हैं—मन्दा, मन्दाकिनी, ध्वांक्षी, घोरा, महोदरी, राक्षसी एवं मिश्रिता। घोरा रविवार (मेष या कर्क या मकर संक्रान्ति) को, ध्वांक्षी सोमवार को, महोदरी मंगल को, मन्दाकिनी बुध को मन्दा बृहस्पति को, मिश्रिता शुक्र को एवं राक्षसी शनि को होती है। इसके अतिरिक्त कोई संक्रान्ति (यथा मेष या कर्क आदि) क्रम से मन्दा, मन्दाकिनी, ध्वांक्षी, घोरा, महोदरी, राक्षसी, मिश्रिता कही जाती है यदि वह क्रम से ध्रुव, मृदु, क्षिप्र, उग्र, चर, क्रूर या मिश्रित नक्षत्र से युक्त हो। २७ या २८ नक्षत्र निम्नोक्त रूप से सात दलों में विभाजित हैं—**ध्रुव** (या स्थिर)—उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढा, उत्तराभाद्रपदा, रोहिणी; **मृदु**—अनुराधा, चित्रा, रेवती, मृगशीर्ष; **क्षिप्र** (या लघु)—हस्त, अश्विनी, पुष्य, अभिजित्; **उग्र**—पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाषाढा, पूर्वाभाद्रपदा, भरणी, मघा; **चर**—पुनर्वसु, श्रवण, धनिष्ठा, स्वाती, शतभिषक्; **क्रूर** (या तीक्ष्ण)—मूल, ज्येष्ठा, आर्द्रा, आश्लेषा; **मिश्रित** (या मृदुतीक्ष्ण या साधारण)—कृत्तिका, विशाखा (देखिए बृहत्संहिता, ९८।६-११; कृ० क०, नैयत०, पृ० ३६१; हे०, काल, पृ० ४०९; का० नि०, पृ० ३४१-३४२; स० म०, पृ० १३७। बृहत्संहिता ९८।९ एवं कृत्यकल्प०, नैयत० ने लघु दल में अभिजित् का उल्लेख नहीं किया है)। ऐसा उल्लिखित है कि ब्राह्मणों के लिए मन्दा, क्षत्रियों के लिए मन्दाकिनी, वैश्यों के लिए ध्वांक्षी, शूद्रों के लिए घोरा, चोरों के लिए महोदरी, मद्य-विक्रेताओं के लिए राक्षसी तथा चाण्डालों, पुक्कसों तथा जिनकी वृत्तियाँ (पेशे) भयंकर हों एवं अन्य शिल्पियों के लिए मिश्रित संक्रान्ति श्रेयस्कर होती है (हे०, काल, पृ० ४०९-४१० एवं व० क्रि० कौ०, पृ० २१० जहाँ देवीपुराण की उक्तियाँ उद्धृत हैं)।

संक्रान्ति के पुण्यकाल के विषय में सामान्य नियम के प्रश्न पर कई मत हैं। शातातप (हे०, काल, पृ० ४१७, का० वि०, पृ० ३८२; कृत्यकल्प०, नैयत०, पृ० ३६१-३६२ एवं ३६५), जाबाल एवं मरीचि ने संक्रान्ति के धार्मिक कृत्यों के लिए संक्रान्ति के पूर्व एवं उपरान्त १६ घटिकाओं का पुण्यकाल प्रतिपादित किया है; किन्तु देवीपुराण एवं वसिष्ठ (कृत्यकल्प०, नैयत०, पृ० ३६०; हे०, काल, पृ० ४१८; स० म०, पृ० १३७) ने १५ घटिकाओं के पुण्यकाल की व्यवस्था दी है। यह विरोध यह कहकर दूर किया गया है कि लघु अवधि केवल अधिक पुण्य फल देने के लिए है और १६ घटिकाओं की अवधि विष्णुपदी संक्रान्तियों के लिए प्रतिपादित है।

संक्रान्ति दिन या रात्रि दोनों में हो सकती है। दिन वाली संक्रान्ति पूरे दिन भर पुण्यकाल वाली होती है। रात्रि वाली संक्रान्ति के विषय में हेमाद्रि, माधव आदि में लम्बे विवेचन उपस्थित किये गये हैं। एक नियम यह है कि दस संक्रान्तियों में (मकर एवं कर्कट को छोड़कर) पुण्यकाल दिन में होता है, जब कि वे रात्रि में पड़ती हैं। अन्य विवेचनों के विषय में देखिए तिथितत्त्व (पृ० १४४-१४५), धर्मसिन्धु (पृ० २-३)। हम विस्तार में यहाँ नहीं पड़ेंगे।

पूर्ण पुण्यलाभ के लिए पुण्यकाल में ही स्नान-दान आदि कृत्य किये जाते हैं। सामान्य नियम यह है कि रात्रि में न तो स्नान किया जाता है और न दान। पराशर (१२।२०; स्मृति च० १, पृ० १२०) में आया है कि सूर्यकिरणों से पूत दिन में स्नान करना चाहिए, रात्रि में ग्रहण को छोड़कर अन्य अवसरों पर स्नान नहीं करना चाहिए। यही बात विष्णुधर्मसूत्र में भी है। किन्तु कुछ अपवाद भी प्रतिपादित हैं। भविष्य० (हे०, काल, पृ० ४३३; का० नि०, पृ० ३३९) में आया है कि रात्रि में स्नान नहीं करना चाहिए, विशेषतः रात्रि में दान तो नहीं ही करना चाहिए, किन्तु उचित अवसरों पर ऐसा किया जा सकता है, यथा ग्रहण, विवाह, संक्रान्ति, यात्रा, जनन, मरण तथा इतिहास श्रवण में। और देखिए गोभिल (हे०, काल, पृ० ४३२; नि० सि०, पृ० ७)। अतः प्रत्येक संक्रान्ति पर, विशेषतः मकर-संक्रान्ति पर स्नान नित्य कर्म है। दान निम्न प्रकार के किये जाते हैं—मेष में भेड़, वृषभ में गौएँ, मिथुन में वस्त्र, भोजन एवं पेय पदार्थ, कर्कट में घृतधेनु, सिंह में सोने के साथ वाहन, कन्या में वस्त्र एवं गौएँ, नाना प्रकार के अन्न एवं बीज, तुला-वृश्चिक में वस्त्र एवं घर, धनु में वस्त्र एवं वाहन, मकर में इन्धन एवं अग्नि, कुम्भ में गौएँ जल एवं घास, मीन में नये पुष्प। अन्य विशेष प्रकार के दानों के विषय में देखिए स्कन्द० (हे०, काल, पृ० ४१५-४१६, नि० सि०, पृ० २१८), विष्णुधर्मोत्तर, कालिका० (हे०, काल, पृ० ४१३; कृत्यकल्प०, नैयत०, पृ० ३६६-३६७, आदि।[४]

मकर-संक्रान्ति के सम्मान में तीन दिनों या एक दिन का उपवास करना चाहिए। 'जो व्यक्ति तीन दिनों तक उपवास करता है और उसके उपरान्त स्नान करके अयन (सूर्य के उत्तरायण या दक्षिणायन) पर सूर्य की पूजा करता है, विषुव एवं सूर्य या चन्द्र के ग्रहण पर पूजा करता है तो वह वांछित इच्छाओं की पूर्णता पाता है।' आपस्तम्ब में आया है कि जो व्यक्ति स्नान के उपरान्त अयन, विषुव, सूर्यचन्द्र-ग्रहण पर दिन भर उपवास करता है वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है। किन्तु पुत्रवान् व्यक्ति को रविवार, संक्रान्ति एवं ग्रहणों पर उपवास नहीं करना चाहिए (वृद्धवसिष्ठ, हे०, काल, पृ० ४१२; व० क्रि० कौ०, पृ० ९१)।

४. स्कन्दे—धेनुं तिलमयीं राजन् दद्याद्यश्चोत्तरायणे। सर्वान् कामानवाप्नोति विन्दते परमं सुखम्॥ विष्णुधर्मोत्तरे—उत्तरे त्वयने विप्रा वस्त्रदानं महाफलम्। तिलपूर्वमनड्वाहं दत्त्वा रोगैः प्रमुच्यते॥ शिवरहस्ये। पुरा मकरसंक्रान्तौ शंकरो गोसवे कृते। तिलानुत्पादयामास तृप्तये सर्वदेहिनाम्। तस्मात्तस्यां तिलैः स्नानं कार्यं चोद्वर्तनं बुधैः। देवतानां पितृणां च सोदकैस्तर्पणं तिलैः। तिला देयाश्च विप्रेभ्यः सर्वदैवोत्तरायणे। तिलांश्च भक्षयेत्पुण्यान् होतव्याश्च तथा तिलाः। तस्यां तिथौ तिलैर्हुत्वा येऽर्चयन्ति द्विजोत्तमान्। त्रिदिवे ते विराजन्ते गोसहस्रप्रदायिनः। तिलतैलेन दीपाश्च देयाः शिवगृहे शुभाः। सतिलैस्तण्डुलैर्देवं पूजयेद्विधिवद् द्विजम्॥ हे० (काल, पृ० ४१५-४१६); नि० सि० (पृ० २१८)। गोसहस्र १६ महादानों में एक है। देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड २। 'त्रिदिवे ते विराजन्ते' के साथ मिलाइए ऋ० (१०।१०७।२): 'उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुर्ये अश्वदाः सह ते सूर्येण।'

राजमार्तण्ड में संक्रान्ति पर किये गये दानों के पुण्य-लाभ पर दो श्लोक हैं—'अयन-संक्रान्ति पर (किये गये दानों) का फल (सामान्य दिन के दान के) फल का कोटिगुना होता है और विष्णुपदी पर वह लक्षगुना होता है; षडशीति पर यह ८६००० गुना घोषित है (व० क्रि० कौ०, पृ० २१४; का० वि०, पृ० ३८२)। चन्द्र ग्रहण पर दान सौ गुना एवं सूर्य ग्रहण पर सहस्रगुना, विषुव पर शतसहस्रगुना तथा आकामावै (आ आषाढ़, का कार्तिक, मा माघ, वै वैशाख) की पूर्णिमा पर अनन्त फलों को देने वाला है।' भविष्य० ने अयन एवं विषुव संक्रान्तियों पर गंगा-स्नान की प्रभूत महत्ता गायी है। देखिए वि० ध० सू० (३।३१९।३८–४५)।

कुछ लोगों के मत से संक्रान्ति पर श्राद्ध करना चाहिए। वि० ध० सू० (७७।१-२) में आया है—'आदित्य अर्थात् सूर्य के संक्रमण पर (जब सूर्य एक राशि से दूसरी में प्रवेश करता है), दोनों विषुव दिनों पर, अपने जन्म-नक्षत्र पर, (विवाह, पुत्र-जन्म के) विशिष्ट शुभ अवसरों पर काम्य श्राद्ध करना चाहिए; इन दिनों के श्राद्ध से पितरों को अक्षय सन्तोष प्राप्त होता है।' यहाँ पर भी विरोधी मत हैं। शूलपाणि के मत से संक्रान्ति-श्राद्ध में पिण्डदान होना चाहिए, किन्तु निर्णयसिन्धु (पृ० ६) के मत से श्राद्ध पिण्डविहीन एवं पार्वण की भाँति होना चाहिए। संक्रान्ति पर कुछ कृत्य वर्जित भी थे। विष्णुपुराण (३।११।११८-११९, कृ० र०, पृ० ५४७ एवं व० क्रि० कौ०, पृ० २१६) में वचन है—'चतुर्दशी, अष्टमी, अमावास्या, पूर्णिमा एवं संक्रान्ति पर्व कहे गये हैं; जो व्यक्ति ऐसे अवसर पर सम्भोग करता है, तैल एवं मांस खाता है, वह 'विण्मूत्र-भोजन' नामक नरक (जहाँ का भोजन मल-मूत्र होता है) में पड़ता है।' ब्रह्मपुराण (व० क्रि० कौ०, पृ० २१६) में आया है—अष्टमी, पक्षों के अन्त की तिथियों में, रवि-संक्रान्ति के दिन तथा पक्षोपान्त (चतुर्दशी) में सम्भोग, तिल-मांस-भोजन नहीं करना चाहिए।

आजकल मकरसंक्रान्ति धार्मिक कृत्य की अपेक्षा सामाजिक अधिक है। उपवास नहीं किया जाता, कदाचित् कोई श्राद्ध करता हो, किन्तु बहुत-से लोग समुद्र या प्रयाग जैसे तीर्थों पर गंगा-स्नान करते हैं। तिल का प्रयोग अधिक होता है, विशेषतः दक्षिण में। तिल की महत्ता यों प्रदर्शित है—'जो व्यक्ति तिल का प्रयोग छः प्रकार से करता है वह नहीं डूबता (अर्थात् वह असफल या अभागा नहीं होता); शरीर को तिल से नहाना, तिल से उबटना, सदा पवित्र रहकर तिलयुक्त जल देना (पितरों को), अग्नि में तिल डालना, तिलदान करना एवं तिल खाना।'[5]

मकर संक्रान्ति पर अधिकांश में नारियाँ ही दान करती हैं। वे पुजारियों को मिट्टी या ताम्र या पीतल के पात्र, जिनमें सुपारी एवं सिक्के रहते हैं, दान करती हैं और अपनी सहेलियों को बुलाती हैं तथा उन्हें कुंकुम, हल्दी, सुपारी, ईख के टुकड़े आदि से पूर्ण मिट्टी के पात्र देती हैं। दक्षिण में पोंगल नामक उत्सव होता है, जो उत्तरी या पश्चिमी भारत में मनाये जाने वाली मकर-संक्रान्ति के समान है। पोंगल तमिल वर्ष का प्रथम दिवस है। यह उत्सव तीन दिनों का होता है। 'पोंगल' का अर्थ है 'क्या यह उबल रहा' या 'पकाया जा रहा है?'

आज के ज्योतिःशास्त्र के अनुसार जाड़े का अयन काल २१ दिसम्बर को होता है और उसी दिन से सूर्य उत्तरायण होते हैं। किन्तु भारत में वे लोग, जो प्राचीन पद्धतियों के अनुसार रचे पंचांगों का सहारा लेते हैं, उत्तरायण का आरम्भ १४ जनवरी से मानते हैं। वे इस प्रकार उपर्युक्त मकर संक्रान्ति से २३ दिन पीछे हैं। मध्यकाल के धर्मशास्त्र-ग्रंथों में यह बात उल्लिखित है, यथा हेमाद्रि (काल, पृ० ४३६-४३७) ने कहा है कि प्रचलित संक्रान्ति से १२ दिन पूर्व ही पुण्यकाल पड़ता है, अतः प्रतिपादित दान आदि कृत्य प्रचलित संक्रान्ति दिन के १२ दिन पूर्व भी किये जा सकते हैं।

५. तिलोद्वर्ती तिलस्नायी शुचिर्नित्यं तिलोदकी। होता दाता च भोक्ता च षट्तिली नावसीदति॥ शातातप।

मकर संक्रान्ति का उद्गम बहुत प्राचीन नहीं है। ईसा के कम-से-कम एक सहस्र वर्ष पूर्व ब्राह्मण एवं औपनिषदिक ग्रन्थों में उत्तरायण के छः मासों का उल्लेख है (शतपथ ब्राह्मण, २।१।३।१, ३ एवं ४; छान्दोग्योपनिषद्, ४।१५।५ एवं ५।१०।१-२)। ऋ० (३।३३।७) में 'अयन' शब्द आया है, जिसका अर्थ है 'मार्ग' या 'स्थल'। गृह्यसूत्रों में 'उदगयन' उत्तरायण का ही द्योतक है (आश्व० गृ०, १।४।१-२; कौषीतकी गृह्य, १।५; जै० ६।८।२३; आप० गृ० १।१।२) जहाँ स्पष्ट रूप से उत्तरायण आदि कालों में संस्कारों के करने की विधि वर्णित है। किन्तु प्राचीन श्रौत, गृह्य एवं धर्म सूत्रों में राशियों का उल्लेख नहीं है, उनमें केवल नक्षत्रों के सम्बन्ध में कालों का उल्लेख है। याज्ञ० स्मृति में भी राशियों का उल्लेख नहीं है, जैसा कि विश्वरूप की टीका से प्रकट है (याज्ञ० १।८०, सुस्थे इन्दौ)। राशियों के विषय में हम काल एवं मुहूर्त के प्रकरण में अध्ययन करेंगे। 'उदगयन' बहुत शताब्दियों पूर्व से शुभ काल माना जाता रहा है, अतः मकरसंक्रान्ति, जिससे सूर्य की उत्तरायण गति आरम्भ होती है, राशियों के चलन के उपरान्त पवित्र दिन मानी जाने लगी। मकर-संक्रान्ति पर तिल को इतनी महत्ता क्यों प्राप्त हुई, कहना कठिन है। सम्भवतः मकर-संक्रान्ति के समय जाड़ा होने के कारण तिल जैसे पदार्थों का प्रयोग सम्भव है। चाहे जो हो, ईसवी सन् के आरम्भकाल से अधिक प्राचीन मकर-संक्रान्ति नहीं है।

आजकल के पंचांगों में मकर-संक्रान्ति का देवीकरण भी हो गया है; वह देवी मान ली गयी है। संक्रान्ति किसी वाहन पर चढ़ती है, उसका प्रमुख वाहन हाथी जैसे वाहन-पशु हैं; उसके उपवाहन भी हैं; उसके वस्त्र काले, श्वेत या लाल आदि रंगों के होते हैं; उसके हाथ में धनुष या शूल रहता है, वह लाह या गोरोचन जैसे पदार्थों का तिलक करती है; वह युवा, प्रौढ या वृद्ध है; वह खड़ी या बैठी हुई वर्णित है; उसके पुष्पों, भोजन, आभूषणों का उल्लेख है; उसके दो नाम (सात नामों में) विशिष्ट हैं; वह पूर्व आदि दिशाओं से आती है और पश्चिम आदि दिशाओं को चली जाती है, और तीसरी दिशा की ओर झाँकती है; उसके अधर झुके हैं, नाक लम्बी है, उसके ९ हाथ हैं। उसके विषय में अग्र सूचनाएँ ये हैं--संक्रान्ति जो कुछ ग्रहण करती है उसके मूल्य बढ़ जाते हैं या वह नष्ट हो जाता है; वह जिसे देखती है, वह नष्ट हो जाता है, जिस दिशा से वह आती है वहाँ के लोग सुखी होते हैं, जिस दिशा को वह चली जाती है वहाँ के लोग दुखी हो जाते हैं।

महाशिवरात्रि--किसी मास के कृष्णपक्ष की चतुर्दशी शिवरात्रि कही जाती है, किन्तु माघ (फाल्गुन, पूर्णिमान्त) की चतुर्दशी सबसे महत्त्वपूर्ण है और महाशिवरात्रि कहलाती है। गरुड़ (१।१२४), स्कन्द (१।१।३२), पद्म (६।२४०), अग्नि (१९३) आदि पुराणों में उसका वर्णन है। कहीं-कहीं वर्णनों में अन्तर है किन्तु प्रमुख बातें एक-सी हैं। सभी में इसकी प्रशंसा की गयी है। जब व्यक्ति उस दिन उपवास करके बिल्व-पत्तियों से शिव की पूजा करता है और रात्रि भर 'जागर' (जागरण) करता है, शिव उसे नरक से बचाते हैं और आनन्द एवं मोक्ष प्रदान करते हैं और व्यक्ति स्वयं शिव हो जाता है। दान, यज्ञ, तप, तीर्थयात्राएँ, व्रत इसके कोटि-अंश के बराबर भी नहीं हैं। गरुड़पुराण में इसकी गाथा है--आबू पर्वत पर निषादों का राजा सुन्दरसेनक था, जो एक दिन अपने कुत्ते के साथ शिकार खेलने गया। वह कोई पशु मार न सका और भूख-प्यास से व्याकुल वह गहन वन में तालाब के किनारे रात्रि भर जागता रहा। एक बिल्व (बेल) के पेड़ के नीचे शिवलिंग था, अपने शरीर को आराम देने के लिए उसने अनजाने में शिवलिंग पर गिरी बिल्व-पत्तियाँ नीचे उतार लीं। अपने पैरों की धूल को स्वच्छ करने के लिए उसने तालाब से जल लेकर छिडका और ऐसा करने से जल-बूंदें शिवलिंग पर गिरीं, उसका एक तीर भी उसके हाथ से शिवलिंग पर गिर पड़ा और उसे उठाने में उसे लिंग के समक्ष झुकना पड़ा। इस प्रकार उसने अनजाने में ही शिवलिंग को नहलाया, छुआ और उसकी पूजा की और रात्रि भर जागता रहा। दूसरे दिन वह अपने घर लौट आया और पत्नी द्वारा दिया गया भोजन किया। आगे चलकर जब वह मरा और यमदूतों

ने उसे पकड़ा तो शिव के सेवकों ने उनसे युद्ध किया और उसे उनसे छीन लिया। वह पाप-रहित हो गया और कुत्ते के साथ शिव का सेवक बना। इस प्रकार उसने अज्ञान में ही पुण्यफल प्राप्त किया। यदि इस प्रकार कोई व्यक्ति ज्ञान में करे तो वह अक्षय पुण्यफल प्राप्त करता है। अग्निपुराण (१९३।६) में सुन्दरसेनक बहेलिया का उल्लेख हुआ है।[६] स्कन्द० में जो कथा आयी है, वह लम्बी है—चण्ड नामक एक दुष्ट किरात था। वह जाल में मछलियाँ पकड़ता था और बहुत से पशुओं एवं पक्षियों को मारता था। उसकी पत्नी भी बड़ी निर्मम थी। इस प्रकार बहुत-से वर्ष बीत गये। एक दिन वह पात्र में जल लेकर एक बिल्व पेड़ पर चढ़ गया और एक बनैले शूकर को मारने की इच्छा से रात्रि भर जागता रहा और नीचे बहुत-सी पत्तियाँ फेंकता रहा। उसने पात्र के जल से अपना मुख धोया जिससे नीचे के शिवलिंग पर जल गिर पड़ा। इस प्रकार उसने सभी विधियों से शिव की पूजा की, अर्थात् स्नापन किया (नहलाया), बेल की पत्तियाँ चढ़ायीं, रात्रि भर जागता रहा और उस दिन भूखा ही रहा। वह नीचे उतरा और एक तालाब के पास जाकर मछली पकड़ने लगा। वह उस रात्रि घर न जा सका था, अतः उसकी पत्नी बिना अन्न-जल के पड़ी रही और चिन्ताग्रस्त हो उठी। प्रातःकाल वह भोजन लेकर पहुँची, अपने पति को एक नदी के दूसरे तट पर देख भोजन को तट पर ही रखकर नदी को पार करने लगी। दोनों ने स्नान किया, किन्तु इसके पूर्व कि किरात भोजन के पास पहुँचे, एक कुत्ते ने भोजन चट कर लिया। पत्नी ने कुत्ते को मारना चाहा, किन्तु पति ने ऐसा नहीं करने दिया, क्योंकि उसका हृदय पसीज चुका था। तब तक (अमावास्या का) मध्याह्न हो चुका था। शिव के दूत पति-पत्नी को लेने आ गये, क्योंकि किरात ने अनजाने में शिव की पूजा कर ली थी और दोनों ने चतुर्दशी पर उपवास किया था। दोनों शिवलोक को गये। पद्मपुराण (६।२४०।३२) में इसी प्रकार एक निषाद के विषय में उल्लेख हुआ है।

शिवरात्रि की प्रमुख बात के विषय में मतभेद है। तिथितत्त्व (पृ० १२५) के अनुसार इसमें उपवास प्रमुखता रखता है, उसमें शंकर के कथन को आधार माना गया है—'मैं उस तिथि पर न तो स्नान, न वस्त्रों, न धूप, न पूजा, न पुष्पों से उतना प्रसन्न होता हूँ जितना उपवास से।' किन्तु हेमाद्रि, माधव आदि ने उपवास, पूजा एवं जागरण तीनों को महत्ता दी है (हे०, काल, पृ० ३०९-३१०; का० वि०, पृ० २८९; स० म०, पृ० १०१)। देखिए स्कन्दपुराण (नागर खण्ड)।[७]

कालनिर्णय (पृ० २८७) में 'शिवरात्रि' शब्द के विषय में एक लम्बा विवेचन उपस्थित किया गया है। क्या यह 'रूढ' है (यथा कोई विशिष्ट तिथि) या यह 'यौगिक' है (यथा प्रत्येक रात्रि, जब शिव से सम्बन्धित कृत्य सम्पादित हों), या 'लाक्षणिक' (यथा व्रत, यद्यपि शब्द तिथि का सूचक है) या 'योगरूढ' है (यौगिक एवं रूढ, यथा 'पंकज' शब्द)। निष्कर्ष यह निकाला गया है कि यह शब्द पंकज के सदृश योगरूढ है जो कि पंक से अवश्य निकलता है (यहाँ यौगिक अर्थ है), किन्तु वह केवल पंकज (कमल) से ही सम्बन्धित है (यहाँ रूढि या परम्परा है) न कि मेढक से।

६. एवमज्ञानतः पुण्यं ज्ञानात्पुण्यमथाक्षयम्। गरुड़० (१।१२४।११)। लुब्धकः प्राप्तवान्पुण्यं पापी सुन्दरसेनकः॥ अग्नि० (१९३।६)।

७. तथा च स्कन्दपुराणे। एवं द्वादशवर्षाणि शिवरात्रिमुपोषकः। यो मां जागरयते रात्रिं मनुजः स्वर्गमारुहेत्॥ शिवं च पूजयित्वा यो जागर्ति च चतुर्दशीम्। मातुः पयोधररसं न पिबेत् स कदाचन॥ नागरखण्डे। स्वयम्भूलिंगमभ्यर्च्य सोपवासः सजागरः। अजानन्नपि निष्पापो निषादो गणतां गतः॥ हे० (काल, पृ० ३०९-३१०)।

शिवरात्रि नित्य एवं काम्य दोनों है। यह नित्य इसलिए है कि इसके विषय में वचन है कि यदि मनुष्य इसे नहीं करता तो पापी होता है, 'वह व्यक्ति जो तीनों लोकों के स्वामी रुद्र की पूजा भक्ति से नहीं करता वह सहस्र जन्मों में भ्रमित रहता है।' ऐसे भी वचन हैं कि यह व्रत प्रति वर्ष किया जाना चाहिए—'हे महादेवी, पुरुष या पतिव्रता नारी को प्रति वर्ष शिवरात्रि पर भक्ति के साथ महादेव की पूजा करनी चाहिए।'[८] यह व्रत काम्य भी है, क्योंकि इसके करने से फल भी मिलते हैं।

ईशानसंहिता (का० नि०, पृ० २९०; नि० सि०, पृ० २२५; स० म०, पृ० १०१; कृत्यतत्त्व, पृ० ४६१) के मत से यह व्रत सभी प्रकार के मनुष्यों द्वारा सम्पादित हो सकता है—'सभी मनुष्यों को, यहाँ तक कि चाण्डालों को भी शिवरात्रि पापमुक्त करती है, आनन्द देती है और मुक्ति देती है।' ईशानसंहिता में व्यवस्था है—यदि विष्णु या शिव या किसी देव का भक्त शिवरात्रि का त्याग करता है तो वह अपनी पूजा (अपने आराध्यदेव की पूजा) के फलों को नष्ट कर देता है। जो इस व्रत को करता है उसे कुछ नियम मानने पड़ते हैं, यथा अहिंसा, सत्य, अक्रोध, ब्रह्मचर्य, दया, क्षमा (का पालन करना होता है), उसे शान्त मन, क्रोधहीन, तपस्वी, मत्सरहीन होना चाहिए; इस व्रत का ज्ञान उसी को दिया जाना चाहिए जो गुरुपादानुरागी हो, यदि इसके अतिरिक्त किसी अन्य को यह दिया जाता है तो (ज्ञानदाता) नरक में पड़ता है।

इस व्रत का उचित काल है रात्रि, क्योंकि रात्रि में भूत, शक्तियाँ, शिव (जो त्रिशूलधारी हैं) घूमा करते हैं। अतः चतुर्दशी को उनकी पूजा होनी चाहिए (हे० काल, पृ० ३०४; का० नि०, पृ० २९८)। स्कन्द० (१।१।३३।८२) में आया है कि कृष्ण पक्ष की उस चतुर्दशी को उपवास करना चाहिए, वह तिथि सर्वोत्तम है और शिव से सायुज्य उत्पन्न करती है। और देखिए हे० (काल, पृ० ३०४)। शिवरात्रि के लिए वही तिथि मान्य है जो उस काल से आच्छादित रहती है। उसी दिन व्रत करना चाहिए जब कि चतुर्दशी अर्धरात्रि के पूर्व एवं उपरान्त भी रहे (ईशानसंहिता, ति० त०, पृ० १२५; नि० सि०, पृ० २२२)। हेमाद्रि में आया है कि शिवरात्रि नाम वाली वह चतुर्दशी जो प्रदोष कल में रहती है, व्रत के लिए मान्य होनी चाहिए; उस तिथि पर उपवास करना चाहिए, क्योंकि रात्रि में जागरण करना होता है (काल, पृ० ३०७)।

व्रत के लिए उचित दिन एवं काल के विषय में पर्याप्त विभेद है। देखिए हेमाद्रि (काल, पृ० २९८-३०८), का० नि० (पृ० २९७), ति० त० (पृ० १२५-१२६), नि० सि० (पृ० २२२-२२४), पु० चि० (पृ० २४८-२५३) आदि। निर्णयामृत (देखिए नि० सि०, पृ० २३३ में उद्धृत) ने 'प्रदोष' शब्द पर बल दिया है, तथा अन्य ग्रन्थों में 'निशीथ' एवं अर्धरात्रि पर बल दिया है।[९] यहाँ हम निर्णयकारों के शिरोमणि माधव के निर्णय प्रस्तुत कर रहे हैं। यदि चतुर्दशी प्रदोष-निशीथ व्यापिनी हो तो व्रत उसी दिन करना चाहिए। यदि वह दो दिनों वाली हो (अर्थात् वह त्रयोदशी एवं अमावास्या दोनों से व्याप्त हो) और वह दोनों दिन निशीथ-काल तक रहने वाली हो या दोनों दिनों तक इस प्रकार न उपस्थित रहने वाली हो तो प्रदोष-व्याप्त नियामक (निश्चय करने वाली) होती है;

९. प्रदोषव्यापिनी ग्राह्या शिवरात्रिचतुर्दशी। रात्रौ जागरणं यस्मात् तस्यात्तां समुपोषयेत्।। हे० (काल, पृ० ३०७)। देखिए व० क्रि० कौ० (पृ० ७४), जहाँ इस श्लोक का अर्थ दिया हुआ है (स्कन्दपुराण के मत से सूर्यास्त के उपरान्त दो मुहूर्तों (६ घटिकाओं) तक प्रदोष होता है; किन्तु विश्वादर्श के अनुसार सूर्यास्त के उपरान्त तीन घटिकाओं तक प्रदोष होता है)। निर्णयामृते सर्वापि शिवरात्रिः प्रदोषव्यापिन्येव, अर्धरात्रवाक्यानि कैमुतिकन्यायेन प्रदोषस्तावकानीत्युक्तम् (नि० सि०, पृ० २३३)।

जब चतुर्दशी दोनों दिनों तक प्रदोषव्यापिनी हो या दोनों दिनों तक उससे निर्मुक्त हो तो निशीथ में रहने वाली ही नियामक होती है; किन्तु यदि वह दो दिनों तक रहकर केवल किसी से प्रत्येक दिन (प्रदोष या निशीथ) व्याप्त हो तो जया से संयुक्त अर्थात् त्रयोदशी तिथि नियामक होती है।'[१०]

प्राचीन कालों में शिवरात्रि के सम्पादन का विवरण गरुडपुराण (१।१२४।११-१३) में मिलता है—त्रयोदशी को शिव-सम्मान करके व्रती को कुछ प्रतिबन्ध मानने चाहिए। उसे घोषित करना चाहिए—'हे देव, मैं चतुर्दशी की रात्रि में जागरण करूँगा। मैं यथाशक्ति दान, तप एवं होम करूँगा। हे शम्भु, मैं चतुर्दशी को भोजन नहीं करूँगा, केवल दूसरे दिन खाऊँगा। हे शम्भु, आनन्द एवं मोक्ष की प्राप्ति के लिए आप मेरे आश्रय बनें।' व्रती को व्रत करके गुरु के पास पहुँचना चाहिए और पंचामृत के साथ पंचगव्य से लिंग को स्नान कराना चाहिए। उसे इस मन्त्र का पाठ करना चाहिए 'ओम् नमः शिवाय।' चन्दन-लेप से आरम्भ कर सभी उपचारों के साथ शिव-पूजा करनी चाहिए और अग्नि में तिल, चावल एवं घृतयुक्त भात डालना चाहिए। इस होम के उपरान्त पूर्णाहुति (पूर्ण फल के साथ आहुति) करनी चाहिए और (शिव-विषयक) सुन्दर कथाएँ एवं गान सुनने चाहिए। व्रती को पुनः अर्धरात्रि, रात्रि के तीसरे प्रहर एवं चौथे प्रहर में आहुतियाँ डालनी चाहिए। सूर्योदय के लगभग उसे 'ओम् नमः शिवाय' का मौन पाठ करते हुए शिव-प्रार्थना करनी चाहिए—'हे देव, आपके अनुग्रह से मैंने निर्विघ्न पूजा की है, हे लोकेश्वर, हे शिव, मुझे क्षमा करें। इस दिन जो भी पुण्य मैंने प्राप्त किया और मेरे द्वारा शिव को जो कुछ भी प्रदत्त हुआ है, आज मैंने आपकी कृपा से ही यह व्रत पूर्ण किया है; हे दयाशील, मुझ पर प्रसन्न हों, और अपने निवास को जायँ; इसमें कोई सन्देह नहीं कि केवल आपके दर्शन मात्र से मैं पवित्र हो चुका हूँ।' व्रती को चाहिए कि वह शिव-भक्तों को भोजन दे, उन्हें वस्त्र, छत्र आदि दे—'हे देवाधिदेव, सर्वपदार्थाधिपति, आप लोगों पर अनुग्रह करते हैं, मैंने जो कुछ श्रद्धा से दिया है उससे आप प्रसन्न हों।' इस प्रकार क्षमा माँग लेने पर व्रती को संकल्प करके १२ वर्ष तक इसे करना चाहिए। यश, धन, पुत्र, राज्य को प्राप्त करके वह शिवपुरी को जा सकता है। व्रती को वर्ष के १२ मासों की चतुर्दशी को जागरण करना चाहिए। व्यक्ति यह व्रत करके, १२ ब्राह्मणों को खिलाकर तथा दीपदान करके स्वर्ग प्राप्त कर सकता है।

तिथितत्त्व में कुछ मनोरंजक विस्तार पाया जाता है (पृ० १२७)। लिंग-स्नान रात्रि के प्रथम प्रहर में दूध से, दूसरे में दही से, तीसरे में घृत से और चौथे में मधु से कराना चाहिए। चारों प्रहरों के मन्त्र ये हैं—'ह्रीं ईशानाय नमः', 'ह्रीं अघोराय नमः', 'ह्रीं वामदेवाय नमः' एवं 'ह्रीं सद्योजाताय नमः।' चारो प्रहरों में अर्घ्य के समय के मन्त्र भी विभिन्न हैं। ऐसा भी प्रतिपादित है कि प्रथम प्रहर में गान एवं नृत्य होने चाहिए। वर्षक्रियाकौमुदी (पृ० ५१३) में आया है कि दूसरे, तीसरे एवं चौथे प्रहर में व्रती को पूजा, अर्घ्य, जप एवं (शिव-सम्बन्धी) कथा-श्रवण करना चाहिए, स्तोत्रपाठ करना चाहिए एवं लेटकर प्रणाम करना चाहिए; प्रातःकाल व्रती को अर्घ्यजल के साथ क्षमा माँगनी चाहिए। यदि माघ कृष्ण चतुर्दशी रविवार या मंगलवार को पड़े तो वह व्रत के लिए उत्तम होती है (स्कन्द०, पु० चि०, पृ० २५२-२५३; का० नि०, पृ० २९९; स० म०, पृ० १०४)। पश्चात्कालीन निबन्धों में, यथा तिथितत्त्व (पृ० १२६), कालतत्त्वविवेक (पृ० १९७-२०३), पुरुषार्थचिन्तामणि (पृ० २५५-२५८), धर्म-

१०. दिनद्वये निशीथव्याप्तौ तदव्याप्तौ च प्रदोषव्याप्तिर्नियामिका। तथा दिनद्वयेपि प्रदोषव्याप्तौ तदव्याप्तौ च निशीथव्याप्तिर्नियामिका। एकैकस्मिन् दिने एकैकव्याप्तौ जयायोगो नियामकः। का० नि० (पृ० २९७)।

सिन्धु (पृ० १२७) आदि में शिवरात्रि विधि के विषय में लम्बा उल्लेख है। का० त० वि० (पृ० १६७) में आया है कि विभिन्न पुराणों में शिवरात्रि-व्रत-विधि विभिन्न रूप वाली है।

२४, १४ या १२ वर्षों तक शिवरात्रि व्रत करने वाले को अवधि के उपरान्त उद्यापन करना पड़ता है। इस विषय में पु० चि० (पृ० २५८-२५९) एवं व्रतराज (पृ० ५८६-५८७) आदि ग्रन्थों में अति विस्तार के साथ वर्णन है, जिसे हम यहाँ नहीं उल्लिखित करेंगे।

किसी भी शिवरात्रि के पारण के विषय में जितने वचन हैं ये विवाद-ग्रस्त हैं (नि० सि०, पृ० २२४; हे०, काल, पृ० २९८; ध० सि०, पृ० १२६)। स्कन्द के दो वचन ये हैं—'जब कृष्णाष्टमी, स्कन्दषष्ठी एवं शिवरात्रि पूर्व एवं पश्चात् की तिथियों से संयुक्त हो जाती हैं तो पूर्व वाली तिथि प्रतिपादित कृत्य के लिए मान्य होती है और पारण प्रतिपादित तिथि के अन्त में किया जाना चाहिए; चतुर्दशी को उपवास और उसी तिथि को पारण वही व्यक्ति कर सकता है जिसने लाखों अच्छे कर्म किये हों।' धर्मसिन्धु (पृ० १२६) का निष्कर्ष यों है—'यदि चतुर्दशी रात्रि के तीन प्रहरों के पूर्व ही समाप्त हो जाय तो पारण तिथि के अन्त में होना चाहिए; यदि वह तीन प्रहरों से आगे चली जाय तो उसके बीच में ही सूर्योदय के समय पारण करना चाहिए, ऐसा माधव आदि का मत है।' निर्णयसिन्धु का मत यह है कि यदि चतुर्दशी तिथि रात्रि के तीन प्रहरों के पूर्व समाप्त हो जाय तो पारण चतुर्दशी के बीच में ही होना चाहिए न कि उसके अन्त में।

आजकल धर्मसिन्धु में उल्लिखित विधि का पालन कदाचित् ही कोई करता हो। उपवास किया जाता है, शिव-पूजा होती है और लोग शिव की कथाएँ सुनते हैं। सामान्य जन (कहीं-कहीं) ताम्रफल (बादाम), कमल-पुष्प-दल, अफीम-बीज, धतूरे आदि से युक्त या केवल भाँग का सेवन करते हैं। बहुत से शिव-मन्दिरों में मूर्ति पर लगातार जलधारा से अभिषेक किया जाता है।

ऐतरेय ब्राह्मण (८।९) में प्रजापति के उस पाप का उल्लेख है जो उन्होंने अपनी पुत्री के साथ किया था। वे मृग बन गये। देवों ने अपने भयंकर रूपों से रुद्र का निर्माण किया और उनसे उस मृग को फाड़ डालने को कहा। जब रुद्र ने मृग को विद्ध कर दिया तो वह (मृग) आकाश में चला गया। लोग इसे मृग (मृगशीर्ष) कहते हैं। रुद्र मृगव्याध हो गये और (प्रजापति की) कन्या रोहिणी बन गयी और तीर (अपनी तीन धारों के साथ) तीन धारा वाले तारों के समान बन गया।

लिंगपुराण (व्रतराज, पृ० ५७३-५८६) में एक निषाद की कथा है। निषाद ने एक मृग, उसकी पत्नी और उनके बच्चों को मारने के क्रम में शिवरात्रि व्रत के सभी कृत्य अज्ञात रूप से कर डाले। वह एवं मृग के कुटुम्ब के लोग अन्त में व्याध के तारे के साथ मृगशीर्ष नक्षत्र बन गये।

शिवरात्रि व्रत का लम्बा उल्लेख मध्यकालिक निबन्धों में हुआ है, यथा हे० (व्रत, भाग २, पृ० ७१-१२२), ति० त० (पृ० १२४-१३३), स्मृतिकौ० (पृ० ४८१-५१२), पु० चि० (२४८-२८१), कालसार (पृ० १५८-१६७) आदि।

उपर्युक्त शिवरात्रि के अतिरिक्त अन्य शिवरात्रियाँ भी हैं, जिनमें व्रत किया जाता है, यथा हे० (व्रत, भाग—२, पृ० ७१-८७; वही, पृ० ८७-९२; वही, पृ० ११४-१२२; वही पृ० १२८-१३०; किन्तु हम इनका वर्णन यहाँ स्थानाभाव से नहीं करेंगे।

अध्याय १२

होलिका एवं ग्रहण

होलिका—होली या होलिका आनन्द एवं उल्लास का ऐसा उत्सव है जो सम्पूर्ण देश में मनाया जाता है। उत्सव मनाने के ढंग में कहीं-कहीं अन्तर पाया जाता है। बंगाल को छोड़कर होलिका-दहन सर्वत्र देखा जाता है। बंगाल में फाल्गुन पूर्णिमा पर कृष्ण-प्रतिमा का झूला प्रचलित है किन्तु यह भारत के अधिकांश स्थानों में नहीं दिखाई पड़ता। इस उत्सव की अवधि विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न है। इस अवसर पर लोग बाँस या धातु की पिचकारी से रंगीन जल छोड़ते हैं या अबीर-गुलाल लगाते हैं। कहीं-कहीं अश्लील गाने गाये जाते हैं। इसमें जो धार्मिक तत्त्व है वह है बंगाल में कृष्ण-पूजा करना तथा कुछ प्रदेशों में पुरोहित द्वारा होलिका की पूजा करवाना। लोग होलिका-दहन के समय परिक्रमा करते हैं, अग्नि में नारियल फेंकते हैं, गेहूँ, जौ आदि के डंठल फेंकते हैं और इनके अधजले अंश का प्रसाद बनाते हैं। कहीं-कहीं लोग हथेली से मुख-स्वर उत्पन्न करते हैं। विभिन्न प्रान्तों की विभिन्न विधियों का वर्णन करना कोई आवश्यक नहीं है।

यह बहुत प्राचीन उत्सव है। इसका आरम्भिक शब्दरूप होलाका था (जैमिनि, १।३।१५-१६)। भारत के पूर्वी भागों में यह शब्द प्रचलित था। जैमिनि एवं शबर का कथन है कि होलाका सभी आर्यों द्वारा सम्पादित होना चाहिए। काठकगृह्य (७३ १) में एक सूत्र है 'राका होलाके', जिसकी व्याख्या टीकाकार देवपाल ने यों की है—'होला एक कर्म-विशेष है जो स्त्रियों के सौभाग्य के लिए सम्पादित होता है, उस कृत्य में राका (पूर्णचन्द्र) देवता है।'[1] अन्य टीकाकारों ने इसकी व्याख्या अन्य रूपों में की है। होलाका उन बीस क्रीड़ाओं में एक है जो सम्पूर्ण भारत में प्रचलित हैं। इसका उल्लेख वात्स्यायन के कामसूत्र (१।४।४२) में भी हुआ है जिसका अर्थ टीकाकार जयमंगल ने किया है। फाल्गुन की पूर्णिमा पर लोग शृंग से एक-दूसरे पर रंगीन जल छोड़ते हैं और सुगंधित चूर्ण बिखेरते हैं। हेमाद्रि (काल, पृ० १०६) ने बृहद्यम का एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमें होलिका-पूर्णिमा को हुताशनी (आलकज की भाँति) कहा गया है। लिंगपुराण में आया है—'फाल्गुन पूर्णिमा को 'फाल्गुनिका' कहा जाता है, यह बाल-क्रीड़ाओं से पूर्ण है और लोगों को विभूति (ऐश्वर्य) देने वाली है।' वराहपुराण में आया है कि यह 'पटवास-विलासिनी' (चूर्ण से युक्त क्रीड़ाओं वाली) है।[2] हेमाद्रि (व्रत, भाग २, पृ० १८४-१९०) ने भविष्योत्तर० (१३२।१।५१) से उद्धरण

१. राका होलाके। काठकगृह्य (७३।१)। इस पर देवपाल की टीका यों है : 'होला कर्मविशेषः सौभाग्याय स्त्रीणां प्रातरनुष्ठीयते। तत्र होलाके राका देवता। यास्ते राके सुमतय इत्यादि।'

२. लिंगपुराणे। फाल्गुने पौर्णमासी च सदा बालविकासिनी। ज्ञेया फाल्गुनिका सा च ज्ञेया लोकविभूतये॥ वाराहपुराणे। फाल्गुने पौर्णिमास्यां तु पटवासविलासिनी। ज्ञेया सा फाल्गुनी लोके कार्या लोकसमृद्धये॥ हे० (काल, पृ० ६४२)। इसमें प्रथम का० वि० (पृ० ३५२) में भी आया है जिसका अर्थ इस प्रकार है—बालवज्जनविलासिन्यामित्यर्थः।

देकर एक कथा दी है। युधिष्ठिर ने कृष्ण से पूछा कि फाल्गुन-पूर्णिमा को प्रत्येक गाँव एवं नगर में एक उत्सव क्यों होता है, प्रत्येक घर में बच्चे क्यों क्रीड़ामय हो जाते हैं और होलाका क्यों जलाते हैं, उसमें किस देवता की पूजा होती है, किसने इस उत्सव का प्रचार किया, इसमें क्या होता है और यह 'अडाडा' क्यों कही जाती है। कृष्ण ने युधिष्ठिर से राजा रघु के विषय में एक किंवदन्ती कही। राजा रघु के पास लोग यह कहने के लिए गये कि 'ढोण्ढा' नामक एक राक्षसी बच्चों को दिन-रात डराया करती है। राजा द्वारा पूछने पर उनके पुरोहित ने बताया कि वह मालिनी की पुत्री एक राक्षसी है जिसे शिव ने वरदान दिया है कि उसे देव, मानव आदि नहीं मार सकते हैं और न वह अस्त्र-शस्त्र या जाड़ा या गर्मी या वर्षा से मर सकती है, किन्तु शिव ने इतना कह दिया है कि वह क्रीड़ायुक्त बच्चों से भय खा सकती है। पुरोहित ने यह भी बताया कि फाल्गुन की पूर्णिमा को जाड़े की ऋतु समाप्त होती है और ग्रीष्म ऋतु का आगमन होता है, तब लोग हँसें एवं आनन्द मनायें, बच्चे लकड़ी के टुकड़े लेकर बाहर प्रसन्नतापूर्वक निकल पड़ें, लकड़ियाँ एवं घास एकत्र करें, रक्षोघ्न मन्त्रों के साथ उसमें आग लगायें, तालियाँ बजायें, अग्नि की तीन बार प्रदक्षिणा करें, हँसें और प्रचलित भाषा में भद्दे एवं अश्लील गाने गायें, इसी शोरगुल एवं अट्टहास से तथा होम से वह राक्षसी मरेगी। जब राजा ने यह सब किया तो राक्षसी मर गयी और वह दिन अडाडा या होलिका कहा गया। आगे आया है कि दूसरे दिन चैत्र की प्रतिपदा पर लोगों को होलिकाभस्म को प्रणाम करना चाहिए, मन्त्रोच्चारण करना चाहिए, घर के प्रांगण में वर्गाकार स्थल के मध्य में काम-पूजा करनी चाहिए। काम-प्रतिमा पर सुन्दर नारी द्वारा चन्दन-लेप लगाना चाहिए और पूजा करने वाले को चन्दन-लेप से मिश्रित आम्र-बौर खाना चाहिए। इसके उपरान्त यथाशक्ति ब्राह्मणों, भाटों आदि को दान देना चाहिए और 'काम देवता मुझ पर प्रसन्न हों' ऐसा कहना चाहिए। इसके आगे पुराण में आया है---'जब शुक्ल पक्ष की १५वीं तिथि पर पतझड़ समाप्त हो जाता है और वसन्त ऋतु का प्रातः आगमन होता है तो जो व्यक्ति चन्दन-लेप के साथ आम्र-मंजरी खाता है वह आनन्द से रहता है।'

आनन्दोल्लास से परिपूर्ण एवं अश्लील गान-नृत्यों में लीन लोग जब अन्य प्रान्तों में होलिका का उत्सव मनाते हैं तब बंगाल में दोलयात्रा का उत्सव होता है। देखिए शूलपाणिकृत 'दोलयात्राविवेक।' यह उत्सव पाँच या तीन दिनों तक चलता है। पूर्णिमा के पूर्व चतुर्दशी को संध्या के समय मण्डप के पूर्व में अग्नि के सम्मान में एक उत्सव होता है। गोविन्द की प्रतिमा का निर्माण होता है। एक वेदिका पर १६ खम्भों से युक्त मण्डप में प्रतिमा रखी जाती है। इसे पंचामृत से नहलाया जाता है, कई प्रकार के कृत्य किये जाते हैं, मूर्ति या प्रतिमा को इधर-उधर सात बार डोलाया जाता है। प्रथम दिन की प्रज्वलित अग्नि उत्सव के अन्त तक रखी जाती है। अन्त में प्रतिमा २१ बार डोलाई या झुलाई जाती है। ऐसा आया है कि इन्द्रद्युम्न राजा ने वृन्दावन में इस झूले का उत्सव आरम्भ किया था। इस उत्सव के करने से व्यक्ति सभी पापों से मुक्त हो जाता है। शूलपाणि ने इसकी तिथि, प्रहर, नक्षत्र आदि के विषयमें विवेचन कर निष्कर्ष निकाला है कि दोलयात्रा पूर्णिमा तिथि की उपस्थिति में ही होनी चाहिए, चाहे उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र हो या न हो।

होलिकोत्सव के विषय में नि० सि० (पृ० २२७), स्मृतिकौस्तुभ (पृ० ५१६-५१९), पु० चि० (पृ० ३०८-३१९) आदि निबन्धों में वर्णन आया है, किन्तु हम स्थान-संकोच से अधिक नहीं लिख सकेंगे।

जैमिनि एवं काठकगृह्य में वर्णित होने के कारण यह कहा जा सकता है कि ईसा की कई शताब्दियों पूर्व से होलाका का उत्सव प्रचलित था। कामसूत्र एवं भविष्योत्तरपुराण इसे वसन्त से संयुक्त करते हैं, अतः यह उत्सव पूर्णिमान्त गणना के अनुसार वर्ष के अन्त में होता था। अतः होलिका हेमन्त या पतझड़ के अन्त की सूचक है और वसन्त की कामप्रेममय लीलाओं की द्योतक है। मस्तीभरे गाने, नृत्य एवं संगीत वसन्तागमन के उल्लासपूर्ण

क्षणों के परिचायक हैं। वसन्त की आनन्दाभिव्यक्ति रंगीन जल एवं लाल रंग, अबीर-गुलाल के पारस्परिक आदान-प्रदान से प्रकट होती है। कुछ प्रदेशों में यह रंग युक्त वातावरण होलिका के दिन ही होता है, किन्तु दक्षिण में यह होलिका के पाँचवें दिन (रंग-पंचमी) मनायी जाती है। कहीं-कहीं रंगों के खेल पहले से आरम्भ कर दिये जाते हैं और बहुत दिनों तक चलते रहते हैं; होलिका के पूर्व ही 'पहुनई' में आये हुए लोगों पर रंग बिखेर दिया जाता है; किन्तु मूल रूप में यह वसन्तोत्सव ही है। कहीं-कहीं होली के एक दिन उपरान्त लोग एक-दूसरे पर पंक (कीचड़) भी फेंकते हैं।[3] कहीं-कहीं दो-तीन दिनों तक मिट्टी, पंक, रंग, गान आदि से लोग मतवाले होकर दल बना कर होली का हुड़दंग मचाते हैं, सड़कें लाल हो जाती हैं। कहीं-कहीं लोग भद्दे मजाकों, अश्लील गानों से अपनी कामेच्छाओं की बाह्य तृप्ति करते हैं। वास्तव में यह उत्सव प्रेम करने से सम्बन्धित है, किन्तु शिष्ट जनों की नारियाँ इन दिनों बाहर नहीं निकल पातीं, क्योंकि उन्हें भय रहता है कि लोग भद्दी गालियाँ न दे बैठें। श्री गुप्ते ने अपने लेख 'हिन्दू हालीडेज एवं सेरीमनीज़' (पृ० ९२) में प्रकट किया है कि यह उत्सव ईजिप्ट (मिस्र) या ग्रीस (यूनान) से लिया गया है। किन्तु यह भ्रामक दृष्टिकोण है। लगता है, उन्होंने भारतीय प्राचीन ग्रन्थों का अवलोकन नहीं किया है, दूसरे, वे इस विषय में भी निश्चित नहीं हैं कि इस उत्सव का उद्‌गम मिस्र से है या यूनान से। उनकी धारणा को गम्भीरता से नहीं लेना चाहिए।

ग्रहण

अति प्राचीन कालों से सूर्य-चन्द्र-ग्रहणों को महत्त्व दिया जाता रहा है। ग्रहण के सम्बन्ध में विशाल साहित्य का निर्माण हो चुका है। देखिए हेमाद्रि (काल, पृ० ३७९-३९४), कालविवेक (पृ० ५२१-५४३), कृत्यरत्नाकर (पृ० ६२५-६३१), कालनिर्णय (पृ० ३४६-३५८), वर्षक्रियाकौमुदी (पृ० ९०-११७), तिथितत्त्व (पृ० १५०-१६२), कृत्यतत्त्व (पृ० ४३२-४३४), निर्णयसिन्धु (पृ० ६१-७६), स्मृतिकौस्तुभ (पृ० ६९-८०), धर्मसिन्धु (पृ० ३२-३५), गदाधरपद्धति (कालसार, पृ० ५८८-५९९)। पूर्ण सूर्य-ग्रहण का संकेत ऋग्वेद (५।४०।५-६, ८) में भी है। शांखायन ब्राह्मण (२४।३) में आया है कि अत्रि ने विषुवत् (विषुव) के तीन दिन पूर्व सप्तदश-स्तोम कृत्य किया और उसके द्वारा उस स्वर्भानु को पछाड़ा जिसने सूर्य को अंधकार से भेद दिया था, अर्थात् सूर्यग्रहण (ऋ० ५।४०।५) शरद विषुव के तीन दिन पूर्व हुआ था।

बृहत्संहिता से प्रकट होता है कि ग्रहण का वास्तविक कारण भारतीय ज्योतिष शास्त्रज्ञों को वराहमिहिर (ईसा की छठी शताब्दी का पूर्वार्ध) के कई शताब्दियों पूर्व से ज्ञात था। वराहमिहिर ने लिखा है[4]—चन्द्रग्रहण में चन्द्र पृथिवी की छाया में आ जाता है तथा सूर्यग्रहण में चन्द्र सूर्य में प्रविष्ट हो जाता है (अर्थात् सूर्य एवं पृथिवी के बीच में चन्द्र आ जाता है), ग्रहणों के इस कारण को पहले के आचार्य अपनी दिव्य दृष्टि से जानते थे; राहु ग्रहणों का

३. वर्षकृत्यदीपक (पृ० ३०१) में निम्न श्लोक आये हैं—'प्रभाते विमले जाते ह्यंगे भस्म च कारयेत्। सर्वांगे च ललाटे च क्रीडितव्यं पिशाचवत्॥ सिन्दूरैः कुंकुमैश्चैव धूलिभिर्धूसरो भवेत्। गीतं वाद्यं च नृत्यं च कुर्याद्रथ्योपसर्पणम्॥ ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैश्चान्यैश्च जातिभिः। एकीभूय प्रकर्तव्या क्रीडा या फाल्गुने सदा। बालकैः सह गन्तव्यं फाल्गुन्यां च युधिष्ठिर॥'

४. भूच्छायां स्वग्रहणे भास्करमर्कग्रहे प्रविशतीन्दुः।. . .इत्युपरागकारणमुक्तमिदं दिव्यदृग्भिराचार्यैः। राहुरकारणमस्मिन्नियुक्तः शास्त्रसद्भावः॥ बृहत्सं० (५।८ एवं १३)।

कारण नहीं है, यही सत्य स्थिति है जिसे शास्त्र घोषित करता है। इस सत्य सिद्धान्त के रहते हुए सामान्य लोग, यहाँ तक कि पढ़े-लिखे लोग (किन्तु ज्योतिःशास्त्रज्ञ नहीं) पहले विश्वास करते थे और अब भी विश्वास करते हैं कि राहु के कारण ग्रहण लगते हैं और उन्हें स्नान, दान, जप, श्राद्ध आदि का विशिष्ट अवसर मानते हैं। वराहमिहिर ने श्रुति, स्मृति, सामान्य विश्वास एवं ज्योतिष के सिद्धान्त का समाधान करने का प्रयत्न किया है और कहा है कि एक असुर था जिसे ब्रह्मा ने वरदान दिया कि ग्रहण पर दिये गये दानों एवं आहुतियों से तुमकों संतुष्टि प्राप्त होगी। वही असुर अपना अंश ग्रहण करने को उपस्थित रहता है और उसे लाक्षणिक रूप से राहु कहा जाता है। बुद्धिवाद, सामान्य परम्पराएँ एवं अन्धविश्वास एक-साथ नहीं चल सकते। सूर्य एवं चन्द्र के ग्रहणों में कुछ अन्तर उपस्थित किया गया था। व्यास की उक्ति है—'चन्द्रग्रहण (सामान्य दिन से) एक लाखगुना (फलदायक) है और सूर्य-ग्रहण पहले से दसगुना, यदि गंगा-जल (स्नान के लिए) पास में हो तो चन्द्रग्रहण एक करोडगुना अधिक (फलदायक) है और सूर्यग्रहण उससे दस-गुना अधिक।'[५]

ग्रहण-दर्शन पर प्रथम कर्तव्य है स्नान करना। ऐसा आया है कि राहु देखने पर सभी वर्णों के लोग अपवित्र हो जाते हैं। उन्हें सर्वप्रथम स्नान करना चाहिए, तब अन्य कर्तव्य करने चाहिए, (ग्रहण के पूर्व) पकाये हुए भोजन का त्याग कर देना चाहिए (हे०, काल, पृ० ३९०; कालविवेक, पृ० ५३३; व० क्रि० कौ०, पृ० ९१)। ग्रहण के समय के विषय में विचित्र पुनीतता का उल्लेख हुआ है। यदि कोई व्यक्ति ग्रहण-काल एवं संक्रान्ति-काल में स्नान नहीं करता तो वह भावी सात जन्मों में कोढ़ी हो जायगा और दुःख का भागी होगा (स० म०, पृ० १३०)। उसे ठण्डे जल में स्नान करना चाहिए और वह भी यथासम्भव पवित्र स्थल पर। पुनीततम स्नान गंगा में या गोदावरी में या प्रयाग में होता है, इसके उपरान्त किसी भी बड़ी नदी में, यथा ६ नदियाँ जो हिमालय से निकली हैं, ६ नदियाँ जो विन्ध्य से निकली हैं, इसके उपरान्त किसी भी जल में, क्योंकि ग्रहण के समय सभी जल गंगा के समान पवित्र हो उठते हैं। गर्म जल का स्नान केवल बच्चों, बूढ़ों एवं रोगियों के लिए आज्ञापित है।[६] ग्रहण आरम्भ होने पर स्नान, होम, देवों की पूजा, ग्रहण के समय श्राद्ध, जब ग्रहण समाप्त होने को हो तो दान तथा जब ग्रहण समाप्त हो जाय तो पुनः स्नान करना चाहिए। जनन-मरण के समय आशौच पर भी ग्रहण के समय स्नान करना चाहिए, किन्तु गौड़-लेखकों के मत से, उसे दान या श्राद्ध नहीं करना चाहिए। इस विषय में मदनरत्न तथा निर्णयसिन्धु ने विरोधी मत दिया है; उनके मत से आशौच में स्नान, दान, श्राद्ध एवं प्रायश्चित्त करना चाहिए (नि० सि०, पृ० ६६)। कुछ पुराणों एवं निबन्धों में कुछ विशिष्ट मासों के ग्रहणों के फलों तथा कुछ विशिष्ट नदियों या पूत स्थलों में स्नान के फलों में अन्तर प्रतिपादित हुए हैं। कालनिर्णय (पृ० ३५०) ने चन्द्रग्रहण पर गोदावरी में एवं सूर्यग्रहण पर नर्मदा में स्नान की व्यवस्था दी है। कृत्यकल्पतरु (नैयतकाल), हेमाद्रि (काल) एवं कालविवेक ने देवीपुराण की उक्तियाँ दी हैं, जिनमें

५. व्यासः। इन्दोर्लक्षगुणं प्रोक्तं रवेर्दशगुणं स्मृतम्। गंगातोये तु सम्प्राप्ते इन्दोः कोटी रवेर्दश॥ हे० (काल, पृ० ३८४), का० वि० (पृ० ५२१) एवं नि० सि० (पृ० ६४)।

६. सर्वं गंगासमं तोयं सर्वे व्याससमा द्विजाः। सर्वं मेरुसमं दानं ग्रहणे सूर्यचन्द्रयोः॥ भुजबल (पृ० ३४८); व० क्रि० कौ० (पृ० १११); का० नि० (पृ० ३४८); स० म० (पृ० १३०)। गोदावरी भीमरथी तुंगभद्रा च वेणिका। तापी पयोष्णी विन्ध्यस्य दक्षिणे तु प्रकीर्तिताः॥ भागीरथी नर्मदा च यमुना च सरस्वती। विशोका च वितस्ता च हिमवत्पर्वताश्रिताः॥ एता नद्यः पुण्यतमा देवतीर्थान्युदाहृताः। ब्रह्मपुराण (७०।३३-३५)।

कुछ निम्न हैं---'कार्तिक के ग्रहण में गंगा-यमुना-संगम श्रेष्ठ है, मार्गशीर्ष में देविका में, पौष में नर्मदा में, माघ में सन्निहिता नदी पवित्र है' आदि-आदि।

सामान्य नियम यह है कि रात्रि में स्नान, दान एवं श्राद्ध वर्जित है। आपस्तम्ब० (१।११।३२।८) में आया है---'रात्रि में उसे स्नान नहीं करना चाहिए।' मनु (३।२८०) का कथन है---रात्रि में स्नान नहीं होना चाहिए, क्योंकि वह राक्षसी घोषित है, और दोनों सन्ध्यायों में तथा जब सूर्य अभी-अभी उदित हुआ है स्नान नहीं करना चाहिए। किन्तु ग्रहण में स्नान, दान एवं श्राद्ध अपवाद हैं। याज्ञ० (१।२।१८) के अनुसार ग्रहण श्राद्ध-काल कहा गया है।

शातातप (हे०, काल, पृ० ३८७; का० वि०, पृ० ५२७; स्मृतिकौ०, पृ० ७१) का कथन है कि ग्रहण के समय दानों, स्नानों, तपों एवं श्राद्धों से अक्षय फल प्राप्त होते हैं, अन्य कृत्यों में रात्रि (ग्रहणों को छोड़कर) राक्षसी है, अतः इससे विमुख रहना चाहिए। महाभारत में आया है---'अयन एवं विषुव के दिनों में, चन्द्र-सूर्य-ग्रहणों पर व्यक्ति को चाहिए कि वह सुपात्र ब्राह्मण को दक्षिणा के साथ भूमिदान दे,' (का० नि०, पृ० ३५४; स्मृतिकौ०, पृ० ७२)। याज्ञ० में ऐसा आया है कि 'केवल विद्या या तप से ही व्यक्ति सुपात्र नहीं होता, वही व्यक्ति पात्र है जिसमें ये दोनों तथा कर्म (इन दोनों के समानुरूप) पाये जायँ।' कतिपय शिलालेखों में ग्रहण के समय के भूमिदानों का उल्लेख है; प्राचीन एवं मध्य कालों में राजा एवं धनी लोग ऐसा करते थे (देखिए इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, ६, पृ० ७२-७५; एपिग्रैफिया इण्डिका, ३, पृ० १-७; वही, ३, पृ० १०३-११०; वही, ७, पृ० २०२-२०८; वही, ९, पृ० ९८-१०२; वही, १४, पृ० १५६-१६३ आदि-आदि)। आज भी ग्रहण के समय दरिद्र लोग नगरों एवं बस्तियों में वस्त्रों एवं पैसों के लिए शोर-गुल करते दृष्टिगोचर होते हैं।

ग्रहण के समय श्राद्ध-कर्म करना दो कारणों से कठिन है। अधिकांश में ग्रहण अल्पावधि के होते हैं, दूसरे, ग्रहण के समय भोजन करना वर्जित है। ग्रहण के समय भोजन करने से प्राजापत्य प्रायश्चित्त करना पड़ता है। इसी से कुछ स्मृतियों एवं निबन्धों में ऐसा आया है कि श्राद्ध आम-श्राद्ध या हेम-श्राद्ध होना चाहिए। ग्रहण के समय श्राद्ध करने से बड़ा फल मिलता है, किन्तु उस समय भोजन करने पर प्रायश्चित्त करना पड़ता है और व्यक्ति अन्य लोगों की दृष्टि में गिर जाता है। मिताक्षरा (याज्ञ० १।२१७-२१८) ने उद्धृत किया है---'सूर्य या चन्द्र के ग्रहणों के समय भोजन नहीं करना चाहिए।' अतः कोई पात्र ब्राह्मण आसानी से नहीं मिल सकता, और विस्तार के साथ श्राद्ध-कर्म एक प्रकार से असम्भव है। तब भी शातातप आदि कहते हैं कि श्राद्ध करना आवश्यक है---'राहुदर्शन पर व्यक्ति को श्राद्ध करना चाहिए, यहाँ तक कि अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति के साथ; जो व्यक्ति श्राद्ध नहीं करता वह गाय के समान पंक में डूब जाता है।' ग्रहण पर कृत्यों के क्रम यों हैं---गंगा या किसी अन्य जल में स्नान, प्राणायाम, तर्पण, गायत्रीजप, अग्नि में तिल एवं व्याहृतियों तथा ग्रहों के लिए व्यवस्थित मन्त्रों के साथ होम (याज्ञ० १।३०-३०१), इसके उपरान्त आमश्राद्ध, सोना, गायों एवं भूमि के दान।

आजकल अधिकांश लोग ग्रहण के समय स्नान करते हैं और कुछ दान भी करते हैं किन्तु ग्रहण-सम्बन्धी अन्य कृत्य नहीं करते। ग्रहण-काल जप, दीक्षा, मन्त्र-साधना (विभिन्न देवों के निमित्त) के लिए उत्तम काल है (देखिए, हे०, काल०, पृ० ३८९; ति० त०, पृ० १५६; नि० सि०, पृ० ६७)।

जब तक ग्रहण आँखों से दिखाई देता है तब तक की अवधि पुण्यकाल कही जाती है। जाबालि में आया है---'संक्रान्ति में इसके इधर-उधर १६ कलाओं तक पुण्यकाल रहता है किन्तु सूर्यचन्द्र-ग्रहण में यह केवल तब तक रहता है जब तक ग्रहण दर्शन होता रहता है (दे० कृ० क०, नैयत, पृ० ३६८; हे०, काल, ३८८; कृ० र०, पृ० ६२५; स्मृतिकौ०, पृ० ६९)। इस विषय में मध्यकालिक ग्रन्थों में बड़े मतमतान्तर हैं। विभेद 'यावद्दर्शनगोचर' एवं 'राहु-

दर्शने' शब्दों को लेकर है।[7] कृत्यकल्पतरु का तर्क है कि 'दर्शन' शब्द कतिपय कृत्यों (यथा स्नान, दान आदि) के कारण एवं अवसर को बताता है, ग्रहण तो तभी अवसर है जब यह जाना जा सके कि वह घटित हुआ है और यह ज्ञान आँख से प्राप्त होता है तथा जब सूर्य या चन्द्र बादलों में छिपा हो तो व्यक्ति ग्रहण के समय के प्रतिपादित कर्म नहीं भी कर सकता है। हेमाद्रि ने इसका उद्धरण देकर इसकी आलोचना की है। वे मनु के इस कथन पर विश्वास करते हैं कि (मनु० ४।३७) व्यक्ति को उदित होते हुए, अस्त होते हुए या जब उसका ग्रहण हो या जल में प्रतिबिम्बित हो या जब सूर्य मध्याह्न में हो तो उसको नहीं देखना चाहिए। ऐसी स्थिति में मनु के मत से वास्तविक ग्रहण-दर्शन असम्भव है और तब तो व्यक्ति स्नान नहीं कर सकता। हेमाद्रि का कथन है कि शिष्ट लोग स्नान आदि करते हैं, भले ही वे ग्रहण को वास्तविक रूप में न देख सकें। अतः उनके मत से पुण्यकाल तब तक रहता है जब तक (ज्योतिष) शास्त्र द्वारा वह समाप्त न समझा जाय। कृ० र० (पृ० ५२६) का कथन है कि जब तक उपराग (ग्रहण) दर्शन योग्य रहता है तब तक स्नानादि क्रिया होती रहती है। कुछ लोगों ने तो ऐसा तर्क किया है कि केवल ग्रहण-मात्र (दर्शन नहीं) ऐसा अवसर है जब कि स्नान, दान आदि कृत्य किये जाने चाहिए, किन्तु कालविवेक (पृ० ५२९) ने उत्तर दिया है कि यदि ग्रहण-मात्र ही स्नानादि का अवसर है तो ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जायगी कि यदि चन्द्र का ग्रहण किसी अन्य द्वीप में हो तो व्यक्ति को दिन में ही सूर्यग्रहण के समान अपने देश में स्नानादि करने होंगे। स्मृतिकौस्तुभ (पृ० ७०) एवं समयप्रकाश (पृ० १२६) ने इसीलिए कहा है कि 'दर्शनगोचर' का तात्पर्य यह है कि जब व्यक्ति ज्योतिःशास्त्र से जानता है कि किसी देश में ग्रहण आँखों से देखा जा सकता है तो उसे उस काल में स्नानादि कृत्य करने चाहिए (भले ही वह उसे न देख सके)। संवत्सरप्रदीप ने स्पष्ट लिखा है—'वही ग्रहण है जो देखा जा सके, व्यक्ति को ऐसे ग्रहण पर धार्मिक कृत्य करने चाहिए, केवल गणना पर ही आश्रित नहीं रहना चाहिए।'

यदि सूर्यग्रहण रविवार को एवं चन्द्रग्रहण सोमवार को हो तो ऐसा सम्मिलन 'चूड़ामणि' कहलाता है और ऐसा प्रतिपादित है कि चूड़ामणि ग्रहण अन्य ग्रहणों की अपेक्षा एक कोटि अधिक फलदायक होता है (का० वि०, पृ० ५२३; का० नि०, पृ० ३५१; ति० त०, पृ० १५४; स्मृतिकौ०, ७०, व्यास से उद्धृत)।

कुछ लोगों ने ऐसा प्रतिपादित किया है कि ग्रहण के एक दिन पूर्व उपवास करना चाहिए, किन्तु हेमाद्रि ने कहा है कि उपवास ग्रहण-दिन पर ही होना चाहिए। किन्तु पुत्रवान् गृहस्थ को उपवास नहीं करना चाहिए (हे० व्रत, भाग २, पृ० ९१७)।

बहुत प्राचीन कालों से ग्रहण के पूर्व, उसके समय तथा उपरान्त भोजन करने के विषय में विस्तार के साथ नियम बने हैं।[8] विष्णुधर्मसूत्र में व्यवस्था है—'चन्द्र या सूर्य के ग्रहण-काल में भोजन नहीं करना चाहिए; जब

७. शातातपः। स्नानं दानं तपः श्राद्धमनन्तं राहुदर्शने। आसुरी रात्रिरन्यत्र तस्मात्तां परिवर्जयेत्॥ (हे०, काल, पृ० ३८७; का० वि०, पृ० ५२७; स्मृतिकौ०, पृ० ७१)। संक्रान्तौ पुण्यकालस्तु षोडशोभयतः कलाः। चन्द्रसूर्योपरागे तु यावद्दर्शनगोचरः॥ जाबालि (कृ० क०, नैयत०, पृ० ३६८; हे०, काल, पृ० ३८८; कृ०, र०, पृ० ६२५; स्मृतिकौ०, पृ० ६९)।

८. चन्द्रार्कोपरागे नाश्नीयादविमुक्तयोरस्तंगतयोर्दृष्ट्वा स्नात्वा परेऽहनि। विष्णुधर्मसूत्र (६८।१-३); हे०, काल, पृ० ३९६; का० वि०, पृ० ५३७; कृ० र०, पृ० ६२६; व० क्रि० कौ०, पृ० १०२; नाद्यात्सूर्यग्रहात्पूर्वमह्नि सायं शशिग्रहात्। ग्रहकाले च नाश्नीयात्स्नात्वाश्नीयाच्च विमुक्तयोः॥ मुक्ते शशिनि भुंजीत यदि स्यान्न महानिशा। स्नात्वा दृष्ट्वापरेऽह्न्यद्याद् ग्रस्तास्तमितयोस्तयोः॥ उद्धृत—कृत्यकल्पतरु (नैयत०, पृ० ३०९-३१०); काल-

ग्रहण समाप्त हो जाय तो स्नान करके खाना चाहिए; यदि ग्रहण के पूर्व ही सूर्य या चन्द्र अस्त हो जायँ तो स्नान करना चाहिए और सूर्योदय देखने के उपरान्त ही पुनः खाना चाहिए।' यही बात कुछ ग्रन्थों में उद्धृत दो श्लोकों में विस्तारित है—'सूर्य-ग्रहण के पूर्व नहीं खाना चाहिए और चन्द्र-ग्रहण के दिन की सन्ध्या में भी नहीं खाना चाहिए; ग्रहण-काल में भी नहीं खाना चाहिए; किन्तु जब सूर्य एवं चन्द्र ग्रहण से मुक्त हो जायँ तो स्नानोपरान्त खाया जा सकता है; जब चन्द्र मुक्त हो जाय तो उसके उपरान्त रात्रि में भी खाया जा सकता है, किन्तु यह तभी किया जा सकता है जब महानिशा न हो; जब ग्रहण से मुक्त होने के पूर्व ही सूर्य या चन्द्र अस्त हो जायँ तो दूसरे दिन उनके उदय को देखकर ही स्नान करके खाना चाहिए।'

यह भी कहा गया है कि न केवल ग्रहण के काल में ही खाना नहीं चाहिए, प्रत्युत चन्द्रग्रहण में आरम्भ होने से ३ प्रहर (९ घण्टे या २२½ घटिकाएँ) पूर्व भी भोजन नहीं करना चाहिए और सूर्यग्रहण के आरम्भ के चार प्रहर पूर्व भोजन नहीं करना चाहिए; किन्तु यह नियम बच्चों, वृद्धों एवं स्त्रियों के लिए नहीं है।[९] यह तीन या चार प्रहरों की अवधि (ग्रहण के पूर्व से) प्राचीन काल से अब तक 'वेध' नाम से विख्यात है। कृत्यतत्त्व (पृ० ४३४) ने भोजन विषयक सभी उपर्युक्त नियम एक स्थान पर एकत्र कर रखे हैं। आज ये नियम भली भाँति नहीं सम्पादित होते, किन्तु आज से लगभग ८० वर्ष पूर्व ऐसी स्थिति नहीं थी।

ग्रहणों से उत्पन्न बहुत से फलों की चर्चा हुई है। दो-एक उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं। विष्णुधर्मोत्तर (१।८५।५६) में आया है—'यदि एक ही मास में पहले चन्द्र और उपरान्त सूर्य के ग्रहण हों तो इस घटना के फलस्वरूप ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों में झगड़े या विरोध उत्पन्न होंगे, किन्तु यदि इसका उलटा हो तो समृद्धि की वृद्धि होती है।'[१०] उसी पुराण में यह भी आया है—'उस नक्षत्र में, जिसमें सूर्य या चन्द्र का ग्रहण होता है, उत्पन्न व्यक्ति दुःख पाते हैं, किन्तु इन दुःखों का मार्जन शान्ति कृत्यों से हो सकता है।' इस विषय में देखिए हेमाद्रि (काल०, पृ० ३९२-३९३)। अत्रि की उक्ति है—'यदि किसी व्यक्ति के जन्म-दिन के नक्षत्र में चन्द्र एवं सूर्य का ग्रहण हो तो उस व्यक्ति को व्याधि, प्रवास, मृत्यु एवं राजा से भय होता है।'[११]

वि० (पृ० ५३७); हे० (काल, पृ० ३८०); कृ० र० (पृ० ६२६-६२७); व० क्रि० कौ० (पृ० १०४)। इनमें कतिपय श्लोक विभिन्न लोगों द्वारा विभिन्न लोगों के कहे गये हैं।

९. वृद्धगौतमः। सूर्यग्रहे तु नाश्नीयात् पूर्वं यामचतुष्टयम्। चन्द्रग्रहे तु यामांस्त्रीन् बालवृद्धातुरैर्विना॥ हे०, काल, पृ० ३८१; स्मृतिकौ०, पृ० ७६।

१०. एकस्मिन्यदि मासे स्याद् ग्रहणं चन्द्रसूर्ययोः। ब्रह्मक्षत्रविरोधाय विपरीते विवृद्धये॥ विष्णुधर्मोत्तर (१।८५।५६)। 'यन्नक्षत्रगतौ राहुर्ग्रसते चन्द्रभास्करौ। तज्जातानां भवेत्पीडा ये नराः शान्तिवर्जिताः॥' वही, १।८५।३३-३४)।

११. आह चात्रिः। यस्य स्वजन्मनक्षत्रे ग्रस्येते शशिभास्करौ। व्याधिं प्रवासं मृत्युं च राज्ञश्चैव महद्भयम्॥ का० वि० (पृ० ५४३)।

अध्याय १३

व्रतों एवं उत्सवों की सूची

इस अध्याय में व्रतों एवं उत्सवों की जो सूची प्रस्तुत की जा रही है वह पूर्ण नहीं है, किन्तु अब तक की प्रकाशित सभी सूचियों से यह बड़ी है। व्रतों एवं उत्सवों में बहुत कम अन्तर पाया जाता है। बहुत-से व्रतों में उत्सवों के तत्त्व पाये जाते हैं और बहुत-से उत्सवों में भी कम या अधिक धार्मिक तत्त्व पाया जाता है, यहाँ तक कि सभी उत्सव आरम्भ में धार्मिक थे, किन्तु आगे चलकर वे धर्मनिरपेक्ष हो गये। यह द्रष्टव्य है कि 'एशियाटिक रिसर्चेज' (जिल्द ३) में सर विलियम जोंस ने तिथितत्त्व (पृ० २५७-२९३) के आधार पर हिन्दू उत्सव-दिनों की एक सूची प्रकाशित की थी और प्रो० कीलहार्न ने भी अधिकांश में धर्मसिन्धु पर आधारित उत्सव-दिनों की एक सूची उपस्थित की (इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, जिल्द २६, पृ० १७७-१८७)। ये दोनों सूची बहुत स्वल्प हैं। इण्डियन ऐफिमेरिस (जिल्द १, भाग १, पृ० ५५-६९) में एक लम्बी विवरणात्मक सूची है और तिथियों से सम्बन्धित एक संक्षिप्त किन्तु ठीक उत्सव-सूची पायी जाती है। किन्तु यह भी प्रस्तुत सूची से छोटी है। स्व० डा० मेघनाथ साहा की अध्यक्षता में गठित 'कलेण्डर रिफार्म कमेटी' की रिपोर्ट (१९५३) में चान्द्र उत्सवों (चैत्र से आगे के) एवं सौर उत्सवों एवं कुछ महत्त्वपूर्ण तिथियों (पृ० १०१-१०८) तथा उत्सवों की, वर्णमाला के अनुसार बनायी हुई, सूची (पृ० १११-११५) प्रकाशित है, जो विस्तृत अवश्य है, किन्तु उसमें मासों, पक्षों एवं तिथियों के अतिरिक्त ग्रन्थों की ओर संकेत नहीं पाया जाता है। बँगला तथा कुछ अन्य क्षेत्रीय भाषाओं में व्रतों की सूचियाँ पायी जाती हैं, किन्तु प्रस्तुत लेखक उन भाषाओं से अनभिज्ञ है। हमारी इस सूची में व्रतों एवं उत्सवों के अतिरिक्त कुछ अन्य विषय एवं पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख किया गया है। यह सूची संस्कृत की वर्णमाला के अनुसार व्यवस्थित है। कुछ नामों को सांकेतिक रूप में रख दिया गया है, जिससे व्यर्थ में पृष्ठ-वृद्धि न हो। प्रत्येक व्रत के साथ उसका समय या काल दे दिया गया है, यथा——तिथिव्रत या वारव्रत, संवत्सर-व्रत या नक्षत्रव्रत या प्रकीर्णक व्रत, केवल वहीं पर इसका उल्लेख नहीं हुआ है जहाँ नाम से ही बात प्रकट हो जाती है। अधिष्ठाता देवता के नाम भी दे दिये गये हैं, कुछ विषयों में कुछ अन्य बातें भी जोड़ दी गयी हैं, और कहीं-कहीं उन ग्रन्थों का हवाला भी दे दिया गया है, जहाँ इनका उल्लेख या विवरण मिलता है। व्रतों एवं उत्सवों से उत्पन्न फलों एवं पुण्यों का उल्लेख सामान्यतः नहीं किया गया है, क्योंकि उनकी संख्या बहुत अधिक है और यहाँ स्थानाभाव है। इसी प्रकार युगादि या युगान्त या मन्वादि या कल्पादि नामक तिथियों का भी उल्लेख नहीं हुआ है, क्योंकि उनकी संख्या अधिक है, उन्हें एक ही स्थान पर युगादि आदि नामक शब्दों में द्योतित कर दिया गया है। अधिकांश व्रत दिव्य विभूतियों द्वारा उद्घोषित हैं, यथा——शिव ने पार्वती से, कृष्ण ने युधिष्ठिर से उनके विषय में कहा है या वे मार्कण्डेय, नारद, धौम्य, याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ आदि ऋषियों द्वारा वर्णित हैं और ऐसा कहा गया है कि व्रत एक महान् रहस्य है जो देवों एवं देवियों को भी अज्ञात है, यथा शिवरात्रि व्रत (हेमाद्रि, व्रत खण्ड, २, ८८)।

बहुत-से व्रतों एवं उत्सवों का प्रचलन कई कारणों से अब समाप्त हो गया है। कुछ ऐसे व्रत एवं उत्सव हैं जिनकी परिसमाप्ति २०वीं शती में भी नहीं हो सकती है और न इसके लिए किसी प्रकार की योजना की आवश्यकता ही है। दीवाली एवं होलिका जैसे व्रतों एवं उत्सवों का प्रचलन ठीक ही है, किन्तु उनके साथ चलने

वाले कुछ दुष्कर्म बन्द हो जाने चाहिए, यथा द्यूत आदि (दीवाली में) तथा गन्दी गालियाँ एवं कीचड़ फेंकना आदि (होली में)। रामनवमी, विजयादशमी, कृष्णजन्माष्टमी को ज्यों-का-त्यों मनाते जाना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से प्राचीन काल की महान् विभूतियों की कृतियों एवं चरितों का स्मरण होता रहता है। इन उत्सवों के साथ शिवाजी, गुरु गोविन्द सिंह, तिलक, रवीन्द्र एवं गान्धी जैसी महान् विभूतियों एवं महामानवों की जयन्तियाँ भी मनायी जानी चाहिए। इसी प्रकार वट-सावित्री एवं हरितालिका जैसे व्रतों को भी, जो स्त्रियों द्वारा किये जाते हैं, मनाते जाना चाहिए तथा रक्षाबन्धन एवं भ्रातृद्वितीया जैसे व्रतों को भी प्राचीन महत्ता मिलती रहनी चाहिए. क्योंकि उनमें स्वाभाविक उत्सर्ग भावना से प्रेरित स्नेह भाव का प्रदर्शन पाया जाता है।

यह द्रष्टव्य है कि बहुत-से व्रत एक-साथ मास, तिथि एवं नक्षत्र पर निर्भर हैं, इनका विभाजन कठिनाई से किया जा सकता है। अधिकांश व्रत तिथिव्रत हैं, अतः तिथि शब्द नहीं रखा गया है। पुराणों के साथ 'पुराण' शब्द नहीं रखा गया है, यथा अग्नि, वामन आदि। पुराणों को छोड़कर अन्य मध्यकालीन ग्रन्थ कालानुसार रखे गये हैं। निम्नलिखित संकेत विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं, यथा चै० (चैत्र), वै० (वैशाख), ज्ये० (ज्येष्ठ), आ० (आषाढ़), श्रा० (श्रावण), भा० (भाद्रपद), आश्वि० (आश्विन), का० (कार्तिक), मार्ग० (मार्गशीर्ष), पौ० (पौष), मा० (माघ), फा० (फाल्गुन), शु० (शुक्ल), कृ० (कृष्ण) पक्ष।

व्रत-उत्सवों की सूची

अक्षयाचतुर्थी : उपवास-जैसे व्रतों में मंगलवार के साथ चतुर्थी विशेष फल देती है। गदाधरपद्धति (७२)।

अक्षयफलावाप्ति : वै० शु० ३; तिथि; विष्णुपूजा। हेमाद्रि, व्रतखण्ड १, ४९१। यदि इस तिथि में कृत्तिका हो तो विशिष्ट पुण्य होता है। निर्णयसिन्धु (९२-९४)।

अक्षयतृतीया : वै० शु० ३; मत्स्य० (६५।१-७), नारदीय० (१।११२।१०)। देखिए गत अध्याय ४।

अक्षयनवमी : का० शु० ९; तिथि; इसी दिन विष्णु द्वारा कूष्माण्ड नामक दैत्य मारा गया था। व्रतराज ३४७। देखिए युगादि।

अखण्डद्वादशी : (१) आषा० शु० ११ (आरम्भ; उस दिन उपवास) एवं द्वादशी पर विष्णुपूजा; तिथिव्रत; एक वर्ष तक; क्रिया-संस्कारों में जो अपूर्ण होता है, वह पूर्ण हो जाता है; कृत्यकल्पतरु (व्रतकाण्ड ३४४-३४७) एवं हेमाद्रि (व्रतखण्ड, १, ११९३-११०५; (२) मार्ग० शु० १२; यज्ञ, उपवास एवं व्रत में वैकल्य दूर करती है; हे० व्र० (१, १११७-११२४), वामन० १७।११-२५; अग्नि० (अध्याय १९०); गरुड़० (१।११८)।

अगस्त्यदर्शन-पूजन : (जब सूर्य कन्या राशि के मध्य में रहता है उस समय अगस्त्य नक्षत्र को देखना और रात्रि में पूजन करना), नीलमतपुराण (पृ० ७६-७७, श्लोक ९३४-९३९)।

अगस्त्यार्घ्यदान : अगस्त्य नक्षत्र को अर्घ्य देना। मत्स्य० (अध्याय ६१, जहाँ अगस्त्योत्पत्ति के विषय में उल्लेख है); गरुड़० (१।११९।१-६); जीमूतवाहन का कालविवेक (२९०-२९२)। विभिन्न देशों में विभिन्न कालों में अगस्त्य का उदय एवं अस्त होता है। अग्नि० (२०६।१-२); राजमार्तण्ड (भोजकृत, १२०६-१२२८); कृत्यकल्पतरु का नैयतकालिक काण्ड (४४८-४५१); हे० व्र० (२।८९३-९०४); कृत्यरत्नाकर (२९४-२९९); वर्षक्रियाकौमुदी (३४०-३४१); राजमार्तण्ड (१२१९-२०); मत्स्य० ६१।५०; गरुड़० १।११९।५; समयप्रदीप (सोमदत्तकृत)।

अग्नि : विभिन्न कृत्यों में प्रज्वलित अग्नि के विभिन्न नाम हैं। यथा—रसोई की अग्नि पावक, गर्भाधान की अग्नि मारुत कही जाती है; देखिए तिथितत्त्व (९९, जहाँ गृह्यसंग्रह १।२-१२ का उद्धरण है)।

अग्निव्रत : फा० कृष्ण ४ (उपवास); एक वर्ष; वासुदेवपूजा; विष्णुधर्मोत्तर० (३।१४३।१-७), हे० व्र० (१ ५०६, चतुर्मूर्तिव्रत)।

अघोरचतुर्दशी : भाद्रपद कृ० १४; (उपवास); शिव; देखिए गदाधरपद्धति (कालसार, १५७), वर्षक्रियाकौमुदी (३१५); तिथितत्त्व (१२२); रघुनन्दनकृत कृत्यतत्त्व (४४३)।

अङ्गारक-चतुर्थी : किसी मंगलवार को चौथ; ८ बार या ४ बार या जीवन भर; मंगल की पूजा; मन्त्र (ऋ० ८।४४।१६); शूद्र केवल मंगल का स्मरण करते हैं। मत्स्य० (७२।१-४५); पद्म० (५।२४, २०-६३); भविष्योत्तर० (३१।१-६२); वर्षक्रियाकौमुदी (३२-३३); व्रतराज (१८८-१९१); कृत्यकल्पतरु, व्रत० (८०-८१); हेमाद्रि, व्रतखण्ड (१, ५१८-५१९)। अहल्याकामधेनु (पाण्डुलिपि) में ध्यान यह है—'अवन्ती-समुत्थं सुमेषासनस्थं धरानन्दनं रक्तवस्त्रं समीडे।'

अङ्गारक-चतुर्दशी : ग० प० (६१०); यदि किसी मंगल को चतुर्थी या चतुर्दशी हो तो वह सौ सूर्य-ग्रहणों सनस्थं से अधिक फलदायक होती है।

अङ्गिरा-व्रत : कृष्ण दशमी; एक वर्ष; दस देवों की पूजा; विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।१७७।१-३)।

अचलासप्तमी : माघ शु० ७; सूर्यपूजा; षष्ठी को एकभक्त एवं सप्तमी को उपवास; सप्तमी की रात्रि के अन्त में एक हाथ में दीप लेकर स्थिर जल को हिला दिया जाता है; हे० व्र० (१, ६४३-६४८, भविष्योत्तर० से उद्धरण, जहाँ कृष्ण ने युधिष्ठिर को उस वेश्या इन्दुमती की कथा सुनायी है जिसने पश्चात्ताप में आकर इसका सम्पादन किया है)। व्रतार्क, व्रतराज (२५३-२५५); निर्णयामृत (५१, यहाँ इसे जयन्ती भी कहा गया है); इस दिन भास्कर का ध्यान करना चाहिए।

अच्युतव्रत : पौष कृ० १; तिथि; तिल एवं घृत से 'ओं नमो वासुदेवाय' नामक मन्त्र के साथ अच्युत की पूजा; ३० ब्राह्मणों को उनकी पत्नियों के साथ भोजन देना; अहल्याकामधेनु (२३०)।

अतिविजया-एकादशी : पुनर्वसु-नक्षत्र के साथ शुक्ल एकादशी को; एक वर्ष के लिए (एक प्रस्थ तिल का दान); हे० व्र० (१।११४७), विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण।

अदारिद्र्य-षष्ठी : षष्ठी को (उपवास या एकभक्त); एक वर्ष के लिए; भास्कर की पूजा; हे० व्र० (१, ६२६-६२७, स्कन्द० के चार श्लोक उद्धृत हैं)। सम्पादनकर्ता तेल एवं नमक छोड़ देता है और ब्राह्मणों को दूध एवं शक्कर के साथ चावल पकाकर खिलाता है। कुटुम्ब में न कोई दरिद्र रहता है और न कोई दरिद्र उत्पन्न होता है।

अधिमास : (मलमास); इसका निर्णय एवं कृत्य; हेमाद्रि, कालपर चतुर्वर्गचिन्तामणि (२६-६६); कालविवेक (जीमूतवाहनकृत, ११३-१६८); निर्णयसिन्धु (९-१५); स्मृतिकौस्तुभ (५२०-५२९); पुरुषार्थ-चिन्तामणि (१२-३१); वर्षक्रियाकौमुदी (२३१-२३६); कृत्यरत्नाकर (५३६-५३९)।

अदुःख-नवमी : सब के लिए, किन्तु विशेषतः नारियों के लिए; भाद्रपद शु० ९; पार्वती; व्रतराज (३३२-३३७; स्कन्द० से उद्धरण)। बंगाल में इसे स्त्रियाँ अवैधव्य के लिए करती हैं।

अनघाष्टमी : मार्ग० कृ० ८; तिथि; अनघ एवं अनघी की पूजा (दर्भ से वासुदेव एवं लक्ष्मी की प्रतिमा बनायी जाती है। शूद्र नमस्कार करते हैं और अन्य लोग ऋ० (१।२२।१६) का मन्त्र पढ़ते हैं (अतो देवा); भविष्योत्तर० (५८।१)।

अनङ्गत्रयोदशी : (१) मार्ग० शु० १३; तिथि; एक वर्ष; शम्भुपूजा; पंचामृत से स्नान; प्रत्येक मास में अनंग (शम्भु के रूप में) विभिन्न नामों से (यथा—स्मर की पूजा माघ में) एवं विभिन्न पुष्पों एवं नैवेद्य से पूजित

होते हैं। हे० व्र० (२, १-८, भविष्योत्तर० से उद्धरण); माधवकृत कालनिर्णय (२७८); ग० प० (१५३); पूर्वविद्धा ली जाती है; गरुड़० (१।११७); (२) चैत्र या भाद्रपद शु० १३; तिथि; वर्ष में प्रत्येक मास में या एक बार; बारह विभिन्न नामों के साथ वस्त्र पर काम के चित्र की पूजा; हे० व्र० (२, ८-९, कालोत्तर से उद्धरण); पुरुषार्थचिन्तामणि (३२३) एवं निर्णयसिन्धु (८८)।

अनङ्गदानव्रत : हस्त, पुष्य या पुनर्वसु के साथ रविवार को; वेश्याओं के लिए; विष्णु एवं काम की पूजा; १३ महीने; वेश्या रविवार को किसी ब्राह्मण से संभोग कराती है और 'क इदं कस्मा अदात् कामः..आदि' का पाठ करती है। देखिए अथर्ववेद (३।२९।७); तै० ब्रा० (२।२।५।५-६), आप० श्रौ० सू० (५।१३ जहाँ कामस्तुति है); मत्स्य० (अध्याय ७०), पद्म० (५।२३।७४-१४६); कृत्यकल्पतरु (व्रत०, २७-३१, जहाँ इसे वेश्यादित्याङ्गदानव्रत कहा गया है); हेमाद्रि (व्रत, २, ५४४-५४८, पद्म० से उद्धरण); कृत्यरत्नाकर (६०५-६०८; मत्स्य० से उद्धरण)।

अनङ्गपवित्रारोपण : श्रावण शु० १३; हेमाद्रि, व्रत खण्ड (२, ४४२); पुरुषार्थचिन्तामणि (२३८)।

अनन्तचतुर्दशी : देखिए गत अध्याय ८।

अनन्ततृतीया : भाद्रपद या वैशाख या मार्गशीर्ष; शुक्ल तृतीया; एक वर्ष; प्रत्येक मास में विभिन्न पुष्पों से गौरी की पूजा; मत्स्य० (६२।१-३९, पद्म० ५।२२।६१-१०४); भविष्योत्तर० (२६।१-४१); कृत्यकल्पतरु (व्रत० ६०-६६); हे० व्र० (१, ४२२-४२६); कृत्य० (२६५-२७०)।

अनन्तद्वादशी : भाद्रपद शु० १२; तिथि; एक वर्ष के लिए; हरि-पूजा; विष्णुधर्मोत्तर० (३।२१९।१-५); हे० व्र० (१, १२००-१)।

अनन्तपञ्चमी : फा० शु० ५; तिथि; देवता का उल्लेख नहीं है; हे० व्र० (१, ५६४, स्कन्द, प्रभासखण्ड से उद्धरण)।

अनन्तफलसप्तमी : भाद्र० शु० ७; तिथि; एक वर्ष; सूर्य-पूजा; हे० व्र० (१, ७४१, भविष्य०, ब्राह्मपर्व ११०।१-८); कृ० क० (व्र० १४८-९)।

अनन्ततृतीयाव्रत : देखिए नीचे आनन्तर्य-व्रत।

अनन्तव्रत : (१) मार्ग० में मृगशीर्ष-नक्षत्र के दिन; एक वर्ष; प्रत्येक मास में विभिन्न नक्षत्र (पौष में पुष्य, माघ में मघा आदि); विष्णुपूजा; हे० व्र० (२, ६६७-६७१, विष्णुधर्मोत्तर० १।१७३।१-३० से उद्धरण)। यह पुत्रद है। (२) विष्णुधर्मोत्तर (३।१५०।१-५); दूसरी तिथि से अन्य प्रकार; एक वर्ष; विष्णु (अनन्त) की पूजा; चतुर्मूर्ति व्रत।

अनन्दा-नवमी : फा० शु० ९; तिथि; एक वर्ष; देवीपूजा; कृत्यकल्पतरु (व्रत० २९९-३०१, यहाँ आनन्दा नाम है); हे० व्र० (१, ९४८-५०)।

अनरक-व्रत : मार्ग० शु० १ को आरम्भ; ऋतुव्रत; दो ऋतुओं के लिए—हेमन्त एवं शिशिर; केशवपूजा; 'ओं नमः केशवाय' का १०८ बार जप; द्वादशी को विशेष कृत्य; हेमाद्रि (व्रतखण्ड, २, ८३९-४२, विष्णुरहस्य से उद्धरण)।

अनोदना-सप्तमी : चैत्र शु० ६ को उपवास से आरम्भ तथा सप्तमी पर सूर्य-पूजा; तिथि; हे० व्र० (१, ७०२-५, भविष्य०); कृत्यकल्पतरु (व्रत० २०५-८); कृत्यरत्नाकर (१२१-१२३)। 'ओदन' में भक्ष्य, भोज्य एवं लेह्य (चाटना) सम्मिलित हैं; किन्तु जल ओदन नहीं है, अतः उस दिन ग्रहण किया जा सकता है।

अन्नकूटोत्सव : देखिए 'गोवर्धन-पूजा'। देखिए वराह० (१६४) एवं स्मृतिकौस्तुभ (३७४)।

अन्नदान-माहात्म्य : देखिए 'सदाव्रत'।

अपराजिता-सप्तमी : भाद्र० शु० ७; एक वर्ष; सूर्यपूजा; कृत्यकल्पतरु (व्र० १३२-१३५); हे० व्र० (१, ६६७-६८, भविष्य०, ब्राह्म० ९८।१-१९), पुरुषार्थचिन्तामणि (१०४); भाद्र० शु० ७ को अपराजिता कहा जाता है। चतुर्थी को एकभक्त से आरम्भ, पंचमी को नक्त, षष्ठी को उपवास एवं सप्तमी को पारण।

अपराजिता-दशमी : आश्विन शु० १—१०; विशेषतः राजा के लिए; तिथि; वर्ष में एक बार; देवीपूजा; हे० व्र० (१, ९६८-७३, गोपथ ब्रा०, स्कन्द० आदि के उद्धरण); कृत्यरत्नाकर (३६५-३६६, यह शिष्टाचार पर आधृत है); पुरुषार्थचिन्तामणि (१४५-१४६); स्मृतिकौस्तुभ (३५२); हे० व्र० एवं स्मृतिकौ० के मत से राम ने श्रवण नक्षत्र में आक्रमण आरम्भ किया था।

अपराध-शत-व्रत : मार्ग० १२ या अमावास्या या ८, शु० या कृ० पक्ष से आरम्भ; एक वर्ष; हरि-पूजा; भविष्योत्तर० (१४६।६-२१) में सौ अपराधों का उल्लेख है, जो इस व्रत से नष्ट हो जाते हैं; वराह० (१०७) में ३२ अपराध वर्णित हैं।

अपापसंक्रान्ति-व्रत : संक्रान्ति से आरम्भ; एक वर्ष; सूर्य देवता; श्वेत तिल की आहुति; हे० व्र० (२, ७३९-७४०)।

अभिरूपपति-व्रत : इस व्रत का यह नाम इसलिए है कि इसके द्वारा विद्वान् या सुन्दर पति मिलता है; मृच्छकटिक नाटक (१)।

अभीष्टतृतीया : मार्ग० शु० ३ से आरम्भ; तिथि; गौरी-पूजा; स्कन्द० (काशीखण्ड, ८३।१-१८)।

अभीष्टसप्तमी : किसी मास की सप्तमी तिथि; समुद्रों, द्वीपों, पातालों एवं पृथिवी की पूजा; हे० व्र० (१, ७९१, विष्णुधर्मोत्तर०)।

अमावास्या : हेमाद्रि (काल पर चतुर्वर्ग-चिन्तामणि, पृ० ३११-३१५; ६४३-४४); कालविवेक (३४३-४४); तिथितत्त्व (१६३), गोभिल-गृह्य (१।५।५) का भाष्य, पुरुषार्थ-चिन्तामणि (३१४-३४५); वर्षक्रियाकौमुदी (९-१०) में महाभारत एवं पुराणों से उद्धरण आये हैं जिनके आधार पर सोमवार, मंगलवार या बृहस्पति के दिन तथा अनुराधा, विशाखा एवं स्वाति नक्षत्रों में पड़ने वाली अमावास्या विशेष रूप से पवित्र मानी जाती है। हे० व्र० (२, २४६-२५७); माधवकृत कालनिर्णय (३०९) एवं व्रतार्क (३३४-३५६)।

अमावास्या-कृत्य : देखिए स्मृतिकौस्तुभ (२८१); कृत्यसार-समुच्चय (२१-२३); कृत्यकल्पतरु (व्रत०, ८१-८२)।

अमावास्या-निर्णय : कृत्यरत्नाकर (६२२-६२४); कालनिर्णय (३०१-३०७)।

अमावास्यापयोव्रत : प्रत्येक अमावास्या को केवल दुग्ध पर ही रह जाना; तिथि; एक वर्ष; विष्णुपूजा; हे० व्र० (२, २५४)।

अमावास्या-व्रत : (१) हे० व्र० (२, २५७, कूर्मपुराण से उद्धरण); किसी ब्राह्मण को शंकर मानकर कुछ दान देना; (२) हे० व्र० (२, २५७, कूर्म० से); ब्रह्मा को प्रसन्न करने के लिए तीन ब्राह्मणों का सम्मान करना।

अमावास्या-व्रतानि : हे० व्र० (२, २४६-२५७); तिथितत्त्व (१६२), व्रतार्क।

अमुक्ताभरण-सप्तमी : भाद्र० शु० ७; शंकर एवं उमा की पूजा; हेमाद्रि (व्र० १, ६३२—६३८); स्मृतिकौ० (२२२-२२८); नारदीय० (१।११६।३२—३३)

अम्बुवाची : वह काल जब सौर आषाढ़ में सूर्य आर्द्रा-नक्षत्र के प्रथम चरण में होता है; कृत्यकल्पतरु (व्रत, २८३, राजमार्तण्ड का उद्धरण है); कृत्यतत्त्व (४३४)। जब सूर्य मिथुन राशि में प्रवेश करता है उस दिन तीन दिनों एवं २० घटियों तक न बीजारोपण होता है और न वेदाध्ययन। बंगाल में इन दिनों ज्येष्ठ, आषाढ़ के

कृष्ण पक्ष, दशमी से त्रयोदशी तक माता पृथिवी एवं नदियाँ अपवित्र मानी जाती हैं। देखिए हेमाद्रि (काल पर चतुर्वर्ग-चिन्तामणि, ७०१-७०३)।

अयनव्रत : अयन सूर्य की गति पर निर्भर रहता है। दो अयन होते हैं। जब सूर्य कर्कट राशि में प्रवेश करता है तब दक्षिणायन का आरम्भ होता है। कालनिर्णयकारिका (१४) में आया है—"दक्षिण एवं उत्तर अयन क्रम से भयंकर एवं शान्त कृत्यों के लिए हैं" और उसके विवरण में आया है कि माताओं, भैरव, वराह, नरसिंह, वामन एवं दुर्गा की मूर्तियाँ दक्षिणायन में स्थापित की जाती हैं। कृत्यरत्नाकर (२१८), हेमाद्रि (काल, १६); समयमयूख (१७३); समयप्रकाश (१३)।

अयाचितव्रत : बिना माँगे प्राप्त भोजन पर रहना। कालनिर्णय (१३८-१३९); निर्णयामृत (१९); कालतत्त्वविवेचन (२१४-२१८); पुरुषार्थ-चिन्तामणि (४९)।

अरण्यद्वादशी : मार्ग० शु० ११ या कार्तिक, माघ, चैत्र या श्रावण में प्रातः स्नान से आरम्भ; तिथि; एक वर्ष; गोविन्द देवता; अरण्य (वन) में १२ द्विजों, यतियों या सपत्नीक गृहस्थों को भरपेट भोजन; हे० व्र० (१०९१-९४)।

अरण्यषष्ठी : ज्ये० शु० ६; राजमार्तण्ड (१३९६), ऐसा आया है कि नारियाँ हाथ में पंखे एवं तीर लेकर अरण्य (वन) में घूमती हैं। गदाधरपद्धति (कालसार, ८३) में इसे स्कन्दषष्ठी भी कहा गया है; तिथिव्रत; विन्ध्यवासिनी एवं स्कन्द की पूजा; कृत्यरत्नाकर (१८५); वर्षक्रियाकौमुदी (२७९); कृत्यतत्त्व (४३०-४३१)। इसे करने वाले अपने बच्चों के स्वास्थ्य के लिए कमल-नाल, कन्दमूल एवं फलों का सेवन करते हैं।

अरन्धनाष्टमी : देखिए व्रतकोश (सं० ४७०)।

अरुणोदय : रात्रि का अन्तिम प्रहर। हेमाद्रि (चतुर्वर्गचिन्तामणि, काल, २५९, २७२); कालनिर्णय (२४१, स्कन्द० एवं नारदीय० से उद्धरण) में आया है कि यह सूर्योदय के चार घटिका पूर्व होता है।

अरुन्धतीव्रत : केवल नारियों के लिए; वैधव्य से बचने एवं बच्चों के लिए; तीन रातों तक उपवास; वसन्त के आरम्भ में तीसरी तिथि; अरुन्धती-पूजा; हे० (व्रत० २, ३१२-३१५); व्रतराज (८९-९३)।

अर्क-व्रत : दोनों पक्षों में षष्ठी या सप्तमी को केवल रात में खाना; तिथिव्रत; एक वर्ष; अर्क (सूर्य) की पूजा; कृत्यकल्पतरु (व्रतकाण्ड, ३८७); हेमाद्रि (व्रत० २, ५०९)।

अर्कसप्तमी : तिथि; दो वर्ष; सूर्य देवता; अर्क (मन्दार) के पत्तों के दोने में जल-ग्रहण; हे० (व्र० १, ७८८-७८९); पद्म० (५।७५।८६-१०६); पंचमी को एकभक्त, षष्ठी को नक्त एवं सप्तमी को उपवास एवं अष्टमी को पारण।

अर्कसम्पुटसप्तमी : फा० शु० ७ को आरम्भ; तिथि; एक वर्ष; सूर्य-पूजा; भविष्य० (१।२१०।२-८१)।

अर्काष्टमी : रविवार को, शु० अष्टमी; उमा एवं शिव (जिनकी आँख में सूर्य विश्राम करते हैं) की पूजा; हे० (व्र० १, ८३५-३७)।

अर्घ्य : देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, पृ० ३१८, ५४३। पश्चात्कालीन निबन्धों ने इसे अधिक विस्तार दे दिया है। वर्षक्रियाकौमुदी (१४२) में आया है कि सभी देवों के अर्घ्य में चन्दन, पुष्प, यव, कुश के अग्र भाग, तिल, सरसों, दूर्वा दिये जाते हैं। देखिए हे० (व्रत० १, ४८); कृत्यरत्नाकर (२९६); व्रतराज (१६)।

अर्धश्रावणिक-व्रत : श्रावण शुक्ल १ को आरम्भ; एक मास; अर्धश्रावणी नामक पार्वती की पूजा; एक मास तक एक भक्त या नक्त रहना; अन्त में कुमारियों एवं ब्राह्मणों को खिलाना; हे० (व्रत २, ७५३-५४); व्रत-प्रकाश (१०६-१०७)।

अर्धोदय-व्रत : यह एक करोड़ सूर्य-ग्रहणों की पवित्रता के समान है; बहुत कम किया जाता रहा है। पश्चात्कालीन निबन्धों (तिथितत्त्व १८७, कृत्यसारसमुच्चय ३०, निर्णयसिन्धु २११, स्मृतिकौस्तुभ ४४२-४४५, पुरुषार्थचिन्तामणि ३१६) ने महाभारत से उद्धरण दिया है—'जब पौष या माघ में श्रवण-नक्षत्र एवं व्यतिपातयोग के साथ अमावास्या होती है तो उसे अर्धोदय एवं व्रतार्क कहा जाता है।' भट्ट नारायण के प्रयागसेतु के मत से अमान्त गणना के अनुसार यह पौष में तथा पूर्णिमान्त गणना के अनुसार माघ में होता है। हे० (व्रत २, २४६-२५२); तिथितत्त्व (१८७); व्रतार्क (३४८); पुरुषार्थचिन्तामणि (३१६)। अर्धोदय में प्रयाग में प्रातः स्नान महापुण्य-कारक होता है, किन्तु ऐसा आया है कि अर्धोदय में सभी नदियाँ गंगा के समान हो जाती हैं। इस व्रत के देव तीन हैं—ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश और वे उसी क्रम में पूजित होते हैं; पौराणिक मन्त्रों एवं तीन वैदिक मन्त्रों के साथ (ऋ० १०।१२१।१०, १।२२।१७ एवं ७।५९।१२) घृत की आहुति (अग्नि में) दी जाती है। अन्त में गायों एवं धन का दान होता है। यह द्रष्टव्य है कि प्रति पाँचवें वर्ष में हर्षवर्धन द्वारा प्रयाग में दान करना अर्धोदय व्रत नहीं था।

अलक्ष्मीनाशक-स्नान : पौष की पूर्णिमा को जब पुष्य नक्षत्र हो तब शरीर में सरसों का तेल लगाकर स्नान करने से अलक्ष्मी (अभाग्य) भागती है। उस समय नारायण, इन्द्र, चन्द्र, बृहस्पति एवं पुष्य की प्रतिमाओं की पूजा होती है, उन्हें सर्वौषधियों से युक्त जल से स्नान कराया जाता है और होम किया जाता है। देखिए स्मृतिकौस्तुभ ३४४-३४५; पुरुषार्थचिन्तामणि (३०७) एवं गदाधरपद्धति (१७८)।

अलवणतृतीया : किसी भी मास, विशेषतः वै०, मा० या मा० की शु० तृतीया को; केवल नारियों के लिए; द्वितीया को उपवास एवं तृतीया को बिना नमक का भोजन; गौरी-पूजा; यह जीवन भर के लिए हो सकता है; कृत्यकल्पतरु (व्रत०, ४८-५१); हे० व्र० (१, ४७४-४७७), समयप्रदीप; भविष्य० (ब्राह्मपर्व २१।१-२२)।

अवतार : उनके प्रकट होने की तिथियों पर। इन्हें **जयन्ती** भी कहते हैं। निर्णयसिन्धु (८१-८२); कृत्यसारसमुच्चय में—मत्स्य : चैत्र शु० ३; कूर्म : वै० पूर्णिमा; वराह : भाद्र० शु० ३; नरसिंह : वै० शु० १४; वामन : भाद्र० शु० १२; परशुराम : वै० शु० ३; राम : चै० शु० ९; बलराम : भाद्र० शु० २; कृष्ण : श्रावण कृष्ण ८; बुद्ध : ज्ये० शु० २। कुछ ग्रन्थों में ऐसा आया है कि कल्की अवतार अभी प्रकट होने वाला है, किन्तु ग्रन्थ इसकी जयन्ती के लिए श्रावण शुक्ल ६ तिथि मानते हैं। देखिए वराहपुराण (४८।२०-२२) जहाँ दशावतारों की पूजा का उल्लेख है; कृत्यकल्पतरु (व्र० ३३३); हे० (व्र० १, १०४९)।

अवमदिन : वह दिन जब दो तिथियों का अन्त होता है। नि० सि० (१५३) में रत्नमाला से उद्धरण है—"यत्रैकः स्पृशते तिथिद्वयावासानं वारश्चेदवमदिनं तदुक्तमार्यैः।" किसी व्रत के आरम्भ के लिए इसका परिहार करना चाहिए क्योंकि यहाँ एक तिथि का क्षय है।

अविघ्नविनायक या अविघ्नव्रत : (१) फा० चतुर्थी; तिथि; ४ मास; गणेश-पूजा। हे० व्र० (१, ५२४-५२५), कृत्यकल्पतरु (व्र०, ८२-८३)—दोनों ने वराह० (५९।१-१०) को उद्धृत किया है; (२) दोनों पक्षों की चतुर्थी; तीन वर्ष; गणेश-पूजन; निर्णयामृत (४३, भविष्योत्तर० से उद्धरण)।

अवियोगद्वादशी : भाद्र० शु० १२; तिथि; शिव एवं गौरी, ब्रह्मा एवं सावित्री, विष्णु एवं लक्ष्मी तथा सूर्य एवं उनकी पत्नी निक्षुभा की पूजा। हेमाद्रि (व्र० १, ११७७-११८०)।

अवियोगव्रत या अवियोग-तृतीया : स्त्रियों के लिए; मार्ग० शु० २ को प्रारम्भ; तृतीया को खीर खाना; गौरी एवं शम्भु की पूजा; एक वर्ष; बारह मासों में विभिन्न फूलों के साथ विभिन्न नामों से चावल के आटे से बनी

दोनों की प्रतिमाओं की पूजा; कृत्यकल्पतरु (व्रत ७०-७५); हेमाद्रि (व्रत १, ४३९-४४४); कृत्यरत्नाकर (४५२-४५५); भविष्योत्तर० (२२)।

अवैधव्यशुक्लैकादशी : चैत्र शु० ११; हेमाद्रि (व्र० १, ११५१, इसमें विष्णुधर्मोत्तर का केवल एक श्लोक है)।

अव्यङ्गसप्तमी : श्रावण शु० ७; तिथि; प्रतिवर्ष सम्पादित की जाने वाली; सूर्य को अव्यंग दिया जाता है। अव्यंग एक छिछला (पुटाकार) वस्त्रखण्ड, जो कपास की रुई के सूत से बना होता है, जो सर्प के फण के सदृश होता है, और १२२ अंगुल लम्बा (उत्तम) या १२० अंगुल लम्बा (मध्यम) या १०८ अंगुल लम्बा होता है। यह आधुनिक पारसियों द्वारा पहनी जाने वाली कुस्ती के समान होता है। भविष्य० (ब्राह्मपर्व ३, १-८); भविष्य० (ब्रा० १४२।१-२९) में अव्यंगोत्पत्ति की कथा है। १८ वें श्लोक में 'शारसनः' शब्द आया है जो 'सारसेन' (एक मुस्लिम जाति) का स्मरण दिलाता है। सम्भवतः यह जेन्द अवेस्ता (पारसियों के धार्मिक ग्रन्थ) के 'ऐव्यंघन' (मेखला या करधनी) का रूपान्तर है। सम्भवतः यह विधि पारसियों से उधार ली हुई है। बृहत्संहिता (५९।१९) में आया है कि सविता के पुरोहितों को मग या शाकद्वीपीय ब्राह्मण होना चाहिए (देखिए इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, जिल्द ८, ३२८ एवं कृष्णदास मिश्र की मगव्यक्ति का वेबर-संस्करण)।

अशून्यशयनव्रत या अशून्यशयन द्वितीया : श्रावण के उपरान्त चार मासों की कृष्ण द्वितीया को; तिथि; लक्ष्मी एवं हरि की पूजा; विष्णुधर्मोत्तर० (१।१४५।६-२० एवं ३।१३२।१-१२); वामन० (१६।१६-२९), अग्नि० (१७७।३-१२), भविष्य० (१।२०।४-२८); कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४१-४४)। हे० व्र० (१, ३६६-३७१)। इस व्रत से नारियों को अवैधव्य एवं पुरुषों को अवियोग की अवस्था की प्राप्ति होती है। हे० व्र० (१, ३७३) में आया है—'लक्ष्म्या न शून्यं वरद यथा ते शयनं सदा। शय्या ममाप्यशून्यास्तु तथात्र मधुसूदन॥' कृत्यरत्नाकर (पृ० २२८)।

अशून्यव्रत : श्रावण से आगे चार मासों तक कृष्ण पक्ष की द्वितीया को; दही का अर्घ्य, चन्द्र को अक्षत एवं फलों की आहुति; यदि द्वितीया तृतीया से विद्धा हो तो व्रत का सम्पादन उसी दिन होना चाहिए; पुरुषार्थ-चिन्तामणि (८३)।

अशोककलिकाभक्षण : देखिए 'अशोकाष्टमी'।

अशोकत्रिरात्र : ज्येष्ठ, भाद्र० या मार्ग० शु० की त्रयोदशी से तीन रातों तक, उस दिन चाँदी के अशोक वृक्ष, ब्रह्मा एवं सावित्री की मूर्तियों की पूजा; दूसरे दिन उमा एवं महेश्वर की तथा तीसरे दिन लक्ष्मी एवं नारायण की पूजा और उसके उपरान्त मूर्तियों का दान; यह व्रत पापों को काटता है, रोगों का नाश करता है तथा पुत्रों एवं पौत्रों को लम्बी आयु, यश, सम्पत्ति एवं समृद्धि प्रदान करता है। हे० व्र० (२, २७९-२८३); व्र० प्र०, व्रतार्क; अधिकांशतः नारियों के लिए।

अशोकद्वादशी : यह विशोकद्वादशी ही है। आश्विन में प्रारम्भ; एक वर्ष; दशमी को हल्का भोजन, एकादशी को उपवास, द्वादशी को पारण; केशव-पूजा; परिणाम—स्वास्थ्य, सौन्दर्य, दुःख से मुक्ति; मत्स्य० (८१।१-२८, ८२।२६-३०); हे० व्र० (१, १०७५-१०७८)।

अशोकपूर्णिमा : फा० पूर्णिमा को; तिथि; एक वर्ष; प्रथम चार एवं आगे के चार मासों में पृथिवी को अशोका कहा जाता है; पृथिवी-पूजा एवं चन्द्र को अर्घ्य; प्रथम चार मासों में पृथिवी को धरणी कहकर, आगे के चार मासों में मेदिनी कहकर तथा अन्तिम चार मासों में वसुन्धरा कहकर पूजा जाता है। प्रत्येक चार मासों के अन्त में केशव की पूजा होती है। अग्निपुराण (१८४।१); हेमाद्रि (व्रत० २, १६२-१६४)।

अशोकप्रतिपदा : आश्विन शुक्ल १; तिथि; अशोक वृक्ष या उसकी स्वर्ण या चाँदी की प्रतिमा की पूजा; केवल नारियों के लिए; हे० व्र० (१, ३५१-५२)।

अशोकषष्ठी : देखिए व्रतकोश (संख्या ५२)।

अशोक-संक्रान्ति : व्रतार्क; जब व्यतिपात होता है उस समय अयनसंक्रान्ति या विषुवसंक्रान्ति पर की जाती है; एक भक्त, सूर्य पूजा, तिल दान।

अशोकाष्टमी : (१) चैत्र शु० ८; यदि बुध हो और पुनर्वसु नक्षत्र हो तो विशेष पुण्य होता है; अशोक के पुष्पों से दुर्गा की पूजा; अशोक की आठ कलियों से युक्त जल पीना तथा 'त्वामशोक हराभीष्टं मधुमाससमुद्भवम्। पिबामि शोकसन्तप्तो मामशोकं सदा कुरु॥' इस मन्त्र के साथ अशोक वृक्ष की पूजा करना। कालविवेक (४२२); हेमाद्रि (काल, ६२६), हेमाद्रि (व्रत० १, ८६२-६३ एवं ८७५-८७६); कृत्यरत्नाकर (१२६-१२७); राजमार्तण्ड (१३७९-१३८०); पुरुषार्थचिन्तामणि (१०९); स्मृतिकौ० (९४)। (२) कालविवेक (४२२); कृत्यरत्नाकर (१२६); कृत्यतत्त्व (४६३) आदि निबन्धों में आया है कि चैत्र शु० ८ को सभी तीर्थ एवं नदियाँ ब्रह्मपुत्र में आ जाती हैं और उस दिन के स्नान से, जब कि बुधवार पुनर्वसु नक्षत्र में पड़ता है, वाजपेय के समान फल मिलता है।

अशोकिकाष्टमी : उमा की पूजा। नीलमतपुराण (पृ० ७४, श्लोक ९०५-९०७) में आया है कि अशोक वृक्ष स्वयं देवी है।

अश्वत्थव्रत : व्रतार्क (अद्भुतसागर से); बुरे शकुनों (अपशकुनों), आक्रमणों, महामारियों, कुष्ठ जैसे रोगों में अश्वत्थ-पूजा।

अश्वदीक्षा : जब आश्विन शु० की नवमी में चन्द्र स्वाति में रहता है, उच्चैःश्रवा की पूजा होती है और अपने घोड़े का भी सम्मान किया जाता है; घोड़े के गले में चार रंगों के धागे बाँधे जाते हैं और शान्ति-कृत्य किये जाते हैं। नीलमतपुराण (पृ० ७७, श्लोक ९४३–९४७)।

अश्वपूजा : आश्विन शुक्ल की प्रथम तिथि से नवमी तक। देखिए नीचे 'आश्विन'।

अश्वव्रत : संवत्सरव्रत; देवता इन्द्र; मत्स्य० (१०१।७१); कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४४९); हेमाद्रि (व्रत० २, ९११)।

अष्टमीव्रत : लगभग ३० अष्टमीव्रत होते हैं, जो यथास्थान वर्णित होंगे। सामान्य नियम यह है कि शुक्ल पक्ष में जब अष्टमी नवमी से युक्त रहती है तो उसे अच्छा समझना चाहिए और कृष्ण पक्ष में सप्तमी से युक्त अष्टमी को। तिथितत्त्व (४०); धर्मसिन्धु (१५)। अष्टमी-व्रतों के लिए देखिए हेमाद्रि (व्रत० १, ८११-८८६); कालनिर्णय (१९४-२२८); कृत्यकल्पतरु (२२५-२७२); व्रतराज (२५६-३१९); वर्षक्रियाकौ० (३८-४०); पुरुषार्थचि० (१०९-१३९)। उक्त नियमों के कुछ अपवाद भी हैं, जिनमें कुछ यथास्थान वर्णित होंगे।

असिधाराव्रत : आश्विन शु० १५ को आरम्भ; आश्विन १५, कार्तिक १५ या आषाढ़ से चार मास के समय ५ या १० दिन, या एक वर्ष, या १२ वर्ष; खाली भूमि पर सोना, घर के बाहर सोना, केवल रात्रि में खाना, पत्नी के आलिंगन में सोते हुए भी सम्भोग-क्रिया से दूर रहना, क्रोध न करना, हरि के लिए जप एवं होम करना। अवधियों के अनुसार विभिन्न फल प्राप्त होते हैं, यथा—१२ वर्षों के उपरान्त व्रत करने वाला अखिल विश्व का शासक हो सकता है और मरने के उपरान्त जनार्दन से मिल जाता है। यह सबसे बड़ा फल है। विष्णुधर्मोत्तर० (३।२१८।१-२५); हेमाद्रि (व्र० २, ८२५-८२७)। इस व्रत का अर्थ यह है कि यह उतना ही तीक्ष्ण एवं कठिन है जितना कि तलवार (असि) की धार पर चलना। रघुवंश (१३।६७)।

अहः : एक दिन। दिन के विभाजन के विषय में कई मत हैं, यथा--२, ३, ४, ५, ८ या १५ भागों में। पूर्वाह्न एवं अपराह्न (मनु ३।२७८) नामक दो भाग; तीन भाग यों हैं--पूर्वाह्न, मध्याह्न तथा अपराह्न; गोभिल (कालनिर्णय, पृ० ११० में उद्धृत) ने चार भाग बताये हैं, यथा--पूर्वाह्न (१½ प्रहर), मध्याह्न (एक प्रहर), अपराह्न (तीसरे प्रहर के अन्त होने तक) तथा सायाह्न (दिन के अन्त तक)। ऋ० (५।७६।३--उतायातं संगवे प्रातरह्नः) में पाँच भागों के तीन आये हैं, यथा--प्रातः, संगव, मध्यन्दिन। कौटिल्य (१।१९), दक्ष (अ० २) एवं कात्यायन ने दिन के आठ भागों का वर्णन किया है। देखिए कालिदास का नाटक विक्रमोर्वशीय (२।१, षष्ठे भागे)। दिन में १५ एवं रात्रि में १५ मुहूर्त होते हैं। देखिए बृहद्योगयात्रा (६।२-४) जहाँ १५ मुहूर्तों का उल्लेख है। विषुवत् रेखा को छोड़कर एक ही स्थान पर वर्ष की विभिन्न ऋतुओं में कुछ सीमा तक मुहूर्तों की अवधि विभिन्न होती है, क्योंकि रात एवं दिन विभिन्न स्थानों पर बड़े या छोटे होते हैं। इसी प्रकार पूर्वाह्न या प्रातःकाल की अवधि ७½ मुहूर्त की होगी यदि दिन को दो भागों में बाँटा जाय, किन्तु यदि दिन को पाँच भागों में बाँटा जाय तो पूर्वाह्न या प्रातः में केवल तीन मुहूर्त होंगे। कालनिर्णय (पृ० ११२) में आया है कि पाँच भागों का विभाजन वैदिक एवं स्मृतिग्रन्थों में प्रचलित है। हेमाद्रि (काल, ३२५-३२९), वर्षक्रियाकौमुदी (१८-१९), कालतत्त्वविवेचन (६, ३६७)।

अहिंसाव्रत : एक वर्ष तक मांस न खाना और अन्त में एक गाय एवं सुनहला हिरन दान करना; संवत्सरव्रत; कृत्यकल्पतरु (४४४), हे० (व्रत २, ८६५, पद्म०, मत्स्य० १०१।३५ के उद्धरण)।

अहिर्बुध्नस्नान : हे० (व्रत २, ६५४-६५५, विष्णुधर्मोत्तर० से उद्धरण); पूर्वाभाद्रपदा-नक्षत्र में व्रत करने वाले को उदुम्बर की पत्तियों, पंचगव्य, कुश, चन्दन आदि से युक्त दो घड़ों के जल से स्नान करना होता है, अहिर्बुध्न, सूर्य, वरुण, चन्द्र, रुद्र एवं विष्णु की पूजा होती है। बृहत्संहिता (९७।५), भविष्योत्तरपुराण (हे०, व्र० २, ५९६ एवं कृत्यरत्नाकर ५६०) के मत से उत्तराभाद्रपदा के देवता हैं अहिर्बुध्न्य। सभी नक्षत्रों के देवता के लिए देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, पृ० २४७। इस स्नान से सहस्रों गायों एवं सर्वोत्तम समृद्धि की प्राप्ति होती है। अहिर्बुध्न्य' शब्द प्राचीन एवं शुद्ध है। सम्भवतः यह अग्नि का द्योतक है, देखिए ऋ० १।१८६।५, २।३१।६ आदि।

आकाशदीप : किसी देवता के लिए या किसी मन्दिर या चौराहे पर घृत या तेल के दीप जलाना। अपरार्क (३७०-३७२, दीपदान); मनु (४।२९); राजमार्तण्ड (१३५१-५७); निर्णयसिन्धु (१९५)।

आग्नेयव्रत : किसी नवमी को एक बार; पुष्पों (पाँच उपचारों) के साथ विन्ध्यवासिनी की पूजा; हे० (व्र० १, ९५८-५९, भविष्योत्तर० का उद्धरण है)।

आज्ञासंक्रान्ति : यह संक्रान्तिव्रत है; किसी पवित्र संक्रान्ति से प्रारम्भ; सूर्य देवता; अरुण, रथ एवं सात घोड़ों के साथ सूर्य की स्वर्ण-मूर्ति का दान; चतुर्दिक् विजयश्री प्राप्त होती है; हे० व्र० (२, ७३८)।

आज्यकम्बल-विधि : भुवनेश्वर की १४ यात्राओं में एक; जब सूर्य मकर-राशि में प्रवेश करता है; गदाधरपद्धति (१९१)।

आदित्यवार : जब यह कुछ तिथियों, नक्षत्रों एवं मासों में युक्त होता है तो इसके कई नाम (कुल १२) होते हैं। माघ शु० ६ को यह **नन्द** कहलाता है, जब कि व्यक्ति केवल रात्रि में खाता है (नक्त), सूर्य-प्रतिमा पर घी से लेप करता है, अगस्ति वृक्ष के फूल, श्वेत चन्दन, गुग्गुलु-धूप एवं अपूप (पूआ) का नैवेद्य चढ़ाता है (हे०, व्र० २, ५२२-२३); भाद्रपद शुक्ल में यह रविवार **भद्र** कहलाता है, उस दिन उपवास या केवल रात्रि में भोजन किया जाता है, दोपहर को मालती-पुष्प, चन्दन एवं विजय धूप चढ़ायी जाती है; हे०, व्र० (२,

५२३-२४), कृत्यकल्पतरु (व्र० १२-१३); **कामद** (मार्गशीर्ष शु० ६); **जय** (दक्षिणायन में रविवार); **जयन्त** (उत्तरायण में रविवार); **विजय** (शुक्ल ७ को रोहिणी के साथ रविवार); **पुत्रद** (रोहिणी या हस्त के साथ रविवार, उपवास एवं पिण्डों के साथ श्राद्ध); **आदित्याभिमुख** (माघ कृ० ७ को रविवार, एकभक्त, प्रातः से सायं तक महाश्वेता मन्त्र का जप); **हृदय** (संक्रान्ति के साथ रविवार, नक्त, सूर्य-मन्दिर में सूर्याभिमुख होना, आदित्य-हृदय मन्त्र का १०८ बार जप); **रोगहा** (पूर्वाफाल्गुनी को रविवार, अर्क के दोने में एकत्र किये हुए अर्क-फूलों से पूजा); **महाश्वेताप्रिय** (रविवार एवं सूर्यग्रहण, उपवास, महाश्वेता का जप); महाश्वेता मन्त्र है—'ह्रीं ह्रीं स इति', देखिए हेमाद्रि (व्रत २, ५२१)। अन्तिम दस के लिए देखिए कृत्यकल्पतरु (व्रत १२-२३), हे० (व्र० २, ५२४-२८)।

आदित्यमण्डल-विधि : लाल चन्दन या कुंकुम से रचित वृत्त में श्वेत गेहूँ या जौ के आटे में गाय के घृत एवं गुड़ को मिलाकर उसकी टिकिया रख दीजिए और उस पर लाल पुष्पों को रखकर पूजा कीजिए; हे०, व्र० (१, ७५३-७५४, भविष्योत्तरपुराण ४४।१-९ से उद्धरण); अहल्याकामधेनु। हस्त नक्षत्र में रविवार या आगे आने वाले रविवार को नक्त (केवल रात्रि में भोजन); वारव्रत; सूर्य देवता; एक वर्ष; मत्स्य० ९७।२-१९; कृ० क० त० (व्र० ३१-३४), हे०, व्र० (२, ५३८-४१); कृत्यरत्नाकर (६०८-६१०)।

आदित्यवारव्रत : मार्गशीर्ष से; सूर्य-पूजा; एक वर्ष; प्रत्येक मास सूर्य के अन्य नाम, विभिन्न फलों का दान, यथा—मार्ग० में **मित्र नाम** एवं नारियल फल, पौष में विष्णु एवं बीजपूर फल। व्रतार्क। इससे कुष्ठ जैसे रोग भी दूर हो जाते हैं।

आदित्यवारव्रतानि : हे०, व्र० (२, ५२०-५७७), कृत्यकल्पतरु (व्र० ८), व्रतार्क।

आदित्यव्रत : (१) मनुष्यों, विशेषतः स्त्रियों के लिए; आश्विन के रविवार को प्रारम्भ; एक वर्ष, सूर्य-देवता; व्रतार्क में आया है कि साम्ब को किस प्रकार कृष्ण ने शाप दिया कि उसे कुष्ठ हो गया और इस व्रत से किस प्रकार वह रोगमुक्त हो गया; (२) रविवार एवं चतुर्दशी तथा रेवती या रविवार, अष्टमी एवं मघा; शिव की पूजा; तिल खाना, हेमाद्रि (व्रत० २, ५८९)।

आदित्यशयन : रविवार एवं हस्त-नक्षत्र के साथ सप्तमी या जब रविवार के साथ सप्तमी को सूर्य की संक्रांति हो; उमा एवं शिव (सूर्य से शिव भिन्न नहीं हैं) की प्रतिमाओं की पूजा; सूर्य को नमस्कार, उसके पैरों से लेकर विभिन्न अंगों को हस्त से लेकर अन्य नक्षत्रों के समान मानना; पाँच चद्दरों एवं तकियों तथा एक गाय के साथ एक सुन्दर पलंग का दान; मत्स्य० (५५।२-३३)। पद्म० (५।२४-६४-९६)।

आदित्यशान्तिव्रत : हस्त के साथ रविवार; अर्क की समिधा के साथ सूर्य-प्रतिमा की पूजा (समिधा की संख्या १०८ या २८ हो); मधु एवं घृत या दही एवं घृत से युक्त समिधा से होम; सात बार; हे०, व्र० (२, ५३७-३८)।

आदित्यहृदयविधि : जब संक्रान्ति हो उस रविवार को सूर्य-मन्दिर में आदित्यहृदय नामक मन्त्र का १०८ बार पाठ एवं केवल रात्रि में खाना; हे०, व्र० (२, ५२६)। रामायण (युद्धकाण्ड १०७) में ऐसा आया है कि अगस्त्य ने आकर राम से इस मन्त्र के पाठ की बात कही है, जिससे कि रावण के ऊपर विजय प्राप्त हो। कृत्यकल्पतरु (१९-२०) में आया है कि किसी संक्रान्ति वाले रविवार को हृदय या आदित्यहृदय कहा जाता है।

आदित्याभिमुख-विधि : देखिए कृत्यकल्पतरु (व्रत० १८-१९); हे० व्र० (२, ५२५-२६); कृत्यरत्नाकर (४९४-४९५)। प्रातः स्नान के उपरान्त सायंकाल तक सूर्याभिमुख होकर खड़ा रहना चाहिए। किसी स्तम्भ

से उठंग कर (सटे रहकर) महाश्वेता मन्त्र का जप करना, गन्ध, पुष्प आदि से पूजा करना, दक्षिणा देकर भोजन करना।

आनन्तर्यव्रत : मार्ग० शु० ३ को प्रारम्भ; प्रत्येक पक्ष की द्वितीया को नक्त एवं तृतीया को उपवास; एक वर्ष; प्रत्येक तृतीया को विभिन्न नाम से उमा की पूजा; नैवेद्य भी विभिन्न; कर्ता को केवल रात्रि में खाना होता है जो विभिन्न तृतीयाओं में विभिन्न होता है; विशेषतः नारियों के लिए व्यवस्थित; यह अपने पुत्रों, मित्रों एवं सम्बन्धियों से अन्तर (अलगाव) को रोकता है अतएव इसका ऐसा नाम है।

आनन्दनवमी : फाल्गुन शु० ९ को प्रारम्भ; एक वर्ष के लिए; पंचमी पर एक भक्त, षष्ठी पर नक्त, सप्तमी पर अयाचित, अष्टमी एवं नवमी पर उपवास; देवी-पूजा; वर्ष का तीन भाग में विभाजन; चार मासों की प्रत्येक अवधि में देवी के नाम, पुष्पों एवं नैवेद्य में अन्तर हो जाता है; कृत्यकल्पतरु (व्रत० २९९-३०१), हेमाद्रि (व्रत १, ९४८-९५०, यहाँ 'अनन्दा' शब्द आया है)।

आनन्दपञ्चमी : नागों के लिए पञ्चमी प्रिय होती है। नागों (प्रतिमाओं) को दूध में नहलाना; नाग भय से लोगों को मुक्त करते हैं; हे० व्र० (१, ५५७-५६०)।

आनन्दव्रत : चैत्र से आगे चार मासों तक; बिना माँगे जल दिया जाता है; अन्त में जलयुक्त पात्र, भोजन, वस्त्र, तिलयुक्त बरतन एवं सोना दिया जाता है; कृत्यकल्पतरु (व्र० ४४३); हे० व्र० (१, ७४२-७४३, मत्स्य० से उद्धरण); वर्षक्रियाकौमुदी (५२०); कृत्यरत्नाकर (८५); मत्स्य० (१०१।३१-३२)।

आनन्दसफलसप्तमी : भाद्रपद शु० ७; एक वर्ष के लिए; उपवास; भविष्य० (१।११०।१-८); कृत्यकल्पतरु (व्र० १४८-१४९); हे० व्र० (१, ७४१)।

आन्दोलक-महोत्सव : वसन्त में, भविष्योत्तर (१३३।२४)।

आन्दोलन-व्रत : चैत्र शु० ३ पर; पार्वती एवं शिव (की प्रतिमाओं) की पूजा एवं उन्हें दोला (झूला) पर झुलाना; हे० व्र० (२, ७४५-७४८); स्मृतिकौ० (९०-९१); पु० चि० (८५)।

आमर्दकीव्रत : किसी भी मास, विशेषतः फाल्गुन की शु० द्वादशी पर; आमर्दकी—धात्री (आमलक), एक वर्ष; विभिन्न नक्षत्रों में द्वादशी विभिन्न नामों से घोषित है, यथा—विजया (श्रवण के साथ), जयन्ती (रोहिणी के साथ), पापनाशिनी (पुष्य के साथ); इस अन्तिम पर उपवास करना एक सहस्र एकादशियों के बराबर होता है; आमर्दकी वृक्ष के नीचे विष्णु-पूजा में जागर (जागरण) करना चाहिए; आमर्दकी वृक्ष के जन्म की कथा सुननी चाहिए; हेमाद्रि (व्रत १, पृ० १२१४-१२२२)।

आमलक्येकादशी *: फाल्गुन शु० ११ पर; आमलक वृक्ष (जिसमें हरि एवं लक्ष्मी का वास होता है) के* नीचे हरि की पूजा; पद्म० (६।४७।३३); हे० व्र० (१, ११५५-११५६); स्मृतिकौस्तुभ (५१६), जहाँ आमलकी वृक्ष के नीचे दामोदर एवं राधा की पूजा का वर्णन है।

आम्रपुष्पभक्षण : चैत्र शु० १; मदन-पूजा के रूप में आम्र के बौर को खाना, स्मृतिकौ० (५१९), व० क्रि० कौ० (५१६-१७)।

आयुधव्रत : (१) श्रावण से चार मासों के लिए; शंख, चक्र, गदा एवं पद्म (जो क्रम से वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध के द्योतक हैं) की पूजा; विष्णुधर्मोत्तर० (३।१४८।१-६); हे० व्र० (२, ८३१); (२) विष्णुधर्मोत्तर० (३।१५५।१-७)।

आयुर्व्रत : (१) शम्भु एवं केशव को चन्दन-लेप लगाना; एक वर्ष; अन्त में जलयुक्त पात्र के साथ एक गाय का दान; कृत्यकल्पतरु (व्र० ४४२, १२ षष्टिव्रतों में एक); (२) पूर्णिमा पर; लक्ष्मी एवं विष्णु

की पूजा; उपवास एवं ब्राह्मणों तथा विवाहित कन्याओं को भोजन; हे० व्र० (२, २२७-२२९, गरुड़० से उद्धरण)।

आयुःसंक्रान्तिव्रत : संक्रान्ति दिवस पर; सूर्य-पूजा; काँसे के बरतन, दूध, घी एवं सोने का दान, उद्यापन, जैसा कि धान्यसंक्रान्ति में होता है; हे० व्र० (२, ७३७); व्रतार्क (३८९)।

आरण्यकषष्ठी : देखिए अरण्यषष्ठी।

आरोग्यद्वितीया : पौष शु० २ को प्रारम्भ; प्रत्येक शु० २ पर वर्ष भर के लिए; चन्द्रार्ध की पूजा; मार्ग० शु० २ पर अर्ध चन्द्र की पूजा के उपरान्त दो वस्त्रों, सोने एवं पेय पदार्थ से युक्त घड़े का दान; हेमाद्रि (व्र० १, ३८९-९१); परिणाम—स्वास्थ्य एवं समृद्धि।

आरोग्यप्रतिपदा : वर्ष के अन्त में प्रथम तिथि को प्रारम्भ; एक वर्ष तक; प्रत्येक प्रतिपदा पर सूर्य के चित्र की पूजा; फल वही जो ऊपर व्यक्त है; हे० व्र० (१, ३४१-४२); व्रतार्क (२८); व्रतरत्नाकर (५३)।

आरोग्यव्रत : (१) भाद्र० की पूर्णिमा के उपरान्त प्रथम प्रतिपदा से आश्विन की पूर्णिमा तक; दिन में अनिरुद्ध की कमलों एवं जाती फूलों से पूजा; होम तथा अन्त के पूर्व तीन दिनों का उपवास, स्वास्थ्य, सौन्दर्य एवं समृद्धि की प्राप्ति; विष्णुधर्मोत्तर० (३।२०५।१-७); हे० व्र० (२, ७६१); (२) यह दशमीव्रत है; नवमी पर उपवास तथा दशमी पर लक्ष्मी एवं हरि की पूजा; हे० व्र० (१, ९६३-९६५)।

आरोग्यसप्तमी : माघ शु० ७; एक वर्ष तक सभी सप्तमियों पर उपवास; सूर्यपूजा; वराह० (६२। १-५); हे० व्र० (१, ७४७); तिथितत्त्व (४६०); स्वास्थ्य एवं धन की प्राप्ति।

आर्द्रादर्शन या आर्द्राभिषेक : मार्ग० की पूर्णिमा पर; नटराज (नाचते हुए शिव) के दर्शन के लिए लोग दौड़ पड़ते हैं, और इसके लिए चिदम्बरम् में एक बड़ा उत्सव होता है।

आर्द्रानन्दकरी-तृतीया : उत्तराषाढ़ पूर्वाषाढ़ या अभिजित् या हस्त या मूल नक्षत्र, वाली शुक्ल तृतीया पर प्रारम्भ; एक वर्ष के लिए जो तीन अवधियों में विभाजित कर दिया जाता है; भवानी एवं शिव की पूजा; देवी के चरणों एवं मुकुट तक के सभी अंगों को प्रणाम; मत्स्य० (६४।१-२८); हे० व्र० (१, ४७१-४७४;) कृत्यकल्पतरु (व्र० ५१-५५); भविष्योत्तरपुराण (२७)।

आलेख्यसर्पपञ्चमी : भाद्र० शु० ५; तिथि-व्रत; रंगीन चूर्ण से नागों के चित्र खींचकर उनकी पूजा करना; फल—नागों का भय दूर हो जाता है; भविष्य० (ब्राह्मपर्व ३७।१-३); कृ० क० (व्र० ९४-९५); हे० व्र० (१, ५६७)।

आशादशमी : किसी शु० १० पर आरम्भ; ६ मास, १ वर्ष या दो वर्ष; अपने आँगन में दसों दिशाओं के चित्रों की पूजा; व्यक्ति की सभी आशाएँ पूर्ण हो जाती हैं ('आशा' का अर्थ 'दिशा' एवं अभिकांक्षा या इच्छा भी होता है); हे० वृ० (१, ९७७-९८१), व्रतरत्नाकर (३५६-७); यदि विद्ध हो तो पूजा तब होनी चाहिए जब दशमी पूर्वाह्ण में हो।

आशादित्यव्रत : आश्विन में किसी रविवार को प्रारम्भ; एक वर्ष; १२ विभिन्न नामों से सूर्य की पूजा; हे० व्र० (२, ५३३-५३७)। इस व्रत से साम्ब कुष्ठ रोग से मुक्त हो गया था।

आश्रमव्रत : चैत्र शुक्ल ४ पर प्रारम्भ; वर्ष भर के लिए, वर्ष तीन भागों में विभाजित; वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध की (एक के उपरान्त—एक की) पूजा; विष्णुधर्मोत्तर० (३।१४२।१-७), हे० व्र० १, ५०५)।

आश्विनकृत्य : देखिए कृत्यरत्नाकर (३०१-३९७); वर्षक्रियाकौमुदी (३४३-४५८); निर्णयसिन्धु (१४४-१९२), स्मृतिकौस्तुभ (२८७-३७३); कृत्यतत्त्व (४४४-४४७)। इस मास में बहुत-से व्रत एवं उत्सव

होते हैं। जो महत्त्वपूर्ण हैं, उन्हें पृथक् रूप से इस सूची में रखा गया है। कुछ कम महत्त्वपूर्ण यहाँ दिये जा रहे हैं। विष्णुधर्मोत्तर० (९०।२४-२५) में ऐसी व्यवस्था है कि इस मास में प्रतिदिन घी के दान से व्यक्ति अश्विनीकुमारों को प्रसन्न कर लेता है, सुन्दर हो जाता है तथा ब्राह्मणों को गाय के दूध (एवं रस से बने पदार्थों) को खिलाने से राज्य प्राप्ति होती है। शुक्ल १ को पिता के रहते पुत्र अपने मृत नाना का श्राद्ध करता है; इसी दिन नवरात्र भी आरम्भ होता है; शु० ४ को सती (पार्वती, जिसने उस दिन अपने को एक झील में फेंक दिया था) की पूजा अर्घ्य, पुष्पों आदि से की जाती है और पतिव्रताओं, माता, बहिन एवं अन्य सधवा नारियों को सम्मानित किया जाता है (कृत्यकल्पतरु का नैयतकालिक काण्ड, कृत्यरत्नाकर ३४८); शु० पञ्चमी पर कुश के बने नागों की एवं इन्द्राणी की पूजा होती है (निर्णयामृत ४७; कृत्यरत्नाकर ३४८); शुक्लपक्ष में किसी शुभ नक्षत्र एवं मुहूर्त से युक्त तिथि पर पके अन्नों वाले खेत में बाजों एवं नृत्य के साथ जाकर होम करना चाहिए और नवान्न को दही के साथ खाना चाहिए और द्राक्षाफल (अंगूर) खाना चाहिए (नैयत्कालिक, ४०७; कृत्यरत्नाकर ३४७); मूल नक्षत्र शुक्ल पक्ष में सरस्वती को आमन्त्रित करना चाहिए, पुस्तकों में (पूर्वाषाढ में) उसे प्रतिष्ठापित करना चाहिए, उत्तराषाढ में उसे हव्य देना चाहिए और श्रवण में विसर्जन करना चाहिए। उन दिनों में पढ़ना, पढ़ाना एवं लिखना नहीं चाहिए (निर्णयसिन्धु १७१, स्मृतिकौ० ३५२; पु० चि० ७३)।

आषाढ-कृत्य : कृत्यरत्नाकर (१९६-२१८); कृत्यतत्त्व (४३४-४३७); वर्षक्रियाकौमुदी (२८३-२९२); नि० सि० (१०१-१०९); स्मृतिकौ० (१३७-१४८)।

इन्दुव्रत : ६० संवत्सर-व्रतों में ५८वाँ व्रत; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४५१); हे० व्र० (२, ८८३)। इसमें दिन में तीन बार किसी गृहस्थ एवं उसकी पत्नी को सम्मानित किया जाता है और वर्ष के अन्त में एक गाय दी जाती है।

इन्द्रध्वज-उत्थानोत्सव : वराह की बृहत्संहिता (अध्याय ४३); कालिकापुराण (९०); राजमार्तण्ड (१२६०-१२९२); हे० व्र० (२, ४०१-४१९); तिथितत्त्व (११५-११७); वर्षक्रियाकौमुदी (३२२-३२३); कालविवेक (२९४-२९९); कृत्यरत्नाकर (२९२-२९३)। यह राजा के लिए व्यवस्थित है। देखिए बुद्धचरित (सैक्रेड बुक आव दि ईस्ट ४९, भाग १, पृष्ठ ११३), रघुवंश (४।३), मृच्छकटिक (१०।७); कालिका० (९०) कृत्यकल्पतरु (राजधर्म, १८४-१९०); राजनीतिप्रकाश (४२१-४२३), इसने विष्णुधर्मोत्तर पुराण से बहुत-से आशीर्वाद एवं प्रार्थना के मन्त्र उद्धृत किये हैं।

इन्द्रव्रत : ६० संवत्सर व्रतों में ४७ वाँ; कृत्य क०, व्र० (४४९)। व्यक्ति को वर्षा ऋतु में बाहर सोना पड़ता है और एक दुधारू गाय का दान करना पड़ता है। मत्स्यपुराण (१०१।६९)।

इन्द्रपूर्णमासी : हे० व्र० (२, १९६)। भाद्र० पूर्णिमा पर उपवास; तीस गृहस्थों का उनकी पत्नियों के साथ आभूषणों के सहित सम्मान करना। मोक्ष की प्राप्ति। देखिए गदाधरपद्धति (१७६)।

इष्टजाति-अवाप्ति : विष्णुधर्मोत्तर० (३।२००।१-५); चैत्र एवं कार्तिक में आरम्भ; ऋ० (१०।९०।१-१६) एवं १६ उपचारों के साथ हरि की पूजा तथा अन्त में एक गोदान।

ईशानव्रत : शुक्ल १४ और पूर्णिमा को जब गुरुवार हो, उस लिंग की पूजा, जिसकी बायीं ओर विष्णु हों और दायीं ओर खखोल्क (सूर्य); ५ वर्षों तक; प्रथम वर्ष के अन्त में एक गोदान, दूसरे वर्ष के अन्त में दो गायों का दान, तीसरे में ३, चौथे में ४ एवं पाँचवें में ५ का। कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३८३-३८५); हे० व्र० (२, १७९-१८०)।

ईश्वरगणगौरी-व्रत : चैत्र कृष्ण १ से चैत्र शु० ३ के १८ दिनों तक, केवल सधवा नारियों के लिए; गौरी एवं शिव की पूजा; मालवा में अति प्रचलित; अहल्याकामधेनु (२३७)।

ईश्वर-व्रत : कृष्ण १४ को; शिव-पूजा; हे० व्र० (२, १४८, भविष्यपुराण से उद्धरण)।

उग्र नक्षत्र : तीनों पूर्वाएँ (पूर्वाषाढा, पूर्वाभाद्रपदा, पूर्वाफाल्गुनी), मघा एवं भरणी उग्र नक्षत्र हैं। बृहत्संहिता (९७।८)।

उत्तमभर्तृप्राप्ति : वसन्त के शु० पक्ष की द्वादशी पर; विष्णु देवता; वराहपुराण (५४।१-१९)।

उत्तरायण : प्रत्येक अयन के आरम्भ में दान किये जाते हैं (कालविवेक ५३६ एवं वर्षक्रिया कौ० २९२) और अयनों के आरम्भ में किये गये दान करोड़ गुना फल देते हैं, जब कि अमावास्या पर किये गये दान केवल सौगुना फल देते हैं (राजमार्तण्ड, कालविवेक ३८१, वर्षक्रियाकौ० २१४)।

उत्थापन-एकादशी : कार्तिक शु० ११; गदाधरपद्धति (१८८); कृत्यसारसमुच्चय (४२), इसमें विष्णू-त्थापन के लिए ३ मन्त्र हैं।

उत्पत्त्येकादशी : देखिए व्रतकोश (६९४)।

उत्सर्जन : देखिए निर्णयसिन्धु (१२०-१२१); स्मृतिकौस्तुभ (१६४-१६७); इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, पृ० ८१५-८१८।

उत्सव : पुराणों एवं व्रत-सम्बन्धी ग्रन्थों में बहुत-से उत्सवों का उल्लेख है। इस ग्रन्थ में होलिका, दुर्गोत्सव आदि का वर्णन पहले ही हो चुका है। कुछ का उल्लेख यथास्थान होगा। 'उत्सव' शब्द ऋग्वेद (१।१००।८ एवं १।१०२।१) में प्रयुक्त है और 'सू' से निष्पन्न है जिसका अर्थ है 'उत्साहित करना या प्रेरित करना।'

उदकसप्तमी : सप्तमी को केवल एक चुल्लू (हथेलीभर) पानी पीने से सुख मिलता है। कृ० क० त० (व्र० १८४); हे० व्र० (१, ७२६)।

उदसेविका : यह भूतमातृ-उत्सव ही है। यह इन्द्रध्वज के उपरान्त होता है (अर्थात् यह भाद्रपद शु० १३ को होता है)। यह उत्सव रोम में मनाये जाने वाले बच्चनेलिया के समान ही है। हेमाद्रि (व्रत० २, ३५९-३६५), नैयतकालिक (४१३-४२१) एवं कृत्यर० (३८७-३९५) में यह उत्सव स्कन्दपुराण के उद्धरण के साथ विस्तार से वर्णित है। इसका स्रोत भैरव एवं उदसेविका से है जो क्रम से शिव एवं पार्वती के मन से उत्पन्न हुए थे। वे दोनों पति-पत्नी हो गये। इस दिन सभी लोग कामुक विषयों में वाचाल हो उठते हैं। पुरुष एवं नारियाँ उन्मत्त एवं वातुल हो उठते हैं, गधों, बैलों एवं कुत्तों पर चढ़ते हैं, शरीर पर भस्म एवं पंक डाल लेते हैं, यहाँ तक कि सौ वर्ष के बुढ़ऊ बाबा (बूढ़े व्यक्ति) भी बच्चों जैसा व्यवहार करते हैं, लज्जाहीन हो जाते हैं; गाली बकते हैं, अश्लील गान गाते हैं, गोरक्षकों, डोमों, नाइयों के समान वस्त्र धारण करते हैं और नंगे घूमते हैं। स्कन्दपुराण में आया है कि जो व्यक्ति इस उत्सव में भाग नहीं लेता और पृथक् खड़ा रहता है उसके हव्य एवं कव्य को क्रम से देवता एवं पितर लोग नहीं ग्रहण करते। इस उत्सव के मनाने के काल एवं तिथि के विषय में मतभेद रहा है। देखिए हे० व्र० (२, ३६८), व्रतप्रकाश, जो इसे ज्येष्ठ कृ० से पूर्णिमा तक करने को कहते हैं।

उद्दालकव्रत : देखिए वसिष्ठधर्मसूत्र (११।७६-७७)। यह पतितसावित्रीक के लिए व्यवस्थित है। हे० व्र० (२, ९३२) में ऐसा आया है कि दो मासों तक व्यक्ति आमिक्षा एवं उबाले हुए दूध पर रहता है, आठ दिनों तक दही पर और तीन दिनों तक घी पर रहता है और एक दिन पूर्ण उपवास करता है।

उद्यापन : व्रत का अन्तिम कृत्य। कालतत्त्वविवेक (९५) में आया है कि कृष्णजन्माष्टमी जैसे व्रतों में, जो जीवन भर किये जाते हैं, कोई उद्यापन नहीं होता।

उन्मीलनीव्रत : द्वादशी से युक्त एकादशी। पद्म० (६।३७-३९); स्मृतिकौ० (२५०-२५२)।

उपचार : प्रतिमा-पूजन के विविध विषय। देखिए गत अध्याय २।

उपवास-व्रत : देखिए गत अध्याय ५, एकादशी-व्रत; विष्णुधर्मोत्तर० (१।५९।३-५)। एक मास से अधिक का उपवास वर्जित है। हेमाद्रि (व्रत २, ७७६-७८३)।

उपाकर्म : देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, पृ० ८०७-८१५।

उपाङ्गललिता : आश्विन शु० ५; तिथि; ललितादेवी (पार्वती); दक्षिण में प्रचलित; कालतत्त्व-विवेचन (२१८); स्मृतिकौ० (३४३-५३२); पु० चिन्तामणि (९९), व्रतराज (२०६-२१९)।

उभयद्वादशी : मार्ग० कृ० १२ पर प्रारम्भ; वर्ष की सभी २४ द्वादशियों पर; तिथि; विष्णु के २४ स्वरूपों, यथा—केशव, नारायण आदि की पूजा; हेमाद्रि (व्रत १, १०१३-१०२१)।

उभयनवमी : पौ० शु० ९ से प्रारम्भ; एक वर्ष; चामुण्डा-पूजा; देवी की प्रतिमा-निर्माण में प्रति मास विभिन्न पदार्थ एवं विभिन्न नाम, कुछ दिनों में भैंस का मांस; कर्ता को दोनों पक्ष की नवमी पर नक्त (केवल रात्रि में भोजन) करना पड़ता है और कुमारियों को खिलाना पड़ता है। कृत्यकल्पतरु (व्र० २७४-२८१); हे० व्र० (१, ९२१-९२८); कृत्यरत्नाकर (२०३-४, ४४५-४४६, ५१७—सभी भविष्यपुराण से); व्रतप्रकाश (६६)।

उभयसप्तमी : (१) शुक्ल सप्तमी से प्रारम्भ; तिथि; एक वर्ष, प्रत्येक पक्ष; सूर्य देवता; कृत्यकल्पतरु (व्रत० १५९-१६०), हे० व्र० (१, ७४८-७५३) दोनों में भविष्य (१।१६५।१-४५) का उद्धरण है; (२) माघ शु० सप्तमी से प्रारम्भ; एक वर्ष। प्रत्येक मास में विभिन्न नाम से सूर्य की पूजा; भविष्योत्तरपुराण (४७।१।२५)।

उभयैकादशी : मार्ग० ११ से प्रारम्भ; तिथि; एक वर्ष (प्रत्येक पक्ष); विष्णु के विभिन्न नाम (केशव, नारायण आदि) कृष्ण पक्ष में तथा कृष्ण के विभिन्न नाम शुक्ल पक्ष में। व्रतार्क (२३३-२३७)।

उमाचतुर्थी : माघ शु० ४; तिथि; उमा; नैयतकालिक (४३७-४३८); समयप्रदीप (४७); कृ० र० (५०३); सब को, विशेषतः नारियों को कुन्द के पुष्पों से उमा पूजा करनी चाहिए और उपवास करना चाहिए।

उमामहेश्वरव्रत : (१) भाद्र पूर्णिमा पर आरम्भ; चतुर्दशी पर संकल्प; तिथि; उमा एवं शिव की सोने या चाँदी की मूर्तियों की पूजा; व्रतार्क (३३६-३४३); कर्णाटक में प्रसिद्ध; (२) पूर्णिमा या अमावास्या, चतुर्दशी या अष्टमी तिथि पर प्रारम्भ; एक वर्ष; उमा एवं शिव की पूजा; हविष्यान्न के साथ नक्त; हे० व्र० (२, ३९५); (३) अष्टमी या चतुर्दशी पर; इन तिथियों पर एक वर्ष तक उपवास; हे० व्र० (२, ३९६); (४) मार्गशीर्ष की प्रथमा पर आरम्भ; एक वर्ष; देवता वही; लिंगपुराण (पूर्वार्ध, ८४।२३-७२); (५) मार्ग शु० ३ को प्रारम्भ; तिथि; एक वर्ष; देवता वही; भविष्योत्तरपुराण (२३।१-२८), लिंग० (पूर्वार्ध, ८४); (६) हे० व्र० (२, ६९१-६९३); कृ० क० त० (व्र० ४१४-४१६)।

उमाग्निपूजा : चैत्र शु० २; तिथि; उमा, शिव एवं अग्नि की पूजा; स्मृतिकौस्तुभ (८); पुरुषार्थचिन्तामणि (८३)।

उल्कानवमी : आश्विन शु० की नवमी; तिथि; एक वर्ष; महिषासुरमर्दिनी की 'महिषघ्नि महामाये' मन्त्र के साथ पूजा; हे० व्र० (१, ८९५); दूसरा प्रकार—हे० व्र० (१, ८९७-९) एवं व्रतप्रकाश (१८७); मन्त्र वही है। इसमें व्यक्ति अपने शत्रुओं के समक्ष उल्का के समान लगता है और नारी अपनी सौतों के समक्ष उल्का-सी प्रतीत होती है, अतः इसका यह नाम पड़ा है।

उषःकाल : सूर्योदय के पूर्व पाँच घटियों का काल या सूर्योदय से पहले की ५५ घटियों के उपरान्त; "पंचपंच उषःकालः सप्तपंचारुणोदयः। अष्टपंच भवेत् प्रातः शेषः सूर्योदयो मतः॥" कृत्यसारमुच्चय (५२)।

ऋतुव्रत : हेमाद्रि (व्रत २, ८५८-८६१); पाँच व्रत जो यथास्थान सूची में आयेंगे; वर्षक्रिया० (२३७-२४०); स्मृतिकौस्तुभ (५४८-५५२)।

ऋषिपंचमी : देखिए गत अध्याय ८।

एकानंगापूजा : कार्तिक शु० ४, ८, ९ या १४ पर; अन्तिम पर नारी फल वाले वृक्ष के नीचे बैठकर एकानंगा की पूजा करती है और बाज या किसी पक्षी से भोजन का सुन्दर और भगवती के पास ले जाने को कहती है। इस दिन पत्नी पहले खाती है और पति को उसके उपरान्त खिलाती है। कृत्यरत्नाकर (४१३-४१४)।

ऐश्वर्यतृतीया : तृतीया को ब्रह्मा, विष्णु या शिव की एवं तीनों लोकों की पूजा, उनके लिए व्यवस्थित मन्त्रों के साथ; इससे समृद्धि प्राप्त होती है; हेमाद्रि (व्रत १, ४९८; विष्णुधर्मोत्तर० से उद्धरण)।

कज्जली : भाद्रपद कृ० ३ (पूर्णिमान्त से गणना); तिथि; विष्णु-पूजा; नि० सि० (१२३); अहल्या-कामधेनु (२७), इसका कथन है कि यह श्रावण कृ० ३ को होता है। निर्णयसिन्धु के अनुसार यह मध्यदेश में अति प्रचलित है।

कटदानोत्सव : भाद्रपद शु० ११एवं १२ या १५ को जब कि विष्णु दो मास सो लेने के उपरान्त करवट बदलते हैं। हेमाद्रि (व्रत २, ८१३); स्मृतिकौस्तुभ (१५३)।

कदलीव्रत : भाद्र० शु० १४ पर; तिथि; स्वास्थ्य, सौन्दर्य, सन्तान आदि के लिए केले के वृक्ष की पूजा होती है; हे० व्र० (२, १३२-१३३)। यदि कदली न हो तो उसकी स्वर्ण-प्रतिमा की पूजा। अहल्याकामधेनु (६११)।

कपर्दीश्वर-विनायकव्रत : श्रावण शु० ४; तिथि; गणेश-पूजा; व्रतार्क (७८-८४); व्रतराज (१६०-१६८)। दोनों में आया है कि विक्रमादित्य ने इसका सम्पादन किया था, दोनों में विक्रमादित्य की चर्चा है।

कपिलाषष्ठी-व्रत : भाद्र० कृ० (अमान्त गणना) या आश्विन कृ० (पूर्णिमान्त गणना) ६; मंगल से संयुक्त, व्यतिपातयोग, रोहिणी-नक्षत्र, हे० व्र० (१, ५७८--प्रोष्ठपदासिते पक्षे षष्ठी भौमेन संयुता। व्यतिपातेन रोहिण्या सा षष्ठी कपिला स्मृता।।)। इनके अतिरिक्त यदि सूर्य हस्त नक्षत्र में हो तो फल और महान् हो जाते हैं; भास्कर-पूजा; कपिला गाय का दान। हे० व्र० (१, ५७७-७८); नि० सि० (१५२); पु० चि० (१०२); व्रतराज (२२१-२३१); कुछ ग्रन्थ इसे आश्विन में ठहराते हैं, किन्तु यदि भाद्र० है तो अमान्त गणना होनी चाहिए, क्योंकि तभी रोहिणी का योग हो सकता है। इस प्रकार के योग बहुत कम होते हैं, बहुधा ६० वर्षों के उपरान्त।

कमलषष्ठी : मार्ग० शु० ५-७; तिथि; एक वर्ष; ब्रह्मा देवता; पंचमी पर नियम, षष्ठी पर उपवास तथा सोने के बने कमल तथा शक्कर का किसी ब्राह्मण को दान; सप्तमी को ब्राह्मण का सम्मान और उसे क्षीर (खीर) खिलाना; बारह मासों में ब्रह्मा के बारह नाम; भविष्योत्तरपुराण (३९)।

कमलसप्तमी : चैत्र शु० ७ से प्रारम्भ; तिथि; एक वर्ष; दिवाकर देवता; मत्स्य० (७८।१-११, कृत्यकल्पतरु, व्र० २१७-२१९ में उद्धृत); पद्म० (५।२१।२८१-२९०, हे० व्र० १, ६४०-६४१ में उद्धृत); कृ० र० (११९-१२१)। भविष्योत्तर० (५०।१-११); व्रतप्रकाश (६१) ने पद्म० से गायत्री मन्त्र (ऋ० ३।६२।१०) के आधार पर प्रणीत एक मन्त्र उद्धृत किया है, यथा--"भास्कराय विद्महे सप्ताश्वाय धीमहि। तन्नो भानुः प्रचोदयात्।।"

करकचतुर्थी : केवल नारियों के लिए; कार्तिक कृष्ण ४ पर; तिथि; वट वृक्ष के नीचे शिव, गणेश एवं स्कन्द के साथ बने गौरी-चित्र की सभी उपचारों के साथ पूजा; ब्राह्मणों को दस करकों (पात्रों) का दान तथा चन्द्रोदय के उपरान्त चन्द्र को अर्घ्य। नि० सि० (१९६); व्रतार्क (८४-८६); व्रतराज (१७२); स्मृतिकौ० (३६७); पु० चि० (९५)।

करकाष्टमी : कार्तिक कृ० की अष्टमी; रात्रि में गौरी-पूजा, सुगन्धित जल युक्त एवं मालाओं से आच्छादित ९ घड़े; ९ कुमारियों को खिलाने के उपरान्त ही भोजन करना; अहल्याकामधेनु (५४७)।

करण-व्रत : देखिए बृहत्संहिता (अध्याय २९); विष्णुधर्मोत्तर० (१।८३।२४); हे० व्र० (२, ७१८-७२६); स्मृतिकौ० (५६४-६४)।

करवीरप्रतिपदाव्रत : ज्येष्ठ शु० प्रथमा; तिथि; मन्दिर के प्रांगण में उगे करवीर पौधे की पूजा; हे० व्र० (१, ३५३); स्मृतिकौ० (११७); यह तमिल देश में प्रचलित है, किन्तु वैशाख शुक्ल प्रतिपदा को।

करिव्रत : प्रकीर्णक (कई, मिले-जुले); ब्रह्मा देवता; कृ० क० तरु (व्र० ४४९); हे० व्र० (२, ९११); उपवास, दो हाथियों से युक्त एक स्वर्ण-रथ का दान।

कलश : विवाह, मूर्ति-स्थापन, सेनाप्रस्थान, राज्याभिषेक आदि अवसरों पर कलश (एक या अधिक) का प्रयोग, संख्या १०८ तक जा सकती है, उनका घेरा—१५ से ५० अंगुल चौड़ा, १६ अंगुल लम्बा, आधार १२ अंगुल तथा मुख (मोहड़ा) ८ अंगुल। हे० व्र० (१।६०८) यहाँ व्युत्पत्ति दी हुई है—'कलां कलां गृहीत्वा च देवानां विश्वकर्मणा। निर्मितोऽयं सुरैर्यस्मात्कलशस्तेन उच्यते॥' हे० व्र० (१।६५-६६), यहाँ कलशोत्पत्ति एवं नाप-तौल का उल्लेख है। एक पूर्ण कलश का उल्लेख ऋ० (३।३२।१५) में हुआ है।

कल्किद्वादशी : भाद्र० शुक्ल १२; तिथि; कल्कि देवता; वराह० (४८।१-२४); कृ० क० त० (व्रत० ३३२-३३३); हेमाद्रि (व्रत १, १०३८-३९)।

कल्पवृक्ष-व्रत : संवत्सरव्रत; मत्स्य० (१००) में उल्लिखित षष्ठीव्रतों में एक; हे० व्र० (२, ९१०-११); कृत्यकल्पतरु (व्रत ४४६)।

कल्पादि : कल्पों के प्रारम्भ के विषय में ७ तिथियों का उल्लेख है, यथा—मत्स्य० में—वैशाख शु० ३; फाल्गुन कृ० ३; चैत्र शु० ५, चै० कृ० ५ (या अमावास्या ?), माघ शु० १३, कार्तिक शु० ७, मार्ग० शु० ९। ये श्राद्ध-तिथियाँ हैं। हेमाद्रि ने कल्पादि के रूप में ३० तिथियाँ दी हैं (नागरखण्ड)। मत्स्य० (२९०।३-११)।

कल्पान्त : देखिए विष्णुधर्मोत्तरपुराण (१।७७), जहाँ इसका वर्णन है।

कल्याणसप्तमी : रविवार की शु० सप्तमी को प्रारम्भ होती है; उस तिथि को कल्याणिनी या विजया कहते हैं; एक वर्ष; सूर्य-पूजा; तेरहवें मास में १३ गायों का दान। मत्स्य० (७४।५-२०), भविष्योत्तर० (४८।१-१६); हे० व्र० (१, ६३८-६४०); कृत्यकल्पतरु (व्रत० २०८-२११)।

काञ्चनगौरी : भाद्र० शु० ३; तिथि; गौरी-पूजन; निर्णयामृत (३९), गदाधरपद्धति (कालसार, ७२)।

काञ्चनपुरीव्रत : प्रकीर्णक व्रत (कई मिले-जुले); शु० ३, कृ० ११, पूर्णिमा, अमावास्या, अष्टमी या संक्रान्ति पर; एक सुनहरी पुरी का दान, जिसकी दीवारें सोने, चाँदी या सीसे की हों, स्तम्भ सोने, चाँदी आदि के हों, उस निर्मित पुरी में लक्ष्मी एवं विष्णु की प्रतिमाएँ हों। हे० व्र० (२, ८६८-८७६); भविष्योत्तर० (१४७)। गौरी एवं शिव, राम एवं सीता, दमयन्ती एवं नल तथा कृष्ण एवं पाण्डवों द्वारा यह व्रत सम्पादित हुआ था। यह व्रत सब कुछ देता है और पापों से मुक्त करता है।

कात्यायनीव्रत : भागवत (१०।२२।१-७)। कथा यों है कि नन्दव्रज की कुमारियाँ मार्गशीर्ष में पूरे मास तक कात्यायनी की प्रतिमा पूजती थीं जिससे कि कृष्ण उन्हें पति के रूप में प्राप्त हों।

कान्तारदीपदानविधि : आश्विन पूर्णिमा से कार्तिक पूर्णिमा तक या तीन रातों तक (आश्विन पूर्णिमा, आश्विन अमावास्या एवं कार्तिक पूर्णिमा) या केवल कार्तिक पूर्णिमा को अपनी योग्यता के अनुसार किसी यज्ञिय वृक्ष के स्तम्भ पर आठ दीप जलाना। धर्म, रुद्र एवं दामोदर देवता हैं। नैयतकालिककाण्ड (४५२-४५६); कृ० र० (३८२-३८६)। यह व्रत प्रेतों एवं पितरों के कल्याण के लिए किया जाता है।

कान्तिव्रत : (१) का० शु० २; तिथि; एक वर्ष; बलराम, केशव एवं अर्धचन्द्र की पूजा; कार्तिक से आगे चार मासों तक तिल से होम, आषाढ़ से चार मासों तक घी से; वर्ष के अन्त में ब्राह्मण को चाँदी का चन्द्र दिया जाता है; कृत्यकल्पतरु (४७-४८); हे० व्र० (१, ३७८-३७९); (२) वैशाख में; संवत्सरव्रत; वैशाख भर नमक एवं पुष्पों का त्याग; कृत्यकल्पतरु (व्रतखण्ड, ४४५)।

कामत्रयोदशी : त्रयोदशी पर; तिथि; काम-पूजा; हे० व्रत (२,२५), वर्षक्रियाकौमुदी (७०)।

कामत्रिव्रत : कई देवियों, यथा—उमा, मेधा, भद्रकाली, कात्यायनी, अनसूया, वरुण-पत्नी की पूजा; वांछित पदार्थों की प्राप्ति होती है; हेमाद्रि (व्रत, १, ५७५-५७६)।

कामदविधि : मार्ग० शु० ६ पर पड़ने वाले रविवार को चन्दन लगे करवीरपुष्पों से सूर्यपूजा; कृत्यक० (व्रत १४)।

कामदासप्तमी : फाल्गुन शु० ७; तिथि; वर्ष भर; सूर्य-पूजा; फाल्गुन से आगे के प्रत्येक चार मासों में विभिन्न फूलों, धूपों एवं विभिन्न नैवेद्यों से पूजा; कृत्यकल्पतरु (व्रतखण्ड, १६९-१७२); हे० व्र० (१, ७२८-७३१, भविष्य० १।१०५।१-२९ से उद्धरण है)।

कामदेवपूजा : चैत्र शु० १२ पर; तिथि; एक वस्त्र पर चित्र खींचकर, सामने ठंडे जल से पूर्ण तथा पुष्पों से आच्छादित कलश रखकर कामदेव की पूजा करना; इस दिन पतियों द्वारा पत्नियाँ सम्मानित होती हैं; कृत्यकल्पतरु (व्रतकाण्ड, ३८४)।

कामदेवव्रत : वै० शु० १३ को आरम्भ; तिथि; एक वर्ष; कामदेव-पूजा; विष्णुधर्मोत्तर० (३।१८३); हे० (व्र० २, १८); व्रतप्र० (८६)।

कामधेनुव्रत : कार्तिक कृ० ११ से पाँच दिनों तक; तिथि; श्री एवं विष्णु देवता; रात्रि के समय घर में, गोशाला, चैत्यों, देवमन्दिरों, राजमार्गों, श्मशानों, तालाबों पर दीप जलाना; रात्रि में पत्नी एवं अन्य सम्बन्धियों के साथ पासा खेलना; एकादशी पर उपवास तथा गाय के दूध या घी से विष्णु-प्रतिमा को नहलाना; जो चार दिनों तक चलता रहता है; कामधेनु नामक दान करना; हे० व्र० (२, ३४४-३४८, अग्निपुराण से उद्धरण)। यह सभी पापों के लिए एक प्रायश्चित्त भी है।

कामदेवत्रयोदशी (या मदनत्रयोदशी) : चैत्र शु० १३; तिथि; मदन के रूप में दमनक पौधे की पूजा; गदाधरपद्धति (१५२-१५३); कृत्यतत्त्व (४६५)। देखिए अनंगचतुर्दशी।

कामदेवद्वादशी : मार्ग० शु० १२ को प्रारम्भ; उसके उपरान्त एक वर्ष तक प्रत्येक द्वादशी पर; कामदेव-पूजन; स्मृतिकौस्तुभ (११४)।

काममहोत्सव : चैत्र शु० १४; तिथि; किसी वाटिका में त्रयोदशी की रात्रि में मदन एवं रति की प्रतिमा की स्थापना तथा चतुर्दशी को पूजा, अश्लील शब्दों, गानों एवं बाजों के साथ उत्सव मनाया जाता है; वर्षक्रिया-कौमुदी (५२९-५३२)। शैवागम में इसे 'चैत्रावली' एवं 'मदनमञ्जरी' कहा गया है। देखिए कालविवेक (१९०) 'चैत्रविहित-अशोकाष्टमी—मदनत्रयोदशी-चैत्रावली-मदनभञ्जिका-चतुर्दशी-प्रभृतीन्' एवं राजमार्तण्ड (८१); कृत्यर० (१३७-१३८)।

कामव्रत : (१) केवल नारियों के लिए; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४२१-४२४); हे० (व्र० २, ८२१-८२४); कार्तिक में प्रारम्भ; मासव्रत; एक वर्ष; सूर्य-पूजा; हेमाद्रि ने इसे स्त्री-पुत्र-कामावाप्तिव्रत कहा है; (२) पौष शु० १३ को प्रारम्भ; प्रत्येक त्रयोदशी को नक्त (केवल रात्रि में भोजन), चैत्र में एक सोने का अशोकवृक्ष एवं १० अंगुल की ईखों (गन्ने) का 'प्रद्युम्न प्रसन्न हों' मन्त्र के साथ दान; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४४०); हे० व्र० (२, २५); (३) किसी भी मास की सप्तमी पर; तिथि; सूर्य की पत्नी सुवर्चला की पूजा; सभी कामनाओं की पूर्ति; हेमाद्रि (व्रत

१, ७९०); (४) पौष शु० ५ पर आरम्भ; तिथि; कार्तिकेय के रूप में विष्णु की पूजा; पंचमी पर नक्त; षष्ठी को केवल एक फल; सप्तमी पर पारण; एक वर्ष; कार्तिकेय की स्वर्ण-प्रतिमा तथा दो वस्त्रों का किसी ब्राह्मण को दान; इसी जीवन में कर्ता की सभी कामनाओं की पूर्ति हो जाती है। वराह० (६१।१-१२) एवं हेमाद्रि (व्रत १, ६१५-६१६, यहाँ इसका नाम कामषष्ठी है)।

कामषष्ठी : देखिए यहीं ऊपर संख्या (४)।

कामावाप्तिव्रत : कृष्ण १४ पर; तिथि; महाकाल (शिव) की पूजा; सभी कामनाओं की पूर्ति। हे० व्र० (२, १५५)।

कामिकाव्रत : मार्ग० कृ० २; तिथि; सोने के चक्र की प्रतिमा का पूजन एवं उसका दान। अहल्याकामधेनु (२५१)।

कार्तिक : कार्तिक के व्रतों के लिए देखिए हेमाद्रि (व्रत २, ७६९-७८४), कृ० र० (३९७-४४२), वर्षक्रियाकौ० (४५३-४८१), नि० सि० (१९२-२०८), कृत्यसार-समुच्चय (२०-२६), स्मृतिकौ० (३५८-४२७), ग० प० (२४-३२)। यह पवित्र मास सभी तीर्थों तथा सभी यज्ञों से पवित्र है। इसके माहात्म्य के लिए देखिए स्कन्द० (वैष्णवकाण्ड, अध्याय ९), नारदीय० (उत्तरार्ध, अध्याय २२) एवं पद्म० (६।९२)।

कार्तिकस्नानव्रत : कार्तिक भर, घर के बाहर किसी नदी में स्नान, गायत्री-जप एवं केवल एक बार हविष्य का भोजन करके व्यक्ति वर्ष में किये गये पापों से मुक्त हो जाता है; विष्णुधर्मसूत्र (८९।१-४); कृत्यकल्पतरु (व्रत०, ४१८); हे० व्र० (२, ७६२); पद्म० (६।९१ एवं ११९।१२-१३; कालविवेक (३२४); नि० सि० (१९२-१९४); स्मृतिकौ० (३५८); ग० प० (कालसार, २७-२९)। कार्तिक में वर्जित पदार्थों में एक है मांस। समयप्रकाश, एवं कृ० र० (३९७-३९९) ने इस विषय में महाभारत का उद्धरण दिया है कि कार्तिक में, विशेषतः शुक्ल पक्ष में मांस-त्याग सौ वर्षों तक किये गये तपों के सदृश है और ययाति, राम एवं नल ने कार्तिक में मांस नहीं खाया, अतः वे स्वर्ग गये। नारदीय० (२२।५८, उत्तरार्ध) में आया है कि कार्तिक में मांस-सेवन से व्यक्ति चाण्डाल हो जाता है। देखिए नीचे बकपञ्चक। पद्म० (३।३।१३); हे० व्र० (२, ७६३-७६८); कृ० र० (४०३-४०४); कालविवेक (३२६); स्मृतिकौस्तुभ (३५८-५९); मुनि (अगस्त्य) के पुष्पों से कार्तिक भर केशव-पूजा अश्वमेध के फलों को देती है; तिथितत्त्व (१४७)।

का० शु० १, देखिए 'दिवाली' (गत अध्याय १०)। शु० २ पर यम-पूजा (नि० सि० २०३, पु० चि० ८३, स्मृतिकौ० ३७७) एवं भ्रातृद्वितीया (देखिए अध्याय १०); शु० ३ पर सती देवी की पूजा (अ० का० २९५-२९६); शु० ४ पर नागचतुर्थी (ग० प० ८१); शु० ६ को महाषष्ठी कहा जाता है, इस दिन वह्निमहोत्सव होता है (स्मृतिकौ० ३७८, पु० चि० १०२); इसकी विशेष महत्ता मंगलवार को होती है; शु० ८ को भगवती-पूजा (कृत्यकल्पतरु का नैयतकालिक काण्ड ४२४-४२५, कृत्यरत्नाकर ४१३); शु० ९ पर युगादि-तिथि (बिना पिण्ड के श्राद्ध) एवं भगवती-पूजा (नैयतका० ४२४-४२५, कृ० र० ४१३); शु० १० को केवल सन्ध्याकाल दही खाना (कालविवेक, ४२५, कृ० र० ४२०); शु० ११, बोधिनी या प्रबोधिनी एकादशी या उत्थान-एकादशी, जब कि विष्णु शय्या से उठते हैं (नैयतकालिक, ३९२, नि० सि० २०५); यह श्रीवैष्णवों के लिए विशिष्ट रूप से पवित्र है; इसी दिन तुलसी का विष्णु से विवाह हुआ था (स्मृतिकौ० ३६६, ३७८, व्रतराज ३८४-३८६), देखिए **भीष्म-पंचक** व्रत भी; द्वादशी को तमिल आदि देशों में तुलसी-विवाह व्रत किया जाता है; कुछ लोग द्वादशी को बोधन भी करते हैं (कृ० र० ४२६); देखिए योगेश्वर-द्वादशी; इस तिथि पर वराह-अवतार की पूजा भी होती है (वराह०

१२३।८-११); शु० १३, देखिए 'लिंगार्चन व्रत'; शु० १४ पर वैकुण्ठ-चतुर्दशी होती है, इसे यथास्थान देखिए; बराहपुराण में आया है कि का० १४ को गृह-लक्ष्मी (मालकिन) प्राचीन काल में भोजन का स्वादिष्ठ कौर किसी बाज को देती थी और उसे दुर्गा तक पहुँचाने को कहती थी, आजकल वह स्वयं सबसे पहले खा लेती है और उसका पति उसे सम्मानित करता है (नैयतकालिक ४२५, कृ० र० ४१३-१४); कार्तिक-पूर्णिमा को तब महाकार्तिकी कहा जाता है जब चन्द्र एवं बृहस्पति दोनों इस तिथि पर कृत्तिका नक्षत्र में होते हैं या उस दिन रोहिणी नक्षत्र होता है (नैयतकालिक ३७२); वर्षक्रियाकौमुदी (४८१); स्मृतिकौ० (४०६); हे० व्र० (२, १८१, ऐसा आया है कि यदि उपर्युक्त बातों के साथ पूर्णिमा सोमवार को पड़ जाय तो वह बहुत पवित्र हो जाती है, किन्तु ऐसा बहुत कम होता है—'ईदृशी बहुभिर्वर्षैः बहुपुण्येन लभ्यते'); हेमाद्रि-चतुर्वर्गचिन्तामणि (६४१); कृ० र० (४३०-४३१), नि० सि० (२०७); कार्तिक पूर्णिमा पर कुछ लोग तुलसी-विवाह मनाते हैं (स्मृतिकौ० ३६६), कुछ लोग ब्रह्मा की रथयात्रा मनाते हैं (पद्म० ५।१७।२१७-२५३); इस दिन भविष्यपुराण के अनुसार लोग साँड़ छोड़ते हैं (स्मृतिकौ० ३९०-४०६); इसी पूर्णिमा को त्रिपुरोत्सव (सायंकाल) करते हैं और मन्दिरों में दीप-प्रकाश करते हैं (नि० सि० २०७, स्मृतिकौ० ४२७) और देखिए 'करक-चतुर्थी, करकाष्टमी, नरकचतुर्दशी, लक्ष्मी-पूजन।'

कार्तिकव्रत : हेमाद्रि (व्रतखण्ड, २, ७६२-७६३, अग्निपुराण से); देवों, पितरों एवं मनुष्यों को घृत एवं मधु से युक्त भोजन देना; हरि-पूजन और दीप जलाने से व्रतकर्ता स्वर्ग जाता है।

कार्तिकी-पूर्णिमाव्रत : का० शु० १५; तिथि; वैशाख, कार्तिक एवं माघ की पूर्णिमाओं का पूजन किया जाता है, उन दिनों स्नान करना एवं दान देना आवश्यक है, तीर्थ-स्थानों में स्नान करना एवं अपनी सम्पत्तिजन्य योग्यता के अनुसार दान देना पुण्यकारक ठहराया गया है। का० पूर्णिमा का सर्वोच्च तीर्थ पुष्कर है, वैशाख का उज्जयिनी एवं माघ का वाराणसी। इन दिनों केवल ब्राह्मणों को ही नहीं, प्रत्युत अपनी बहिन, बहिन के लड़के (भानजे), पिता की बहिन के पुत्र (फूफी के पुत्र अथवा फुफेरे भाई), मामा तथा अन्य दरिद्र सम्बन्धियों को भी दान दिये जाते हैं। रामायण में भरत ने कौसल्या के समक्ष शपथ ली, "यदि मेरे बड़े भाई मेरी राय (मति) से जंगल (वन) में गये हों तो देवों द्वारा सम्मानित वैशाख, कार्तिक एवं माघ की पूर्णिमाएँ मेरे विषय में बिना दान वाली हों।" हे० (व्र० २, १३७-१७१)।

कार्तिकेयव्रत : षष्ठी तिथि; कार्तिकेय देवता; हे० (व्र० १, ६०५-६०६), व्रतकाल-विवेक (पृ० २४)।

कार्तिकेय-षष्ठी : मार्गशीर्ष शु० ६; तिथि; कार्तिकेय की स्वर्ण, रजत, मिट्टी या काष्ठ की प्रतिमा का पूजन; हे० (व्रत० १, ५९६-६००, भविष्योत्तरपुराण ४२।१-२९)।

कालभैरवाष्टमी : मार्ग० कृ० ८; तिथि; कालभैरव देवता; व्रतकोश (३१६-३१७); वर्षक्रियादीपक (१०६)।

कालरात्रिव्रत : आश्विन शु० ८; पक्षव्रत; सभी वर्णों के लिए; ७ या ३ या १ दिन के लिए, शारीरिक अवस्था के अनुसार उपवास; पहले गणेश, माताओं, स्कन्द एवं शिव की पूजा तब किसी कुण्ड में होम जो किसी ऐसे ब्राह्मण द्वारा किया जाता है जो शिव रूप में दीक्षित हुआ रहता है या जो अव्यंग (मग ब्राह्मण या पारसी?) कुलों का हो; आठ कुमारियों को खिलाया जाता है और आठ ब्राह्मणों को निमन्त्रित किया जाता है; हे० व्र० (२, ३२६-३३२, कालिकापुराण से उद्धरण)।

कालाष्टमीव्रत : भाद्रपद कृ० ८, मृगशीर्ष नक्षत्र के साथ; तिथिव्रत; एक वर्ष; वायुपुराण (१६। ३०-६६); कृत्यकल्पतरु (व्रत० २५८-२६३); हे० (व्रत० १, ८४९-८५३); इस दिन नन्दी या गणेश से रहित होकर शिवजी लिंगों में निवास करते हैं। कर्ता विभिन्न वस्तुओं से स्नान करता है, विभिन्न प्रकार के पुष्प चढ़ाता है तथा प्रत्येक मास में शंकर के विभिन्न नाम लेता है।

कालीव्रत : यह कालरात्रि व्रत ही है; कृत्यकल्पतरु (व्रतखण्ड २६३-२६९); और देखिए हेमाद्रि (व्रतखण्ड २, ३२६-३३२)।

किमिच्छकव्रत : मार्कण्डेयपुराण (१२२।८, १७, २०)। इसमें यह पूछा जाता है कि अतिथि क्या चाहता है और उसे वह दिया जाता है। करन्धम के पुत्र अविक्षित् की कथा है, उसकी माता ने यह व्रत लिया था और उसने अपनी माता के व्रत-सम्पादन के लिए वचन दिया था।

कीर्तिव्रत : संवत्सरव्रत; कर्ता अश्वत्थ वृक्ष, सूर्य एवं गंगा को प्रणाम करता है, एक स्थान पर इन्द्रिय-निग्रह करके ठहरता है, केवल एक बार मध्याह्न में खाता है; एक वर्ष तक ऐसा करता है; अन्त में एक ब्राह्मण एवं उसकी पत्नी को तीन गायों एवं एक स्वर्णवृष से सम्मानित करता है। इससे कर्ता को यश एवं भूमि मिलती है। कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४४२); हे० (व्रत० २, ८६३-८६४)। मत्स्य० (१०१। २३-२४)। यह तेरहवाँ षष्ठीव्रत है।

कीर्तिसंक्रान्तिव्रत : संक्रान्ति के दिन; पृथिवी पर सूर्य-चक्र खींचा जाता है, उस चित्र के भीतर सूर्य की प्रतिमा रखी जाती है और पूजित होती है; एक वर्ष तक; हे० (व्रत २, ७३८-७३९, स्कन्दपुराण से)। बड़ा यश, लम्बी आयु, राज्य एवं स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है।

कुक्कुटी-मर्कटीव्रत : भाद्र शु० ७; तिथि; एक वर्ष; प्रत्येक सप्तमी; सभी पक्षों में; अष्टमी को ब्राह्मण-भोजन, जिसमें तिल की रोटी, चावल एवं गुड़ होता है; एक वृत्त में खचित अम्बिका के साथ शिव की पूजा; भविष्योत्तरपुराण (३६।१-४३); तिथितत्त्व (कुक्कुटी-व्रत); कर्ता को जीवन भर एक डोरक (सोने या चाँदी के तारों एवं सूत के धागों का गुच्छा) अपने हाथ (बाहु) में बाँधना होता है। कृष्ण ने युधिष्ठिर से वह गाथा कही है जिसमें रानी एवं उसके पति के पुरोहित की पत्नी के क्रम से मर्कटी (बन्दरी) एवं कुक्कुटी (मुर्गी) बन जाने की बात आयी है, क्योंकि वे दोनों डोरक पहनना भूल गयी थीं; वर्षक्रियाकौ० (३१९); ग० प० (८५)।

कुन्दचतुर्थी : माघ शु० ४; तिथि; देवीपूजा; कुन्द के फूलों, शाकों, नमक, शक्कर, जीरक आदि का कुमारियों को दान; चतुर्थी पर उपवास; कृत्यकल्पतरु (२८३-२८४), हे० व्र० (१, ५२५-५२६); समयप्रकाश (२७); व्रतप्रकाश (२८४); इसे गौरीचतुर्थी भी कहा जाता है, मुख्य बात चतुर्थी पर उपवास है, दानों से सौभाग्य की प्राप्ति होती है।

कुबेरव्रत : तृतीया तिथि पर; कुबेर-पूजा; हे० (व्र०, १, ४७८-४७९); कालनिर्णय (१७६)।

कुमारषष्ठी : चैत्र शु० ६ को प्रारम्भ; तिथि; एक वर्ष; बारह हाथों से युक्त स्कन्द की मिट्टी-प्रतिमा की पूजा; हे० (व्र०, १।५८८-५९०); व्रतप्रकाश (६१)।

कुमारीपूजा : नवरात्र में। देखिए गत अध्याय ९ एवं समयमयूख (२२)।

कुम्भपर्व : यह बारह वर्ष में एक बार होता है। सूर्य एवं चन्द्र मकर राशि में होते हैं, बृहस्पति वृषभ में होता है, अमावास्या होती है। इसे कुम्भयोग कहते हैं। प्रयाग में इस काल का स्नान एक सहस्र अश्वमेधों, एक सौ वाजपेयों तथा पृथिवी की एक लाख प्रदक्षिणा करने से प्राप्त पुण्य के बराबर फलदायक होता है। यह तीन भागों में होता है--मकरसंक्रान्ति, अमावास्या (जो प्रमुख है और पूर्णकुम्भ कहलाती है) एवं वसन्तपञ्चमी। कुछ लोगों के मत से तीन दिन यों है--मकरसंक्रान्ति, पौष-पूर्णिमा एवं अमावास्या। कुछ अन्य कुम्भ-योग भी हैं, हरिद्वार में जब बृहस्पति कुम्भ राशि में होता है और सूर्य मेष राशि में प्रवेश करता है; नासिक में जब कि बृहस्पति सिंह राशि में, सूर्य एवं चन्द्र कर्कट में होते हैं तथा उज्जैन में जब कि सूर्य तुला में एवं बृहस्पति वृश्चिक में होता है।

कुम्भिकाव्रत : कार्तिक शुक्ल ११; तिथि; विष्णु-देवता; हे० व्रत० (१, ११०५-८); व्रतप्रकाश (२११)।

कूर्मद्वादशी : पौ० शु० १२; तिथि; नारायण; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३१७-३१९); हे० व्र० (१, १०२६-७); कृ० र० (४८२-४८४)। घृत से पूर्ण एक ताम्र पात्र में मन्दराचल के साथ कच्छप की प्रतिमा रखी जाती है और दान की जाती है।

कूष्माण्ड-दशमी : आश्विन शु० १० से आगे की चतुर्थी तक; तिथि; कूष्माण्ड-पुष्पों से शिव, दशरथ, लक्ष्मी की पूजा; चन्द्र को अर्घ्य; ग० प० (१२५-१२६; साम्ब पुराण से उद्धरण)।

कृच्छ्रव्रत : मार्ग० शुक्ल ४; तिथि; चार वर्ष; गणेश देवता; हे० व्र० (१, ५०१-५०४)। प्रथम वर्ष में व्यक्ति चतुर्थी पर एकभक्त होता है। दूसरे में नक्त रहता है, तीसरे में अयाचित और चौथे में वह चतुर्थी पर उपवास करता है।

कृच्छ्रव्रतानि : कतिपय कृच्छ्र, यथा—सोमायन तप्तकृच्छ्र, कृच्छ्रातिकृच्छ्र, सान्तपन, जो वास्तव में प्रायश्चित्त हैं, किन्तु व्रत कहे गये हैं (हे० व्रत० २, ९३१)। शूद्रों को इन्हें करने का अधिकार नहीं है। कुछ अन्य कृच्छ्र भी हैं।

कृत्तिकाव्रत : महाकार्तिकी पर या किसी कार्तिक-पूर्णिमा पर; कुरुक्षेत्र, प्रयाग, पुष्कर, नैमिष, मूलस्थान, गोकर्ण जैसे पवित्र स्थानों में या किसी नगर या ग्राम में स्नान; सोने, चाँदी, रत्नों, मक्खन, आटे से निर्मित ६ कृत्तिका-मूर्तियों की पूजा। मूर्तियों में चन्दन-लेप, अलक्तक, कुंकुम आदि से अलंकरण होता है और जाती पुष्पों से उनकी पूजा की जाती है। हे० व्र० (२, १९१-१९२)।

कृत्तिकास्नान : भरणी-नक्षत्र में उपवास; कृत्तिका में पवित्र जल एवं सभी पौधों से युक्त सोने या मिट्टी के घड़े के जल से पुरोहित द्वारा कर्ता एवं उसकी पत्नी का स्नपन; अग्नि, स्कन्द, चन्द्र, तलवार, वरुण की पूजा; हे० व्र० (२, ५९७-५९८, विष्णुधर्मोत्तर से उद्धरण)।

कृष्णचतुर्दशी : (१) फाल्गुन कृ० १४; तिथि; शिव देवता; शिव के १४ नामों का पाठ; १४ वर्षों तक; हे० व्र० (२, ६५-७१, कालोत्तर से उद्धरण); (२) केवल नारियों के लिए, कृ० १४ पर उपवास; शिव; एक वर्ष तक; हे० व्र० (२, १५४); (३) माघ कृ० १४ पर; बिल्वपत्रों से शिव-पूजा; हे० व्र० (२, १५६); (४) कृ० १४ पर, शिव-प्रतिमा के समक्ष गुग्गुल जलाना; हेमाद्रि (व्रतखण्ड, २, १५६, सौर० से उद्धरण)।

कृष्णजन्माष्टमी : देखिए गत अध्याय ७।

कृष्णदोलोत्सव : चैत्र शु० ११ पर; तिथि; कृष्ण की (लक्ष्मी के साथ) प्रतिमा को झूले पर रखना और रात्रि में जागर (जागरण) एवं दमनक (दौने) की पत्तियों से पूजा; स्मृतिकौ० (१०१)।

कृष्णद्वादशी : आश्विन कृ० १२ पर; उपवास एवं वासुदेव की पूजा; हे० व्र० (१, १०३६-३७); कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३२९-३३१)। देखिए वराहपुराण (४६।१-१५)।

कृष्णव्रत : एकादशी पर; तिथि; कृष्ण; कृत्य० (व्रत० ४४७); हे० व्रत० (१, ११६१)।

कृष्ण-षष्ठी : (१) मार्ग० कृ० ६; तिथि; एक वर्ष; प्रत्येक मास में विभिन्न नाम से सूर्य का पूजन; कृत्य० (व्र० १०१-१०३); हे० (व्र० १, ६२४-६२६); कृत्यरत्नाकर (४४७-४४८); (२) एक वर्ष तक दोनों पक्षों की प्रत्येक षष्ठी पर; नक्त; कार्तिकेय को अर्घ्य; भविष्य पुराण (ब्राह्मपर्व, ३९।१-१३) एवं अग्नि० (१८१।२)।

कृष्णाष्टमीव्रत : (१) मार्ग कृ० ८; तिथि; एक वर्ष; शिव देवता; कृत्य० (व्रत०, २४१-२४५); हे० व्र० (१, ८२३-८२६); विभिन्न मासों में शिव के विभिन्न नाम एवं विभिन्न भोजन-प्रयोग; (२) मार्ग० कृ० ८;

तिथि; एक वर्ष; शिव देवता; भविष्योत्तर० (५७।१-२२); कृत्य० (व्रत० २४५-२४८); हे० (व्रत० १, ८१६-८१७); (३) मार्ग० से कार्तिक तक शिव-पूजा; शिव के विविन्न बारह नामों के साथ; कृत्यकल्पतरु (व्रत० २४८-२५०); मत्स्य० (५६।१-११७); कृत्यरत्नाकर (४५०-४५२); व्रतरत्नाकर (३१७-३१९); (४) भाद्रपद कृष्ण ८ से श्रावण तक एक वर्ष; शिव देवता; कृत्यकल्पतरु (२५०-२५२); हे० व्रत० (१, ८२१-८२३); (५) ज्येष्ठ कृ० ८; तिथि; शिव-पूजा; कृत्य० (व्रत० २५२-२५४); हे० (व्रत० १, ८४०-८४१, यहाँ इसे तिन्दुकाष्टमी कहा गया है); (६) चैत्र कृष्ण ८; तिथि; एक वर्ष; कृष्ण देवता; हे० (व्रत० १, ८१९-८२१); सन्तान के लिए; (७) आश्विन या माघ या चैत्र या श्रावण की कृ० ८ से प्रारम्भ; मंगला देवी; एकभक्त, नक्त, अयाचित एवं उपवास, अष्टमी से एकादशी तक, उसी चक्र में दिनों के अनुसार; कृत्यकल्पतरु (व्रत० २३३-२३५); देवी के १७ नामों का जप।

कृष्णैकादशी : फाल्गुन कृ० ११; तिथि; चण्डी देवता; हे० (व्रत० १।१५०), व्रतार्क (२३२-३३)।

केदारगौरीव्रत : कार्तिक अमावास्या; तिथि; गौरी एवं केदार की पूजा; अहल्याकामधेनु (१०६२-१०६७)। अ० काम० के कथनानुसार यह दाक्षिणात्यों में अति प्रसिद्ध है; उसमें पद्म० का उद्धरण है।

कोकिलाव्रत : अधिकांशतः नारियों के लिए; आषाढ़-पूर्णिमा पर; सायंकाल में संकल्प; पूर्णिमान्त गणना के अनुसार आषाढ़ पूर्णिमा से एक मास तक; सोने या तिल की रोटी से बनी कोकिला के रूप में गौरी की पूजा; एक मास तक नक्त; मास के अन्त में ताम्रपत्र में प्रतिमा को रखकर उसका दान, जिसके साथ आँखों, पाँवों एवं चोंच के लिए रत्न रखे रहते हैं; हे० (व्रत० २, ७५५-५७); नि० सि० (१०८-१०९)। व्रतार्क (३२९-३३४) ने टिप्पणी की है कि गुर्जर देश में यह उस देश के आचार के अनुसार मलमास वाले आषाढ़ में मनाया जाता है, किन्तु कोई शास्त्रीय प्रमाण नहीं है। ऐसा कहा जाता है कि दक्ष के यज्ञ के नाश के उपरान्त शिव के शाप से गौरी कोकिला हो गयी थी। १६ उपचारों के साथ चाँदी के पैरों एवं मोती की आँखों वाली कोकिला की सोने की प्रतिमा की पूजा की जाती है। सौभाग्य एवं सम्पत्ति के लिए यह व्रत किया जाता है। तमिल पंचांग में यह ज्येष्ठ (मिथुन) १४ को दिखाया गया है।

कोटिहोम : मत्स्य० (९३।५-६) में आया है कि नवग्रह होम अमृत होम कहलाता है, क्योंकि उसमें १० सहस्र आहुतियाँ होती हैं, अन्य प्रकार हैं लक्ष-होम एवं कोटिहोम। अपशकुनों, निमित्तों या ग्रह-प्रभावों की शान्ति के लिए नवग्रह-मख किया जाता है। मत्स्य० ने इन तीनों का वर्णन किया है। देखिए नृसिंहपुराण (३५); बृ० सं० (४५।६, इसने दिव्य उत्पातों के लिए कोटिहोम की व्यवस्था दी है); हर्षचरित (५, जहाँ यह उस समय सम्पादित हुआ है, जब कि प्रभाकरवर्धन मृत्यु-शय्या पर था)।

कोटीश्वरीव्रत : भाद्र० शुक्ल ३; तिथि; चार वर्षों के लिए, उस दिन उपवास; दूध में एक लाख चावल के दाने या तिल डाले जाते हैं; पार्वती की एक प्रतिमा बनायी जाती है और पूजित होती है; इसे लक्षेश्वरी भी कहा जाता है; हे० (व्रत० १, ४५९-४६१), व्रतार्क (५२-५३); व्रतप्रकाश (१२४)।

कोजागर या कौमुदी-महोत्सव : आश्विन पूर्णिमा पर; तिथि; लक्ष्मी की तथा ऐरावत पर चढ़े इन्द्र की पूजा; राजमार्गों पर, मन्दिरों में, वाटिकाओं एवं गृहों में अधिक संख्या में घृत या तिल के दीपों को जलाया जाता है, पासा खेला जाता है; दूसरे दिन प्रातः स्नान एवं इन्द्र-पूजा, ब्राह्मणों को भरपेट भोजन; लिंगपुराण में आया है कि अर्धरात्रि में लक्ष्मी घूमती हैं और कहती हैं 'को जागर्ति, कौन जगता है?' उस दिन लोगों को नारियल के फल का पानी पीना चाहिए और अंकित अक्षों से पासा खेलना चाहिए; कालविवेक (४०३), वर्षक्रियाकौमुदी (४५३ ४५४); तिथितत्त्व (१३५ १३७); कृत्यतत्त्व (४४५ ४४७); नि० सि० (१९१); पु० चि० (३०२-३०३);

'को जागर्ति' से 'कोजागर' शब्द बना है। इसे कौमदी भी कहते हैं (स्कन्द०) तथा 'कोजागर' शब्द सम्भवतः कौमदी-जागर का छोटा रूप है। कौमुदी-महोत्सव के लिए देखिए कृत्यकल्पतरु (राजधर्म, पृ० १८२-१८३) एवं राजनीतिप्रकाश (४१९-४२१)।

कौमुदीव्रत : आश्विन शुक्ल ११ से उपवास एवं जागर के साथ प्रारम्भ; द्वादशी को कई प्रकार के कमलों के साथ वासुदेव-पूजा; वैष्णवों द्वारा त्रयोदशी को यात्रोत्सव; चतुर्दशी को उपवास तथा पूर्णिमा को वासुदेव की पूजा एवं 'ओं नमो वासुदेवाय' नामक मन्त्र का जप; हे० (व्रत० २, ७६०); कालविवेक (२२३); स्मृतिकौ० (३५५); अग्निपुराण (अध्याय २०७)। हेमाद्रि (व्रत०) के अनुसार यह कार्तिक में विष्णु के जागरण तक चलाया जा सकता है।

कौतुक : ९ वस्तुएँ इस नाम से कही जाती हैं, यथा—दूर्वा, यव (जौ) के अंकुर, वालक, आम की पत्तियाँ, हरिद्रा के दो प्रकार, सरसों, मोरपंख, साँप का केचुल; विवाह आदि में वे कंकण में बाँधी जाती हैं। हे० (व्रत० १, ४९); व्र० र० (१६)। रघुवंश (८।१) ने विवाह-कौतुक का उल्लेख किया है।

क्रमपूजा : कृ० र० (१४१-१४४) ने चैत्र से आरम्भ होने वाली तथा सभी मासों विशिष्ट तिथियों, नक्षत्रों में की जाने वाली दुर्गा-पूजा तथा उसके फल का उल्लेख किया है।

क्षीरधाराव्रत : दो मासों की प्रतिपदा एवं पंचमी तिथियों पर; केवल दूध पर रहा जाता है; अश्वमेध का फल मिलता है; लिंगपुराण (८३।६)।

क्षीरप्रतिपदा : वैशाख या कार्तिक की प्रतिपदा (परिवा, प्रथमा) पर; तिथि; एक वर्ष; ब्रह्मा देवता; कर्ता अपनी सामर्थ्य के अनुसार 'ब्रह्मा मुझसे प्रसन्न हों' नामक शब्दों के साथ दूध चढ़ाता है; हे० (व्रत० १। ३३६-३३८); कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३६-३८); पवित्र वचनों का पाठ (यथा वसिष्ठधर्मसूत्र २८।१०-१५ में उल्लिखित), और देखिए शंखस्मृति, अध्याय—५।

क्षेमव्रत : चतुर्दशी को यक्षों एवं राक्षसों की पूजा; तिथि; हे० (व्रत० २, १५४, विष्णुधर्मोत्तर० से एक श्लोक)।

खञ्जनदर्शन : देखिए गत अध्याय ७; तिथितत्त्व (पृ० १०३); नि० सि० (१९०); व० क्रि० कौ० (४५०)।

खड्गधाराव्रत : यह असिधाराव्रत ही है। देखिए विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।२१८।२३-२५)।

गंगासप्तमी : वै० शु० ७; गंगा-पूजा; स्मृतिकौ० (११२); व्र० र० (२३७)। जह्नुऋषि ने क्रोध में गंगा को पी लिया और इसी दिन अपने दाहिने कर्ण से निकलने दिया।

गजच्छाया : आश्विन कृ० १३, मघा एवं हस्त नक्षत्र में सूर्य का योग। यह श्राद्ध का काल है। याज्ञ० (१।२१८) एवं मनु (३।२७४)। शातातप (हे०, चतुर्वर्गचिन्तामणि, काल, ३८६) का कथन है कि सूर्यग्रहण में भी गजच्छाया होता है और उस काल में श्राद्ध करने से अक्षय फल की प्राप्ति होती है।

गजराजनाविधि : हाथियों के समक्ष दीप की आरती करना। आश्विन पूर्णिमा को अपराह्ण में; हे० (व्रत० २, २२६-२२७, गोपथ ब्राह्मण से उद्धरण)।

गजनीपूजाविधि : आश्विन की पूर्णिमा पर; इसे करने से समृद्धि एवं धन मिलता है। हेमाद्रि (व्रत २, २२२-२२५)।

गणगौरीव्रत : चैत्र शु० ३; तिथि; विशेषतः सधवा नारियों द्वारा गौरी-पूजन; कुछ लोग इसे गिरिगौरी-व्रत भी कहते हैं; अ० कामधेनु (२५७); मध्य देश में अति प्रचलित।

गणपतिचतुर्थी : चतुर्थी पर; दो मासों के लिए; दिन में उपवास, ब्राह्मणों को तिल से बना भोजन देना और स्वयं वही रात्रि में खाना; हे० (व्रत० १, ५१९-५२०)।

गणेशचतुर्थी : देखिए गत अध्याय ८।

गणेशचतुर्थीव्रत : भाद्र० शु० ४ से प्रारम्भ; तिथि; एक वर्ष तक; गणेश-पूजा; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ८४-८७); हे० व्रत (१, ५१०-५१२); (२) हे० (व्रत १, ५१०), चतुर्थी पर; गणेश-पूजा; विधि—वैश्वानर-प्रतिपदाव्रत की भाँति।

गन्धव्रत : पूर्णिमा के दिन आरम्भ; एक वर्ष के लिए; पूर्णिमा को उपवास; वर्ष के अन्त में सुगंधित पदार्थों के साथ एक प्रतिमा किसी ब्राह्मण को देना। हेमाद्रि (व्रत २, २४१)।

गन्धाष्टक : आठ प्रकार की गन्धों का मिश्रण, जो शक्ति, विष्णु, शिव एवं गणेश को अर्पित किया जाता है। शक्ति के लिए ये हैं—चन्दन, कर्पूर, कुंकुम, रोचना, जटामांसी, चोर, कपि (ये दोनों घास के कोई प्रकार हैं) एवं अगल्लोचम। अहल्याकामधेनु (९८)।

गलन्तिकाव्रत : गर्मी की ऋतु में पवित्र जल से पूर्ण घड़े से शिव-प्रतिमा पर जलधारा गिराना; ब्रह्मपद की प्राप्ति होती है; हेमाद्रि (व्रत० २, ८६१)।

गायत्रीव्रत : शु० चतुर्दशी पर; सूर्य-पूजा; गायत्री मन्त्र (ऋ० ३।६२।१०) का १००, १००० या १०,००० बार जप; भाँति-भाँति के रोग दूर होते हैं; हे० (व्रत २, ६२-६३)।

गिरितनयाव्रत : भाद्र० या वै० या मार्ग० शु० ३ को प्रारम्भ; एक वर्ष; गौरी या ललिता की पूजा; बारह मासों में विभिन्न पुष्प एवं गौरी के विभिन्न नाम; मत्स्य० (६२); पद्म० (५।२२।६१-१०४); हे० (व्रत० १, ४२२-४२६)।

गुडतृतीया : भाद्र शु० ३; तिथि; पार्वती; गुड़ के साथ पूप या पायस का अर्पण; हे० (व्रत० १, ४९७-९८); व्रतप्रकाश (१२५)।

गुण्डिचायात्रा : आषाढ़ शु० २, पुष्य नक्षत्र या उसके बिना भी; ग० प० (१८६)। (जगन्नाथपुरी में प्रचलित है।)

गुणावाप्तिव्रत : फाल्गुन शु० १ पर प्रारम्भ; एक वर्ष; शिव, आदित्य, अग्नि, वरुण एवं चन्द्र (शिव के स्वरूपों में) की प्रतिमाओं की पूजा; चार दिनों तक; प्रथम दो भयानक स्वरूप होते हैं तथा अन्य दो अपेक्षाकृत मध्यम, इन दिनों विभिन्न वस्तुओं के साथ स्नान; गेहूँ, तिल एवं जौ के साथ चार दिनों तक होम; दूध पर रहना; विष्णुधर्मोत्तर० ३।१३७।१-१३; हे० (व्रत० २, ४९९-५००)।

गुरुव्रत : अनुराधा नक्षत्र वाले मंगल को आरम्भ; स्वर्णपात्र में बृहस्पति की स्वर्णप्रतिमा की पूजा; सात नक्त किये जाते हैं; हेमाद्रि (व्रत० २, ५७९)।

गुह्यकद्वादशी : द्वादशी को; उपवास; अक्षतों, पिसे हुए तिल के गुह्यकों (यक्षों) की पूजा एवं एक ब्राह्मण को स्वर्ण-दान; सभी पापों को दूर करता है; हे० (व्रत० १, १२०४)।

गृहपञ्चमी : पंचमी पर; ब्रह्मा-पूजन; चक्की, ऊखल, मूसल, सूप एवं बटलोई एवं एक जल-पात्र का दान; हे० (व्रत० १, ५७४); कृत्यरत्नाकर (९८, इसने चुल्ली अर्थात् चूल्हे की बात भी कही है)।

गृहदेवी-पूजा : देखिए नीलमतपुराण (पृ० ७९, श्लोक ९६१-६२)। वर्ष के आरम्भ में अपने घर में ही पूजा।

गो-उपचार : युगादि एवं युगान्त्य, षडशीति-मुख, उत्तरायण, दक्षिणायन (विषुव के प्रथम दिन, जब कि रात एवं दिन बराबर होते हैं), सभी संक्रान्तियों, पूर्णिमा, मास की १४, ५ एवं ९ तिथियों पर, सूर्य एवं चन्द्र-ग्रहणों पर एक गाय की पूजा की जाती है; कृत्यरत्नाकर (४३३३-४३४); स्मृतिकौ० (२७५-२७६)।

गोत्रिरात्रव्रत : (१) कार्तिक कृ० १३ पर; तीन दिनों के लिए; गोविन्द देवता; गोशाला या घर में वेदी पर एक मण्डल में कृष्ण-प्रतिमा रखी जाती है जिसके दोनों ओर चार-चार रानियाँ रहती हैं; चौथे दिन होम; गायों को अर्घ्य एवं पूजा; हे० (व्रत० २, २८८-२९३)। इससे सन्तान-वृद्धि होती है। (२) भाद्र शु० १२ या का० शु० १३; तीन दिनों तक उपवास; लक्ष्मी, नारायण एवं कामधेनु की पूजा; सौभाग्य एवं धन के लिए; हे० (व्रत० २, २९३-३०३); व्रतप्रकाश (१५८-१६०); (३) भाद्र० शु० १३; तीन दिन; कामधेनु एवं लक्ष्मी-नारायण की पूजा; हे० (व्रत० २, ३०३-३०८), व्रतप्रकाश (१६१)।

गोधूम : इसकी उत्पत्ति—कृतयुग में नवमी को जनार्दन (विष्णु), दुर्गा, कुबेर, वरुण एवं वनस्पति द्वारा; गेहूँ से बने भोजन से इन पाँचों की पूजा; कृत्यरत्नाकर (२८५-२८६)।

गोपद-त्रिरात्र या गोष्पद-त्रिरात्र : भाद्र० शु० ३ या ४ या कार्तिक में प्रारम्भ, तीन दिनों तक गाय एवं लक्ष्मीनारायण की पूजा; सूर्योदय से व्रत, दिन भर उपवास; दही एवं घी से गायों के सींग एवं पूंछ का लेप; बिना पकाया अन्न खाना, तैल एवं नमक का त्याग; हे० (व्रत० २, ३२३-३२६)।

गोपद्मव्रत : आषाढ़ की पूर्णिमा या ८, ११ या १२ पर प्रारम्भ; चार मासों तक, कार्तिक की उस तिथि को अन्त जिस तिथि को आषाढ़ में प्रारम्भ किया गया था; सब के लिए, किन्तु विशेषतः नवविवाहित युवतियों के लिए; घर के सामने या गोशाला में या विष्णु या शिव के मन्दिर में या तुलसी के पौधे के पास; प्रति दिन ३३ आकृतियाँ खींची जाती हैं; ५ वर्षों तक; विष्णु देवता; इसके उपरान्त उद्यापन; अन्त में गोदान; स्मृतिकौ० (४१८-४२४); व्र० र० (६०४-६०८)।

गोप-पूजा : स्मृतिकौस्तुभ (३८६)।

गोपालनवमी : नवमी पर; समुद्र में गिरने वाली नदी में स्नान; कृष्ण-पूजा; हे० (व्रत० १, ९३९-९४१); स्मृतिकौस्तुभ (४१८-४२३)।

गोपाष्टमी : कार्तिक शुक्ल ८ पर; गायों की पूजा; निर्णयामृत (७७, कूर्मपुराण से उद्धरण)।

गो-पूजा : इसके मन्त्र हेमाद्रि (व्रत० १, ५९३-५९४ एवं २, ३२४) में पाये जाते हैं।

गोमयादिसप्तमी : चै० शु० सप्तमी पर; तिथि; एक वर्ष; सूर्य; प्रत्येक मास में सूर्य के विभिन्न नामों से पूजा; कर्ता केवल गोमय, यावक या गिरी पत्तियों या दूध आदि को खाता है; कृत्यकल्पतरु (व्रत० १३५-१३६); हे० (व्रत० १, ७२४-७२५) एवं भविष्यपुराण (ब्राह्मपर्व २०९।१-१४)।

गोयुग्मव्रत : रोहिणी या मृगशीर्ष नक्षत्र पर; एक बैल या गाय सजायी जाती है और शिव एवं उमा की पूजा के उपरान्त दान की जाती है; कृत्य० (व्रत० ४१०); हे० (व्रत० २, ६९४-६९५)। कर्ता को पत्नी एवं पुत्र का वियोग नहीं होता है।

गोरत्नव्रत : कृत्य० (४१०-४११); हे० (व्रत० २।६९४-९५)। हेमाद्रि एवं कृत्यकल्पतरु दोनों ने एक ही प्रकार के दो श्लोक उद्धृत किये हैं; किन्तु हेमाद्रि ने उन्हें दो व्रतों, यथा—गोयुग्म एवं गोरत्न के लिए प्रयुक्त किया है किन्तु यह भी कहा है कि यह श्लोक गोयुग्म व्रत के लिए भी प्रयुक्त हो सकता है।

गोवत्सद्वादशी : (१) कार्तिक कृ० की द्वादशी पर; एक वर्ष; हरि; प्रत्येक मास में हरि के विभिन्न नाम; पुत्र के लिए सम्पादित होता है; का० कृ० १२ को गोवत्स कहा जाता है (वर्षकृत्यदीपक द्वारा);

हे० (व्रत० १, १०८३-१०८४); वर्षक्रियादीपक (२७८-२७९); (२) दूसरा प्रकार, हे० (व्रत० १, १०८० -१०९०)।

गोवर्धनपूजा : देखिए गत अध्याय १० एवं हरिवंश (२।१७)।

गोविन्दद्वादशी : फाल्गुन शु० १२ पर; एक वर्ष; प्रत्येक मास की द्वादशी पर गायों को खिलाया जाता है और दूध, दही या घी से मिश्रित भोजन मिट्टी के पात्र में किया जाता है, क्षार एवं लवण का प्रयोग नहीं किया जाता; हे० (व्रत० १, १०९६-९७); कालविवेक (४६८, इसके अनुसार द्वादशी को पुष्य नक्षत्र होना चाहिए); गदाधरपद्धति (कालसार, ६०७); वर्षक्रियाकौमुदी (५१४); तिथितत्त्व (११७)।

गोविन्दप्रबोध : कार्तिक शु० एकादशी; कहीं-कहीं तिथि द्वादशी कही गयी है; हे० (व्रत० २, ८१४-८१७) ने पौराणिक मन्त्रों एवं ऋ० १।२२।१७ के मन्त्र का उल्लेख किया है।

गोविन्दशयनव्रत : आषाढ़ शु० ११ पर; एक शय्या पर विष्णुप्रतिमा रखी जाती है; चार मासों तक कुछ नियमों का पालन किया जाता है; इस दिन चातुर्मास्य व्रत किये जाते हैं; इसके उपरान्त चार मासों तक सभी शुभ कृत्य, यथा—उपनयन, विवाह, चूड़ा, गृह-प्रवेश आदि बन्द कर दिये जाते हैं। देखिए अध्याय ५ एवं हेमाद्रि (व्रत० २, ८०१-८१३)।

गोष्पदत्रिरात्र : देखिए ऊपर 'गोपदत्रिरात्र'।

गोष्ठाष्टमी : का० शुक्ल ८; गायों की पूजा; उन्हें घास देना, उनकी प्रदक्षिणा करना तथा उनका अनुगमन करना; तिथितत्त्व (५५); वर्षक्रियाकौमुदी (४७८-४७९); ग० प० (११५)।

गौरीगणेशचतुर्थी : किसी चतुर्थी पर; गौरी एवं गणेश की पूजा; सौभाग्य एवं सफलता की प्राप्ति; गदाधरपद्धति (कालसार ७३)।

गौरीचतुर्थी : माघ शु० चतुर्थी पर; सभी द्वारा, विशेषतः नारियों द्वारा कुन्द पुष्पों से गौरी की पूजा की जाती है। उस दिन विद्वान् ब्राह्मणों, नारियों एवं विधवाओं का सम्मान किया जाता है। हेमाद्रि (व्रत० १, ५३१); कालनिर्णय (१८४); व्रतरत्नाकर (१७५)।

गौरीतपोव्रत : केवल नारियों के लिए; मार्गशीर्ष अमावास्या पर; किसी शिवालय में शिव एवं पार्वती की पूजा मध्याह्न में की जाती है; १६ वर्षों के लिए; मार्ग० पूर्णिमा पर उद्यापन; व्रतार्क (३४४-३४६)। इसे महाव्रत भी कहा जाता है।

गौरी-तृतीयाव्रत : चैत्र शु०, भाद्र शु० या माघ शु० तृतीया पर; गौरी एवं शिव की पूजा; गौरी के आठ नाम ये हैं—पार्वती, ललिता, गौरी, गायत्री, शंकरी, शिवा, उमा, सती। समयमयूख (३६), पुरुषार्थ-चिन्तामणि (८५); इसे केवल दक्षिण में किया जाता है।

गौरीविवाह : चैत्र की तृतीया, चतुर्थी या पञ्चमी को; गौरी एवं शिव की प्रतिमाएँ सोने, चाँदी या महानील की बनायी जाती हैं। ऐसा केवल धनिक लोग ही कर सकते हैं, किन्तु मध्यम वर्ग या धनहीन लोग चन्दन, अर्क पौधे या अशोक या मधूक की प्रतिमाएँ बना सकते हैं। दोनों का विवाह कराया जाता है। कृत्यरत्नाकर (१०८-११०)।

गौरीव्रत : (१) आषाढ़ से चार मास; दूध, घी एवं गन्ना का सेवन वर्जित है, इन वस्तुओं से पूर्ण पात्रों का दान 'गौरी मुझसे प्रसन्न रहें' के साथ किया जाता है; कृत्यरत्नाकर (२१९); (२) दूसरा प्रकार देखिए कृत्यरत्नाकर (८५); कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४४०); (३) नारियों के लिए; चैत्र शुक्ल या कृष्ण ३ से, एक वर्ष तक; गौरी के विभिन्न नाम (कुल २४) प्रत्येक तृतीया पर; भोजन भी विविध प्रकार के; हेमाद्रि

(व्रत १, ४५०-४५२); मत्स्य० (१०१-१०८); व्रतप्रकाश (५६); (४) नारियों के लिए तृतीया पर; भविष्य-पुराण (१।२१।१); उस दिन उपवास किया जाता है और नमक का परित्याग किया जाता है; वैशाख, भाद्र०, माघ में विशेषतः पवित्र; जीवन भर के लिए; धर्मसिन्धु (१३); (५) ज्येष्ठ की चतुर्थी पर; उमा की पूजा, क्योंकि वे उसी दिन उत्पन्न हुई थीं, पुरुषार्थचिन्तामणि (९१)।

ग्रहयाग : शान्ति के प्रकरण में देखिए नवग्रहयोग, अध्याय २१; हेमाद्रि (व्रत० २, ५९०-५९२) ने तिथियों एवं नक्षत्रों के साथ ग्रहों के विभिन्न योगों का संग्रह किया है और विभिन्न ग्रहों एवं देवों के सम्मान में यागों की व्यवस्था दी है, जिनके द्वारा थोड़ा व्यय करके अधिक पुण्य लूटा जाता है। उदाहरणार्थ; जब किसी रविवार को पुष्य नक्षत्र के योग में षष्ठी पड़ती है, तब स्कन्दयोग किया जाता है, जिससे सभी आकांक्षाओं की पूर्ति होती है। हेमाद्रि (व्रत०) ने लगभग १२ यागों का उल्लेख किया है। देखिए स्मृतिकौस्तुभ (४५५-४७९)।

घटस्थापनविधि : देखिए गत अध्याय ९, दुर्गापूजा; व्रतरत्नाकर (६२-६७)।

घृतकम्बल : माघ शु० १४ को उपवास तथा १५ को शिवलिंग पर वेदिका तक कम्बल के समान घृत का लेप तथा काले बैलों के एक जोड़े का दान। कर्ता अनन्त काल तक शिवलोक में निवास करता है। हेमाद्रि (व्रत० २, २३९-२४०), व्रतार्क (३९०)। यह भी एक शान्ति है, जहाँ कर्ता को कम्बल से ढँका जाता है और उस पर घृत छिड़का जाता है। देखिए आथर्वण-परिशिष्ट ३३ (पृ० २०४-२१२) एवं राजनीतिप्रकाश (४५९-४६४)।

घृतभाजनव्रत : पूर्णिमा के दिन; शिवलिंगपूजा; घृत एवं मधु के साथ ब्राह्मणों को रात्रि में भोजन; एक प्रस्थ (¼ आढक) तिल या दो प्रस्थ कुटा चावल; हेमाद्रि (व्रत० २, २४०-२४१)।

घृतस्नापनविधि : विषुव पर, ग्रहण या किन्हीं पवित्र दिनों में या पौष में; शिव-पूजा; रात दिन शिवलिंग पर घृत की धारा; संगीत एवं नृत्य के साथ जागरण; हेमाद्रि (व्रत० १, ९११-९१२)।

घृतावेक्षणविधि : प्रकीर्णक। हेमाद्रि (व्रत० २, १९२-१९३, गोपथब्राह्मण से उद्धरण)। यह राजा की विजय के लिए एक शान्ति कर्म है। देखिए आथर्वण-परिशिष्ट संख्या ८।

घोटकपञ्चमी : आश्विन कृ० ५ पर; तिथि; यह राजाओं के लिए व्यवस्थित है; यह अश्वों के सुन्दर स्वास्थ्य की वृद्धि के लिए है; गदाधरपद्धति (कालसार, ५०, देवीपुराण से उद्धरण)।

चक्षुर्व्रत : यह 'नेत्रव्रत' ही है; चैत्र शु० २ पर; अश्विनीकुमारों (दिव्य चिकित्सक जो सूर्य एवं चन्द्र के अनुरूप कहे गये हैं) की पूजा; एक या बारह वर्षों के लिए; उस दिन कर्ता केवल दही या घी खाता है; ऐसा करने से कर्ता को अच्छी आँखें प्राप्त होती हैं और यदि वह १२ वर्षों तक इसे करे तो राजा हो जाता है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।१३०।१-७); हेमाद्रि (व्रत० १, ३९२-३९३, भविष्योत्तर० से उद्धरण)।

चण्डिकाव्रत : दोनों पक्षों की अष्टमी एवं नवमी तिथियों पर; तिथि; एक वर्ष; चण्डिका-पूजा; उपवास; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३९८); हेमाद्रि (व्रत० २, ५१०, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण)।

चण्डीपाठ : देखिए दुर्गोत्सव, गत अध्याय ९।

चतुर्थीव्रत : देखिए कृत्यकल्पतरु (व्रत० ७७-८७); हे० (व्रत० १, ५०१-५३६); कालनिर्णय (१७७-१८६); वर्षक्रियाकौमुदी (३०-३४); पु० चि० (९१-९५); व्रतरत्नाकर (१२०-१९१)। गणेशचौथ, गौरीचौथ, नागचौथ, कुन्दचौथ एवं बहुलाचौथ को छोड़कर पंचमी से युक्त तिथि को स्वीकार किया जाता है; चतुर्थी (चौथ) के लगभग २५ व्रत होते हैं; यम का कथन है कि यदि शनिवार को भरणी-नक्षत्र में चौथ पड़े तो स्नान एवं दोनों से अक्षय फल प्राप्त होते हैं (हेमाद्रि, चतुर्वर्गचिन्तामणि, काल, ६२०); अग्नि० (१७९) ने भी कुछ का

उल्लेख किया है। चतुर्थी के तीन प्रकार हैं---'शिवा, शान्ता एवं सुखा।' देखिए भविष्य० (१।३१।१-१०); वे क्रम से भाद्रपद शुक्ल, माघ शुक्ल एवं मंगलवार वाली चतुर्थी में पड़ती हैं; देखिए हेमाद्रि (व्रत० १, ५१४); वर्षक्रियाकौमुदी (३१)।

चतुर्दशीजागरण-व्रत : कार्तिक शु० १४ पर; तिथि; ५ या १२ वर्षों के लिए; लगभग १०० की संख्या तक पहुँचने वाले घड़ों में रखे घी से लिंग को नहलाकर अन्य उपचारों एवं जागर से पूजा करना; कर्ता को दिव्य आनन्द एवं मोक्ष प्राप्त होता है; हे० (व्रत० २, १४९-१५१)।

चतुर्दशीव्रत : देखिए अग्नि० (१९२); कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३७०-३७८); हे० (व्रत०, २ २७-१५९); कालनिर्णय (२७८-२८०); वर्षक्रियाकौमुदी (७६-७७); पु० चि० (२३१-२५१)। निबन्धों ने लगभग ३० चतुर्दशी-व्रतों की चर्चा की है। कृत्यकल्पतरु (व्रत०) ने केवल एक की चर्चा की है, यथा---शिव-चतुर्दशी।

चतुर्दश्यष्टमी : दोनों पक्षों की चतुर्दशी एवं अष्टमी पर; केवल नक्त विधि से भोजन करना; एक वर्ष; शिव-पूजा; लिंगपुराण (८३-४); हेमाद्रि (व्रत० २, १५८-१५९)।

चतुर्मूर्तिव्रत : विष्णुधर्मोत्तरपुराण (अध्याय १३७-१५१) में १५ के नाम आये हैं, जिनमें कुछ का वर्णन हेमाद्रि (व्रत० १, ५०५) में है।

चतुर्युगव्रत : चैत्र के प्रथम चार दिनों तथा आगे आने वाले महीनों में कृत, त्रेता, द्वापर एवं तिष्य (कलि) नामक ४ युगों की पूजा; एक वर्ष; केवल दूध पर ही निर्भरता; हे० (व्रत० २, ५०३-५०४); विष्णुधर्मोत्तर० (३, १४४।१-७)।

चतुःसम : देखिए गत अध्याय २ (गन्ध); हेमाद्रि (व्रत० १, ४३-४४), व्रतराज (१६)।

चन्द्रदर्शन-निषेध : देखिए गणेश-चतुर्थी, गत अध्याय ८।

चन्द्रनक्षत्रव्रत : चैत्र पूर्णिमा, जिस दिन सोमवार हो; वार-व्रत; चन्द्र-पूजा; प्रारम्भ करने के सातवें दिन काँसे के पात्र में चन्द्र की रजत-प्रतिमा को रखना, पलाश की २८ या १०८ समिधाओं के साथ घी एवं तिल से चन्द्र के नाम पर होम; हेमाद्रि (व्रत० २, ५५७-५५८)।

चन्द्ररोहिणी-शयन : देखिए 'रोहिणीचन्द्र-शयन'; हेमाद्रि (व्रत० २, १७५-१७९)।

चन्द्र-व्रत : (१) अमावास्या पर; एक वर्ष; दो कमलों पर सूर्य एवं चन्द्र की पूजा; हे० (व्रत० २, २५६, विष्णुधर्मोत्तर० ३।१९०।१-५ से उद्धरण); (२) मार्गशीर्ष पूर्णिमा से प्रारम्भ; एक वर्ष; प्रति पूर्णिमा पर उपवास; चन्द्र पूजा; हेमाद्रि (व्रत० २, २३६, विष्णुधर्मोत्तर० ३।१९४।१-२); (३) पूर्णिमा पर; १५ वर्षों के लिए; उस दिन नक्त-भोजन; १००० अश्वमेधों एवं १०० राजसूयों के बराबर पुण्य; हे० व्रत० (२, २४४-२४५); (४) चान्द्रायणव्रत का सम्पादन तथा चन्द्र की स्वर्ण-प्रतिमा का दान; हे० व्र० (२, ८८४, पद्म०, मत्स्य० १०१।७५); कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४५०, मत्स्य० से उद्धरण)।

चन्द्रषष्ठी : भाद्र कृ० ६; कुछ लोगों के मतानुसार यह कपिलाषष्ठी है। नि० सि० (१५३); निर्णयामृत (५०); अहल्याकामधेनु (४११) का कथन है कि इसे कपिलाषष्ठी कहना भूल है।

चन्द्रार्घ्यदान : जब किसी प्रतिपदा को (विशेषतः कार्तिक मास में) दूज के चन्द्र के साथ रोहिणी हो तो चन्द्रमा को अर्घ्य का दान पुण्यकारक होता है। ग० प० (कालसार, ६०२, अग्निपुराण से उद्धरण)।

चम्पकचतुर्दशी : शुक्ल १४, जब सूर्य वृषभ राशि में होता है; शिव-पूजा; कृत्यरत्नाकर (१९२)।

चम्पकद्वादशी : ज्येष्ठ शु० १२; तिथि; चम्पा के फूलों से गोविन्द-पूजा; गदाधरपद्धति (कालसार प्रकरण १४७)।

चम्पाषष्ठी : भाद्र० शु० ६; जब षष्ठी वैधृतियोग, मंगलवार एवं विशाखा-नक्षत्र से संयुक्त रहती है तो उसे चम्पा कहते हैं; उपवास; सूर्य-देवता; हे० व्र० (१, ५९०-५९६); नि० सि०(२०९); स्मृतिकौ०(२२१-२२२); व्रतराज (२३३-२३६) ने रविवार एवं वैधृतियोग से युक्त मार्गशीर्ष शु० ६ की तिथि भी दी है। स्मृति-कौस्तुभ (४३०) एवं अहल्याकामधेनु ने दोनों तिथियाँ दी हैं और कहा है कि मदनरत्न के मत से यह मार्गशीर्ष शुक्ल ६ को होती है, जब कि रविवार को चन्द्र शतभिषा नक्षत्र में होता है। वैधृति, मंगल एवं विशाखा के साथ यह ३० वर्षों में एक बार होती है। निबंधों के अनुसार उस तिथि पर विश्वेश्वर या किसी शिवलिंग का दर्शन करना चाहिए। नि० सि० (२०९) का कथन है कि महाराष्ट्र में मार्गशीर्ष शु० ६ को चम्पाषष्ठी कहा जाता है।

चान्द्रायणव्रत : पूर्णिमा से आरम्भ होता है; एक मास; तर्पण; प्रतिदिन होम; हे० (व्रत० २, ७८७-७८९; देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड ४, पृ० १३४-१३८, जहाँ यह प्रायश्चित्त के लिए उल्लिखित है।

चातुर्मास्यव्रत : देखिए गत अध्याय ६; समयमयूख (१५०-१५२); बहुत-से नियम, यथा—तैल एवं तीक्ष्ण वस्तुओं, ताम्बूल, गुड़ आदि का त्याग; मांस, मधु एवं मद्य आदि का सेवन वर्जित। हे० व्र० (२, ८००-८६१, यहाँ कुछ ऐसे व्रत भी उल्लिखित हैं जो वास्तव में चातुर्मास्य नहीं हैं)।

चान्द्रव्रत : मूल नक्षत्र के साथ मार्गशीर्ष की शु० प्रथमा को; चन्द्र-प्रतिमा के विभिन्न अंगों पर नक्षत्रों का न्यास; अनुशासन० ११०।

चित्रभानुपदद्वयव्रत : उत्तरायण के आरम्भ से अन्त तक अयनव्रत; सूर्य-पूजा; भविष्य० (ब्राह्मपर्व, १०७।७-३५); कृत्यकल्पतरु (व्रतखण्ड, ४३१-४३२)।

चित्रभानुव्रत : शुक्ल सप्तमी पर; तिथि; सुगन्धित लाल फूलों एवं घृतधारा से सूर्य-पूजा; स्वास्थ्य लाभ; हे० व्र० (१, ७८७)।

चूड़ामणि : कालविवेक (५२३, स्मृतिसमुच्चय से); का० नि० (३५१); ति० त० (१५४); स्मृति-कौ० (७०)।

चैत्र : कृत्य के लिए देखिए कृ० र० (८३-१४४); कृ० त० (४६२-४७४); नि० सि० (८१-९०); विशिष्ट व्रतों के नामों का उल्लेख है। चै० शु० १, वर्षारम्भ के लिए; नवरात्र; दमनक पौधे की पूजा (हेमाद्रि, का० ६१७); शु० १ को कल्पादि (स्मृतिकौ० ८७); जलदान, चार मासों के लिए (कृ० र० ८५), श्वपच अर्थात् चाण्डाल को छूना और फिर स्नान करना। (नैयतकालिक काण्ड, ४२३); समयप्रदीप (५०); शु० २ को उमा, शिव एवं अग्नि की पूजा; शु० ३ मन्वादि-तिथि एवं मत्स्य-जयन्ती (नि० सि० ८०-८१); शु० ४ को लड्डुओं से पूजा (पु० चि० ९१); शु० ५ को लक्ष्मी-पूजा (कृ० र० १२७, स्मृतिकौ० ९२); उसी दिन नाग-पूजा भी (स्मृति-कौ० ९३); शु० ६ को स्कन्दषष्ठी; शु० ७ को दमनक (दौना) के साथ सूर्य-पूजा (स्मृतिकौ० ९४); शु० ८ को भवानी-यात्रा (स्मृतिकौ० ९४), ब्रह्मपुत्र में स्नान (कृ० र० १२६); शु० ९ को भद्रकाली-पूजा (कृ० र० १२७); शु० १० को दमनक के साथ धर्मराजपूजा (स्मृतिकौ० १०१); शु० ११ को कृष्ण का दोलोत्सव एवं दमनक से ऋषियों की पूजा (कृत्यसार ८६, स्मृतिकौ० १०१); नारियाँ कृष्ण की पत्नी रुक्मिणी की पूजा करती हैं और सन्ध्या को सभी दिशाओं में पञ्चगव्य छिड़कती हैं; कृ० र० (१२९), शु० १२ को दमनकोत्सव (स्मृतिकौ० १०१-१०३); शु० १३ को चम्पक पुष्पों या चन्दन-लेप से कामदेव-पूजा (हेमाद्रि, काल०, ६३७; कालविवेक ४६९); शु० १४ को नृसिंहदोलोत्सव तथा दमनक से एकवीर, भैरव एवं शिव की पूजा (स्मृतिकौ० १०४); पूर्णिमा मन्वादि, हनुमज्जयन्ती एवं वैशाखस्नानारम्भ (स्मृतिकौ० १०६); कृष्णपक्ष १३, वारुणीयोग, (कृ० त० ४६३; नि० सि० ८९;

स्मृतिकौ० १०७)। जब चैत्र कृष्ण १३ शनिवार को शतभिषा नक्षत्र में हो तो उसे महावारुणी कहा जाता है, नि० सि० (८९); कृत्यसार-समुच्चय (२-३)।

चैत्रावली : देखिए ऊपर 'काममहोत्सव।'

चैत्री पूर्णिमा : देखिए एपि० इण्डिका (जिल्द १, पृ० २७१) में सारंगधर की चिन्त्र-प्रशस्ति, जिसमें व्यापारियों द्वारा किये जाने वाले पवित्र की व्यवस्था का उल्लेख है।

छन्दोदेवपूजा : फाल्गुन पूर्णिमा, अर्थात् पूर्णिमान्त गणना से चैत्र कृष्ण की एकादशी पर; स्वादिष्ठ भोज्य पदार्थों, सुगन्धित कुंकुम आदि तथा जल में रहने वाले जीवों के मांस से छन्दोदेव की पूजा; निर्णयामृत (५५)।

जन्मतिथिकृत्य : जन्म-तिथि पर प्रति वर्ष गुरु, देवों, अग्नि, ब्राह्मणों, माता-पिता, प्रजापति एवं जन्म-नक्षत्र की पूजा करनी चाहिए; अश्वत्थामा, बलि, व्यास, हनूमान, विभीषण, कृप, परशुराम, मार्कण्डेय का पूजन करना चाहिए (क्योंकि ये सभी चिरंजीवी हैं) और मार्कण्डेय से यह प्रार्थना करनी चाहिए—'मार्कण्डेय महाभाग सप्तकल्पान्तजीवन। चिरजीवी यथा त्वं भो भविष्यामि तथा मुने॥'; उस दिन मिठाई खानी चाहिए; मांस का प्रयोग नहीं करना चाहिए, ब्रह्मचर्य व्रत करना चाहिए तथा तिलयुक्त जल ग्रहण करना चाहिए। कृत्यकल्पतरु (नैयतकालिक काण्ड, ४४७); समयप्रदीप (५०); कृ० र० (५४०-५४१); वर्षक्रियाकौमुदी (५५३-५६४); तिथितत्त्व (२०-२६); समयमयूख (१७५)।

जन्माष्टमी : देखिए 'कृष्णजन्माष्टमी', इसी सूची में ऊपर।

जय : यह शब्द इतिहास, पुराणों, महाभारत, रामायण आदि के लिए प्रयुक्त होता है। देखिए कृ० र० (३०), तिथितत्त्व (७१), स्मृतिकौ० (३००)। इन्हें जय इसलिए कहा जाता है क्योंकि इनके उपदेशों के पालन से व्यक्ति संसार से ऊपर उठ जाता है ('जयत्यनेन संसारम्'—तिथितत्त्व ने ऐसा कहा है, पृ० ७१)।

जयदासप्तमी : रविवार को पड़ने वाली शु० ७ जया या विजया कहलाती है; विभिन्न प्रकार के फलों एवं फूलों से सूर्य-पूजा की जाती है; उस दिन उपवास, नक्त, एकभक्त या अयाचित होता है; हे० व्र० (१, ७१७-७२०)।

जयन्तविधि : उत्तरायण रविवार को; सूर्य-पूजा; कृत्यकल्पतरु (व्रत० १६-१७); हे० (व्रत० २, ५२५)। हेमाद्रि में आया है—'जयन्त उत्तरर्क्षे आदित्यगणः'; जब कि कृत्यकल्प तरु (व्रत०) में आया है—'जयन्तेत्युत्तरे ज्ञेयो अयने गणः'।'

जयन्तव्रत : इन्द्र के पुत्र जयन्त की पूजा; इससे प्रसन्नता की प्राप्ति होती है; हे० (व्रत० १, ७९२)।

जयन्तीद्वादशी : रोहिणी नक्षत्र की शु० १२; गदाधरपद्धति (कालसार प्रकरण)।

जयन्तीव्रत : (१) देखिए 'कृष्णजन्माष्टमी व्रत'; (२) माघ शु० ७ को; एक वर्ष; सूर्य; मासों को चार दलों में बाँट दिया गया है, प्रत्येक दल में विभिन्न पुष्पों, धूपों, लेपों एवं नैवेद्य से पूजा; हे० व्र० (१, ६६४-६७); कृ० र० (५०५-८)।

जयन्तीसप्तमी : यह 'जयन्तीव्रत' ही है।

जयन्त्यष्टमी : भरणी नक्षत्र के साथ पौष की अष्टमी पर; स्नान, दान, जप, होम, तर्पण; पुण्य के करोड़ों प्रकार; हेमाद्रि (काल० ६२७); पु० चि० (१३८-१३९)।

जयपूर्णमासी : एक वर्ष तक प्रत्येक पूर्णिमा को; नक्षत्रों से युक्त चित्रित चन्द्र की पूजा; हे० व्रत (२, १६०-१६२)।

जयविधि : दक्षिणायन रविवार को; वारव्रत; उपवास, नक्त, एकभक्त से सौ गुना फल मिलता है; कृत्यकल्पतरु (व्रत० १६); हेमाद्रि (व्रत० २, ५२५, भविष्यपुराण से उद्धरण)।

जयव्रत : हे० व्र० (२, १५५); पाँच गन्धर्वों की पूजा से जय प्राप्त होती है।

जयातिथि : तृतीया, अष्टमी एवं त्रयोदशी को जया कहा जाता है; निर्णयामृत (३९) का कथन है कि इन तिथियों में युद्ध-सम्बन्धी कार्य तथा प्रेरणा देना सफल होता है।

जयाद्वादशी : पुष्य नक्षत्र के साथ फाल्गुन शु० १२ ऐसी कही जाती है; इस दिन के दान एवं तप करोड़ों गुना फल देते हैं; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३४९); हे० (व्रत० १, ११४६)।

जयापञ्चमी : हे० व्र० (१, ५४३-५४६); विष्णु-पूजा; मास या तिथि के विषय में कोई वर्णन उपलब्ध नहीं है।

जयापार्वतीव्रत : आश्विन शु० १३ पर प्रारम्भ एवं तृतीया पर समाप्त; उमा एवं महेश्वर की पूजा; २० वर्षों तक; प्रथम पाँच वर्षों तक नमक नहीं खाया जाता; पाँच वर्षों तक चावल खाना, किन्तु उसके साथ गन्ना के रस के किसी भी रूप का प्रयोग नहीं; गुर्जरों में अति प्रसिद्ध; व्रतार्क (२५१-२५३)।

जयावाप्ति : आश्विन पूर्णिमा के उपरान्त प्रथमा से कार्तिक पूर्णिमा तक, विशेषतः कार्तिक पूर्णिमा के साथ अन्त के तीन दिन; विष्णु-पूजा; मुकदमों, जूओं, झगड़ों एवं प्रेम सम्बन्धी विषयों में विजय होती है; हेमाद्रि (व्रत० २, ७६८); व्रतप्रकाश (१९६)।

जयासप्तमी : (१) जब शु० ७ को कुछ नक्षत्रों (रोहिणी, आश्लेषा, मघा एवं हस्त) के साथ कोई ग्रह होता है; सूर्य-पूजा; एक वर्ष; तीन दलों में मास बँटे रहते हैं, विभिन्न पुष्पों, धूप, नैवेद्य के साथ पूजा होती है; कृ० क० त० (व्रत० १२४ १२७); हे० व्रत० (१, ६६०-६६३); (२) रविवार के साथ शु० ७; उपवास; सूर्य; वर्षक्रियाकौ० (३५)।

जयैकादशी : देखिए व्रतकोश, (सं० ९१०, पृ० २०५)।

जलकृच्छ्रव्रत : कार्तिक कृष्ण १४ पर; कृच्छ्र-व्रत; विष्णु-पूजा; जल में रहते हुए उपवास; विष्णुलोक की प्राप्ति; हे० (व्रत० ७६९)।

जलशयनव्रत : काकतीय सेनानायक की पत्नी कुप्पाम्बिका द्वारा सम्पादित। सम्भवतः यह जलकृच्छ्र ही है।

जाग्रद्गौरीपञ्चमी : श्रावण शु० पंचमी पर; सर्पों के भय से रक्षार्थ रात्रि भर जागरण; गौरी देवी; ग० प० (७८)।

जातित्रिरात्रव्रत : ज्येष्ठ शु० १३ से ३ दिन तक; १२ को एकभक्त; १३ से तीन दिन तक उपवास; ब्रह्मा, विष्णु, शिव एवं उनकी पत्नियों की (पुष्पों, फलों से) पूजा; तिल एवं चावल से यव (जौ) का होम; अनसूया ने इसे किया था, इसी से उनके गर्भ से तीन देवता पुत्र-रूप में प्रकट हुए; हे० व्र० (२, ३२०-२२); व्रतप्रकाश (९९)।

जामदग्न्यद्वादशी : वै० शु० १२ पर; तिथि; जामदग्न्य (परशुराम) के रूप में विष्णु-प्रतिमा की पूजा; मन्त्र यह है—'प्रीयतां मधुसूदनो जामदग्न्यरूपी'; इस व्रत द्वारा वीरसेन ने नल को प्राप्त किया; वराह० (४४।१-२१); कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३२५-३२७); हेमाद्रि (व्रत० १, १०३२-३४)।

जिताष्टमी : देखिए व्रतकोश (सं० ४६९, पृ० १११)।

जीवत्पुत्रिकाष्टमी : आश्विन कृष्ण अष्टमी पर; शालिवाहन राजा के पुत्र जीमूतवाहन की पूजा; यह नारियों द्वारा पुत्रों एवं सौभाग्य की प्राप्ति के लिए किया जाता है; कृत्यसारसमुच्चय (१९)।

जीवन्तिकाव्रत : कार्तिक की अमावास्या को मुख्यतः नारियों द्वारा दीवार पर कुंकुम से जीवन्तिका देवी की पूजा; अहल्याकामधेनु (१०६२)।

ज्ञानावाप्तिव्रत : चैत्र पूर्णिमा के उपरान्त एक मास तक; प्रति दिन नृसिंह की पूजा, प्रतिदिन सरसों से होम तथा मधु, घी, शक्कर से ब्रह्म-भोज; वैशाख पूर्णिमा के पूर्व तीन दिनों तक तथा पूर्णिमा को उपवास; सोने का दान; इससे मनीषा (बुद्धि) बढ़ती है; हे० व्र० (२, ७४९-७५०, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)।

ज्येष्ठ-कृत्य : देखिए हे० व्र० (२, ७५०-५१); कृ० र० (१७९-१९५); वर्षक्रियाकौ० (२५९-२८३); नि० सि० (९८-१०१); स्मृतिकौस्तुभ (११७-१३७); पु० चि० (६); ग० प० (२३)। ज्येष्ठ शु० १, करवीरप्रतिपद्-व्रत, देखिए ऊपर, 'दशहरा-स्नान' का आरम्भ; शुक्ल ३, 'रम्भाव्रत' (देखिए नीचे); शु० ४, सौभाग्यार्थ नारियों द्वारा उमा की पूजा (कृत्यकल्पतरु का नैयतकालिक काण्ड, ३८९-३९०, कृत्यरत्नाकर १८५); शु० ८, शुक्लादेवी की पूजा (कृत्यकल्पतरु, नैयतकालिक, ३९०; कृत्यर० १८६ एवं कालनिर्णय १९८); शु० ९, उमा-पूजा, उस दिन उपवास या नक्त, कुमारियों को रात्रि-भोजन; शु० १०, जब सूर्य हस्त में होता है; मंगलवार को गंगा पृथिवी पर उतरी थीं (स्मृतिकौ० ११९-१२०); देखिए 'दशहरा,' गत अध्याय ४; जब पूर्णिमा ज्येष्ठा नक्षत्र में पड़ती है तो किसी ब्राह्मण को छाता एवं चप्पल दान में दी जाती हैं (विष्णुधर्मोत्तर पुराण ९०।१४); ज्येष्ठ-पूर्णिमा व्रत के लिए देखिए पद्मपुराण (५।७।१०-२८); जब ज्येष्ठा नक्षत्र पड़ता है और जब बृहस्पति एवं सूर्य रोहिणी में होते हैं तब इसे महाज्येष्ठी पूर्णिमा कहते हैं (हेमाद्रि, काल०, ६४१; कालविवेक ३४८-४९, वर्षक्रिया-कौ० ७८; नि० सि० १६१); ज्येष्ठ पूर्णिमा को मन्वादि कहा जाता है; पूर्णिमा को वेदों की पूजा, क्योंकि वे उसी दिन प्रकट हुए थे (नैयतकालिक ३९०, कृत्यर० १९२); देखिए 'वटसावित्रीव्रत,' गत अध्याय ४; कृष्ण ८, शिवपूजा (निर्णयसिन्धु ५६); कृष्ण १४, काले पुष्पों से रेवती की पूजा (नैयतकालिक, पृ० ३८९, कृत्यरत्नाकर १८४); अमावास्या पर कुछ लोग वटसावित्रीव्रत करते हैं और वटवृक्ष की प्रदक्षिणा करते हैं।

ज्येष्ठाव्रत : (१) भाद्रपद शु० ८ पर जब कि वह ज्येष्ठा नक्षत्र में हो; नक्षत्रव्रत; अलक्ष्मी (दारिद्र्य या दुर्गन्धि) को मिटाने के लिए ज्येष्ठा (लक्ष्मी एवं उमा के रूप में) की पूजा; यदि उस दिन रविवार हो तो इसे नीलज्येष्ठा कहा जाता है; हे० व्र० (२, ६३०-६३८); नि० सि० १३५-१३६; स्मृतिकौस्तुभ २३०-२३१; पु० चि० १३२-१३४; व्रतराज (२९२-२९६); (२) भाद्रपद शुक्ल की उस तिथि पर जब कि ज्येष्ठा नक्षत्र हो; १२ वर्षों तक प्रति वर्ष या जीवन भर के लिए; ज्येष्ठा-देवी की प्रतिमा का पूजन एवं जागर (रात्रि का जागरण); हे० व्र० (२, ६३८-६४०)। यह व्रत उस नारी द्वारा किया जाता है जिसके बच्चे मर जाते हैं, या जिसको केवल एक पुत्र हो, इसे दरिद्र पुरुष भी करता है (भविष्योत्तर पुराण से उद्धरण)।

ढुण्ढिराज-पूजा : माघ शु० ४ पर; कर्ता को तिल के लड्डू (गणेश को नैवेद्य के रूप में) चढ़ाना चाहिए, स्वयं खाना चाहिए तथा तिल एवं घी का होम करना चाहिए; देखिए स्कन्द० (काशीखण्ड ५७।३३) जहाँ 'ढुण्ढि' शब्द की व्युत्पत्ति दी हुई है; और देखिए पु० चि० (९५); देखिए नीचे 'तिल-चतुर्थी।'

तपस् (तप) : यह शब्द कृच्छ्र एवं चान्द्रायण जैसे प्रायश्चित्तों से सम्बन्धित कृत्यों एवं ब्रह्मचारियों आदि के लिए बने नियमों के विषय में प्रयुक्त होता है। देखिए आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।२।५।१, नियमेषु तपश्शब्दः)। मनु (११।२३३-२४४); विष्णुधर्मसूत्र (९५) एवं विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।२६६) में तपों की प्रशंसाएँ एवं स्तुतियाँ की गयी हैं। देवल (कृत्यरत्नाकर १६) ने व्रतों, उपवासों एवं नियमों द्वारा शरीर को यन्त्रणा देने (सुखाने

जलाने) को तप कहा है। अनुशासनपर्व (१०३।३) का कथन है कि उपवास से बढ़कर कोई उच्च तप नहीं है। विशेष जानकारी के लिए देखिए इस ग्रन्थ का मूल भाग—४, पृ० ४२-४३)।

तपश्चरणव्रत : मार्ग० कृष्ण सप्तमी को प्रारम्भ; तिथि; एक वर्ष; सूर्य-पूजा; हे० (व्रत० १, ६३०-६३२, भविष्योत्तर से)।

तपोव्रत : माघ की सप्तमी; तिथि; कर्ता रात्रि में केवल एक छोटा वस्त्र धारण करता है और एक गाय का दान करता है; हेमाद्रि (व्रत० १, ७८८, पद्मपुराण से एक श्लोक)।

तप्तमुद्राधारण : आश्विन शु० या कार्तिक शु० ११ को शरीर पर शंख, चक्र का चिह्न तप्त ताम्र या किसी अन्य धातु से दागना। यह कृत्य माध्व, रामानुज आदि वैष्णवों या अन्य सम्प्रदायों द्वारा किया जाता है। समयमयूख (८६-८७) का कथन है कि इसके लिए कोई शास्त्रीय प्रमाण नहीं है; किन्तु निर्णयसिन्धु (१०७-१०८) एवं धर्मसिन्धु (५५) के अनुसार इसमें कुलाचार का अनुसरण किया जाता है।

ताम्बूल-संक्रान्ति : केवल नारियों के लिए; एक वर्ष; कृत्य करने वाली नारी प्रतिदिन ब्राह्मणों को ताम्बूल खिलाती है और वर्ष के अन्त में ब्राह्मण को उसकी पत्नी के साथ एक स्वर्ण-कमल एवं ताम्बूल के सभी पात्र देती है तथा रात्रि में सुस्वादु भोजन कराती है; सौभाग्य की प्राप्ति करती है तथा पति, पुत्रों आदि के साथ सुखपूर्वक जीवनयापन करती है; हे० (व्रत० २, ७४०-४१); व्रतार्क (३८८)।

तारकाद्वादशी : मार्ग० शु० १२ पर एक वर्ष के लिए आरम्भ; सूर्य एवं तारों की पूजा; प्रति मास में विभिन्न प्रकार के भोजनों द्वारा ब्रह्म-भोज; तारों को अर्घ्य; सभी पाप कट जाते हैं; उस राजा की कथा, जिसने भ्रमवश एक तापस को हिरन समझ कर मार दिया था और १२ जन्मों में विभिन्न पशुओं के रूप में प्रकट हुआ; हेमाद्रि (व्रत० १, १०८४-१०८९, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण)।

तारात्रिरात्रव्रत : माघ कृ० १४ पर; तिथि; हरि एवं तारों की पूजा; कृत्यरत्नाकर (४९६-४९७)।

तालनवमी : भाद्र० शु० नवमी पर; दुर्गा की पूजा; वर्षक्रियाकौमुदी (३२०)।

तिथियुगलव्रत : किसी मास की दो अष्टमियों एवं चतुर्दशियों पर, प्रत्येक मास की अमावास्या एवं पूर्णमासी पर, दोनों सप्तमियों एवं दो द्वादशियों पर कुछ भी न खाना; एक वर्ष तक; हे० व्र० (२, ३९७); कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३८७)।

तिन्दुकाष्टमी : ज्येष्ठ की कृष्णाष्टमी से प्रारम्भ; एक वर्ष; ज्येष्ठ से आगे ४ मासों तक हरि-पूजा; आश्विन से पौष तक धतूरे के पुष्पों से पूजा; माघ से वैशाख तक शतपत्रों (दिन-कमलों) से पूजा; हेमाद्रि (व्रत खण्ड १, ८४०-८४१, भविष्यपुराण से)।

तिलकव्रत : चैत्र शु० प्रतिपदा पर; तिथि; एक वर्ष; सुगंधित चूर्ण से खचित संवत्सर की पूजा; कर्ता अपने मस्तक पर श्वेत चन्दन के लेप से तिलक करता है; हे० व्र० (१, ३४८-३५०, भविष्योत्तर० ८।१-२५ से उद्धरण); समयप्रकाश (११); व्रतराज (५४-५६); पु० चि० (९)।

तिलचतुर्थी : माघ शु० ४; यह कुन्दचतुर्थी के समान ही है; निर्णय० (२१९); ध० सि० (१२४); वर्षकृत्यदीपक (११०-१११ एवं २८७)। यह ढुण्ढिराजचतुर्थी के समान ही है; नक्त व्रत, ढुण्ढिराज की पूजा; तिल के लड्डुओं का नैवेद्य।

तिलदाहोव्रत : पौष कृ० ११ पर; तिथि; विष्णु देवता; उस दिन उपवास; पुष्य नक्षत्र पर एकत्र किये गये सूखे गोबर (कण्डों) एवं तिल से होम; इससे सौन्दर्य की प्राप्ति तथा सभी उद्देश्यों की पूर्ति होती है; हे० व्र० (१, ११३१-३५)।

तिलद्वादशी : (१) श्रवण नक्षत्र से युक्त माघपूर्णिमा के उपरान्त कृष्णद्वादशी को तिल से स्नान, होम, मिठाइयों के साथ तिल का नैवेद्य, तिल के तैल का दीपक, ब्राह्मणों को तिलयुक्त जल एवं दान देना; ऋ० १।२२।२० एवं पुरुषसूक्त (१०।९०) या १२ अक्षरों के दो मन्त्रों से वासुदेव की पूजा; हेमाद्रि (व्रत० १, ११४९-५०, विष्णुधर्मोत्तर० ११६३।१-१३ के उद्धरण); कालविवेक (४६६-४६७); (२) माघ कृष्ण १२ पर, जब कि आश्लेषा या मूल नक्षत्र का योग हो; तिथि; कृष्ण देवता; नैयतकालिक (४३६); हेमाद्रि (काल, ६३५-३६); हेमाद्रि (व्रत० १, ११०८-१०); कृ० र० (४९६)।

तिष्यव्रत : शुक्ल पक्ष एवं उदगयन में तिष्य (पुष्य) नक्षत्र पर आरम्भ; एक वर्ष तक प्रतिमास प्रति तिष्य पर; उपवास केवल प्रथम तिष्य पर ही; वैश्रवण (कुबेर) की पूजा; पुष्टि (समृद्धि) के लिए; आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।८।२०।३-९)।

तीव्रव्रत : अपने पाँवों को चूर करके (पाँव तोड़कर) काशी में निवास करना, जिससे कि अन्यत्र जाना न हो सके। हेमाद्रि (व्रत० २, ९१७)।

तुरगसप्तमी : चैत्र शु० सप्तमी पर; तिथि; उपवास; सूर्य, अरुण, निकुम्भ, यम, यमुना, शनि, सूर्य की पत्नी छाया, सातों छन्दों, धाता, अर्यमा एवं अन्य देवताओं की पूजा; व्रत के अन्त में एक अश्व (तुरग या घोड़ा) का दान; हेमाद्रि (व्रतखण्ड १, ७७७-७७८, विष्णुधर्मोत्तर से।

तुरायण : अनुशासन० (१०३।३४) से ऐसा प्रकट होता है कि भगीरथ ने इसे ३० वर्षों तक किया था। पाणिनि (५।१।७२) में आया है—'पारायण-तुरायण-चान्द्रायणम्'; स्कन्द० ने तुरायण को कोई यज्ञ माना है। आपस्तम्बश्रौतसूत्र (२।१४) ने तुरायणेष्टि की व्याख्या की है और मनु (६।१०) ने इसे चातुर्मास्य एवं आग्रयण के साथ वैदिक इष्टि ठहराया है।

तुलसीत्रिरात्र : कार्तिक शु० ९ को प्रारम्भ; तीन दिनों तक व्रत; इसके उपरान्त तुलसी के पौधों की वाटिका में विष्णु एवं लक्ष्मी की पूजा; पद्म० (६।२६)। तुलसीमाहात्म्य, देखिए पद्म० (पाताल० ९४।४-११)।

तुलसी-लक्ष-पूजा : किसी एक पूजा में १,००,००० तुलसी-दल का अर्पण; कार्तिक या माघ में प्रतिदिन १००० तुलसी दल अर्पित होते हैं; वैशाख या माघ या कार्तिक में उद्यापन; स्मृतिकौस्तुभ (४०८), वर्षक्रियादीपक (४०४-४०८); बिल्व-दल, दूर्वा, चम्पक फूल भी अर्पित किये जाते हैं।

तुलसी-विवाह : कार्तिक शु० १२ पर; कर्ता नवमी को हरि एवं तुलसी की स्वर्ण-प्रतिमा बनाता है, उसे तीन दिनों तक पूजित करके उनका विवाह रचाता है; इससे कन्यादान का पुण्य प्राप्त होता है; नि० सि० (२०४); व्रतराज (३४७-३५२); स्मृतिकौ० (३६६)। प्रत्येक हिन्दू के घर के प्रांगण में एक वृन्दावन (ईंटों या पत्थर का बना थाँवला) होता है जिसमें तुलसी का पौधा लगा रहता है, स्त्रियाँ प्रतिदिन उसे जल, दीप आदि से पूजती हैं। जालन्धर की पत्नी वृन्दा तुलसी बन गयी थी। पद्मपुराण में (लगभग १०५० श्लोकों में) जालन्धर एवं वृन्दा की कथा है।

तुष्टिप्राप्तिव्रत : श्रवण नक्षत्र के योग में श्रावण कृष्ण (पूर्णिमान्त गणना) की तृतीया पर; 'ओम्' से प्रारम्भ किये हुए तथा 'नमः' से अन्त होते हुए मन्त्रों से गोविन्द-पूजा; फल—सर्वोत्तम सन्तोष; हेमाद्रि (व्रत० १, ४९९, विष्णुधर्मोत्तर० से उद्धरण)।

तृतीयाव्रत : अग्नि० (१७८); हे० (व्रत० १, ३९४-५००, लगभग ३० के नाम दिये गये हैं); कृ० क०, व्र० (४८-७७, केवल ८ के नाम); कृ० र० (१५३-१५७); वर्षक्रियाकौ० (२-३०); तिथितत्त्व (३०-३१); व्रतराज (८२-१२०); पु० चि० (८५); यदि तृतीया का द्वितीया एवं चतुर्थी से योग हो जाय तो नियम यह है कि

तब रम्भाव्रत को छोड़कर सभी व्रतों में चतुर्थी से युक्त तृतीया स्वीकृत होती है (कालनिर्णय १७४; तिथितत्त्व ३०-३१; पु० चि० ८४-८५)।

तेजस्संक्रान्ति-व्रत : प्रति संक्रान्ति दिन पर; एक वर्ष के लिए; सूर्य-पूजा; हेमाद्रि (व्रत०,२।७३४-३५)।

त्रयोदशपदार्थवर्जन-सप्तमी : किसी मास के शुक्ल पक्ष में पुरुषवाची नक्षत्र (यथा—हस्त, पुष्य, मृगशीर्ष, पुनर्वसु, मूल, श्रवण) के साथ सप्तमी को रविवार के दिन उत्तरायण के अन्त में व्रत का आरम्भ होता है; एक वर्ष के लिए; सूर्य-पूजा; व्रीहि, यव, गेहूँ, तिल, माष, मुद्ग आदि १३ पदार्थों का वर्जन, केवल अनाज पर जीविका-निर्वाह (१३ को छोड़कर); हेमाद्रि (व्रत० १।७५६, भविष्योत्तरपुराण ४५।१-५ से उद्धरण)।

त्रयोदशीव्रत : अग्नि० (१९१), हेमाद्रि (व्रत० २, १-२५, लगभग १४); कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३६९, केवल एक का उल्लेख); कालनिर्णय (२७७); कालविवेक (४६९); वर्षक्रियाकौ० (७०); स्मृतिकौमुदी (९५-९६); पुरुषार्थचिन्तामणि (२२२-३१)।

त्रयोदशीव्रत : किसी मास की त्रयोदशी पर; कर्ता सोने, चाँदी, ताम्र या मिट्टी के पात्र में कपित्थ फल के बराबर गाय का मक्खन रखता है, पुष्पों या अक्षतों से उस पर कमल बनाता है और लक्ष्मी एवं विष्णु का आवाहन करता है, मक्खन को दो भागों में करता है, दोनों पर पृथक्-पृथक् मन्त्रों का पाठ करता है और दोनों भाग अपनी पत्नी को देता है, सर्वप्रथम विष्णु वाले को और पुनः लक्ष्मी वाले को। इसका परिणाम यह होता है कि कर्ता को कई पुत्र उत्पन्न होते हैं; हे० व्र० (२, १९-२१); चैत्र शु० १३ पर किसी घड़े या श्वेत वस्त्र पर कामदेव एवं रति की प्रतिमा बनाकर, उसे अशोक के सुमनों से अलंकृत कर दमनक (दौना) से पूजा करना; कालविवेक (४६९)।

त्रिगति-सप्तमी : फाल्गुन शु० ७ पर प्रारम्भ; एक वर्ष; हेलि (यूनानी हेलिओस, सूर्य) के नाम से सूर्य की पूजा; फाल्गुन से ज्येष्ठ तक हंस के रूप में सूर्य-पूजा; आषाढ़ से आश्विन तक मार्तण्ड के रूप में, कार्तिक से माघ तक भास्कर के रूप में; इससे पृथिवी के राज्य तथा आनन्द की प्राप्ति होती है, इन्द्रलोक के आनन्दों की प्राप्ति तथा सूर्यलोक में निवास होता है (यही तीन गतियाँ हैं); भविष्य० (ब्राह्म पर्व १०४।२-२४); कृत्यकल्पतरु (व्रत० १४१-१४५); हे० व्रत० (१, ७३६-३८); कृ० र० (५२४-५२६)।

त्रितयप्रदान-सप्तमी : हस्त नक्षत्र के योग में माघ शु० ७ पर; कृत्यकल्पतरु (व्रत०) के अनुसार यह तिथिव्रत है, किन्तु हेमाद्रि (व्रत०) के अनुसार मासव्रत; एक वर्ष; सूर्य; अच्छे कुल में जन्म, स्वास्थ्य एवं सम्पत्ति की प्राप्ति; कृत्यकल्पतरु (व्रत०, १५१-१५३); हे० व्र० (१, ७४४-७४५); कृ० र० (४५८-४६०)।

त्रिदिनस्पृक् : जब कोई एक तिथि सप्ताह के तीन दिनों का स्पर्श करती है तो उसे इस नाम से पुकारा जाता है। हेमाद्रि (काल० ६७७); निर्णयसिन्धु (१५४)।

त्रिपुरसूदनव्रत : उत्तरा नक्षत्र के साथ रविवार को; सूर्य-पूजा; घी, दूध, ईख के रस से पूजा; कुंकुम का लेप; हेमाद्रि (व्रत० २, ५२५, भविष्योत्तर० से उद्धरण)।

त्रिपुरोत्सव : कार्तिक की पूर्णिमा की सन्ध्या को; शिव-मन्दिर में दीप जलाये जाते हैं; नि० सि० (२०७); स्मृतिकौ० (४२७)।

त्रिमधुर : मधु, घृत एवं शक्कर को ऐसा कहा जाता है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण (३।१२७।१० एवं ३।१३६।२-३); हेमाद्रि (व्रत० १, ४३ एवं २, ७५०)।

त्रिमूर्तिव्रत : ज्येष्ठ शुक्ल ३ पर; तिथि; तीन वर्ष; वायु, चन्द्र, सूर्य के रूप में विष्णु-पूजा; विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।१३६)।

त्रिरात्रव्रत : सावित्री द्वारा सम्पादित। देखिए वनपर्व (२९६।३)।

त्रिलोचन-यात्रा : (१) वैशाख शु० तृतीया पर; शिवलिंग-पूजा; समयमयूख (३६ काशीखण्ड का उद्धरण); (२) काशी में त्रयोदशी पर, विशेषतः रविवार को प्रदोष पर कामेश की यात्रा, कामकुण्ड में स्नान; पुरुषार्थचिन्तामणि (२३०)।

त्रिसुगन्ध : त्वक् (दालचीनी), इलायची एवं पत्रक (तेजपात) को बराबर मात्रा में मिलाकर बनाया जाता है; हेमाद्रि (व्रत० १।४४)।

त्रिस्पृशा : आठ प्रकार की द्वादशियों में एक प्रकार; जब अरुणोदय में अल्पकाल के लिए एकादशी होती है तब द्वादशी लग जाती है और उस दिन के बाद दूसरे प्रातः के पूर्व ही त्रयोदशी लग जाती है तब इस द्वादशी को त्रिस्पृशा कहा जाता है; हेमाद्रि (काल, २६१)। देखिए पद्मपुराण (६।३५)।

त्रिविक्रम-त्रिरात्रव्रत : मार्गशीर्ष शु० ९ पर आरम्भ; प्रत्येक मास में दो त्रिरात्रव्रत होते हैं; ४ वर्ष एवं २ मलमासों अर्थात् कुल ५० मासों में १०० त्रिरात्र होते हैं; वासुदेव-पूजा; अष्टमी पर एकभक्त और उसके उपरान्त तीन दिनों एवं रातों तक उपवास; कार्तिक में व्रत का अन्त; हेमाद्रि (व्रत०, २।३१८-३२०)।

त्रिविक्रमतृतीया : (१) प्रत्येक मास की शु० तृतीया पर आरम्भ; तीन या बारह वर्ष; त्रिविक्रम एवं लक्ष्मी की पूजा; ऋ० (१।२२।२०) के मन्त्र के साथ या नारियों तथा शूद्रों के लिए 'त्रिविक्रमाय नमः' के साथ होम; हे० (व्रत०, १, ४५३-५४, विष्णुधर्मोत्तर० ३।१३३।१-१३ से उद्धरण); (२) ज्येष्ठ शु० ३ पर आरम्भ; द्वितीया को उपवास और तृतीया के प्रातः अग्नि-पूजा तथा संध्या को सूर्य-पूजा, उस दिन नक्त (रात्रि में भोजन), विष्णु के तीन पदों की पूजा, एक वर्ष तक; हे० (व्रत० १, ४५५-४५६); (३) ज्येष्ठ शु० ३ पर प्रारम्भ; एक वर्ष; तीन मासों की अवधि पर पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं स्वर्ग की पूजा; विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।१३५)।

त्रिविक्रमव्रत : कार्तिक से तीन मासों या तीन वर्षों तक; वासुदेव-पूजा; व्रतकर्ता सभी पापों से मुक्त हो जाता है; हे० (व्रत २, ८५४-८५५, विष्णुधर्मोत्तर० से उद्धरण); कृत्यकल्पतरु (व्रतकाण्ड, ४२९-४३०)।

त्रिवृत् : दुग्ध, दही एवं घी को बराबर भाग में मिलाने से यह बनता है; वैखानसस्मार्तसूत्र (३।१०)।

त्रिसम : लवंग, त्वक् (दालचीनी) एवं पत्रक को मिलाने से यह बनता है; हेमाद्रि (व्रत, १, ४३)।

त्र्यहस्पृक् : विष्णुधर्मोत्तर० (१।६०।१४); जब एक अहोरात्र में तीन तिथियाँ स्पर्श को प्राप्त होती हैं तो उसे इस नाम से पुकारा जाता है; यह काल पवित्र माना जाता है।

त्रैयम्बक या त्र्यम्बक-व्रत : प्रत्येक मास की चतुर्दशी को नक्त-पद्धति पर भोजन-ग्रहण करना तथा वर्ष के अन्त में एक गाय का दान करना; शिव-पद की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० २, १४७, पद्म० से एक श्लोक) तथा कृत्यकल्पतरु का व्रतकाण्ड (४४९); यहाँ मत्स्य० से उद्धरण है।

दत्तात्रेय-जन्म : मार्गशीर्ष पूर्णमासी पर; अत्रि की पत्नी अनसूया ने उन्हें 'दत्त' नाम दिया (क्योंकि देवों ने पुत्र के रूप में उन्हें दिया था) तथा वे अत्रि के पुत्र थे अतः उनका नाम दत्तात्रेय पड़ा; निर्णयसिन्धु (२१०); स्मृतिकौस्तुभ (४३०), वर्षक्रियादीपक (१०७-१०८); दत्त-भक्ति का प्रचलन अधिकतर महाराष्ट्र में है और इससे सम्बन्धित स्थान, यथा—औदुम्बर, गणगापुर, नर्सोबावाड़ी महाराष्ट्र में अवस्थित हैं; दत्तात्रेय ने कार्तवीर्य को वर दिये (वनपर्व ११५, १२; ब्रह्मपुराण, १३।१६०-१८५; मत्स्य० ४३।१५-१६); वे विष्णु के अवतार थे, उन्होंने अलर्क को योग का सिद्धान्त बतलाया (ब्रह्मपु० २१३।१०६-११२; मार्कण्डेय पु० १६।१४; ब्रह्माण्ड पु० ३।८।८४); वे सह्य की घाटियों में रहते थे, अवधूत कहलाते थे, वे मद्य का पान करते थे और स्त्रियों की संगति चाहते थे। देखिए पद्म० (२।१०३।११०-११२) एवं मार्कण्डेयपुराण (१६।१३२-१३४)। तमिल पंचांगों से प्रकट होता है कि दत्तात्रेय-जयन्ती तमिल में भी मनायी जाती है।

दधिव्रत : श्रावण शुक्ल १२ पर; निर्णयसिन्धु (१११); उस दिन दही का सेवन नहीं किया जाता।

दधिसंक्रान्तिव्रत : उत्तरायण-संक्रान्ति पर प्रारम्भ, प्रत्येक संक्रान्ति पर एक वर्ष तक; नारायण एवं लक्ष्मी की पूजा; इनकी मूर्तियों को दही से स्नान कराना तथा ऋग्वेद (१।२२।२०) मन्त्र या 'ओं नमो नारायणाय का पाठ करना; वर्षक्रियाकौमुदी (२१८-२२२)।

दमनकपूजा : चैत्र शु० १३ पर; दमनक के रूप में काम की पूजा; तिथितत्त्व (१२०-१२१); वर्षक्रिया-कौमुदी (५२९-५३१)।

दमनभञ्जी : चैत्र शु० चतुर्दशी को ऐसा कहा जाता है; दमनक के सभी अंगों (यथा—जड़, तना एवं टहनियों) के साथ काम की पूजा; कालविवेक (४६९); वर्षक्रियाकौमुदी (५३१)।

दमनकमहोत्सव : चैत्र शु० १४ पर; तिथि; दमनक से विष्णु-पूजा; स्मृतिकौस्तुभ (१०१-१०३); पद्म० (६।८६।१४); 'तत्पुरुषाय विद्महे कामदेवाय धीमहि। तन्नोऽनङ्गः प्रचोदयात्' कामगायत्री है।

दमनकोत्सव : चैत्र शु० १४ पर; वाटिका में दमनक पौधे की पूजा; अशोक वृक्ष की जड़ में शिव (जो स्वयं काल कहे जाते हैं) का आवाहन; देखिए ईशानगुरुदेवपद्धति (२२वाँ पटल, त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज़), जहाँ यह लम्बी गाथा दी हुई है कि किस प्रकार शिव के तीसरे नेत्र से अग्नि भैरव के रूप में प्रकट हुई, किस प्रकार शिव ने उसे दमनक की संज्ञा दी, पार्वती ने शाप दिया कि वह पृथिवी पर पौधे के रूप में प्रकट हो जाये तथा शिव ने उसे वरदान दिया कि यदि लोग उसकी पूजा केवल वसन्त एवं मदन के साथ करेंगे तो उन्हें सभी वस्तुओं की प्राप्ति होगी। इसमें अनंग-गायत्री इस प्रकार है—'ओं क्लीं मन्मथाय विद्महे कामदेवाय धीमहि। तन्नो गन्धर्वः प्रचोदयात्॥'; हेमाद्रि (व्रत० २, ४५३-५५); व्रतप्रकाश; स्कन्द० (१।२।९।२३); पुरुषार्थचिन्तामणि (२३७)।

दमनकारोपण : चैत्र की प्रतिपदा से अमावस तक; प्रथम तिथि से १५ दिनों तक दमनक पौधे से विभिन्न देवों की पूजा, यथा—प्रथम दिन उमा, शिव एवं अग्नि की, दूसरे दिन ब्रह्मा की, तीसरे दिन देवों एवं शंकर की, चौथे दिन से १५वें दिन तक क्रम से गणेश, नागों, स्कन्द, भास्कर, माताओं, महिषमर्दिनी, धर्म, ऋषियों, विष्णु, काम, शिव, इन्द्र (शची के साथ) की; हे० (व्रत० २, ४५३-४५५); कृत्यरत्नाकर (३१-९५); समयमयूख (८४-८६)।

दशमीव्रत : देखिए हेमाद्रि (व्रत० २, ९६३-९८३); कालनिर्णय (२३०-२३३); पुरुषार्थचिन्तामणि (१४२-१४८); व्रतराज (३५२-३६१)। हेमाद्रि ने ११ नाम दिये हैं, किन्तु कृत्यकल्पतरु (व्रतखण्ड, ३०९) ने केवल एक व्रत का उल्लेख किया है, यथा—सार्वभौमव्रत।

दशरथचतुर्थी : कार्तिक कृष्ण चतुर्थी पर; मिट्टी के पात्र में राजा दशरथ की मूर्ति तथा दुर्गा की पूजा; पुरुषार्थचिन्तामणि (९४-९५) ने इसे करक-चतुर्थी कहा है; निर्णयसिन्धु (१९६)।

दशरथललिता-व्रत : आश्विन शु० दशमी पर; तिथि; दस दिनों तक; ललिता की स्वर्ण-मूर्ति, चन्द्र एवं रोहिणी की रजत-मूर्तियों की देवी के समक्ष, शिवमूर्ति की दाहिने तथा गणेश-मूर्ति की बायें पार्श्व में पूजा; यह दशरथ एवं कौशल्या ने की थी; प्रतिदिन विभिन्न पुष्पों का प्रयोग; हेमाद्रि (व्रत० २, ५७०-७४)।

दशहरा : देखिए इस खण्ड का अध्याय ४।

दशादित्यव्रत : रविवार वाली शु० दशमी पर, दस गाँठों वाले डोरक के रूप में भास्कर (सूर्य) की पूजा; दस कर्मों से उत्पन्न दुर्दशा का निवारण हो जाता है; दस रूपों में दुर्दशा की मूर्ति तथा दस रूपों में लक्ष्मी की मूर्ति की पूजा; हेमाद्रि (व्रत० २, ५४९-५५२)।

दशाफलव्रत : श्रावण कृष्ण अष्टमी पर (अमान्त गणना के अनुसार); दस वर्षों के लिए; गोपालकृष्ण देवता; कृष्ण की मूर्ति के समक्ष दस सूत्रों के डोरे को रखा जाता है और उसे हाथ में बाँधा जाता है; तुलसी की दस पत्तियों (दलों) के साथ हरि के नामों की पूजा; दस ब्राह्मणों में प्रत्येक को दस-दस पूरियाँ दी जाती हैं; व्रतार्क; व्रतराज (२६५-२६९)।

दशावतारदिन : (१) मार्गशीर्ष शुक्ल १२ पर आरम्भ; उस दिन विष्णु मत्स्य के रूप में प्रकट हुए; प्रत्येक शुक्ल द्वादशी से भाद्रपद तक प्रत्येक मास में क्रम से दशावतारों के रूप में विष्णु की पूजा; हेमाद्रि (व्रत १ ११५८-११६१, विष्णुपुराण से उद्धरण); (२) भाद्रपद शुक्ल १० से आरम्भ; वर्ष के उसी मास एवं तिथि पर दस वर्षों तक; प्रति वर्ष विभिन्न भोजन का अर्पण (यथा—प्रथम वर्ष में पूप अर्थात् पूआ, दूसरे में घृतपूरक. . .आदि); भोजन के दस भाग देवों के लिए, दस भाग ब्राह्मणों तथा दस भाग अपने लिए; भार्गव, राम, कृष्ण, बौद्ध एवं कल्कि के सहित अवतारों की बहुमूल्य दस मूर्तियाँ; व्रतराज (३५८-३५९, भविष्यपुराण से उद्धरण); स्मृतिकौस्तुभ (२३९)।

दष्टोद्धरण-पञ्चमी या नागदष्ट : भाद्र शुक्ल ५ पर; सर्प-दंश से मृत किसी सम्बन्धी (यथा—पुत्र, भाई, पुत्री) के लिए सम्पादित; स्वर्ण, रजत, काष्ठ या मिट्टी से निर्मित पाँच फणों वाले सर्प की मूर्ति की धूप, पुष्प, गंध आदि से पूजा; प्रत्येक मास में १२ में से एक का नाम लिया जाता है; सर्प-दंश से मृत व्यक्ति पाताल लोकों से मुक्त होता है और स्वर्गारोहण करता है; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ९०-९३); हेमाद्रि (व्रत० १, ५६०-५६२); कृत्यरत्नाकर (२७३-२७५)। १२ सर्पों के नाम के लिए देखिए इस खण्ड का अध्याय—७,। गरुड़पुराण (१।१२९)।

दान : देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड २। कृत्तिका से भरणी तक के कतिपय नक्षत्रों में दिये जाने वाले दानों का उल्लेख अनुशासनपर्व (६४) में हुआ है; दानसागर (६२८-६३८); कृत्यरत्नाकर (५४९-५५५)। कृत्यरत्नाकर (९५-१०२) ने विभिन्न तिथियों में दिये जाने वाले दानों का उल्लेख किया है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।३१७) ने विभिन्न ऋतुओं, मासों, सप्ताहों एवं नक्षत्रों में दिये जाने वाले पुरस्कारों (फलों या पुण्यों) का वर्णन किया है।

दानफलव्रत : आश्विन शुक्ल के अन्तिम दिन से माघ शुक्ल सप्तमी तक; नारायण-पूजा; ५ वर्षों तक; प्रत्येक वर्ष में निर्धारित ढंग से पाँच प्रस्थ चावल, गेहूँ, नमक, तिल, माष का दान किया जाता है। व्रतार्क (पाण्डुलिपि ३६२ बी—३६५ ए)।

दाम्पत्याष्टमी : कार्तिक कृष्ण ८ पर; तिथि; चार अवधियों में विभाजित एक वर्ष भर; दर्भों से निर्मित उमा एवं महादेव की पूजा; प्रत्येक मास में पुष्पों, नैवेद्य, धूप एवं देव-नामों में अन्तर रखा जाता है; वर्ष के अन्त में एक ब्राह्मण एवं उसकी ब्राह्मणी को भोजन दिया जाता है, दो सोने की गायें दी जाती हैं; पुत्र की प्राप्ति होती है; शिवलोक अथवा मोक्ष की उपलब्धि होती है। कृत्यकल्पतरु (व्रत० २४५-२५८); हेमाद्रि (व्रत० १।८४१-८४४, भविष्यपुराण से उद्धरण)।

दारिद्र्यहरणषष्ठी : एक वर्ष तक सभी मासों की षष्ठी पर; गुह (स्कन्द) की पूजा; स्कन्दपुराण; अहल्याकामधेनु (४२९-४३०)।

दिनक्षय : जब एक ही वार में दो तिथियाँ पड़ जाती हैं तो दिनक्षय होता है; हेमाद्रि (काल, ६७६, पद्मपुराण से उद्धरण)। माधव के कालनिर्णय (२६०, वसिष्ठ से उद्धरण) के अनुसार जब एक ही दिन में तीन तिथियों का स्पर्श हो जाता है तो दिनक्षय होता है, उस दिन उपवास वर्जित होता है, किन्तु दानों से सहस्र गुना पुण्य मिलता है।

दिवाकरव्रत : हस्त नक्षत्र में रविवार पर; सात रविवारों तक; वारव्रत; भूमि पर खिंचे १२ दलों वाले कमल पर सूर्य-पूजा; प्रत्येक दल पर क्रम से सूर्य, दिवाकर, विवस्वान्, भग, वरुण, इन्द्र, आदित्य, सविता, अर्क, मार्तण्ड, रवि, भास्कर बैठाये जाते हैं; वैदिक तथा अन्य मन्त्र पढ़े जाते हैं; कृत्यकल्पतरु (व्रत० २३-२५); हेमाद्रि (व्रत० २, ५२३-५३३, भविष्यपुराण से उद्धरण)।

दीपदानव्रत : प्रत्येक पुण्यकाल, यथा—संक्रान्ति, ग्रहण, एकादशी पर, विशेषतः आश्विन पूर्णमासी से कार्तिक पूर्णमासी तक किसी मास भर घृत या तेल के दीपों को मन्दिरों, नदियों, कूपों, वृक्षों, गोशालाओं, चौराहों, घरों में जलाना; पुण्य प्राप्त होते हैं; अनुशासन० (९८।४५-५४); अग्निपुराण (२००); अपरार्क (३७०-३७२); हेमाद्रि (व्रत० २, ४७६-४८२, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण); कृत्यरत्नाकर (४०३-४०५); दानसागर (४५८-४६२)।

दीपलक्षण : बृहत्संहिता (८३।१-२) ने दीपों की ज्वाला को देखकर शकुनों का उल्लेख किया है।

दीपव्रत : मार्ग० शुक्ल एकादशी पर प्रारम्भ; पंचामृत से स्नान कराकर वैदिक मन्त्रों से प्रणाम करके लक्ष्मी एवं नारायण की पूजा; दोनों की मूर्तियों के समक्ष दीप जलाना; पद्मपुराण (६।३१।१-२२)।

दीपप्रतिष्ठाव्रत : ब्रह्माण्डपुराण (३।४७-६१) के अनुसार विष्णु द्वारा घोषित एवं पृथिवी द्वारा सम्पादित।

दीपान्विताभावास्या : कृत्यतत्त्व (४५१); दीपावली की अमावास्या के समान ही।

दीप्तिव्रत : एक वर्ष तक प्रत्येक सन्ध्या में; कर्ता तेल का प्रयोग नहीं करता और वर्ष के अन्त में दीपों, चक्र, त्रिशूल तथा वस्त्र के जोड़े का दान करता है; वह दीप्तिमान् हो जाता है और रुद्रलोक जाता है; यह संवत्सरव्रत है; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४४५, हेमाद्रि, व्रत० २, ८६६)।

दुग्धव्रत : भाद्रपद को द्वादशी पर; दुग्ध का पूर्ण वर्जन; निर्णयसिन्धु (१४१) ने कई मतों का उल्लेख किया है; पायस या दही के सेवन के विषय में मतभेद प्रकट हुआ है, यद्यपि दुग्ध का सेवन वर्जित ठहराया गया है; वर्षक्रियादीपक (७७); स्मृतिकौस्तुभ (२५४)।

दुर्गन्ध-दुर्भाग्यनाशन-त्रयोदशी : ज्येष्ठ शुक्ल १३ पर; तीन वृक्षों की पूजा, यथा—श्वेत मन्दार या अर्क, लाल करवीर एवं निम्ब, जो सूर्य के प्रिय कहे जाते हैं; प्रति वर्ष; इससे शरीर की दुर्गन्धियाँ एवं दुर्भाग्य दूर होते हैं; हेमाद्रि (व्रत० २, १४-१६)।

दुर्गानवमी : (१) आश्विन की नवमी पर आरम्भ; वर्ष भर; आश्विन से आगे के मासों में विभिन्न पुष्प, धूप, नैवेद्य होते हैं; दुर्गा के अन्य नाम हैं मंगल्या एवं चण्डिका; हेमाद्रि (व्रत० १, ९३७-९३९, भविष्यपुराण से उद्धरण); (२) किसी भी नवमी पर; हेमाद्रि (व्रत० १, ९५६-९५७); वर्षक्रियाकौमुदी (४१); (३) सभी नवमियों पर, क्योंकि उस दिन भद्रकाली को सभी योगिनियों की स्वामिनी बनाया गया था; पुरुषार्थचिन्तामणि (१४०)।

दुर्गापूजा : देखिए गत अध्याय ९।

दुर्गाव्रत : श्रावण शुक्ल अष्टमी पर प्रारम्भ; एक वर्ष; १२ मासों में देवी के विभिन्न नामों से पूजा की जाती है; १२ मासों में व्रतकर्ता विभिन्न स्थानों से प्राप्त पंक से शरीर को ढँक लेता है; नैवेद्य भी विभिन्न होता है (जिसमें आश्विन ८ पर हरिण एवं बकरे का मांस भी होता है); हेमाद्रि (व्रत १, ८५६-८६२); कृत्यरत्नाकर (२३८-२४४); यही बात कृत्यकल्पतरु (व्रत० २२५-२३३) में भी है, किन्तु वहाँ इसे दुर्गाष्टमी कहा गया है।

दुर्गाष्टमी : देखिए ऊपर दुर्गाव्रत।

दुर्गोत्सव : देखिए गत अध्याय ९ एवं तिथितत्त्व (६४-१०३)।

दूर्वा : भाद्रपद शुक्ल ८ को इस नाम से पुकारा जाता है; निर्णयामृत (६१); समयमयूख (५६-५७)।

दूर्वागणपतिव्रत : (१) दो या तीन वर्षों के लिए श्रावण या कार्तिक शुक्ल ८ पर; लाल पुष्पों, बिल्व, अपामार्ग, शमी, दूर्वा तथा तुलसी के पात्रों तथा अन्य उपचारों के साथ गणेश-मूर्ति की पूजा; गणपति के दस नामों वाले मन्त्र का उच्चारण; हेमाद्रि (व्रत० १, ५२०-५२३); व्रतराज (१२७-१२९, सौरपुराण से, जहाँ शिव ने स्कन्द को बताया है कि पार्वती ने इसे सम्पादित किया था); (२) रविवार को पड़ने वाली चौथ से आरम्भ; गणपतिपूजन; व्रतराज (१४१-१४३, स्कन्द० से उद्धरण); व्रतार्क (६६-६७); (३) श्रावण शुक्ल ५ से श्रावण कृष्ण १० तक १६ उपचारों तथा दूर्वा, बिल्व, अपामार्ग आदि के दलों से २१ दिनों तक गणपति-पूजन; व्रतराज (१२९-१४१)।

दूर्वात्रिरात्रव्रत : स्त्रियों के लिए; भाद्रपद शुक्ल १३ से आरम्भ; पूर्णिमा तक तीन दिनों तक; तीनों दिन उपवास; दूर्वा में रखकर उमा, महेश्वर, धर्म, सावित्री की मूर्तियों की पूजा; सावित्री की कथा का वाचन; नृत्य एवं गान के साथ जागर (जागरण); प्रथम दिन तिल, घृत एवं समिधा से होम; समृद्धि, सुख एवं पुत्रों की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० २, ३१५-३१८, पद्मपुराण से उद्धरण); सावित्री की उत्पत्ति विष्णु के केश से हुई कही जाती है और उस पर अमृत की कुछ बूँदें गिरी थीं।

दूर्वाष्टमी : (१) भाद्रपद शुक्ल ७ को उपवास; गन्ध, पुष्प, धूप आदि से विशेषतः दूर्वा एवं शमी के साथ अष्टमी को शिव-पूजन; हेमा० (व्रत० १, ८७३-८७५); कृत्यकल्पतरु (व्रत० २३९-२४१); हेमा० (काल० १०७); जब अगस्त्य का उदय हो जाता है या सूर्य कन्या-राशि में रहता है तब इसका सम्पादन नहीं होता; व्रतकालविवेक (१५); पुरुषार्थचिन्तामणि (१२०); (२) इस प्रकार में दूर्वा को ही देवी मानकर पुष्पों, फलों आदि से उसकी पूजा की जाती है; दो मन्त्र कहे जाते हैं, जिनमें एक का अर्थ यों है—'हे दूर्वा, तुम अमर हो, देव एवं असुरों से सम्मानित हो, मुझे सौभाग्य, सन्तति एवं सभी सुख दो'; तिल एवं गेहूँ के आटे से बने भोजन से ब्राह्मणों, सम्बन्धियों एवं मित्रों का सम्मान करना; यह स्त्रियों के लिए अनिवार्य है; इसका सम्पादन भाद्रपद शुक्ल की अष्टमी को ज्येष्ठा या मूल नक्षत्र में तथा अगस्त्य के उदित होने तथा सूर्य के कन्या-राशि में रहने पर नहीं होता; भविष्योत्तर-पुराण (५६); पुरुषार्थचिन्तामणि (१२७-१२९); स्मृतिकौस्तुभ (२२८-२३०)।

दृढव्रत : चैत्र में चन्दन-लेप का त्याग; अंजनपूर्ण शंख एवं दो वस्त्रों का दान; मत्स्य० (१०१।४४); कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४४५); कृत्यरत्नाकर (१८३); पद्मपुराण (५।२०।९१-९२)।

देवमूर्तिव्रत : चैत्र शुक्ल की प्रथमा से आरम्भ; एक वर्ष तक प्रत्येक मास में चार दिनों तक क्रम से शिव, अग्नि, विरूपाक्ष एवं वायु की मूर्तियों की दही, तिल, यवों एवं घी से पूजा; यह चतुर्मूर्तिव्रत है; हेमाद्रि (व्रत० २, ५०४-५०५, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)।

देवयात्रोत्सव : नीलमतपुराण (पृ० ८३-८४, श्लोक १०१३-१०१७)। देव-मन्दिरों में यात्रोत्सव का सम्पादन कुछ निश्चित तिथियों में होता है, यथा—विनायक-मन्दिर में चौथ पर, स्कन्द-मन्दिर में षष्ठी पर, सूर्य-मन्दिर में सप्तमी पर, दुर्गा-मन्दिर में नवमी पर, उसी प्रकार लक्ष्मी, शिव, नागों एवं विश्वेदेवों के मन्दिरों में क्रम से पंचमी, अष्टमी या चतुर्दशी, पंचमी, द्वादशी या पूर्णिमा पर; राजनीतिप्रकाश (पृ० ४१६-४१९) ने इसके लिए वैशाख से लेकर आगे ६ मासों तक देवों के मन्दिरों में व्यवस्था दी है, यथा—प्रथमा पर ब्रह्मा, तृतीया पर गंगा आदि।

देवव्रत : (१) जब चतुर्दशी को मघा नक्षत्र का बृहस्पति से योग हो तो उस पर उपवास करना चाहिए और महेश्वर-पूजा करनी चाहिए; इससे जीवन, सम्पत्ति एवं यश की वृद्धि होती है; हेमाद्रि (व्रत०, २।६४); (२) आठ दिनों तक नक्त, गोदान, स्वर्ण-चक्र, त्रिशूल एवं दो वस्त्रों का 'शिव एवं केशव प्रसन्न हों' शब्दों के साथ

दान; संवत्सरव्रत; महापातक भी कट जाते हैं; हेमाद्रि (व्रत० २, ८६२); (३) ऋग्वेद-पूजा (गोत्र अगस्त्य; देवता चन्द्र), यजुर्वेद-पूजा (गोत्र काश्यप; देवता रुद्र); सामवेद-पूजा (गोत्र भारद्वाज; देवता इन्द्र), इसके उपरान्त शरीरांगों का वर्णन, अथर्ववेद-पूजा भी; हेमाद्रि (व्रत० २, ९१५-१६)। क्या यह वेदव्रत है?

देवशयनोत्थान-महोत्सव या विधि : हेमाद्रि (व्रत०, २, ८००-८१७)। देखिए गत अध्याय ५, जहाँ उन दिनों का उल्लेख है जिनमें विष्णु सोते एवं जागते हैं।

देवीपूजा : आश्विन शुक्ल ९ पर; प्रतिवर्ष; राजनीतिप्रकाश (४३९-४४)। देखिए गत अध्याय ९।

देवीव्रत : (१) कार्तिक में; कर्ता केवल दूध एवं रात्रि में शाक सब्जी मात्र खाता है; देवी (दुर्गा) की पूजा; तिल से होम; 'जयन्ती मंगला काली भद्रकाली कपालिनी। दुर्गा क्षमा शिवा धात्री स्वधा स्वाहा नमोस्तु ते॥' मन्त्र के साथ जप; सभी पापों, रोगों एवं भयों से मुक्ति; हेमाद्रि (व्रत० ७७५-७७६); (२) प्रकीर्णक व्रत; गौरी एवं शम्भु, जनार्दन एवं लक्ष्मी तथा सूर्य एवं उसकी पत्नी की मूर्तियों की पूजा; श्वेत पुष्पों से सम्मान देने के उपरान्त धूप, घण्टी एवं दीप का दान; इससे दिव्य रूप प्राप्त होता है; हेमाद्रि (व्रत० २, ८८४); (३) किसी भी मास की पूर्णिमा पर; कर्ता केवल दूध पर रहता तथा गोदान करने से लक्ष्मी के लोक में पहुँचता है; हेमाद्रि (व्रत० २, २३९); कृत्यकल्पतरु (४४७-४४८)।

देव्यान्दोलन : चैत्र शुक्ल ३ पर; कुंकुम आदि से तथा दमनक (दौना) से उमा एवं शंकर की मूर्ति की पूजा; पालने पर मूर्तियों को झुलाना एवं जागरण; पुरुषार्थचिन्तामणि (८५)।

देव्या रथयात्रा : पंचमी, सप्तमी, नवमी, एकादशी या तृतीया को या शिव एवं गणेश के दिनों में राजा ईंटों या प्रस्तर-खण्डों से एक ढाँचा खड़ा करके उसमें देवी की प्रतिमा प्रतिष्ठापित करता है; वह सोने के धागों से सजाकर एक रथ तैयार करके उसमें देवी को रखता है और तब पुरुषों एवं नारियों के एक जुलूस में देवी को अपने निवास पर ले जाता है; नगर, गलियाँ, घर, द्वार सजे एवं दीपित रहते हैं; इससे सुख, गौरव, समृद्धि एवं पुत्रों की प्राप्ति होती है; हेमाद्रि (व्रत० २, ४२०-४२४)।

दोलयात्रा : देखिए गत अध्याय १२; तिथितत्त्व (१४०); पुरुषार्थचिन्तामणि (३०८); गदाधरपद्धति (कालसार, १७९)।

दोलायात्रा : ऊपर वाली ही; गदाधरपद्धति (कालसार, १८९-१९०)।

दोलोत्सव : विभिन्न देवों के लिए विभिन्न तिथियों पर। देखिए पद्मपुराण (४।८०।४५-५०) जिसमें आया है कि कलियुग में फाल्गुन चतुर्दशी पर आठवें प्रहर में या पूर्णिमा तथा प्रथमा के योग पर दोलोत्सव ३ दिनों या ५ दिनों तक किया जाता है, पालने में झूलते हुए कृष्ण को दक्षिणाभिमुख हो एक बार देख लेने से पापों के भार से मुक्ति मिल जाती है; पद्मपुराण (६।८५) में विष्णु का दोलोत्सव भी वर्णित है। चैत्र शुक्ल ३ पर गौरी का तथा (पुरुषार्थचिन्तामणि ८५, व्रतराज ८४) राम का दोलोत्सव (समयमयूख ३५) होता है। कृष्ण का दोलोत्सव चैत्र शुक्ल ११ (पद्मपुराण ६।८५) पर होता है; गायत्री के समान मन्त्र यह है—'ओं दोलारूढाय विद्महे माधवाय च धीमहि। तन्नो देवः प्रचोदयात्॥' आज भी मथुरा-वृन्दावन, अयोध्या, द्वारका, डाकोर आदि में कृष्ण का दोलोत्सव मनाया जाता है।

दौहित्रप्रतिपदा : आश्विन शुक्ल १; व्रतराज (६१); यह श्राद्ध है। देखिए मूल ग्रन्थ, खण्ड ४, पृ० ५३३।

द्यूतप्रतिपदा : कार्तिक शुक्ल १; देखिए ऊपर 'दिवाली' के अन्तर्गत 'बलिप्रतिपदा'।

द्राक्षाभक्षण : अंगूरों का प्रथम भक्षण। आश्विन में; कृत्यरत्नाकर (पृ० ३०३-३०४)। ब्रह्मपुराण में ऐसा आया है कि जब समुद्र देवों द्वारा मथित हुआ तो क्षीरसागर से एक सुन्दर नारी का उद्भव हुआ और वह

एक मनोरम लता के रूप में परिणत हो गयी और देवों ने प्रश्न किया--'यह कौन है ? हम इसे प्रसन्नता से देखेंगे' (हन्त द्रक्ष्याम हे वयम्) और इस लता को 'द्राक्षा' (अंगूर) की संज्ञा दी। जब लता के अंगूर पक जाते हैं तो उसकी पूजा पुष्पों, धूप, नैवेद्य आदि से की जाती है और इसके उपरान्त दो बच्चों एवं दो बूढ़ों को सम्मानित किया जाता है और तब गानों एवं नाच का कार्यक्रम किया जाता है।

द्वादशमासरक्षव्रत : कृत्तिका नक्षत्र में पड़ने वाली कार्तिक-पूर्णिमा को यह व्रत प्रारम्भ होता है; नरसिंह-पूजन; ब्राह्मण को चन्दन एवं तगर पुष्पों का दान; मार्गशीर्ष की मृगशिरा-नक्षत्रयुक्त पूर्णिमा को राम की पूजा; पुष्ययुक्त पौष पूर्णिमा को बलराम-पूजन, माघी एवं मघी में वराह-पूजन, फाल्गुनी एवं फाल्गुनियों (नक्षत्रों) में नर एवं नारायण की पूजा आदि और यह क्रम श्रावण पूर्णिमा तक चलता है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।२१४।१-२६)।

द्वादशसप्तमीव्रत : चैत्र शुक्ल ७ को प्रारम्भ; १२ मासों तक सभी शुक्ल सप्तमियों में; १२ आदित्यों, यथा—धाता, मित्र, अर्यमा, पूषा, शुक्र, वरुण, भग, त्वष्टा, विवस्वान्, सविता एवं विष्णु की पूजा; अन्त में स्वर्ण-दान; इससे सविता के लोक में पहुँच हो जाती है; हेमाद्रि (व्रत० १, ११७३); अहल्याकामधेनु (८५१); दोनों ने विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।१८२।१-३) को उद्धृत किया है, जहाँ इसे कामदेवव्रत की संज्ञा दी गयी है।

द्वादशाहयज्ञ-फलावाप्ति-तृतीया : (१) एक वर्ष तक प्रति तृतीया (सम्भवतः शुक्ल) पर; १२ अर्ध दिव्य प्राणियों की, जिन्हें 'साध्य' कहा गया है, पूजा की जाती है; हेमाद्रि (व्रत० १, ४९८); (२) अनुशासन० (१०९) में उपवास की व्यवस्था है, जो मार्गशीर्ष (शुक्ल ?) की द्वादशी से आरम्भ होता है; विभिन्न नामों से, यथा—केशव, नारायण, माधव आदि, विष्णु की पूजा होती है; कर्ता को वही पुण्य या पुरस्कार प्राप्त होते हैं जो अश्वमेध, वाजपेय एवं अन्य वैदिक यज्ञ करने से प्राप्त होते हैं।

द्वादशाहसप्तमी : माघ शुक्ल सप्तमी पर आरम्भ; एक वर्ष तक; सप्तमी पर उपवास; उस दिन विभिन्न नामों से सूर्य की पूजा, वरुण की पूजा माघ में, तपन की फाल्गुन में, वेदांशु की चैत्र में, धाता की वैशाख में...आदि; अष्टमी को ब्राह्मण-भोजन; कृष्ण पक्ष की सप्तमी को भी उपवास आदि; हेमाद्रि (व्रत० १, ७२०-७२४)।

द्वादशीव्रत : मार्गशीर्ष शुक्ल एवं कृष्ण पक्ष की द्वादशी पर उपवास करने से पुण्य होता है; विष्णु-धर्मोत्तरपुराण (१।१५९।१-२१ एवं १।१६०); कुल लगभग ५० द्वादशीव्रत हैं; कृत्यकल्पतरु (व्रत०, ३१०-३६९); हेमाद्रि (व्रत० १, ११६२-१२२२); हेमाद्रि (काल, २८९-२९८); कालनिर्णय (२७५-२७७); तिथितत्त्व (११४-११७); समयमयूख (९२-९५); पुरुषार्थचिन्तामणि (२१३-२२२), व्रतराज (४७५-४९५)। वराहपुराण ने अध्याय ३९-४९ में दस अवतारों (मत्स्य से कल्की तक) के नामों पर १० द्वादशियों का उल्लेख किया है, जिनमें से अधिकांश का उल्लेख यथास्थान क्रम से हो जायेगा। अग्निपुराण (१८८) ने कई द्वादशियों का उल्लेख किया है। हेमाद्रि (काल० २६०-२६३) ने ब्रह्मवैवर्त से आठ प्रकार की द्वादशियों का उद्धरण दिया है (देखिए गत अध्याय ५)। और देखिए हेमाद्रि (काल० ६३४-६३७), कृत्यरत्नाकर (१२९-१३१)। 'युग्मवाक्य' (कालनिर्णय २७५) के मत से एकादशी से युक्त द्वादशी अच्छी मानी जाती है।

द्वादशीव्रत : मार्गशीर्ष शुक्ल से प्रारम्भ; एक वर्ष या पूरे जीवन भर; एकादशी को व्रत, षोडशोपचार के साथ द्वादशी को वासुदेव-पूजन; यदि एक वर्ष तक किया जाय तो पापमोचन हो जाता है, यदि जीवन भर किया जाये तो श्वेतद्वीप में गति हो जाती है; यदि शुक्ल एवं कृष्ण पक्षों की द्वादशियों में व्रत किया जाये तो स्वर्ग-प्राप्ति और यदि इसी प्रकार जीवन भर किया जाये तो विष्णुलोक-प्राप्ति होती है; विष्णुधर्मसूत्र (४९।१-८); कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३१०); अनुशासन० (अध्याय १०९)।

द्वितीयाव्रत : देखिए अग्निपुराण (१७७।१-२०); कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४०-४८); हेमाद्रि (व्रत० १।३६६-३९३); कालनिर्णय (१६९-१७२); तिथितत्त्व (२९-३०); पुरुषार्थचिन्तामणि (८२-८४); व्रतराज (७८-८१)। कृत्यकल्पतरु (व्रत) ने केवल तीन का उल्लेख किया है, यथा——पुष्पद्वितीया, अशून्यशयन (दो प्रकार) एवं कान्तिव्रत; किन्तु हेमाद्रि ने ११ प्रकार दिये हैं। निर्णयामृत ने दो प्रकार बताये हैं, यथा——अशून्यशयन एवं यमद्वितीया और टिप्पणी की है कि अन्य मासों की द्वितीया तिथियों को अन्य व्रत प्रसिद्ध नहीं हैं।

द्विदलव्रत : कार्तिक में; द्विदल धान्य, यथा——तूर, राजिका, माष, मुद्ग, मसूर, चना, कुलित्थ का वर्जन होता है; निर्णयसिन्धु (१०४-१०५)।

द्वितीयाभद्राव्रत : विष्टि नामक करण पर यह किया जाता है; मार्गशीर्ष शुक्ल ४ से प्रारम्भ; एक वर्ष तक; भद्रा देवी की पूजा, 'भद्रे भद्राय भद्रं हि चरिष्ये व्रतमेव ते। निर्विघ्नं कुरु मे देवि कार्यसिद्धिं च भावय।।' नामक मन्त्र का वाचन; ब्राह्मण-सम्मान; भद्रा करण काल में कर्ता को भोजन नहीं करना चाहिए; अन्त में भद्रा की लौह या प्रस्तर या काष्ठ मूर्ति या चित्र की प्रतिष्ठा करके पूजा की जाती है; फल यह मिलता है कि भद्रा में भी किये गये संकल्पों की पूर्ति हो जाती है। हेमाद्रि (व्रत० २, ७२४-७२६); पुरुषार्थचिन्तामणि (५२)। अधिकांशतः भद्रा या विष्टि को भयानक एवं अशुभ माना जाता है; स्मृतिकौस्तुभ (५६५-५६६)।

द्विराषाढ : आषाढ़ शुक्ल ११ को विष्णु शयन करते रहते हैं; जब सूर्य मिथुन राशि में हो और इस अवधि में दो अमावास्याएँ अन्त को प्राप्त हो जायें तो दो आषाढ़ (चान्द्र) मास होते हैं और अधिमास पड़ता है और विष्णु दूसरी अमावास्या (अर्थात् कर्कट या श्रावण) में शयन करते हैं; कालविवेक (१६९-१७३); निर्णयसिन्धु (१९२); समयमयूख (८३)।

द्वीपव्रत : चैत्र शुक्ल तथा प्रत्येक मास में सात दिनों के लिए व्यक्ति को क्रम से सात द्वीपों, यथा——जम्बू, शाक, कुश, क्रौंच, शाल्मलि, गोमेद एवं पुष्कर की पूजा एक वर्ष तक करनी चाहिए; पृथिवी पर शयन करना चाहिए और वर्ष के अन्त में रजत, फल देने चाहिए; स्वर्ग-प्राप्ति होती है; हेमाद्रि (व्रत० २, ४६५-४६६)।

धनत्रयोदशी : आश्विन कृष्ण १३; देखिए गत अध्याय १० एवं इस सूची में 'दिवाली'।

धनदपूजा : कुबेर-पूजा; आश्विन पूर्णिमा के प्रदोष पर; तिथितत्त्व (१३६-१३७)।

धनदव्रत : उपवास के साथ फाल्गुन शुक्ल १३ से आरम्भ; एक वर्ष; गन्ध, पुष्प आदि उपचारों से कुबेर (यहाँ इन्हें 'महाराज' कहा गया है) की पूजा; अन्त में ब्राह्मण को स्वर्ण-दान; विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।१८४।१-३); हेमाद्रि (व्रत० २, १८-१९) ने इसे नन्दव्रत की संज्ञा दी है।

धनसंक्रान्तिव्रत : संक्रान्ति के दिन पर आरम्भ; संक्रान्तिव्रत; एक वर्ष; सूर्य देवता; प्रति मास एक घड़े में जल तथा उसमें एक स्वर्ण-खण्ड रखकर "सूर्य प्रसन्न हों" के साथ दान कर देना चाहिए; अन्त में स्वर्ण-कमल एवं एक गाय का दान करना चाहिए; कर्ता को कई जीवनों तक स्वास्थ्य, सम्पत्ति तथा लम्बी आयु प्राप्त होती है; हेमाद्रि (व्रत० २, ७३६-७३७, स्कन्दपुराण से उद्धरण)।

धनावाप्तिव्रत : (१) श्रावण पूर्णिमा के उपरान्त प्रथम तिथि पर आरम्भ; एक मास तक; नील कमलों, घी, नैवेद्य के साथ विष्णु एवं संकर्षण की पूजा; भाद्रपद पूर्णिमा के पूर्व तीन दिनों तक उपवास, व्रत के अन्त में गोदान; हेमाद्रि (व्रत० २, ७५९); (२) एक वर्ष तक वैश्रवण (कुबेर) की पूजा; बहुत धन की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० १५५, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण); (३) चैत्र शुक्ल प्रथमा से आरम्भ; विष्णु, पृथिवी, आकाश एवं ब्रह्मा की मूर्तियों की क्रम से प्रथमा से चतुर्थी तक एक वर्ष तक पूजा; सम्पत्ति, सौन्दर्य एवं सुख की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० २, ५०१-५०२)। यह चतुर्मूर्तिव्रत है।

धन्यव्रत या धन्यप्रतिपदा-व्रत : मार्गशीर्ष शुक्ल १; उस दिन नक्त (केवल एक बार रात्रि में भोजन) और रात्रि में विष्णुमूर्ति (अग्नि के अनुरूप) की पूजा; इसके सामने बने कुण्ड में होम; घृत के साथ यावक एवं भोजन का ग्रहण; यही कृत्य कृष्ण पक्ष में भी किया जाता है; चैत्र से लेकर आठ मासों तक; व्रत के अन्त में अग्नि की स्वर्णिम प्रतिमा का दान; यहाँ तक कि अभागा व्यक्ति भी सुख, सम्पत्ति एवं भोजन से युक्त एवं पापमुक्त हो जाता है; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३८-४०) ने इसे धन्यप्रतिपदा कहा है; हेमाद्रि (व्रत० १, ३५५-३५६); दोनों ने वराहपुराण (५६।१-१६) को उद्धृत किया है।

धरणीव्रत : कार्तिक शुक्ल ११ पर आरम्भ; नारायण की मूर्ति की पूजा; मूर्ति के समक्ष चार घड़े रखे जाते हैं, जिनमें रत्न रखे जाते हैं, जिनके ताम्र-ढक्कनों पर स्वर्ण एवं तिल रख दिये जाते हैं; ये चारों घड़े समुद्र समझे जाते हैं; स्वर्ण प्रतिमा इनके बीच में प्रतिष्ठापित की जाती है; उस रात्रि जागर (जागरण), दूसरे दिन प्रातः पाँच ब्राह्मण बुलाये जाते हैं, उन्हें भोजन एवं दक्षिणा से सम्मानित किया जाता है; इस व्रत को प्रजापति, बहुत-से प्रसिद्ध राजाओं तथा स्वयं धरती (पृथिवी) ने किया था इससे इसका ऐसा नाम पड़ा; हेमाद्रि (व्रत० १, १०४१-४४ वराहपुराण ५०।१-२९ से उद्धरण); कृत्यरत्नाकर (४२६-४३०) ने इसे योगीश्वरद्वादशी कहा है।

धराव्रत : उत्तरायण भर; केवल दूध का सेवन; पृथिवी (धरा) की एक स्वर्णिम प्रतिमा; जिसकी तौल २२ पल होती है; रुद्र देवता; कर्ता रुद्रलोक को जाता है; मत्स्यपुराण (१०१।५२); कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४४६); हेमाद्रि (व्रत० २, ९०६); कृत्यकल्पतरु के मत से यह संवत्सरव्रत है और हेमाद्रि ने इसे प्रकीर्णक माना है।

धर्मघट-दान : चैत्र शुक्ल १ से प्रारम्भ; ४ मासों तक; पुण्य एकत्र करने वाले व्यक्ति को प्रतिदिन वस्त्र से ढँककर एक ऐसे घड़े का दान करना चाहिए जिसमें शुद्ध शीतल जल रखा गया हो; पुरुषार्थचिन्तामणि (५७-५८); स्मृतिकौस्तुभ (८९-९०)।

धर्मप्राप्तिव्रत : आषाढ़ पूर्णिमा के उपरान्त प्रथम तिथि से आरम्भ; धर्म के रूप में विष्णु की पूजा; एक मास तक; तीन दिनों तक उपवास, जिनमें पूर्णिमा भी सम्मिलित है; मास के अन्त में स्वर्णदान; विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।२०९।१-३)।

धर्मराजपूजा : दमनक के साथ धर्म की पूजा। देखिए दमनकपूजाविधि; स्मृतिकौस्तुभ (१०१)।

धर्मव्रत : मार्गशीर्ष शुक्ल १० पर आरम्भ; उस दिन उपवास एवं धर्म-पूजा; घृत से होम; कृष्ण पक्ष में भी; एक वर्ष तक; अन्त में एक दुधारू गाय का दान; व्रत से स्वास्थ्य, लम्बी आयु, यश की प्राप्ति होती है और पाप कट जाते हैं; हेमाद्रि (व्रत० १, ९६७-६८, विष्णुधर्मोत्तरपुराण ३।१७८।१-८ का उद्धरण है)।

धर्मषष्ठी : आश्विन कृष्ण षष्ठी पर; धर्मराज की पूजा; अहल्याकामधेनु (४१९ए)।

धर्मावाप्तिव्रत : आषाढ़ पूर्णिमा के उपरान्त प्रथम तिथि से प्रारम्भ; एक मास तक; धर्म के रूप में विष्णु की पूजा; इससे सभी उद्देश्यों की पूर्ति होती है; हेमाद्रि (व्रत० २, ७५८, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)।

धात्रीव्रत : धात्री (आमलक) के फल के साथ दोनों पक्षों की एकादशी को स्नान; पद्मपुराण (५।५८।१-११)। धात्री फल वासुदेव को प्यारा लगता है। इसे खाने से व्यक्ति सभी पापों से मुक्त हो जाता है।

धान्य : (ग्राम्य अर्थात् किसी ग्राम में उत्पन्न किया हुआ)। बृहदारण्यकोपनिषद् (६।३।१३) में धान्य के दस प्रकार तथा अन्य पश्चात्कालीन ग्रन्थों में १७ या १८ प्रकार कहे गये हैं।

धान्यसंक्रान्तिव्रत : इसका आरम्भ अयन या विषुव दिन पर होता है; एक वर्ष तक; कुंकुम से आठ दलों वाला कमल खींचा जाता है; प्रत्येक दल पर पूर्व से आरम्भ कर आठ विभिन्न नामों से सूर्य की पूजा की जाती

है; किसी ब्राह्मण को एक पसर (प्रस्थ) अन्न दिया जाता है (इसी से धान्यसंक्रान्ति की संज्ञा बनी है); यह प्रत्येक मास में किया जाता है; हेमाद्रि (व्रतखण्ड, जिल्द २, ७३०-७३२, स्कन्दपुराण से उद्धरण)।

धान्यसप्तक : सात प्रकार के अन्न, यथा—यव (जौ), गेहूँ, धान्य, तिल, कंगु, श्यामाक एवं चीनक; हेमाद्रि (व्रत०, १, ४८, षट्-त्रिंशन्मत से उद्धरण); कृत्यरत्नाकर (७०, यहाँ टिप्पणी है कि कुछ लोग चीनक के स्थान पर देवधान्य रखते हैं); विष्णुपुराण (१।६।२१-२२); वायुपुराण (८।१५०-१५२) एवं मार्कण्डेय० (४६। ६७-६९) ने १७ धान्यों तथा व्रतराज (पृ० १७) ने १८ धान्यों का उल्लेख किया है।

धान्यसप्तमी : शुक्ल सप्तमी पर सूर्य-पूजा; उस दिन नक्त (केवल एक बार रात्रि में भोजन); सात धान्यों, गृहस्थी के बरतन एवं नमक का दान; कर्ता स्वयं तथा अपने सात पूर्व-पुरुषों की रक्षा कर लेता है; हेमाद्रि (व्रत० १, ७८७-७८८, भविष्यपुराण से उद्धरण)।

धामत्रिरात्र-व्रत : हेमाद्रि (व्रत० २, ३२२, पद्मपुराण से उद्धरण); यह नीचे वाला धामव्रत ही है।

धामव्रत : फाल्गुन की पूर्णिमा पर तीन दिनों के उपवास के उपरान्त कर्ता को एक सुन्दर घर का दान करना होता है; वह सूर्यलोक की प्राप्ति करना चाहता है; मत्स्यपुराण (१०१।७९); कृत्यकल्पतरु (व्रत०, ४५०-४५१); हेमाद्रि (व्रत० २, ३२२); यहाँ देवता सूर्य है,'धामन् का अर्थ' है'घर'; गरुडपुराण (१।१३७।३)।

धारणपारण-व्रतोद्यापन : चातुर्मास्य में एकादशी पर या उससे आगे प्रथम मास में या अन्तिम मास में; उपवास (धारण) एक मास में और पारण दूसरे मास में; एक जलपूर्ण घड़े पर लक्ष्मी एवं नारायण की प्रतिमाओं को रखकर रात्रि में पञ्चामृत, पुष्पों एवं तुलसी के दलों से 'ओं नमो नारायणाय' मन्त्र को १०८ बार कहकर पूजा करनी होती है; अर्घ्य; उबाले हुए तिल एवं चावल का ऋग्वेद (१०।११२।९) के मन्त्र के साथ एवं उबाले हुए चावल एवं घी का ऋ० (१०।१५५।१) के मन्त्र के साथ होम; स्मृतिकौस्तुभ (४१४-४१६); व्रतार्क (३६५ ए–३६६ बी)।

धाराव्रत : चैत्र से आरम्भ; मुख में जल-धारा डार-डालकर पीना; एक वर्ष तक; अन्त में एक नयी प्याऊ (पौसरा) बनवाना। इस व्रत से चिन्ता दूर होती है, सौन्दर्य एवं कल्याण की प्राप्ति होती है; हेमाद्रि (व्रत० २, ८५३, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण)।

धूप : इसको जलाना एक उपचार है; हेमाद्रि (व्रत० १, ५०-५१) ने धूप के कई मिश्रणों का उल्लेख किया है, यथा अमृत, अनन्त, अक्षधूप, विजयधूप, प्राजापत्य, दस अंगों वाली धूप का भी वर्णन है। कृत्यक० (१३) ने विजय नामक धूप के आठ अंगों का उल्लेख किया है। भविष्यपुराण (१।६८।२८-२९) का कथन है कि विजय धूपों में श्रेष्ठ है, लेपों में चन्दन लेप सर्वोत्तम है, सुरभियों (गन्धों) में कुंकुम सर्वश्रेष्ठ है, पुष्पों में जाती तथा मीठी वस्तुओं में मोदक (लड्डू) सर्वोत्तम है। कृत्यकल्पतरु (व्रत० १८२-१८३) ने इसको उद्धृत किया है। देखिए गरुड़पुराण (१।१७७।८८-८९) जहाँ ऐसा आया है कि धूप से मक्खियाँ एवं पिस्सू नष्ट हो जाते हैं; कृत्यरत्नाकर (७७-७८); स्मृतिचन्द्रिका (१।२०३ एवं २।४३५); बाण (कादम्बरी, प्रथम भाग)।

धूलिवन्दन : होलिका दहन के उपरान्त प्रातःकाल उसकी राख को झुककर प्रणाम करना; पुरुषार्थ-चिन्तामणि (८१); स्मृतिकौस्तुभ (५१८); और देखिए गत अध्याय में होलिका के वर्णन का अन्तिम अंश।

धृतिव्रत : एक वर्ष तक प्रतिदिन पंचामृत (दही, दूध, घी, मधु एवं ईख के रस) से शिवलिंग को स्नान कराना; वर्ष के अन्त में पंचामृत एवं शंख के साथ गोदान; मत्स्यपुराण (१०१।३३-३४); कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४४४); हेमाद्रि (व्रत० २, ८६५)। विष्णुपुराण में शिव के स्थान पर विष्णु के स्नान का उल्लेख है।

धेनुव्रत : पर्याप्त सोने के साथ आसन्नप्रसवा गाय का दान; जो कर्ता उस दिन केवल दूध पर रहता है वह सर्वोत्तम धाम (लोक) प्राप्त करता है और पुनः लौटकर नहीं आता है। मत्स्यपुराण (१०१।४९); कृत्यकल्पतरु (व्रत ४४६)।

ध्वजनवमी : पौष शुक्ल ९; इस तिथि को शम्बरी (शाबरी ?) कहा जाता है; कुमारी एवं सिंहवाहिनी चण्डिका की पूजा झण्डों, मालतीपुष्पों एवं अन्य उपचारों से की जाती है तथा पशुओं की बलि दी जाती है; राजा को देवी के मन्दिर में झण्डा फहराना चाहिए, कुमारियों को खिलाना चाहिए तथा उपवास करना चाहिए या एकभक्त रहना चाहिए; हेमाद्रि (व्रत० १, ८९१-८९४, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण)।

ध्वजव्रत : गरुड़, ताल वृक्ष (जिससे ताड़ी निकाली जाती है, अमरकोश में तालांक नामक मदिरा का उल्लेख है, बलराम उसके प्रेमी माने जाते हैं), मकर (घड़ियाल) एवं हरिण क्रम से वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध के झण्डों पर होते हैं; उनके वस्त्रों एवं झण्डों का रंग क्रम से पीला, नीला, श्वेत एवं लाल होता है; चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ एवं आषाढ़ में प्रतिदिन क्रम से गरुड़ आदि की पूजा उनके अनुकूल रंगीन वस्त्रों एवं पुष्पों से की जाती है; चार मासों के अन्त में ब्राह्मणों को तदनुकूल रंगीन वस्त्र दिये जाते हैं; इस प्रकार ४-४ मासों के तीन क्रम आते हैं; समय की लम्बाई के अनुसार विभिन्न लोकों में पहुँच होती है; यदि १२ वर्षों तक ऐसा किया जाय तो कर्ता को विष्णु से सायुज्य प्राप्त हो जाता है; विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।१४६।१-१४) एवं हेमाद्रि (व्रत० २, पृ० ८२९-८३१) में इसे चतुर्मूर्तिव्रत कहा गया है।

नक्तचतुर्थी : मार्गशीर्ष शुक्ल ४ को प्रारम्भ; देवता विनायक; कर्ता को नक्त भोजन करना होता है और पारण तिलयुक्त भोजन से होता है; एक वर्ष तक; हेमाद्रि (व्रत० १, ५२२-५३६, स्कन्दपु० से उद्धरण)।

नक्तव्रत : यह द्विवारात्रिव्रत है अतः ऐसी तिथि में किया जाता है जो रात्रि एवं दिन दोनों में पड़ती हो (निर्णयामृत १६-१७)। नक्त का अर्थ है दिन में कुछ न खाकर केवल रात्रि में खाना। नक्तव्रत एक मास या चार मासों या एक वर्ष तक चल सकता है। कृत्यरत्नाकर (पृ० २२२, २५५, ३०१-३०३, ४०६, ४४५, ४७७, ४९१-४९२) में श्रावण से माघ तक के मासों के नक्तव्रत का उल्लेख है; लिंगपुराण (१।८३।३-५४) में एक वर्ष के नक्तव्रत की चर्चा है। और देखिए नारदपुराण (२।४३।११-२३)।

नक्षत्रतिथि-वार-ग्रह-योग-व्रत : हेमाद्रि (व्रत० २, ५८८-५९०, कालोत्तर से उद्धरण) में कुछ विशिष्ट तिथियों एवं सप्ताहों के साथ कुछ नक्षत्रों के योग पर सम्पादित होने वाली पूजाओं का उल्लेख है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—जब किसी रविवार को चतुर्दशी एवं रेवती नक्षत्र हो या जब अष्टमी एवं मघा नक्षत्र का योग हो तब शिव-पूजा होनी चाहिए और तिल-भोजन होना चाहिए, इसे आदित्यव्रत कहा जाता है, जिसके सम्पादन से कर्ता को तथा उसके पुत्रों एवं सम्बन्धियों को स्वास्थ्य प्राप्त होता है। जब चतुर्दशी को रोहिणी एवं चन्द्र का योग हो या अष्टमी को चन्द्र का योग हो तो चन्द्रव्रत होता है, जिसमें शिव-पूजा होती है, दूध एवं दही का नैवेद्य होता है, केवल दूध पर रहा जाता है, इससे यश, स्वास्थ्य एवं समृद्धि की प्राप्ति होती है। जब रेवती, बृहस्पतिवार एवं चतुर्दशी या अष्टमी एवं पुष्य का योग होता है तो गुरुव्रत होता है, जिसमें कपिला गाय के दूध में ब्राह्मी का रस मिलाकर सेवन किया जाता है और व्यक्ति वाणी पर स्वामित्व प्राप्त कर लेता है। विष्णुधर्मसूत्र (९०।१-१५) में मार्गशीर्ष पूर्णिमा एवं कार्तिक पूर्णिमा के उसी नाम वाले नक्षत्र के योग पर किये जाने वाले व्रत का उल्लेख है; दानसागर (६२२-६२६, यहाँ विष्णुधर्मसूत्र का उद्धरण है)।

नक्षत्रपुरुषव्रत : चैत्र में आरम्भ; वासुदेवमूर्ति-पूजा; कुछ नक्षत्रों, यथा—मूल, रोहिणी, अश्विनी का पूजन होता है। दस अवतारों एवं उनके अंगों को आश्लेषा, ज्येष्ठा, श्रवण, पुष्य, स्वाति आदि से सम्बन्धित किया

जाता है। व्रत के अन्त में हरि की स्वर्ण-प्रतिमा को गुड़ के साथ घड़े में रखकर किसी सुपात्र ब्राह्मण को दिया जाता है, पलंग एवं उसके अन्य उपकरण भी दिये जाते हैं। कर्ता अपनी पत्नी की लम्बी आयु के लिए प्रार्थना करता है और व्रत के दिनों में बिना तेल एवं नमक के भोजन करता है। मत्स्यपुराण (५४।३-३०); कृत्यकल्पतरु (व्रत०, ४००-४०४); हेमाद्रि (व्रत० २, ६९९-७०३); कृत्यरत्नाकर (८७-९१); बृहत्संहिता (अध्याय १०४)।

नक्षत्रपूजा-विधि : नक्षत्रों के स्वामियों की पूजा, यथा--अश्विनी, भरणी, कृत्तिका आदि के क्रम से स्वामी अश्विनीकुमारों, यम, अग्नि आदि, की इससे दीर्घ आयु, दुर्घटना-मृत्यु से छुटकारा, समृद्धि की प्राप्ति होती है; वायु-पुराण (८०।१-३९); हेमाद्रि (व्रत० २, ५९४-५९७); कृत्यरत्नाकर (५५७-५६०)।

नक्षत्र-विशेषे पदार्थविशेष-निषेध : कुछ नक्षत्रों में कुछ कर्म वर्जित हैं। यहाँ कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं। वर्षक्रियाकौमुदी (८७-८८) एवं तिथितत्त्व (२८) एक श्लोक उद्धृत करते हैं--'चित्रा, हस्त एवं श्रवण में तिल के तेल का प्रयोग, विशाखा एवं अभिजित् में क्षौर कर्म, मूल, मृगशिरा एवं भाद्रपदा में मांस तथा मघा, कृत्तिका एवं उत्तरा में मैथुन नहीं करना चाहिए।' देखिए वायुपुराण (१४।५०-५१)।

नक्षत्र-विधि-व्रत : मृगशिरा को प्रारम्भ; पार्वती की पूजा, पार्वती के पाँवों को मूल, गोद को रोहिणी, घुटनों को अश्विनी से सम्बन्धित करके पूजा की जाती है, इसी प्रकार अन्य अंगों को अन्य नक्षत्रों से सम्बन्धित किया जाता है; प्रत्येक नक्षत्र में उपवास किया जाता है, उस नक्षत्र के उपरान्त पारण होता है; विभिन्न नक्षत्रों में विभिन्न प्रकार का भोजन होता है, इसी प्रकार विभिन्न नक्षत्रों में विभिन्न पुष्पों का प्रयोग होता है; इस व्रत से सौन्दर्य एवं सौभाग्य की प्राप्ति होती है; कृत्यकल्पतरु (व्रत०, ४११-४१४); हेमाद्रि (व्रत० २, ६९६-६९८)।

नक्षत्रव्रत : अग्नि० (१९६), कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३९९-४१७), हेमाद्रि (व्रत० २, ५९३ ७०६)। कृत्यकल्पतरु ने दस का तथा हेमाद्रि (व्रत०) ने ३३ का उल्लेख किया है। अश्विनी से आगे के नक्षत्रों से सम्बन्धित व्रतों का उल्लेख हेमाद्रि (व्रत०) में है। हेमाद्रि (काल० १२६ १२८), कालनिर्णय (३२७ ३२८) एवं निर्णयामृत (१८) ने व्रतों में किये जाने वाले उपवास आदि का उल्लेख किया है। नियम यह है कि उपवास के समय का नक्षत्र सूर्यास्त के समय या उस समय जब कि चन्द्र का अर्धरात्रि से योग हो, अवश्य उपस्थित रहे (अर्ध रात्रि के समय कोई निर्दिष्ट नक्षत्र रहता है)। इन दोनों में प्रथम बात मुख्य है; दूसरी उससे कम महत्त्व रखती है। देखिए विष्णुधर्मोत्तरपुराण (१।६०।२६-२७); कालनिर्णय (३२७); हेमाद्रि (काल०, १२६); वर्षक्रियाकौमुदी (८)।

नक्षत्रहोमविधि : हेमाद्रि (व्रत० २, ६८४-६८८) ने अश्विनी से रेवती तक के २७ नक्षत्रों के लिए पूजा एवं होम की विधि को गर्ग से गद्य में उद्धृत किया है। कितने दिनों तक रोग एवं भय चलता रहेगा, किस देवता का पूजन हो, पुष्पों, नैवेद्य, धूप, समिधा के वृक्ष, पूजा-मन्त्र, अग्नि में डाली जाने वाली प्रमुख वस्तु आदि के विषय में वर्णन है। एक उदाहरण है--रोहिणी के लिए ८ दिन, देवता प्रजापति, नैवेद्य दूध में उबाला हुआ चावल, कमल के पुष्प, साल वृक्ष से निकाली हुई वस्तु की धूप, पूजा-मन्त्र--'नमो ब्रह्मणे।' सभी प्रकार के धान्य अग्नि में डाले जा सकते हैं। आहुतियाँ १०८ होती हैं, फल आरोग्य-लाभ।

नक्षत्रार्थव्रत : देखिए ऊपर 'नक्षत्रविधि-व्रत' जो ऐसा ही है।

नदीत्रिरात्रव्रत : जब आषाढ़ में नदी बाढ़ पर होती है, उसके जल को किसी काले घड़े में रखकर घर लाना चाहिए, दूसरे दिन प्रातः नदी में स्नान करके घड़े की पूजा करनी चाहिए, तीन दिनों तक या एक दिन तक उपवास करना चाहिए या एकभक्त होना चाहिए (अर्थात् एक बार खाना चाहिए), अखण्ड दीप जलाना

चाहिए, नदी एवं वरुण का नाम लेना चाहिए, अर्घ्य, फल, नैवेद्य आदि देना चाहिए, गोविन्द की प्रार्थना करनी चाहिए, यह व्रत तीन वर्षों तक चलेगा; अन्त में गोदान करना चाहिए। इससे सन्तान एवं सौभाग्य मिलता है; पद्मपुराण (६।७१)।

नदी-व्रत : (१) चैत्र शुक्ल से प्रारम्भ; सात दिनों तक नक्त-विधि; सात नदियों, यथा--ह्लादिनी (या नलिनी), ह्लादिनी, पावनी, सीता, इक्षु, सिन्धु, भागीरथी की पूजा, यह वर्ष भर प्रति मास ७ दिनों तक चलता रहना चाहिए; जल में दूध नहाया जाता है दूध से पूर्ण घटों का दान किया जाता है, वर्ष के अन्त में फाल्गुन में ब्राह्मणों को एक पल चाँदी का दान किया जाता है; हेमाद्रि (व्रत०, २, ४६२); मत्स्यपुराण (१२१।४०-४१); वायुपुराण (४७।३८-३९, यहाँ गंगा की सात धाराओं का उल्लेख है); (२) हेमाद्रि (व्रत० १, ७९२); सरस्वती की पूजा करने से सात प्रकार के ज्ञान की उपलब्धि होती है।

नदी-स्नान : देखिए ऊपर 'दशहरा', गत अध्याय ४; तिथितत्त्व (६२-६४); पुरुषार्थचिन्तामणि (१४४-१४५); गदाधरपद्धति (६०९)।

नन्दव्रत : विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।१८४।१-३); हेमाद्रि (व्रत० २, पृ० १८-१९)। देखिए ऊपर 'धनव्रत'।

नन्दा : (तिथियाँ) प्रथमा, षष्ठी एवं एकादशी तिथियाँ इस उपनाम से पुकारी जाती हैं।

नन्दादिविधि : रविवार के बारह नाम हैं, यथा--नन्द, भद्र आदि; माघ शुक्ल षष्ठी वाला रविवार नन्द कहलाता है; उस दिन नक्त होता है, घी से सूर्य-प्रतिमा को स्नान कराया जाता है तथा अगस्त्य के पुष्प चढ़ाये जाते हैं, गेहूँ के पूओं से ब्राह्मणों को तृप्त किया जाता है; कृत्यकल्पतरु (व्रत, १०-१२), हेमाद्रि (व्रत० २, ५२२-२३)।

नन्दादित्यव्रतविधि : सदा रविवार को ही सूर्य-पूजा; सूर्य-ग्रहण के दिन उपवास करना चाहिए तथा महाश्वेता मन्त्र जपना चाहिए और ब्राह्मणों को भोजन देना चाहिए, उस दिन के स्नान, दान एवं जप से अनन्त फल मिलते हैं; हेमाद्रि (व्रत० २, ५२७-२८); कृत्यकल्पतरु (व्रत० २१-२३)।

नन्दानवमीव्रत : भाद्र० कृष्ण ९ (कृत्यकल्पतरु के मत से), शुक्ल ९ (हेमाद्रि के मत से) को नन्दा कहा जाता है। वर्ष भर तीन अवधियों में दुर्गा-पूजा की जाती है; सप्तमी को एकभक्त, अष्टमी को उपवास, जाती एवं कदम्ब के पुष्पों से शिव-पूजा, दुर्गा-प्रतिमा को दूर्वाओं पर रखा जाता है; जागरण, नाटकाभिनय तथा नन्दा मन्त्र (ओं नन्दायै नमः) का जप; नवमी के प्रातःकाल चण्डिका-पूजा, कुमारियों को भोजन; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३०३-३०५); हेमाद्रि (व्रत० २, ९५२-९५४, भविष्यपुराण से उद्धरण)।

नन्दापदद्वयव्रत : आम्रदलों, दूर्वा, अक्षतों, बिल्वदलों से दुर्गा की स्वर्ण-पादुकाओं की पूजा एक मास तक; दुर्गाभक्त या कुमारियों को पादुकाओं का दान; सभी पापों से मुक्ति; कृत्यकल्पतरु (व्रत०, ४२९); हेमाद्रि (व्रत० २, ८८५-८८६, पद्मपुराण से उद्धरण)।

नन्दाव्रत : श्रावण में ३, ४, ५, ६, ८, ९, ११ या पूर्णिमा की तिथियों में आरम्भ; एक वर्ष तक; नक्त-विधि से भोजन; १२ मासों में १२ विभिन्न नामों से विभिन्न पुष्पों एवं नैवेद्य से देवी-पूजा; १०० या १००० बार 'ओं नन्दे नन्दिनि सर्वार्थसाधिनि नमः' नामक मन्त्र का जप, कर्ता पापमुक्त हो जाता है और राजा हो जाता है; कृत्यकल्पतरु (४२४-४२९); हेमाद्रि (व्रत० २, ८३२-८३६, देवीपुराण से उद्धरण); कृत्यरत्नाकर (२८८-२९३)।

नन्दासप्तमी : मार्गशीर्ष शुक्ल ७ पर आरम्भ; तिथिव्रत; एक वर्ष तक; विभिन्न पुष्पों, नैवेद्य, धूप एवं नामों से ४-४ मासों की तीन अवधियों में सूर्य-पूजा; पंचमी पर एकभक्त, षष्ठी पर नक्त तथा सप्तमी पर उपवास;

कृत्यकल्पतरु (व्रत० १३६-१३७); हेमाद्रि (व्रत० १, ६६७-६७१, भविष्यपुराण के ब्राह्मपर्व, १००।१-१६ से उद्धरण)।

नन्दिनीनवमीव्रत : मार्गशीर्ष शुक्ल ९ पर; तिथि; दुर्गा-पूजा; वर्ष को दो भागों में बाँटकर; तीन दिनों का उपवास; ६ मासों की अवधि में विभिन्न पुष्प एवं विभिन्न नाम; कर्ता स्वर्ग जाता है और शक्तिशाली राजा के रूप में लौटता है; कृत्यकल्पतरु (व्रत०, ३०२-३०३)। देखिए ऊपर 'त्रितयप्रदानसप्तमी'।

नरकचतुर्दशी : देखिए गत अध्याय १०।

नरक-पूर्णिमा : प्रत्येक पूर्णिमा या मार्गशीर्ष की पूर्णिमा पर आरम्भ; एक वर्ष; उस दिन उपवास एवं विष्णु-पूजा तथा उनके नाम का जप या केशव से दामोदर तक १२ नामों का जप १२ मासों में (मार्गशीर्ष से प्रारम्भ कर); प्रत्येक मास में दक्षिणा के साथ एक जलपात्र एवं वस्त्रों का जोड़ा, यदि असमर्थ हो तो वर्ष के अन्त में ही ऐसा दान; इस व्रत से सुख मिलता है; यदि मृत्यु के समय हरि का नाम लिया जाता है तो स्वर्ग मिलता है; हेमाद्रि (व्रत० २, १६६-१६७, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)।

नरसिंहचतुर्दशी : वैशाख शुक्ल १४; तिथि; यदि स्वाति नक्षत्र हो, शनिवार हो, सिद्धि योग एवं वणिज-करण हो तो करोड़ गुना पुण्य होता है; नरसिंह (अवतार) देवता हैं; हेमाद्रि (व्रत० २।४१-४९, नरसिंह-पुराण से उद्धरण); पुरुषार्थचिन्तामणि (२३७-२३८); समयमयूख (९८), पुरुषार्थचिन्तामणि आदि ने इसे नृसिंहजयन्ती कहा है; स्मृतिकौस्तुभ (११४)। यदि यह १३ या १५वीं से युक्त हो तब वह दिन जब १४ वीं तिथि सूर्यास्त के समय उपस्थित हो तो उसे स्वीकार कर लेना चाहिए। वर्षक्रियादीपक (पृ० १४५-१५२) ने पूजा की एक लम्बी विधि दी है; यह तमिल पञ्चांगों में भी पायी जाती है। नृसिंह भगवान् वैशाख शुक्ल १४ को स्वाति नक्षत्र में प्रकट हुए थे।

नरसिंहत्रयोदशी : फाल्गुन कृष्ण १२ पर; उस दिन उपवास एवं नरसिंह-प्रतिमा की पूजा; श्वेत वस्त्र से आच्छादित एक घट प्रतिष्ठापित किया जाता है और उस पर एक स्वर्णिम या काष्ठ की या बाँस की प्रतिमा रखी जाती है; उसी दिन किसी ब्राह्मण को वह प्रतिमा दे दी जाती है; हेमाद्रि (व्रत० १, १०२९-३०, वराहपुराण ४२।१-७ एवं १३-१६ का उद्धरण)। प्रकाशित वराहपुराण में ऐसी व्यवस्था है कि व्रत को शुक्ल पक्ष में किया जाय, किन्तु हेमाद्रि (व्रत० १, १०२९) में कृष्ण पक्ष का उल्लेख है।

नरसिंहाष्टमी या नरसिंहव्रत : राजा या राजकुमार या कोई भी व्यक्ति शत्रु का नाश करने के लिए इसका सम्पादन करता है; अष्टमी पर उसे चावल या पुष्पों से आठ दलों का एक कमल खींचना चाहिए और उस पर नरसिंह की प्रतिमा रखनी चाहिए और उसकी तथा श्रीवृक्ष (बिल्व या अश्वत्थ ?) की पूजा करनी चाहिए; हेमाद्रि (व्रत० १, ८७६-८८०, गरुड़पुराण से उद्धरण)।

नवनक्षत्रशान्ति : एक शान्ति कृत्य एवं नौ नक्षत्रों की पूजा; मनुष्य के जन्म के नक्षत्र को जनन-नक्षत्र कहा जाता है, चौथे, दसवें, सोलहवें, बीसवें, तेईसवें को क्रम से मानस, कर्म, सांघातिक, समुदय एवं वैनाशिक कहा जाता है। साधारण जन छः नक्षत्रों तक सीमित रहते हैं, किन्तु राजा तीन अन्य नक्षत्रों को सम्मिलित कर लेता है, यथा--राज्याभिषेक नक्षत्र, देश-नक्षत्र (वह नक्षत्र जो उसके देश पर स्वामित्व करता है) तथा उसके वर्ण का नक्षत्र। यदि इन नक्षत्रों पर ग्रहों के बुरे प्रभाव पड़ जाते हैं तो इनके (इन छः या नौ नक्षत्रों के) द्वारा अभिव्यक्त विषयों में गड़बड़ी हो जाती है, यथा--यदि जनन-नक्षत्र प्रभावित हो तो वह जीवन एवं सम्पत्ति खो सकता है, यदि अभिषेक-नक्षत्र प्रभावित हो तो राज्य-हानि हो सकती है। उचित कृत्यों एवं पूजा से बुरे प्रभाव रोके जा सकते हैं, यथा--जनन-नक्षत्र के लिए ऐसे जल से स्नान करना चाहिए जिसमें कुश डुबाया गया हो, जिसमें श्वेत बैल

का गोबर एवं मूत्र तथा श्वेत गाय का दूध मिलाया गया हो; हेमाद्रि (व्रत० २, ६८८-६९१)। यह द्रष्टव्य है कि इस विषय में कि जनन के उपरान्त किन नक्षत्रों से उपर्युक्त नाम सम्बन्धित हैं, वैखानसगृह्यसूत्र (४।१४), विष्णुधर्मोत्तरपुराण (२।१६६), नारदपुराण (१।५६।३५८-५९), वराहमिहिर रचित योगयात्रा (९।१-२) ने विभिन्न मत दिये हैं।

नवनीतधेनुदान : कार्तिक अमावास्या पर; ब्रह्मा एवं सावित्री की पूजा; विभिन्न फलों, सोने एवं वस्त्रों के साथ नवनीत की धेनु का दान; पुरुषार्थचिन्तामणि (३१५)। देखिए मूल ग्रन्थ, खण्ड २, पृ० ८८३।

नवमीरथव्रत : आश्विन कृष्ण ९ पर उपवास एवं दुर्गा-पूजा; वस्त्र, झंडों, छत्र, दर्पणों, मालाओं, सिंहों, चित्रों से अलंकृत देवी-रथ की पूजा; रथ में महिष पर त्रिशूल रखने वाली दुर्गा की स्वर्ण-प्रतिमा को रख दिया जाता है; जन-मार्ग से रथ को ले जाकर दुर्गा-मन्दिर के पास लाया जाता है, मशालों, नाटक, नृत्यों आदि से रात्रि भर जागरण (जागर); दूसरे दिन प्रातः प्रतिमा-स्नान; देवी के भक्तों को भोजन; शय्या, बैल, गाय आदि के दान से पुण्य; कृत्यरत्नाकर (३१४-३१५)।

नवमीव्रत : कृत्यकल्पतरु (व्रत० २७३-३०८); हेमाद्रि (व्रत० १, ८८७-९६२); कालनिर्णय (२२९-२३०); तिथितत्त्व (५९, १०३); पुरुषार्थचिन्तामणि (१३९-१४२); व्रतराज (३१९-३५२); अष्टमी से युक्त नवमी को अच्छा माना जाता है; तिथितत्त्व (५९); धर्मसिन्धु (१५); चैत्र शुक्ल ९ पर भद्रकाली को सभी योगिनियों की रानी बनाया गया, अतः सभी नवमियों पर उपवास करना चाहिए और उसकी पूजा करनी चाहिए; कृत्यकल्पतरु (नैयतकालिक काण्ड, ३८३); कृत्यरत्नाकर (१२७-१२८)।

नवम्यादि-उपवासव्रत : अष्टमी, नवमी, चतुर्दशी एवं पूर्णिमा पर उपवास; व्यक्ति शिव के गणों का अधिपति हो जाता है; हेमाद्रि (व्रत० २, ५०९, मत्स्यपुराण से उद्धरण)।

नवरात्रव्रत : देखिए दुर्गापूजा के अन्तर्गत, गत अध्याय ९।

नवव्यूहारोचन : किसी भी शुक्ल की या आषाढ़ या फाल्गुन की एकादशी पर या संक्रान्ति पर या ग्रहण पर पूर्वोत्तर दिशा में झुके हुए भूमिखण्ड पर बने मण्डप में विष्णु की पूजा, यज्ञ आदि; मण्डप में द्वार रहते हैं, उसके मध्य में कमल होता है; आठों दिशाओं के स्वामियों (दिक्पालों) के आठ आयुधों, यथा—वज्र, शक्ति, गदा (यम की), असि, पाश (वरुण का), झण्डा, मुँगरी (कुबेर की), शूल (शिव का) के चित्र बनाये जाते हैं; वासुदेव, संकर्षण, नारायण, वामन की, जो विष्णु के व्यूह कहे जाते हैं, चित्राकृतियाँ बनायी जाती हैं; होम; हेमाद्रि (व्रत० १।११२५ ११३१, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)।

नवान्नभक्षण : मार्गशीर्ष में जब तक सूर्य वृश्चिक राशि में १४ अंश न पहुँच जाय; कृत्यसारसमुच्चय (२७); निर्णयामृत (पृ० ७२, ८८०-९८८) ने इसका वर्णन किया है, गीत, संगीत का प्रयोग, वैदिक मन्त्रों का उच्च स्वर से पाठ; ब्रह्मा, अनन्त एवं दिक्पालों की पूजा की जाती है।

नागचतुर्थी : कार्तिक शुक्ल ४, पुरुषार्थचिन्तामणि (९५)।

नागदष्टोद्धरणव्रत : यह 'दष्टोद्धरणव्रत' ही है। देखिए ऊपर।

नागपञ्चमी : देखिए गत अध्याय ७।

नागपूजा : मार्गशीर्ष शुक्ल ५, स्मृतिकौस्तुभ (४२९) के मत से यह दाक्षिणात्यों में अति प्रसिद्ध है।

नागमैत्रीपञ्चमी : कटु अर्थात् तीक्ष्ण एवं खट्टे पदार्थों के सेवन का वर्जन; दूध से नागप्रतिमाओं को स्नान कराना; इस प्रकार नागों से मित्रता स्थापित होती है। पद्मपुराण (५।२६।५६ ५७); कृत्यकल्पतरु (व्रत० ९६); हेमाद्रि (व्रत० १, ५६६, भविष्यपुराण से उद्धरण)।

नागव्रत : (१) कार्तिक शुक्ल ४ पर; उस दिन उपवास; शेष, शंखपाल एवं अन्य नागों की पुष्पों, चन्दन लेप से पूजा तथा प्रातः एवं मध्याह्न में दूध से उन्हें सन्तुष्ट करना; इससे सर्पों से हानि नहीं होती; (२) कमलदलों पर पंचमी को नागप्रतिमा की पुष्पों, मन्त्रों आदि तथा घी, दूध, दही एवं मधु की धारा से पूजा; होम; विष से छुटकारा; पुत्र, पत्नी एवं समृद्धि की प्राप्ति। हेमाद्रि (व्रत० १, ५७२, भविष्यपुराण से उद्धरण)।

नामतृतीया : मार्गशीर्ष शुक्ल ३ से आरम्भ; तिथिव्रत; एक वर्ष; प्रति मास गौरी के १२ नामों में एक की पूजा; १२ नाम ये हैं—गौरी, काली, उमा, भद्रा, दुर्गा, कान्ति, सरस्वती, मंगला, वैष्णवी, लक्ष्मी, शिवा, नारायणी; कर्ता स्वर्ग को जायेगा; या महेश्वर के अर्धनारीश्वर रूप की पूजा; इसे करने से पत्नीवियोग नहीं होता; या हरिहर की प्रतिमा का किसी एक नाम से पूजन करना (केशव से दामोदर तक १२ नाम); हेमाद्रि (व्रत० १, ४७७ ४७८); कृत्यकल्पतरु (व्रत० ५५-५६)।

नामद्वादशी : मार्गशीर्ष शुक्ल १२ से प्रारम्भ; उस दिन उपवास; तिथिव्रत; विष्णु के १२ नामों में एक लेना चाहिए, यथा—मार्गशीर्ष एवं पौष में नारायण, माघ में माधव...कार्तिक में दामोदर; वर्ष के अन्त में बछड़े के साथ गाय, चप्पल, वस्त्र आदि १२ ब्राह्मणों को देना चाहिए; कर्ता विष्णुलोक जाता है; हेमाद्रि (व्रत० १, १०९७ ११०१); कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३४७)।

नामनवमी : आश्विन शुक्ल पर आरम्भ; एक वर्ष के लिए; विभिन्न नामों के अन्तर्गत दुर्गा की पूजा, प्रत्येक मास में विभिन्न पुष्पों का प्रयोग, ब्राह्मण कुमारियों को भोजन; अन्त में दुर्गा-भक्त ब्राह्मणों को गोदान एवं भरपेट भोजन; सभी पापों से मुक्ति; दुर्गालोक की प्राप्ति; कृत्यकल्पतरु (व्रत० २८३-२९८); हेमाद्रि (व्रत० १, ९२८-९३३)।

नामसप्तमी : (१) सप्तमी तिथि को भक्त को सूर्य का ध्यान करना चाहिए और कुछ निषेधों का पालन करना चाहिए, यथा—तेल का स्पर्श न करना, गहरा नीला वस्त्र धारण न करना, आमलक फल से स्नान न करना; किसी से झगड़ा न करना, मदिरा न पीना, चाण्डाल से बात न करना, रजस्वला से बात न करना, जूआ न खेलना, आँसू न गिराना, कन्द, मूल, फल, पुष्प एवं पत्तियाँ न खाना; (२) चैत्र शुक्ल ७ से प्रारम्भ; प्रत्येक मास में विभिन्न नामों (धाता, अर्यमा, मित्र आदि) से सूर्य की पूजा; प्रत्येक सप्तमी को घी से भोजकों (मगों) को खिलाना एवं लाल वस्त्र देना; कृत्यकल्पतरु (व्रत १२१-१२३), हेमाद्रि (व्रत १, ७२६-७२८); कृत्यरत्नाकर (१२४-१२६, भविष्यपुराण, ब्राह्मपर्व ६५।१-७ एवं १९-३४ से उद्धरण)।

नारळी या नारली पूर्णिमा : श्रावण शुक्ल १५ पर; देखिए गत अध्याय ७ (पृ० ५३, वरुण-सम्मान)।

नासत्यपूजाचक्षुर्व्रत : देखिए 'नेत्रव्रत।'

निकुम्भपूजा : (१) चैत्र शुक्ल १४ को उपवास, पूर्णिमा को हरि-पूजा; निकुम्भ पिशाचों से युद्ध करने जाते हैं; मिट्टी या घास का पुतला बनाया जाता है और प्रत्येक घर में पुष्पों, नैवेद्य आदि तथा ढोल एवं बाँसुरी से मध्याह्न में पिशाचों की पूजा की जाती है; पुनः चन्द्रोदय के समय पूजा की जाती है; पुनः उन्हें विदा दे दी जाती है; कर्ता को संगीत तथा लोगों के साथ एक बड़ा उत्सव मनाना चाहिए; घास एवं लकड़ी के टुकड़ों से बने सर्प से लोगों को खेलना चाहिए तथा तीन या चार दिनों के उपरान्त उसे छोटे-छोटे टुकड़ों में काटकर वर्ष भर रखना चाहिए; हेमाद्रि (व्रत० २, २४१-२४२, आदित्यपुराण से उद्धरण); निर्णयामृत (पृ० ६४, श्लोक ७८१-७९०) ने इसे 'चैत्रपिशाच-वर्णनम्' कहा है; (२) आश्विन पूर्णिमा पर; लोगों (नारियों, बच्चों एवं बूढ़ों को छोड़कर) को दिन में भोजन नहीं करना चाहिए, गृह-द्वार पर अग्नि रखना चाहिए तथा उसकी एवं पूर्णिमा, रुद्र, उमा, स्कन्द, नन्दीश्वर तथा रेवन्त की पूजा करनी चाहिए; तिल, चावल एवं माष से निकुम्भ की पूजा; रात्रि में ब्रह्म-भोज,

लोगों को मांसरहित भोजन करना चाहिए; उस रात्रि में संगीत, गान एवं नृत्य; दूसरे दिन कुछ विश्राम तथा उसके उपरान्त प्रातःकाल शरीर को कीचड़ से धूमिल कर पिशाचों सा व्यवहार करना चाहिए तथा लज्जाहीन हो अपने मित्रों पर भी कीचड़ छोड़ना चाहिए तथा अश्लील शब्दों का व्यवहार करना चाहिए; अपराह्न में स्नान करना चाहिए; जो इस उत्सव में भाग नहीं लेता वह पिशाचों से प्रभावित होता है; कृत्यकल्पतरु (नैयतकाल खण्ड ४११-४१३); कृत्यरत्नाकर (३७५-३७८); (३) चैत्र शुक्ल १४, शम्भु तथा पिशाचों के संग में निकुम्भ की पूजा; उस रात्रि लोग अपने बच्चों को पिशाचों से बचाते हैं और वेश्या का नृत्य देखते हैं; कृत्यकल्पतरु (नैयतकाल ४४६), कृत्यरत्नाकर (५३४-५३६)।

निक्षुभार्कचतुष्टय-व्रत : निक्षुभा सूर्य की पत्नी है; कृष्ण १४ को उपवास; तिथिव्रत; एक वर्ष तक; सूर्य एवं उसकी पत्नी की मूर्ति की पूजा; स्त्रियाँ सूर्यलोक को जाती हैं और पति के रूप में राजा को पाती हैं; पुरुष भी सूर्यलोक जाते हैं; महाभारत के पाठक को एक वर्ष तक नियुक्त रखना चाहिए और अन्त में सूर्य एवं निक्षुभा की स्वर्ण-प्रतिमा का उसे दान देना चाहिए, उसकी पत्नी को गहने एवं वस्त्र देने चाहिए; कृत्यकल्पतरु (व्रत० १५६-१५९); हेमाद्रि (व्रत० १, ६७६-६७९)।

निक्षुभार्कसप्तमी : षष्ठी या सप्तमी या संक्रान्ति या रविवार को प्रारम्भ; एक वर्ष तक; सोने या चाँदी या काष्ठ की सूर्य एवं निक्षुभा की प्रतिमा को घी आदि से नहलाना चाहिए; उपवास एवं होम; सूर्य-भक्तों एवं भोजकों को भोजन; इसके सम्पादन से वाञ्छित वस्तुओं की प्राप्ति होती है, कर्ता सूर्यलोक तथा अन्य लोकों में जाता है; कृत्यकल्पतरु (व्रत० १५३-१५६); हेमाद्रि (व्रत० १, ६७४-६७६); अहल्याकामधेनु (४५७ ए, ४५९ बी) के मत से इसके कई प्रकार हैं—(१) सौर संहिता से; माघ शुक्ल ७ से एक वर्ष; (२) भविष्यपुराण से; (३) माघ कृष्ण ७ से; (४) भविष्योत्तरपुराण से।

निम्बसप्तमी : वैशाख शुक्ल ७ से प्रारम्भ; एक वर्ष तक; सूर्य-पूजा; कमल के चित्र पर खखोल्क नामक सूर्य की स्थापना; मूलमन्त्र है—'ओं खखोल्काय नमः'; सूर्य-प्रतिमा के समक्ष १२ आदित्य, जय, विजय, शेष, वासुकि, विनायक, महाश्वेत एवं रानी सुवर्चला की स्थापना; अन्य देव भी बुलाये जाते हैं; सप्तमी को निम्बदलों का सेवन तथा सूर्य-प्रतिमा के समक्ष शयन; अष्टमी को भी सूर्य-पूजा; कर्ता सभी पापों से मुक्त हो जाता है; कृत्यकल्पतरु (व्रत० १९८-२०३); हेमाद्रि (व्रत० १, ६९७-७०१); निर्णयामृत (५२)।

निर्जला-एकादशी : ज्येष्ठ शुक्ल ११; प्रातः से लेकर दूसरे प्रातः तक उपवास; संध्या के आचमन आदि को छोड़कर दिन भर जल का सेवन नहीं होना चाहिए; दूसरे दिन जलपूर्ण पात्र, गुड़ एवं सोने के दान के साथ भोजन का ग्रहण; इसके सम्पादन से १२ द्वादशियों के समान पुण्य मिलता है और विष्णुलोक की प्राप्ति होती है; हेमाद्रि (व्रत० १, १०८९-९१); स्मृतिकौस्तुभ (१२२-१२३)।

निषिद्ध : कुछ मासों, तिथियों, सप्ताहों, संक्रान्तियों एवं व्रतों में निषिद्ध बातों एवं कर्मों की तालिका बहुत लम्बी है। कालविवेक (पृ० ३३३-३४५) ने एक लम्बी सूची दी है, किन्तु अन्त में कहा है (पृ० ३४५) कि वेदज्ञों, स्मृतिज्ञों एवं पुराणज्ञों ने कितनी ही बार और कतिपय अवसरों पर जो निषेध बताये हैं वे इतने अधिक हैं कि मैं अकेला नहीं बता सकता, उन्हें बताने के लिए मुझे एक सहस्र वर्ष जीना पड़ेगा, अतः मैंने वही बताया है जिसे प्रामाणिक ग्रन्थों से समझा है अथवा जो निबन्धों में संगृहीत हैं, अन्य लोग शेष के विषय में लिखेंगे।

नीराजन-द्वादशी : कार्तिक शुक्ल १२ पर; जब विष्णु शयन से उठते हैं उस रात्रि के आरम्भ में इसका सम्पादन होता है; विष्णु-प्रतिमा एवं अन्य देवों, यथा—सूर्य, शिव, गौरी, अपने माता-पिता, गायों, अश्वों, गजों के समक्ष दीप की आरती करना; राजा को अपने प्रासाद में राजकीय वस्तुओं के प्रतीकों की पूजा करनी चाहिए;

एक साध्वी नारी अथवा किसी सुन्दर वेश्या को राजा के सिर पर तीन बार दीप घुमाना चाहिए; यह एक महती शान्ति है जो रोगों को भगाती है और अतुल सम्पत्ति लाती है; इसे सर्वप्रथम राजा अजपाल ने आरम्भ किया और इसे प्रतिवर्ष करना चाहिए; हेमाद्रि (व्रत० १, ११९०-११९४, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण)।

नीराजननवमी : कृष्ण ९ पर (सम्भवतः आश्विन मास में ?); दुर्गा एवं आयुधों की रात्रि में पूजा; दूसरे दिन सूर्योदय पर इस नीराजन-शान्ति को करना चाहिए; निर्णयामृत (पृ० ७६, श्लोक ९३१-९३३)।

नीराजनविधि : कार्तिक कृष्ण १२ से कार्तिक शुक्ल १ तक (पूर्णिमान्त गणना से); राजा के लिए सम्पादित; राजा को राजधानी की उत्तर-पूर्व दिशा में एक बृहत् पण्डाल खड़ा करना चाहिए, जिस पर झण्डे आदि एवं तीन तोरण खड़े करने चाहिए; देव-पूजा एवं होम; जब सूर्य चित्रा-नक्षत्र से स्वाति में प्रवेश करता है तो कृत्य आरम्भ होते हैं और सम्पूर्ण स्वाति तक चलते रहते हैं; जलपूर्ण पात्र जो पल्लवों एवं पाँच रंग के धागों से अलंकृत रहते हैं; तोरण के पश्चिम में गज एवं अश्व मन्त्रों के साथ नहलाये जाते हैं; पुरोहित एक हाथी को भोजन अर्पित करता है; यदि हाथी उसे प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण कर लेता है तो विजय की भविष्यवाणी होती है; यदि वह ग्रहण नहीं करता तो महान् भय का पूर्व-निर्देश मिलता है; हाथी की अन्य क्रियाओं से भाँति-भाँति की भविष्यवाणियाँ की जाती हैं; आयुधों एवं राजकीय प्रतीकों, यथा—छत्र एवं ध्वज की पूजा; जब तक सूर्य स्वाति में रहते हैं अश्वों एवं हाथियों को सम्मानित किया जाता है; उन्हें कठोर शब्द नहीं कहे जाते और न उन्हें पीटा ही जाता है; मण्डप की रक्षा आयुधों से सज्जित कर्मचारी करते रहते हैं और ज्योतिषी, पुरोहित एवं मुख्य पशु-चिकित्सक तथा गज-वैद्य को मण्डप में सदा उपस्थित रहना चाहिए; उस दिन जब सूर्य स्वाति को छोड़कर विशाखा में प्रविष्ट होता है, घोड़ों एवं हाथियों को अलंकृत किया जाता है, उन पर, तलवार पर, छत्र, ढाल आदि पर मन्त्रों का पाठ किया जाता है; सर्वप्रथम राजा अपने घोड़े पर बैठता है और फिर अपने हाथी पर बैठता है, तोरण से बाहर आता है तथा अपनी सेना एवं नागरिकों के साथ राज-प्रासाद की ओर बढ़ता है और पहुँच कर लोगों को सम्मानित करता है और सब से छुट्टी लेता है। यह शान्ति-कृत्य है और राजाओं द्वारा घोड़ों तथा हाथियों की वृद्धि एवं कल्याण के लिए किया जाना चाहिए; हेमाद्रि (व्रत० २, ६७५-६८०, विष्णुधर्मोत्तरपुराण २।१५९ से उद्धरण)। देखिए मूलग्रन्थ, खण्ड ३, पृ० २३०-२३१। और देखिए कृत्यरत्नाकर (३३३-३३६); स्मृतिकौस्तुभ (३३४-३४१)। नीराजन एक शान्ति है; राजनीतिप्रकाश (पृ० ४३३-४३७, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)।

नीलज्येष्ठा : श्रावण की अष्टमी, जब कि रविवार एवं ज्येष्ठा नक्षत्र हो; सूर्य देवता; इसमें सप्ताह का दिन अत्यन्त महत्वपूर्ण बात है, उसके उपरान्त नक्षत्र का स्थान है; कालनिर्णय (१९८, स्कन्दपुराण से उद्धरण)।

नीलवृष-दान : कार्तिक या आश्विन की पूर्णिमा पर; अनुशासनपर्व (१२५।७३-७४); विष्णुधर्मसूत्र (८५।६७); मत्स्यपुराण (२०७।४०); वायुपुराण (८३।११-१२); विष्णुधर्मोत्तरपुराण (१।१४४।३ एवं १।१४६।५८); पुरुषार्थचिन्तामणि (३०५); स्मृतिकौस्तुभ (४०५-४०६)।

नीलव्रत : एक वर्ष तक प्रति दिन नक्त-विधि से खाना; संवत्सरव्रत; अन्त में नील कमल के साथ शक्कर से युक्त एक पात्र एवं एक बैल का दान; कर्ता विष्णुलोक पाता है; मत्स्यपुराण (१०१।५); कृत्यकल्पतरु (४४०, तीसरा षष्टिव्रत); हेमाद्रि (व्रत० २, ८६५, पद्मपुराण ५।२०।४७-४८ से उद्धरण); मत्स्यपुराण ने इसे 'लीलाव्रत' की संज्ञा दी है।

नृसिंह-जयन्ती : देखिए ऊपर नरसिंह-चतुर्दशी; गदाधरपद्धति (कालसार अंश, १५५)।

नृसिंह-द्वादशी : यह नरसिंह-द्वादशी ही है।

नृसिंहव्रत : शुक्ल अष्टमी; कालनिर्णय (१९६); देखिए ऊपर नरसिंहाष्टमी।

नेत्रव्रत : चैत्र शुक्ल की दूसरी तिथि; यह 'चक्षुर्व्रत' ही है। देखिए ऊपर।

पक्ष : एक मास के दो अर्ध भाग, जिन्हें क्रम से शुक्ल एवं कृष्ण तथा पूर्व एवं अपर कहा जाता है। सामान्य नियम यह है कि शुक्ल पक्ष देव-पूजा एवं समृद्धि के लिए किये जाने वाले कृत्यों के लिए व्यवस्थित माना जाता है तथा कृष्ण पक्ष मृत पूर्व-पुरुषों तथा दूसरे को हानि पहुँचाने वाले ऐन्द्रजालिक कृत्यों के लिए व्यवस्थित समझा जाता है। वर्षक्रियाकौमुदी (२३६-२३७, मनु ३।२७८-२७९ का उद्धरण); समयमयूख (१४५); पु० चिन्ता० (३१-३२)।

पक्षवर्धिनी-एकादशी : जब पूर्णिमा या अमावास्या आगे की प्रतिपदा तक बढ़ जाती है तो इसे पक्षवर्धिनी कहा जाता है; इसी प्रकार एकादशी भी इसी संज्ञा से परिज्ञात होती है जब कि वह द्वादशी तक चली जाती है; विष्णु की स्वर्ण-प्रतिमा की पूजा; संगीत एवं नृत्य के साथ जागर (जागरण); पद्मपुराण (६।३८)।

पक्षसन्धिव्रत : (दोनों पक्षों की सन्धि का व्रत); (१) प्रतिपदा को एक भक्त रहना; एक वर्ष तक; वर्ष के अन्त में कपिला गाय का दान; वैश्वानर-लोक की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० १, ३५५-३५७); मत्स्यपुराण (१०१। ८२) ने इसे शिखी-व्रत कहा है; वर्षक्रियाकौमुदी (२९); (२) प्रथम तिथि पर खाली भूमि पर रखा गया भोजन करना; त्रिरात्र यज्ञ का फल मिलता है; हेमाद्रि (व्रत० १, ३५७, पद्मपुराण से उद्धरण)।

पञ्चघट-पूर्णिमा : पूर्णिमा देवी की प्रतिमा की पूजा; पाँच पूर्णिमाओं पर एकभक्त; अन्त में पाँच पात्रों का, जिनमें क्रम से दूध, दही, घी, मधु एवं श्वेत शक्कर भरी रहती है, दान; कर्ता को सभी वांछित फल प्राप्त होते हैं, हेमाद्रि (व्रत० २, १९५-१९६, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण)।

पञ्चपिण्डिका-गौरीव्रत : भाद्रपद शुक्ल ३ पर; उस दिन उपवास; रात्रि के आगमन पर गौरी की चार प्रतिमाएँ गीली मिट्टी से बनायी जाती हैं, एक अतिरिक्त प्रतिमा पर मिट्टी के पाँच खण्ड रखे जाते हैं; प्रत्येक प्रहर में प्रतिमाओं की पूजा मन्त्र, धूप, कर्पूर, घृत के दीप, पुष्पों, नैवेद्य एवं अर्घ्य से की जाती है, आगे के तीन प्रहरों में विभिन्न मन्त्रों, धूप, नैवेद्य, पुष्पों आदि का उपयोग किया जाता है; दूसरे दिन प्रातः सपत्नीक ब्राह्मण को सम्मानित किया जाता है; गौरी की चारों प्रतिमाएँ हथिनी या घोड़ी की पीठ पर रखकर किसी नदी, तालाब या कूप में डाल दी जाती हैं; हेमाद्रि (व्रत० १, ४८५-४९०, पद्मपुराण के नागरखण्ड से उद्धरण)।

पञ्चभंगदल : आम्र, अश्वत्थ, वट, प्लक्ष एवं उदुम्बर नामक पाँच वृक्षों की पत्तियाँ; कृत्यकल्पतरु (शान्ति, ७ ए)।

पञ्चमहापापनाशनद्वादशी : श्रावण के आरम्भ में; श्रावण की द्वादशी एवं पूर्णिमा पर कृष्ण के १२ रूपों (यथा—जगन्नाथ, देवकीसुत आदि) की पूजा तथा अमावास्या पर तिल, मुद्ग, गुड़ एवं चावल के भोजन का अर्पण; पाँच रत्नों (देखिए आगे) का दान; जिस प्रकार इन्द्र, अहल्या, सोम एवं बलि पापमुक्त हुए थे, उसी प्रकार व्यक्ति भी पञ्च महापापों से मुक्त हो जाता है; हेमाद्रि (व्रत० १, १२०१-१२०२, भविष्यपुराण से उद्धरण)।

पञ्चमहाभूत-व्रत : चैत्र शुक्ल ५ से आरम्भ; पृथिवी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश—पञ्चमहाभूतों के रूप में हरि-पूजा एवं उपवास; एक वर्ष; वर्ष के अन्त में वस्त्र-दान; हेमाद्रि (व्रत० १, ५५२-५५३, विष्णुधर्मोत्तर-पुराण से उद्धरण)।

पञ्चमीव्रत : मार्गशीर्ष शुक्ल ५ को सूर्योदय काल में व्रत के नियमों का संकल्प; स्वर्ण, रजत, पीतल, ताम्र या काष्ठ की लक्ष्मी-प्रतिमा या वस्त्र पर लक्ष्मी का चित्र; पुष्पों आदि से सिर से पैर तक की पूजा; सधवा नारियों का पुष्पों, कुंकुम एवं मिष्टान्न के थालों से सम्मान; एक पसर (प्रस्थ) चावल एवं घृतपूर्ण पात्र का 'श्री का हृदय प्रसन्न हो' के साथ दान; प्रत्येक मास में लक्ष्मी के विभिन्न नामों से पूजा; प्रतिमा का ब्राह्मण को दान; भविष्योत्तर पुराण (३७।३८-५८)।

पञ्चमी के व्रत : ७ व्रत (कृत्यक० ८७-९७); हेमाद्रि (व्रत १, ५३७-५७६) ने २८ व्रतों के नाम लिये हैं; कालनिर्णय (१८६-१८८); तिथितत्त्व (३२-३४); पुरुषार्थचिन्तामणि (९५-१००); व्रतराज (१९२-२२०)। सभी पञ्चमी-उपवासों (केवल नागपञ्चमी एवं स्कन्द उपवास को छोड़कर) में चतुर्थी से युक्त पंचमी को वरीयता दी जानी चाहिए; कालनिर्णय (१८८); निर्णयामृत (४४-४५); पुरुषार्थचिन्तामणि (९६)।

पञ्चमूर्तिव्रत : चैत्र शुक्ल ५ पर आरम्भ; उस दिन उपवास एवं शंख, चक्र, गदा, पद्म एवं पृथिवी को चन्दन से एक वृत्त में खींचकर उनकी पूजा; वर्ष भर प्रत्येक मास की पंचमी पर; वर्ष के अन्त में पाँच रंगों के वस्त्रों का दान; राजसूय के समान पुण्य; हेमाद्रि (व्रत० २, ४६६-४६७, विष्णुधर्मोत्तर ३।१५५।१७ से उद्धरण)।

पञ्चरत्न : कृत्यकल्पतरु (नैयतकालकाण्ड, ३६६), हेमाद्रि (काल पर चतुर्वर्ग-चिन्तामणि, ४१३) एवं कृत्यरत्नाकर (४९३) के मत से पाँच रत्न ये हैं—सोना, हीरा (हीरक), नीलमणि (इन्द्रनील), पद्मराग (माणिक्य) एवं मोती; इन सभी ग्रन्थों ने कालिकापुराण का उद्धरण दिया है; किन्तु हेमाद्रि (व्रत० १, ४७) ने आदित्यपुराण का उद्धरण देते हुए लिखा है कि पाँच रत्न ये हैं: सोना, चाँदी, मोती, मूँगा एवं माणिक।

पञ्च-लांगल-व्रत : शिलाहारराज गण्डरादित्य (शक संवत् १०३२, अर्थात् सन् ११११० ई०) के ताम्रपत्र पर उल्लिखित, जो वैशाख में चन्द्र-ग्रहण के अवसर पर किया गया था (जे० बी० बी० आर० ए० एस०, खण्ड १३, पृ० ३३)। मत्स्यपुराण (अध्याय २८३) में इसके विषय में विस्तार से लिखा हुआ है। किसी पवित्र तिथि या ग्रहण या युगादि तिथि पर भूमि-खण्ड का दान, उसके साथ कठोर काष्ठ के पाँच हल एवं सोने के पाँच हल तथा १० बैल भी दान में दिये जाते हैं।

पत्रव्रत : संवत्सरव्रत; एक वर्ष तक नारी को सुपाड़ी एवं चूने के साथ पान का पत्ता किसी नारी अथवा पुरुष को देना चाहिए; वर्ष के अन्त में सोने या चाँदी का पान एवं मोती का चूना दान में देना चाहिए; उसे दुर्भाग्य नहीं लगाता और न उसके मुख से दुर्गन्ध ही निकलती। हेमाद्रि (व्रत० २, ८६४, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण)।

पत्रिकापूजा : देखिए दुर्गापूजा के अन्तर्गत, गत अध्याय ९।

पदद्वयव्रत : देखिए ऊपर 'नन्दापदद्वयव्रत।'

पदार्थव्रत : मार्गशीर्ष शुक्ल १० पर प्रारम्भ; उस दिन उपवास तथा दसों दिशाओं एवं दिक्पालों की पूजा; एक वर्ष; अन्त में एक गोदान; वांछित वस्तु की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० १, ९६७, विष्णुध० से उद्धरण)।

पद्मकयोग : (१) जब रविवार सप्तमी से युक्त षष्ठी को होता है तो इसे पद्मकयोग कहते हैं, जो सहस्र सूर्य-ग्रहणों के समान है; पु० चिन्तामणि (१०५); व्रतराज (२४९); (२) जब सूर्य विशाखा-नक्षत्र में और चन्द्र कृत्तिका में हो तो पद्मकयोग होता है; हेमाद्रि (काल० ६७९, शंख से उद्धरण); कालविवेक (३९०, पद्म एवं विष्णुपुराण से उद्धरण); कृत्यरत्नाकर (४३३); स्मृतिकौस्तुभ (४००); कालविवेक ने व्याख्या की है कि सूर्य विशाखा के चतुर्थ चरण में तथा चन्द्र कृत्तिका के प्रथम पाद (चरण) में होना चाहिए।

पद्मनाभद्वादशी : आश्विन शुक्ल १२ पर; एक घट स्थापित करके उसमें पद्मनाभ (विष्णु) की एक स्वर्ण प्रतिमा डाल देनी चाहिए; चन्दन-लेप, पुष्पों आदि से उस प्रतिमा की पूजा; दूसरे दिन किसी ब्राह्मण को दान; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३३३-३३५); हेमाद्रि (व्रत० १, १०३९-४१); कृत्यरत्नाकर (३७३-३७५); इन सभी ने वराहपुराण (४९।१-८) को उद्धृत किया है।

पयोव्रत : (१) दीक्षित के लिए, केवल दूध पर ही रहना; देखिए शतपथ ब्राह्मण (९।५।१।१); (२) प्रत्येक अमावास्या पर केवल दूध का सेवन; एक वर्ष तक; वर्ष के अन्त में श्राद्ध-कर्म, पाँच गायों, वस्त्रों एवं जलपात्र

का दान; हेमाद्रि (व्रत० २, २५४, पद्मपुराण से उद्धरण); (३) फाल्गुन शुक्ल १ से १२ तक, गोविन्द को प्रसन्न करने के लिए केवल दूध का सेवन; स्मृतिकौस्तुभ (५१३-५१४, भागवतपुराण ८।१६।२२-६२ का उद्धरण)।

परशुराम जयन्ती : देखिए ऊपर 'अक्षय तृतीया'; पुरुषार्थचिन्तामणि (८९)।

परशुरामीयाष्टमी : आश्विन शुक्ल ८ पर; पुरुषोत्तम-क्षेत्र की १४ यात्राओं में एक; गदाधरपद्धति (कालसार, १९३)।

पर्वताष्टमी-व्रत : नवमी पर हिमवान्, हेमकूट, निषध, नील, श्वेत, शृंगवान्, मेरु, माल्यवान्, गन्धमादन नामक पर्वतों तथा किम्पुरुष, उत्तरकुरु नामक वर्षों (देशों) की पूजा; चैत्र शुक्ल ९ को उपवास; एक वर्ष तक; अन्त में चाँदी का दान; विष्णुधर्मोत्तर (३।१७४।१-७)।

पर्वनक्तव्रत : एक वर्ष तक प्रत्येक मास की १५वीं तिथि पर नक्त-विधि का प्रयोग; प्रकीर्णक व्रत; देवता शिव; वर्ष के अन्त में शिव-भक्तों को 'स्वामी प्रसन्न हों' के साथ भोजन देना; शिवलोक की प्राप्ति, पुनः मनुष्य-योनि में नहीं आना पड़ता; हेमाद्रि (व्रत० २, पृ० ९०५-६, भविष्यपुराण से उद्धरण)।

पर्वभूभाजन-व्रत : पर्व के दिनों में खाली भूमि पर दिया गया (परोसा गया) भोजन ग्रहण करना; देवता शिव; अतिरात्र यज्ञ का फल प्राप्त होता है; हेमाद्रि (व्रत० २, ९०६, पद्मपुराण का एक श्लोक)।

पल्लव : पाँच शुभ पल्लव हैं--आम्र, अश्वत्थ, वट, प्लक्ष एवं उदुम्बर; (दुर्गाभक्तितरंगिणी, पृ० २७); हेमाद्रि (व्रत० १, ४७, भविष्यपुराण का उद्धरण) के अनुसार इन्हें "पञ्चभंग" भी कहा जाता है।

पवनव्रत : (षष्टिव्रतों में एक); माघ की अष्टमी पर; दिन भर गीला वस्त्र धारण किये रहना चाहिए और गोदान करना चाहिए; एक कल्प के लिए स्वर्ग-लाभ होता है और उसके उपरान्त राजा का पद मिलता है। कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४५०)। माघ अति ठण्डा मास है।

पवित्रारोपण-व्रत : (किसी देवता को पवित्र धागे से युक्त करना); हेमाद्रि (व्रत० २, ४४०-४५३); हेमाद्रि (काल० ८८१-८९०); ईशानशिवगुरुदेवपद्धति, २१वाँ पटल; समयमयूख (८१-९०); पु० चिन्तामणि (२३५-२३९) आदि ने इस पर विस्तार से लिखा है। पवित्रारोपण से सभी पूजाओं में किये गये दोषों का मार्जन हो जाता है और जो इसे प्रति वर्ष नहीं करता है उसे वांछित फलों की प्राप्ति नहीं होती और वह विघ्नों से घिर जाता है; विभिन्न देवों को पवित्रारोपण विभिन्न तिथियों में होता है। वासुदेव के लिए श्रावण शुक्ल १२ को किया जाता है, जब कि सूर्य सिंह या कन्या राशि में होता है, किन्तु उस समय नहीं जब कि सूर्य तुला राशि में हो; देवों के लिए कुछ तिथियाँ ये हैं—प्रथमा (कुबेर के लिए), द्वितीया (त्रिदेवों के लिए), तृतीया (भवानी के लिए), चतुर्थी (गणेश के लिए), पंचमी (चन्द्र के लिए), षष्ठी (कार्तिकेय के लिए), सप्तमी (सूर्य के लिए), अष्टमी (दुर्गा के लिए), नवमी (माताओं के लिए) तथा दशमी, एकादशी, द्वादशी, त्रयोदशी, चतुर्दशी एवं पूर्णिमा क्रम से वासुकि, ऋषियों, विष्णु, कामदेव, शिव एवं ब्रह्मा के लिए; देखिए हेमाद्रि (व्रत० २, पृ० ४४२); पुरुषार्थचिन्तामणि (पृ० २३८)। यदि कोई शिव को पवित्र का आरोपण प्रतिदिन करता है तो वैसा किन्हीं वृक्षों या पुष्पों की पत्तियाँ या कुशाओं से किया जाना चाहिए, किन्तु वार्षिक पवित्रारोपण की स्थिर तिथि है आषाढ़ (सर्वोत्तम), श्रावण (मध्यम) या भाद्रपद (निकृष्ट, तीसरी कोटि) की अष्टमी या चतुर्दशी; किन्तु जो लोग मोक्ष के आकांक्षी हैं उन्हें इसे कृष्ण पक्ष में तथा अन्य लोगों को शुक्ल पक्ष में करना चाहिए। पवित्र सोने, चाँदी, पीतल या रेशम या कमल के धागों से बन सकता है या कुश या रुई का बन सकता है; धागों को बुनना एवं काटना ब्राह्मण कुमारियों (सर्वोत्तम) या क्षत्रिय या वैश्य कुमारियों (मध्यम) या शूद्र कुमारियों (निकृष्ट) द्वारा हो सकता है। पवित्र में १०० गाँठें (उत्तम)

तथा कम-से-कम ८ हो सकती हैं। पवित्र का अर्थ है यज्ञोपवीत और वह किसी सूत या जयमाला के रूप में देवों की प्रतिमाओं के लिए प्रयुक्त हो सकता है।

पातालव्रत : चैत्र कृष्ण १ से आरम्भ; एक वर्ष; सात पातालों की पूजा (एक के उपरान्त एक की पूजा); नक्त-विधि से भोजन करना; वर्ष के अन्त में ब्राह्मणों के घरों में दीप जलाना एवं श्वेत वस्त्रों का दान देना; हेमाद्रि (व्रत० २, ५०६-५०७, भविष्योत्तरपुराण ३।१५८।१-७ से उद्धरण)।

पात्रव्रत : माघ शुक्ल ११ एवं १५; एकादशी पर उपवास; १५वीं तिथि को एक पवित्र स्थान पर घृतपूर्ण स्वर्ण पात्र रखा जाता है, जिस पर नवीन वस्त्र रखे रहते हैं; संगीत एवं नृत्य से जागर (जागरण); प्रातःकाल विष्णु-मन्दिर में पात्र को ले जाना; विष्णु-प्रतिमा को दूध आदि से नहलाना, उसकी पूजा, पात्र का दान तथा 'विष्णु प्रसन्न हों' कहना; प्रचुर नैवेद्य का अर्पण; घर लौट आना, आचार्य को सन्तुष्ट करना; आचार्य, दरिद्रों एवं अन्धों को भरपेट खिलाना; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३९०-९१); हेमाद्रि (व्रत० ३, ३८१-३८२, नरसिंहपुराण से उद्धरण)।

पादोदकस्नान : उत्तराषाढ़-नक्षत्र पर उपवास; श्रवण-नक्षत्र पर हरि-प्रतिमा के पादों को स्नान कराना तथा सोने, चाँदी, ताम्र एवं मिट्टी के चार घट तैयार करना; इसी प्रकार संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध की प्रतिमाओं के पादों को स्नान कराना; कूप, झरने, तालाब, नदी के जल से चारों घटों को मन्त्रोच्चारण के साथ भरना और जल से स्नान करना; इससे दुर्भाग्य, बाधाएँ, रोग दूर होते हैं और यश तथा संतति की प्राप्ति होती है; हेमाद्रि (व्रत० २, ६५०-६५३, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)।

पापनाशिनी-द्वादशी : जब शुक्ल द्वादशी पुष्य-नक्षत्र में हो तो वह अति पवित्र मानी जाती है और इसी से इसे यह संज्ञा मिली है; गदाधरपद्धति (कालसार अंश, १४३)।

पपनाशिनी-सप्तमी : जब शुक्ल सप्तमी हस्त-नक्षत्र में पड़ती है तो वह अति पवित्र सप्तमी कहलाती है; उस दिन सूर्य-पूजा; कर्ता सभी पापों से मुक्त हो जाता है और देवलोक जाता है; कृत्यकल्पतरु (व्रत०, १४५-१४६); हेमाद्रि (व्रत० १, ७४०-७४१, भविष्यपुराण, ब्राह्मपर्व १०६।४-१४)। यह योग श्रावण कृष्ण पक्ष में पड़ता है, ऐसा हेमाद्रि (व्रत०) का कथन है।

पापनाशिनी-एकादशी : जब फाल्गुन में एकादशी पुष्य-नक्षत्र एवं गुरुवार को हो और जब सूर्य कुम्भ या मीन राशि में हो या जब एकादशी पुष्य-नक्षत्र से युक्त हो तो उस तिथि को पापनाशिनी कहा जाता है; गदाधरपद्धति (कालसार, वायुपुराण एवं वराहपुराण से उद्धरण)।

पापमोचन-व्रत : जो व्यक्ति १२ दिनों तक बिना खाये बिल्व वृक्ष के नीचे रहता है वह भ्रूण-हत्या के पाप से मुक्त हो जाता है; देवता शिव; हेमाद्रि (व्रत० २, ३९६, सौरपुराण से उद्धरण)।

पारणा या पारण : देखिए गत अध्याय।

पालीचतुर्दशी-व्रत : भाद्रपद शुक्ल १४ पर; तिथि; देवता वरुण; एक मण्डल में वरुण का चित्र बनाया जाता है; सभी वर्णों के लोग (स्त्री-पुरुष) अर्घ्य दे सकते हैं, फलों, पुष्पों, सभी अन्नों, दही आदि से मध्याह्न में पूजा कर सकते हैं; कर्ता सभी पापों से मुक्त हो जाता है और समृद्धि पाता है; हेमाद्रि (व्रत० २, १३०-१३२, भविष्योत्तर पुराण से उद्धरण)।

पाशा : १२वीं तिथि का यह नाम है; वर्षक्रियाकौमुदी (२४२); स्मृतिकौस्तुभ (११४)।

पाशुपतव्रत : (१) चैत्र में आरम्भ; एक लिंग बनाकर उसे चन्दन-जल से स्नान कराना; एक स्वर्ण-कमल बनाकर उसमें लिंग-स्थापन एवं बिल्व-दल से पूजा; कमल पुष्प (श्वेत, लाल एवं नील) एवं अन्य उपचार; चैत्र से आरम्भ कर सभी मासों में यह शिवलिंगव्रत किया जाता है; किन्तु वैशाख मास से आगे के मासों में शिवलिंग

क्रम से हीरा, मरकत, मोती, इन्द्रनील, माणिक्य, गोमेद (एक ऐसी मणि जो हिमालय एवं सिन्धु से लायी जाती थी), प्रवाल (कार्तिक एवं मार्गशीर्ष में), सूर्यकान्त, स्फटिक से बनाया जाता है; वर्ष के अन्त में गोदान एवं साँड़ छोड़ना; या यह केवल एक मास तक ही सम्पादित किया जाय, विशेषतः यदि कर्ता दरिद्र है; शिव के स्कन्द आदि विभिन्न रूपों को सम्बोधित बहुत से श्लोक, यथा—जिनके अन्त में है—'पापमाशु व्यपोहतु' (वह मेरा पाप दूर करे), 'स मे पापं व्यपोहतु' या 'व्यपोहन्तु मलं मम'; हेमाद्रि (व्रत० २, १९७-२१२, लिंगपुराण); (२) चैत्र पूर्णिमा पर; त्रयोदशी को सुपात्र अथवा सुयोग्य आचार्य का सम्मान; जीवन भर, १२ वर्षों, ६ या ३ या १ वर्ष या १ मास या १२ दिनों के लिए व्रत करने का संकल्प; होम, घी एवं समिधा के साथ; चतुर्दशी को उपवास; पूर्णिमा को होम; 'अग्निरिति भस्म' आदि ६ मन्त्रों के साथ शरीर में भस्म लगाना (अथर्वशिरस् उप० ५); हेमाद्रि (व्रत० २, २१२-२२२, वायुसंहिता); (३) कृष्ण १२ को एकभक्त विधि से भोजन, त्रयोदशी को अयाचित विधि से तथा चतुर्दशी को नक्त-विधि से तथा अमावास्या को उपवास, अमावास्या के उपरान्त स्वर्ण-बैल का दान; हेमाद्रि (व्रत० २, ४५५-४५७, अग्निपुराण से उद्धरण)।

पाषाणचतुर्दशी : शुक्ल १४ को जब सूर्य वृश्चिक राशि में हो; सूर्यास्त के उपरान्त पत्थर के गोलों के रूप में आटे के चार गोले खाकर गौरी को प्रसन्न करना; कालविवेक (४७०); वर्षक्रियाकौमुदी (४८३); तिथितत्त्व (१२४)।

पिठोरी अमावास्या : श्रावण कृष्ण ३०।

पितृव्रत : (१) एक वर्ष तक प्रत्येक अमावास्या पर; कर्ता केवल दूध पर रहता है, वर्ष के अन्त में श्राद्ध करता है तथा ५ गायें या वस्त्र जलपूर्ण पात्रों के साथ दान करता है; १०० पूर्वजों की रक्षा करता है (तारता है) और विष्णुलोक जाता है; कृत्यकल्पतरु (४४३, १६वाँ षष्टिव्रत, मत्स्य० १०१।२९-३० से); (२) चैत्र कृष्ण प्रतिपदा से; अग्निष्वात्त, बर्हिषद आदि सात पितृ-दलों की सात दिनों तक पूजा; एक या बारह वर्षों तक; हेमाद्रि (व्रत० २, ५०५-५०६, विष्णुधर्मोत्तरपुराण ३।१५७।१-७ से, सप्तमूर्तिव्रत कहा गया है); (३) विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।१८९।१-५); (४) चैत्र कृष्ण ३० से; पितरों के सात दलों का श्राद्ध एवं उपवास; एक वर्ष तक; हेमाद्रि (व्रत० २।२५५, विष्णुपुराण से); (५) अमावास्या पर पितरों को तिल एवं जल जिसमें कुश रखे रहते हैं, उस दिन उपवास; हेमाद्रि (व्रत० २।२५३, वराहपुराण से उद्धरण); (६) पिण्डों से पितृ-पूजा; घृत की धारा, समिधा, दही, दूध, भोजन आदि से होम; पितर लोग संतति प्रदान करते हैं, धन, दीर्घायु आदि देते हैं; हेमाद्रि (व्रत० २, २५४, भविष्यपुराण से उद्धरण)।

पिपीतक-द्वादशी : वैशाख शुक्ल १२ पर; केशव की प्रतिमा को शीतल जल से नहलाना तथा गंध, पुष्प आदि उपचारों से पूजा; प्रथम वर्ष में चार जलपूर्ण घड़ों का दान; दूसरे वर्ष में इसी प्रकार ८ घड़ों, तीसरे में १२ घड़ों, चौथे में १६ घड़ों का दान; सोने की दक्षिणा; पिपीतक नामक ब्राह्मण के नाम से विख्यात; व्रतकालविवेक (१९-२०); वर्षक्रियाकौमुदी (२५२-२५८); तिथितत्त्व (११४)।

पिशाचचतुर्दशी : चैत्र कृष्ण १४ पर; शंकर-पूजा और रात्रि में उत्सव; उस दिन निकुम्भ शंकर की पूजा करता है, अतः निकुम्भ को सम्मानित करना चाहिए और गोशालाओं, नदियों, मार्गों, शिखरों आदि पर पिशाचों को बलि देनी चाहिए; निर्णयामृत (५५-५६, श्लोक ६७४-६८१)।

पिशाच-मोचन : (१) मार्गशीर्ष शुक्ल १४ पर; काशी में कपर्दीश्वर के पास स्नान एवं पूजा; वहाँ भोजन-वितरण; प्रति वर्ष; कर्ता पिशाच होने से बच जाता है; पुरुषार्थचिन्तामणि (२४७-२४८), (२) स्मृतिकौस्तुभ

(१०८); जब चैत्र शुक्ल १४ मंगल को पड़ती है तो उस दिन गंगा-स्नान और ब्रह्मभोज; कर्ता पिशाच होने से बच जाता है।

पिष्टाशनव्रत : प्रत्येक नवमी पर; केवल आटे पर निर्वाह; महानवमी से प्रारम्भ; ९ वर्षों तक; देवता गौरी; सभी कांक्षाओं की पूर्ति; तिथितत्त्व (५९); वर्षक्रियाकौमुदी (४०-४१)।

पुण्डरीकयज्ञप्राप्ति : द्वादशी को जल-देवता वरुण की पूजा; पुण्डरीक यज्ञ की फल-प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० १, १२०४)। वनपर्व (३०।११७) के मत से यह अश्वमेध एवं राजसूय के समान एक महान् यज्ञ है; आश्वलायन श्रौतसूत्र (उत्तरषट्क ४।४) जहाँ पुण्डरीकयाग का उल्लेख है।

पुण्यकव्रत : हरिवंश (२।७७-७९, ब्रह्मवैवर्त०३, अध्याय ३ एवं ४) में निरूपित; माघ शुक्ल १३ को आरम्भ; एक वर्ष तक, हरि की पूजा।

पुत्रकामव्रत : (१) भाद्रपद पूर्णिमा पर; पुत्रहीन व्यक्ति अपने गृह में पुत्रेष्टि करने के उपरान्त उस कंदरा (गुहा) में प्रवेश करता है जिसमें रुद्र के निवास कर लेने की कल्पना कर ली जाती है; रुद्र, पार्वती, नन्दी के लिए होम किया जाता है, पूजा की जाती है और उपवास किया जाता है; सहायकों को खिलाकर स्वयं एवं पत्नी को खिलाया जाता है, गुहा की प्रदक्षिणा की जाती है और पत्नी को रुद्र-सम्बन्धी कथाएँ सुनायी जाती हैं, पत्नी तीन दिनों तक दूध एवं चावल खाती है; इससे बन्ध्या स्त्री को भी सन्तान उत्पन्न होती है; पति को एक सोने या चाँदी या लोह की शिव-प्रतिमा एक प्रादेश (अँगूठे एवं तर्जनी को फैलाने से जो लम्बाई होती है) की लम्बाई की बनवानी पड़ती है; प्रतिमा-पूजा, उसे अग्नि में तप्त किया जाता है, पुनः उसे एक पात्र में रखकर एक प्रस्थ दूध से अभिषिक्त किया जाता है और उसे पत्नी पी लेती है; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३७४-३७६, ब्रह्मपुराण से उद्धरण); हेमाद्रि (व्रत० २, १७१-१७२, पद्मपुराण से उद्धरण); (२) ज्येष्ठ पूर्णमासी पर; तिथिव्रत; एक घड़े को श्वेत चावल से भरकर, श्वेत वस्त्र से ढँककर, श्वेत चन्दन से चिह्नित कर और उसमें एक सोने का सिक्का रखकर स्थापित करना चाहिए, उसके ऊपर एक पीतल के पात्र को गुड़ के साथ रखना चाहिए; ढक्कन के ऊपर ब्रह्मा एवं सावित्री की प्रतिमा रखकर गन्ध आदि से पूजा करनी चाहिए; दूसरे दिन प्रातः उस घड़े का दान किसी ब्राह्मण को कर देनी चाहिए; ब्रह्म-भोजन, अन्त में स्वयं बिना नमक का भोजन करना चाहिए; यह एक वर्ष तक प्रति मास करना चाहिए; १३ वें मास में पलंग एवं स्वर्णिम तथा चाँदी की (ब्रह्मा एवं सावित्री की) प्रतिमाएँ घृतधेनु के साथ दान कर देनी चाहिए; तिल से होम; ब्रह्मा के नाम का जप; कर्ता (स्त्री पुरुष) सभी पापों से मुक्त हो जाता है तथा उत्तम पुत्रों की प्राप्ति करता है; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३७६-३७८, यहाँ इसका नाम पुत्रकाम्यव्रत है); हेमाद्रि (व्रत० २, १७३-१७४); कृत्यरत्नाकर (१९३–१९५, पद्मपुराण से उद्धरण)।

पुत्रदविधि : रोहिणी या हस्त नक्षत्र में पड़ने वाला रविवार पुत्रद कहा गया है; उस दिन उपवास; पुष्पों आदि से सूर्य-पूजा; सूर्य-प्रतिमा के समक्ष शयन; महाश्वेता मन्त्र (ह्रीं क्रीं सः) का कर्ता द्वारा पाठ; दूसरे दिन करवीर पुष्पों एवं लाल चन्दन से सूर्य एवं रविवार को अर्घ्य तथा पार्वण श्राद्ध का सम्पादन और तीन पिण्डों में मध्य वाले पिण्ड को खाना; कृत्यकल्पतरु (१५-१६); हेमाद्रि (व्रत० २, ५२४, यहाँ नाम पुरा-पुत्रद-विधि है)।

पुत्रप्राप्तिव्रत : (१) वैशाख शुक्ल ६ पर पंचमी को उपवास कर स्कन्द-पूजा; तिथि; एक वर्ष; स्कन्द के चार रूप हैं, यथा—स्कन्द, कुमार, विशाख एवं गुह; पुत्र, सम्पत्ति [illegible] स्वास्थ्य की इच्छा करने वाला पूर्णकाम होता है; हेमाद्रि (व्रत० १।६२८, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण); (२) श्रावण-पूर्णिमा पर; तिथि; शांकरी (दुर्गा) देवता; पुत्रों, विद्या, राज्य एवं यश पाने वाले को इसका सम्पादन करना चाहिए; किसी शुभ नक्षत्र में सोने या चाँदी की एक तलवार या पादुकाएँ या दुर्गा की प्रतिमा बनवानी चाहिए और उगे हुए जौ की वेदी पर रखना

चाहिए, वेदी पर पहले होम हो गया रहना चाहिए; देवी को भाँति-भाँति के फूल-फल चढ़ाने चाहिए; हेमाद्रि (व्रत० २, २३२) में विद्यामन्त्र दिये हुए हैं; हेमाद्रि (व्रत २, २३०-२३३, देवीपुराण से उद्धरण)।

पुत्रव्रत : (१) यह 'पुत्र-कामव्रत' ही है; हेमाद्रि (व्रत० २, १७१-१७२); (२) प्रातः सूर्योदय के पूर्व स्नान करके पिप्पल (पीपल) वृक्ष को स्पर्श करना, तिलपूर्ण घट का दान; सभी पाप कट जाते हैं; हेमाद्रि (व्रत० २, ८८३, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण)।

पुत्रसप्तमी : (१) माघ शुक्ल एवं कृष्ण ७ पर; षष्ठी को उपवास एवं होम करके दोनों सप्तमियों पर सूर्य-पूजा; एक वर्ष; पुत्र, धन, यश एवं स्वास्थ्य की प्राप्ति; कृत्यकल्पतरु (व्रत० १६६-१६७); हेमाद्रि (व्रत० १, ७३८-७३९, आदित्यपुराण से उद्धरण); व्रतराज (२५५); (२) भाद्रपद शुक्ल एवं कृष्ण ७ पर; षष्ठी को संकल्प एवं सप्तमी को उपवास; विष्णु नाम वाले मन्त्रों के साथ विष्णु-पूजा; गोपाल-मन्त्रों के साथ अष्टमी को विष्णु-पूजा तथा तिल से होम; एक वर्ष; वर्ष के अन्त में २ काली गायों का दान; पुत्र-प्राप्ति एवं सभी पापों से मुक्ति; कृत्यकल्पतरु (व्रत० २२४-२२५); हेमाद्रि (व्रत० १, ७२४-२५, वराहपुराण ६३।१-७ से उद्धरण)।

पुत्रीयव्रत : भाद्रपद पूर्णिमा के उपरान्त कृष्ण ८ पर; उस दिन उपवास; गोविन्द-प्रतिमा को सर्वप्रथम एक प्रस्थ घी तथा क्रम से मधु, दही तथा दूध में नहलाना और तब सर्वौषधि से युक्त जल में नहलाना, इसके उपरान्त उस पर चन्दन-लेप, कुंकुम एवं कर्पूर लगाना; पुष्पों एवं अन्य उपचारों से प्रतिमा-पूजन; पुरुषसूक्त (ऋ० १०-९०) के साथ होम; तब पुत्र या पुत्री चाहने वाला ऐसे फलों का दान करता है जो क्रम से पुंल्लिंग या स्त्रीलिंग के सूचक हों; एक वर्ष तक; सभी इच्छाओं की पूर्ति; हेमाद्रि (व्रत० १, ८४४-४५, विष्णुधर्मोत्तर पुराण ३।५५।१-१२ से उद्धरण)।

पुत्रीय-सप्तमी : मार्गशीर्ष शुक्ल ७ पर; सूर्य-पूजा; उस दिन केवल हविष्य-भोजन; दूसरे दिन गन्ध से आरम्भ कर अन्य उपचारों से सूर्य-पूजा तथा नक्त-भोजन (दिन भर कुछ नहीं केवल रात्रि में भोजन); एक वर्ष तक; हेमाद्रि (व्रत० १, ७८९-९०, विष्णुधर्मोत्तर पुराण से उद्धरण)। "पुत्रीय" का अर्थ है 'जो पुत्र-लाभ कराता है'।

पुत्रीयानन्तव्रत : मार्गशीर्ष में आरम्भ; एक वर्ष; प्रत्येक मास में उस नक्षत्र पर जिससे उस मास का नाम पड़ता है; कर्ता उपवास करता है और विष्णु-पूजा करता है; बारह मासों में विष्णु के बारह अंगों की पूजा, यथा—मार्गशीर्ष में बायाँ घुटना, पौष में कटि का वाम पक्ष...आदि; चार मासों के प्रत्येक दल में विभिन्न रंगों के पुष्प तथा मार्गशीर्ष से आरम्भ कर तीनों अवधियों में गाय के मूत्र, दूध एवं दही से स्नान कराना होता है; सभी मासों में अनन्त-नाम का जप एवं होम; अन्त में ब्रह्म-भोज एवं दान; इच्छाओं की पूर्ति, यथा—पुत्र, धन, जीविका आदि की प्राप्ति; विष्णुधर्मोत्तरपुराण (१।१७३)।

पुत्रोत्पत्तिव्रत : यह नक्षत्र-व्रत है; एक वर्ष तक प्रत्येक श्रवण-नक्षत्र पर यमुना में स्नान; इससे वैसा ही पुत्र प्राप्त होता है जैसा कि शक्ति के पुत्र एवं वसिष्ठ के पौत्र पराशर को प्राप्त हुआ था; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४०९, वराहपुराण से उद्धरण); हेमाद्रि (व्रत० २।६४९-५०, आदित्यपुराण से श्लोकों का उद्धरण)।

पुरश्चरण-सप्तमी : माघ शुक्ल ७ को जब रविवार हो और सूर्य मकर राशि में हो; लाल पुष्पों, अर्घ्य, गन्ध आदि से सूर्य-प्रतिमा की पूजा; पञ्चगव्य-पान; एक वर्ष तक; विभिन्न पुष्पों, धूप एवं नैवेद्य प्रति मास में; सभी पापों के प्रभाव से मुक्ति; हेमाद्रि (व्रत० १, ८०५-८१०, स्कन्द, नागरखण्ड से उद्धरण)। पुरश्चरण में पाँच तत्त्व होते हैं, यथा—जप, पूजा एवं होम, तर्पण, अभिषेक तथा ब्राह्मण-सम्मान; स्मृतिकौस्तुभ (७४)।

पुराणश्रवणविधि : हेमाद्रि (व्रत० २, ९९७-१००२)।

पुरुषोत्तमयात्रा : गदाधरपद्धति (कालसार अंश, पृ० १८३-१९०) में जगन्नाथपुरी में पुरुषोत्तम की १२ यात्राओं का वर्णन है, यथा—स्नान, गुण्डिचा, हरिशयन, दक्षिणायन, पार्श्वपरिवर्तन, उत्थापनैकादशी, प्रावरणोत्सव, पुष्याभिषेक, उत्तरायण, दोलायात्रा, दमनकचतुर्दशी, अक्षयतृतीया ।

पुलिक-बन्धन : कार्तिक शुक्ल १५ पर पुष्कर का मेला; कृत्यसार-समुच्चय (७)।

पुष्पद्वितीया : कार्तिक शुक्ल द्वितीया से आरम्भ; तिथिव्रत; एक वर्ष; देवता अश्विनीकुमार; प्रत्येक शुक्ल द्वितीया पर देवीपूजा में प्रयुक्त पुष्पों को खाया जाता है; अन्त में सोने से बने पुष्पों एवं एक गाय का दान; कर्ता अपनी पत्नी एवं पुत्रों के साथ आनन्द पाता है; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४०-४१); हेमाद्रि (व्रत० १, ३८१-३८२, भविष्यपुराण १।१९।८१-८९ से उद्धरण)।

पुष्पाष्टमी : श्रावण शुक्ल ८ पर; तिथिव्रत; देवता शिव; एक वर्ष; प्रत्येक मास में विभिन्न पुष्प, नैवेद्य और शिव के विभिन्न नाम; कृत्यकल्पतरु (व्रत० २३५-२३८); हेमाद्रि (व्रत० १, ८३७-८३९, भविष्यपुराण से उद्धरण)।

पुष्यव्रत : यह नक्षत्रव्रत है; शुक्ल पक्ष में सूर्य की उत्तरायण-गति में समृद्धि का इच्छुक व्यक्ति कम-से-कम एक रात्रि उपवास करता है, स्थालीपाक (दूध में चावल या जौ को उबालने से बना भोज्य पदार्थ) बनाता है, कुबेर-पूजा करता है, एक ब्राह्मण को पकाये हुए भोजन के शेषांश को घृत मिलाकर खिलाया जाता है और ब्राह्मण से 'समृद्धि हो' कहलाया जाता है, दूसरे पुष्य-नक्षत्र के आने तक इसे प्रतिदिन दुहराया जाता है; कर्ता द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ बार आये हुए पुष्य पर क्रम से दो-तीन एवं चार ब्राह्मणों को भोज्य देता है; इस प्रकार ब्राह्मणों की संख्या बढ़ायी जाती रहती है और यह क्रम वर्ष भर चलता रहता है; कर्ता केवल प्रथम पुष्य पर उपवास करता है; फल यह होता है कि कर्ता बड़ी समृद्धि प्राप्त करता है; आपस्तम्बधर्मसूत्र (२।८।२०।३-९ एवं सूत्र १०-२२ कुछ प्रतिबंध उपस्थित करते हैं); कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३९९-४००); हेमाद्रि (व्रत, २।६२८)।

पुष्यस्नान : यह एक शान्ति है; हेमाद्रि (व्रत० २।६००-६२८); बृहत्संहिता (४७।१-८७); कालिकापुराण (८९)। रत्नमाला (६।७०) में आया है—'जिस प्रकार चौपायों में सिंह सर्वशक्तिमान् होता है, उसी प्रकार पुष्य नक्षत्रों में सर्वशक्तिमान् है और इसमें किये गये सभी संकल्प पूरे होते हैं, भले ही चन्द्र अनुग्रहपूर्ण न हो।

पुष्यद्वादशी : जब पुष्य नक्षत्र द्वादशी को हो, चन्द्र एवं बृहस्पति का योग हो तथा सूर्य कुम्भ राशि में हो तो ब्रह्मा, हरि एवं शिव या केवल वासुदेव की ही पूजा करनी चाहिए; राजमार्तण्ड (श्लोक १३७५-१३७७)।

पुष्याभिषेक : पुरुषोत्तम की १२ यात्राओं में एक; प्रति वर्ष जब कि पौष में पूर्णिमा पुष्य नक्षत्र में हो; गदाधरपद्धति (कालसार, १८९)।

पुष्यार्कद्वादशी : जब किसी द्वादशी पर सूर्य पुष्य-नक्षत्र में हो तो जनार्दन-पूजा होनी चाहिए; इससे सभी पाप कटते हैं; यदि द्वादशी पर पुष्य-नक्षत्र न हो तब भी विधि करनी चाहिए; एकादशी को उपवास एवं द्वादशी को घृतपूर्ण पात्र का दान; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३५१); हेमाद्रि (व्रत० १, ११७६-११७७)।

पूर्णाहुति : खड़े होकर (कभी भी बैठकर नहीं) 'मूर्धानं दिवो' के साथ आहुति दी जाती है (ऋ० ६।७०१, वाज० संहिता ७।२४; तै० स० १।४।१३।१)। तिथितत्त्व (१००); कृत्यकल्पतरु (शान्तिक)।

पूजा : उपचारों के लिए देखिए गत अध्याय २; अधिकांश व्रतों में पाँच उपचार, यथा—गन्ध, पुष्प, धूप, दीप एवं नैवेद्य कार्यान्वित होते हैं। कुछ पुष्पों आदि के विषय में ऐसे नियम प्रतिपादित हैं कि वे कुछ देवों एवं देवियों की पूजा में प्रयुक्त नहीं होते, यथा दुर्गा-पूजा में दूर्वा, सूर्य के लिए बिल्व-दल, महाभिषेक में शंख से जल

डारा जाता है, किन्तु शिव एवं सूर्य की पूजा में ऐसा नहीं किया जाता। सभी व्रतों में पायी जाने वाली सामान्य विधि के लिए देखिए व्रतराज (४७-४९)।

पूर्णिमाव्रत : (१) पुष्पों, चन्दन-लेप, धूप आदि से सभी पूर्णिमाओं का सम्मान करना चाहिए और गृहिणी को केवल एक बार और वह भी रात्रि में भोजन करना चाहिए (नक्त-विधि)। यदि सभी पूर्णिमाओं पर व्रत न किया जा सके तो कम-से-कम कार्तिक शुक्ल १५ को अवश्य किया जाना चाहिए; उमा-पूजा; हेमाद्रि (व्रत० २, २४३, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण); (२) श्रावण-पूर्णिमा; उपवास, इन्द्रिय-निग्रह और प्राणायाम करने चाहिए; सभी पापों से मुक्ति हो जाती है; हेमाद्रि (व्रत० २, २४४); (३) कार्तिक पूर्णिमा पर नारी को घर की दीवार पर उमा एवं शिव का चित्र बनाना चाहिए; इन दोनों की पूजा गन्ध आदि से की जानी चाहिए और विशेषतः ईख या ईख के रस से बनी वस्तुओं का अर्पण होना चाहिए, बिना तिल के तेल के प्रयोग के नक्त-विधि से भोजन; इस व्रत को सम्पादित करने वाली नारी सौभाग्यवती होती है; हेमाद्रि (व्रत० २।२४४, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)। क्षीरस्वामी ने 'पूर्णिमा' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है--'पूरणं पूर्णिः, पूर्णिं मिमीते पूर्णिमा'; देखिए हेमाद्रि (काल० ३११, मत्स्य पुराण से उद्धरण)।

पूर्णिमाव्रत : देखिए पौर्णमासीव्रतों के अन्तर्गत।

पूर्वाह्ण : देखिए ऊपर 'अह'; मनु (४।१५२), अनुशासन (१०४।२३); विष्णुपुराण (३।११।२२)।

पृथिवीव्रत : देवी के रूप में पृथिवी की पूजा; हेमाद्रि (व्रत० १, ५७४)।

पौरन्दर व्रत : पंचमी को तिल की खली से हाथी की आकृति बनानी चाहिए, उसे सोने से अलंकृत करना चाहिए, उस पर अंकुश के साथ पीलवान बैठाना चाहिए; हाथी पर लाल वस्त्र रखे जाने चाहिए, उसके दाँत को किसी पीतल के पात्र में या कुण्ड में रखना चाहिए; हाथी को दान रूप में किसी ब्राह्मण एवं उसकी पत्नी को मालाओं, आभूषणों, कुण्डलों एवं नवीन वस्त्रों के साथ देना चाहिए; ऐसा करने से कर्ता इन्द्रलोक में दीर्घ काल तक रहता है; हेमाद्रि (व्रत० १, ५६७-५६८, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण)।

पौरुष-प्रतिपदा-व्रत : चैत्र शुक्ल प्रथमा से आरम्भ; तिथिव्रत; कर्ता को पवित्र जल में खड़े होकर विष्णु का ध्यान करना चाहिए; गन्ध आदि से पूजा एवं पुरुषसूक्त (ऋ० १०।९०।१-१६) का पाठ; एक वर्ष तक दोनों पक्षों में; हेमाद्रि (व्रत० १, ३४४, विष्णुधर्मोत्तरपुराण ३।१२८।१-७ से उद्धरण)।

पौर्णमासी : माघ, कार्तिक, ज्येष्ठ एवं आषाढ़ की पूर्णिमाओं के कतिपय दान-पत्र, देखिए एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द ७। 'पौर्णमासी' शब्द यों बना है--'पूर्णो मा: ('मास्' का अर्थ है चन्द्र) पूर्णमा:, तत्र भवा पौर्णमासी (तिथिः), या 'पूर्णो मासो वर्तते अस्यामिति पौर्णमासी'; हेमाद्रि (व्रत० २, १६०) में आया है--'पूर्णमासो भवेद् यस्यां पूर्णमासी ततः स्मृता'; देखिए गत अध्याय ३। जब चन्द्र एवं बृहस्पति एक ही नक्षत्र में हों और तब पूर्णिमा हो तो उस पूर्णिमा या पौर्णमासी को 'महा' कहा जाता है; ऐसी पौर्णमासी पर दान एवं उपवास अक्षय फलदायक होता है (विष्णुधर्मसूत्र ४९।९-१०; कृत्यरत्नाकर, पृ० ४३०-४३१, नैयतकालिक काण्ड, ३७३); कालविवेक (३४६-३४७), हेमाद्रि (काल० ६४०); वर्षक्रियाकौमुदी (७७) एवं विष्णुधर्मोत्तरपुराण १।६०।२१)। ऐसी पौर्णमासी को महाचैत्री, महाकार्तिकी, महा-पौषी आदि कहा जाता है। यदि पौर्णमासी या अमावास्या विद्ध हो तो वह तिथि जो प्रतिपदा से युक्त हो, मान्य होती है, किन्तु वटसावित्री को छोड़कर; कालनिर्णय (३००-३०१); कालतत्त्व-विवेचन (५९-६१); पुरुषार्थचिन्तामणि (२८१)।

पौर्णमासी-कृत्य : कालनिर्णय (३००-३०७); वर्षक्रियाकौमुदी (७७-८१); तिथितत्त्व (१३३); समयमयूख (१०४-११६); स्मृतिकौस्तुभ (२७०-२७१)।

पौर्णमासी-व्रत : अग्निपुराण (१९४); कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३७४-३८५) में पाँच व्रतों का उल्लेख है और हेमाद्रि (व्रत० २, १६०-२४५) में लगभग ३८ व्रतों का; स्मृतिकौस्तुभ (४३२-४३९), पु० चिन्तामणि (२११-३१४); व्रतराज (५८७-६४५)। यहाँ पर पौर्णमासी तिथि के विषय की कुछ महत्वपूर्ण बातें दी जा रही हैं। आषाढ़ पूर्णिमा पर यतियों को अपने सिर मुँड़ा लेने चाहिए; चातुर्मास्य में ऐसा कभी नहीं करना चाहिए; आषाढ़ से आगे चार या दो मासों तक उन्हें एक स्थान पर ठहरना चाहिए और व्यास-पूजा करनी चाहिए (पु० चिन्तामणि २८४); श्रावण-पूर्णिमा पर उपाकर्म; भाद्रपद पूर्णिमा पर नान्दीमुख पितरों के लिए श्राद्ध करना चाहिए; माघ-पूर्णिमा को तिल-दान करना चाहिए; फाल्गुन में शुक्ल ५ से १५ तक आग जलाने वाली लकड़ी को चुराने की छूट बच्चों को रहती है, ऐसी लकड़ी में आग १५ वीं तिथि को लगायी जाती है (पु० चिन्तामणि ३०९); विष्णुधर्म-सूत्र (९०।३-५) ने व्यवस्था दी है कि यदि पौष की पूर्णिमा पर पुष्य नक्षत्र हो और कोई व्यक्ति वासुदेव-प्रतिमा को घी से नहलाता है और स्वयं श्वेत सरसों का तेल अपने शरीर में लगाता है और सर्वौषधि एवं सुगंधित वस्तुओं से युक्त जल से स्नान करता है तथा विष्णु, इन्द्र एवं बृहस्पति के मन्त्रों के साथ प्रतिमा का पूजन करता है तो वह सुख पाता है; कृत्यरत्नाकर (४८४)।

पौषव्रत : कृत्यरत्नाकर (४७४-४८६); वर्षक्रियाकौमुदी (४८७-४९०); निर्णयसिन्धु (२११-२१२); स्मृतिकौस्तुभ (४३२-४३९); कुछ बातें यहाँ संक्षेप में दी जा रही हैं। पौष में शिव-लिंग पर किसी पात्र से घृत ढारना, ऐसा करते समय संगीत, नृत्य आदि किये जाते हैं और प्रकाश आदि का सुन्दर प्रबन्ध रहता है; इससे पापमोचन होता है और व्यक्ति शिवलोक जाता है (कृत्यरत्नाकर, ४७८); बुधवार से युक्त पौष ८ पर शिव-पूजार्थ स्नान, जप, होम, ब्रह्म-भोज करने पर सहस्रगुना पुण्य लाभ होता है (निर्णयसिन्धु २११); पौष के दोनों पक्षों की नवमी पर उपवास और प्रतिदिन तीन बार दुर्गा-पूजा, पूरे मास भर नक्त भोजन तथा दुर्गा-प्रतिमा को घृत से नहलाना, आठ कुमारियों को खिलाना, आटे से निर्मित दुर्गा-प्रतिमा की पूजा; इससे दुर्गा-लोक में पहुँच होती है (कृत्यरत्नाकर, ४७७, भविष्यपुराण से उद्धरण)।

पौष्टिक : बृहत्संहिता (२) ने सांवत्सर (ज्योतिषी) की अर्हताओं में शान्तिक एवं पौष्टिक कृत्यों का ज्ञान भी सम्मिलित किया है। दोनों में अन्तर यह है--पौष्टिक कृत्यों में होम आदि का सम्पादन दीर्घायु करता है, किन्तु शान्तिक कृत्यों में दुष्ट ग्रहों, धूमकेतु आदि असाधारण घटनाओं से उत्पन्न कुप्रभावों से बचने के लिए होम आदि का सम्पादन होता है; निर्णयसिन्धु (४८)। कृत्यकल्पतरु (नैयतकालिक २५४) में आया है कि शान्ति का अर्थ है सांसारिक कष्टों का धर्मशास्त्र की विधियों से निवारण।

प्रकीर्णक-व्रत : कई प्रकार के मिले-जुले व्रत; कृत्यकल्पतरु (४५२-४६८); हेमाद्रि (व्रत० २, ८६८-१००२); कृत्यरत्नाकर (५४०-५९३); कालनिर्णय (३२६-३५८); वर्षक्रियाकौमुदी (५३३-५६४)। इन व्रतों में अधिकांश की चर्चा यथास्थान पृथक् रूप से हुई है।

प्रकृतिपुरुष-व्रत : चैत्र शुक्ल १ को उपवास; दूसरे दिन पुरुषसूक्त (ऋ० १०-९०) के साथ पुष्पों आदि से अग्नि-पूजा; पुरुष एवं प्रकृति को अग्नि एवं सोम के अनुरूप माना गया है और वे ही वासुदेव एवं लक्ष्मी हैं; श्रीसूक्त के साथ लक्ष्मी-पूजा; सोने, चाँदी एवं ताम्र का दान; कर्ता को केवल दूध एवं घृत खाना चाहिए; एक वर्ष तक; सभी कामनाओं की पूर्ति एवं मुक्ति-मार्ग की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० १, पृ० ३९१-९२, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)।

प्रजापतिव्रत : (१) शांखायन ब्रा० (६।६) में आया है—'कर्ता को सूर्योदय एवं सूर्यास्त नहीं देखना चाहिए।' ये नियम शबर (जैमिनि ४।१।३) द्वारा प्रजापतिव्रत कहे गये हैं और उन्होंने उद्घोषित किया है कि ये 'पुरुषार्थ' कहे गये हैं न कि 'क्रत्वर्थ'; (२) प्रश्नोपनिषद् (१।१३ एवं १५) में ऐसा आया है--'दिवस प्राण है और रात्रि

प्रजापति का भोजन है तथा जो लोग दिन में मैथुन करते हैं वे प्राण पर आक्रमण करते हैं और जो लोग रात्रि में संभोग करते है वे ब्रह्मचर्य-पालन करते हैं; जो लोग प्रजापति व्रत करते है वे पुत्र एवं पुत्री उत्पन्न करते हैं।' प्रश्नोपनिषद् (१।१५) में प्रजापतिव्रत का अर्थ है रात्रि में संभोग; यह अर्थ शबर के अर्थ से भिन्न है।

प्रतिपद्-व्रत : अग्निपुराण (१७६, केवल दो व्रत); कृत्यकल्पतरु (३५-४०); हेमाद्रि (व्रत० १, ३३५-३६५); कालनिर्णय (१४०-१४९); पुरुषचिन्तामणि (५६-८१); व्रतराज (४९-७८); हेमाद्रि (कालसार, ६१४, भविष्यपुराण का उद्धरण); इन सभी ग्रन्थों में आया है कि चैत्र, कार्तिक एवं आश्विन की पहली तिथियाँ पवित्रतम हैं (हेमाद्रि, व्रत० ३५० ने भी ऐसा कहा है)। यदि प्रतिपद् विद्धा हो तो सभी दान द्वितीया से युक्त प्रतिपद् पर होना चाहिए; कालनिर्णय (१४०)।

प्रतिमाव्रत : कार्तिक शुक्ल १४ से आरम्भ; तिथिव्रत; एक वर्ष; देवता, उमा एवं शिव; चावल के आटे से प्रतिमाएँ बनायी जाती हैं; सैकड़ों दीप जलाये जाते हैं, प्रतिमाओं पर कुंकुम लगाया जाता है; धूप गुग्गुल का होता है; दूध एवं घृत की १०८ आहुतियाँ; हेमाद्रि (व्रत० २, ५७-५८, कालोत्तरपुराण से उद्धरण)।

प्रथमाष्टमी : भुवनेश्वर की १४ यात्राओं में यह प्रथम है; मार्गशीर्ष कृष्ण ८; प्रथम पुत्र की दीर्घायु के लिए सम्पादित; गणेश एवं वरुण की पूजा, भुवनेश्वर को प्रणाम; गदाधरपद्धति (कालसार ११५-११६, १९१)।

प्रदीप्तनवमी : आश्विन शुक्ल ९ पर; तिथिव्रत; एक वर्ष; १६ अक्षरों वाले (ओं महाभगवत्यै महिषासुरमर्दिन्यै हुं फट्) मंत्र के साथ देवी-पूजा; अग्नि में गुग्गुल डाल कर शिव-पूजा; अंगूठे एवं तर्जनी में घास का गुच्छा जब तक जलता रहे तब तक जितना खाया जा सके खाना चाहिये; हेमाद्रि (व्रत० १, ८९९-९००, देवीपुराण से उद्धरण)।

प्रदोष : देखिये गत अध्याय—५।

प्रदोषव्रत : त्रयोदशी की रात्रि के प्रथम प्रहर में जो व्यक्ति किसी भेंट के साथ शिव-प्रतिमा का दर्शन करता है, वह सभी पापों से मुक्त होता है; हेमाद्रि (व्रत० २, १८, भविष्यपुराण से उद्धरण)।

प्रपादान : चैत्र शुक्ल प्रथमा से आरम्भ; सभी को चार मासों तक जल देना; पितर लोग सन्तुष्ट हो जाते हैं; पुरुषचिन्तामणि (५७); स्मृतिकौस्तुभ (८९, अपरार्क का उद्धरण)।

प्रबोध : विष्णु एवं अन्य देवों का कार्तिक में शयन से उठना; देखिये गत अध्याय—५।

प्रभा-व्रत : जो आधे मास तक उपवास करता है और अन्त में दो कपिला गायों का दान काता है वह ब्रह्म लोक जाता है और देवों से सम्मानित होता है; मत्स्यपुराण (१०१।५४); कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४४७); हेमाद्रि (व्रत० २, ८८४-८५, पद्मपुराण से)। कृत्यकल्पतरु में इसे ३३ वाँ षष्टिव्रत कहा गया है।

प्रातःस्नान : भुजबलनिबन्ध (पृ० ३५०, श्लोक १५३०) एवं राजमार्तण्ड (श्लोक १३६१) में आया है कि व्यक्ति को तुला, मकर एवं मेषराशियों में पड़ने वाले सूर्य के समय प्रातः स्नान करना चाहिये; कृत्यरत्नाकर (१४९) एवं वर्षक्रियाकौमुदी ने भी यह उद्धरण दिया है; विष्णुधर्मसूत्र (६४।८) में ऐसा आया है कि जो व्यक्ति प्रातःस्नान करता है उसे अरुणोदय के समय ऐसा करना चाहिए।

प्राजापत्यव्रत : जो व्यक्ति कृच्छ्रप्रायश्चित्त के अन्त में गोदान करता है और अपने सामर्थ्य के अनुसार ब्रह्म-भोज कराता है वह शंकर के लोक में पहुँचता है; मत्स्यपुराण (१०१।६६); कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४४८); हेमाद्रि (व्रत० २, ८८३, पद्मपुराण से उद्धरण)। कृत्यकल्पतरु (व्रत०) में यही ४४ वाँ षष्टिव्रत है।

प्राप्तिव्रत : जो एक वर्ष तक एकभक्त रह कर जलपूर्ण घट एवं भोजन का दान करता है वह एक कल्प तक शिवलोक में वास करता है; मत्स्यपुराण (१०१।५५); कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४४७, ३४ वाँ षष्टिव्रत); हेमाद्रि (व्रत० २, ८६६, पद्मपुराण से उद्धरण)।

प्रावरणषष्ठी : मार्गशीर्ष ६ पर; जाड़े से बचने के लिए देवों एवं ब्राह्मणों को कुछ (यथा—कम्बल) देना चाहिए; गदाधरपद्धति (कालसार अंश, ८४)।

प्रावरणोत्सव : मार्गशीर्ष शुक्ल ६ पर पुरुषोत्तम की १२ यात्राओं में एक; गदाधरपद्धति (कालसार अंश, १८९)।

प्रीतिव्रत : वह जो आषाढ़ से आगे चार मासों तक तैल-त्याग कर देता है और व्यञ्जनों के साथ भोजन-दान करता है, विष्णुलोक जाता है; मत्स्यपुराण (१०१।६); कृत्यकल्पतरु (४०)।

प्रेतचतुर्दशी : कार्तिक कृष्ण १४ पर; रात्रि से ही व्रतारम्भ हो जाता है, यदि साथ ही मंगल एवं चित्रा-नक्षत्र हों तो सोने में सुहागा, पुण्य बढ़ जाता है; देवता, शिव; यदि १४ विद्धा हो तो वह दिन जब १४ वीं तिथि रात्रि तक रहती है श्रेष्ठ गिनी जानी चाहिये; १४ वीं को उपवास; शिव-पूजन, शिव-भक्तों को भोजन एवं दान; इस तिथि पर गंगा-स्नान से पाप-मुक्ति मिलती है; सिर पर अपामार्ग की टहनी घुमानी चाहिये और यम के १४ नामों को लेकर यम-तर्पण करना चाहिये; नदी, ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव के मन्दिरों, घरों, एवं चौराहों पर दीप-मालाएँ जलानी चाहिये; अपने कुटुम्ब की २१ पीढ़ियों के साथ कर्ता शिवलोक चला जाता है; इस तिथि पर कुटुम्ब के उन मृत व्यक्तियों के लिए, जो या तो युद्ध में मारे गये रहते हैं या अमावास्या में मरे रहते हैं, मशाल जलाये जाते हैं; कर्ता प्रेतोपाख्यान नामक गाथा सुनता है जो सम्वत्सरप्रदीप (वर्षक्रियाकौमदी ४६१-४६७) में संगृहीत है और जिसमें उन पाँच प्रेतों की कथाएँ हैं जिनकी एक ब्राह्मण से भेंट हुई थी; यह गाथा भीष्म ने युधिष्ठिर को सुनायी थी; भीष्म ने यह बताया है कि किन कर्मों से व्यक्ति प्रेत हो जाता है और किन कर्मों से प्रेतयोनि से छुटकारा होता है; कर्ता को कृत्यचिन्तामणि में वर्णित १४ शाकों (तरकारियों) का सेवन करना चाहिये; राजमार्तण्ड (१३३८-१३४५); वर्ष क्रिया कौमुदी (४५९-४६७); कृत्यतत्त्व (४७४); समयमयूख (१००), स्मृति कौस्तुभ (३७१); पुरुषार्थचिन्तामणि (२४२-२४३); तिथितत्त्व (१२४)। यह सम्भवतः इसीलिए प्रेत-चतुर्दशी कहलाती है क्योंकि इस अवसर पर प्रेतोपाख्यान सुनाया जाता है।

फलतृतीया : शुक्ल की तृतीया से प्रारम्भ; एक वर्ष तक; देवी (दुर्गा) की पूजा; सब के लिए, किन्तु विशेषतः स्त्रियों के लिए; फलों का दान; सम्पादन-काल में फलों का त्याग, नक्त-विधि; गेहूँ एवं विभिन्न प्रकार की दालों (यथा—चना, मुद्ग, माष आदि) का प्रयोग; प्रतिफल, धन, धान्य का प्राचुर्य एवं दुर्भाग्य की हीनता; हेमाद्रि (व्रत० १, ५००, पद्मपुराण, प्रभासखण्ड से उद्धरण)।

फलत्यागव्रत : मार्गशीर्ष शुक्ल की ३, ८, १२ या १४ वीं तिथि; एक वर्ष तक; देवता, शिव; कर्ता फलों का त्याग करता है, केवल १८ धान्यों का प्रयोग; नन्दी एवं धर्मराज के साथ शिव की प्रतिमा का निर्माण; १६ प्रकार (यथा—कूष्माण्ड, आम, बदर, केला आदि) के फलों की स्वर्णिम प्रतिमाएँ बनानी चाहिए, १६ अन्य छोटे-छोटे फलों (यथा—आमलक, उदुम्बर) की चाँदी की प्रतिनिधि-प्रतिमाएँ भी बनानी चाहिये तथा १६ अन्य फलों (यथा—इमली, इंगुद आदि) की ताम्र-प्रतिमाएँ बनायी जाती हैं; धान्य की एक राशि पर श्वेत वस्त्र से ढँके दो जलपूर्ण घट रखे जाते हैं तथा एक पलंग बनवाया जाता है; वर्ष के अन्त में ये सभी वस्तुएँ एक सपत्नीक ब्राह्मण को दान में दे दी जाती हैं, यदि यह सब देने में असमर्थता हो तो केवल धातु-निर्मित फल घड़े एवं शिव तथा धर्म की स्वर्णिम प्रतिमाएँ दे दी जाती हैं; कर्ता सहस्रों युगों

तक रुद्रलोक में रहता है; मत्स्यपुराण (९६।१-२५), हेमाद्रि (व्रत० २, ९०६-९०९); कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४३६-४३९)।

फलव्रत : (१) आषाढ़ से आगे चार मासों तक बड़े फलों (यथा—कूष्माण्ड, पनस आदि) का त्याग, कार्तिक में उन्हीं फलों की स्वर्ण-प्रतिमाएँ दो गायों के साथ दान में दी जाती हैं; देवता, सूर्य; कर्ता का सूर्यलोक में सम्मान होता है; मत्स्यपुराण (१०१।६२, यह एक षष्टिव्रत है); कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४४८); हेमाद्रि (व्रत० २, ८१८, पद्म एवं मत्स्यपुराणों से उद्धरण); (२) कालनिर्णय (१४०, ब्रह्मपुराण का उद्धरण); भाद्र शुक्ल १ पर कर्ता मौन रखता है और तीन प्रकार (प्रत्येक दल में १६ फल) के फलों को पका कर देवता को अर्पित कर किसी ब्राह्मण को दे देता है।

फलषष्ठीव्रत : मार्गशीर्ष ५ से नियमों का पालन, षष्ठी को सोने का कमल एवं एक स्वर्ण-फल बनाया जाता है, षष्ठी को किसी मिट्टी या ताम्र के पात्र में गुड़ के साथ कमल एवं फल को रखा जाता है और पुष्प आदि से पूजा की जाती है, उपवास किया जाता है; सप्तमी को 'सूर्य मुझ पर प्रसन्न हों' के साथ उनका दान किया जाता है, आगे के पक्ष की पंचमी तक एक फल का त्याग; यह एक वर्ष तक किया जाता है; प्रत्येक मास में सप्तमी को सूर्य के १२ नाम दुहराये जाते हैं; कर्ता सभी पापों से मुक्त हो जाता है और सूर्यलोक में सम्मानित होता है; हेमाद्रि (व्रत० १, ६०२-६०४, भविष्योत्तरपुराण ३९।१-१२ से उद्धरण)।

फलसंक्रान्तिव्रत : संक्रान्ति दिन पर स्नान के उपरान्त पुष्पों आदि से सूर्य-पूजा और किसी ब्राह्मण को शक्कर से पूर्ण एक पात्र एवं ८ फलों का दान तथा इसके उपरान्त एक घट में सूर्य की स्वर्ण-प्रतिमा रख कर पुष्पों आदि से पूजा करना; हेमाद्रि (व्रत० २, ७३६, स्कन्दपुराण से उद्धरण)।

फलसप्तमी : (१) भाद्रपद शुक्ल ७ पर उपवास एवं सूर्य-पूजा; अष्टमी के प्रातः सूर्य-पूजा; ब्राह्मणों को खजूर, नारियल एवं मातुलुंग फलों का दान और 'सूर्य प्रसन्न हों' का उच्चारण; अष्टमी को कर्ता 'मेरी सभी कामनाएँ पूर्ण हों' के साथ एक छोटा फल खाये; भर पेट केवल फल खाया जा सकता है; एक वर्ष तक; व्रत से कर्ता को पुत्रों एवं पौत्रों की प्राप्ति होती है; कृत्यकल्पतरु (व्रत० २०४-२०५); हेमाद्रि (व्रत० १, ७०१-७०२); दोनों में भविष्यपुराण (१।२१५।२४-२७) के उद्धरण; (२) भाद्रपद शुक्ल ४, ५, ६ को कर्ता को क्रम से अयाचित (बिना माँगे या याचना किये जो प्राप्त हो जाय उसे खाना), एकभक्त (केवल एक बार मध्याह्न के उपरान्त खाना) एवं उपवास का पालन करना चाहिये और गन्ध आदि से सूर्य-पूजा करनी चाहिये तथा सूर्य-प्रतिमा की वेदी के पास रात्रि में शयन करना चाहिये; सप्तमी को सूर्य-पूजा के उपरान्त फलों का नैवेद्य देना चाहिये और ब्रह्म-भोज देने के उपरान्त स्वयं खाना चाहिये; यदि फल न मिले तो चावल या गेहूँ को घी एवं गुड़ में मिला कर पकाना चाहिये तथा नागकेसर एवं जातिफल का नैवेद्य बनाना चाहिये; यह एक वर्ष तक किया जाता है, अन्त में, यदि सामर्थ्य हो तो स्वर्णिम फल, बछड़े के साथ गाय, भूमि, एक घर, वस्त्र, ताम्र-पत्र एवं प्रवाल का दान करना चाहिये; यदि दरिद्र हो तो केवल फल, तिल-चूर्ण खिलाना चाहिये और चाँदी के फलों का दान देना चाहिये; कर्ता दारिद्र्य, और कठोरता से छुटकारा पा जाता है और सूर्य-लोक जाता है; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ११७-१२१); हेमाद्रि (व्रत० १, ७३१-७३४, भविष्यपुराण १।६४।३६-६१ से उद्धरण); (३) मार्गशीर्ष शुक्ल ५ से नियम-पालन, षष्ठी को उपवास, स्वर्ण कमल एवं शक्कर के साथ एक फल का 'सूर्य मुझसे प्रसन्न हों' मन्त्र के साथ दान; सप्तमी को दूध के साथ ब्राह्मण-भोजन; कर्ता को कृष्ण ५ तक के लिए एक फल का त्याग कर देना होता है; एक वर्ष तक, प्रत्येक मास में सूर्य के विभिन्न नाम का उपयोग; वर्ष के अन्त में ब्राह्मण एवं उसकी पत्नी को वस्त्र, घट, शक्कर, सोने का कमल एवं फल का दान; व्रत

पाप मुक्त होता है और सूर्य-लोक जाता है; मत्स्यपुराण (७६।१-१३); कृत्यकल्पतरु (२१३-२१४); हेमाद्रि (व्रत० १, ७४३-७४४, पद्मपुराण ५।२१।२४९-२६२ से उद्धरण)।

फलाहारहरिप्रियव्रत : विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।१४९।१-१०) में इसे चतुर्मूर्तिव्रत कहा गया है; वसन्त में विषुव दिन पर ३ दिनों के लिए उपवास आरम्भ; वासुदेव-पूजा; तीन मासों तक प्रतिदिन वासुदेव-पूजा; तीन मासों तक केवल फलों का सेवन; शरद् विषुव में तीन मासों तक उपवास, प्रद्युम्न-पूजा; केवल यावक पर रहना; वर्ष के अन्त में ब्राह्मणों को दान; विष्णुलोक की प्राप्ति।

फाल्गुन-कृत्य : हेमाद्रि (व्रत० २, ७९७-७९९); कृत्यरत्नाकर (५१५-५३१); वर्षक्रियाकौमुदी (५०६-५१७); निर्णय-सिन्धु (२२२-२२९); स्मृतिकौस्तुभ (५१३-५१९)। यह द्रष्टव्य है कि सामान्यतः सभी बृहत् वार्षिक उत्सव दक्षिण भारत में छोटे या बड़े मन्दिरों में फाल्गुन मास में मनाये जाते हैं। कुछ बातें यहाँ दी जा रही हैं। फाल्गुन शुक्ल ८, को लक्ष्मी एवं सीता की पूजा गन्ध आदि से की जाती है (कृत्यकल्पतरु, व्रत० ४४१-४४३; कृत्यरत्नाकर ५२७, ब्रह्मपुराण से उद्धरण)। फाल्गुन पूर्णिमा पर यदि फाल्गुनी-नक्षत्र हो तो एक पलंग, बिछावन के साथ दिया जाता है इससे सुन्दर स्त्री एवं सौभाग्य की प्राप्ति होती है (विष्णुधर्मसूत्र ९०); अर्यमा एवं अदिति से कश्यप, अत्रि एवं अनुसूया से चन्द्र फाल्गुन पूर्णिमा को उत्पन्न हुए थे अतः सूर्य एवं चन्द्र की पूजा चन्द्रोदय के समय होती है और गान, नृत्य एवं संगीत का दौर चलता है; कृत्यरत्नाकर (५३०); कृत्यकल्पतरु (नैयत्कालिक काण्ड, ४४३); इस पूर्णिमा पर उत्तिर नामक एक मन्दिर-उत्सव मनाया जाता है।

फाल्गुनश्रवणद्वादशी : जब द्वादशी श्रवण-नक्षत्र में हो तब उपवास एवं हरि-पूजा; निर्णयामृत, नीलमत-पुराण (पृ० ५२, श्लोक ६२६-६२७)।

बकपञ्चक : जब विष्णु शयन से उठते हैं तो कार्तिक शुक्ल ११ से पाँच दिन कार्तिक पूर्णिमा तक बकपञ्चक कहलाता है, और ऐसा कहा गया है कि इन दिनों में सारस (बक) भी मांस नहीं खाता; अतः मनुष्यों को इन दिनों मांस-परित्याग करना चाहिये; कालविवेक (३३८); कृत्यरत्नाकर (४२५); वर्षक्रियाकौमुदी (४७९); कृत्यतत्त्व (४५४)।

बकुलामावास्या : पौष अमावास्या पर; पितरों को बकुल पुष्पों, और खीर (चावल, दूध एवं शक्कर पका कर) से सन्तुष्ट करना चाहिये; गदाधरपद्धति (कालसार, ४४६)।

बलि-प्रतिपद् : देखिये गत अध्याय—१०। स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख से पता चलता है कि विष्णु ने इन्द्र के लिए बलि से लक्ष्मी छीन ली थी (गुप्त इंस्क्रिप्शंस, पृ० ५९, ६२)।

बलि-प्रतिपद्-रथयात्रा-व्रत : कार्तिक शुक्ल १ पर; पूर्व अमावास्या पर उपवास; देवता, ब्रह्मा एवं अग्नि; रथ पर अग्नि की पूजा; विद्वान् ब्राह्मण रथ खींचते हैं और उसे ब्राह्मण कर्ता के कहने पर नगर में घुमाते हैं; ब्रह्मा के दक्षिण पक्ष में सावित्री की प्रतिमा भी रहती है,; रथ को विभिन्न स्थानों पर रोका जाता है, आरती की जाती है; वे सभी लोग जो इस यात्रा में भाग लेते हैं, यथा—खींचने वाले, आरती करने वाले तथा भक्तिपूर्वक दर्शन करने वाले, सर्वोत्तम स्थान के भागी होते हैं; कार्तिक शुक्ल १ बलिप्रतिपद् है, अतएव यह रथयात्रा के नाम से विख्यात है; हेमाद्रि (व्रत० १, ३४५-३४७, भविष्यपुराण से उद्धरण)।

बस्तत्रिरात्रव्रत : चैत्र में तीन दिनों तक सूर्य को तीन श्वेत कमल अर्पित होते हैं, प्रतिदिन नक्त-विधि से भोजन; कुछ सोने के साथ किसी ब्राह्मण को पाँच बकरियाँ (दूध देने वाली) दी जाती हैं; इससे सभी रोग मिट जाते हैं और कर्ता मुक्त हो जाता है; हेमाद्रि (व्रत० २, ३२३, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण)।

बहुला : भाद्रपद कृष्ण ४ को मध्य भारत में इसी नाम से पुकारा जाता है; गायों को सम्मानित किया जाता है और उस दिन पकाया जौ खाया जाता है; निर्णयसिन्धु (१२३); वर्षकृत्यदीपक (६७)।

बालव्रत : बैल, कूष्माण्ड, सोना एवं वस्त्र का दान; पद्मपुराण (३।५।१४ एवं ३१-३२) जिसने (पुरुष या स्त्री) पूर्व जीवन में किसी शिशु को मार डाला हो या समर्थ होने पर भी किसी बच्चे को बचा न सका और संतान रहित हो गया हो, उसे यह व्रत करना चाहिये।

बालेन्दुव्रत या बालेन्दुद्वितीयाव्रत : चैत्र शुक्ल २ पर; सन्ध्या को नदी में स्नान, द्वितीया के चन्द्र का चित्र बना कर उसकी पुष्पों एवं सर्वोत्तम नैवेद्य से पूजा; पूजा के उपरान्त भोजन; एक वर्ष तक तेल से बना भोजन त्याज्य; इससे कल्याण एवं स्वर्ग की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० १, ३८०-३८२, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण); स्मृतिकौस्तुभ (९०)।

बिल्वत्रिरात्रव्रत : ज्येष्ठा नक्षत्र से युक्त ज्येष्ठ-पूर्णिमा पर सरसों से युक्त जल से स्नान, बिल्व वृक्ष पर जल छिड़कना और उसे गन्ध आदि से पूजना; एक वर्ष तक एक नक्त-विधि; वर्ष के अन्त में बिल्व वृक्ष के पास, बाँस के पात्र में बालू जौ, चावल, तिल आदि भर कर पहुँचना तथा पुष्पों आदि से उमा एवं महेश्वर की पूजा वैधव्याभाव, सम्पत्ति, स्वास्थ्य, पुत्रादि के लिए मन्त्र के साथ बिल्व को सम्बोधित करना; सहस्रों बिल्व-दल से होम, सोने के फलों के साथ चाँदी का एक बिल्व वृक्ष बनाना; उपवास के साथ १३ से पूर्णिमा तक तीन दिन तक जागर; दूसरे दिन प्रातः स्नान; वस्त्रों, आभूषणों आदि से आचार्य को सम्मान; १६, ८ या ४ सपत्नीक ब्राह्मणों को भोजन; इस व्रत से उमा, लक्ष्मी, शची, सावित्री एवं सीता को क्रम से शिव, कृष्ण, इन्द्र, ब्रह्मा एवं राम ऐसे पतियों की प्राप्ति हुई; हेमाद्रि (व्रत० २, ३०८-३१२, स्कन्दपुराण से उद्धरण); स्मृतिकौस्तुभ (१२३-१२४)।

बिल्वरोटक-व्रत : देखिये रोटकव्रत।

बिल्वलक्षव्रत : पुरुष या स्त्री द्वारा श्रावण, वैसाख, माघ या कार्तिक में प्रतिदिन तीस सहस्र बिल्व बत्तियाँ (बत्तियाँ रूई से स्त्री द्वारा बटी जाती हैं और घी या तिल के तेल में डुबोयी रहती हैं) जलायी जाती हैं, ये बत्तियाँ ताम्र पात्र में रख दी जाती हैं और शिव-मन्दिर में या गंगा-तट पर या गोशाला में या किसी ब्राह्मण के समक्ष यह कृत्य होता है; एक लाख या एक करोड़ बत्तियाँ बनायी जाती हैं; यदि सम्भव हो तो सभी बत्तियाँ एक ही दिन जलायी जा सकती हैं; पूर्णिमा पर उद्यापन; वर्षक्रियादीपक (३९८-४०३)।

बिल्वशाखापूजा : आश्विन शुक्ल ७ पर; समयमयूख (२३); व्रतराज (२४८); देखिये गत अध्याय—९ (दुर्गोत्सव)।

बुद्धजन्ममहोत्सव : वैसाख शुक्ल में जब कि चन्द्र पुष्य नक्षत्र में हो। शाक्य द्वारा कहे गए वचनों के साथ प्रतिमा-स्थापन और मन्दिर को स्वच्छ कर के श्वेत रंग पोत दिया जाता है; तीन दिनों तक नैवेद्य एवं दान दरिद्र लोगों को दिया जाता है; नीलमतपुराण (पृ० ६६-६७, श्लोक ८०९-८१६)। यह द्रष्टव्य है कि नीलमतपुराण में बुद्ध को भी कलियुग में विष्णु का अवतार माना गया है। सर्वास्तिवादियों के मत से बुद्ध का परिनिर्वाण कार्तिक में तथा सिंहली परम्परा के अनुसार वैसाख में हुआ था। देखिये मिलिन्दकाल का बजौर मंजूषा अभिलेख (एपि० इं०, जिल्द २४)।

बुद्ध द्वादशी : श्रावण शुक्ल १२; तिथि; गन्ध आदि से बुद्ध की स्वर्णिम प्रतिमा का पूजन; ब्राह्मण को दान; शुद्धोदन ने यह व्रत किया था, अतः स्वयं विष्णु उन्हें पुत्र रूप में प्राप्त हुए; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३३१-३३२); हेमाद्रि (व्रत० १, १०३७-१०३८, वराहपुराण से धरणी व्रत के रूप में उद्धृत); कृत्यरत्नाकर (२४७-२४८)।

देखिये बुद्ध-पूर्णिमा, वैसाख शुक्ल १५ एवं बृहत्संहिता (५७।४४), जहाँ बुद्ध-प्रतिमा के निर्माण के लिए विधि दी हुई है।

बुध-व्रत : जब बुध ग्रह विशाखा-नक्षत्र में आ जाता है जो सात दिनों तक नक्त-विधि से भोजन किया जाता है; पीतल के पात्र में बुध ग्रह की प्रतिमा रखी जानी चाहिये और यह श्वेत मालाओं एवं गन्ध आदि के साथ एक ब्राह्मण को दे दी जाती है; बुध बुद्धि को तीव्र करता है और वास्तविक ज्ञान देता है; हेमाद्रि (व्रत० २, ५७८, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण)।

बुधाष्टमी : जब शुक्ल अष्टमी को बुधवार पड़ता है तो व्रत का आरम्भ होता है; एकभक्त विधि; आठ अष्टमियों पर क्रम से आठ जलपूर्ण घट, जिनमें एक स्वर्ण-खण्ड रख दिया जाता है, विभिन्न प्रकार की खाद्य-सामग्रियों के साथ दान कर दिये जाते हैं; अन्त में बुध की एक स्वर्ण-प्रतिमा भी दान रूप में दी जाती है; हेमाद्रि (व्रत० १, ८६६-८७३, भविष्योत्तरपुराण ५४।१-५९ से उद्धरण)। प्रत्येकअष्टमी पर ऐल पुरूरवा तथा मिथि और उसकी कन्या उर्मिला की गाथाएँ सुनी जाती हैं। वर्षक्रियाकौमुदी (३९-४०) ने इस व्रत पर राजमार्तण्ड के तीन श्लोक उद्धृत किये हैं जो व्रततत्त्व (पृ० १५१) में रखे गये हैं। व्रतराज (२५६-२६५) ने इस व्रत का एवं इसके उद्यापन का उल्लेख किया है।

बुद्ध्यवाप्ति : चैत्र पूर्णिमा के उपरान्त आरम्भ होती है; एक मास; नृसिंह की पूजा; सरसों से प्रतिदिन होम; त्रिमधुर (तीन मधुर पदार्थ) से ब्रह्म-भोज तथा वैसाख पूर्णिमा पर सोने का दान; विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।२०६।१-५)।

बृहत्तपो-व्रत : मार्गशीर्ष शुक्ल १ पर आरम्भ; इसे बृहत्तपा कहा जाता है; देवता, शिव; एक या १६ वर्षों तक; इससे ब्रह्म-हत्या का पाप भी कट जाता है; हेमाद्रि (काल, १०५-१०६); पुरुषार्थचिन्तामणि (८०); देखिए विस्तार के लिए भविष्योत्तरपुराण (१२)।

बृहद्-गौरीव्रत : भाद्र कृष्ण ३ पर (अमान्त गणना से); चन्द्रोदय पर प्रारम्भ; केवल नारियों के लिए; दोर्ली नामक पौधा जड़-मूल के साथ लाया जाता है, उसे बालू की वेदी पर रख कर जल छिड़का जाता है; चन्द्रोदय को देख कर नारी को स्नान करना चाहिये; एक घट में वरुण की पूजा और तब विभिन्न उपचारों से गौरी की पूजा; गौरी के नाम पर गले में एक धागा पहन लेना चाहिये; पाँच वर्षों तक; व्रतराज (१११-११४, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण); व्रतार्क (भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण); दोनों के मत से यह कर्णाटक में विख्यात है।

ब्रह्मकूर्चव्रत : (१) कार्तिक कृष्ण १४ पर; उपवास एवं पञ्चगव्य (विभिन्न रंगों वाली गायों से मूत्र, गोबर, दूध, दही एवं घृत लिया जाता है); दूसरे दिन देवों एवं ब्राह्मणों की पूजा और तब भोजन-ग्रहण; सभी पाप कट जाते हैं; हेमाद्रि (व्रत० २ १४७, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण); (२) १४ को उपवास, पूर्णिमा को पंचगव्य-ग्रहण तथा हविष्य भोजन; एक वर्ष तक प्रत्येक मास में; हेमाद्रि (व्रत० २, २३८, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण); (३) वही जो (२) है किन्तु यहाँ अमावस्या एवं पूर्णिमा पर दो बार; हेमाद्रि (व्रत० २, ९३७, वराहपुराण से उद्धरण)।

ब्रह्मगायत्री : कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४१७); हेमाद्रि (व्रत० २, ६९४, पद्मपुराण से उद्धरण); कोई वर्णन नहीं।

ब्रह्मद्वादशी : पौष शुक्ल १२ से जब कि ज्येष्ठा-नक्षत्र होता है तिथि; देवता विष्णु; एक वर्ष तक प्रत्येक मास में विष्णु-पूजा और उस दिन उपवास; प्रत्येक मास में विभिन्न वस्तुओं का दान, यथा—घी, चावल एवं जौ; विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।२२०।१-६)।

ब्रह्मपुत्रस्नान : चैत्र शुक्ल ८ को ब्रह्मपुत्र (इसे लौहित्य भी कहा जाता है) नदी में स्नान; सभी पाप कट जाते हैं, क्योंकि उस दिन उस नदी में सभी पवित्र नदियाँ एवं समुद्र उपस्थित माने जाते हैं; वर्षक्रियाकौमुदी (५२२, कालिकापुराण एवं भविष्योत्तरपुराण ७७।५८-५९ से उद्धरण)।

ब्रह्मव्रत : (१) किसी भी शुभ दिन; यह प्रकीर्णक है; ब्रह्माण्ड की एक स्वर्ण-प्रतिमा; तीन दिनों तक तिल का दान; अग्नि की पूजा तथा किसी गृहस्थ एवं उसकी पत्नी को प्रतिमा एवं तिल का दान; कर्ता ब्रह्मलोक पहुँच जाता है और पुनः जन्म नहीं लेता; कृत्यकल्पतरु (व्रत०, ४४५-४४६, २७ वाँ षष्टिव्रत) हेमाद्रि (व्रत० २, ८८६, पद्मपुराण से उद्धरण)। मत्स्यपुराण (१०१-४६-४८); (२) द्वितीया को ब्रह्मचारी (वैदिक छात्र) का भोजन से सम्मान; ब्रह्मा-प्रतिमा का निर्माण, उसे कमल-दल पर रख कर गन्ध आदि से पूजा; घी एवं समिधा से होम; हेमाद्रि (व्रत० १, ३७७, भविष्यपुराण से उद्धरण)।

ब्रह्म-सावित्री-व्रत : भाद्र शुक्ल १३ को तीन दिनों का उपवास करने का संकल्प; यदि असमर्थ हो तो १३ को नक्त, १४ को याचित तथा पौर्णमासी को उपवास; ब्रह्मा एवं सावित्री की स्वर्ण, चाँदी या मिट्टी की प्रतिमाओं की पूजा; पूर्णिमा पर जागर एवं उत्सव; दूसरे दिन प्रातः सोने की दक्षिणा; हेमाद्रि (व्रत० २, २५८-२७२, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण); यह वटसावित्री व्रत के समान ही है, केवल यहाँ हेमाद्रि में तिथि दूसरी है और सावित्री की गाथा विस्तार से कही गयी है।

ब्रह्मावाप्ति : किसी भी मास में शुक्ल १० से प्रारम्भ; तिथिव्रत; उपवास और 'अंगिरसः' नामक दस देवों की पूजा; एक वर्ष के लिए; हेमाद्रि (व्रत० १, ९६६, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)।

ब्राह्मण्यप्राप्ति : चैत्र शुक्ल की प्रथमा से चौथ तक आरम्भ; तिथि-क्रम में वासुदेव के चार रूपों, यथा—इन्द्र, यम, वरुण एवं कुबेर की चार प्रतिमाओं की गन्ध आदि से पूजा; होम; चार दिनों में दिये जाने वाले वस्त्रों का रंग लाल, पीला, काला एवं श्वेत होता है; एक वर्ष तक; कर्ता प्रलय तक स्वर्ग की प्राप्ति करता है; हेमाद्रि (व्रत० २, ५००-५०१, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)। यह एक चतुर्मूर्ति व्रत है।

ब्राह्मण्यावाप्ति : ज्येष्ठ पौर्णमासी को; सपत्नीक ब्राह्मण का भोजन, वस्त्र दान तथा पुष्पों आदि से सम्मान; कर्ता सात जन्मों तक ब्राह्मण-वर्ण में जन्मता है; हेमाद्रि (व्रत० २, २४५, प्रभासखण्ड से उद्धरण); कृत्यरत्नाकर (२७८-२७९)।

ब्राह्मीप्रतिपद-लाभ-व्रत : चैत्र शुक्ल १ से आरम्भ; उपवास; रंगीन चूर्णों से अष्ट-दल कमल का निर्माण; बीज कोष पर ब्रह्मा-प्रतिमा का पूजन; चारों दिशाओं में पूर्व से आरम्भ कर क्रम से ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं अथर्ववेद की प्रतिमाएं; दक्षिण-पूर्व कोण से आरम्भ कर क्रम से अंगों, धर्मशास्त्रों, पुराणों एवं न्यायविस्तर को रखा जाता है; एक वर्ष तक प्रत्येक मास की प्रथम तिथि से पूजा का आरम्भ और अन्त में गोदान; इस व्रत से कर्ता वेदज्ञ हो जाता है और १२ वर्षों में ब्रह्मलोक पहुँच जाता है; विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।१२६।१-१२); हेमाद्रि (व्रत० १, ३४३)। ग्रन्थों की सज्जा से याज्ञ० (१।३) का स्मरण हो जाता है।

भद्रकाली नवमी : चैत्र शुक्ल ९ पर उपवास तथा पुष्पों आदि से भद्रकाली की पूजा, या सभी नवमियों पर भद्रकाली की पूजा; नीलमतिपुराण (श्लोक ७६२-६३)।

भद्रकाली-पूजा : राजनीतिप्रकाश (पृ० ४३८) में राजा के लिए व्यवस्थित; यह भद्रकालीव्रत ही है देखिये नीचे (२)।

भद्रकालीव्रत : (१) कार्तिक शुक्ल ९ पर प्रारम्भ; उस दिन उपवास; देवता, भद्रकाली (भवानी); एक वर्ष तक प्रति मास नवमी पर पूजा; अन्त में किसी ब्राह्मण को दो वस्त्रों का दान; रोग-मुक्ति,

पुत्रों एवं यश की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० १, ९६०, विष्णुधर्मोत्तरपुराण ३।१७५।१-५ से उद्धरण); (२) आश्विन शुक्ल ९ पर; दीवार या वस्त्र पर भद्रकाली का चित्र; उनके आयुधों एवं ढाल की पूजा; नवमी को उपवास एवं भद्रकाली की पूजा; समृद्धि एवं सफलता की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० १, ९६० ६२, विष्णुधर्मोत्तरपुराण, २। १५८।१ ८ से उद्धरण, कृत्यरत्नाकर (३५०); व्रतराज (३३७-३३८)। देखिये ब्रह्मपुराण (१८१।४६-५३) जहाँ भद्रकाली को मदिरा एवं मांस दिये जाने का उल्लेख है।

भद्रचतुष्टयव्रत : चार भद्र हैं, यथा—फाल्गुन शुक्ल २ से तीन मास (त्रिपुष्कर या त्रिपुष्प) ज्यष्ठ शुक्ल २ से तीन मास (त्रिपुष्पक), भाद्रपद शुक्ल २ से तीन मास (त्रिरामा) एवं मार्गशीर्ष शुक्ल १ से (विष्णुपद); प्रथम तिथि पर नक्त-विधि, दूसरी तिथि पर स्नानोपरान्त देवों, पितरों एवं मानवों को तर्पण, चन्द्रोदय के पूर्व हँसना एवं बोलना वर्जित तथा कृष्ण, अच्युत, अनन्त, हृषीकेश का नाम २ से ५ तक की तिथियों में लेना, सायं चन्द्र को अर्घ्य, पृथिवी पर या पत्थर पर रखा भोजन करना; एक वर्ष तक सभी वर्णों एवं स्त्रियों के लिए; कर्ता को यश एवं सफलता की प्राप्ति और वह अपने पूर्व जन्मों का स्मरण कर लेता है (जातिस्मर); हेमाद्रि (व्रत० २, ३८३-३९२, भविष्योत्तरपुराण १३।१-१००)।

भद्र-विधि : भाद्र शुक्ल ६ को जब रविवार पड़ता है तो भद्र कहलाता है; उस दिन उपवास या नक्त; मध्याह्न में सूर्य की मालती पुष्पों, चन्दन, विजय धूप एवं पायस नैवेद्य से पूजा; वारव्रत है; ब्राह्मण दक्षिणा; कर्ता भानु-लोक जाता है; कृत्यकल्पतरु (व्रत० १२-१३); हेमाद्रि (व्रत० २, ५२३-५२४, भविष्यपुराण से उद्धरण, इसे भद्राविधि कहा गया है); कृत्यरत्नाकर (२७८)।

भद्राव्रत : कार्तिक शुक्ल तृतीया पर; गोमूत्र एवं यावक लेने के उपरान्त नक्त-विधि; प्रति मास एक वर्ष तक; अन्त में गो दान; एक कल्प तक गौरी-लोक में वास; हेमाद्रि (व्रत० १, ४८३, पद्मपुराण से उद्धरण); कालनिर्णय (३३०)।

भद्राष्टमी : गदाधरपद्धति (कालसार अंश, ११६)।

भद्रासप्तमी : जब शुक्ल ७ को हस्त-नक्षत्र हो तो वह तिथि भद्रा कहलाती है; तिथिव्रत; देवता सूर्य; कर्ता को ४ से ७ की तिथियों तक क्रम से एकभक्त, नक्त, अयाचित एवं उपवास की विधि करनी पड़ती है; प्रतिमा को घी, दूध, ईख के रस से स्नान कराया जाता है, उपचार किये जाते हैं, विभिन्न दिशाओं में विभिन्न प्रकार के बहुमूल्य प्रस्तर प्रतिमा के पास सजाये जाते हैं; कर्ता सूर्यलोक जाकर ब्रह्मलोक चला जाता है; कृत्यकल्पतरु (व्रत० १३८-१४१); हेमाद्रि (व्रत० १, ६७१-६७३, भविष्यपुराण से उद्धरण); हेमाद्रि (काल, ६२५); पुरुषार्थचिन्तामणि (१०५)।

भद्रोपवासव्रत : यह भद्र-चतुष्टयव्रत ही है।

भर्तृद्वादशीव्रत : चैत्र शुक्ल १२ को, एकादशी को उपवास एवं द्वादशी को विष्णु-पूजा; केशव से दामोदर तक के बारह नाम; प्रति मास; एक वर्ष; कृत्यरत्नाकर (१३१-१३४, वराहपुराण से उद्धरण); कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३३९-३४०)।

भर्तृप्राप्ति-व्रत : नारद ने यह उन अप्सराओं के गण को सुनाया था जो नारायण को पति बनाना चाहती थीं; वसन्त शुक्ल १२ को; उपवास; हरि एवं लक्ष्मी की पूजा; दोनों की प्रतिमाएँ तथा उनके विभिन्न अंगों पर विभिन्न नामों से कामदेव का न्यास; दूसरे दिन ब्राह्मण को प्रतिमाओं का दान; हेमाद्रि (व्रत० १, ११९८-१२००, भविष्यपुराण से उद्धरण)।

भवानीयात्रा : चैत्र शुक्ल ३ पर; १०८ प्रदक्षिणाएँ; जागर (जागरण); दूसरे दिन भवानी-पूजा; स्मृतिकौस्तुभ (९४); पुरुषार्थचिन्तामणि (१०९); वर्षकृत्यदीपक (४३)।

भवानीव्रत : (१) तृतीया को पार्वती-मन्दिर में पार्वती-प्रतिमा को अंजन लगाना; एक वर्ष तक; अन्त में गोदान; हेमाद्रि (व्रत० १, ४८३, पद्मपुराण से उद्धरण); (२) जो व्यक्ति (स्त्री या पुरुष) एक वर्ष तक प्रत्येक पौर्णमासी एवं अमावास्या को उपवास करके एक पार्वती-प्रतिमा का सुगन्धित वस्तुओं के साथ दान करता है वह भवानी-लोक को जाता है; हेमाद्रि (व्रत० २, ३९७, लिंगपुराण से उद्धरण); (३) तृतीया को पार्वती-मन्दिर में नक्त; एक वर्ष के लिये; अन्त में गो-दान; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४५० मत्स्य० १०१।७७ से उद्धरण)।

भाग्यऋक्षद्वादशी : पूर्वाफाल्गुनी-नक्षत्र के साथ द्वादशी पर हरिहर-प्रतिमा की पूजा; प्रतिमा का एक आधा हर (शिव) एवं दूसरा आधा हरि का सूचक होता है; तिथि द्वादशी हो या सप्तमी हो और नक्षत्र पूर्वा-फाल्गुनी, रेवती या धनिष्ठा हो, फल एक ही होता है; कर्ता को पुत्र, राज्य आदि प्राप्त होते हैं; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३५३-३५४); हेमाद्रि (व्रत० १, ११७५-७६, देवीपुराण से उद्धरण); पूर्वा-फाल्गुनी को 'भाग्य' कहा जाता जाता है, क्योंकि 'भग' अधिष्ठाता देवता है; 'ऋक्ष' का अर्थ है 'नक्षत्र'।

भाद्रपदकृत्य : नीलमतपुराण (७१, श्लोक ८६८-८७४, केवल शुक्ल के विषय में); कृत्यरत्नाकर (२५४-३०१); वर्षक्रियाकौमुदी (२९८-३४३); निर्णयसिन्धु (१२३-१४४); कृत्यतत्त्व (४३८-४४४); स्मृति-कौस्तुभ (२०१-२८७); गदाधरपद्धति (कालसार अंश २४)।

भानुव्रत : सप्तमी को आरम्भ; उस दिन नक्त-विधि; देवता, सूर्य; एक वर्ष तक; अन्त में गो एवं सोने का दान; सूर्यलोक की प्राप्ति; कृत्यकल्पतरु (४४८, मत्स्य० १०१६० से उद्धरण); हेमाद्रि (१, ७८६, पद्मपुराण से उद्धरण)।

भानुसप्तमी : जब सप्तमी रविवार को पड़ती है तो इसे इस नाम से पुकारा जाता है; गदाधरपद्धति (कालसार अंश ६१०)।

भारभूतेश्वरयात्रा : आषाढ़ पूर्णिमा पर; काशी में भारभूतेश्वर की पूजा; पुरुषार्थचिन्तामणि (२८४)।

भास्करपूजा : ऐसा कहा गया है कि सूर्य को विष्णु के रूप में पूजना चाहिये, सूर्य विष्णु की दाहिनी आँख हैं, सूर्य की पूजा रथ चक्र के समान मण्डल में होनी चाहिये तथा सूर्य पर चढ़ाये गये पुष्पों को उतार लिये जाने पर पूजक द्वारा अपनी देह पर नहीं धारण करना चाहिये; तिथितत्त्व (३६); पुरुषार्थचिन्तामणि (१०४); बृहत्संहिता (५७।३१-५७) में देवों की प्रतिमा बनाने की विधि दी हुई है; इसके श्लोक ४६-४८ में वर्णन है कि सूर्य का पाँव से वक्ष तक का शरीर एक अंग रक्षा से ढँका रहना चाहिये।

भास्कर-प्रिया-सप्तमी : जब शुक्ल सप्तमी पर सूर्य एक राशि से दूसरी राशि में जाता है तो उसे महाजया कहा जाता है, और वह सूर्य को अति प्रिय है तथा उस तिथि पर स्नान, दान, तप, होम, देवों एवं पितरों की पूजा से करोड़ गुना फल-प्राप्ति होती है; कालविवेक (४१६), वर्षक्रियाकौमुदी (३५, भविष्यपुराण से उद्धरण); तिथितत्त्व (१४५, ब्रह्मपुराण से उद्धरण)।

भास्करव्रत : षष्ठी (कृष्ण १) पर उपवास, सप्तमी पर 'सूर्य प्रसन्न हों' शब्दों के साथ श्राद्ध; तिथिव्रत; देवता, सूर्य; कर्ता रोग मुक्त हो जाता है और स्वर्ग जाता है; हेमाद्रि (व्रत० १, ७८८, भविष्यपुराण से उद्धरण)।

भीमद्वादशी : (१) यह सर्वप्रथम वासुदेव द्वारा पाण्डव भीम को बतायी गयी थी, अतः यह नाम पड़ा; यह पहले कल्याणिनी के नाम से विख्यात थी; मत्स्यपुराण (६९।१९-६५) में विस्तृत विवेचन है; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३५४-३५९), हेमाद्रि (व्रत० १, १०४४-१०४९, पद्मपुराण से उद्धरण); माघ शुक्ल १० पर शरीर में घी

लगाना, विष्णु-पूजा (नमो नारायण); विभिन्न नामों (कृष्ण, दामोदर आदि) से विष्णु के विभिन्न अंगों की पूजा; गरुड़-पूजा; शिव, गणेश की पूजा; एकादशी को पूर्ण उपवास; १२ को नदी में स्नान; घर के समक्ष मण्डप निर्माण; तोरण से एक जलपूर्ण घट लटकाना तथा उसकी पेंदी में एक छेद करके रात्रि-भर अपने हाथ पर उसे टपकाना; ऋग्वेद में पारंगत चार पुरोहितों द्वारा होम; चार यजुर्वेदज्ञों द्वारा रुद्र-जप, ४ सामवेदियों द्वारा साम-गान; इन १२ पुरोहितों को अंगूठियों, वस्त्रों आदि से सम्मान देना,; आगे की तिथि (त्रयोदशी) पर १३ गायों का दान; पुरोहितों के प्रस्थान के उपरान्त 'केशव प्रसन्न हों, विष्णु शिव के तथा शिव विष्णु के हृदय हैं' का कथन; इतिहास एवं पुराण सुनना; देखिये गरुड़पुराण (१।१२७); (२) माघ शुक्ल १२ पर; यह विदर्भ के राजा एवं दमयन्ती के पिता भीम द्वारा पुलस्त्य को बताया गया था; (१) के समान ही व्यवस्थाएँ; कर्ता सभी पापों से मुक्त हो जाता है; यह व्रत वाजपेय, अतिरात्र आदि से श्रेष्ठ है; हेमाद्रि (व्रत० १, १०४९-१०५६, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण)।

भीमव्रत : कार्तिक शुक्ल ११ से पाँच दिन; कर्ता पञ्चामृत, पञ्चगव्य एवं चन्दन-लेप से युक्त जल से तीन बार स्नान करता है; जौ, चावल एवं तिल से पितरों का तर्पण; 'ओं नमो वासुदेवाय' को १०८ बार कह कर पूजा तथा 'ओं नमो विष्णवे' मन्त्र के साथ तिल, जौ एवं चावल में घी लगा कर होम; यह विधि पाँच दिनों तक; पाँच दिनों तक क्रम से पाँवों, घुटनों, नाभि, कन्धों एवं शिर की कमलों, बिल्व-दलों, भृंगारक (चौथे दिन), बाण, बिल्व एवं जया, मालती से पूजा; ११ से १४ तक क्रम से गोबर, गोमूत्र, दूध एवं दही को (देह को पवित्र करने के लिए) खाना; पाँचवें दिन ब्रह्म-भोज एवं दान; कर्ता के सभी पाप कट जाते हैं; हेमाद्रि (व्रत० २, ३३६-३४१, नरसिंह एवं भविष्यपुराणों से उद्धरण) में आया है कि इसे भीष्म ने कृष्ण से सीखा, जब कि कृष्ण घोषित करते हैं कि उन्होंने इसे भीष्म से बाण-शय्या पर सुना; भविष्योत्तरपुराण ने कर्ता को शाक एवं यति-भोज्यपदार्थ खाने की अनुमति दे दी है; कालविवेक (३२४, यहाँ ऐसा कहा गया है कि हेमाद्रि (व्रत० २, ३४ का अन्तिम श्लोक भविष्योत्तरपुराण का है)। पश्चात्कालीन मध्यकाल के ग्रन्थ, यथा—निर्णयसिन्धु (२०४), समयमयूख (१५८-१५९), स्मृतिकौस्तुभ (३८६) ऐसा कहते हैं कि सभी वर्णों के लोगों द्वारा भीष्म को अर्घ्य देना चाहिये, तर्पण मन्त्र द्रष्टव्य है, यथा—'वैयाघ्र पद्यगोत्राय सांकृत्यप्रवराय च। गंगापुत्राय भीष्माय प्रदास्येहं तिलोदकम्॥ अपुत्राय ददाम्येतत् सलिलं भीष्मवर्मणे।' ये भोजकृत भुजबल निबन्ध (पृ० ३६४, श्लोक १७१४-१५) में उद्धृत हैं; राजमार्तण्ड (खण्ड ३६, पृ० ३३२); हेमाद्रि (काल० ६२८)। इसे करने से व्यक्ति सभी पापों से मुक्त हो जाता है। अग्निपुराण (२०५।१-९); गरुड़पुराण (१।१२३।३-११); पद्मपुराण (६।१२५।२९-८२) में इस व्रत का बृहद् उल्लेख है।

भीष्माष्टमी : माघ शुक्ल ८ पर; भीष्म को, जो कुँवारे मृत हुए थे, प्रतिवर्ष जल एवं श्राद्ध; जो ऐसा करे, एक वर्ष में किये गये पाप से मुक्त हो जाता है और सन्तति प्राप्त करता है; हेमाद्रि (काल, ६२८-६२९); वर्षक्रिया-कौमुदी (५०३), तिथितत्त्व (५८); निर्णयसिन्धु (२२१), समयमयूख (६१)। जिसका पिता जीवित हो वह भी भीष्म को जल दे सकता है (समयमयूख ६१)। यह तिथि सम्भवतः अनुशासनपर्व (१६७।२८) पर आधारित है (माघोयं समनुप्राप्तो...त्रिभागशेषः पक्षोयं शुक्लो भवितुमर्हति)। प्रो० पी० सी० सेनगुप्त की व्याख्या का मैं आदरपूर्वक खण्डन करता हूँ। उन्होंने 'समनुप्राप्त' को 'समनुप्राविष्ट' माना है, जो त्रुटिपूर्ण एवं तर्कहीन है, यह मानना कि भीष्म की मृत्यु माघ कृष्ण ८ को हुई न कि माघ शुक्ल ८ को सम्भव नहीं है। देखिये जे० ए० एस्० बी० (जिल्द २०, संख्या १, पत्र, पृ० ३९-४१, १९५४ ई०)। भुजबलनिबन्ध (पृ० ३६४) में दो श्लोक हैं, जो तिथितत्त्व, निर्णयसिन्धु एवं अन्य ग्रन्थों में उद्धृत है : 'शुक्लाष्टम्यां तु माघस्य दद्याद् भीष्माय यो जलम्। संवत्सरकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति॥ वैयाघ्रपद्यगोत्राय सांकृतिप्रवराय च। अपुत्राय ददात्यम्येतत्सलिलं भीष्मवर्मणे॥' ब्राह्मणों को भी उस उच्च व्यक्तित्व वाले योद्धा को तर्पण देने की अनुमति दी गयी है।

भुवनेश्वरयात्रा : भुवनेश्वर की १४ यात्राओं का वर्णन किया गया है (यथा—प्रथमाष्टमी, प्रावारषष्ठी, पुष्यस्नान, आज्यकम्बल), गदाधरपद्धति (कालसार, १९०-१९४)।

भूतचतुर्दशी : यह प्रेतचतुर्दशी ही है; देखिये ऊपर; कृत्यतत्त्व (४५०-४५१)।

भूतमहोत्सव : यह उदसेविका ही है, देखिये ऊपर; हेमाद्रि (व्रत० २, ३५९-३६५, स्कन्दपुराण से उद्धरण)।

भूतमात्रुत्सव : ज्येष्ठ की प्रथमा से पूर्णिमा तक; हेमाद्रि (व्रत० २, ३६५-३७०)। यह उदसेविका ही है। भोजकृत सरस्वतीकण्ठाभरण (एक काव्य-शास्त्र) ने इसे क्रीडाओं के अन्तर्गत परिगणित किया है। भातृभाण्डा, भूतमाता एवं उदसेविका एक ही उत्सव के तीन नाम हैं; हेमाद्रि (व्रत० २, ३६७)।

भूभाजनव्रत : यह संवत्सरव्रत है; जो व्यक्ति एक वर्ष तक खाली भूमि पर (थाली या केले के पात पर नहीं) भोज्यपदार्थ रख कर पितरों को अर्पित कर खाता है वह पृथिवी का स्वामी हो जाता है; हेमाद्रि (व्रत० २, ६८७, पद्मपुराण से उद्धरण)।

भूमिव्रत : शुक्ल १४ पर लिंगव्रत विधि के अनुसार सूर्य-पूजा; शिव के सम्मान में उपवास; कुंकुम पुष्प धृत के साथ पायस का अर्पण एवं किसी भक्त को भूमि-दान; कर्ता राजा की स्थिति पाता है; यह व्रत राजा द्वारा किया जाना चाहिये; हेमाद्रि (व्रत २, ६३-६४, कालोत्तरपुराण से उद्धरण)।

भृगुव्रत : मार्गशीर्ष कृष्ण १२ पर आरम्भ; तिथि; भृगु नामक बारह देवों की पूजा (इन देवों के नाम असाधारण एवं विलक्षण प्रतीत होते हैं); एक वर्ष तक (प्रत्येक कृष्ण १२ पर); अन्त में गोदान; हेमाद्रि (व्रत १, ११७२, विष्णुधर्मोत्तरपुराण ३।१८०।१-५ से उद्धरण)।

भैमी एकादशी : जब माघ शुक्ल ११ को चन्द्र मृगशिरा नक्षत्र में हो तो उपवास करना चाहिये और द्वादशी को षप्तिली होना चाहिये, अर्थात् कर्ता को तिलयुक्त जल से स्नान करना चाहिये, शरीर पर तिल-लेप (उबटन) लगाना चाहिये, अग्नि में तिल डालना चाहिये, तिलयुक्त जल पीना चाहिये, तिल का दान करना चाहिये तथा खाना चाहिये; जो इस एकादशी पर उपवास करता है, वह विष्णुलोक जाता है; एकादशीतत्त्व (पृ० १०१); तिथितत्त्व (११३-११४), वर्षक्रियाकौमुदी (५०४)।

भैरव जयन्ती : कार्तिक कृष्ण ८ को कालाष्टमी कहा जाता है; उपवास; जागर; रात्रि के ४ प्रहरों तक भैरव-पूजा तथा शिव के विषय की गाथाओं को सुनता हुआ जागर (जागरण); पापों से मुक्ति एवं उत्तम शिव-भक्ति की प्राप्ति; काशी में रहने वालों के लिए यह अपरिहार्य है; समयमयूख (६०-६१); स्मृतिकौस्तुभ (४२७-४२९); पुरुषार्थ-चिन्तामणि (१३८)।

भोगसंक्रान्तिव्रत : संक्रान्ति दिन पर नारियों को बुला कर उन्हें कुंकुम, अंजन, सिंदूर, पुष्प, इत्र, ताम्बूल, कर्पूर एवं फल देना चाहिये; उनके पतियों को भी; भोजन देना तथा वस्त्रों का जोड़ा देना; एक वर्ष तक प्रत्येक संक्रान्ति पर; अन्त में सूर्य-पूजा, पत्नी वाले ब्राह्मण को गोदान; कर्ता को सुख प्राप्त होता है; हेमाद्रि (व्रत० २, ७२३, स्कन्दपुराण से उद्धरण)।

भोगावाप्तिव्रत : ज्येष्ठ पूर्णिमा के उपरान्त प्रथम तिथि से तीन दिनों तक हरि-पूजा; पलंग-दान; आनन्दोपलब्धि स्वर्ग की प्राप्ति; विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।२१२।१-३); हेमाद्रि (व्रत० २, ७५२)।

भौमवारव्रत : मंगल पृथिवी का पुत्र एवं देखने में सुन्दर होता है; एक वर्ष तक प्रति मंगलवार को गुड़ से पूर्ण ताम्र-पत्र देने से तथा अन्त में गोदान करने से सौन्दर्य एवं धन की प्राप्ति होती है; हेमाद्रि (व्रत० २, ५६७)।

भौमव्रत : (१) स्वाती-नक्षत्र वाले मंगलवार को नक्त-विधि से भोजन; सात बार ऐसा किया जाता है; एक ताम्र-पत्र में लाल वस्त्र से आवृत कर के मंगल की स्वर्ण-प्रतिमा रखी जाती है; पुष्पों एवं नैवेद्य का अर्पण तथा

'यद्यपि तुम कुजन्मा हो तथापि विज्ञ लोग तुम्हें मंगल कहते हैं' नामक मन्त्र के साथ किसी ब्राह्मण गृहस्थ को दान। 'कुजन्मा' में श्लेष है : एक अर्थ है (१) किसी अशुभ दिन में उत्पन्न तथा दूसरा है (२) पृथिवी से उत्पन्न। मंगल का रंग लाल है, अतः ताम्र, लाल एवं कुंकुम का प्रयोग होता है; हेमाद्रि (व्रत० २, ५६७, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण); (२) मंगलवार को मंगल-पूजा; प्रातःकाल मंगल के नामों का जप (कुल २१ नाम हैं, यथा—मंगल, कुज, लोहित, यम, सामवेदियों के प्रेमी); एक त्रिभुजाकार चित्र, बीच में एक छेद; कुंकुम एवं लाल चन्दन से प्रत्येक कोण पर तीन नाम (आर, वक्र एवं कुज) लिखे जाते हैं; मंगल का जन्म उज्जयिनी में भारद्वाज कुल में हुआ था और वह भेड़ा (मेष) की सवारी करता है; यदि कोई जीवन भर इस व्रत को करे तो वह समृद्धिशाली, पुत्रपौत्रवान् हो जाता है और ग्रहों के लोक में पहुँच जाता है; हेमाद्रि (व्रत० २, ५६८-५७४, पद्मपुराण से उद्धरण), वर्षकृत्यदीपक (४४३-४५१) में भौमव्रत तथा व्रतपूजा का विस्तृत उल्लेख है।

भ्रातृद्वितीया : कार्तिक शुक्ल २, पर; इसे यमद्वितीया भी कहते हैं क्योंकि प्राचीन काल में यमुना ने अपने भाई यम को इस दिन भोजन दिया था; कुछ ग्रन्थ, यथा—कृत्यतत्त्व (४५३), व्रतार्क, व्रतराज (९८-१०१) दोनों को अर्थात्, यम पूजा एवं बहिन के घर में भोजन करना, एक में मिला देते हैं।

मंगल : आथर्वणपरिशिष्ट (हेमाद्रि, व्रत० २, ६२६ में उद्धृत) के अनुसार ब्राह्मण, गाय अग्नि, भूमि, सरसों, घी, शमी, चावल एवं जौ आठ शुभ वस्तुएँ हैं। द्रोणपर्व (१२७।१४) ने आठ मंगलों का उल्लेख किया है; द्रोणपर्व (८२।२०-२२) में लम्बी सूची है। वामनपुराण (१४।३६-३७) ने शुभ वस्तुओं के रूप में कतिपय वस्तुओं का उल्लेख किया है जिन्हें घर से बाहर जाते समय छूना चाहिये, यथा—दूर्वा, घृत, दही, जलपूर्ण घट, बछड़े सहित गाय बैल, सोना, मिट्टी, गोबर, स्वस्तिक, अक्षत अन्न; तेल, मधु, ब्राह्मण कुमारियाँ, श्वेत पुष्प, शमी, अग्नि, सूर्य-चक्र, चन्दन, एवं अश्वत्थ वृक्ष (स्मृतिचन्द्रिका १, पृ० १६८ द्वारा उद्धृत)। देखिये अन्य मंगलमय वस्तुओं के लिये पराशर (१२। ४७), विष्णुधर्मोत्तरपुराण (२।१६३।१८)।

मंगल-चण्डिकापूजा : वर्षक्रियाकौमुदी (५५२-५५८) में विस्तृत विधि दी हुई है; इसे ललितकान्ता भी कहा गया है; उसकी पूजा के लिये मन्त्र (ललित-गायत्री) यह है : 'नारायण्यै विद्महे त्वां चण्डिकायै तु धीमहि। तन्नो ललितकान्तेति ततः पश्चात्प्रचोदयात्॥'; अष्टमी एवं नवमी पर पूजा; उसकी पूजा किसी वस्त्र-खण्ड पर या प्रतिमा के रूप में या घट पर की जा सकती है; मंगल को पूजा करने पर कामनाओं की पूर्ति होती है; तिथितत्त्व (४१) भी देखिये।

मंगलचण्डी : मंगलवार को; चण्डी की पूजा, जो सर्वप्रथम शिव द्वारा सम्पादित हुई थी, तब मंगल द्वारा, मंगल राजा द्वारा, मंगल को नारियों द्वारा तथा अच्छे भाग्य के इच्छुक सभी मनुष्यों द्वारा; ब्रह्मवैवर्त (प्रकृति खण्ड, ४४।१-४१)।

मंगलव्रत : आश्विन की कृष्ण अष्टमी पर; माघ, चैत्र या श्रावण में भी; यह आगे की शुक्लाष्टमी तक की जाती है; अष्टमी को एकभक्त; कुमारियों तथा देवी-भक्तों को भोजन; नवमी को नक्त, दशमी को अयाचित तथा एकादशी को उपवास; बार-बार करना; प्रतिदिन दान, होम, जप, पूजा एवं कुमारियों को भोजन; पशु-बलि; नृत्य, नाटक एवं संगीत से जागरण; देवी के १८ नामों का जप; हेमाद्रि (व्रत० २, ३३२-३३५, देवीपुराण से उद्धरण)।

मंगलागौरीव्रत : श्रावण के सभी मंगलवारों पर; विवाहित नारियों द्वारा विवाह के उपरान्त पाँच वर्षों तक; महाराष्ट्र में प्रचलित; पूजा करने वाली नारियाँ मध्याह्न में मूक होकर भोजन करती हैं। १६ प्रकार के पुष्प १६ सुवासिनियों की आवश्यकता; १६ दीपों के साथ देवी का नीराजन; देवता, गौरी; विधवात्व से छुटकारा पाने के

लिए, पुत्र प्राप्ति एवं सभी कामनाओं की पूर्ति के लिए मंगला से प्रार्थना; दूसरे दिन प्रातः गौरी विसर्जन; व्रतराज (७८७-७९५ भविष्यपुराण से उद्धरण)।

मंगलाष्टक : सौभाग्यसुन्दरी ऐसे व्रतों में आमन्त्रित नारियों में वितरित किये जाने वाले आठ द्रव्य ये हैं :—कुंकुम, नमक, गुड़, नारियल, ताम्बूल (पान का पत्ता), दूर्वा, सिन्दूर एवं अंजन; व्रतराज (पृ० ११९)।

मांगल्यसप्तमी या मांगल्यव्रत : सप्तमी पर; एक वर्गाकार मण्डप पर हरि एवं लक्ष्मी का आवाहन तथा पुष्पों आदि से पूजा; मिट्टी, ताम्र, चाँदी एवं सोने के चार पात्र; मिट्टी के चार घटों को वस्त्र से ढँक कर उनमें नमक, तिल, एवं हल्दी का चूर्ण रखना चाहिये; आठ सधवा, चरित्रवती तथा पुत्रवती नारियों को सम्मानित कर उन्हें दक्षिणा देना और उनकी उपस्थिति में मांगल्य (शुभ जीवन) के लिये हरि से प्रार्थना तथा उन्हें विदा करना; अष्टमी पर पुनः हरि-पूजा तथा आठ युवतियों एवं ब्राह्मणों को भोजन देना तथा पारण; सभी की, पुरुष या नारी, राजकुमार हो या कृषक, कामनाएँ पूर्ण होती हैं; हेमाद्रि (व्रत० १, ७६८-७७०)।

मत्स्यजयन्ती : चैत्र शुक्ल ५ पर; मत्स्य अवतार में विष्णु-पूजा; अहल्याकामधेनु (३६० बी)। इसे हयपंचमी भी कहा जाता है।

मत्स्य-मांस-भक्षण-निषेध : देखिये कार्तिक एवं बकपंचक के अन्तर्गत; तिथितत्त्व (१४६); गदाधरपद्धति (कालसार ३२)।

मत्स्यद्वादशी : मार्गशीर्ष शुक्ल १० पर नियमों का पालन; एकादशी पर उपवास; द्वादशी को मन्त्र के साथ मिट्टी लाना और उसे आदित्य को अर्पित करना, शरीर में लगाना एवं स्नान करना; तिथिव्रत; नारायण-पूजा; चार घटों को पुष्पों के साथ जल से भरना, उन्हें तिल की खली से ढँकना तथा उन्हें चार समुद्र के रूप में जानना; विष्णु की मछली के रूप में स्वर्ण-प्रतिमा का निर्माण तथा पूजा; जागर; चारों घटों का दान; महापातक भी नष्ट हो जाते हैं; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३११-३१७); हेमाद्रि (व्रत० १, १०२२-२६, वराहपुराण ३९।२६-७७); कृत्यरत्नाकर (४६२-४६६, ब्रह्मपुराण से वे ही श्लोक उद्धृत हैं)।

मथुरा-प्रदक्षिणा : भारत के सात पवित्र तीर्थों में से एक तीर्थ मथुरा की प्रदक्षिणा; कार्तिक शुक्ल ९ पर; स्मृतिकौस्तुभ (३७८, वराहपुराण से उद्धरण)।

मदनचतुर्दशी : इसे मदनमंजरी भी कहा जाता है; चैत्र शुक्ल १४ पर; तिथि; गानों एवं ललित शब्दों से मदन (कामदेव) की पूजा; कृत्यतत्त्व (४६६); तिथितत्त्व (१३३)।

मदनत्रयोदशी : देखिये ऊपर अनंगत्रयोदशी एवं कामदेवत्रयोदशी। कृत्यरत्नाकर (१३७) ने ब्रह्मपुराण को उद्धृत करते हुए कहा है कि सभी त्रयोदशियों पर लोगों को काम पूजा करनी चाहिये।

मदनद्वादशी : चैत्र शुक्ल १२ पर; तिथिव्रत; ताम्र पात्र में काम एवं रति का चित्र खींचना; पात्र में गुड़ एवं अन्य खाद्यपदार्थ तथा एक घट पर सोना; घट में चावल एवं फलों के साथ जल; चित्र के समक्ष भोजन; गीत एवं प्रेम संगीत; हरि की प्रतिमा को काम मान कर उसकी पूजा; दूसरे दिन घट का दान एवं ब्रह्म-भोज; कर्ता 'काम के रूप में भगवान् जनार्दन, जो सब के हृदय के आनन्द हैं, प्रसन्न होवें' नामक मन्त्र के साथ दक्षिणा दे कर स्वयं लवणहीन भोजन करता है; त्रयोदशी को उपवास; विष्णु-पूजा; द्वादशी को केवल एक फल खाकर भूमि पर शयन; एक वर्ष तक; अन्त में गोदान एवं वस्त्र-दान; तिल-होम; कर्ता सभी पापों से मुक्त हो जाता है, पुत्र एवं धन पाता है और हरि से तादात्म्य स्थापित कर लेता है; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३६७-३६८); हेमाद्रि (व्रत० १, ११९४-११९८ मत्स्यपुराण से उद्धरण); कृत्यरत्नाकर (१३५-१३६)।

मदन-पूजा : देखिये अनंगत्रयोदशी।

मदनभञ्जी : यह दमनभञ्जी ही है। देखिये यथास्थान।

मदनमहोत्सव : चैत्र शुक्ल १३ पर; तिथिव्रत; 'नमः कामाय देवाय देवदेवाय मूर्तये। ब्रह्म-विष्णु-शुभानां मनः क्षोभ कराय वै।।' नामक मन्त्र के साथ मध्याह्न में कामदेव की प्रतिमा या चित्र की पूजा; काम के समक्ष मिष्ठान्न रखे जाते हैं; दो गायों का दान; पत्नी को अपने पति की पूजा यह समझ कर करनी चाहिये कि 'ये (मेरे पति) स्वयं काम हैं'; रात्रि में जागर, नृत्योत्सव, प्रकाश एवं नाटकाभिनय; प्रतिवर्ष किया जाना चाहिये; कर्ता चिन्ता-रोग से मुक्त हो जाता है, यश एवं धन पाता है; हेमाद्रि (व्रत० २, २१-२४, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण) में शिव द्वारा मदन का जलाना एवं इस तिथि पर उसके पुनर्जन्म की गाथा दी हुई है।

मदनोत्सव : कामसूत्र (१।४।४२) में इसे सुवसन्तक कहा गया है।

मधुस्रवा : श्रावण शुक्ल ३, निर्णयसिन्धु (१११); व्रतराज (९६); इन दोनों के मत से यह गुर्जर देश में ख्यात है।

मधुश्रावणी : कृत्यसारसमुच्चय (पृ० १०); श्रावण शुक्ल ३ को यह व्रत किया जाता है।

मधुसूदन-पूजा : वैसाख शुक्ल १२ पर; विष्णु-पूजा; कर्ता को अग्निष्टोम का फल मिलता है और वह चन्द्रलोक जाता है; स्मृतिकौस्तुभ (११४)।

मधुरत्रय : देखिये ऊपर त्रिमधुर; व्रतराज (१६) के मत से घी, दूध एवं मधु 'मधुरत्रय' है।

मधूकव्रत : फाल्गुन शुक्ल ३ पर; स्त्रियों द्वारा उस दिन उपवास और दूसरे दिन मधूक पेड़ पर गौरी की पूजा और सौभाग्य, पुत्रों एवं सधवापन के लिये प्रार्थना; सधवा ब्राह्मणनारियों का पुष्पों, सुगंधित द्रव्यों, वस्त्रों एवं भोज्य पदार्थों से सम्मान; इससे स्वास्थ्य एवं सौन्दर्य की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० १, ४१३-४१५, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण)। मधूक को हिन्दी में महुआ कहते हैं।

मनसाव्रत : ज्येष्ठ शुक्ल ९ पर जब हस्त-नक्षत्र हो या दशमी पर जब हस्त-नक्षत्र न भी हो; मनसादेवी की पूजा स्नूही पौधे की टहनी पर की जाती है; देखिये गत अध्याय—७ जहाँ श्रावण मास में मनसा देवी की पूजा का उल्लेख है (कृत्यरत्नाकर २३३ एवं कृत्यतत्त्व ४३७); हेमाद्रि (काल, ६२१, भविष्यपुराण से उद्धरण) का कथन है कि मनसा की पूजा आकाशकृष्ण ५ को होनी चाहिये। देखिये श्री ए० सी० सेन कृत 'बंगाली लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर'; पृ० २५७-२७६, जहाँ मनसादेवी एवं मनसा-मंगला की गाथा दी हुई है; श्रावण कृष्ण ११ को मनसा-पूजा का उल्लेख है।

मनोरथतृतीया : चैत्र शुक्ल ३ पर; २० हाथों वाली गौरी की पूजा; एक वर्ष तक; कर्ता जम्बू, अपामार्ग खदिर ऐसे वृक्षों की टहनियों से ही दाँत स्वच्छ करता है, वह कुछ विशेष अंजन ही प्रयोग, या केवल यक्षकर्दम, कुछ विशिष्ट पुष्पों (यथा—मल्लिका, करवीर, केतकी) एवं नैवेद्य का प्रयोग; अन्त में आचार्य को तकिया, दर्पण आदि के साथ पलंग का दान; ४ बच्चों एवं १२ कुमारियों को सम्मान एवं भोजन; सभी इच्छाओं की पूर्ति, स्कन्द (काशीखण्ड, ८०।१-७३); व्रतराज (८४-८८)।

मनोरथद्वादशी : फाल्गुन शुक्ल ११ पर उपवास; १२ को हरि-पूजा, होम तथा 'वासुदेव मेरी कामनाओं की पूर्ति करें' की प्रार्थना; वर्ष को ४ मासों के तीन दलों में विभाजित कर दिया जाता है; प्रत्येक अवधि में विभिन्न पुष्प, विभिन्न धूप, विभिन्न नैवेद्य; प्रत्येक मास में दक्षिणा देना; अन्त में विष्णु की स्वर्ण-प्रतिमा का दान; १२ ब्राह्मणों को भोज; १२ घटों का दान; हेमाद्रि (व्रत० २. २३३-२३५, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)।

मनोरथ-संक्रान्ति : वर्ष भर प्रत्येक संक्रान्ति दिन पर जलपूर्ण घट का गुड़ एवं वस्त्र के साथ किसी गृहस्थ को दान; देवता, सूर्य; कर्ता की कामनाओं की पूर्ति, पाप-मुक्ति एवं सूर्यलोक की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० २, ७३१ स्कन्दपुराण से उद्धरण)।

मन्थानषष्ठी : भाद्र शुक्ल ६ पर; देखिये व्रतार्क (सं० ३९७)।

मन्दारषष्ठी : माघ शुक्ल ६ पर; पंचमी पर कर्ता हलका भोजन करता है; षष्ठी पर उपवास और मन्दार वृक्ष की पूजा; दूसरे दिन मन्दार में कुंकुम लगाना; एक ताम्रपत्र पर काले तिल से अष्ट दल कमल बनाना; मन्दार पुष्पों से आठ दिशाओं में पूर्व से आरम्भ कर विभिन्न नामों से सूर्य की पूजा; बीजकोष में हरि-पूजा; एक वर्ष तक प्रत्येक मास को ७ पर, वही विधि; अन्त में स्वर्णिम प्रतिमा के साथ एक घट का दान। हेमाद्रि (व्रत० १, ६०६-६०८, भविष्योत्तरपुराण ४०।१-१५ से उद्धरण)। मन्दार स्वर्ग के पाँच वृक्षों में परिगणित है, अन्य चार हैं—पारिजात, सन्तान, कल्पवृक्ष एवं हरिचन्दन।

मन्दारसप्तमी : माघ शुक्ल ७ पर; पंचमी पर हल्का भोजन; षष्ठी पर उपवास; रात्रि में मन्दार पुष्प को खाना; दूसरे दिन ब्राह्मणों को आठ मन्दार पुष्प खिलाना; देवता, सूर्य; अन्य बातें गत व्रत की भाँति; हेमाद्रि (व्रत० १, ६५०-६५२, पद्मपुराण ५।२१।२९२-३०६ से उद्धरण); कृत्यकल्पतरु (व्रत० २१९-२२१); मत्स्यपुराण (७९।१-१५)।

मन्वादि : १४ मन्वन्तर होते हैं; चार युगों से एक महायुग होता है जिसकी अवधि ४३२०००० वर्षों की होती है; एक सहस्र महायुग एक कल्प के बराबर होते हैं; कल्प को ब्रह्मा का एक दिन कहा जाता है, ब्रह्मा की रात्रि भी एक कल्प के बराबर होती है। एक कल्प में १४ मन्वन्तर होते हैं, प्रत्येक मन्वन्तर में ७१ महायुग से थोड़ा अधिक होता है; विष्णुपुराण (३।२।५०-५१); मत्स्यपुराण (१४४।१०२-३, १४५।१); ब्रह्मपुराण (अध्याय—५); नारदपुराण (१।५६।१४९-१५२); इन पुराणों में उन तिथियों का उल्लेख है जिनमें प्रत्येक मन्वन्तर का आरम्भ हुआ, इसी से उन्हें मन्वादि-तिथि कहा जाता है; ये तिथियाँ पवित्र हैं और उनके लिए श्राद्ध किया जाता है। देखिये इस ग्रन्थ का (मूल), जिल्द ४, पृ० ३७५ एवं विष्णुधर्मोत्तरपुराण (१।१७६-१८९) जहाँ १४ मन्वन्तरों के नाम एवं विवरण दिये गये हैं।

मरिचसप्तमी : चैत्र शुक्ल सप्तमी पर; सूर्य-पूजा; ब्राह्मण-भोजन, प्रत्येक ब्राह्मण को 'ओं खखोल्काय' नामक मन्त्र के साथ १०० मरिच खाने होते हैं। इस व्रत के करने से कर्ता को अपने प्रियजनों का वियोग-दुख नहीं प्राप्त होता; राम एवं सीता तथा नल एवं दमयन्ती ने यह व्रत किया था; हेमाद्रि (व्रत० १, ६९६, भविष्योत्तरपुराण १।२१४।४०-४७ से उद्धरण)।

मरुद्-व्रत : चैत्र शुक्ल ७ पर; षष्ठी पर उपवास; सप्तमी पर ऋतुओं की पूजा; कर्ता को सात पंक्तियाँ बनानी होती हैं; प्रत्येक पंक्ति में सात मण्डल होते हैं जो चन्दन-लेप से बनाये जाते हैं; प्रत्येक पंक्ति में 'एकज्योतिः' से 'सप्तज्योतिः' तक के सात नाम लिखे जाते हैं; प्रत्येक पंक्ति में विभिन्न नाम; ४९ दीप जलाये जाते हैं; घी का होम एवं वर्ष भर ब्रह्म-भोज; अन्त में नवीन वस्त्र एवं गाय का दान; इस व्रत से स्वास्थ्य, धन, पुत्रों, विद्या एवं स्वर्ग की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० १, १।७७५-७७७, विष्णुधर्मोत्तरपुराण ३।१६६।१-२२)। मरुत ७ या ७ के सात गुने हैं। देखिये ऋ० (५.५२।१७, सप्त में सप्त शाकिन), तै० सं० (२।२।११।१, सप्तगणा वै मरुत.)।

मलमासकृत्य : अधिकमास या मलमास में किये जाने एवं न किये जाने वाले कर्मों के विषय में देखिये अधिमास आदि।

मल्लद्वादशी : मार्ग शुक्ल १२ पर; गोवर्धन पर्वत पर भाण्डीरवट के नीचे, यमुना के तटों पर श्रीकृष्ण ने गोपों (जो पहलवान या मल्ल थे) एवं गोपियों के साथ लीला (रास-लीला) की; मल्ल लोग पुष्पों, दूध, दही एवं खाद्य पदार्थों से पूजा करते हैं; प्रत्येक द्वादशी पर एक वर्ष तक; मन्त्र यह है : 'कृष्ण मुझसे प्रसन्न रहें', इसे अरण्य-

द्वादशी भी कहा जाता है, क्योंकि गोपी एवं मल्ल लोग अरण्य (वन) में एक-दूसरे को खाद्य-पदार्थ देते हैं; स्वास्थ्य, शक्ति (बल), धन एवं विष्णुलोक की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत १, १११५-१११७)।

मल्लारिमहोत्सव : मार्गशीर्ष ६ पर; मल्लारि की पत्नी महालसा (मदालसा का अपभ्रंश) है; मल्लारिपूजा में मुख्य तत्त्व है हल्दी का चूर्ण (महाराष्ट्र में भण्डारा); पूजा प्रत्येक रविवार या शनिवार या षष्ठी पर की जाती है; इस पूजा की विधि ब्रह्माण्ड, मल्लारि-माहात्म्य (क्षेत्रखण्ड); अहल्याकामधेनु (४२१)।

महत्तमव्रत : भाद्रपद शुक्ल १ पर; तिथि; स्वर्ण या रजत की शिव-मूर्ति-पूजा; शिव की तीन आँखें, पाँच मुख; मूर्ति को एक घड़े के ऊपर रख कर पंचामृत से स्नान, पुष्प आदि से पूजा; कर्ता मौन व्रत रखता है; १६ फलों का अर्पण; अन्त में गोदान; दीर्घायु, राज्य आदि की प्राप्ति; स्मृतिकौस्तुभ (पृ० २०१); निर्णयामृत ने भ्रामक ढंग से इसे मौनव्रत कहा है।

महाकार्तिकी : देखिये कार्तिक के अन्तर्गत; देखिये इण्डियन ऐण्टीक्वेरी (जिल्द ३, ३०५ एवं जिल्द ६, ३६३, चालुक्यराज मंगलेश्वर के राज्यकाल शके ५००-५७८ ई० सन् का शिलालेख), कृत्यकल्पतरु (व्रत० १७२) एवं हेमाद्रि (व्रत० १, ७३०) में वर्णित महांग धूप के निर्माण का उल्लेख इस शिलालेख में है; यह धूप कामदा सप्तमी में भी प्रयुक्त होती है; महाकार्तिकपौर्णमासी पर ब्राह्मणों को महादान।

महाचतुर्थी : भाद्रशुक्ल ४ से जब कि वह रविवार या मंगलवार को पड़े; इस दिन गणेश-पूजा से कामनाएँ पूर्ण होती हैं; स्मृतिकौस्तुभ (२१०)।

महाचैत्री : चन्द्र एवं चित्रा-नक्षत्र से युक्त बृहस्पति के साथ चैत्रपूर्णिमा पर; पुरुषार्थचिन्तामणि (३१३); गदाधरपद्धति (कालसार ५९९)।

महाजयसप्तमी : जब शुक्ल ७ पर सूर्य किसी राशि में प्रविष्ट होता है तो उसे महाजयासप्तमी कहा जाता है; स्नान, जप, होम, देवों एवं पितरों की पूजा से कोटिगुना फल मिलता है; उस दिन सूर्य-प्रतिमा को घृत या दूध से स्नान कराने से व्यक्ति को सूर्यलोक की प्राप्ति होती है; उस दिन उपवास से स्वर्ग-प्राप्ति; कृत्यकल्पतरु (व्रत० १३५-१३६ हेमाद्रि, व्रत १, ६६९)। कृत्यकल्पतरु इस व्रत के स्रोत के विषय में मौन है, वह अधिकतर व्रत-स्रोत के विषय में कोई प्रकाश नहीं डालता। हेमाद्रि (काल० ४१४) एवं तिथितत्त्व (१४५) ने ब्रह्मपुराण को उद्धृत किया है।

महाज्यैष्ठी : ज्येष्ठ पूर्णिमा को, जब उस काल में ज्येष्ठा-नक्षत्र हो, चन्द्र एवं बृहस्पति का योग हो, सूर्य रोहिणी में हो तो, इस नाम से पुकारा जाता है; दान, जप आदि से पुण्य-प्राप्ति; पुरुषार्थचिन्तामणि (३१३) एवं गदाधरपद्धति (कालसार, ६००)।

महातपोव्रतानि : व्रत-सम्बन्धी कतिपय ग्रन्थों में इस शीर्षक से कतिपय छोटे-मोटे कृत्यों का उल्लेख है। उन्हें इस सूची में पृथक् ढंग से नहीं रखा गया है। कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४५३-४६९); हेमाद्रि (व्रत० २, ९१७-९३१); कृत्यरत्नाकर (५४०), वर्षक्रियाकौमुदी (५३३)।

महातृतीया : माघ या चैत्र की तृतीया पर; देवता गौरी; गुड़धेनु का अर्पण, किन्तु स्वयं गुड़ न खाना; इससे प्रसन्नता एवं गौरी-लोक की प्राप्ति होती है; हेमाद्रि (व्रत० १, ४८४, पद्मपुराण से उद्धरण); गुड़धेनु के विषय में देखिये मत्स्यपुराण (८२)।

महाद्वादशी : श्रवण-नक्षत्र से युक्त भाद्रशुक्ल की द्वादशी को यह संज्ञा मिली है; उपवास; विष्णु-पूजा; कृत्यरत्नाकर (२८६-२८७)। विष्णुधर्मोत्तरपुराण (१।१६१।१-८) में आया है कि यदि भाद्रपद-द्वादशी बुधवार

को पड़े और वह श्रवण-नक्षत्र में हो तो अत्यन्त महत्ती (महान् से महान्) की संज्ञा प्राप्त होती है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण (१।१६२।१-७१) ने श्रवण-द्वादशी के महात्म्य पर विस्तार से चर्चा की है। अन्य ८ द्वादशियों के लिए देखिए गत अध्याय ५।

महानन्दानवमी : माघ शुक्ल ९ को महानन्दा कहा गया है; तिथि-व्रत; एक वर्ष तक; देवता, दुर्गा; चार मासों की अवधि में वर्ष को ३ भागों में बाँटा जाता है; प्रत्येक अवधि में धूप, नैवेद्य एवं देवी-नाम विभिन्न हैं; कर्ता की सभी कामनाएँ पूर्ण होती हैं, उसे ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३०६-३०७); हेमाद्रि (व्रत० १, ९५५-९५६, भविष्यपुराण से उद्धरण)।

महानवमी : (१) यह दुर्गापूजा-उत्सव ही है, देखिए गत अध्याय—९, कृत्यकल्पतरु (राजधर्म०, पृ० १९१-१९५), राजनीतिप्रकाश (पृ० ४३९-४४४); हेमाद्रि (व्रत० १, ९०३-९२०); निर्णयसिन्धु (१६१-१८५); कृत्यरत्नाकर (३४९-३६४); (२) आश्विन शुक्ल ९ या कार्तिक शुक्ल या मार्गशीर्ष शुक्ल की ९ पर; तिथिव्रत; देवता, दुर्गा; एक वर्ष तक; पुष्प, धूप एवं स्नान-सामग्री कतिपय मासों में विभिन्न; कुमारियों को भोजन; कर्ता देवी-लोक को जाता है; कृत्यकल्पतरु (व्रत० २९६-२९९); हेमाद्रि (व्रत० १, ९३७-९३९, यहाँ दुर्गानवमी नाम है); पुरुषार्थ-चिन्तामणि (१३४); हेमाद्रि (काल, १०७)। देखिए गरुड़पुराण (१।१३३।३-१८ तथा अध्याय १३४); कालिकापुराण (अध्याय ६२)। एपि० इण्डिका (जिल्द १, पृ० २६०) में पुलकेशि महाराज द्वारा कार्तिक-महानवमी गुरुवार को दी गयी ८०० निवर्तन भूमि का उल्लेख है।

महानिशा : देखिए गत अध्याय—५, जहाँ इसका अर्थ बताया गया है; एकादशी एवं द्वादशी पर के निषेध।

महापौर्णमासीव्रत : 'महा' के साथ सभी पौर्णमासियों पर; एक वर्ष तक हरि-पूजा; इस दिन का अल्प दान भी महान् पुण्यकारक होता है; हेमाद्रि (व्रत० २, १९६-१९७, भविष्यपुराण से उद्धरण)।

महापौषी : गदाधरपद्धति (कालसार, ६००); देखिए कार्तिक के अन्तर्गत महाकार्तिकी।

महाफलद्वादशी : विशाखा-नक्षत्र के साथ पौष कृष्ण ११ पर; देवता, विष्णु; एक वर्ष तक; मासों में शरीर-पवित्रता (शुद्धि) के लिए कई वस्तुओं का प्रयोग तथा द्वादशी पर उन वस्तुओं का एक क्रम में दान, यथा—घी, तिल, चावल; मृत्यु के उपरान्त विष्णुलोक की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० १, १०९५-१०९६, विष्णुरहस्य से उद्धरण)।

महाफलव्रत : एक पक्ष के लिए, चार मासों या एक वर्ष के लिए; कर्ता को पहली से पन्द्रहवीं तिथि तक कुछ वस्तुओं को ही खाना पड़ता है, वस्तुओं का क्रम यों है—दूध, पुष्प, सभी प्रकार का भोजन, किन्तु नमक नहीं, तिल, दूध, पुष्प, तरकारियाँ, बेल, आटा, अपक्व भोजन, उपवास, घी, दूध में चावल एवं गुड़ (उबाला हुआ), जौ, गोमूत्र एवं कुश से पवित्र किया हुआ जल। इन सभी दिनों तक एक निश्चित तिथि का प्रयोग; व्रत के एक दिन पूर्व तीन बार स्नान, उपवास, वैदिक मन्त्रों, गायत्री आदि का पाठ; बहुत से पुण्य, अन्त में सूर्यलोक; हेमाद्रि (व्रत २, ३९२-३९४, भविष्यपुराण से उद्धरण)।

महाफल-सप्तमी : जब रविवार को सप्तमी एवं रेवती-नक्षत्र होता है अशोक की कलियों से दुर्गा-पूजा की जाती है और कलियाँ खायी जाती हैं; पुरुषार्थ-चिन्तामणि (१०५)।

महाफाल्गुनी : देखिए कार्तिक के अन्तर्गत; गदाधरपद्धति (कालसार, ५९९); पुरुषार्थ-चिन्तामणि (३१४)।

महाभद्राष्टमी : बुधवार को पड़ने वाली पौष शुक्ल अष्टमी महाभद्रा कही जाती है और पवित्र मानी जाती है; देवता, शिव; स्मृतिकौस्तुभ (४३८); गदाधरपद्धति (कालसार, ६०५-६०६); पुरुषार्थचिन्तामणि (१३८)।

महाभाद्री : देखिए कार्तिक, जहाँ 'महा' के विषय का नियम दिया हुआ है।

महामाघी : जब सूर्य श्रवण-नक्षत्र में तथा चन्द्र मघा में हो तो उसे महामाघी कहा जाता है; राजमार्तण्ड (१३६६) में आया है कि सूर्योदय के समय जल बोल उठता है—'मैं किस पापी को, आसवपायी को या ब्रह्म-हत्यारे को, शुद्ध करूँ?'; वर्षक्रियाकौमुदी (४९०, भविष्यपुराण से उद्धरण); स्मृतिकौस्तुभ (४३९, पद्मपुराण); पुरुषार्थ-चिन्तामणि (३१३-३१४) में आया है कि जब शनि मेष में, चन्द्र एवं बृहस्पति सिंह में तथा सूर्य श्रवण-नक्षत्र में होता है तो महामाघी कहलाती है। अन्य मतों के लिए देखिए निर्णयसिन्धु (२२१)। प्रयाग, अन्य पवित्र नदियों एवं तालाबों में प्रातःकाल महास्नान से पाप कट जाते हैं। तमिल देश में 'मख' एक वार्षिक मन्दिरोत्सव है और महामख १२ वर्षों में एक बार होता है जब कि महामघ नामक तालाब में (कुम्भकोणम् नामक स्थान में) स्नान के लिए एक बृहद् मेला लगता है; यह मेला प्रयाग के कुम्भ मेला के समान है। यह उत्सव 'ममंगम्' के नाम से विख्यात है और मघा नक्षत्र में पड़ने वाली पूर्णिमा में तथा जब बृहस्पति मघा में या सिंह राशि में पड़ता है तो यह मनाया जाता है। दक्षिणी पंचांगों के अनुसार यह सन् १९५५ ई० की २५ फरवरी को मनाया गया था। ऐसा प्रकाशित हुआ था कि उस समय दो बजे रात्रि से प्रारम्भ होकर ८ से १० घण्टे तक लगभग एक लाख लोगों ने कुम्भकोणम् के महामखम् तालाब में स्नान किया था। तालाब से कीचड़युक्त जल बाहर निकाला गया था और कावेरी से नया जल भरा गया था।

यह आश्चर्य है कि मध्यकालीन निबन्धों में महामखम् या कुम्भ मेला का कोई उल्लेख नहीं है। महान् हर्ष प्रति पाँचवें वर्ष प्रयाग में संगम के पश्चिम भाग में एक बड़ा मेला लगाते थे और अपने कोष का धन बाँट देते थे।

महामार्गशीर्षी : देखिए ऊपर कार्तिक के अन्तर्गत 'महा' विशेषण के विषय में।

महाराजव्रत : जब १४ वीं तिथि (शुक्ल या कृष्ण) आर्द्रा-नक्षत्र में हो या यह पूर्वाभाद्रपदा एवं उत्तरा भाद्रपदा से युक्त हो तो वह शिव को आनन्द देती है; १३ वीं तिथि को संकल्प; १४ वीं तिथि को एक के उपरान्त दूसरे से, यथा—तिल, गोमूत्र, गोबर, मिट्टी, पंचगव्य तथा अन्त में शुद्ध जल से स्नान; इसके उपरान्त शिव संकल्प मन्त्र 'यज्जाग्रतो दूरम्' (शिवसंकल्पोपनिषद्, ८) का १००० बार जप तीन वर्षों के लिए तथा 'ओं नमः शिवाय' शूद्रों के लिए; पंचामृत, पंचगव्य, ईख के रस से शिव एवं उमा की प्रतिमाओं को स्नान कराना तथा कस्तूरी, कुंकुम आदि लगाना; दीप मालिका; शिव संकल्प या 'त्र्यम्बकं यजामहे' मन्त्र के साथ सहस्रों बिल्व-दलों से होम; मन्त्रों के साथ अर्घ्य; रात्रि भर जागर (जागरण); ५ या २ या १ गाय का दान; पंचगव्य पान के उपरान्त मौन रूप से भोजन; सभी बाधाएँ दूर हो जाती हैं और परम पद की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० २, १०३९-११४७, स्कन्दपुराण से उद्धरण)।

महालक्ष्मीपूजा : इस व्रत के विषय में विभिन्न मत हैं। कृत्यसारसमुच्चय (पृ० १९) एवं अहल्याकामधेनु (५३५ बी-५३९ बी) के मत से—भाद्रपद शुक्ल ८ को आरम्भ तथा आषाढ़ कृष्ण ८ को समाप्त (पूर्णिमान्त गणना), यह १६ दिनों तक चलती है, प्रति दिन महालक्ष्मी-पूजा तथा महालक्ष्मी के विषय की गाथाओं का श्रवण। निर्णयसिन्धु (पृ० १५३-१५४) में भी यही अवधि दी हुई है, किन्तु पहली बार किये जाने पर चार दोषों से बचना होता है, यथा—अवमदिन न हो, तिथि त्र्यहःस्पृक् न हो, नवमी से युक्त न हो, सूर्य हस्त-नक्षत्र के भाग में न हो। महाराष्ट्र में यह पूजा विवाहित नारियों द्वारा आषाढ़ शुक्ल ९ को मध्याह्न में की जाती है और रात्रि में सभी विवाहित नारियाँ एक-साथ पूजा करती हैं, खाली घड़ों को हाथ में रखती हैं, उनमें श्वास लेती हैं और

अपने शरीर को भाँति-भाँति ढंगों से मोड़ती हैं। पुरुषार्थ-चिन्तामणि (१२९-१३२) में इसके विषय में एक लम्बा विवेचन है। इसके मत से यह व्रत नारियों एवं पुरुषों दोनों का है।

महालक्ष्मीव्रत : भाद्रपद शुक्ल ८ को जब सूर्य कन्या राशि में होता है महालक्ष्मी की पूजा का आरम्भ होता है और जब सूर्य कन्या राशि के अर्ध भाग में होता है तो आगे की अष्टमी को समाप्ति होती है, इस प्रकार १६ दिन लगते हैं; यदि सम्भव हो तो ज्येष्ठा-नक्षत्र में चन्द्र की स्थिति में व्रत करना चाहिए; १६ वर्षों के लिए; नारियों एवं पुरुषों के लिए यहाँ १६ की संख्या (पुष्पों एवं फलों आदि के विषय में) महत्त्वपूर्ण है; कर्ता को दाहिने हाथ में १६ धागों एवं १६ गाँठों का एक डोरक (गण्डा) बाँधना चाहिए; लक्ष्मी कर्ता को तीन जीवनों तक नहीं त्यागतीं, वह दीर्घायु, स्वास्थ्य आदि पाता है; हेमाद्रि (व्रत० २, ४९५-४९९); निर्णय-सिन्धु (१५३-१५४); स्मृतिकौस्तुभ (२३१-२३९); पुरुषार्थ-चिन्तामणि (१२९-१३२); व्रतराज (३००-३१५)।

महालय : भाद्रपद का कृष्ण पक्ष इस नाम से विख्यात है तथा पार्वण श्राद्ध इन सभी या एक तिथि पर किया जाता है; तिथितत्त्व (१६६); वर्षक्रियादीपक (८०)।

महावैसाखी : देखिए 'महा' उपाधि के लिए 'कार्तिक'। माधववर्मन के खानपुर दान पत्र में सतारा जिले में कई ग्रामों का दान महावैसाखी पर किया गया उल्लिखित है; देखिए एपि० इण्डिका (जिल्द २७, पृ० ३१२)। प्रो० भिराशी ने इस दानपत्र की तिथि ५१०-५६० के बीच में रखी है।

महाव्रत : (१) माघ या चैत्र में कोई गुड़धेनु दे सकता है और स्वयं तृतीया पर केवल गुड़ का सेवन करता है; वह गोलोक जाता है; मत्स्यपुराण (१०१।३३); कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४४६); कृत्यरत्नाकर (११८); गुड़धेनु के लिए देखिए मत्स्यपुराण (८२); (२) शुक्ल चतुर्दशी या अष्टमी पर उपवास, जब कि श्रवण-नक्षत्र का योग हो; तिथिव्रत; देवता, शिव; राजाओं द्वारा सम्पादित; हेमाद्रि (व्रत० १, ८६४-८६५, कालोत्तर से उद्धरण); (३) कार्तिक अमावास्या या पूर्णिमा पर नियमों का पालन; घृत के साथ पायस का प्रयोग नक्त-विधि से; चन्दन एवं ईख का रस; आगे की प्रतिपदा पर उपवास; ८ या १६ शैव ब्राह्मणों को भोज; देवता, शिव; पंचगव्य, घी, मधु आदि तथा अन्त में गर्म जल से शिव-प्रतिमाओं को स्नान; नैवेद्य; सपत्नीक आचार्य को सोना, वस्त्रों आदि का दान; १६ वर्षों तक विभिन्न तिथियों पर (वर्ष के आधार पर) नक्त एवं उपवास का प्रबन्ध; इससे दीर्घायु, सौन्दर्य, सौभाग्य की प्राप्ति होती है; हेमाद्रि (व्रत० २, ३७७-३९१, कालिकापुराण से उद्धरण); (४) प्रत्येक पौर्णमासी पर उपवास एवं सकल ब्रह्म के रूप में हरि की पूजा तथा प्रत्येक अमावास्या पर निष्कल (भागहीन) ब्रह्म की पूजा; एक वर्ष तक; सभी पापों से मुक्ति एवं स्वर्ग-प्राप्ति; १२ वर्षों तक करने से विष्णुलोक की प्राप्ति; विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।१९८।१-७); हेमाद्रि (व्रत० २, ४६१); 'सकल' का अर्थ है 'सावयव' (अवयवयुक्त), यथा—चारों हस्तों से युक्त विष्णु, 'निष्कल' का अर्थ है बिना अन्य भागों के (मुण्डकोपनिषद् २।२।९ में इसका उल्लेख है); (५) दोनों पक्षों में अष्टमी या चतुर्दशी पर नक्त-विधि एवं शिव-पूजा; एक वर्ष तक; परम लक्ष्य की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० २, ३९८, लिंगपुराण से उद्धरण)।

महाश्वेताप्रियविधि : सूर्य-ग्रहण के अवसर पर जब रविवार हो; महाश्वेता (तथा सूर्य) की पूजा; नक्त-विधि या उपवास; परम पद की प्राप्ति; कृत्यकल्पतरु (व्रत०, २१-२३); हेमाद्रि (व्रत० २, ५२७-५२८)। महाश्वेता नाम मन्त्र का है, यथा—'ह्रींसः'; कृत्यरत्नाकर (९), एवं हेमाद्रि (व्रत० २, ५२१)।

महाषष्ठी : जब कार्तिक शुक्ल ६ को सूर्य वृश्चिक राशि में हो और मंगल हो तो उसे महाषष्ठी कहते हैं; पूर्व दिन को उपवास; षष्ठी को अग्नि-पूजा, अग्नि का महोत्सव, ब्रह्म-भोज; सभी पाप कट जाते हैं; स्मृति-कौस्तुभ (३७८); पुरुषार्थ-चिन्तामणि (१०२)।

महाष्टमी : नवरात्र की आश्विन शुक्ल ८ को यह संज्ञा प्राप्त है; वर्षक्रियाकौमुदी (४२८); निर्णयसिन्धु (१७८); समयमयूख (५९)।

महासप्तमी : माघ शुक्ल ५ को एक भक्त; षष्ठी को नक्त, सप्तमी को उपवास; करवीर पुष्पों एवं लाल चन्दन-लेप से सूर्य-पूजा; एक वर्ष तक; माघ से आरम्भ कर वर्ष को चार मासों के तीन दलों में बाँटना, प्रत्येक दल में विभिन्न नैवेद्य, पुष्प एवं धूप; अन्त में एक रथ का दान; हेमाद्रि (व्रत० १, ६५९-६६०, भविष्यपुराण १।५१।१-१६ से उद्धरण)।

महिषघ्नीपूजा : आषाढ़ शुक्ल ८ पर; तिथि; देवता, दुर्गा; महिषासुर को मारने वाली दुर्गा को हल्दी चूर्ण से युक्त जल से स्नान कराना; प्रतिमा पर चन्दन-लेप एवं कर्पूर लगाना; कुमारियों एवं ब्राह्मणों को भोजन एवं दक्षिणा देना; दीप-प्रकाश; सभी कामनाओं की पूर्ति; पुरुषार्थ-चिन्तामणि (१०९-११०); स्मृतिकौस्तुभ (१३८)।

महेन्द्र-कृच्छ : कार्तिक शुक्ल ६ से प्रारम्भ; केवल दूध का सेवन; दामोदर-पूजा; हेमाद्रि (व्रत० २, ७६९-७७०)।

महेश्वरव्रत : (१) फाल्गुन शुक्ल १४ से प्रारम्भ; उस दिन उपवास एवं शिव-पूजा; अन्त में गोदान; यदि वर्ष भर किया जाये तो पौण्डरीक यज्ञ की फल प्राप्ति; यदि वर्ष भर प्रत्येक मास की दोनों चतुर्दशियों पर किया जाय तो सभी कामनाओं की पूर्ति; हेमाद्रि (व्रत० २, १५२); (२) दक्षिणा-मूर्ति को वर्ष भर प्रति दिन पायस एवं घी का अर्पण; अन्त में उपवास; भूमि, गाय एवं पलंग का दान; नन्दी (शिव-वाहन) की स्थिति की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० १, ८६७, स्कन्दपुराण से उद्धरण); दक्षिणामूर्ति शिव का एक रूप है; शंकराचार्य लिखित दक्षिणामूर्तिस्तोत्र (१९ श्लोकों में) की बात कही जाती है।

महेश्वराष्टमी : मार्गशीर्ष शुक्ल ९ से प्रारम्भ; शिव की पूजा, लिंग या प्रतिमा के रूप में या कमल पर; घी एवं दूध से स्नान कराना; अन्त में गोदान; यदि वर्ष भर किया जाय तो अश्वमेध-यज्ञ का लाभ एवं शिवलोक की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० १, ७४७-७४८, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)।

महोत्सवव्रत : चैत्र शुक्ल १४ पर; प्रति वर्ष शिव-प्रतिमा को दूध आदि से स्नान करा कर अंजन, दमनक, बिल्व-दल का अर्पण; चावल के चूर्ण से बने दीपों से प्रतिमा की आरती; विभिन्न खाद्य पदार्थों का नैवेद्य; ढोल बजाना; शिव-रथयात्रा; 'शिव प्रसन्न हों' कहना; नक्त-विधि; हेमाद्रि (व्रत० २,१४८-१४९, स्कन्दपुराण से उद्धरण)।

महोदधि-अमावास्या : चतुर्दशी से युक्त माघ अमावास्या को किसी समुद्र में स्नान; अश्वमेध का फल; गदाधरपद्धति (कालसार, ६०३)।

माकरी-सप्तमी : मकर-राशि में जब सूर्य हो तो सप्तमी तिथि पर; वर्षक्रिया कौमुदी (५००-५०१); व्रतकोश (पृ० २०३, संख्या ९०२)।

माघकृत्य : कृत्यरत्नाकर (४८७-५१४); वर्षक्रियाकौमुदी (४९०-५१४); निर्णयसिन्धु (२१३-२२१); स्मृतिकौस्तुभ (४३९-५१३); गदाधरपद्धति (कालसार, ३७-४१)। माघ में कई महत्त्वपूर्ण व्रत होते हैं, यथा—तिलचतुर्थी, रथसप्तमी, भीष्माष्टमी, जो पृथक् रूप से वर्णित हुई हैं। कुछ बातें यहाँ दी जा रही हैं। माघ शुक्ल ४ को उमाचतुर्थी कहते हैं, क्योंकि लोगों (विशेषतः नारियों) द्वारा कुन्द एवं अन्य पुष्पों से, गुड़-अर्पण, नमक, यवक से गौरी-पूजा की जाती है; सधवा नारियों, ब्राह्मणों एवं गाय का सम्मान किया जाता है; कृत्यकल्पतरु (नैयत्कालिक काण्ड, ४३७-४३८); कृत्यरत्नाकर (५०३); माघकृष्ण १२ को यम ने तिल उत्पन्न

किया, दशरथ उसे पृथिवी पर ले आये और बो दिया, विष्णु को देवों ने तिल का स्वामी बनाया, अतः उस दिन उपवास कर तिल से हरि-पूजा करनी चाहिए, तिल से होम करना चाहिए, तिल-दान करना चाहिए और उसे खाना चाहिए; विष्णुधर्मसूत्र (९०।१९); कृत्यकल्पतरु (नैत्यकालिक काण्ड ४३५-४३६); कृत्यरत्नाकर (४९५-४९६); माघ अमावास्या पर जब कि वह सोमवार को प्रातःकाल उपस्थित हो, लोगों को (विशेषतः नारियों को) अश्वत्थ वृक्ष की परिक्रमा करनी चाहिए और दान देना चाहिए। यह कृत्य तमिल देश में प्रचलित है।

माघसप्तमी : माघ शुक्ल ७ पर; अरुणोदय के समय किसी नदी या बहते हुए जल में अपने सर पर बदर वृक्ष एवं अर्क पौधे की सात-सात पत्तियाँ रख कर स्नान करना; सात बदर फलों, सात अर्क-दलों, चावल, तिल, दूर्वा, अक्षतों एवं चन्दन के साथ मिश्रित जल से सूर्य को अर्घ्य देना; सप्तमी को देवी समझ कर तथा सूर्य को प्रणाम करना; कुछ लोगों के मत से यह स्नान तथा माघस्नान अलग-अलग नहीं हैं, किन्तु कुछ लोग दोनों को दो मानते हैं; कृत्यरत्नाकर (५०९); वर्षक्रियाकौमुदी (४९९-५०२); कृत्यतत्त्व (४५९); राजमार्तण्ड (ए० बी० ओ० आर० आई०, जिल्द ३६, पृ० ३३२)।

माघस्नान : आरम्भिक कालों से ही गंगा या किसी बहते जल में प्रातः काल माघ मास में स्नान करना प्रशंसित रहा है। सर्वोत्तम काल वह है जब नक्षत्र अब भी दीख पड़ रहे हों, उसके उपरान्त वह काल अच्छा है जब तारे दिखाई पड़ रहे हों किन्तु सूर्य अभी वास्तव में दिखाई नहीं पड़ा हो, जब सूर्योदय हो जाता है तो वह काल स्नान के लिए अच्छा काल नहीं कहा जाता। मास के स्नान का आरम्भ पौष शुक्ल ११ या पौष पूर्णिमा (पूर्णिमान्त गणना के अनुसार) से हो जाना चाहिए और व्रत (एक मास का) माघ शुक्ल १२ या पूर्णिमा को समाप्त हो जाना चाहिए; कुछ लोग इसे सौर गणना से संयुज्य कर देते हैं और व्यवस्था देते हैं कि वह स्नान जो माघ में प्रातःकाल उस समय किया जाता है, जब कि सूर्य मकर राशि में हो, पापियों को स्वर्गलोक भेजता है; वर्षक्रियाकौमुदी (४९१, पद्मपुराण का उद्धरण); सभी नर-नारियों के लिए यह व्यवस्थित है; सब से अत्यन्त पुण्यकारी माघस्नान गंगा एवं यमुना के संगम पर है; पद्मपुराण (६, जहाँ अध्याय २१९ से २५० तक २८०० श्लोकों में माघस्नान के माहात्म्य का उल्लेख है); हेमाद्रि (व्रत० २, ७८९-७९४); वर्षक्रियाकौमुदी (४९०-४९१); राजमार्तण्ड (१३९८); निर्णयसिन्धु (२१३-२१६); स्मृतिकौस्तुभ (४३९-४४१); पद्मपुराण (६।२३७। ४९-५०; एवं कृत्यतत्त्व (४५५-४५७) ने दानों एवं नियमों की विधि का वर्णन किया है। विष्णुधर्मसूत्र (९०) के अन्तिम श्लोक में माघ एवं फाल्गुन में प्रातः स्नान की प्रशंसा गायी गयी है। देखिए इण्डियन एण्टीक्वेरी (जिल्द ११, पृ० ८८, माघ मेला)।

मातृव्रत : (१) अष्टमी पर; तिथि; देवता, माताएँ; उपवास; माताओं से भक्तिपूर्वक क्षमा करना; माताएँ कल्याण एवं स्वास्थ्य देती हैं; हेमाद्रि (व्रत० १, ८७६); (२) आश्विन नवमी पर राजा तथा उनकी जाति के लोगों को माताओं (नाम दिये गये हैं) की पूजा करनी चाहिए और सफलता प्राप्त करनी चाहिए; वह नारी, जिसके पुत्र मृत हो जाते हैं अथवा जिसकी केवल एक सन्तान हो, इस व्रत के सम्पादन से सन्ततिवती होती है; हेमाद्रि (व्रत० १, ९५१-९५२)।

मार्गपाली-बन्धन : कार्तिक शुक्ल १ पर; देखिए गत अध्याय—१०।

मार्गशीर्षकृत्य : देखिए कृत्यरत्नाकर (४४२-४७४); वर्षक्रियाकौमुदी (४८२-४८७); निर्णयसिन्धु (२०९-२११); स्मृतिकौस्तुभ (४२७-४३२)। तमिल देश में पूरे मास भर पवित्र माना जाता है और भजन-मण्डलियाँ प्रातःकाल घूमती रहती हैं। गीता (१०।३५) के अनुसार मासों में मार्गशीर्ष सर्वोत्तम है और वह भगवान् कृष्ण के समान माना गया है। कुछ बातें यहाँ दी जा रही हैं। कृतयुग (सत्ययुग) में देवों ने वर्ष का आरम्भ

मार्गशीर्ष की प्रथम तिथि से किया, ऋषि काश्यप ने कश्मीर नामक सुन्दर देश की रचना की; अतः इस पर उत्सव किया जाना चाहिए (कृत्यरत्नाकर ४५२); मार्गशीर्ष शुक्ल १२ पर उपवास करना चाहिए और ऐसा ही वर्ष भर करते रहना चाहिए; प्रत्येक द्वादशी पर विष्णु के केशव से ले कर दामोदर के बारह नामों में एक नाम लेना चाहिए और पूजा करनी चाहिए; कर्ता जातिस्मर (जो पूर्व जन्मों के कृत्यों को स्मरण कर लेता है) हो जाता है और वहाँ पहुँच जाता है, जहाँ से लौटना नहीं होता (अनुशासनपर्व अध्याय १०९; बृहत्संहिता १०४।१४-१६; मार्गशीर्ष पूर्णिमा पर विशेषतः चन्द्र की पूजा की जानी चाहिए, क्योंकि उसी समय चन्द्र पर अमृत छिड़का गया था; गाय को नमक देना चाहिए; माँ, बहन, पुत्री तथा अन्य नारी-सम्बन्धियों को नवीन वस्त्रों का जोड़ा देना चाहिए; नृत्य-गान का उत्सव होना चाहिए, जो लोग मदिरा का सेवन करते हैं, उन्हें उस दिन ताजी मदिरा ग्रहण करनी चाहिए; कृत्यकल्पतरु (नैयत्कालिक, ४३२-४३३); कृत्यरत्नाकर (४७१-४७२) मार्गशीर्ष; पूर्णिमा पर दत्तात्रेय जयन्ती की जाती है, देखिए ऊपर।

मार्तण्डसप्तमी : पौष शुक्ल ७ से आरम्भ; उस दिन उपवास; 'मार्तण्ड' नाम लेते हुए सूर्य-पूजा; अपने को शुद्ध करने के लिए कर्ता को गोमूत्र या गोबर या दही या दूध ग्रहण करना चाहिए; दूसरे दिन 'रवि' नाम पर सूर्य-पूजा; इसी प्रकार वर्ष भर प्रत्येक मास में दो दिनों की विधि तथा एक दिन एक गाय को घास आदि खिलाना; सूय-लोक की प्राप्ति; भविष्यपुराण (१।१०९।१-१३); हेमाद्रि (व्रत० १, ७५४-७५५), कृत्यकल्पतरु (नैयत्कालिक काण्ड, १४७-१४८)।

मासव्रत : मार्गशीर्ष से कार्तिक तक १२ मासों में कर्ता को निम्नलिखित का दान करना चाहिए—लवण, घी, तिल, सात धान्य, रंगीन एवं सुन्दर वस्त्र, गेहूँ, जलपूर्णपात्र, कर्पूर के साथ चन्दन-लेप, नवनीत, छत्र, शक्कर या गुड़ से भरपूर लड्डू एवं दीप; अन्त में गोदान तथा दुर्गा, ब्रह्म, सूर्य या विष्णु की पूजा; हेमाद्रि (व्रत० २, ८५३-८५४, देवीपुराण से उद्धरण); कृत्यरत्नाकर (४४२-४४३)।

मासव्रतानि : अग्निपुराण (१९८); कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४१८-४३२); हेमाद्रि (व्रत० २, ७४४-७९९); दानसागर (५८९-६२१)।

मासोपवासव्रत : सभी व्रतों में यह सर्वोत्तम व्रत है। यह एक अति प्राचीन व्रत है। ई० पू० दूसरी शती में रानी नायनिका (नागनिका) ने इसे सम्पादित किया था (ए० एस० डब्ल्यू० आई०, जिल्द ५, पृ० ६०); इसका वर्णन अग्नि० (२०४।१-१८), गरुड़० (१।१२२।१-७), पद्म० (६।१२१।१५-५४) में किया गया है। अग्निपुराण अति संक्षिप्त है, उसी को अति संक्षिप्त रूप में यहाँ दिया जा रहा है। कर्ता को सभी वैष्णव व्रत (यथा—द्वादशी) कर लेने चाहिए, गुरु का आदेश ले लेना चाहिए; अपनी शक्ति को देख कर आश्विन शुक्ल ११ से आरम्भ कर उसे ३० दिनों तक ले जाने का संकल्प करना चाहिए; किसी वानप्रस्थ व्यक्ति या यति या विधवा द्वारा यह सम्पादित होना चाहिए; पुष्पों आदि से प्रति दिन तीन बार विष्णु-पूजा होनी चाहिए; विष्णु की प्रशस्ति के गान गाये जाने चाहिए, विष्णु-ध्यान करना चाहिए; व्यर्थ की (इधर-उधर की) बातों का त्याग होना चाहिए; धन की इच्छा का त्याग करना चाहिए; जो नियमों का पालन नहीं करते उन्हें नहीं छूना चाहिए; मंदिर में ३० दिनों तक रहना चाहिए; ३० दिनों के उपरान्त १२ वें दिन ब्रह्मभोज देना चाहिए, दक्षिणा देनी चाहिए तथा १३ ब्राह्मणों को आमन्त्रित कर पारण करना चाहिए, वस्त्रों का जोड़ा, आसन, पात्र, छत्र, खड़ाऊ दान-रूप में दिये, जाने चाहिए; एक पलंग पर विष्णु की स्वर्ण-प्रतिमा का पूजन होना चाहिए; अपनी स्वयं की प्रतिमा को वस्त्र आदि देना चाहिए; पलंग गुरु को दे दी जानी चाहिए; वह स्थान जहाँ कर्ता ठहरता है पवित्र हो जाता है; वह अपने पूर्व अपने परिवार के लोगों को स्वर्गलोक ले जाता है; यदि कर्ता व्रत के बीच में मूर्च्छित हो जाय तो

उसे दूध, घी एवं फल का रस देना चाहिए; ब्राह्मणों की सम्मति से ऐसा करने से व्रत खण्डित नहीं होता; हेमाद्रि (व्रत० २, ७७६-७८३, विष्णुरहस्य से उद्धरण)।

मासरक्षपौर्णमसीव्रत : कार्तिक शुक्ल १५ पर आरम्भ; नक्त-विधि से भोजन; नमक से बने वृत्त, तथा चन्दन-लेप से निर्मित चन्द्र की दस नक्षत्रों के साथ पूजा यथा—कार्तिक में कृत्तिका एवं रोहिणी के साथ, मार्गशीर्ष में मृगशिरा एवं आर्द्रा के साथ. . .और यह कम आश्विन तक चला जाता है; सधवा नारियों का गुड़, बढ़िया भोजन, घी, दूध आदि से सम्मान; स्वयं हविष्य भोजन करना; अन्त में सोने के साथ रंगीन वस्त्र का दान; विष्णुधर्मोत्तरपुराण (१९२।१-१५); नीलमतपुराण (पृ० ४७)।

मित्रसप्तमी : मार्गशीर्ष शुक्ल ७ को यह नाम मिला है; तिथि व्रत; देवता, मित्र (सूर्य); षष्ठी को मित्र-प्रतिमा को उसी विधि से स्नान कराया जाता है जैसा कि कार्तिक शुक्ल ११ को विष्णु-प्रतिमा को; सप्तमी को उपवास (फल खाये जा सकते हैं); रात्रि में जागर; विभिन्न पुष्पों, आटे के पक्वान्नों से सूर्य-पूजा; ब्राह्मणों, दरिद्रों एवं असहायों को भोजन; अष्टमी को नर्तकों तथा अभिनेताओं के बीच धन का वितरण; नीलमतपुराण (पृ० ४६-४७, श्लोक ५६४-५६९); कृत्यरत्नाकर (४६०-४६१); कृत्यकल्पतरु (नैयत्कालिक काण्ड (४३२); वर्षक्रियाकौमुदी (४८३); पुरुषार्थ-चिन्तामणि (१०४)।

मुक्ताभरणव्रत : भाद्र शुक्ल सप्तमी पर; तिथिव्रत; देवता, शिव एवं उमा; शिव-प्रतिमा के समक्ष एक डोरक (धागों से बना गण्डा) रखना; आवाहन से आरम्भ कर १६ उपचारों के साथ शिव-पूजा; मोती एवं अन्य बहुमूल्य पत्थरों से युक्त सोने को आसन; उपचारों के उपरान्त मेखला में गण्डा बाँधना; ११०० मण्डकों एव वेष्टकों का दान; दीर्घायु पुत्रों की प्राप्ति; निर्णयसिन्धु (१३४), व्रतरत्नाकर (२४१-२४७)।

मुक्तिद्वार-सप्तमी : जब सप्तमी को हस्त नक्षत्र हो या पुष्य नक्षत्र हो तो यह व्रत किया जाना चाहिए; कर्ता को 'अर्क को प्रणाम' के साथ अर्क की टहनी से अपने दाँत स्वच्छ करने चाहिए; होम; गोबर से लीपे गये आँगन में लाल चन्दन के लेप से एक षोडश-दल कमल बनाना चाहिए, जिसके प्रत्येक दल पर पूर्व से आरम्भ कर कतिपय देवों को प्रतिष्ठापित करना चाहिए; तब आवाहन से आरम्भ कर अन्य उपचार सम्पादित करने चाहिए; उस दिन उपवास; एक वर्ष तक ६ रसों (मधुर, लवण, तिक्त, कषाय, कटु, अम्ल) में किसी एक को दो मास तक खाना; १३ वें मास में पारण तथा एक कपिला गाय का दान; मोक्ष-प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० २, ७८०-७८६)।

मुखव्रत : एक वर्ष तक ताम्बूल (मुखवास) का त्याग; वर्ष के अन्त में एक गाय का दान; कर्ता यक्षों का अधिपति हो जाता है; हेमाद्रि (व्रत० २, ८६५, पद्मपुराण से उद्धरण)।

मूलगौरीव्रत : चैत्र शुक्ल ३ पर; तिल एवं जल से स्नान; स्वर्ण-फलों के साथ एवं पाँव से सिर तक शिव एवं गौरी की पूजा; १२ मासों में विभिन्न पुष्पों का उपयोग; इसी प्रकार विभिन्न पदार्थों को खाना या पीना; गौरी के विभिन्न नामों की पूजा; कर्ता को एक फल छोड़ देना चाहिए; अन्त में एक पलंग, सोने के बैल एवं गाय का दान; शिव ने गौरी से चैत्र शुक्ल तृतीया पर विवाह किया था; अग्निपुराण (१७८।१-२०)।

मृगशीर्षव्रत : श्रावण कृष्ण १ पर शिव ने तीन फलकों के एक बाण से हरिण रूप धारण किये हुए यज्ञ के तीन मुखों को भेदा था; कर्ता को मिट्टी से मृगशीर्ष की प्रतिमा बना कर तरकारियों एवं सरसों से युक्त आटे के विभिन्न नैवेद्य से पूजा करनी चाहिए; हेमाद्रि (व्रत० १, ३५८-३५९); स्मृतिकौस्तुभ (१४६)।

मेघपालीतृतीया : आश्विन शुक्ल ३ को नर-नारियों का मेघपाली नामक लता से पूजा करनी चाहिए; यह लता वाटिकाओं, पहाड़ियों एवं मार्गों पर उगती है; इसकी पूजा विभिन्न प्रकार के फलों एवं सात धान्यों के अंकुरों

से की जाती है; सभी पापों से विशेषतः त्रुटिपूर्ण तौल-बटखरों एवं मापकों से व्यापार करने वालों के पापों से मुक्ति मिलती है; हेमाद्रि (व्रत० १, ४१६-४१७, भविष्योत्तरपुराण १७।१-१४ से उद्धरण)।

मौनव्रत : (१) पूर्णिमान्त गणना से श्रावण के अन्त के उपरान्त भाद्रपद १ से १६ दिनों तक कर्ता को दूर्वा की शाखाओं की १६ गाँठें बना कर दाहिने हाथ में (स्त्रियों को बायें हाथ में) रखना चाहिए; १६ वें दिन पानी लाने, गेहूँ को पीसने तथा उससे नैवेद्य बनाने तथा भोजन करते समय मौन रखना चाहिए; शिव-प्रतिमा या लिंग को जल, दूध, दही, घी, मधु एवं शक्कर से स्नान करा कर पूजा करना तथा 'शिव प्रसन्न हों' ऐसा कहना; इससे सन्तति-प्राप्ति एवं कामना-पूर्ति होती है; हेमाद्रि (व्रत० २, ४८२-४९२); निर्णयामृत (२६-२७); (२) ८, ६ या तीन मासों तक या एक मास, अर्ध मास या १२, ६ या ३ दिनों तक या एक दिन तक मौन रहना; मौनव्रत से सर्वार्थ सिद्धि होती है ('मौनं सर्वार्थसाधकम्', पृ० ८८०); कर्ता को भोजन करते समय 'हुं' भी नहीं कहना चाहिए; मन, वचन एवं कर्म से हिंसा-त्याग; व्रत-समाप्ति पर चन्दन का लिंग-निर्माण तथा गन्ध एवं अन्य उपचारों से उसकी पूजा, मन्दिर की विभिन्न दिशाओं में सोने एवं पीतल के घण्टों का अर्पण; शैवों एवं ब्राह्मणों को भोज; सिर पर पीतल के पात्र में लिंग रख कर जन-मार्ग से मौन रूप से मन्दिर को जाना तथा मन्दिर-प्रतिमा के दाहिने पक्ष में लिंग-स्थापन और उसकी बार-बार पूजा; कर्ता शिव-लोक जाता है; हेमाद्रि (व्रत० २, ८७९-८८३, शिवधर्म० से उद्धरण)।

यक्षकर्दम : (यक्षों का प्रिय अंजन) पाँच सुगन्धित पदार्थों से निर्मित; देखिए गत अध्याय-२; हेमाद्रि (व्रत० १, १४३-४४); व्रतराज (पृ० १६)।

यज्ञसप्तमी : शुक्ल ७ पर, जब ग्रहण हो, विशेषतः जब संक्रान्ति हो; कर्ता एक बार हविष्य भोजन करता है, वरुण को प्रणाम करता है, पृथिवी पर रखी दर्भ घास पर बैठता है; दूसरे दिन प्रातःकाल आरम्भ में एवं अन्त में वरुण की पूजा करता है। एक विस्तृत विधि व्यवस्थित है; माघ सप्तमी पर वरुण को, फाल्गुन ७ पर सूर्य को, चैत्र ७ पर अंशुमाली (सूर्य का एक नाम) को पूजित किया जाता है और इसी पर पौष तक कृत्य चला जाता है; वर्ष के अन्त में एक स्वर्ण रथ बनाया जाता है, जिसमें सात घोड़े जुते होते हैं, जिसके मध्य में सूर्य की एक स्वर्ण-प्रतिमा रहती है, जिसके चतुर्दिक सूर्य के १२ नामों के प्रतिनिधियों के रूप में बारह ब्राह्मण बने रहते हैं, बारह मासों में १२ ब्राह्मण पूजित होते हैं; रथ एवं एक गाय आचार्य को दान रूप में अर्पित; दरिद्र व्यक्ति ताम्र का रथ बना सकता है; कर्ता लम्बे क्षेत्रों का राजा हो जाता है; कृत्यकल्पतरु (व्रत० १०७-११२); हेमाद्रि (व्रत० १, ७५७-७६०, भविष्यपुराण, १।५०।१-४२ से उद्धरण); ने लिखा है कि यहाँ वरुण का अर्थ है सूर्य।

यमचतुर्थी : शनिवार एवं भरणी नक्षत्र में पड़ने वाली चतुर्थी पर यम-पूजा; सात जन्मों तक पापों से मुक्ति; हेमाद्रि (व्रत० १, ५२३-५२४); पुरुषार्थ-चिन्तामणि (९५, कूर्मपुराण से उद्धरण); यम भरणीनक्षत्र का स्वामी है।

यमतर्पण : तिलयुक्त जल की अंजलियों से यम के तीन नामों (यम, धर्मराज, अन्तक) को तीन बार तर्पण करना; एक वर्ष में किये गये पाप तुरत समाप्त हो जाते हैं।

यमदीपदान : कार्तिक कृष्ण १३ पर; रात्रि हो जाने पर घर के बाहर दीप-दान; इससे आकस्मिक मृत्यु से रक्षा होती है; पुरुषार्थ-चिन्तामणि (२३१); स्मृतिकौस्तुभ (३६८)।

यमद्वितीया : देखिए गत अध्याय—१०।

यमद्वितीयायात्रा : भुवनेश्वर की १४ यात्राओं में एक; गदाधरपद्धति (कालसार, १९३)।

यमव्रत : जो व्यक्ति (१) शुक्ल ५, ६, ८ या १४ को उपवास करता है तथा ब्रह्म-भोज कराता है, वह रोग-मुक्त हो जाता है और सुन्दर रूप पाता है; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३८९); हेमाद्रि (व्रत० २, ३७७, महाभारत से उद्धरण); (२) कृष्ण १४ को उपवास; यम के प्रत्येक नाम (यम, धर्मराज, मृत्यु, अन्तक, वैवस्वत, काल एवं सर्वभूतक्षय पर तिल-जल की सात अञ्जलियों का अर्पण; सभी पापों से मुक्ति; हेमाद्रि (व्रत० २, १५१, कूर्मपुराण से उद्धरण); (३) कार्तिक कृष्ण १४ पर स्नान एवं यम को तर्पण; (२) में दिये गये नामों के अनुसार जलांजलि का अर्पण, (यहाँ कुछ और नाम जुट गये हैं, यथा—चित्र, चित्रगुप्त); एक ब्राह्मण को तिलपूर्ण पात्र एवं सोने का दान; कर्ता मृत्यु पर दुःख नहीं उठाता; हेमाद्रि (व्रत० २, १५१); (४) यदि राजा यम की पूजा दशमी को हो तो रोगों का निवारण हो जाता है; हेमाद्रि (व्रत० १, ९८२, भविष्यपुराण से उद्धरण); (५) जब चतुर्थी रविवार को पड़ती है और वह भरणी-नक्षत्र से युक्त होती है तो यम के अनुग्रह की प्राप्ति के लिए भैंसे एवं सोने का दान करना चाहिए; अहल्याकामधेनु (३५७, कूर्मपुराण से उद्धरण)।

यमादर्शन-त्रयोदशी : मार्गशीर्ष की त्रयोदशी पर, जब कि यह रविवार एवं मंगलवार को छोड़ कर किसी भी शुभ दिन पर पड़ती है; पूर्वाह्न में १३ ब्राह्मण निमन्त्रित होते हैं, उन्हें देह में लगाने लिए तिल का तेल दिया जाता है, नहाने को पानी तथा खाने को भरपेट भोजन दिया जाता है; यह एक वर्ष तक प्रतिमास किया जाता है; ऐसा करने से कर्ता यम का मुख कभी भी नहीं देखता; हेमाद्रि (व्रत० २, ९-१४, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण); अहल्याकामधेनु (८६४)।

यमुनास्नान-तर्पण : यमुना के जल में खड़े हो कर विभिन्न नामों से यम का तिलयुक्त जल की तीन अंजलियों से तर्पण ; गदाधरपद्धति (कालसार, ६०१)।

यात्रा : (उत्सवपूर्ण जुलूस या उत्सव) देखिए दोलयात्रा एवं रथयात्रा। अति प्राचीन कालों से ही देवों की यात्राएँ प्रसिद्ध रही हैं। कालप्रियानाथ की यात्रा के अवसर पर भवभूतिकृत महावीरचरित का अभिनय किया गया था। देखिए रघुनन्दन द्वारा प्रणीत माना गया 'यात्रातत्त्व', जिसमें विष्णु की १२ यात्राओं का उल्लेख है। पुरुषोत्तम की यात्रा के अवसर पर मुरारिकृत अनर्घराघव का अभिनय किया गया था; देखिए एपि० इण्डिका (जिल्द १०, पृ० ७०) जहाँ महादेव पृथ्वीश्वर की देवद्रोणि (प्रतिमा-यात्रा) का उल्लेख है; कृत्यकल्पतरु (राजधर्म० पृ० १७८-१८१) में देवयात्रा-विधि वर्णित है; राजनीतिप्रकाश (४१६-४१९)। प्रति वर्ष वैसाख से आगे ६ मासों तक, पहली से १५ वीं तिथि तक विभिन्न देवों की पूजा होती है यथा—ब्रह्मा की, जो तिथियों के स्वामी कहे जाते हैं।

युगादितिथियाँ : नारदपुराण (१।५६।१४७-१४८); हेमाद्रि (काल० ६४९-६५५); तिथितत्त्व (१८७); निर्णयसिन्धु (९४-९५); पुरुषार्थचिन्तामणि (८६-८९); विष्णुपुराण (३।१४।१२-१३); भुजबल निबन्ध (पृ० ४२)।

युगादिव्रत : चारों युग, यथा—कृत, त्रेता, द्वापर एवं कलि क्रम से वैसाख शुक्ल ३, कार्तिक शुक्ल ९, भाद्रपद कृष्ण १३ एवं माघ अमावास्या पर आरम्भ हुए; इन तिथियों पर उपवास, दान, तप, जप एवं होम से साधारण फलों की अपेक्षा एक करोड़ गुना फल-प्राप्ति होती है; वैसाख शुक्ल ३ पर नारायण-लक्ष्मी की पूजा एवं लवण-धेनु का दान; कार्तिक शुक्ल ९ पर शिव-उमा की पूजा तथा तिल-धेनु का दान; भाद्रपद कृष्ण १३ पर पितरों को सम्मान; माघ अमावस्या पर ब्रह्मगायत्री की पूजा तथा नवनीत-धेनु का दान; सभी मन, वचन एवं कर्म से किये गये पाप प्रभावहीन हो जाते हैं; हेमाद्रि (व्रत० २, ५१४-५१७, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण)।

युगान्त्य-श्राद्ध : तीन दिनों तक सम्पादन; चारों युग क्रम से निम्नलिखित समयों पर अन्त को प्राप्त होते हैं; कृत का अन्त तब होता है जब सूर्य सिंह राशि में रहता है, त्रेता का अन्त वृश्चिक-संक्रान्ति में, द्वापर का वृष-संक्रान्ति में तथा कलि का कुम्भ-संक्रान्ति में; हेमाद्रि (काल० ६५६); कृत्यरत्नाकर (५४२-५४३); कृत्यकल्पतरु (नैयत्कालिक काण्ड, ३७२)।

युगावतारव्रत : भाद्रपद कृष्ण १३ पर जब द्वापर-युग का आरम्भ हुआ; शरीर पर गोमूत्र, गोबर, दूर्वा एवं मिट्टी का प्रयोग और गहरे जल या तालाब में स्नान; यह करने से गया-श्राद्ध का फल मिलता है; विष्णु-प्रतिमा का घी, दूध एवं शुद्ध जल से स्नान; विष्णुलोक की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० २, ५१८-५१९, भविष्यपुराण से उद्धरण)) कुछ लोगों का कथन है कि इस दिन त्रेतायुग का अभ्युदय हुआ था।

योगव्रत : विष्कम्भ व्यतीपात ऐसे योगों का उल्लेख आगे के प्रकरण 'काल' में किया जायगा; हेमाद्रि (व्रत० २, ७०७-७१७); स्मृतिकौस्तुभ (५६३-५६४); पुरुषार्थ-चिन्तामणि (५२)।

योगेश्वरव्रत या योगेश्वरद्वादशी : कार्तिक शुक्ल ११ को उपवास; चार जलपूर्ण घट, जिनके भीतर रत्न रखे गये हों, जिन पर चन्दन-लेप चिह्न लगे हों, जिनके चारों ओर श्वेत वस्त्र बँधा हो, जिनके ऊपर तिल एवं सोने से युक्त ताम्र-पात्र रखे गये हों, चार समुद्र समझे जाते हैं; घट के ढक्कन के बीच में हरि (जो योगेश्वर कहे जाते हैं) की प्रतिमा रखी जाती है और पूजित होती है; जागर,; दूसरे दिन चारों घट चार ब्राह्मणों को दे दिये जाते हैं, स्वर्ण-प्रतिमा किसी अन्य पाँचवें ब्राह्मण को दी जाती है; ब्राह्मणों को भोजन एवं दक्षिणा; इस व्रत को धरणीव्रत भी कहा जाता है; कर्ता पापमुक्त हो जाता है और स्वर्गलोक जाता है; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३३६-३३९); हेमाद्रि (व्रत० १, १०४१-१०४४, वराहपुराण ५०।४-२९ से उद्धरण); कृत्यरत्नाकर (४२७-४३०)।

रक्तसप्तमी : मार्गशीर्ष कृष्ण ७ पर; तिथिव्रत; लाल कमलों से सूर्य-पूजा या श्वेत पुष्पों एवं लाल चन्दन, वटक (बड़ा) एवं कृसर (चावल, मटर एवं मसालों से बना पक्वान्न) से सूर्य-प्रतिमा की पूजा; अन्त में लाल वस्त्रों के जोड़ का दान; (विष्णुधर्मोत्तरपुराण ३।१७०।१-३)।

रक्षापञ्चमी : भाद्र पद कृष्ण ५ पर; काले रंगों से सर्पों का चित्रांकन एवं पूजा; सर्प प्रसन्न होते हैं और वंशजों को कोई डर नहीं होता; गदाधरपद्धति (७८-७९)।

रक्षाबन्धन : श्रावण-पौर्णमासी पर; देखिए गत अध्याय---७।

रङ्गपञ्चमी : फाल्गुन कृष्ण ५ पर; देखिए गत अध्याय---१२।

रटन्ती-चतुर्दशी : माघ कृष्ण १४ पर; तिथि; यम; अरुणोदय के समय स्नान; १४ नामों के साथ यम को तर्पण (कृत्यतत्त्व ४५० में यम के ये नाम उल्लिखित हैं); वर्षक्रियाकौमुदी (४९७); कृत्यतत्त्व (४५७); गदाधरपद्धति (कालसार १५७-१५८); देखिए ऊपर प्रेत-चतुर्दशी।

रत्नषष्ठी : मृच्छकटिक (अंक ३) एवं चारुदत्त (अंक ३, पृ० ६३, भासलिखित) में उल्लिखित; वहाँ 'ननु षष्ठीम् उपवसामि' नामक शब्द आये हैं; किन्तु यह कहना कठिन है कि यह रत्नषष्ठी है या कोई और।

रत्नानि : (रत्न या बहुमूल्य वस्तुएँ) देखिए ऊपर 'पंचरत्न' जहाँ पाँच रत्नों के नाम आये हैं (सोना, हीरा, नीलम, पद्मराग एवं मोती); व्रतराज (१५, विष्णुधर्मोत्तरपुराण का उद्धरण) ने नौ रत्नों के नाम दिये हैं, यथा---मोती, सोना, वैदूर्य, पद्मराग, पुष्पराग, गोमेद (हिमालय से प्राप्त), नीलम, गारुत्मत एवं मूँगा।

रथनवमी : आश्विन शुक्ल ९ (कृत्यकल्पतरु के अनुसार) या कृष्ण ९ (हेमाद्रि के अनुसार); तिथि; दुर्गा; उस दिन उपवास, दुर्गा-पूजा; दर्पणों, चौरियों, वस्त्रों, छत्र, मालाओं आदि से सुसज्जित रथ पर या भैंसे पर बैठी दुर्गा

की स्वर्ण प्रतिमा; जन-मार्ग से रथको ले जाकर दुर्गा-मन्दिर तक पहुँचना, प्रकाश; नृत्य एवं संगीत से जागर; दूसरे दिन प्रातः प्रतिमा-स्नान तथा दुर्गा के लिए रथ का समर्पण; एक सुन्दर पलंग, बैल एवं शीघ्र ही बच्चा देने वाली गाय का दान; कृत्यकल्पतरु (व्रत० २९४-२९८) हेमाद्रि (व्रत० १, ९४६-९४८, भविष्यपुराण से उद्धरण)।

रथयात्रा : हेमाद्रि (व्रत० २, ४२०-४२४, देवीपुराण का उद्धरण) ने दुर्गा की रथयात्रा का वर्णन किया है; कृत्यरत्नाकर (२५९-२६४) ने वही वर्णन किसी अन्य स्रोत से दिया है; भविष्यपुराण (१।१८।३-१७) ने ब्रह्मा की रथयात्रा का वर्णन किया है; कृत्यरत्नाकर (४३८-४३९) एवं पूजाप्रकाश (२९३-३०७) ने उद्धरण दिया है; पुरुषोत्तम की १२ एवं भुवनेश्वर की १४ रथयात्राओं का वर्णन गदाधरपद्धति (कालसार, १८३-१९० एवं १९०-१९४) में हुआ है; हेमाद्रि (व्रत० २, ४२४-४४०, भविष्पुराण का उद्धरण) ने सूर्य के रथयात्रोत्सव का विस्तृत उल्लेख किया है और कहा है (पृ० ४२५) कि यह इन्द्रध्वजोत्सव के समान है तथा दोनों प्रति वर्ष विभिन्न देशों में शान्ति के लिए तथा लोगों के सुख एवं स्वास्थ्य के लिए किये जाते हैं तथा इनका आरम्भ मार्गशीर्ष शुक्ल से होना चाहिए। मथुरा में साम्बपुरदेव की रथयात्रा के लिए देखिए वाराहपुराण (१७७।५५-५६)। भविष्योत्तरपुराण (१३४।४०-७१) में रथ-निर्माण, जुलूस-व्यवस्था तथा रथ में प्रतिमा-स्थापन आदि का विस्तृत उल्लेख है।

रथसप्तमी : माघ शुक्ल ७ पर; तिथि; सूर्य; षष्ठी की रात्रि को संकल्प एवं नियमों का पालन; सप्तमी को उपवास; कर्ता को सोने या चाँदी का अश्व एवं सारथी से युक्त एक रथ बनवाना पड़ता है; सूर्य की स्तुति करनी होती है तथा मध्याह्न काल में रथ को वस्त्र से आच्छादित मण्डप में ले जाना होता है तथा कुंकुम, पुष्पों आदि से रथ की पूजा करनी पड़ती है; रथ में सूर्य की स्वर्ण प्रतिमा रखी जाती है; रथ एवं सारथी के साथ सूर्य-पूजा तथा मन्त्रोच्चारण और उसके साथ मनोकामना की अभिव्यक्ति; नृत्य एवं संगीत से जागर, कर्ता को पलकें नहीं बन्द करनी चाहिए अर्थात् वह उस रात्रि नहीं सोता; दूसरे दिन प्रातः स्नान, दान और गुरु को रथ का दान; हेमाद्रि (व्रत० १, ६५२-६५८, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण)। यहाँ कृष्ण ने युधिष्ठिर से काम्बोज के राजा यशोधर्मा की गाथा कही है कि किस प्रकार इस व्रत के संम्पादन से उसकी वृद्धावस्था में उत्पन्न पुत्र, जो सभी रोगों से विकल था, रोगमुक्त हो गया तथा चक्रवर्ती राजा हो गया। कालविवेक (१०१); हेमाद्रि (काल ६२४) ने मत्स्यपुराण का उद्धरण देते हुए कहा है कि मन्वन्तर के आरम्भ में इस तिथि पर सूर्य को रथ प्राप्त हुआ, अतः यह तिथि रथसप्तमी के नाम से विख्यात है। इसे महासप्तमी भी कहा जाता है (हेमाद्रि, काल०, ६२४)। देखिए तिथितत्त्व (३९); पुरुषार्थ चिन्तामणि (१०४-१०५); व्रतराज (२४९-२५३)। देखिए इण्डियन एण्टीक्वेरी (जिल्द ११, पृ० ११२), राष्ट्रकूट राजा दन्तिदुर्ग का सामनगढ़ दान-पत्र, शके सम्वत् ६७५ (७५३-५४ ई०) जहाँ 'माघमास-रथसप्तमीम्' आया है। रथसप्तमी-माहात्म्य के लिए देखिये भविष्यपुराण (१।५०)।

रथांगसप्तमी : माघ शुक्ल ५, ६ एवं ७ पर क्रम से एकभक्त, नक्त एवं उपवास; कुछ लोग ६ को उपवास एवं ७ को पारण की व्यवस्था देते हैं; इसे महासप्तमी भी कहा गया है (देखिए ऊपर), हेमाद्रि (व्रत० १, ६५९-६६०) एवं भविष्यपुराण (१।५१।१-१६) ने भी यही नाम दिया है।

रथोत्सव : आषाढ़ शुक्ल २ पर; जब पुष्य से संयुक्त हो तो कृष्ण, बलराम एवं सुभद्रा का रथोत्सव; पुष्य-नक्षत्र के न होने पर भी उत्सव किया जाना चाहिए; तिथितत्त्व (२९); निर्णयसिन्धु (१०७); स्मृतिकौस्तुभ (१३७)।

रम्भातृतीया : (१) ज्येष्ठ शुक्ल ३ पर; पूर्वाभिमुख हो कर पाँच अग्नियों (यथा—गार्हपत्य, दाक्षिणाग्नि, सभ्य एवं आहवनीय तथा ऊपर से सूर्य) के बीच में बैठना; ब्रह्मा एवं महाकाली, महालक्ष्मी, महामाया तथा सरस्वती के रूप में देवी की ओर मुख करना; ब्राह्मणों द्वारा सभी दिशाओं में होम; देवी-पूजा तथा देवी के

समक्ष सौभाग्याष्टक नामक आठ द्रव्यों को रखना; सायंकाल सुन्दर घर के लिए स्तुति के साथ रुद्राणी को सम्बोधित करना; इस के उपरान्त कर्ता (स्त्री या पुरुष) किसी ब्राह्मण को उसकी पत्नी के साथ सम्मान देता है और सूप में नैवेद्य रख कर सधवा नारियों को समर्पित करता है; हेमाद्रि (व्रत० १, ४२६-४३०, भविष्योत्तर-पुराण १८।१-३६ से उद्धरण); कालनिर्णय (१७६); तिथितत्त्व (३०-३१); यह व्रत विशेषतः नारियों के लिए है; (२) इसे यह नाम इसलिए मिला है कि रम्भा ने इसे सौभाग्य के लिए किया था; मार्गशीर्ष शुक्ल ३ पर; तिथि; पार्वती; एक वर्ष तक; विभिन्न नामों से प्रतिमास देवी-पूजा (मार्गशीर्ष में पार्वती, पौष में गिरिजा आदि); विभिन्न दान तथा विभिन्न पदार्थों का सेवन; हेमाद्रि (व्रत० १, पृ० ४३०-४३५, भविष्योत्तरपुराण २४।१-३६ से उद्धरण); गरुड़पुराण (१।१२०)। यदि तृतीया, द्वितीया एवं चतुर्थी से युक्त हो तो यह व्रत द्वितीया से युक्त तृतीया पर किया जाना चाहिए; कालनिर्णय (१७४); देखिए ऊपर तृतीयाव्रत'।

रम्भात्रिरात्र-व्रत : ज्येष्ठ शुक्ल १३ पर आरम्भ; तिथि; तीन दिनों तक; सर्वप्रथम स्नान के उपरान्त नारी को केले की जड़ में पर्याप्त जल ढारना चाहिए, उसे धागों से बाँधना चाहिए, उस केले की रजत-प्रतिमा तथा उसके फल सोने के होने चाहिए; फिर उसकी पूजा; १३ को नक्त, १४ को अयाचित तथा १५ को उपवास; उस वृक्ष को वर्ष भर जल देना चाहिए; उमा-शिव एवं रुक्मिणी-कृष्ण की पूजा; तीनों दिन क्रम से १३ १४ एवं १५ आहुतियों से होम; इस व्रत से पुत्रों की, सौन्दर्य की और सधवात्व आदि की प्राप्ति होती है; हेमाद्रि (व्रत० २, २८३-२८८, स्कन्दपुराण से उद्धरण); वर्षक्रियाकौमुदी (११); 'रम्भा' का अर्थ कदली (केला) भी है, अतः यह नाम है।

रविवारव्रत : रविवार को नक्त, आदित्यहृदय या महाश्वेता मन्त्र का जप; कामना-पूर्ति; वारव्रत; सूर्य देवता; स्मृतिकौस्तुभ (५५६-५५७); वर्षकृत्यदीपक (४२३-५३६) ने विस्तृत उल्लेख किया है।

रविव्रत : (१) माघ में दिन में तीन बार सूर्य-पूजा; एक मास में ही ६ मासों का पुण्य; हेमाद्रि (व्रत० २, ७९६); (२) माघ में रविवार को; एक वर्ष तक सभी रविवारों को सूर्य-पूजा; कुछ निश्चित वस्तुओं पर क्रम से रहना या कुछ निश्चित वस्तुओं को न खाना; वर्षक्रियाकौमुदी (३७-३८)।

रविषष्ठी : षष्ठी को उपवास एवं सप्तमी को सूर्य-पूजा; धन-प्राप्ति एवं रोग-मुक्ति; कालनिर्णय (१९०. लिंग पुराण से उद्धरण)

रसकल्याणिनी : माघ शुक्ल ३ से आरम्भ; तिथि; दुर्गा; दुर्गा-प्रतिमा का मधु एवं चन्दन-लेप से स्नान, सर्वप्रथम प्रतिमा के दक्षिण पक्ष की तथा उसके उपरान्त वाम पक्ष की पूजा; उसके अंगों को विभिन्न नामों से युक्त कर पाँव से सिर तक की पूजा; १२ विभिन्न नामों (यथा---कुमुदा, माधवी, गौरी आदि) से, माघ से आरम्भ कर बारह मासों में देवी पूजा; माघ से कार्तिक तक प्रत्येक मास में कर्ता १२ वस्तुओं, यथा---लवण, गुड़, तवराज (दुग्ध ?), मधु, पानक (मसालेदार रस), जीरक, दूध, दही, घी मार्जिका (रसाला या शिखरिणी), धान्यक, शक्कर में से क्रम से किसी एक का त्याग करता है; प्रत्येक मास के अन्त में किसी पात्र में इस मास में त्यागी हुई वस्तु को भर कर दान करना; वर्ष के अन्त में अँगूठे के बराबर गौरी की स्वर्ण-प्रतिमा का दान; पापों, चिन्ता एवं रोगों से मुक्ति; कृत्यकल्पतरु (६६-६९); हेमाद्रि (व्रत० २, ४६१-४६५, पद्मपुराण ५।२२।१०५-१३५ से उद्धरण); कृत्यरत्नाकर (४९९-५०३, मत्स्यपुराण ६३।१-२९ से उद्धरण)। 'रसाला' दही से बनता था और आज के महाराष्ट्र में प्रयुक्त 'श्री खण्ड' से मिलता-जुलता है, कृत्यरत्नाकर (५०१)।

राखी-पूर्णिमा : श्रावण शुक्ल पूर्णिमा पर; देखिए गत अध्याय---७, 'रक्षाबन्धन'।

राघव द्वादशी : ज्येष्ठ शुक्ल १२ पर; राम-लक्ष्मण की स्वर्ण-प्रतिमा का पूजन; पद से शिर तक विभिन्न नामों से अंगों की पूजा (यथा—'ओं नमस्त्रिविक्रमायेति कटिम्'); प्रातःकाल राम-लक्ष्मण की पूजा के उपरान्त घृतपूर्ण घट का दान; कर्ता के पाप कट जाते हैं और वह स्वर्गवास करता है, यदि उसे अन्य कामना की पूर्ति की अभिलाषा नहीं होती तो वह मोक्ष पद पा जाता है; कृत्यकल्पतरु (व्रत० १२७-१२९); हेमाद्रि (व्रत० १, १०३४-१०३५); कृत्यरत्नाकर (१९०-१९१); सभी ने वाराहपुराण (४५।१-१०) को उद्धृत किया है।

राजराजेश्वरव्रत : जब स्वाति नक्षत्र हो और बुधवार हो तो उस अष्टमी पर उपवास; पक्वान्नों एवं मिठाइयों के नैवेद्य से शिव-पूजा; शिव-प्रतिमा के समक्ष आचार्य को कण्ठहार, मुकुट, मेखला, कर्णफूल, दो अँगूठियाँ, एक हाथी या अश्व का दान; कर्ता अगणित वर्षों तक कुबेर की स्थिति प्राप्त कर लेता है, हेमाद्रि (व्रत० १, ८६४, कालोत्तरपुराण से उद्धरण); 'राजराज' का अर्थ है 'कुबेर' एवं शिव का मित्र तथा राजराजेश्वर का अर्थ शिव या कुबेर (यक्षपति) हो सकता है।

राज्ञीस्नापन : चैत्र शुक्ल ८ पर; चैत्र कृष्ण ५ से तीन दिनों तक कश्मीर की भूमि रजस्वला मानी जाती है; प्रत्येक घर में सधवा स्त्रियों द्वारा पुष्पों एवं चन्दन से धोयी जाती है और तब पुरुषों द्वारा सर्वौषधियों से युक्त जल से धोयी जाती है; तब लोग बाँसुरी-वादन सुनते हैं; पृथिवी सूर्य की रानी है; अतः यह नाम विख्यात हुआ है; कृत्यरत्नाकर (५३२-५३३, ब्रह्मपुराण से उद्धरण), नीलमतपुराण (पृ० ५४) ने इसे फाल्गुन कृष्ण ५ से ८ तक माना है (सम्भवतः अमान्त गणना से)।

राज्यद्वादशीव्रत : मार्गशीर्ष शुक्ल १० पर संकल्प; एकादशी को उपवास एवं विष्णु-पूजा; सर्वोत्तम भोजन से होम; द्विजों के लिए मन्त्र 'तद् विष्णोः परमम्' (ऋ० १।२२।२०) तथा शूद्रों के लिए 'ओं नमो भगवते वासुदेवाय' नामक १२ अक्षरों का मन्त्र; जागर, संगीत एवं नृत्य; एक वर्ष तक; सभी द्वादशियों पर मौन व्रत का कठोरता से पालन; कृष्ण द्वादशी पर भी ऐसी ही विधि केवल देव-पूजा लाल वस्त्र पहन कर तथा तेल के दीप (घृत के नहीं) के साथ; इस व्रत से कर्ता पहाड़ी की घाटी का राजा हो जाता है; तीन वर्षों में कर्ता मण्डलेश्वर (प्रान्तपति) हो जाता है तथा १२ वर्षों में राजा; हेमाद्रि (व्रत० १, १०६०-१०६३, विष्णुधर्मोत्तर-पुराण से उद्धरण)।

राज्यव्रत : ज्येष्ठ शुक्ल ३ पर वायु, सूर्य एवं चन्द्र की पूजा; प्रातःकाल किसी पवित्र स्थान पर वायु-पूजा, मध्याह्न में अग्नि में सूर्य-पूजा तथा सूर्यास्त पर जल में चन्द्र-पूजा; एक वर्ष; स्वर्ग-प्राप्ति; तीन वर्षों तक करने से कर्ता ५ सहस्र वर्षों तक स्वर्ग में रहता है; यदि १२ वर्षों तक यह व्रत किया जाय तो लाख वर्षों तक स्वर्ग की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० १, ४५७-५७९, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)।

राज्याप्तिदशमी : कार्तिक शुक्ल १० से आरम्भ; क्रतु, दक्ष आदि दस विश्वेदेवों के रूप में केशव-पूजा; पूजा कृत्य मण्डलों या सोने या चाँदी की प्रतिमाओं में होता है; वर्ष के अन्त में हिरण्य-दान; विष्णुलोक की प्राप्ति, उसके उपरान्त कर्ता एक राजा या ब्राह्मणों में श्रेष्ठ ब्राह्मण बनता है; हेमाद्रि (व्रत० १, ९६५-९६६, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)। १० विश्वेदेवों के नाम हैं—वसु, सत्य, क्रतु, दक्ष, काल, काम, धृति, कुरु, पुरूरवा एवं माद्रव।

राधाष्टमी : भाद्रपद की दोनों पक्षों की अष्टमियों पर; राधा का जन्म भाद्र शुक्ल ७ को हुआ था; अष्टमी पर राधा-पूजा से सभी महापातक कट जाते हैं; पद्मपुराण (३।४।४३, ३।७।२१-२३)।

रामचन्द्रदोलोत्सव : चैत्र शुक्ल ३ पर; इस दिन पालने (झूले) पर रामचन्द्र की प्रतिमा रखी जाती है और एक मास तक झुलायी जाती है, जो लोग यह झूला देखते हैं वे एक सहस्र पापों से मुक्त हो जाते हैं; स्मृति-कौस्तुभ (९१)।

रामनवमी या रामजयन्ती : देखिए गत अध्याय—४।

रामनामलेखनव्रत : इसका आरम्भ रामनवमी या और किसी दिन भी किया जा सकता है; एक लाख या एक कोटि बार रामनाम लिखना चाहिए; केवल एक रामनामलेखन से महापातक कट जाता है (एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्); १६ उपचारों से रामनाम-पूजा; व्रतराज (३३०-३३२)। रामनाम के साथ जादू-सा लग गया और राम के १०८ एवं एक सहस्र नाम विख्यात हो गये।

राशिव्रत : कार्तिक से आगे के मासों में प्रत्येक पौर्णमासी पर; कार्तिक-पूर्णिमा पर नक्त-विधि एवं स्वर्ण मेष (भेड़ा) का दान; मार्गशीर्ष पूर्णिमा पर राजा का दर्शन तथा एक जोड़ा (बैल) का दान तथा अन्त में एक दासी का दान; इस व्रत से ग्रहों के दुष्ट प्रभाव कट जाते हैं, सभी कामनाओं की प्राप्ति तथा सोमलोक में पहुँच; हेमाद्रि (व्रत० २, २३८-२३९, भविष्यपुराण से उद्धरण)।

रुक्मिण्यष्टमी : मार्गशीर्ष कृष्णाष्टमी पर; प्रथम वर्ष में कर्ता (स्त्री) को मिट्टी का एक द्वार वाला घर बना कर उसमें घर के सभी उपकरण, धान, घी आदि रख देना चाहिए और कृष्ण, रुक्मिणी, बलराम एवं उनकी पत्नी, प्रद्युम्न एवं उसकी पत्नी, अनिरुद्ध एवं उषा, देवकी एवं वसुदेव की प्रतिमाएँ बनानी चाहिये; इन प्रतिमाओं की पूजा; प्रातःकाल चन्द्र को अर्घ्य; दूसरे दिन प्रातःकाल वह घर किसी कुमारी को दे देना चाहिए; दूसरे तीसरे एवं चौथे वर्ष उस घर में अन्य अंश जोड़ने चाहिये और उन्हें कुमारियों को दान करना चाहिये; पाँचवें वर्ष में पाँच द्वार वाला घर, छठें वर्ष में ६ द्वार वाला घर किसी कुमारी को देना चाहिए; सातवें वर्ष में सात द्वारों का घर बना कर, उसे श्वेत रंग से रंग कर उसमें पलंग, खड़ाऊँ (पाद-त्राण), दर्पण, ओखली एवं मूसल, पात्र आदि रखना चाहिए तथा कृष्ण, रुक्मिणी एवं प्रद्युम्न की स्वर्ण-प्रतिमाओं की पूजा करनी चाहिए, उपवास एवं जागर करके दूसरे प्रातःकाल उस घर एवं एक गाय को ब्राह्मण को दान रूप में दे देना चाहिए, ब्राह्मण -पत्नी को भी दान देना चाहिए; इस व्रत के उपरान्त पुरुष कर्ता चिन्तामुक्त हो जाता है और स्त्री को कोई पुत्र-दुख नहीं होता; हेमाद्रि (व्रत० १, ८५३-८५५, स्कन्दपुराण से उद्धरण)।

रुद्रलक्षवर्ति-व्रत : शिव-लिंग के समक्ष गाय के घी में डुबायी हुई रूई की वर्तियों (बातियों) से युक्त एक लाख दीपों का अर्पण; व्रत के पूर्व १६ उपचारों से लिंग-पूजा; व्रत का आरम्भ कार्तिक या माघ में, वैसाख या श्रावण में होता है और उसी मास में समाप्त होता है; कर्ता को धन, पुत्र एवं कामनापूर्ति प्राप्त होती है; स्मृतिकौस्तुभ (४११-४१४)।

रुद्रव्रत : (१) ज्येष्ठ के दोनों पक्षों की अष्टमी एवं चतुर्दशी पर (अर्थात् चार दिनों में); पाँच अग्नियों से तपों का सम्पादन तथा चौथे दिन सायंकाल स्वर्ण गाय का दान; देवता, रुद्र; हेमाद्रि (व्रत० २, ३९४, पद्मपुराण से उद्धरण), कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४५०, यहाँ षष्ठी एवं त्रयोदशी तिथि दी गयी है); मत्स्यपुराण (१०१।७६); (२) एक वर्ष तक एकभक्त-विधि; अन्त में एक स्वर्ण बैल एवं तिलधेनु का दान; यह सम्वत्सर व्रत है; देवता, शंकर; इससे पापमोचन, चिन्ता-मुक्ति एवं शिव-लोक-प्राप्ति होती है; हेमाद्रि (व्रत० २, ८६६, पद्मपुराण से उद्धरण), कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४३९); मत्स्य (१०१।४); (३) कार्तिक शुक्ल ३ से प्रारम्भ; एक वर्ष तक गोमूत्र एवं नक्त-विधि से यावक का सेवन; सम्वत्सर-व्रत; गौरी एवं रुद्र; वर्ष के अन्त में गोदान; एक कल्प तक गौरी-लोक में वास; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४४५); मत्स्यपुराण (१०१।४२-५३)।

रामनवमी : मार्गशीर्ष ९ पर आरम्भ; तिथिव्रत; चण्डिका देवी; नवमी को उपवास या नक्त या एकभक्त; आटे का त्रिशूल बनाया जाता है, एक रजत कमल और स्वर्ण बीजकोष बना कर दुर्गा को समर्पित किया जाता है; दुर्गा सभी पापों को काट देती हैं; पौष एवं आगे के मासों में विभिन्न बनावटी पशुओं

विभिन्न पात्रों में रख कर (यथा---चार दाँतों का एक स्वर्ण हाथी स्वर्ण पात्र में, स्वर्ण मेष स्वर्ण पात्र में) स्वाहा को दिया जाता है; कर्ता अगणित वर्षों तक चन्द्रलोक में रह कर अन्त में एक सुन्दर राजा बनता है; कृत्यकल्पतरु (व्रत० २८८-२९४) हेमाद्रि (व्रत० १, ९३३-९३७, भविष्यपुराण से उद्धरण)। रूप का अर्थ है 'बनायी हुई वस्तुएँ या पशु से मिलती-जुलती आकृति'। चर्चित देवियाँ हैं दुर्गा की आकृतियाँ या माताओं की आकृतियाँ।

रूप संक्रान्ति : संक्रान्ति दिन पर कर्ता तैल-स्नान करता है, स्वर्ण पात्र में थोड़ा सोना के साथ घी रखता है और किसी ब्राह्मण को दे देता है; उस दिन एकभक्त रहता है; संक्रान्तिव्रत है; सहस्र अश्वमेध का फल, सौन्दर्य, दीर्घायु, स्वास्थ्य, धन एवं स्वर्ण की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० २, ७३४, स्कन्दपुराण से उद्धरण)।

रूपसत्र : फाल्गुन पूर्णिमा के उपरान्त कृष्णाष्टमी पर जब मूल-नक्षत्र हो तो व्रत का आरम्भ होता है; नक्षत्र, उसके स्वामी, वरुण, चन्द्र एवं विष्णु की पूजा; होम; गुरु सम्मान; दूसरे दिन उपवास; केशव पूजा; केशव के पाद से शिर तक विभिन्न अंगों पर विभिन्न नक्षत्रों का न्यास; चैत्र शुक्ल के अन्त में सत्र-समाप्ति; अन्त में पुष्पों, धूप आदि से विष्णु-पूजा; ऋ० (१।२२।२०) के मन्त्र से होम; गुरु को दान; ब्रह्म-भोज; स्वर्ग में वास तथा लौटने पर राजा बनना; हेमाद्रि (व्रत० २, ६७१-६७५, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण); देखिए बृहत्संहिता (१०४।६-१३) जहाँ यही व्रत चैत्र कृष्ण ८ को उपवास एवं नारायण तथा नक्षत्र की पूजा के साथ वर्णित है।

रूपावाप्ति : (१) पंचमी पर विश्वेदेवों की पूजा से स्वर्ग-प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० १, ५७४-५७५, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण); दस विश्वेदेवों के लिए देखिए ऊपर 'राज्याप्तिदशमी' एवं इस ग्रन्थ का मूल खण्ड ४, पृ० ४५७, टिप्पणी १०१८; (२) यह एक मासव्रत है; फाल्गुन पूर्णिमा की प्रथमा से चैत्र पूर्णिमा तक; शेषनाग के फण पर लेटे हुए केशव की प्रतिमा की पूजा; एकभक्त-विधि; पृथिवी पर शयन; तीन दिनों तक उपवास, उसके उपरान्त चैत्र पूर्णिमा पर पूजा; चाँदी एवं वस्त्रों का एक जोड़ा दान; इससे रूप (सौन्दर्य) की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० २, ७४४, विष्णुधर्मोत्तरपुराण, ३।२०२।१-५ से उद्धरण)।

रोगमुक्ति : स्कन्द, रुद्र एवं यम के सेवकों की पूजा से रोगमुक्ति मिलती है; हेमाद्रि (व्रत० १, ६२८, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)।

रोगहविधि : जब रविवार को पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्र हो तो सूर्य-प्रतिमा-पूजन; कर्ता रोग-मुक्त होता है और सूर्यलोक प्राप्त करता है; रात्रि में अर्क के पुष्पों से सूर्य-पूजा, अर्क के पुष्पों एवं पायस को खाना; रात्रि में पृथिवी पर सोना; सभी पापों से मुक्ति एवं सूर्यलोक-प्राप्ति; यह वारव्रत है; देवता सूर्य; कृत्यकल्पतरु (व्रत० २०-२१); हेमाद्रि (व्रत० २, ५२५-५२७, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण); कृत्यरत्नाकर (६००-६०१)

रोच : यह मासोपवास, ब्राह्मरोच, कालरोच ऐसे कतिपय व्रतों का नाम है; चैत्र शुक्ल १ पर प्रारम्भ; एक वर्ष तक; विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।२२२-२२३) ने इसका विवरण दिया है; अध्याय २२४ में नारियों के चंचल स्वभाव का उल्लेख है, किन्तु अन्त में निष्कर्ष है: 'नारियाँ पापों एवं विकारों की जड़ हैं तथा धर्म, अर्थ एवं काम की प्राप्ति के साधन भी हैं; उन पर विश्वास नहीं करना चाहिए, प्रत्युत रत्नों के समान उनकी रक्षा की जानी चाहिए (श्लोक, २५-२६)।

रोटक : श्रावण शुक्ल के प्रथम सोमवार पर आरम्भ; साढ़े तीन मासों के लिए; कार्तिक की चतुर्दशी पर उपवास तथा बिल्व दलों के साथ पूजा; पाँच रोटक (गेहूँ की रोटी जो लोहे के तवा या मिट्टी के थाल में पकायी जाती है) बनाये जाते हैं, एक नैवेद्य के लिए, दो ब्राह्मण एवं दो कर्ता के लिए; शिव-पूजा; पाँच वर्षों

तक; अन्त में सोने या चाँदी के दो रोटकों का दान; व्रतार्क (पाण्डुलिपि, ३० बी०-३२बी०); बिल्वरोटक-व्रत नाम भी है।

रोहिणीचन्द्र-शयन : मत्स्यपुराण (५७) ने इसका विस्तृत वर्णन किया है (श्लोक १-२८); पद्मपुराण (४।२४।१०१-१३०) में भी ये श्लोक पाये जाते हैं; यहाँ पर चन्द्र नाम के अन्तर्गत विष्णु की पूजा; जब पूर्णिमा पर सोमवार हो, या पूर्णिमा पर रोहिणी-नक्षत्र हो तो पंचगव्य एवं सरसों से स्नान करना चाहिए तथा 'आपायस्व' (ऋ० १।९१।१६, सोम को सम्बोधित) मन्त्र को १०८ बार कहना चाहिए तथा एक शूद्र केवल 'सोम को प्रणाम, विष्णु को प्रणाम' कहता है; पुष्पों एवं फलों से विष्णु-पूजा, सोम के नामों का वाचन तथा रोहिणी (सोम की प्रिय पत्नी) को सम्बोधन; कर्ता को गोमूत्र पीना चाहिए, भोजन करना चाहिए, किन्तु मांस नहीं खाना चाहिए; केवल २८ कौर खाने चाहिए और चन्द्र को विभिन्न पुष्प अर्पित करने चाहिए; एक वर्ष तक; अन्त में एक पलंग, रोहिणी तथा चन्द्र की स्वर्णिम प्रतिमाओं का दान; ऐसी प्रार्थना करनी चाहिए: 'हे कृष्ण, जिस प्रकार रोहिणी तुम्हें, जो कि सोम हो, त्याग कर नहीं भागती है इसी प्रकार मैं भी धन से पृथक् न किया जाऊँ'; इससे रूप, स्वास्थ्य, दीर्घायु एवं चन्द्रलोक की प्राप्ति होती है; कृत्यकल्पतरु (व्रतकाण्ड, ३७८-३८२, मत्स्यपुराण का उद्धरण); हेमाद्रि (व्रत० २, १७५-१७९, पद्मपुराण ५।२४।१०१-१३० से वे ही श्लोक); कृत्यकल्पतरु (व्रत) एवं हेमाद्रि (व्रत) ने इसे चन्द्ररोहिणीशयन कहा है। भविष्योत्तरपुराण (२०६। १-३०) ने भी इसे मत्स्यपुराण की भाँति उल्लिखित किया है।

रोहिणीद्वादशी : श्रावण कृष्ण ११ पर कर्ता (पुरुष या स्त्री) किसी तालाब या उसके समान किसी अन्य स्थान पर गोबर से एक मण्डल बनाता है तथा चन्द्र एवं रोहिणी की आकृति बना कर पूजता है, नैवेद्य अर्पण कर उसे किसी ब्राह्मण को दे देता है, इसके उपरान्त तालाब में प्रवेश करता है, चन्द्र एवं रोहिणी का ध्यान करता है, जल में ही पिसे हुए माष की १०० गोलियाँ, घी के साथ पाँच मोदक खाता है, बाहर निकलने पर किसी ब्राह्मण को भोजन एवं वस्त्र देता है; ऐसा प्रति वर्ष किया जाना चाहिए; हेमाद्रि (व्रत० १, १११३-१११४, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण)।

रोहिणीव्रत : एक नक्षत्र व्रत; पाँच रत्नों से जड़ी ताम्र या स्वर्णिम रोहिणी-प्रतिमा का निर्माण तथा दो वस्त्रों, पुष्पों, फलों एवं नैवेद्य से पूजा; उस दिन नक्त-विधि से भोजन; दूसरे दिन किसी विद्वान् गृहस्थ ब्राह्मण को प्रतिमा-दान; रोहिणी श्रीकृष्ण के जन्म के समय का नक्षत्र है; हेमाद्रि (व्रत० २, ५९८-५९९, स्कन्दपुराण से उद्धरण)।

रोहिणीस्नान : एक नक्षत्रव्रत; कर्ता एवं पुरोहित कृत्तिका पर उपवास करते हैं और रोहिणी पर कर्ता को पाँच घड़े जल से, जब वह दूध फेंकती वृक्ष-शाखाओं या पल्लवों, श्वेत पुष्पों, प्रियंगु एवं चन्दन-लेप से अलंकृत चावल-राशि पर खड़ा रहता है, नहलाया जाता है; विष्णु, चन्द्र, वरुण, रोहिणी एवं प्रजापति की पूजा; घी एवं सभी प्रकार के बीजों से उन सभी देवों को होम; मिट्टी, घोड़े के केश एवं खुर (टप) से बने तीन भागों में विभाजित एक सींग में एक बहुमूल्य पत्थर पहनना चाहिये; ऐसा करने से पुत्रों, धन, यश की प्राप्ति होती है हेमाद्रि (व्रत० २, ५९९-६००, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)।

रोहिण्याष्टमी : भाद्रपद कृष्णाष्टमी को, जब वह रोहिणी-नक्षत्र से युक्त होती है, जयन्ती कहा जाता है; जब अष्टमी अर्धरात्रि के पूर्व एवं उपरान्त एक कला तक बढ़ी रहती है तो वह अत्यन्त पवित्र काल माना जाता है और उसी समय भगवान् हरि का जन्म हुआ था; इस जयन्ती पर उपवास एवं हरि-पूजा से कर्ता के एक सौ पूर्व जीवनों के पाप कट जाते हैं; यह रोहिणीव्रत एक सौ एकादशीव्रतों से उत्तम है; राजमार्तण्ड (१२३१-१२५५); कृत्यरत्नाकर (२५८); वर्षक्रियाकौमुदी (२९८-३०४)।

रौद्रविनायकयाग : जब गुरुवार पर एकादशी एवं पुष्य-नक्षत्र हो या जब शनिवार रोहिणी से युक्त एकादशी में हो तो यह याग करना चाहिए; इससे पुत्रों एवं कल्याण की प्राप्ति होती है; हेमाद्रि (व्रत० २,५९१)।

लक्षनमस्कारव्रत-संकल्प : आषाढ़ शुक्ल ११ पर विष्णु को एक सौ सहस्र नमस्कार देना; कार्तिक पूर्णिमा को समाप्त; 'अतोदेवा' (ऋ० १।२२।१६-२१) के साथ विष्णु-प्रतिमा की पूजा; स्मृतिकौस्तुभ (४०६-४०७)।

लक्षवर्तिव्रत : कार्तिक, वैसाख एवं माघ में आरम्भ; वैसाख सर्वोत्तम; पूर्णिमा पर तीन मासों में समाप्त; प्रतिदिन एक सहस्र बातियों से विष्णु एवं लक्ष्मी, ब्रह्मा एवं सावित्री, शिव एवं उमा की आरती उतारना; स्मृतिकौस्तुभ (४१०-४११); व्रतार्क (पाण्डुलिपि ३९९-४०३ बी, वायुपुराण से उद्धरण)।

लक्षहोम : यह शान्ति है; देखिये शान्ति का प्रकरण; नृसिंहपुराण, अध्याय--३५; स्मृतिकौस्तुभ (४७५-४७९)।

लक्षणार्द्राव्रत : भाद्रपद कृष्ण ८ पर आरम्भ, जब कि आर्द्रा नक्षत्र हो; पंचामृत से स्नान करा कर, गन्ध, पुष्पों आदि से तथा मन्त्रों द्वारा जिनमें दोनों के नाम आये हों; शिव एवं उमा की पूजा; अर्घ्य, धूप, गेहूँ के बने खाद्यान्नों (जिन पर मत्स्य आदि की आकृतियाँ बनी रहती हैं) पाँच रसों (दही, दूध, घी, मधु एवं शक्कर) तथा मोदकों के नैवेद्य; स्वर्णिम प्रतिमाएँ एवं नैवेद्य की सामग्री किसी विद्वान् ब्राह्मण को दे दी जाती हैं; पापमोचन, सौन्दर्य, धन, दीर्घ आयु एवं यश की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० १, ८२६-८२९, मत्स्यपुराण से उद्धरण)।

लक्षेश्वरी-व्रत : देखिए कोटीश्वरीव्रत, ऊपर।

लक्ष्मीपूजन : दीवाली में; देखिए गत अध्याय---१०; वर्षक्रियाकौमुदी (४७२-४७६); तिथितत्त्व (१८६-१८७); निर्णयसिन्धु (२००)।

लक्ष्मीनारायणव्रत : फाल्गुन पूर्णिमा पर; तिथि; वर्ष भर प्रत्येक पूर्णिमा पर, वर्ष को ४ मासों के तीन भागों में बाँट कर; आषाढ़ से आगे चार मासों में श्रीधर एवं श्री के नामों का प्रयोग, कार्तिक को लेकर चार मासों में केशव एवं भूति के नामों का प्रयोग; रात्रि में प्रत्येक १५ पर चन्द्र को अर्घ्य; देह-शुद्धि के लिए प्रत्येक अवधि में विभिन्न पदार्थों का प्रयोग, यथा---पंचगव्य, कुश-जल, सूर्य-किरण से तप्त जल; हेमाद्रि (व्रत० २, ६६४-६६६, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)।

लक्ष्मीप्रदव्रत : हेमाद्रि (व्रत० २, ७६९-७७१) में यह कृच्छ्रव्रतों में परिगणित है; कार्तिक कृष्ण ७ से १० तक क्रम से दूध, बिल्व-दलों, कमलों एवं कमल के रेशों का सेवन तथा एकादशी पर उपवास; इन दिनों में केशव-पूजा; विष्णुलोक की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० २, ७७०)।

लक्ष्मीव्रत : (१) प्रत्येक पंचमी पर उपवास एवं लक्ष्मी-पूजा; एक वर्ष; अन्त में स्वर्णिम कमल एवं एक गाय का दान; प्रत्येक जीवन में धन-लाभ एवं विष्णुलोक की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० १, ५६८, यमपुराण से उद्धरण); कृत्यरत्नाकर (११८); (२) चैत्र शुक्ल ३ पर घी एवं भात खाना, ४ को घर के बाहर कमल वाले तालाब में स्नान तथा कमल में लक्ष्मी-पूजा; पंचमी को श्री के लिए लिखित स्तोत्र से कमलार्पण; पंचमी को स्वर्ण-दान; एक वर्ष तक; विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।१५४।१-१५ से उद्धरण)।

ललितकान्तादेवी व्रत : यह मंगल-चण्डिका ही है, देखिए ऊपर; तिथितत्त्व (४१) ने कालिकापुराण को उद्धृत करते हुए कहा है कि मंगल-चण्डिका ही ललितकान्तादेवी है, जिसके दो हाथ होते हैं, जो गोरी होती है, लाल कमल पर विराजमान रहती है।

ललिताव्रत : माघ शुक्ल ३ पर; दोपहर को तिल एवं आमलक से किसी नदी में स्नान; पुष्पों आदि से देवी-पूजा; ताम्रपत्र में जल, अक्षत एवं सोना रख कर एक ब्राह्मण के समक्ष रखा जाता है, जो मन्त्र के साथ कर्ता पर जल छिड़कता है; स्त्री सम्पादिका सोना का दान करती है, कुश डुबोये जल को पीती है, देवी-ध्यान में पृथिवी पर शयन करती रात्रि बिताती है; दूसरे दिन ब्राह्मणों एवं एक सधवा नारी का सम्मान; एक वर्ष तक, प्रत्येक मास देवी के १२ नामों में एक का प्रयोग (यथा—पहले मास में ईशानी, ८ वें में ललिता तथा १२ वें में गौरी), बारह मासों में शुक्ल ३ पर उपवास तथा १२ वस्तुओं में क्रम से एक का सेवन, यथा—कुश से पवित्र किया हुआ जल, दूध, घी आदि; अन्त में एक ब्राह्मण एवं उसकी पत्नी को सम्मान; सम्पादिका को पुत्रों, रूप, स्वास्थ्य एवं सधवापन की प्राप्ति होती है; हेमाद्रि (व्रत० १, ४१८-४२१, भविष्योत्तर पुराण से उद्धरण)। अग्निपुराण (१७८।१-२) ने ललिता-तृतीया का उल्लेख किया है और कहा है कि चैत्र शुक्ल ३ को गौरी शिव से विवाहित हुई थीं। यही बात मत्स्यपुराण (६०।१४-१५) में भी है; मत्स्यपुराण (६०।११) में आया है कि सती को ललिता कहा जाता है, क्योंकि वह सभी लोकों में सर्वोत्तम है और रूप में सब से बढ़कर है। ब्रह्माण्डपुराण के अन्त में ४४ अध्यायों में ललिता सम्प्रदाय का विवेचन है।

ललिताषष्ठी : विशेषतः नारियों के लिए; भाद्रपद ६ पर एक नवीन बाँस की फुफेली (पात्र) में किसी नदी का बालू एकत्र कर उससे पाँच पिण्ड बनाकर उस पर ललिता देवी की पूजा विभिन्न प्रकार के २८ या १०८ पुष्पों एवं विभिन्न खाद्य पदार्थों के नैवेद्य से की जाती है; उस दिन सखियों के साथ रात्रि में जागर; सप्तमी को सभी नैवेद्य किसी ब्राह्मण को अर्पित; कुमारियों को भोजन, ५ या १० ब्राह्मण गृहणियों को भोजन तथा 'ललिता मुझ पर प्रसन्न होवें' के साथ उनकी विदाई; हेमाद्रि (व्रत १, ६१७-६२०, भविष्योत्तरपुराण ४१।१-१८ से उद्धरण); व्रतरत्नाकर (२२०-२२१) का कथन है कि यह गुर्जर देश में अति प्रसिद्ध है।

ललितासप्तमी : व्रतकालविवेक (१३) में उल्लिखित; षष्ठी से युक्त सप्तमी को वरीयता प्राप्त है।

लवणदान : मार्गशीर्ष पूर्णिमा पर जब मृगशिरा-नक्षत्र होता है; चन्द्रोदय काल पर स्वर्णिम केन्द्रवाले एक पात्र में एक प्रस्थ भूमि से निकाले हुए लवण का किसी ब्राह्मण को दान; इससे रूप एवं सौभाग्य की प्राप्ति; विष्णुधर्मसूत्र (९०।१-२); स्मृतिकौस्तुभ (४३०) तथा पुरुषार्थ-चिन्तामणि (३०६)।

लवण-संक्रान्तिव्रत : संक्रान्ति दिन पर स्नान के उपरान्त कुंकुम से अष्टदल कमल एवं बीज कोष की आकृति बनायी जाती है; सूर्य के चित्र की पूजा; चित्र के समक्ष लवणपूर्ण पात्र एवं गुड़ रखा जाता है और पात्र दान में दे दिया जाता है; एक वर्ष तक; अन्त में सूर्य की स्वर्णिम प्रतिमा, एक गाय आदि का दान; यह संक्रान्तिव्रत है; हेमाद्रि (व्रत० २, ७३२-७३३, स्कन्दपुराण से उद्धरण)।

लावण्यगौरीव्रत : चैत्र शुक्ल ५ पर; तमिल लोगों द्वारा मनाया जाता है।

लवण्यव्रत : कार्तिक पूर्णिमा के उपरान्त प्रथमा से; किसी वस्त्र पर प्रद्युम्न का चित्र खींचकर या उसकी प्रतिमा की पूजा; नक्त-विधि; जब मार्गशीर्ष का आरम्भ हो तो तीन दिनों का उपवास; प्रद्युम्न-पूजा; घी से अग्नि में होम, लवण-युक्त भोजन ब्राह्मणों को; एक प्रस्थ लवण-चूर्ण, दो वस्त्र, सोना, पीतल-पात्र का दान; एक मास तक; यह मास-व्रत है; इससे रूप एवं स्वर्ग की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० २, ७८५, विष्णुधर्मोत्तरपुराण ३।२०३।१-७ उद्धरण)।

लावण्यावाप्तिव्रत : हेमाद्रि (व्रत० २, ७८५) ने यह नाम दिया है; देखिए ऊपर।

लिंगव्रत : कार्तिक शुक्ल १४ से आरम्भ; शिव-पूजा; नक्त-विधि से भोजन; चावल के आटे से एक रत्नि (केहुनी से बँधी मुष्टि तक की दूरी) लम्बा लिंग बनाना; लिंग पर एक प्रस्थ तिल डालना; मार्गशीर्ष शुक्ल १४ को

लिंग पर कुंकुम का छिड़काव; इसी प्रकार वर्ष भर, विभिन्न मासों में विभिन्न चूर्ण, धूप, नैवेद्य आदि; महापातकी भी रुद्रलोक पहुँच जाता है; हेमाद्रि (व्रत० २, ५०-५६, कालोत्तर से उद्धरण)। लिंग का निर्माण पवित्र भस्म, सूखे गोबर, बालू या स्फटिक से हो सकता है, सर्वोत्तम उस मिट्टी से जो उन पहाड़ियों से प्राप्त होती है, जहाँ से नर्मदा बहती है।

लिंगार्चनव्रत : कार्तिक शुक्ल १३ पर जब कि शनिवार हो; शिव के एक सौ नामों का जप; पंचामृत से लिंग-स्नान; प्रदोष के समय लिंग-रूप में शिव-पूजा; स्कन्दपुराण (१।१७।५९-६१) ने वर्णन किया है और सौ नाम दिये हैं।

लीलाव्रत : यह नीलव्रत ही है, देखिए।

लोकव्रत : चैत्र शुक्ल से प्रारम्भ; उस दिन से सात दिनों तक क्रम से गोमूत्र, गोबर, दूध, दही, घी, कुश डाला हुआ जल एवं उपवास का प्रयोग किया जाता है; महा व्याहृतियों (भूः, भुवः स्वः आदि) के साथ तिल-होम किया जाता है; अन्त में वस्त्र, पीतल, गौओं का दान होता है; कर्ता सम्राट् हो जाता है; हेमाद्रि (व्रत० २, ४६३, विष्णुधर्मोत्तरपुराण ३।१६२।१-७ से उद्धरण)।

लोहाभिसारिककृत्य : अन्य रूपान्तर हैं 'लोहाभिहारिक' एवं लौहाभिसारिक; आश्विन शुक्ल १ से ८ तक; विजयेच्छुक राजा को यह कृत्य करना चाहिए; निर्णयसिन्धु (१७८-१७९); स्मृतिकौस्तुभ (३३२-३३६); राजनीतिप्रकाश (४४४-४४६); समयमयूख (२८-३२); पुरुषचिन्तामणि (५९, ७०-७२)। दुर्गा की स्वर्णिम या रजत या मिट्टी की प्रतिमा का पूजन, इसी प्रकार राजकीय आयुधों एवं प्रतीकों की मन्त्रों से पूजा; एक कथा है कि लोह नामक एक राक्षस था, जो देवों द्वारा टुकड़ों में रूपान्तरित कर दिया गया, संसार में जो भी लोह (लोहा) एवं इस्पात है, वह सब उसी के अंगों के अंश हैं। 'लोहाभिसार' का अर्थ है लोहे के आयुधों (हथियारों अथवा अस्त्रों) पर चिह्न लगाना या उन्हें चमकाना ('लोहाभिहारोस्त्रभृतं राज्ञां नीराजनो विधिः'—अमरकोश)। जब कोई राजा आक्रमण के लिए प्रस्थान करता था तो उस पर पवित्र जल छिड़कने या दीपों की आरती करने को लोहाभिसारिक-कर्म कहा जाता था। उद्योगपर्व (१६०-९३) में हम पाते हैं : 'लोहाभिसारो निर्वृत्तः...'। नीलकण्ठ ने व्याख्या दी है कि इसमें हथियारों के समक्ष दीपों की आरती उतारना एवं देवताओं का आह्वान करना होता है।

लोहित्यस्नान : ब्रह्मपुत्र नदी में स्नान। देखिए 'ब्रह्मपुत्रस्नान', ऊपर।

वंजुलीव्रत : वंजुली आठ महती द्वादशियों में परिगणित है, देखिए गत अध्याय—५। वंजुली वह द्वादशी है जो सम्पूर्ण दिन (सूर्योदय से सूर्यास्त तक) रहती है और दूसरे दिन तक रहती है जिससे द्वादशी को उपवास करना सम्भव हो सके और दूसरी तिथि पर पारण हो सके, किन्तु द्वादशी पर ही; नारायण की स्वर्णिम प्रतिमा की पूजा; सहस्रों राजसूय यज्ञों के समान पुण्य की प्राप्ति; निर्णयसिन्धु (४८); स्मृतिकौस्तुभ (२५२-२५३)।

वटसावित्रिव्रत : देखिए अध्याय—४।

वत्सराधिपपूजा : (वर्ष के अधिपति की पूजा) चैत्र का वह दिन (जब वर्षारम्भ होता है) वर्ष के अधिपति को निश्चित करता है; देखिये गत अध्याय—४; स्मृतिकौस्तुभ (८७); पुरुषचिन्तामणि (५६)।

वत्सद्वादशी : कार्तिक कृष्ण १२ को ऐसा कहा जाता है; बछड़े सहित गाय को चन्दन-लेप से अलंकृत किया जाता है, उसे मालाओं से, खुरों के पास ताम्र पत्र में अर्घ्य से, माष से बनी वृत्ताकार रोटी से सम्मानित किया जाता है; उस दिन तेल से बने, बटुली में पकाये भोजन से तथा दूध, घी, दही एवं मक्खन से दूर रहा जाता है; समयमयूख (९१-९२)।

वरचतुर्थी : मार्गशीर्ष शुक्ल ४ से प्रारम्भ; तिथिव्रत; प्रतिमास गणेश-पूजन तथा उस दिन एकभक्त किन्तु क्षार एवं लवण का प्रयोग नहीं; चार वर्षों तक, किन्तु दूसरे वर्ष में नक्त, तीसरे में अयाचित एवं चौथे में उपवास; हेमाद्रि (व्रत० १, ५३०-३१), स्कन्दपुराण से उद्धरण); कृतरत्नाकर (५०४); कालविवेक (१९०); वर्ष-क्रियाकौमुदी (४९८)।

वरदचतुर्थी : माघ शुक्ल ४ पर; तिथिव्रत; ४ को वरद (अर्थात् विनायक) की पूजा तथा ५ को कुन्द पुष्पों से पूजा; समयप्रदीप (पाण्डुलिपि ४७ बी०); कृत्यरत्नाकर (५०४) एवं वर्षक्रियाकौमुदी (४९८) का कथन है कि वरचतुर्थी केवल चतुर्थी तक सीमित है तथा पंचमी को कुन्द पुष्पों से पूजा श्रीपंचमी कहलाती है और 'वट' का अर्थ है 'विनायक'।

वरदाचतुर्थी : माघ शुक्ल ४ पर; तिथि; गौरी देवता; विशेषतः नारियों के लिए; गदाधरपद्धति (कालसार ७७); हेमाद्रि (व्रत० १, ५३१) में गौरी चतुर्थी का उल्लेख है, जो यही है। निर्णयसिन्धु (१३३) के अनुसार भाद्रपद शुक्ल ४ वरदचतुर्थी है, किन्तु पुरुषार्थचिन्तामणि (९५) के अनुसार मार्गशीर्ष शुक्ल ४ को इस नाम से पुकारा जाता है।

वरनवमी : प्रत्येक नवमी पर ९ वर्षों तक केवल आटा पर जीविका निर्वाह किया जाता है; तिथिव्रत; देवी; सभी कामनाओं की पूर्ति; यदि कर्ता जीवन भर बिना अग्नि पर पकाये नवमी पर भोजन करे तो उसे इहलोक एवं परलोक में अनन्त फल प्राप्त होते हैं; कृत्यकल्पतरु (व्रत० २९६); हेमाद्रि (व्रत० १, ९३७, भविष्यपुराण से उद्धरण) ने इसे 'वरव्रत' नाम दिया है।

वरलक्ष्मीव्रत : श्रावण पूर्णिमा पर जब शुक्र पूर्व में स्थित रहता; घर के उत्तर पूर्व एक मण्डप का निर्माण, वहाँ कलश स्थापन जिस पर वरलक्ष्मी का आवाहन किया जाता है और श्रीसूक्त के साथ पूजा की जाती है; साम्राज्यलक्ष्मी-पीठिका (पृ० १४७-१४९)।

वरव्रत : (१) देखिए ऊपर वरनवमी; (२) सात दिनों तक उपवास करके किसी ब्राह्मण को घृतपूर्ण घट देने से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है; सम्वत्सरव्रत; ब्रह्मा, देवता; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४४९); मत्स्यपुराण (१०१।६८) ने इसे घृतव्रत कहा है; हेमाद्रि (व्रत० २, ८८६, पद्मपुराण से उद्धरण)।

वराटिकासप्तमी : किसी सप्तमी तिथि पर; कर्ता को केवल तीन वराटिकाओं (कौड़ियों) से क्रय किये हुए भोजन पर निर्वाह करना होता है, चाहे वह भोजन उसके लिए अनुचित ही क्यों न हो; सूर्य देवता; फल नहीं घोषित है; कृत्यकल्पतरु (व्रत० १८४); हेमाद्रि (व्रत० १, ७२६, भविष्यपुराण से उद्धरण)।

वराहद्वादशी : माघ शुक्ल १२ पर; तिथिव्रत; विष्णु के वराह रूप की पूजा; एकादशी पर संकल्प एवं पूजा; एक घट में, जिसमें सोने के टुकड़े या चाँदी या ताम्र के टुकड़े डाले रहते हैं तथा सभी प्रकार के बीज छोड़ दिये गये रहते हैं, वराह की एक स्वर्णिम प्रतिमा रख दी जाती है और पूजा की जाती है; पुष्पों के मण्डप में जागर; दूसरे दिन प्रतिमा किसी विद्वान् एवं चरित्रवान् ब्राह्मण को दे दी जाती है; सौभाग्य, धन, रूप-सौन्दर्य, आदर तथा पुत्रों की प्राप्ति होती है; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३१९-३२१); हेमाद्रि (व्रत० १, १०२७-१०२९), दोनों ने वराहपुराण (४१।१-१०) को उद्धृत किया है; गदाधरपद्धति (कालसार, १५१-१५२)।

वरुणव्रत : यदि कोई रात्रि भर पानी में खड़ा होकर दूसरे दिन प्रातः गोदान करता है तो वह वरुण लोक जाता है; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४५०, ५२ वाँ षष्ठि व्रत); हेमाद्रि (व्रत० २, ९०५, पद्मपुराण से उद्धरण); मत्स्यपुराण (१०१।७४; विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।१९५।१-३) में कुछ विभिन्न बातें हैं; भाद्रपद के आरम्भ से पूर्णिमा तक वरुण-पूजा; अन्त में छत्र, चप्पलों एवं दो वस्त्रों के साथ जलधेनु का दान। 'जलधेनु' शब्द अनु-

शासनपर्व (७१।४१) एवं मत्स्यपुराण (५३।१३) में भी प्रयुक्त हुआ है; देखिये इस ग्रन्थ का खण्ड २, पृ० ८८०।

वर्णव्रत : यह चतुर्मूर्तिव्रत है जो चैत्र शुक्ल से चार मासों तक चलता है; चैत्र, वैसाख, ज्येष्ठ एवं आषाढ़ में कर्ता उपवास करता है और क्रम से वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध को पूजता है तथा दान देता है. दान की वस्तुओं में कई प्रकार पाये जाते हैं, यथा—ब्राह्मण को यज्ञ की उपयोगी वस्तुएँ, क्षत्रिय को युद्धोपयोगी वैश्य को वाणिज्योपयोगी तथा शूद्र को श्रमोपयोगी वस्तुएँ दी जाती हैं; कर्ता को इन्द्रलोक प्राप्त होता है; हेमाद्रि (व्रत० २, ८२८, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)।

वर्धापनविधि : (जन्मतिथि कृत्य एवं उत्सव)। शिशु के विषय में प्रत्येक मास में जन्मतिथि पर; राजा के लिए प्रतिवर्ष किया जाता है; नील या कुंकुम से १६ देवियों (यथा—कुमुदा, माधवी, गौरी, रुद्राणी, पार्वती) के चित्र बनाये जाते हैं तथा एक वृत्त के बीच में सूर्य-चित्र बनाया जाता है, वैदिक मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है, ऊँचे संगीत से उत्सव मनाया जाता है, बच्चे को स्नान करा कर देवियों की पूजा की जाती है; सींक से बने पात्रों (छितनियों) में मूल्यवान् पदार्थ, भोजन-सामग्री, पुष्प, फल आदि रख कर प्रत्येक देवी के सम्मान में ब्राह्मणों एवं सधवा नारियों को 'कुमुदा आदि देवियाँ मेरे बच्चे को स्वास्थ्य, सुख एवं दीर्घायु दें' के साथ, दान के रूप में दे दिया जाता है। माता-पिता अपने सम्बन्धियों के साथ भोजन करते हैं; राजा के विषय में इन्द्र एवं लोकपालों को हविष्य दिया जाता है तथा वैदिक मन्त्र (यथा—ऋ० ६।४७।११, १०।१६१।४) पढ़े जाते हैं; हेमाद्रि (व्रत० २,८८९-८९२, अथर्वण-गोपथब्राह्मण एवं स्कन्दपुराण से उद्धरण)।

वर्षव्रत : चैत्र शुक्ल नवमी से आरम्भ; तिथिव्रत; हिमालय, हेमकूट, शृंगवान्, मेरु, मलयवान्, गन्धमादन नामक बड़े पर्वतों की पूजा; उस दिन उपवास; अन्त में जम्बूद्वीप की रजत-आकृति का दान; हेमाद्रि (व्रत० १, ९५९, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)। ब्रह्मपुराण (१८।१६), मत्स्यपुराण (११३।१०-१२) एवं वायुपुराण (१।८) में हिमालय, हेमकूट आदि को वर्षपर्वत की संज्ञा दी गयी है।

वल्लभोत्सव : महान् वैष्णव आचार्य वल्लभ के सम्मान में किया जाने वाला उत्सव; वल्लभ का जन्म सन् १४९७ ई० में माना जाता है; इन्होंने बहुत-से ग्रन्थ लिखे हैं और धर्म के प्रवृत्तिमार्गी पक्ष का समर्थन किया है और भागवत धर्म के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। यह उत्सव चैत्र कृष्ण एकादशी को होता है।

वसन्तपञ्चमी : माघ शुक्ल पंचमी पर; तिथिव्रत; विष्णु-पूजा; व्रतरत्नाकर (२२०)।

वसन्तोत्सव : वायुपुराण (६।१०-२१) में वसन्त के आगमन पर एक कवित्वमय विस्तृत विवरण उपस्थित किया गया है; मालविकाग्निमित्र एवं रत्नावली नामक नाटक इसी अवसर पर खेले गये थे, जैसा कि दोनों की प्रस्तावना में उद्घोषित हुआ है; प्रथम नाटक के तृतीय अंक में ऐसा चित्रित है कि इस उत्सव में लाल अशोक-पुष्प अपने प्रिय पात्रों के पास भेजे जाते हैं तथा उच्च कुल की पत्नियाँ अपने पतियों के साथ झूले पर बैठती हैं। निर्णयसिन्धु (२२९) ने इसकी तिथि चैत्र कृष्ण १ (पूर्णिमान्त गणना के अनुसार) मानी है, किन्तु पुरुषार्थ-चिन्तामणि (१००) ने निर्णयामृत के अनुसार इसे माघ शुक्ल पंचमी की तिथि पर रखा है। पारिजात-मंजरी-नाटिका का प्रथम अंक चैत्र पर्व में वसन्तोत्सव कहा गया है; एपिग्रैफिया इण्डिका (जिल्द ८, पृ० ९९)।

वसुन्धरादेवीव्रत : अश्वघोष-नन्दिमुख-अवदान में उल्लिखित; देखिये जे० आर० ए० एस्० (जिल्द ८, पृ० १३-१४)।

वसुव्रत : (१) आठ वसुओं की, जो वास्तव में, वासुदेव के ही रूप हैं, पूजा; चैत्र शुक्ल अष्टमी पर उपवास; एक वृत्त में खिंचे चित्र या प्रतिमाएँ; अन्त में गोदान; धन, अनाज एवं वसुलोक की प्राप्ति। आठ वसु ये हैं—धर,

ध्रुव, सोम, आपः, अनिल, अनल, प्रत्यूष एवं प्रभास। देखिये अनुशासनपर्व (१५०।१६-१७), मत्स्यपुराण (५।२१), ब्रह्माण्डपुराण (३।३।२१)। हेमाद्रि (व्रत० १, ८४८-८४९, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण); (२) पर्याप्त सोने के साथ गोदान, उस दिन केवल दुग्ध-सेवन; कर्ता सर्वोत्तम लक्ष्य की उपलब्धि करता है और पुनः जन्म नहीं लेता; हेमाद्रि (व्रत० २, ८८५, पद्मपुराण से उद्धरण)। इसमें गोदान की परमोच्च महत्ता है (इसे उभयतोमुखी कहा गया है। देखिये इस महाग्रन्थ का मूल (जिल्द २, पृ० ८७९)।

वस्तत्रिरात्र : देखिये 'बस्तत्रिरात्र' के अन्तर्गत।

वह्निव्रत : (१) अग्नि-पूजा से अग्निष्टोम का फल; हेमाद्रि (व्रत० १, ७९१, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण); (२) चैत्र की अमावास्या पर आरम्भ; तिथिव्रत; प्रति वर्ष अमावास्या पर अग्नि-पूजा एवं तिल से होम; अन्त में हिरण्य-दान; हेमाद्रि (व्रत० २, २५५-२५६); विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।१९०।१-३)।

वाणिज्यलाभव्रत : मूल-नक्षत्र एवं पूर्वाषाढ़ा पर उपवास; चार नवीन घड़ों के जल से, जिनमें शंख, मोती, लाल पौधों की जड़ें एवं सोना रखे गये हों; पूर्वाभिमुख हो स्नान किया जाता है, पुनः आँगन में विष्णु, वरुण एवं चन्द्र की पूजा की जाती है, इन देवों के सम्मान में घी का होम; नीले वस्त्रों, चन्दन, मदिरा, श्वेत पुष्पों का दान होता है; इससे वणिक् सफलता प्राप्त करता है और समुद्र-व्यापार एवं कृषि में असफल नहीं होता; हेमाद्रि (व्रत० २, ६४८-६४९, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)।

वामनजयन्ती : भाद्रपद शुक्ल १२ पर; इस तिथि पर मध्याह्न में विष्णु का वामन अवतार हुआ था, उस समय श्रवण-नक्षत्र था; उस दिन उपवास; सर्वपापमोचन; गदाधरपद्धति (कालसार, पृ० १४७-१४८); व्रतार्क (पाण्डुलिपि, २४४ ए से २४७ ए तक, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण)। देखिये भागवतपुराण (८, अध्याय-१७-२३)। अध्याय १८ (श्लोक ५-६) में ऐसा आया है कि वामन श्रावण मास की द्वादशी पर प्रकट हुए थे, जब कि श्रवण-नक्षत्र था, मुहूर्त अभिजित था तथा यह तिथि विजयाद्वादशी कही जाती है; हेमाद्रि (व्रत० १, पृ० ११३८-११४५, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण) का अधिकांश व्रतार्क में उद्धृत है।

वामनद्वादशी : चैत्र शुक्ल १२ पर; तिथिव्रत; विष्णु देवता; उस दिन उपवास; पाद से शिर तक पूजा; प्रत्येक अंग पर विभिन्न नाम (यथा—'वामनायेति वै पादम्'); श्वेत यज्ञोपवीत, छत्र, चप्पल एवं माला से युक्त वामन की स्वर्णिम प्रतिमा; दूसरे दिन प्रातः 'विष्णु वामन के रूप में प्रसन्न हों' के साथ प्रतिमा-दान, जिसके साथ मार्गशीर्ष मास से आरम्भ कर क्रम से १२ नामों का (यथा—केशव, नारायण आदि) उच्चारण; फल—पुत्रहीन को पुत्र, धन चाहने वाले को धन; वराहपुराण (४३।१-१६); कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३२३-३२५); हेमाद्रि (व्रत० १, १०३०-१०३२); वर्षक्रियाकौमुदी (३२०-३२१); निर्णयसिन्धु (१४०-१४१); स्मृतिकौस्तुभ (२४९-२५०)। कुछ ग्रन्थों के अनुसार वामन एकादशी को प्रकट हुए थे। इन मतों के लिए देखिये निर्णयसिन्धु (१४०)।

वायुव्रत : (१) वायु-पूजा; परमोच्च पद-प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० १, ७९१); (२) ज्येष्ठ शुक्ल १४ पर आरम्भ; तिथिव्रत; वायु देवता; एक वर्ष; प्रत्येक शुक्ल १४ पर उपवास; अन्त में दो वस्त्रों का दान; हेमाद्रि (व्रत० २, १५२, विष्णुधर्मोत्तरपुराण ३।१८५।१-३ से उद्धरण)।

वारव्रत : अग्निपुराण (अध्याय १९५); कृत्यकल्पतरु (व्रत ८-३४); दान सागर (पृ ५६८-५७०); हेमाद्रि (व्रत० २, ५२०-५९२); हेमाद्रि (काल० ५१७-५२०); कृत्यरत्नाकर (५९३-६१०); स्मृतिकौस्तुभ (५४९-५८८)। कुछ ग्रन्थ, यथा—व्रतार्क, रविवार, सोमवार एवं मंगलवार के व्रतों का ही उल्लेख करते हैं।

वारलक्ष्मीव्रत : श्रावण-पूर्णिमा के निकटतम किसी शुक्रवार या श्रावण शुक्ल १४ पर; वारव्रत; लक्ष्मी देवी; व्रतार्क (पाण्डुलिपि, ३५८ बी०—३६२ बी; भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण)।

वारिव्रत : एक मासव्रत; लगता है देवता ब्रह्मा हैं; चैत्र, ज्येष्ठ, आषाढ़ एवं माघ या पौष के चार मासों में, अयाचित-विधि; अन्त में वस्त्रों, तथा भोजन से आच्छादित घट तथा तिल एवं हिरण्य से युक्त पात्र का दान; ब्रह्मलोक की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० २, ८५७, पद्मपुराण से उद्धरण)।

वारुणी : चैत्र कृष्ण १३ को, जब वह शतभिषज नक्षत्र (जिसके देवता वरुण हैं) में पड़े तो उसे वारुणी कहते हैं, जो एक करोड़ सूर्य-ग्रहण के समान है; यदि यह इसके साथ शनिवार को पड़े तो वह महा-वारुणी कही जाती है; इन सब बातों के साथ यदि शुभ-योग पड़े तो इसे महा-महा-वारुणी कहा जाता है; वर्षक्रियाकौमुदी (५१८-५१९); कृत्यतत्त्व (४६३); स्मृतिकौस्तुभ (१०७); गदाधरपद्धति '(६११, स्कन्दपुराण से उद्धरण); कालतत्त्वविवेचन (१८९-१९०)।

वासुदेवद्वादशी : आषाढ़ शुक्ल १२ पर; तिथि; देवता, वासुदेव; वासुदेव के विभिन्न नामों एवं उनके व्यूहों के साथ पाद से शिर तक के सभी अंगों की पूजा; जलपात्र में रख कर तथा दो वस्त्रों से ढँक कर वासुदेव की स्वर्णिम प्रतिमा का पूजन तथा उसका दान; यह व्रत नारद द्वारा वसुदेव एवं देवकी को बताया गया था; कर्ता के पाप कट जाते हैं, उसे पुत्र की प्राप्ति होती है या नष्ट हुआ राज्य पुनः मिल जाता है; हेमाद्रि (व्रत० १, १०३६-१०३७, बहुत-से श्लोक वराहपुराण के अध्याय ४६ के हैं)।

विघ्न-विनायक-व्रत : फाल्गुन से चार मासों के लिए; अहल्याकामधेनु (पाण्डुलिपि, ३५६)।

विजय : (१) आश्विन शुक्ल १० पर जब सूर्यास्त के उपरान्त तारागण उदित हो रहे हों, यह समय सभी कृत्यों के लिए अत्यन्त शुभ माना जाता है; स्मृतिकौस्तुभ (३५३); (२) यह नाम दिन के ११ वें मुहूर्त का भी है जब कि दिन १५ मुहूर्तों में विभाजित किया जाय; स्मृतिकौस्तुभ (३५३)।

विजय-धूप : हेमाद्रि (व्रत २, ५१, भविष्यपुराण १।६८।३-४) में वर्णित।

विजयद्वादशी : (१) एकादशी पर संकल्प; श्रवण-नक्षत्र वाली द्वादशी पर उपवास; विष्णु की स्वर्णिम प्रतिमा का निर्माण, जो पीत वस्त्र से आच्छादित रहती है; अर्घ्य के साथ पूजा; रात्रि में जागरण; दूसरे दिन सूर्योदय के समय प्रतिमा का दान; श्रवण-युक्त द्वादशी, जब कि सूर्य सिंह राशि में हो तथा चन्द्र श्रवण में हो भाद्रपद को छोड़ अन्य समय सम्भव नहीं होती; हेमाद्रि (व्रत० १, ११३६-११३८, अग्निपुराण से उद्धरण); कृत्यरत्नाकर (२८७-२८८); (२) जैसा कि हेमाद्रि (व्रत० १, ११३८-११४०) में वर्णित; (३) फाल्गुन शुक्ल ११ या १२, जब कि वह पुष्य-नक्षत्र से युक्त हो, विजय की संज्ञा से विख्यात है; (४) भाद्रपद शुक्ल या कृष्ण ११ या १२, यदि बुधवार एवं श्रवण-नक्षत्र से युक्त हो तो विजय कहलाती है; शुक्ल के व्रत से स्वर्ग-प्राप्ति, कृष्ण के व्रत से पापमोचन; विष्णु देवता; हेमाद्रि (व्रत० १, ११५२-११५५, ब्रह्मवैवर्त से उद्धरण); कृत्यकल्पतरु (व्रत, ३४८-३५०, आदित्यपुराण से उद्धरण)।

विजयविधि : वारव्रत; रविवार को प्राजापत्य (रोहिणी) नक्षत्र से युक्त शुक्ल ७ पर; सूर्य देवता; कृत्यकल्पतरु (व्रत० १७-१८)।

विजयव्रत : इन्द्र के गज ऐरावत तथा की, मुख में लगे पट्टे के साथ तथा इन्द्र के अश्व उच्चैश्रवा की प्रतिमा; इससे विजय की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० १, ५७६, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)।

विजया : यह नाम कई तिथियों को प्राप्त है, यथा—शुक्ल ७ जो रविवार को पड़ती है भविष्योत्तरपुराण ४३।२; वर्षक्रियाकौमुदी ९; हेमाद्रि, काल, ६२५; पुरुषार्थचिन्तामणि १०५; और देखिये विजयविधि के अन्तर्गत; गरुड़पुराण (१।१३६।१-२) के अनुसार यदि द्वादशी या एकादशी श्रवण-नक्षत्र से युक्त हो तो उसे विजया कहते हैं; कृत्यकल्पतरु (व्रत०, ३४९); कृत्यरत्नाकर (२८७-२९१)। देखिये एपिग्रैफिया इण्डिका (३, ५३-

५६) एवं इण्डियन ऐण्टीक्वेरी (२५, पृ० ३४५); वर्षक्रियाकौमुदी (३६) में आया है कि जब विजया-सप्तमी में सूर्य हस्त नक्षत्र में हो तो उसे महा-महा कहते हैं; पुनर्वसु नक्षत्र से युक्त शुक्ल ११ विजया के नाम से घोषित है; हेमाद्रि (काल०, ६३३, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)।

विजयासप्तमी : (१) रविवार से युक्त शुक्ल ७ पर; तिथिव्रत; सूर्य, देवता; कृत्यकल्पतरु (व्रत० १२७-१२९) हेमाद्रि (व्रत० १, ६६३-६६४); दोनों भविष्योत्तरपुराण (४३।१-३०) को उद्धृत करते हैं; (२) माघ शुक्ल ७ पर; तिथि; सूर्य, देवता; उस दिन उपवास एवं सूर्य के एक सहस्र नामों का उच्चारण; हेमाद्रि (व्रत० १, पृ० ७०७-७१६) ने ये नाम दिये हैं; एक वर्ष तक; रोगों एवं पापों से मुक्ति; हेमाद्रि (व्रत० १, ७०५- ७१७); (३) गरुड़पुराण (१।१३०-७-८) ने एक अन्य प्रकार का व्रत दिया है जो सात सप्तमियों में किया जाता है; उस दिन उपवास गेहूँ, माष, यव (जौ), स्वस्तिक, पीतल, पत्थरों से पिसा भोजन, मधु, मैथुन, मांस, मदिरा, तेलयुक्त स्नान, अंजन एवं तिल के प्रयोग का त्याग।

विजयायज्ञसप्तमी : माघ शुक्ल ७ पर; तिथि; सूर्य, देवता, एक वर्ष तक; प्रतिमास में सूर्य का विभिन्न नाम प्रयुक्त; १२ ब्राह्मणों का सम्मान; अन्त में आचार्य को एक स्वर्णिम सूर्य-प्रतिमा का, स्वर्णिम रथ एवं सारथी के साथ दान; हेमाद्रि (व्रत० १, ७५७-७६०, भविष्यपुराण से उद्धरण)।

वितस्तापूजा : भाद्रपद के अन्त में शुक्ल १० से आगे ७ दिनों तक वितस्ता (झेलम) का दर्शन, उसमें स्नान, उसका जल ग्रहण, पूजा एवं ध्यान किया जाता है; वितस्ता सती (पार्वती) का अवतार है; वितस्ता एवं सिन्धु के संगम पर विशिष्ट पूजा; नदी के सम्मान में उत्सव, जिसमें अभिनेताओं एवं नर्तकों को सम्मानित किया जाता है; कृत्यरत्नाकर (२८६, ब्राह्मपुराण से उद्धरण)।

विद्याप्रतिपद्-व्रत : किसी मास की प्रथम तिथि पर; विद्या एवं धन के इच्छुक व्यक्ति को एक वर्गाकार आकृति में चावल से निर्मित विष्णु एवं लक्ष्मी की प्रतिमाओं की पूजा पूर्ण रूप से खिले कमलों (१००० या कुछ कम) दूध एवं पायस से करनी चाहिये; उनके पार्श्व में सरस्वती की भी पूजा होनी चाहिये, चन्द्र की पूजा भी की जाती है; गुरु-सम्मान; उस दिन उपवास; दूसरे दिन विष्णु-पूजा, आचार्य को स्वर्ण दान करके भोजन; हेमाद्रि (व्रत० १, ३३८-३४०, गरुड़पुराण से उद्धरण)।

विद्यावाप्तिव्रत : पौष पूर्णिमा के उपरान्त माघ की प्रथम तिथि से एक मास तक; तिल से हयग्रीव की पूजा; तिल से होम; प्रथम तीन दिनों तक उपवास; यह मासव्रत है; कर्ता विद्वान् हो जाता है; हेमाद्रि (व्रत० २, ७९६-७९७), विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३; २०७।१-५ मे उद्धरण)।

विद्याव्रत : किसी मास की द्वितीया पर श्वेत चावल से वर्गाकार आकृति खींच कर, उसके मध्य में अष्ट दल कमल बना कर, उसके बीजकोष पर कमलयुक्त लक्ष्मी की आकृति खींची जानी चाहिये, आठ शक्तियों (यथा—सरस्वती, रति, मैत्री, विद्या आदि) की आकृति बना कर कमल-दलों पर रखनी चाहिये, 'ओं सरस्वत्यै नमः' आदि के साथ शक्तियों को क्रमशः प्रणाम; चारों दिग्पालों एवं दिशा-कोणों के रक्षकों को आकृतियाँ बनायी जाती हैं; मण्डल में गुरु-रूप में चारों (व्यास, क्रतु, मनु, दक्ष), वसिष्ठ आदि को स्थापित किया जाता है; विभिन्न पुष्पों से इनकी पूजा की जाती है; श्रीसूक्त ('हिरण्यवर्णा हरिणाम्' से आरम्भ होने वाले खिलसूक्तों में एक), पुरुषसूक्त (ऋ० १०।९०) एवं विष्णु के स्तोत्र पढ़े जाते हैं; पुरोहितों को एक गाय, बैल एवं जलपूर्ण पात्र दिये जाते हैं; भुने हुए चावलों से युक्त पाँच पात्र (लाई से भरे पाँच कूंड) तिल, हल्दी-चूर्ण (स्त्री सम्पादिका द्वारा), सोना किसी गृहस्थ को दिया जाता है तथा भूखे लोगों को भोजन दिया जाता है; शिष्य गुरु से विद्यादान

करने के लिए प्रार्थना करता है और गुरु प्रतिमाओं के समक्ष वैसा करता है; हेमाद्रि (व्रत० १, ३८६-३८९, गरुड़-पुराण से उद्धरण)।

विधान-द्वादश--सप्तमी : चैत्र से आरम्भ कर १२ मासों की सप्तमी पर; विस्तृत विवेचन; कई नाम प्रसिद्ध हैं, यथा—मरिचसप्तमी, फलसप्तमी, अनोदना-सप्तमी; सभी में सूर्य देवता हैं; मन्त्र है 'ओं नमः सूर्याय'; हेमाद्रि (व्रत० १, ७९२-८०४, आदित्यपुराण से उद्धरण)।

विधान-सप्तमी : तिथि-व्रत; सूर्य देवता; माघ शुक्ल ७ पर आरम्भ; माघ से प्रारम्भ कर १२ मासों की सप्तमियों पर १२ वस्तुओं में केवल एक क्रम से ग्रहण किया जाता है, यथा—अर्क फूल का ऊपरी भाग; ताजा गोबर; मरिच, जल, फल, मूल (मूली), नक्त-विधि, उपवास, एकभक्त, दूध, केवल वायु-ग्रहण; घी; कालविवेक (४१९); वर्षक्रियाकौमुदी (३७-३८); तिथितत्त्व (३६-३७); कृत्यतत्त्व (४२९-४६०); वर्षक्रियाकौमुदी (३८) ने इसे रविव्रत (जिसका सम्पादन माघ के प्रथम रविवार से आरम्भ कर रविवार को किया जाता है) से विभिन्न माना है।

विनायकचतुर्थी : (१) देखिये ऊपर गणेश-चतुर्थी (गत अध्याय—८)। (२) चतुर्थी को कर्ता तिल का भोजन दान करता है और स्वयं रात्रि में तिल एवं जल ग्रहण करता है; दो वर्षों तक; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ७९, भविष्यपुराण १।२२।१-२ का उद्धरण); हेमाद्रि (व्रत० १, ५१९-५२०) ने इसे गणपति-चतुर्थी कहा है।

विनायकव्रत : फाल्गुन शुक्ल ४ पर आरम्भ; तिथि; गणेश, देवता; चार मासों तक; प्रत्येक शुक्ल ४ पर कर्ता नक्त करता है, तिल से होम करता है, तिल का दान करता है; अन्त में पाँचवें मास में गणेश की स्वर्णिम प्रतिमा को पायस से पूर्ण चार ताम्र पात्रों एवं तिलपूर्ण एक पात्र के साथ दान करता है; सभी बाधाओं से मुक्ति; भविष्योत्तरपुराण (३३।१-१३)।

विनायकस्नपन-चतुर्थी : भविष्योत्तरपुराण (३२।१-३०, याज्ञवल्क्यस्मृति १।२७१-२९४ के कतिपय श्लोक उद्धृत हैं) में; यह शान्ति है, न कि व्रत; इसका वर्णन शान्ति के विभाग में किया गया है।

विभूति-द्वादशी : कार्तिक, वैशाख, मार्गशीर्ष, फाल्गुन या आषाढ़ शुक्ल १० पर; नियमों के पालन का संकल्प; एकादशी पर उपवास, जनार्दन-प्रतिमा का पूजन; पाद से शिर तक विभिन्न अंगों की 'विभूतये नमः पादौ विकोशायेति जानुनी' आदि वचनों के साथ पूजा; विष्णु-प्रतिमा के समक्ष जलपूर्ण घट में स्वर्णिम मछली; रात्रि भर जागरण; दूसरे दिन प्रातः 'जिस प्रकार विष्णु अपनी महान् अभिव्यक्तियों से विमुक्त नहीं रहते, आप मुझे संसार की चिन्ताओं के पंक से मुक्त करें' नामक प्रार्थना के साथ स्वर्णिम प्रतिमा एवं घट का दान; कर्ता को प्रति मास क्रम से दशावतारों, दत्तात्रेय एवं व्यास की प्रतिमाओं का दान करना चाहिये और यह दान कृत्यद्वादशी पर एक नील कमल के साथ किया जाता है; बारह द्वादशियों की परिसमाप्ति के उपरान्त गुरु या आचार्य को एक लवणाचल, पलंग तथा उसके साथ के अन्य उपकरण, एक गाय, ग्राम (राजा या सामन्त द्वारा) या भूमि (ग्रामपति द्वारा) का दान तथा अन्य ब्राह्मणों को गायों एवं वस्त्रों का दान; यह विधि तीन वर्षों तक; पापों से मुक्ति, एक सौ पितरों की मुक्ति आदि; कृत्यकल्पतरु (व्रत०, ३६४-३६७); हेमाद्रि (व्रत० १, १०५७-१०६०) दोनों में मत्स्यपुराण (१००।१-३७) के उद्धरण; पद्मपुराण (५।२०।४-४२) के भी कुछ श्लोक उद्धृत हैं। लवणाचल-दान के लिए देखिये मत्स्यपुराण (८४।१-९)।

विरूपाक्षव्रत : पौष शुक्ल १४ पर; एक वर्ष तक शिव-पूजा; अन्त में सभी सामग्रियों एवं एक ऊँट का किसी ब्राह्मण को दान; राक्षसों एवं रोगों से मुक्ति एवं कामनाओं की पूर्ति; हेमाद्रि (व्रत० २, १५३, विष्णुधर्मोत्तरपुराण ३।१८६।१-३ से उद्धरण)।

विशोकद्वादशी : आश्विन शुक्ल १० को संकल्प : 'मैं एकादशी को उपवास तथा केशव-पूजा करूँगा और दूसरे दिन (द्वादशी को) भोजन करूँगा'; पाद से शिर तक केशव-पूजा; एक मण्डल का निर्माण, जिस पर चार कोणों वाली एक वेदी; वेदी पर एक सूप में विशोका (लक्ष्मी) की प्रतिमा-स्थापन और प्रार्थना 'विशोका चिन्ता दूर करे, धन एवं सफलता दे'। सभी रातों में कुश से शुद्ध किये हुए जल का प्रयोग, नृत्य एवं संगीत; ब्राह्मणों को जोड़ियों का सम्मान; प्रत्येक मास में यही विधि; अन्त में पलंग, गुड़, धेनु एवं रूप्य के साथ लक्ष्मी-प्रतिमा का दान; मत्स्यपुराण (८१) ने वर्णन किया है और (८२) गुड़धेनु को इस व्रत का एक अंग माना है। देखिये यह ग्रन्थ (खण्ड २, पृ० ८८०-८८१) जहाँ गुड़धेनु का वर्णन है। यहाँ संक्षेप में धेनुओं के दान पर प्रकाश डाला जा रहा है। मत्स्यपुराण (अध्याय ८२।१७-२२) ने दस धेनुओं के नाम दिये हैं, यथा— गुड़, घृत, तिल, जल, क्षीर, मधु, शर्करा, दधि, रस (अन्य जलीय पदार्थ) एवं गोधेनु (स्वयं गाय का दान)। जलीय धेनु पात्र में तथा अन्य राशि (एकत्र) में। कहीं-कहीं सुवर्णधेनु, नवनीत-धेनु, रत्नधेनु के नाम भी आये हैं। वराहपुराण (अध्याय ९९-११०) में बारह धेनुओं का उल्लेख है, जिनमें मत्स्यपुराण की घृत एवं गोधेनु छूटी हुई हैं और नवनीत, लवण, कार्पास (कपास) एवं धान्य जोड़ दी गयी हैं।

विशोकषष्ठी : माघ शुक्ल ५ पर काले तिल से स्नान तथा तिल एवं चावल से बना भोजन; षष्ठी पर स्वर्णिम कमल का निर्माण एवं सूर्य के रूप में करवीर पुष्पों तथा दो लाल वस्त्रों से पूजा तथा शोक-मुक्ति के लिए प्रार्थना; गोमूत्र पीना और शयन; सप्तमी को गुरु एवं ब्राह्मणों को दान, बिना तेल एवं नमक का भोजन-ग्रहण, मौन-ग्रहण तथा पुराण-ग्रन्थों का श्रवण; यह एक वर्ष तक दोनों पक्षों में किया जाता है; अन्त में माघ शुक्ल सप्तमी को स्वर्णिम कमल के साथ एक घट, उपकरणों से युक्त पलंग एवं एक कपिला गाय का दान; हेमाद्रि (व्रत० १, ६००-६०२, भविष्योत्तरपुराण ३८।१-७ से उद्धरण) कृत्यकल्पतरु (व्रत०, २११-२१२)।

विशोक-संक्रान्ति : जब अयन दिन या विषुव दिन पर व्यतिपातयोग हो तो कर्ता को तिलों से युक्त जल से स्नान करना चाहिये और एकभक्त रहना चाहिये; उसे पंचगव्य से सूर्य की स्वर्णिमप्रतिमा को नहलाना चाहिये, गन्ध, पुष्प आदि अर्पित करना चाहिये, दो लाल वस्त्रों से आवृत करना चाहिये तथा उसे ताम्र पात्र में स्थापित करना चाहिये; पाद से शिर तक विभिन्न नामों से सूर्य-प्रतिमा की पूजा करनी चाहिये; अर्घ्यर्पण, एक वर्ष; अन्त में सूर्य-पूजा, सूर्य को सम्बोधित मन्त्रों से होम; १२ कपिला गायों या दरिद्र होने पर एक गाय का दान; दीर्घायु, स्वास्थ्य एवं समृद्धि की प्राप्ति; यह संक्रान्ति-व्रत है; हेमाद्रि (व्रत० २ ७४२-७४३, स्कन्दपुराण से उद्धरण)।

विशोकसप्तमी : हेमाद्रि (व्रत० १, ७४६-७४७, भविष्यपुराण से उद्धरण, १३ श्लोक मत्स्यपुराण ७५।१-१२ पद्मपुराण ५।२१।२३५-२४८ के हैं)।

विश्वरूपव्रत : शुक्ल ८ या १४ पर जब यह रविवार एवं रेवती-नक्षत्र में पड़ती है; शिव, देवता; लिंग का महास्नान; कर्पूर, श्वेत कमल एवं अन्य आभूषण लिंग पर रखे जाते हैं, धूप के रूप में कर्पूर जलाया जाता है, घी एवं पायस का नैवेद्य; आचार्य को घोड़ा या गज का दान; कर्ता को पुत्र, राज्य, आनन्द, आदि की प्राप्ति, इसी से इस व्रत को विश्वरूप (अर्थात् सभी रूप वाला) कहा गया है; रात्रि में कुश-युक्त जल-ग्रहण एवं जागरण; हेमाद्रि (व्रत० १, ८६५-८६६, कालोत्तरपुराण से उद्धरण)।

विश्वव्रत : (१) प्रत्येक मास की दशमी पर एकभक्त; तिथिव्रत; एक वर्ष तक; अन्त में दस गायों तथा दस दिशाओं की स्वर्णिम या रजत प्रतिमाओं, एक दोना तिल के साथ, दान; कर्ता सम्राट् हो जाता है

और सभी पाप कट जाते हैं; कृत्यकल्पतरु (४५१); हेमाद्रि (व्रत० १, ९८३, पद्मपुराण से उद्धरण); मत्स्यपुराण (१०१।८३); (२) एकादशी को विश्वेदेवों की पूजा; कमल-दलों पर उनकी प्रतिमाएँ रखी जाती हैं; तिथिव्रत; देवता, विश्वेदेव; घृत की धार, समिधाओं, दही, दूध एवं मधु का अर्पण; हेमाद्रि (व्रत० १, ११४८, भविष्यपुराण से उद्धरण)। यह व्रत वैश्वानर-प्रतिपद की भाँति है।

विश्वेदेव-दशमी-पूजा : कार्तिक शुक्ल १० से प्रारम्भ; तिथि; विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।१७६।१) में दस विश्वेदेवों के नाम दिये गये हैं, जो केशव की अभिव्यक्तियाँ हैं; मण्डलों या प्रतिमा-रूपों में उनकी पूजा; एक वर्ष तक; अन्त में स्वर्ण-दान; विश्वेदेवलोक की प्राप्ति; विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।१७६।१-५)।

विष्टिव्रत या विष्टि-भद्रा : करणों का वर्णन 'काल' के अन्तर्गत किया गया है। दो प्रकार के हैं : चर (चलायमान) एवं स्थिर। चर करण सात हैं, जिनमें विष्टि भी परिगणित है। देखिये बृहत्संहिता (९९।१)। विष्टि एक तिथि का अर्धांश है। ज्योतिष के ग्रन्थों ने इसे कुरूप राक्षसी के रूप में माना है। विष्टि में ३० घटिकाएँ होती हैं, जो असमान रूप में उसके मुख, गला, हृदय, नाभि, कटि एवं पूंछ में वितरित की गयी हैं (क्रम से ५, १, ११, ४, ६ एवं ३ घटिकाएँ); हेमाद्रि (व्रत० २, ७१९-७२४, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण); कालनिर्णय (३३०), स्मृतिकौस्तुभ (५६५-५६६) ने इसे सूर्य की पुत्री, शनि की बहन माना है, उसका मुख गधे का है, उसके तीन पाँव हैं, आदि। विष्टि सामान्यतः नाशकारिणी है और उसे शुभ कृत्यों के लिए त्याज्य ठहराया गया है; किन्तु इसका काल शत्रुओं के नाश एवं विष देने के लिए उपयुक्त माना गया है (बृहत्संहिता ९९।४); विष्टि दिन पर उपवास; किन्तु यदि विष्टि रात्रि में हो तो दो दिनों तक एक भक्त रहना चाहिये; देवों एवं पितरों की पूजा के उपरान्त दर्भ घास से निर्मित विष्टि-प्रतिमा का पुष्पों आदि से पूजा; कृशर (चावल, मटर एवं मसाले से बनी खिचड़ी) का नैवेद्य; काले वस्त्र, काली गाय एवं काले कम्बल का दान; विष्टि एवं भद्रा का अर्थ एक ही है। हेमाद्रि (व्रत० २, ७१९-७२४); कालनिर्णय (३३०); स्मृतिकौस्तुभ (५६५-५६८)।

विष्णु : विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।१२३) ने व्यवस्था दी है कि न अवसरों पर कौन-से विष्णु नाम लिये जाने चाहिये, यथा—नदी पार करते समय (जब कि मत्स्य, कूर्म एवं वराह के नाम लिये जाते हैं) या जब ग्रह या नक्षत्र दुष्ट पड़ जायें या जब डाकुओं एवं व्याघ्रों आदि का डर हो (नृसिंह का स्मरण); इस पुराण (२।१२४) में चैत्र से आगे के मासों, या सप्ताहों, नक्षत्रों एवं तिथियों में कहे जाने वाले नामों की तालिका दी है; अध्याय—१२५ में तीर्थों एवं कुछ देशों में जाने के समय के नामों की सूची दी हुई है।

विष्णुत्रिमूर्तिव्रत : विष्णु के तीन रूप हैं, यथा—वायु, चन्द्र एवं सूर्य; ये तीनों रूप तीन लोकों की रक्षा करते हैं; वे मनुष्यों के शरीर के भीतर वात, पित्त एवं कफ के रूप में विराजमान रहते हैं, इस प्रकार विष्णु के तीन स्थूल रूप हैं; ज्येष्ठ शुक्ल ३ को उपवास कर के विष्णु-पूजा; प्रातः वायु-पूजा, मध्याह्न में अग्नि में जौ एवं तिल से होम तथा रात्रि में जल में चन्द्र-पूजा; वर्ष भर शुक्ल ३ पर पूजा; स्वर्ग-प्राप्ति; यदि तीन वर्षों तक किया जाये तो ५००० वर्षों तक स्वर्ग में स्थिति; विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।१३६।१-२६)

विष्णुत्रिरात्रव्रत : कार्तिक शुक्ल नवमी पर; हरि एवं तुलसी की स्वर्णिम प्रतिमा की तीन दिनों तक पूजा तथा तुलसी एवं हरि का विवाह-सम्पादन; निर्णयसिन्धु (२०४)।

विष्णुदेवकीव्रत : कार्तिक की प्रथम तिथि से प्रारम्भ; एक वर्ष तक; पंचगव्य से स्नान एवं उसका पान; बाण पुष्पों, चन्दन लेप एवं मधुर एवं पर्याप्त नैवेद्य से वासुदेव पूजा; एक मास तक हिंसा, असत्य, चौर्य, मांस एवं मधु का त्याग; विष्णु का अटल ध्यान; शास्त्र, यज्ञ या देवताओं की भर्त्सना न

करना; मौन रूप से प्रतिदिन नैवेद्य ग्रहण; मार्गशीर्ष, पौष एवं माघ में भी यही विधि, केवल पुष्पों, धूप एवं नैवेद्य में अन्तर; हेमाद्रि (व्रत० २, ६३६-६३८, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)। यह द्रष्टव्य है कि यह व्रत कृष्ण की माता देवकी को बताया गया था, जिसे उत्तम पुत्र की कामना थी; उसे वासुदेव के पूजन के लिए कहा गया; जो स्वयं उसके पुत्र थे।

विष्णु-पंचक : कार्तिक के अन्तिम पाँच दिनों को इस नाम से पुकारा जाता है; पाँच उपचारों, यथा गन्ध, पुष्प, धूप, दीप एवं नैवेद्य से पाँच दिनों तक हरि एवं राधा की पूजा; सभी पाप नष्ट हो जाते हैं और कर्ता स्वर्ग को प्राप्त करता है; पूजा की कई विधियाँ वर्णित हैं, यथा--एकादशी को पूजा, द्वादशी को गोमूत्र पीना, त्रयोदशी को दूध पीना, चतुर्दशी को दही खाना, पूर्णिमा को केशव पूजा तथा सायंकाल को पंचगव्य ग्रहण या तुलसी-दलों के साथ हरि-पूजा; पद्मपुराण (३।२३।१-३३)।

विष्णुपद या विष्णुपदी : वृषभ, सिंह, वृश्चिक एवं कुम्भ राशियों के नाम; कालनिर्णय (३३२); देखिये संक्रान्ति, गत अध्याय--११।

विष्णुपदव्रत : आषाढ़ में पूर्वाषाढ़-नक्षत्र पर आरम्भ; दूध या घी में स्थापित विष्णु के तीन पदों की पूजा; कर्ता केवल रात्रि में हविष्य भोजन करता है; श्रावण में उत्तराषाढ़ पर गोविन्द एवं विष्णु के तीन पदों की पूजा; दान एवं भोजन विभिन्न होते हैं; भाद्रपद में पूर्वाषाढ़ पर, फाल्गुन में पूर्वाफाल्गुनी पर, चैत्र में उत्तराफाल्गुनी पर उसी प्रकार की पूजा; कर्ता स्वास्थ्य, समृद्धि प्राप्त करता है और विष्णुलोक जाता है; हेमाद्रि (व्रत०, २, ६६५-६६७, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)।

विष्णुप्रबोध : कार्तिक में विष्णु का शयन से उठना; देखिये ऊपर गत अध्याय--५; हेमाद्रि (काल०, ९०३-९०४); कृत्यरत्नाकर (४२१-४२५)।

विष्णुप्राप्तिव्रत : द्वादशी पर उपवास, 'नमो नारायणाय' के साथ सूर्य को अर्घ्य; श्वेत पुष्पों एवं 'हे देवों में सर्वश्रेष्ठ, हे पृथिवी के आश्रय, मेरे इन पुष्पों को कृपापूर्वक ग्रहण कर के, हे भगवान् विष्णु मुझ पर प्रसन्न हो' नामक मन्त्र के साथ विष्णु-पूजा; व्यंजन, चावल या जौ या नीवार (जंगली चावल, तिन्नी आदि) के साथ श्यामक (सावाँ) या साठी (वह धान जो ६० दिनों में हो जाता है) पर निर्वाह करना; इसके उपरान्त पारण; विष्णु लोक की प्राप्ति; कृत्यकल्पतरु (व्रत, ३४३-३४४); हेमाद्रि (व्रत० १, १२०३-१२०४, भविष्यपुराण से)।

विष्णुलक्षवर्तिव्रत : रुई की धूल एवं घास के टुकड़ों को किसी शुभ तिथि एवं लग्न में झाड़ कर एवं स्वच्छ कर ४ अंगुल लम्बा धागा बनाना, इस प्रकार के चार धागों से एक बत्ती (वर्ति) बनती है; इस प्रकार की एक सौ सहस्र बत्तियों को घी में डुबो कर एक चाँदी या पीतल के पात्र में जला कर विष्णु-प्रतिमा के समक्ष रखना; उचित काल है कार्तिक, माघ या वैसाख, अन्तिम सर्वोत्तम है; प्रति दिन एक या दो सहस्र बत्तियाँ विष्णु के समक्ष घुमायी जाती हैं; उपर्युक्त मासों में किसी पूर्णिमा पर व्रत-समाप्ति; तब उद्यापन; आजकल यह दक्षिण में नारियों द्वारा ही सम्पन्न होता है; वर्षकृत्यदीपक (३८३-३९८)।

विष्णुव्रत : (१) एक कमल पर आकृति खींच कर विष्णु की पूजा; इस व्रत की विधि वैश्वानरव्रत के समान है; हेमाद्रि (व्रत० १, ११७७ भविष्यपुराण से उद्धरण); (२) एक वर्ष की १२ द्वादशियों पर उपवास एवं गाय, बछड़े एवं हिरण्य का दान; कर्ता को परम लक्ष्य की प्राप्ति होती है; हेमाद्रि (व्रत० १, १२०२, पद्मपुराण से उद्धरण); वर्षक्रियाकौमुदी (७०); (३) पौष शुक्ल द्वितीया पर प्रारम्भ; एक वर्ष तक ६ मासों को दो अवधियों में बाँट कर; कर्ता द्वितीया से चार दिनों तक क्रम से सरसों, तिल, बच (सुगन्धित जड़ वाला पौधा) एवं सर्वौषधियों

से युक्त जल से स्नान करता है; इन दिनों की पूजा में विष्णु के नाम हैं क्रम से कृष्ण, अच्युत, हृषीकेश एवं केशव; क्रम से शशी, चन्द्र, शशांक एवं निशापति के रूप में चार तिथियों पर चन्द्रमा को अर्घ्य, पूर्णचन्द्र तक कर्ता केवल एक बार भोजन करता है; पंचमी को दक्षिणा; यह व्रत प्राचीन राजाओं (दिलीप, दुष्यन्त), मुनियों (मरीचि, च्यवन) एवं उच्च कुलोत्पन्न नारियों (देवकी, सावित्री, सुभद्रा) द्वारा किया गया था; पाप-मुक्ति एवं इच्छा-पूर्ति; अग्निपुराण (१७७।१५-२०); हेमाद्रि (व्रत० २, ४५८-४६०, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण); (४) आषाढ़ से लेकर चार मासों तक प्रातःकाल स्नान; कार्तिक पूर्णिमा पर गोदान एवं ब्रह्म-भोज; विष्णुलोक की प्राप्ति; कृत्यकल्पतरु (व्रत०, ४४४, मत्स्यपुराण १०१।३७ से उद्धरण), कृत्यरत्नाकर (२१९); (५) चैत्र शुक्ल ४ पर उपवास, चार रूपों के दलों में हरि-पूजा, यथा—नर, नारायण, हय एवं हंस; या मित्र, वरुण, इन्द्र एवं विष्णु, जिनमें प्रथम दो साध्य होते हैं और अन्तिम दो सिद्ध; १२ वर्षों तक; कर्ता को मोक्ष-मार्ग की उपलब्धि और वह सर्वोच्च के बराबर हो जाता है; विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।१५१।१-८)।

विष्णुशंकरव्रत : इसमें उमामहेश्वरव्रत की विधि प्रयुक्त होती है। इसका सम्पादन भाद्रपद या आश्विन में मृगशिरा, आर्द्रा, पूर्वाफाल्गुनी, अनुराधा या ज्येष्ठा पर होता है; अन्तर यह है कि विष्णु के वस्त्र पीत होते हैं, विष्णु एवं शंकर के लिए दक्षिणा क्रम से सोना एवं मोती के रूप में होती है; हेमाद्रि (व्रत० २, ५९३-५९४, यहाँ इसे शंकर-नारायण-व्रत कहा गया है); कृत्यरत्नाकर (२८३-२८३); दोनों देवीपुराण को उद्धृत करते हैं।

विष्णुशयनोत्सव : आश्विन शुक्ल ११ या १२ पर; निर्णयसिन्धु (१०२), देखिए 'विष्णुशयन,' गत अध्याय ५; मलमास में नहीं होता।

विष्णुश्रृंखल-योग : जब द्वादशी एकादशी से युक्त हो एवं द्वादशी को श्रवण-नक्षत्र भी हो तो उसे विष्णुश्रृंखल कहा जाता है; उस दिन उपवास करने से पापमोचन हो जाता है और विष्णु से सायुज्य प्राप्त होता है; हेमाद्रि (व्रत० १, २९५); कालविवेक (४६४); पुरुषार्थचिन्तामणि (२१६-२१९)।

वीरप्रतिपदा : यह बलिप्रतिपदा ही है; देखिए गत अध्याय १०।

वीरव्रत : नवमी पर एकभक्त, कुमारियों को भोज, स्वर्णिम घट, दो वस्त्र एवं सोने का दान; एक वर्ष तक (प्रत्येक नवमी पर कुमारियों को भोज); प्रत्येक जीवन में सुन्दर रूप, शत्रु-विजय की प्राप्ति एवं शंकर की राजधानी में पहुँच; देवता शिव या उमा या दोनों; मत्स्यपुराण (१०१।२७-२८); कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४४३); हेमाद्रि (व्रत० १, ९५८, पद्मपुराण से उद्धरण), वर्षक्रियाकौमुदी (४१)।

वीरासन : एक आसन जो सभी कृच्छ्रों में प्रयुक्त होता है; हेमाद्रि (व्रत० १, ३२२, गरुड़पुराण से उद्धरण एवं व्रत० २, ९३२); यह अघमर्षणव्रत (शंखस्मृति १८।२) में भी प्रयुक्त होता है। सभी पाप नष्ट हो जाते हैं।

वृक्षोत्सवविधि : वृक्षारोपण को अति महत्ता प्राप्त थी। मत्स्यपुराण (५९।१-२०=पद्मपुराण ५।२४।१९२-२११) में वृक्ष के उत्सव की विधि दी हुई है, संक्षेप में यों है—वाटिका में वृक्षों पर सर्वौषधियुक्त जल छिड़का जाता है, उनके चारों ओर वस्त्र बाँधे जाते हैं; स्वर्णिम सुई से वृक्षों में छेद किया जाता है (कर्णवेधन के समान); स्वर्णिम शलाका से अंजन लगाया जाता है; वृक्षों के थालों पर ७ या ८ स्वर्णिम फल रखे जाते हैं; वृक्षों के तलों में सोने के टुकड़ों से युक्त घट रखे जाते हैं; इन्द्र, लोकपालों एवं वनस्पति को होम किया जाता है; वृक्षों के बीच से श्वेत वस्त्रों, स्वर्णाभूषणों से युक्त तथा सींगों के पोरों पर स्वर्ण से सुसज्जित गायें ले जायी जाती हैं; वृक्षों का स्वामी पुरोहितों को गोदान, स्वर्णिम सिकड़ियाँ, अँगूठियाँ, वस्त्र आदि देता है और चार दिनों तक दूध से ब्रह्म-भोज करता है; जौ, काले तिलों, सरसों एवं पलाश की समिधा से होम एवं चौथे दिन उत्सव; कर्ता की सभी कामनाएँ पूर्ण होती हैं। मत्स्यपुराण (१५४।५१२) में ऐसा आया है कि एक पुत्र दस गहरे जला

शयों के तथा एक वृक्ष का रोपण दस पुत्रों के समान है। वराहपुराण (१७२।३६-३७) में ऐसा कहा गया है कि एक अच्छा पुत्र कुल की रक्षा करता है, उसी प्रकार पुष्पों एवं फलों से लदा एक वृक्ष स्वामी को नरक में गिरने से बचाता है, जो व्यक्ति ५ आम्र वृक्ष लगाता है वह नरक में नहीं जाता; विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।२९७-१३) ने वृक्षों के विषय में कहा है--'एक व्यक्ति द्वारा पालित वृक्ष वही कार्य करता है जो एक पुत्र करता है, वह अपने पुष्पों से देवों को प्रसन्न करता है, छाया से यात्रियों को, अपने फलों से मनुष्यों को सन्तुष्ट करता है; वृक्ष के रोपने वाले को नरक में नहीं गिरना पड़ता।'

वृन्ताक-त्याग-विधि : इस व्रत द्वारा जीवन भर या एक वर्ष या ६ मासों तक या ३ मासों तक वृन्ताक फल का त्याग करना पड़ता है; एक रात्रि भर भरणी या मघा नक्षत्र में उपवास करना होता है; एक वेदी पर यम, काल, चित्रगुप्त, मृत्यु एवं प्रजापति का आवाहन किया जाता है और गंध आदि से पूजा की जाती है; तिल एवं घी से स्वाहा के साथ यम, नील, नीलकण्ठ, यमराज, चित्रगुप्त, वैवस्वत के लिए होम किया जाता है; १०८ आहुतियाँ; सोने का बना एक वृन्ताक, काली गाय एवं बैल, अँगूठियाँ, कर्णफूल, छत्र, चप्पल, काले वस्त्र का जोड़ा एवं काले कम्बल का दान; ब्राह्मणों को भोजन; जो वृन्ताक को जीवन भर छोड़ देता है वह विष्णुलोक जाता है; जो ऐसा वर्ष भर या केवल एक मास करता है, नरक में नहीं पड़ता; यह प्रकीर्णक व्रत है; हेमाद्रि (व्रत० २, ९०९-९१०, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण)।

वृन्दावनद्वादशी : कार्तिक शुक्ल १२ पर; यह तमिल प्रदेशों में प्रसिद्ध है।

वृषभव्रत : (१) शुक्ल ७ पर उपवास; श्वेत वस्त्रों से आवृत तथा घण्टी आदि आभूषणों से अलंकृत बैल का दान; तिथिव्रत; शिव देवता; शिव लोक की प्राप्ति और राजा होना; हेमाद्रि (व्रत० १, ८८२, भविष्योत्तर पुराण से उद्धरण); (२) ज्येष्ठ अमावास्या पर बैलों की पूजा; काठ के बने बैलों को (एक दिन पूर्व ही) घर में स्थापित करना और गंध आदि से पूजा; धर्म कहकर उनकी प्रार्थना करना। धर्म को बहुधा वृष कहा गया है (मनु ८।१६, शान्तिपर्व ९०।१५)।

वृषव्रत : (१) विष्णुव्रत के समान ही; (२) ऊपर वाला; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४४८, मत्स्यपुराण १०१।६४ का उद्धरण); कार्तिक पूर्णिमा पर साँड़ छोड़ना एवं नक्त-विधि; तिथिव्रत; देवता शिव; शिवलोक की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० २, २४२)।

वृषोत्सर्ग : (साँड़ छोड़ना) चैत्र या कार्तिक की पूर्णिमा पर, रेवती नक्षत्र में, ३ वर्ष के उपरान्त एक बार; बैल तीन वर्ष का होना चाहिए, उसके साथ तीन वर्ष वाली चार या आठ गायें; कृत्यरत्नाकर (४३२-४३३, ब्रह्मपुराण से उद्धरण)। बहुधा किसी की मृत्यु के ११ दिनों के उपरान्त वृषोत्सर्ग होता है। देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, पृ० ९८३-९९७ एवं खण्ड ४, पृ० ५३९-५४२; स्मृतिकौस्तुभ (३९०-४०५)।

वेदव्रत : यह चतुर्मूर्तिव्रत है; चैत्र से ऋग्वेद-पूजा; नक्तविधि; वेद-श्रवण; अन्त में (ज्येष्ठ-पूर्णिमा) दो वस्त्रों, सोना, गाय, घृतपूर्ण पीतल के पात्र का दान; आषाढ़, श्रावण एवं भाद्र में यजुर्वेद-व्रत; आश्विन, कार्तिक एवं मार्गशीर्ष में सामवेद-व्रत; पौष, माघ एवं फाल्गुन में सभी वेदों का व्रत; वास्तव में यह वेदों के आत्मा वासुदेव की पूजा है; १२ वर्षों तक; सभी दुःखों से मुक्ति, विष्णुलोक की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० २, ८२७-८२८, विष्णुधर्मोत्तरपुराण ३।१४१।१-७ से उद्धरण)।

वेश्याव्रत : हेमाद्रि (व्रत० २, पृ० ५४१-५४८, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण) ने इस व्रत का उल्लेख किया है। उसमें कृष्ण द्वारा युधिष्ठिर को सुनायी गयी विस्मयकारी घटना का वर्णन है। श्री कृष्ण **ने जब अपने पुत्र साम्ब के रूप से अपनी १६००० पत्नियों को आकृष्ट देखा तो उन्होंने उन्हें शाप दे दिया कि**

मेरी मृत्यु के उपरान्त तुम्हें दस्यु लोग चुरा ले जायेंगे। यह भी कथा है कि नारद ने उन अप्सराओं को, जिन्होंने उनको प्रणाम नहीं किया था शाप दिया था कि वे नारायण की पत्नियाँ बनेंगी और अन्त में डाकुओं द्वारा भगा ली जायेंगी और वेश्या हो जायेंगी। कथा का सारांश यह है कि उन्हें महलों एवं मन्दिरों में वेश्या-वृत्ति करने की मति दी गयी और कहा गया कि वे धनहीन पुरुष को प्यार न करेंगी, उनका प्रमुख उद्देश्य होगा धनार्जन, चाहे उनके पास आने वाला व्यक्ति सुन्दर हो या असुन्दर। यह आगे कहा गया है कि वे गायों, भूमि एवं सोने का दान (ब्राह्मणों को) करेंगी, हस्त या पुष्य या पुनर्वसु नक्षत्र से युक्त रविवार को सर्वौषधि-जल से स्नान करेंगी, कामदेव की पाद से सिर तक पूजा करेंगी; काम की पूजा विष्णु के रूप में होती है; वेदज्ञ ब्राह्मण का सम्मान किया जाता है; उसे एक प्रस्थ (पसर) चावल दिया जाता है; वेश्या अपने शरीर का दान (उस ब्राह्मण को) रविवार को करती है और यह वर्ष भर चलता है, १३वें मास में पलंग, स्वर्ण सिकड़ी (हार) एवं कामदेव की प्रतिमा का दान; यह व्रत सभी वेश्याओं के लिए है; यह वारव्रत है; देवता अनंग (कामदेव); कृत्यकल्पतरु (व्रत० २७-३१) में यह व्रत वर्णित है और इसे वेश्यादित्यवारानंगदान-व्रत कहा गया है।

वैकुण्ठचतुर्दशी : (१) कार्तिक शुक्ल १४ को वैकुण्ठ १४ कहा गया है; यदि विष्णु-पूजा करनी हो तो रात में की जानी चाहिए; निर्णयसिन्धु (२०६); (२) कार्तिक शुक्ल १४ पर हेमलम्ब वर्ष में अरुणोदय काल में ब्राह्म मुहूर्त में स्वयं विश्वेश्वर भगवान् ने वाराणसी में मणिकर्णिकाघाट पर स्नान किया था, पाशुपतव्रत किया था तथा उमा के साथ विश्वेश्वर की पूजा की थी एवं विश्वेश्वर की स्थापना की थी; निर्णयसिन्धु (२०६); स्मृतिकौस्तुभ (३८८-३८९); पुरुषार्थचिन्तामणि (२४६-२४७)।

वैतरणीव्रत : मार्गशीर्ष कृष्ण ११ को वैतरणी कहा जाता है; उस तिथि पर नियम-संकल्प लिया जाता है; रात्रि में एक काली गाय की, उसकी खुर से पूँछ तक पूजा की जाती है, उसके शरीर में चन्दन-लेप लगाया जाता है, चन्दन-लेप से सुगंधित जल से खुरों एवं सींगों को स्वच्छ किया जाता है और पौराणिक मन्त्रों से उसके अंगों की पूजा की जाती है; गाय द्वारा नरक की वैतरणी नदी पार की जाती है, अतः यह एकादशी, जिस दिन गाय का सम्मान होता है, इस नाम से पुकारी जाती है; यह व्रत चार मासों के ३-३ दलों में एक वर्ष तक चलता है, जिनमें पके चावल, पके जौ एवं पायस का नैवेद्य क्रम से मार्गशीर्ष से चार मासों, चैत्र से चार मासों तथा श्रावण से चार मासों में दिया जाता है; नैवेद्य का एक तिहाई भाग गाय, पुरोहित तथा कर्ता को दिया जाता है; वर्ष के अन्त में एक पलंग, एक गाय (स्वर्णिम), एक द्रोण लौह पुजारी को दिया जाता है; हेमाद्रि (व्रत० १, १११०-१११२, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण); व्रतार्क (पाण्डुलिपि, २३० ए—२३१ बी); पद्मपुराण (६६८।२८) ने विवरण दिया है किन्तु कहा है कि मार्गशीर्ष कृष्ण १२ ही वैतरणी है।

वैनायक-व्रत : प्रत्येक चतुर्थी पर एक वर्ष तक नक्त-विधि; अन्त में एक गज का दान; तिथिव्रत; देवता गणेश; शिवलोक की प्राप्ति; कृत्यकल्पतरु (व्रत, ४४८, मत्स्यपुराण १०१।६१ का उद्धरण); हेमाद्रि (व्रत० (१, ५३२, पद्मपुराण का उद्धरण)।

वैशाख-कृत्य : देखिए हेमाद्रि (व्रत०, २, ७४८-७५०); कृत्यरत्नाकर (१४५-१७९); वर्षक्रिया-कौमुदी (२४०-२५९); कृत्यतत्त्व (४२३-४३०); निर्णयसिन्धु (९०-९७); स्मृतिकौस्तुभ (१०८-११७); गदाधरपद्धति (कालसार १५-२३)। वैशाख के कुछ व्रत, यथा—अक्षय तृतीया, अलग से वर्णित हैं। कुछ छोटी-मोटी बातें संक्षेप में यहाँ दी जा रही हैं। इस मास में प्रातःकालीन स्नान, उन स्नानों के साथ जो सूर्य की तुला एवं मकर राशियों में किये जाते हैं, बहुत महत्वपूर्ण है; राजमार्तण्ड; कृत्यरत्नाकर (१४९), कालविवेक (४२३-

४२४); स्मृतिकौस्तुभ (१०६, १०८)। प्रातःस्नान का आरम्भ चैत्र पूर्णिमा या एकादशी या वैशाख पूर्णिमा से हो सकता है (निर्णयसिन्धु ९०); वैशाख-स्नान के माहात्म्य के लिए देखिए पद्मपुराण (४।८५। ४१-७०, वैशाख में प्रातःस्नान अश्वमेध के समान है); शुक्ल ७ को गंगा की पूजा, क्योंकि इसी दिन जह्नु ने, जिन्होंने क्रोध में आकर उसे पी लिया था, इसे अपने दाहिने कर्ण से मुक्त किया था, कृत्यकल्पतरु (नैयतकालिककाण्ड, ३८७); पद्मपुराण (४।८५।४१-४२); निर्णयसिन्धु (९५); स्मृतिकौस्तुभ (११२); वैशाख शुक्ल ७ को बुद्ध का जन्म हुआ था, उस तिथि से तीन दिनों तक उनकी प्रतिमा का पूजन होना चाहिए, विशेषतः जब पुष्य नक्षत्र हो; कृत्यकल्पतरु (नैयतकालिक ३८८); कृत्यरत्नाकर (१६०)। शुक्ल ८ पर अपराजिता नामक दुर्गा की प्रतिमा को कर्पूर एवं जटामांसी से युक्त जल से स्नान कराकर पूजा तथा स्वयं आम्ररस से स्नान करना; निर्णयामृत (५६); स्मृतिकौस्तुभ (११३); वैशाख पूर्णिमा पर ब्रह्मा ने काले एवं श्वेत तिल उत्पन्न किये थे, अतः उनसे युक्त जल से स्नान करना चाहिए, उन्हें अग्नि में अर्पित करना चाहिए, तिल एवं मधु का दान करना चाहिए; कृत्यकल्पतरु (नैयत० ३८८); हेमाद्रि (व्रत० २, १६७-१७१); कृत्यरत्नाकर (१६३-१६४); स्मृतिकौस्तुभ (११५-११६); निर्णयसिन्धु (९७)। श्रीलंका (सीलोन) में वैशाख-पूजा का आरम्भ 'दुत्तगामिनी (लगभग १००-७७ ई० पू०) के अन्तर्गत हुआ; देखिए वालपोल राहुल कृत 'बुद्धिज्म इन सीलोन', पृ० ८० (कोलम्बो, १९५६)।

वैश्वानर-व्रत : (१) प्रथम तिथि को अग्नि-पूजा तथा अग्नि में घी एवं सभी प्रकार के अन्न का होम; प्रथम तिथि के स्वामी अग्नि को एक कमल के मध्य में बनाना चाहिए; प्रमुख मन्त्र हैं 'ओम् अग्नये नमः' (पूजा में) तथा 'ओम् अग्नये स्वाहा' (होम में); होम के लिए घृतमिश्रित अन्न, घृतधारा, समिधा आदि; हेमाद्रि (व्रत० १, ३५४-३५५, भविष्यपुराण से उद्धरण); (२) वर्षा ऋतु से आरम्भ कर चारों ऋतुओं में ब्राह्मण को समिधा का दान तथा अन्त में घृतधेनु का दान; यह व्रत पापमोचन के लिए है; ऋतुव्रत है; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४४७); हेमाद्रि (व्रत० २, ३६०, पद्मपुराण से उद्धरण)।

वैष्णवव्रत : इसमें व्यक्ति आषाढ़ से आरम्भ कर चार मासों तक प्रतिदिन प्रातः स्नान करता है; अन्त में ब्रह्मभोज, गोदान एवं घृतपूर्ण घट का दान; मासव्रत; देवता विष्णु; हेमाद्रि (व्रत० २, ८१८, पद्मपुराण से उद्धरण)।

व्यतीपातव्रत : व्यतीपात २७ योगों (विष्कम्भ, प्रीति आदि) में एक है; भुजबल० (पृ० ३७, श्लोक १३६-१३८) ने इसकी व्याख्या कई प्रकार से की है, वर्षक्रियाकौमुदी (२४२)। इस विषय में देखिए आगे का अध्याय 'काल'। हेमाद्रि (व्रत० २, ७०८-७१७)। व्यतीपात दिन पर एक बड़ी नदी में पंचगव्य के साथ नहाना चाहिए; एक स्वर्णिम कमल पर १८ हाथों वाले व्यतीपात की स्वर्णिम प्रतिमा रखी जानी चाहिए, उसकी पूजा गन्ध आदि से होनी चाहिए; उस दिन उपवास; एक वर्ष तक; १३वें व्यतीपात पर उद्यापन; घी, दूध, तिल तथा दूध गिराने वाले वृक्षों की समिधाओं से 'व्यतीपाताय स्वाहा' के साथ सौ आहुतियाँ, व्यतीपात सूर्य एवं चन्द्र का पुत्र माना जाता है। देखिए इण्डियन एण्टीक्वेरी (जिल्द २३, पृ० ११७, संख्या २७ शिलालेख, शक संवत् ११९९, १२७७ ई०), जहाँ व्यतीपात-पुण्य का उल्लेख है, और देखिए वही, जिल्द २०, पृ० २९२-२९३, जहाँ व्यतीपात के कई अर्थ दिये गये हैं।

व्यास-पूजा : आषाढ़-पूर्णिमा पर; विशेषतः संन्यासियों द्वारा; स्मृतिकौस्तुभ (१४४-१४५); पुरुषार्थचिन्तामणि (२८४); तमिल देश में यह ज्येष्ठ शुक्ल १५ (मिथुन) पर की जाती है।

व्याहृतिव्रत : चैत्र शुक्ल १ से आरम्भ; किसी बड़ी नदी में स्नान के उपरान्त सात दिनों तक गोमूत्र, गोबर, दूध, दही, घृत, कुशयुक्त जल का क्रम से पान एवं अन्त में (सातवें दिन) उपवास; प्रति दिन महाव्या-

हृतियों (भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः एवं सत्यम्) के साथ तिल से होम; एक वर्ष तक प्रतिमास; अन्त में दक्षिणा, नवीन वस्त्र, सोना, पीतल के पात्र, दुधारू गाय का दान; कर्ता सम्राट् हो जाता है; विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।१६२।१-७)। व्याहृतियों एवं महाव्याहृतियों के लिए देखिए इस महाग्रन्थ का मूल खण्ड २, पृ० ३०१, टिप्पणी ७१३।

व्योमव्रत : श्वेत चन्दनलेप से अँगूठे भर का व्योम बनाकर सूर्य के समक्ष रख देना चाहिए; करवीर पुष्पों से सूर्य-पूजा; प्रतिमा के पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर क्रम से कुंकुम, अगुरु, श्वेत चन्दन एवं चतुःसम एवं मध्य में लाल चन्दन रखना चाहिए; मन्त्र यह है 'खखोल्काय नमः'; देवता सूर्य; हेमाद्रि (व्रत० २, ९०४-५, भविष्यपुराण से उद्धरण)।

व्योमषष्ठी : व्योम (आकाश) में सूर्य का (प्रतिमा का नहीं) एवं व्योम का पूजन; एक प्रस्थ वाले पात्र में घी एवं मधु, एक प्रस्थ तिल एवं तीन प्रस्थ चावल का सूर्य को अर्पण; तिथि के साथ सूर्य-पूजा; सूर्यलोक प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० १, ६१६-६१७, भविष्यपुराण से उद्धरण)।

व्रतराजतृतीयाव्रत : तृतीया तिथि को कपड़े के दो टुकड़ों पर रोचना, कर्पूर एवं नील से उमा एवं शिव की प्रतिमाएँ खींचकर स्वर्ण-कण्ठहार एवं रत्नों से दो पौराणिक मन्त्रों के साथ पृथक् रूप से सम्बोधित करके उनकी पूजा; होम; इस व्रत के सम्पादन से पति, पुत्र, भ्राता से वियोग नहीं होता; विशेषतः स्त्रियों के लिए; हेमाद्रि (व्रत० १, ४८४-४८५, देवीपुराण से उद्धरण)।

व्रतषष्टि : मत्स्यपुराण (अध्याय १०१) एवं पद्मपुराण (५।२०।४३-१४४) ने ६० व्रतों का (अधिकांश समान शब्दों में) उल्लेख किया है, जिनका कृत्यकल्पतरु (व्रत० पृ० ४३९-४५१) में विवरण उपस्थित किया गया है।

शक्रध्वजमहोत्सव : देखिए ऊपर 'इन्द्रध्वजोत्थानोत्सव', विस्तृत विवरण के लिए देखिए विष्णुधर्मोत्तर पुराण (२।१५४-१५७)। भोजकृत सरस्वतीकण्ठाभरण (साहित्य-शास्त्र के ग्रन्थ) के ५।९५ में शक्रार्चा उत्सव का उल्लेख हुआ है।

शक्रव्रत : (१) आश्विन शुक्ल ५ से; हेमाद्रि (व्रत० १, १२०४; (२) आश्विन पूर्णिमा पर उपवास, इन्द्र, उनकी पत्नी शची, ऐरावत, वज्र, मातुलिंग (मातलि?) की गन्ध आदि से पूजा; एक वर्ष तक; अन्त में हिरण्य-दान; इन्द्र-लोक की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० २, २३७, विष्णुधर्मोत्तरपुराण ३।१९६।१-३ मे उद्धरण); (३) खुले अवकाश में भोजन; एक वर्ष तक; अन्त में गोदान; शक्र-लोक की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० २, ८६६, पद्मपुराण से उद्धरण)।

शंकरनारायणव्रत : देखिए ऊपर 'विष्णु-शंकरव्रत'; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४१६-४१७); हेमाद्रि (व्रत० २, ६९३-६९४, देवीपुराण से उद्धरण)।

शंकरार्कव्रत : रविवार को पड़ने वाली अष्टमी पर; शंकर की दाहिनी आँख में स्थित सूर्य की पूजा; अर्ध-चन्द्र की आकृति में कुंकुम एवं लाल चन्दन से एक वृत्त बनाकर उसमें स्वर्ण से जड़ित एक माणिक रखना, जिसे शंकर की आँख कहा जायगा; तिथिव्रत; देवता शंकर की आँख के रूप में अर्क (सूर्य); यदि माणिक न हो तो सोना ही प्रयुक्त होना चाहिए।

शंकराचार्यजयन्ती : दक्षिण भारत मे चैत्र शुक्ल ५ पर, किन्तु महाराष्ट्र में वैशाख शुक्ल १० पर।

शतभिषास्नान : धनिष्ठा नक्षत्र में कर्ता एवं पुरोहित दोनों का उपवास; भद्रासन पर बैठकर कर्ता द्वारा शंख एवं मोतियों से युक्त सौ घड़ों से स्नान करना, उसके उपरान्त नवीन वस्त्र धारण करके केशव, वरुण,

चन्द्र, शतभिषा नक्षत्र (जिसके देवता वरुण हैं) की गन्ध आदि से पूजा; आचार्य को पेय पदार्थों, गाय, घट एवं सोने का दान तथा ब्राह्मणों को दक्षिणा; कर्ता को शमी, शाल्मली एवं बाँस के पत्रों के अग्र भागों के तीन आवरणों से आच्छादित एक रत्न धारण करना चाहिए; सभी रोगों से मुक्ति; नक्षत्र-व्रत; देवता विष्णु एवं वरुण; हेमाद्रि (व्रत० २, ६५३-५४, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)।

शत्रुनाशनव्रत : कुंकुम, श्वेत पुष्प, गुग्गुल धूप, घृतदीप एवं लाल वस्त्र से वासुदेव की पूजा; नक्षत्रव्रत; इससे शत्रुओं का नाश; हेमाद्रि (व्रत० २, ५९७, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)।

शनिप्रदोषव्रत : कार्तिक मास से आगे रविवार को पड़ने वाली त्रयोदशी पर; एक वर्ष तक; सन्तति के लिए; शिव-पूजा; सूर्यास्त के उपरान्त भोजन-ग्रहण; स्मृतिकौस्तुभ (४०-४१); पुरुषार्थचिन्तामणि (२२५-२२९); व्रतार्क (२६५ ए-२६९ बी)।

शनिवारव्रत : श्रावण के प्रत्येक शनिवार को शनि की लौहप्रतिमा को पंचामृत से स्नान कराना, पुष्पों, फलों आदि का दान एवं शनि के नामों का उच्चारण, यथा—कोणस्थ, पिंगल, बभ्रु, कृष्ण, रौद्र, अन्तक, यम, सौरि (सूर्य का पुत्र), शनैश्चर, मन्द (शनि की मन्द गति का द्योतक); श्रावण के चार शनिवारों के नैवेद्य हैं—चावल एवं उर्द एक साथ पकाया हुआ, पायस, अम्बिली (चावल के आटे एवं मक्खन वाले दूध से बनी लप्सी) एवं पूरिका (गेहूँ की रोटी); स्मृतिकौस्तुभ (५५५-५६), इसमें स्कन्दपुराण से उद्धृत शनैश्चर का स्तोत्र है।

शनिव्रत : शनिवार को तेल से स्नान तथा किसी ब्राह्मण को तैल-दान; काले पुष्पों से शनि-पूजा; एक वर्ष तक; अन्त में तेल-युक्त लोहे या मिट्टी के आधार में शनि की लौहप्रतिमा का काले वस्त्रों के एक जोड़े के साथ दान; ब्राह्मण के लिए मंत्र है 'शन्नो देवीरभिष्टये' तथा अन्य वर्णों के लिए पौराणिक मन्त्र हैं जो शनि को (जहाँ कोण नाम आया है, जो सम्भवतः यूनानी शब्द है) स्तुति के लिए बने हैं; इस व्रत से शनि से उत्पन्न सभी कष्ट कट जाते हैं, हेमाद्रि (व्रत० २, ५८०-५८६, भविष्योत्तर० से उद्धृत); स्मृतिकौ० (५५५)।

शमीपूजन : शमी वृक्ष की पूजा; देखिए विजयादशमी, गत अध्याय १०; स्मृतिकौस्तुभ (३५५)।

शम्भुव्रत : जो व्यक्ति एक वर्ष तक भैंस के दूध से बने घी के दो सहस्र पलों को अग्नि में होम करता है वह नन्दी की स्थिति पा लेता है, संवत्सरव्रत; देवता शिव; हेमाद्रि (व्रत० २, ८६६-८६७, पद्मपुराण से उद्धरण)।

शयन : विष्णु एवं अन्य देवी-देवताओं का शयन; देखिए गत अध्याय ५; हेमाद्रि (काल० (८९७-९१५); कालविवेक (२६५-२७३)।

शय्यादान : पलंग का दान; यह कई व्रतों में होता है, यथा—मासोपवास व्रत, शर्करा-सप्तमी आदि में; स्मृतिकौस्तुभ (४१७-४१८)।

शर्करासप्तमी : चैत्र शुक्ल ७ पर प्रातःकाल तिलयुक्त जल से स्नान; एक वेदी पर कुंकुम से कमल एवं बीज-कोष बनाना और उस पर 'नमः सवित्रे' के साथ धूप एवं पुष्पों का अर्पण; एक घट का स्थापन जिसमें एक हिरण्य-खण्ड डाल दिया जाता है, जिसके ढक्कन पर गुड़ रखा रहता है; पौराणिक मन्त्र से पूजन; पंचगव्य ग्रहण; घट के पास पृथिवी पर लेटना और धीरे-धीरे सौर मन्त्र (ऋ० १।५०) का पाठ ; अष्टमी को सभी उपर्युक्त पदार्थों का दान तथा शर्करा, घी, पायस से ब्रह्म-भोज और स्वयं बिना नमक एवं तैल का भोजन; एक वर्ष तक प्रत्येक मास में यही विधि; वर्ष के अन्त में उपकरण-युक्त पलंग, शर्करा, सोना, गाय एवं गृह (यदि सम्भव हो सके) तथा १ से १००० तक के निष्कों से बने एक स्वर्णिम कमल का दान होना चाहिए; जब सूर्य अमृत पीने लगे तो कुछ बूँदें चावल, मुद्ग एवं ईख पर गिर पड़ीं; तिथिव्रत; देवता सूर्य; इस व्रत से चिन्ता

दूर होती है, पुत्रोत्पत्ति, दीर्घायु एवं स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है; मत्स्यपुराण (७७।१-१७); कृत्यकल्पतरु (व्रत० २१४-२१७); हेमाद्रि (व्रत० १, ६४२-६४३, पद्मपुराण ५।२१।२६३-२७९ से उद्धरण); कृत्यरत्नाकर (१५७-१५९, मत्स्यपुराण से उद्धरण); भविष्योत्तरपुराण (४९।१-१८) में भी मत्स्यपुराण के श्लोक पाये जाते हैं।

शाक : शाक के दस रूप हैं, यथा—जड़ें, पत्तियाँ, अंकुर, कलियाँ, फल, तना, बीज (चना आदि), छाल, पुष्प एवं छत्रक (कुकुरमुत्ता); हेमाद्रि (व्रत० १, ४७); निर्णयसिन्धु (१०५); व्रतरत्नाकर (१७)।

शाकसप्तमी : कार्तिक शुक्ल ७ पर आरम्भ; प्रत्येक मास वर्ष भर; पूरे वर्ष को ४-४ मासों के तीन दलों में विभाजित करना; पंचमी को एकभक्त, षष्ठी को नक्त तथा सप्तमी को उपवास; ब्राह्मणों का मसालेदार तरकारियों से भोज और स्वयं रात्रि में भोजन; तिथिव्रत; सूर्य देवता; प्रत्येक चार मासों की अवधि में पुष्पों (अगस्ति, सुगन्धित पुष्पों, करवीर) से, अंजनों या लेपों (कुंकुम, श्वेत चन्दन एवं लाल चन्दन) से, धूपों (अपराजित, अगुरु, गुग्गुल) और नैवेद्यों (पायस, गुड़ रोटी, पकाया हुआ भात) से पूजा; अन्त में ब्रह्म-भोज, पुराणों का पाठ सुनना; कृत्यकल्पतरु (व्रत० १०३-१०७), हेमाद्रि (व्रत० १, ७६०-७६३); कृत्यरत्नाकर (४१७-४१९) ने भविष्यपुराण (१,४७।४७-७२) को उद्धृत किया है।

शान्ता-चतुर्थी : माघ शुक्ल ४ को शान्ता कहा जाता है; उपवास एवं गणेश-पूजा; तिथिव्रत; देवता गणेश; होम; घृत-गुड़ से पकाये गये चावल एवं नमक का नैवेद्य; स्नान, दान एवं साधारण आहुतियों से एक सहस्र गुना पुण्य; हेमाद्रि (व्रत० १, ५१३-५१४, भविष्यपुराण १।३१।६-१० से उद्धरण)।

शान्ति-पंचमी : भाद्रपद की पंचमी पर; काले एवं अन्य चूर्णों से सर्पों की आकृतियाँ तथा गन्ध आदि से पूजा, आश्विन पंचमी पर दर्भों से सर्पाकृतियाँ बनाकर उनकी पूजा, इन्द्राणी की पूजा भी; कर्ता से सर्प प्रसन्न हो जाते हैं; मन्त्र यह है—'कुरुकुल्ले हुं फट् स्वाहा'; कृत्यकल्पतरु (व्रत० १, ९५, केवल आश्विन पंचमी पर); हेमाद्रि (व्रत० १, ५६३-५६४, भविष्यपुराण १।३७।१-३ एवं १।३८।१-५ से उद्धरण)।

शान्तिव्रत : (१) तृतीया को वेदी का निर्माण और उस पर श्वेत चावल से मण्डल बनाना, नरसिंह का आवाहन और ऐसी प्रतिमा की स्थापना जिसमें उस अवतार के सभी चिह्न पाये जायँ तथा विभिन्न प्रकार के पुष्पों, बिल्वफल, तिल आदि से अलंकरण; विभिन्न उपचारों से पूजा, नृत्य, गीत एवं संगीत; प्रतिमा के समक्ष एक जलपूर्ण कलश तथा आठ दिशाओं में आठ कलशों का स्थापन; तिल, घृत आदि से विस्तृत रूप से होम तथा तर्पण एवं जप; सभी कष्टों, रोगों एवं पापों का निवारण; हेमाद्रि (व्रत० १, ४६५-४७१, गरुड़पुराण से उद्धरण); (२) कार्तिक शुक्ल ५ पर; एक वर्ष तक खट्टे पदार्थों का त्याग; रात्रि में हरि-प्रतिमा का पूजन (प्रतिमा में हरि शेषनाग पर शयन करते हों और अपने एक पैर को लक्ष्मी की गोद में रखे हों); पाद से सिर तक के अंगों की पूजा, प्रत्येक अंग को आठ नागों (वासुकि, तक्षक, कालिय, मणिभद्र, ऐरावत, धृतराष्ट्र, कर्कोटक एवं धनंजय) से सम्बन्धित करना तथा सभी नागों की प्रतिमाओं को दूध से नहलाना; तिल एवं दूध का होम; अन्त में स्वर्णिम नाग, गाय एवं हिरण्य का दान; सर्प-दंश के भय का नाश; कालविवेक (९६-९७); हेमाद्रि (व्रत० १, ५५६-५५७), दोनों ने वराहपुराण (६०।१-८) से उद्धरण दिया है।

शाम्भरायणीव्रत : एक नक्षत्रव्रत; देवता अच्युत; सात वर्षों तक; १२ नक्षत्रों, यथा—कृत्तिका, मृगशिरा, पुष्य . . . से वर्ष के १२ मासों के नाम, यथा कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष आदि; कार्तिक में आरम्भ, नैवेद्य, प्रथम चार मासों के लिए खिचड़ी (कृशर), फाल्गुन से आगे के मासों में संयाव तथा आषाढ़ से आगे के चार मासों में पायस; ब्राह्मणों को नैवेद्य का ही भोज; ब्राह्मणी नारी शांभरायणी (जिससे बृहस्पति ने इन्द्र के पूर्व के

विषय में पूछा था) की प्रतिमा का स्थापन; कृष्ण ने इस श्रद्धेया नारी की गाथा सुनायी है; हेमाद्रि (व्रत० २, ६५९-६६५, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण)।

शिखिव्रत : प्रत्येक मास के दोनों पक्षों की प्रथम तिथि पर एकभक्त की विधि; एक वर्ष तक; अन्त में कपिला-गोदान; वैश्वानरलोक की प्राप्ति; अग्नि० (१७६।६-७); वर्षक्रि० (२९, मत्स्य० १०१।९२ से उद्धरण)।

शिताव्रत : चतुर्थी पर एकभक्त विधि से भोजन, सर्वप्रथम एक गृहस्थ और उसके उपरान्त ७ घरों को नमक, धनियाँ, जीरा, मरिच, हींग, सोंठ एवं मनःशिला के साथ हल्दी देना; इससे समृद्धि की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० १, ५३१-५३२; भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण); कृत्यरत्नाकर (९६-९८)।

शिरोव्रत : वसिष्ठधर्मसूत्र २६। १२; मुण्डक उ० ३। २। १०, इसके भाष्य में शंकराचार्य कहते हैं कि यह अथर्ववेदियों में प्रचलित, अग्नि (ज्ञान के प्रतीक) को सिर पर धारण करने की एक विधि है।

शिवकृष्णाष्टमी : मार्गशीर्ष कृष्ण अष्टमी पर; तिथिव्रत; देवता शिव; एक वर्ष तक प्रत्येक अष्टमी पर शिवलिंग की पूजा; प्रत्येक मास शिव के विभिन्न नाम एवं कार्तिक तक विभिन्न पदार्थों का सेवन; सभी पापों से मुक्ति; भविष्योत्तरपुराण (७५।१-३०), व्रतप्रकाश (पाण्डुलिपि १४१ बी-१४३ ए)।

शिवचतुर्दशीव्रत : मार्गशीर्ष शुक्ल १३ (अमान्त गणना के अनुसार) पर एकभक्त; शिव-प्रार्थना; चतुर्दशी को उपवास; श्वेत कमलों, गन्ध आदि से पाद से लेकर सिर तक शंकर एवं उमा की पूजा; यही कार्तिक १४ तथा अन्य चतुर्दशियों पर किया जाना चाहिए; मार्गशीर्ष से लेकर आगे के सभी १२ मासों में विभिन्न नामों से शंकर को प्रणाम; प्रत्येक मास में १२ पदार्थों में से (यथा—गोमूत्र, गोबर, दूध, दही आदि) किसी एक का पान; विभिन्न पुष्पों का प्रयोग, यथा—मन्दार, मालती आदि; एक या १२ वर्षों तक कार्तिक में; वर्ष के अन्त में एक नील वृष का उत्सर्ग; किसी विद्वान् एवं सुचरित्रवान् ब्राह्मण को घट के साथ पलंग का दान; एक सहस्र अश्वमेधों का फल, महापातक भी कट जाते हैं; मत्स्यपुराण (९५।५-३८); कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३७०-३७४); हेमाद्रि (व्रत० २, ५८-६१); कृत्यरत्नाकर (४६६-४७१); निर्णयसिन्धु (२२६)।

शिवनक्तव्रत : (१) कृष्ण ८ या १४ पर नक्त-विधि; इहलोक में आनन्द एवं मृत्यूपरान्त शिवलोक; कृत्यकल्पतरु (३८६); हेमाद्रि (व्रत० २, ३९८, भविष्यपुराण से उद्धरण); (२) एक वर्ष तक प्रत्येक पर्व पर नक्त; एक वर्ष तक शिव-पूजा; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३८६); (३) अष्टमी, नवमी, त्रयोदशी एवं चतुर्दशी पर कर्ता केवल एकभक्त रहता है, पृथिवी पर रखा भोजन करता है; एक वर्ष तक; कृत्यक० (व्रत ३८६-३८७)।

शिवनक्षत्र-पुरुषव्रत : फाल्गुन शुक्ल में जब हस्त नक्षत्र हो तो उपवास करने में असमर्थ रहने वाले को इस व्रत का संकल्प करना चाहिए; यह नक्षत्रव्रत है; शिव देवता; पाद से लेकर सिर तक शिव के अंगों की पूजा, शिव के विभिन्न नामों का प्रयोग हस्त (जिस पर यह आरम्भ होता है) एवं अन्य २६ नक्षत्रों से सम्बन्धित होता है; नक्त-विधि, किन्तु तैल एवं नमक का प्रयोग नहीं; पात्र में घी के साथ एक प्रस्थ चावल का दान, पारण में शिव एवं उमा की स्वर्णिम प्रतिमाओं तथा उपकरणों से युक्त पलंग का दान; हेमाद्रि (व्रत० २, ७०३-७०६, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)।

शिवयोगयुक्त शिवरात्रिव्रत : शिव योग के साथ माघ कृष्ण १४ पर; तिथिव्रत; शिव देवता; उस राजा की कथा जो पूर्व जन्म में चोरी की प्रवृत्ति वाला था; हेमाद्रि (व्रत० २, ८७-९२, स्कन्द० से उद्धरण)।

शिवरथव्रत : हेमन्त (मार्गशीर्ष एवं पौष) एवं माघ में एकभक्त; माघ के अन्त में विभिन्न रंगों से सज्जित एवं चार बैलों वाले रथ का निर्माण; एक आढक चावल के आटे से एक लिंग बनाकर रथ में स्थापित करना; रात्रि में जन-मार्ग पर रथ को हाँककर शिव मन्दिर में लाना; प्रकाश एवं नाच-गान के साथ जागर;

दूसरे दिन प्रातः शिवभक्तों, अंधों, दरिद्रों एवं दलितों को भोजन; यह ऋतुव्रत है; शिव को रथ दान; हेमाद्रि (व्रत० २, ८५९-८६०, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)।

शिवरात्रिव्रत : देखिए 'महाशिवरात्रि' के अन्तर्गत।

शिवलिंगव्रत : शिव-लिंग पर श्वेत चन्दन का लेप, खिले श्वेत कमलों से पूजा एवं प्रणाम; एक अँगूठे के बराबर छोटे लिंग को दक्षिणामूर्ति के समीप स्थापित कर बिल्व दलों से पूजा, धूप आदि अन्य उपचारों का अर्पण; सभी पापों से मुक्ति एवं शिवलोक की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० २, ८८७-८८९, शिवधर्मोत्तर पुराण से उद्धरण)।

शिवव्रत : (१) आषाढ़ पूर्णिमा से चार मासों तक नख-परित्याग एवं बैंगन का सेवन वर्जित; कार्तिक पूर्णिमा पर एक स्वर्णिम घट को घी एवं मधु से भरकर दान; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४४०-४४१, मत्स्यपुराण ११।११-१२ से उद्धरण); (२) मार्गशीर्ष से कार्तिक तक शिव-पूजा; शिव के समक्ष प्रत्येक मास में क्रम से आटे से बनी निम्नलिखित वस्तुओं का दान—घोड़ा, गज, रथ, ११ बैलों का एक झुण्ड, एक चन्द्र-ज्योति (या कर्पूर का) घर, जिसमें दास-दासियाँ हों तथा अन्य गृहस्थी के उपकरण हों, धान से पूर्ण सात पात्र, दो सौ फल एवं गुग्गुल, दान का एक 'मण्डल,' जिसमें खाद्य पदार्थ एवं चित्र हों, पुष्पों से निर्मित एक यान (गाड़ी); गुग्गुल धूप एवं देवदार, बिल्व के बीज, घी एवं अगुरु भाद्रपद मास में जलाये जाते हैं; आश्विन मास भर अर्क की पत्तियों से बने दोने में दूध एवं घी; एक दोने में ईख का रस जो वस्त्र से ढँका रहता है; वर्ष के अन्त में शिवभक्तों को भोज एवं पेय तथा सोने एवं वस्त्र का दान; हेमाद्रि (व्रत० २, ८१९-८२१, कालोत्तरपुराण से उद्धरण); (३) पौष से मार्गशीर्ष तक दोनों पक्षों की चतुर्दशी या अष्टमी या पूर्णिमा पर; विशिष्ट पूजा, यथा—एक प्रस्थ जौ, दूध एवं घी से पूर्ण शर्करा का नैवेद्य; एक बैल के साथ एक वितस्ति ऊँचाई की जौ के आटे की कपिला गौ का निर्माण; माघ में ११ ब्राह्मणों एवं ४ गैंड़ों को खिलाना, फाल्गुन में नकुल को खिलाना, चैत्र में आटे की शिव-प्रतिमा, इसी प्रकार सभी मासों में विभिन्न पदार्थों का आटे से निर्माण; एक वर्ष तक; हेमाद्रि (व्रत० २, ३९८-४००, कालोत्तरपुराण से उद्धरण); (४) दोनों पक्षों की अष्टमी एवं चतुर्दशी पर उपवास एवं अपराह्न में शिव-पूजा; जप एवं होम; गुरु-सम्मान; पंचगव्य के तीन चुलुकों (चुल्लुओं) का पान; दूसरे दिन केवल हविष्य भोजन; पूरे जीवन भर करना; शिवलोक में तीन पीढ़ियों का निवास; हेमाद्रि (व्रत० २, ३४३, कालोत्तरपुराण से उद्धरण); (५) पौष में आरम्भ; गेहूँ, चावल एवं दूध के पदार्थों को नक्त-विधि से खाना; दोनों पक्षों की अष्टमी पर उपवास, भूमि-शयन; पूर्णिमा पर घृत से रुद्र-स्नान; इसे एक वर्ष के लिए मार्गशीर्ष तक करना; विभिन्न मासों में विभिन्न पदार्थों का उपयोग; लिंगपुराण (८३।१३-५४); (६) एक अयन से दूसरे अयन (६ मासों) तक; पुष्प एवं घी का अर्पण; अन्त में पुष्पार्पण, पायस एवं घी से ब्रह्म-भोज; घृतधेनु का दान; इससे धन एवं स्वास्थ्य की प्राप्ति; कृत्यरत्नाकर (२१९, अग्निपुराण से उद्धरण); (७) आषाढ़ पूर्णिमा से कार्तिक पूर्णिमा तक नाखून न कटाना; अन्त में सोने के साथ मधु एवं घृत से पूर्ण एक घट का दान; कर्ता रुद्रलोक जाता है; कृत्यरत्नाकर (२१९-२२०); वर्षक्रियाकौमुदी (२९२)।

शिवव्रतेषु-पूजा : व्रतराज (पृ० ५७-६१) ने शिव की सभी पूजाओं की विधि का उल्लेख किया है।

शिवशक्तिमहोत्सव-व्रत : काशी या श्रीशैल जैसे शिवक्षेत्र में शिव एवं शक्ति के सम्मान में अष्टमी-युक्त नवमी पर उत्सव; कालनिर्णय (१९७)।

शिवा-चतुर्थी : भाद्रपद शुक्ल ४ को शिवा कहा जाता है; उस दिन स्नान, दान, उपवास एवं जप से सौगुना पुण्य होता है; तिथिव्रत; देवता गणेश; हेमाद्रि (व्रत० १, ५१२-५१३, भविष्यपुराण १।३१।१-५ से उद्धरण)।

शिवोपासनव्रत : दोनों पक्षों की अष्टमी एवं चतुर्दशी पर उपवास एवं शिव-पूजा; एक वर्ष तक; कर्ता को सत्र करने का पुण्य प्राप्त होता है; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३८५-३८६)।

शिवपवित्रव्रत : आषाढ़ पूर्णिमा पर शिव-पूजा; शिव को यज्ञोपवीत-दान एवं शिवभक्तों को भोजन; पुनः कार्तिक पूर्णिमा पर शिव-पूजा; संन्यासियों को वस्त्र-दान एवं दक्षिणा; हेमाद्रि (व्रत० २, ८४३, शिवधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)।

शीतलाव्रत : श्रावण कृष्ण ७ पर कलश स्थापित कर उस पर शीतला की प्रतिमा का पूजन एवं आठ वर्ष या उससे कम अवस्था की ७ कुमारियों को भोजन; इससे वैधव्य से मुक्ति, दरिद्रता का नाश, पुत्रोत्पत्ति आदि का लाभ; व्रतार्क (पाण्डुलिपि १११-११३); अहल्याकामधेनु (पाण्डुलिपि ४३८ बी-४४० बी)। कुछ लोग इसे श्रावण शुक्ल ७ पर करते हैं। यह केवल नारियों के लिए है। नैवेद्य केवल घी एवं दही का होता है।

शीतलाष्टमी : चैत्र कृष्ण ८ पर शीतला को माता माई (चेचक की देवी) कहा जाता है; शीतला-पूजा; रात-दिन आठ घृत-दीपों से पूजा तथा गाय के दूध एवं उशीर (एक प्रकार की सुगन्धित जड़, खस) से सुगन्धित जल छिड़कना; गदहा, झाड़ू एवं सूप का पृथक्-पृथक् दान; कृत्यतत्त्व (४६२); अहल्याकामधेनु (पाण्डुलिपि, ५५८ बी-५६१ ए); गदहा शीतला का वाहन है; शीतला नंगी दर्शायी गयी हैं, उनके हाथ में झाड़ू एवं घट तथा सिर पर सूप रहता है; देखिए फार्बेस रसमाला (जिल्द २, पृ० ३२२-३२५) एवं ए० सी० सेन कृत 'बंगाली लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर' (शीतला-मंगल कविता, पृ० ३६५-३६७)।

शीतलासप्तमी : श्रावण कृष्ण ७ पर; व्रतराज (२३७-२४१)।

शील-व्रत : (१) यह शिवव्रत ही है; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४४४-४४५, मत्स्यपुराण १०१।३८-३९ से उद्धरण); (२) तृतीया को बिना पका भोजन (सम्भवतः) एक वर्ष तक; तिथिव्रत; देवता शिव; अन्त में गोदान; कर्ता पुनः जन्म नहीं लेता; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४४९), हेमाद्रि (व्रत० १, ४८४, पद्मपुराण से उद्धरण); मत्स्यपुराण (१०१।७०) ने इसे 'श्रेयोव्रत' कहा है; मत्स्यपुराण (१०१।३४) के मत से शीलव्रत पृथक् है।

शीलावाप्तिव्रत : आग्रहायणी (मार्गशीर्ष) पूर्णिमा के उपरान्त एक मास तक वाराह की पूजा; घी से वाराह-प्रतिमा का स्नान, अग्नि में घृतार्पण, नैवेद्य; घृत-दान; पौष पूर्णिमा एवं इसके दो दिनों पूर्व उपवास एवं एक ब्राह्मण को घृतपूर्ण पात्र एवं सोने का दान; कर्ता को शील (चरित्र एवं नैतिकता) की प्राप्ति; विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।२०८।१-५); हेमाद्रि (व्रत० २, ७८६-७८७)।

शुक्रव्रत : जब शुक्रवार ज्येष्ठा नक्षत्र से युक्त होता है तो नक्त-विधि से रहना; जब सप्तमी को ऐसा शुक्रवार हो तो पीतल या रजत के पात्र में शुक्र की स्वर्णिम प्रतिमा रखकर वस्त्रों, चन्दन-लेप से पूजा की जाती है; प्रतिमा के समक्ष पायस एवं घी रखा जाता है और उसे 'शुक्र दुष्ट ग्रह-प्रभावों को दूर करें तथा स्वास्थ्य एवं दीर्घ आयु दें' नामक प्रार्थना के साथ प्रतिमा सहित दान दे दिया जाता है; वारव्रत; देवता शुक्र; हेमाद्रि (व्रत० २, ५७९-५८०, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण); और देखिए अग्निपुराण (१९५।५)।

शुद्धि-व्रत : शरद् के अन्तिम ५ दिनों पर या बारह मासों की एकादशियों पर; तिथिव्रत; देवता हरि; जब समुद्र मथा गया तो ५ गौ उदित हुईं; उनसे पाँच पवित्र वस्तुएँ उत्पन्न हुईं, यथा—गोबर, गो-रोचना, दूध, मूत्र, दही एवं घृत; गोबर से श्रीवृक्ष नामक बिल्ववृक्ष उगा, क्योंकि उस पर लक्ष्मी

रहती हैं; गोरोचना से सभी शुभकामनाएँ उत्पन्न हुईं, गोमूत्र से गुग्गुल उत्पन्न हुआ, गोदुग्ध से विश्व की सम्पूर्ण शक्ति उदित हुई, दही से सभी शुभ वस्तुएँ एवं घृत से सभी समृद्धि उत्पन्न हुई; अतः दूध, दही एवं घृत से हरि-स्नान एवं गुग्गुल, दीप आदि से हरिपूजा की जाती है, पूजा अगस्त्य-पुष्पों से भी की जाती है; कर्ता को विष्णुलोक-प्राप्ति एवं नरकवासी पितरों को स्वर्ग-प्राप्ति, जलधेनु, घृतधेनु, मधुधेनु का दान; सभी पापों से मुक्ति; हेमाद्रि (व्रत० १, ११५६-११५८, अग्निपुराण से उद्धरण)।

शुक्लद्वादशी : देखिए नीचे शुभद्वादशी।

शुभद्वादशी : मार्गशीर्ष शुक्ल १ को आरम्भ; १ से ९ तक एक भक्त; १० को स्नानोपरान्त मध्याह्न में केशव-पूजा; दोनों पक्षों की द्वादशी पर (मार्गशीर्ष से चार मासों तक) तिल एवं हिरण्य का दान; चैत्र से चार मासों में भूसी निकाले हुए अन्नों एवं सोने से पूर्ण पात्रों का दान; इसी प्रकार अन्य चार मासों में गोविन्द-पूजा; कार्तिक शुक्ल १२ पर सात पातालों, पर्वतों से युक्त पृथिवी की स्वर्णिम प्रतिमा का निर्माण और उसके समक्ष हरि-प्रतिमा स्थापन एवं हरि-पूजा; जागर (रात भर जागना), दूसरे दिन प्रातः २१ ब्राह्मणों में से प्रत्येक को एक गाय, एक बैल, एक जोड़ा वस्त्र, अँगूठी, सोने का कंगन एवं कर्णफूल, एक ग्राम (यदि कर्ता राजा हो) का दान तथा कृष्ण १२ पर पृथिवी की रजत-प्रतिमा बनाकर उसका दान; कर्ता को समृद्धि एवं विष्णु-लोक की प्राप्ति; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३४०-३४३); हेमाद्रि (व्रत० १, ११०१-११०३, वराहपुराण ५५।१-५९ से उद्धरण)।

शुभसप्तमी : आश्विन शुक्ल ७ पर; कपिला गाय की पूजा तथा ताम्रपात्र में एक प्रस्थ तिल तथा एक स्वर्णिम बैल का, वस्त्रों, पुष्पों एवं गुड़ का 'अर्यमा प्रसन्न हों' के साथ दान; तिथिव्रत; देवता अर्यमा; प्रति मास एक वर्ष तक; मत्स्यपुराण (८०।१-१४); कृत्यकल्पतरु (व्रत० २२१-२२३); हेमाद्रि (व्रत० १, ६४८-६५०, पद्मपुराण ५।२१।३०७-३२१ से उद्धरण); भविष्योत्तरपुराण (५१।१-१४)।

शूलप्रदानव्रत : एक वर्ष तक सभी अमावास्याओं पर उपवास; तिथिव्रत; वर्ष के अन्त में आटे से निर्मित त्रिशूल तथा सोने या चाँदी का कमल शिव को अर्पण और उसे अपने सिर पर रखना तथा दान; अहिंसा के नियमों का पालन, ब्रह्मचर्य, भूमि-शयन आदि का पालन; हेमाद्रि (व्रत० २, २५२-२५३, शिवधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)।

शैलव्रत : (१) पर्वत-पूजा; इच्छा-पूर्ति एवं आनन्द-प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० १, ७९६, विष्णुधर्मोत्तर-पुराण से उद्धरण); (२) चैत्र शुक्ल १ से सात दिनों तक प्रति दिन सात पर्वतों, यथा—महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान्, ऋक्ष, विन्ध्य एवं पारियात्र की पूजा; जौ से होम, केवल जौ का सेवन; एक वर्ष तक; अन्त में २० प्रस्थ जौ का दान; कर्ता राजा शत्रुओं पर विजय एवं पृथिवी-राज्य पाता है; हेमाद्रि (व्रत० १, ४६३-४६४, विष्णुधर्मोत्तरपुराण ३।१६१।१-७ से उद्धरण)।

शैवनक्षत्रव्रत : फाल्गुन शुक्ल में हस्त-नक्षत्र से आरम्भ; नक्त-विधि किन्तु तेल एवं नमक का त्याग; शिव-पूजन, पाद से सिर तक हस्त से आरम्भ कर सभी नक्षत्रों को समन्वित कर 'शिवायेति च हस्तेन पादौ सम्पूजयेद् विभोः' के रूप से पूजा; सभी नक्त-दिनों में घृतपूर्ण पात्र के साथ एक प्रस्थ चावल का दान; पारण पर शिव एवं उमा की प्रतिमाओं, एक सुसज्जित पलंग तथा गाय का दान; नक्षत्रव्रत; देवता शिव; हेमाद्रि (व्रत० २, ७०३-७०६, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)।

शैवमहाव्रत : (१) पौष ८ से आरम्भ; लगातार नक्त-विधि, किन्तु दोनों पक्षों की अष्टमी पर उपवास; दिन में तीन बार शिव-पूजा, होम, भूमि-शयन; पौष पूर्णिमा पर घी से महापूजा; आठ ब्राह्मणों को भोज, एक

जोड़ी गायों एवं एक कपिल बल का दान; माघ एवं आगे के मासों में मार्गशीर्ष तक विभिन्न भोजनों से नक्त-विधि; मासव्रत; हेमाद्रि (व्रत० २, ८४३-८४८); (२) कार्तिक में नक्त-विधि; मास के अन्त में गुड़ एवं घृत-युक्त तिल-रोटी का अर्पण; अष्टमी एवं चतुर्दशी को उपवास; मार्गशीर्ष से आगे के मासों में शिव से सम्बन्धित पदार्थों का शिव-प्रतिमा को अर्पण; मासव्रत; देवता शिव; हेमाद्रि (व्रत० २, ८४८-८५३, शिवधर्मपुराण से उद्धरण)।

शैवोपवासव्रत : एक वर्ष तक प्रत्येक मास के दोनों पक्षों की अष्टमी एवं चतुर्दशी पर उपवास; देवता शिव; हेमाद्रि (व्रत० २, ३९७, भविष्यपुराण से उद्धरण)।

शौर्यव्रत : आश्विन शुक्ल ७ पर संकल्प, ८ पर उपवास, ९ पर आटे से बना भोजन एवं दुर्गा-पूजा तथा ब्रह्म-भोज; एक वर्ष तक यही विधि; तिथिव्रत; देवता दुर्गा; अन्त में कुमारियों को भोजन तथा उन्हें वस्त्र आदि का दान तथा 'देवी मुझ पर प्रसन्न हों' से प्रार्थना; बिना विद्या पढ़े ज्ञान की उत्पत्ति, दुर्बल व्यक्ति शौर्य वाला हो जाता है, लुप्त राज्य प्राप्त हो जाता है। वराहपुराण (६४.१-६); कृत्यकल्पतरु (व्रत० २७३); हेमाद्रि (व्रत० १, ९५७-९५८); कृत्यरत्नाकर (३६४-३६५)।

श्यामामहोत्सव : देखिए ऊपर 'द्राक्षा-भक्षण'; हेमाद्रि (व्रत० २, ९१५, आदित्यपुराण से उद्धरण); कृत्यरत्नाकर (३०३-३०४)।

श्येनग्रासनविधि : कार्तिक शुक्ल ४, ८, ९ या १४ पर; स्त्रियों के लिए; कृत (सत्य) युग में नारियाँ देवी तक पहुँचाने के लिए श्येन (बाज) को एक ग्रास देती थीं; किन्तु आजकल ऐसा नहीं किया जाता, अब नारियाँ भोजन अपने पतियों के पास ले जाती हैं और उसके उपरान्त खाती हैं; हेमाद्रि (व्रत० २, ६४१-६४३, आदित्यपुराण से उद्धरण)।

श्रवणद्वादशी : (१) भाद्रपद शुक्ल १२ को जब कि श्रवण-नक्षत्र हो; एकादशी को उपवास; द्वादशी को गंगा-यमुना के पवित्र जल से धोये गये मिट्टी के पात्र में भात एवं दही का दान; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३४८, वायुपुराण से उद्धरण); (२) श्रवण-नक्षत्र में १२ पर उपवास; जनार्दन-पूजा; १२ द्वादशियों का पुण्य फल; यदि श्रवण-द्वादशी बुधवार को पड़े तो उसे महान् कहा जाता है; तिथिव्रत; देवता विष्णु; हेमाद्रि (व्रत० १, ११६२-११७१, विष्णुधर्मोत्तरपुराण १।१६१।१-८ से उद्धरण); अग्निपुराण के १५ श्लोक पाये जाते हैं; अधिकांश निबन्ध इसका विस्तृत वर्णन उपस्थित करते हैं; हेमाद्रि (काल० २८९-२९८); कालविवेक (४५९-४६४); निर्णयसिन्धु (१३७-१४०); स्मृतिकौस्तुभ (२४०-२४९); पद्मपुराण (६।७०) में इसकी गाथा एवं माहात्म्य है; और देखिए गरुड़पुराण (१, अध्याय १३६)।

श्राद्धव्रत : केशव-प्रतिमा के समक्ष शिव-प्रतिमा पर चन्दन-लेप लगाना तथा जलधेनु एवं घृतधेनु का दान; सभी पापों से मुक्ति एवं शिव-लोक-प्राप्ति; संवत्सर-व्रत; देवता शिव; हेमाद्रि (व्रत० २, ८६३, पद्मपुराण से उद्धरण)।

श्रावण-कृत्य : कृत्यकल्पतरु (नैयतकालिक, ३९५-३९७); कृत्यरत्नाकर (२१८-२५४); वर्षक्रियाकौमुदी (२९२); कृत्यतत्त्व (४३७-४३८); निर्णयसिन्धु (१०९-१२२); स्मृतिकौस्तुभ (१४८-२००); पुरुषार्थ-चिन्तामणि (२१५-२२२)।

श्रावण में बहुत-से महत्वपूर्ण व्रत किये जाते हैं, यथा—नागपंचमी, अशून्यशयनव्रत, कृष्ण-जन्माष्टमी जिनका उल्लेख यहाँ पर यथास्थान किया गया है। यहाँ पर कुछ बातें दी जा रही हैं। ऐसी धारणा है कि उन नदियों को छोड़कर जो सीधे समुद्र में गिरती हैं, अन्य नदियाँ उस समय रजस्वला (मासिक धर्म में) कही जाती हैं

जब कि सूर्य कर्क एवं सिंह राशि में होता है, उस समय उनमें स्नान नहीं किया जाता, जो धाराएँ १००८ धनु लम्बी नहीं होतीं, वे नदियाँ नहीं कहलातीं, वे केवल छिद्र या गर्त कहलाती हैं। देखिए गोभिलस्मृति (१।१४१-१४२); निर्णयसिन्धु (१०९-११०); (एक धनु ४ हाथ)। श्रावण में कतिपय देव विभिन्न तिथियों पर पवित्रारोपणव्रत (देखिए इसी सूची में) पर बुलाये जाते हैं; श्रावण में प्रति सोमवार को उपवास करना चाहिए या नक्त-विधि करनी चाहिए (स्मृतिकौस्तुभ १३९); दोनों पक्षों की नवमियों पर कौमारी नाम से दुर्गा की पूजा करनी चाहिए (कृत्यरत्नाकर २४४, स्मृतिकौस्तुभ २००); तमिल प्रदेशों में श्रावण कृष्ण १ को सभी वैदिक ब्राह्मण गायत्री का जप १००८ बार करते हैं। श्रावण की अमावास्या को कुशोत्पाटिनी कहा जाता है क्योंकि उस दिन कुश एकत्र किये जाते हैं (कृत्यरत्नाकर ३१६, स्मृतिकौस्तुभ २५२)। इस अमावास्या पर अपुत्रवती नारियाँ या वे नारियाँ, जिनकी सन्तान बचपन में ही मर जाती है, उपवास करती हैं, ब्रह्माणी एवं अन्य माताओं की प्रतिमाओं के लिए आठ कलश स्थापित करती हैं।

श्रावणिकाव्रत : मार्गशीर्ष शुक्ल ८ एवं १४ पर; स्नान करके मध्याह्न के समय कर्ता को कई नारियों या एक नारी (यदि वह धनहीन हो) या सुचरित्र ब्राह्मण सगोत्र नारियों एवं एक विद्वान् एवं सुचरित्रवान् ब्राह्मण को आमन्त्रित करना चाहिए, उनके चरणों को पखारना चाहिए, उन्हें अर्घ्य देना चाहिए, गन्ध आदि से उनकी पूजा करनी चाहिए तथा भोजन देना चाहिए; नारियों के समक्ष सूतों एवं मालाओं से आवृत १२ जलपूर्ण घट रखे जाने चाहिए, अपने सिर एक घट रखना चाहिए तथा केशव का ध्यान करना चाहिए, प्रार्थना करनी चाहिए कि वह पितृ-ऋणों, देव-ऋणों एवं मनुष्य-ऋणों से मुक्त हो जाये; नारियाँ आशीर्वचन देती हैं—'ऐसा ही हो'; तिथिव्रत; देवता श्रावण्य नामक देवियाँ, जो ब्रह्मा से जाकर कर्ता जो कुछ अच्छा या बुरा करता है, कहती हैं; हेमाद्रि (व्रत० २, १३४-१३९, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण)।

श्रीपंचमी : (१) मार्गशीर्ष शुक्ल ५ पर लक्ष्मी की स्वर्णिम, रजत, ताम्र, काष्ठ या मिट्टी की प्रतिमा का निर्माण या किसी वस्त्र-खण्ड पर उसका चित्र खींच कर पुष्पों से पूजा तथा आपादमस्तक पूजा; पतिव्रता नारियों का कुंकुम, पुष्पों, भोजन एवं प्रणाम आदि से सम्मान; एक घृतपूर्ण पात्र के साथ एक प्रस्थ चावल का दान तथा 'लक्ष्मी मुझसे प्रसन्न हों' ऐसा कहना; प्रत्येक मास में लक्ष्मी के विभिन्न नामों से ऐसा ही एक वर्ष तक करना; अन्त में एक मण्डप में लक्ष्मी-प्रतिमा-पूजन, प्रतिमा का एक गाय के साथ दान तथा साफल्य के लिए श्री से प्रार्थना; २१ पीढ़ियों तक समृद्धि; हेमाद्रि (व्रत० १, ५३७-५४३, भविष्योत्तरपुराण, अध्याय ३७।१-५८ से कुछ विभिन्नता के साथ उद्धरण); (२) सफलता के लिए अन्य व्रत है श्रवण-नक्षत्र या उत्तराफाल्गुनी एवं सोमवार के साथ पंचमी पर; चौथ पर एकभक्त; दूसरे दिन बिल्व वृक्ष की पूजा, जिसके नीचे आठ दिशाओं में आठ कलश रखे रहते हैं; इन कलशों में पवित्र जल, रत्न, दूर्वा, श्वेत कमल आदि छोड़े जाते हैं; लक्ष्मी की प्रार्थना एवं पूजा; कलश के मध्य में नारायण का आवाहन एवं नारायण-प्रतिमा-पूजन; एक वर्ष तक या जब तक सफलता न प्राप्त हो जाये; हेमाद्रि (व्रत० १, ५४६-५५२, गरुड़पुराण से उद्धरण); (३) माघ शुक्ल ५ पर जलपूर्ण पात्र में या शालग्राम प्रस्तर पर लक्ष्मी-पूजा, क्योंकि उस दिन वे विष्णु के आदेश पर इस विश्व में आयीं; भुजबलनिबन्ध (पृ० ३६३, पाण्डुलिपि) के मत से पूजा कुन्द पुष्पों से होती है; कृत्यतत्त्व (४५७-४५८); पुरुषार्थचिन्तामणि (९८) के मत से पूजा माघ शुक्ल ५ को किन्तु स्मृतिकौस्तुभ (४७९) के मत से उस दिन काम एवं रति की पूजा होती है और वसन्तोत्सव किया जाता है; (४) चैत्र शुक्ल ५ पर लक्ष्मी-पूजा; जीवन भर समृद्धि की प्राप्ति; नीलमतपुराण (पृ० ६२, श्लोक ७६६-७६८); स्मृतिकौस्तुभ (९२)।

२८

श्रीप्राप्तिव्रत : (१) हेमाद्रि (व्रत० १, ५७५, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण) के मत से जो कमल में रखकर लक्ष्मी-प्रतिमा का पूजन करता है, वह एक यज्ञ का फल प्राप्त करता है; (२) वैशाख पूर्णिमा के उपरान्त पहली तिथि पर प्रारम्भ; एक मास तक पुष्पों-फलों आदि से नारायण एवं लक्ष्मी की पूजा; धान एवं बिल्व फल से होम; दूध एवं दूध से बने पदार्थों से ब्रह्म-भोज; ज्येष्ठ में तीन दिनों तक उपवास; सोने एवं दो वस्त्रों का दान; हेमाद्रि (व्रत० २, ७५१, विष्णुधर्मोत्तरपुराण ३।२११।१-५ से उद्धरण)।

श्रीवृक्षनवमी : भाद्रपद शुक्ल नवमी पर; सूर्योदय पर तिल, गेहूँ से बने पदार्थों आदि से बिल्व पेड़ की सात बार पूजा; उससे प्रार्थना करना एवं उसे प्रणाम करना; उस दिन बिना आग पर पके भोजन (यथा दही, फल आदि) को भूमि पर रखकर खाना, तेल एवं नमक न खाना; तिथिव्रत; देवता लक्ष्मी का निवास बिल्व; पीड़ा-क्लेश से मुक्ति एवं धन-प्राप्ति का लाभ; हेमाद्रि (व्रत० १, ८८७-८८८; भविष्योत्तरपुराण ६०।१-१० से उद्धरण)।

श्रीव्रत : (१) चैत्र शुक्ल पंचमी तिथि पर केवल एक बार लक्ष्मी-पूजन से एक वर्ष के पूजन के लाभ प्राप्त होते हैं; हेमाद्रि (व्रत० १, ५७५, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से एक श्लोक); (२) चैत्र शुक्ल तृतीया पर भात एवं घृत का सेवन, एवं रात्रि में भूमि-शयन; चतुर्थी पर घर के बाहर (नदी आदि में) स्नान, पंचमी पर वास्तविक या निर्मित कमल पर घृत-दीप से लक्ष्मी-पूजन, श्रीसूक्त से कमल के दलों तथा बिल्वपत्रों के साथ होम; पर्याप्त दूध एवं घृत से ब्रह्म-भोज; हविष्य भोजन; एक वर्ष तक; शौर्य, सौन्दर्य एवं स्वास्थ्य की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० २, ४६६-४६८, विष्णुधर्मोत्तरपुराण ३।१५४।१-१५ से उद्धरण)।

षट्-तिला-द्वादशी : फाल्गुन कृष्ण १२ पर जब श्रवण-नक्षत्र हो तिल से देवों की पूजा; तिल का होम, मन्दिरों में तिल से दीप जलाना, तिल-दान, पितरों को तिल-युक्त जल से तर्पण देना तथा तिल खाना; विष्णु ने इस तिथि पर उपवास किया था तथा अपने पितरों को तिल एवं पिण्ड दिये थे; कृत्यरत्नाकर (५१९)।

षट्-तिली : जो माघ शुक्ल एकादशी पर, जब कि चन्द्र मृगशिरा नक्षत्र में हो, उपवास करता है तथा द्वादशी को तिल-सम्बन्धी ६ क्रियाएँ करता है वह पापों से मुक्त हो जाता है। वर्षक्रियाकौमुदी (५०५); तिथितत्त्व (११३-११४); गदाधरपद्धति (कालसार, १५१)। तिल के ६ कृत्य ये हैं—शरीर पर तिल उबटना; तिलयुक्त जल से स्नान, तिल से होम, तिल-दान, तिल-जल से पितृ-तर्पण एवं तिल-भोजन; मिलाइए कृत्यरत्नाकर (५१९)।

षडक्षर-मन्त्र : महाश्वेता मन्त्र में ६ अक्षर हैं, हेमाद्रि (व्रत० २, ५२१); दूसरा है 'खखोल्काय नमः' कृत्यकल्पतरु (व्रत० ९)।

षण्मूर्तिव्रत : चैत्र शुक्ल ६ पर ६ ऋतुओं की पूजा का आरम्भ; ऋतु-व्रत; देवता ऋतुएँ; क्रम से फलों एवं पुष्पों, रूक्ष वस्तुओं (ग्रीष्म में), मीठी वस्तुओं (वर्षा में), भोजन एवं लवण (शरद में), कटु (तिक्त) एवं अम्ल (खट्टे) पदार्थों (हेमन्त में), तीक्ष्ण पदार्थों (शिशिर में) से ६ ऋतुओं का सम्मान करना; प्रत्येक षष्ठी पर उपवास, नक्त-विधि (५ प्रकार के पदार्थों का त्याग, केवल ऋतु-सम्बन्धी पदार्थों का ही सेवन); एक वर्ष तक; हेमाद्रि (व्रत० २, ८५८-८५९, विष्णुधर्मोत्तरपुराण ३।१५६।१-७ से उद्धरण)।

षष्टिव्रत : मत्स्यपुराण (१०१।१-८३) में ६० व्रतों का उल्लेख है; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४३९-४५१); इन्हें रुद्र ने अपनी पत्नी को बताया है।

षष्ठीदेवी : ब्रह्मवैवर्त (२।४३।३-७२) में आया है कि षष्ठी, मंगलचण्डी एवं मनसा प्रकृति के अंश हैं, षष्ठी बच्चों की देवी हैं, उन्हें माताओं में देवसेना कहा गया है, वे स्कन्द की पत्नी हैं, वे बच्चों की रक्षा करती हैं,

उन्हें दीर्घ जीवन देती हैं; इस पुराण में सूतिका-गृह में शिशु-जन्म के छठे दिन देवी-पूजा की कथा आयी है; सूतिका-षष्ठी के लिए देखिए कृत्यतत्त्व (४७१-४७५)।

षष्ठीव्रत : (१) पंचमी को उपवास; ६ या ७ को सूर्यपूजा; अश्वमेध-यज्ञ का लाभ; हेमाद्रि (व्रत० १, ६२७, ब्रह्मपुराण से उद्धरण); (२) शुक्ल ६ पर जब मंगल होता है; विभिन्न मासों में व्रत करना; अक्षय फल की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० १, ६२७-६२८, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)।

षष्ठीव्रत (बहुवचन में) : भविष्यपुराण (१।३९-४६), भविष्योत्तरपुराण (अध्याय ३८-४२), कृत्यकल्पतरु (व्रत० ९८-१०३); यहाँ केवल ३ व्रत हैं; हेमाद्रि (व्रत० १, ५७७-६२९, यहाँ २१ व्रतों का उल्लेख है); हेमाद्रि (काल, ६२२-६२४); कालनिर्णय (१८९-१९२); तिथितत्त्व (३४-३५); समयमयूख (४२-४३); पुरुषार्थचिन्तामणि (१००-१०३); व्रतरत्नाकर (२२०-२३६)।

जब षष्ठी पंचमी या सप्तमी से युक्त हो तो सामान्य नियम यह है कि सप्तमी से युक्त षष्ठी पर व्रत एवं उपवास करना चाहिए, केवल स्कन्दषष्ठी में पंचमी से युक्त षष्ठी को वरीयता मिलती है; कालनिर्णय (१९०); निर्णयामृत (४८); समयमयूख (४२); पुरुषार्थचिन्तामणि (१००-१०१); षष्ठी कार्तिकेय (या स्कन्द) को प्रिय है, क्योंकि उस तिथि पर उनका जन्म हुआ था और उसी तिथि पर वे देवों के सेनापति बनाये गये थे; भविष्यपुराण (१।३९।१-१३); हेमाद्रि (काल० ६२२, ब्रह्मपुराण से उद्धरण); कृत्यकल्पतरु (नैयतकालिक, ३८२-३८३)।

कुछ बातें विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। स्कन्द षष्ठी के स्वामी हैं और प्रति षष्ठी पर सुगंधित पुष्पों, दीपों, वस्त्रों, काक के खिलौनों, घण्टी, दर्पण एवं चामर से उनकी पूजा होनी चाहिए; कार्तिकेय की पूजा विशेष रूप से राजाओं द्वारा चम्पा के फूलों से होनी चाहिए; कृत्यरत्नाकर (२७६); मार्गशीर्ष शुक्ल ६ को महाषष्ठी कहा जाता है; हेमाद्रि (काल, ६२३-६२४)। देखिए नारदपुराण (१।४५।१-५१) जहाँ वर्ष के बारह मासों में किये जाने वाले षष्ठीव्रतों का उल्लेख है।

संवत्सरव्रत : चैत्र शुक्ल पर आरम्भ; पाँच दिनों तक; अग्नि, सूर्य, सोम, प्रजापति एवं महेश्वर को एक युग के पाँच वर्षों के रूप में माना गया है, यथा—संवत्सर, परिवत्सर, इष्टापूर्त (इदावत्सर?), अनुवत्सर एवं उद्वत्सर; उन्हें एक मण्डल में क्रम से नीले, श्वेत, लाल, श्वेत-पीत एवं काले पुष्पों से स्थापित करना चाहिए; तिल, चावल, जौ, घी, श्वेत सरसों से क्रम से होम करना चाहिए; पाँच दिनों तक नक्त; अन्त में ५ सुवर्णों का दान; यह पंचमूर्तिव्रत है; हेमाद्रि (व्रत० २, ४०९-४२०, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)। वैदिक साहित्य में एक युग के पाँच वर्षों को विभिन्न नाम दिये गये हैं; अथर्ववेद (६।५५।३); तै० सं० (५।७।२-३); तै० ब्रा० (१।४।१०।१)।

संवत्सरव्रत : (बहुवचन में) विष्णुधर्मोत्तरपुराण (१।८२।८-२०, यहाँ ६० वर्षों के नाम आये हैं, यथा—प्रभव, विभव आदि); कृत्यकल्पतरु (व्रतकाण्ड, ४३५-४५१); हेमाद्रि (व्रत० २, ८६२-८६७)।

संवत्सरारम्भविधि : हेमाद्रि (व्रत० १, ३६०-३६५)। देखिए ऊपर 'चैत्र प्रतिपदा।'

संकष्टचतुर्थी : श्रावण कृष्ण ४ पर चन्द्रोदय (अर्थात् सूर्यास्त के उपरान्त ८ घटिकाओं पर) के समय गणेश-प्रतिमा-पूजा, एक कलश-स्थापन; १६ उपचार; मोदकों (१००८, १०८, २८ या ८) का निर्माण; दिन भर उपवास या चन्द्रोदय होने तक भोजन न ग्रहण करना; जीवन भर या २१ वर्षों तक या एक वर्ष तक; आचार्य को दान; २१ ब्राह्मणों को भोजन; स्मृतिकौस्तुभ (१७१-१७७); व्रतरत्नाकर (१२०-१२७); वर्षकृत्यदीपक (६८); धर्मसिन्धु (७४); यह व्रत जीवन भर या २१ वर्षों तक किया जा सकता है; ऐसा कहा गया है कि तारकासुर को हराने के लिए इसे शिव ने भी किया था।

संकष्टहर-गणपतिव्रत : माघ कृष्ण ४ पर; तिथिव्रत; चन्द्रोदय पर; देवता गणेश; व्रतरत्नाकर (१७६-१८८) ने विस्तृत उल्लेख किया है, जिसमें ऋ० (१०।६३।३, ४।५०।६), पुरुषसूक्त (ऋ० १०।९०) के मन्त्र तथा नारदपुराण के एवं अन्य पौराणिक मन्त्र दिये गये हैं; १६ उपचार; २१ नामों के साथ गणेश की पूजा, उतनी ही संख्या में दूर्वा की शाखाएँ, उतनी ही संख्या में भृङ्गराज, बिल्व, बदरी, धत्तूर, शमी की पत्तियाँ एवं लाल फूल; गणपति के १०८ नामों से पूजो; अन्त में पूजक को ५ मोदक एवं दक्षिणा; ऐसा आया है कि व्यास ने यह व्रत युधिष्ठिर को बताया था; संकष्ट का अर्थ है कष्ट या विपत्ति, 'कष्ट' का अर्थ है 'क्लेश', 'सम्' उसके आधिक्य का द्योतक है।

संक्रान्तिव्रत : देखिए हेमाद्रि (व्रत० ७२७-७४३, कुल १६); हेमाद्रि (काल, ४०७-४३८); कृत्यरत्नाकर (६१३-६२१); कालनिर्णय (३३१-३४६); वर्षक्रियाकौमुदी (२०४-२३१); स्मृतिकौस्तुभ (५३१-५४५); व्रतरत्नाकर (७२९-७३८); पुरुषार्थचिन्तामणि (३५७-३६६)।

संक्रान्तिस्नान : देखिए गत अध्याय ११; हेमाद्रि (व्रत० २, ७२८-७३०, देवीपुराण से उद्धरण) में जल में कुछ डालकर १२ संक्रान्तियों पर स्नान करने की विधि है।

संघाटक-व्रत : कार्तिक शुक्ल १ पर आरम्भ, उस दिन एकभक्त; द्वितीया एवं तृतीया पर उपवास; चतुर्थी पर पारण; तिथिव्रत; देवता शिव; यदि एक पक्ष में किया जाय तो ७½ मासों तक किन्तु यदि दोनों पक्षों में, तो ३¾ मासों तक; एक पुरुष एवं एक स्त्री की दो स्वर्ण प्रतिमाओं का निर्माण तथा पंचामृत से स्नान; जागर; भूमि-शयन; आचार्य को प्रतिमा-दान; नारी का पति एवं पुत्र से वियोग नहीं होता; इस व्रत से पार्वती ने शिव को प्राप्त किया; हेमाद्रि (व्रत० २, ३७०-३७५, वराहपुराण से उद्धरण)।

सत्कुलावाप्तिव्रत : मार्गशीर्ष शुक्ल १ पर आरम्भ; तीन रंगों के पुष्पों एवं लेपों से विष्णु-पूजा; त्रिमधुरों, तीन दीपों का अर्पण; जौ एवं तिल का होम; तीन धातुओं (सोना, रजत एवं ताम्र) का दान; विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।२०१।१-५)।

सत्यनारायणव्रत : बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश एवं महाराष्ट्र में अत्यन्त प्रचलित; भविष्यपुराण (प्रतिसर्गपर्व), अध्याय २४-२९ में निरूपित; महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने इसे मुसलमानी प्रभाव से आक्रान्त माना है। आरम्भिक काल में (और बहुत-से स्थानों में आज भी) इसे 'सत्यपीर की पूजा' कहा जाता है; स्कन्दपुराण के रेवाखण्ड (बंगवासी संस्करण) में उल्लिखित है। देखिए जे० बी० ओ० आर० एस्० (जिल्द १६, पृ० ३२८) जहाँ उपर्युक्त लेखक ने कहा है कि 'सीर्नी' की मुस्लिम विधि हिन्दुओं द्वारा सत्यनारायण की कथा में अपना ली गयी। यह व्रत आधुनिक मध्यम वर्ग के लोगों एवं नारियों में अत्यधिक प्रचलित है। इस व्रत की कथाओं के लिए देखिए इण्डियन एण्टीक्वेरी (जिल्द ३, पृ० ८३-८५)। ऐसा आया है कि विष्णु ने नारद से इस व्रत का उल्लेख किया था। किसी भी दिन सत्यनारायण-पूजा की जा सकती है; नैवेद्य सवा सेर या सवा मन, जिसमें केला, घृत, दूध, गेहूँ का आटा, गुड़ या शर्करा सम्मिलित रहते हैं; ये सभी मिला दिये जाते हैं; यजमान को कथा सुननी चाहिए और प्रसाद ग्रहण करना चाहिए; गीत, नृत्य एवं जागर; तब लोग अपने-अपने घर जाते हैं; इससे सभी कामनाओं की पूर्ति होती है; एक ब्राह्मण, एक लकड़हारे, साधु नामक वणिक् एवं उसकी पुत्री कलावती की कथाएँ; इन गाथाओं में सत्यनारायण प्रतिहिंसक एवं ईर्ष्यालु प्रकट किये गये हैं; ये कथाएँ स्कन्दपुराण के रेवाखण्ड से ली गयी कही गयी हैं।

सदाव्रत : इसे 'अन्नदानमाहात्म्य' कहा गया है; हेमाद्रि (व्रत० २, ४६९-४७५) में भविष्योत्तरपुराण का उद्धरण आया है कि कृष्ण ने युधिष्ठिर से दूसरों को अन्न (भोजन) देने की महत्ता बतायी है और कहा है कि राम

एवं लक्ष्मण को ब्रह्म-भोज न देने के कारण वनवास भोगना पड़ा, राजा श्वेत को स्वर्ग में भी भूख की पीड़ा सहनी पड़ी, क्योंकि उसने भूखे ब्राह्मणों को भोजन नहीं दिया था। इस व्रत का अर्थ है सदा भोजन (व्रत) देना। आजकल इसे 'सदावर्त', 'सदाबर्त' या 'सदाबरत' कहते हैं। हेमाद्रि (व्रत० २, ४७१) में एक श्लोक है 'भोजन प्राणियों का जीवन है, यही उनकी शक्ति है, शौर्य है और सुख है, अतः अन्नदाता प्रत्येक वस्तु का दाता कहा जाता है, देखिए तै० उप० (१।११।२) : अतिथि-देवो भव; और देखिए अथर्व० (९।६) एवं कठोपनिषद् (१।१।७)।

सन्तानदव्रत : तिथिव्रत; जो कार्तिक पूर्णिमा को अपनी या दूसरे की कन्या को विवाह में देता है, नदियों के संगम पर उपवास करता है, वह सुखद लक्ष्य की प्राप्ति करता है; हेमाद्रि (व्रत० २, २३८, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण)।

सन्तानाष्टमी : चैत्र कृष्ण ८ पर; तिथिव्रत; कृष्ण एवं देवकी की पूजा; उपवास; एक वर्ष के लिए; चार मासों की अवधि में अष्टमी पर कृष्ण-प्रतिमा का घी से स्नान एवं घी का दान; हेमाद्रि (व्रत० १, ८४६-८४७, विष्णुधर्मोत्तरपुराण, ३।२१७।१-११ का उद्धरण)।

संध्या : सूर्योदय के पूर्व एवं सूर्यास्त के उपरान्त तीन घटिकाओं (७२ मिनटों) की अवधि; इस अवधि में निम्नलिखित चार कार्य नहीं किये जाने चाहिए—भोजन करना, सम्भोग करना, सोना एवं वेदाध्ययन; हेमाद्रि (काल, ६९४-६९७); पुरुषार्थचिन्तामणि (४६); बृहज्जातक (७।१) पर उत्पल ने वराह को उद्धृत करके लिखा है कि सूर्य के क्षितिज के नीचे चले जाने तथा तारों के प्रकट होने तथा पूर्व में अर्ध-चन्द्र के प्रकाश होने तक की अवधि को संध्या कहते हैं।

सप्तद्वीपव्रत : चैत्र शुक्ल १ से प्रारम्भ; सात दिनों तक क्रम से सात द्वीपों, यथा—जम्बू, शाक (शकों का), कुश, क्रौंच, शाल्मलि, गोमेद एवं पुष्कर की पूजा; घी से होम एवं सात धान्यों का दान; नक्त-विधि एवं भूमि-शयन; एक वर्ष; चाँदी से बने द्वीपों की आकृति का दान; कल्पान्त तक स्वर्ग में स्थिति; विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।१५९।१९७)।

सप्तमी-निर्णय : जब सप्तमी षष्ठी एवं अष्टमी से विद्ध हो तो सप्तमी का व्रत षष्ठी से विद्ध सप्तमी पर होना चाहिए, किन्तु यदि किसी कारण से षष्ठी से युक्त सप्तमी न मानी जाय तो अष्टमी से युक्त सप्तमी ग्रहण करनी चाहिए; कालनिर्णय (१९२-१९४); तिथितत्त्व (३५-३६); पुरुषार्थचिन्तामणि १०३-१०४)।

सप्तमीलोकव्रत : सप्तमी पर सात लोकों की पूजा; इससे महान् ज्ञान एवं अद्वितीय स्थिति की प्राप्ति होती है; हेमाद्रि (व्रत० १, ७९२, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से एक श्लोक)।

सप्तमीव्रत : (बहुवचन में) मत्स्यपुराण (अध्याय ७४-८०); पद्मपुराण (५।२१।२१५-३२१); भविष्योत्तरपुराण (४३-५३); नारदपुराण (१।११६।१-७२); कृत्यकल्पतरु (व्रत० १०३-२२५, कुल ४४ व्रत); हेमाद्रि (व्रत० १, ६३२-८१०, ६२ व्रत); वर्षक्रियाकौमुदी (३५-३८); तिथितत्त्व (३६-४०); व्रतरत्नाकर (२३१-२५५)। सप्तमी-पूजा की प्रशंसा के लिए देखिए विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।१६९।१-७)।

सप्तमीस्नापन : मत्स्यपुराण (६८।१-४२) ने विशद वर्णन किया है; हेमाद्रि (व्रत० १, ७६३-७६८)। इसे रोगों, दुर्भाग्यों, क्लेशों एवं शिशु-मृत्युओं को रोकने के लिए किया जाता है। यह नष्टसन्तान वाली नारी से उत्पन्न शिशु के सातवें मास में या शुक्ल ७ पर किया जाता है, किन्तु जन्मतिथि पर नहीं किया जाता; चावल एवं दूध की आहुतियाँ सूर्य, रुद्र एवं माताओं को दी जाती हैं; सूर्य के लिए ऋ० (१।५०) की ऋचाएँ तथा रुद्र के लिए ऋ० (१।४३) की ऋचाएँ सुनायी जाती हैं; अर्क एवं पलाश की समिधाएँ, जौ, काल तिल

एवं घृत की १०८ आहुतियाँ; चार दिशाओं में चार कलश, मध्य में पाँचवाँ कलश, सभी कलशों में रत्न, सर्वौषधियाँ, कई स्थानों की मिट्टी डाली जाती है, सात विवाहित स्त्रियाँ नष्ट-सन्तान नारी के ऊपर जल का मार्जन करती हैं तथा सूर्य, चन्द्र एवं देवों का आवाहन बच्चे की सुरक्षा के लिए करती हैं; आचार्य को यम की स्वर्णप्रतिमा दी जाती है; सूर्य एवं कपिला गाय की पूजा; कर्ता देवों को अर्पित किये गये भोजन को प्रसाद रूप में ग्रहण करता है।

सप्तमूर्तिव्रत : (बहुवचन में) विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।१५७-१६६)।

सप्तर्षिव्रत : (१) सप्तर्षियों की पूजा से उन ऋषियों तक पहुँच एवं ऋषिस्थिति प्राप्त होती है; हेमाद्रि (व्रत० १, ७९१, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण); (२) चैत्र शुक्ल से सात दिनों के लिए सात ऋषियों, यथा—मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु एवं वसिष्ठ की फलों, पुष्पों, गाय के दूध से पूजा; उन दिनों नक्तविधि; तिल एवं महाव्याहृतियों से होम; एक वर्ष तक; अन्त में अग्निहोत्री को कृष्ण हरिण का चर्म देना; मोक्ष-प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० २, ५०८, विष्णुधर्मोत्तरपुराण ३।१६५।१-७ से उद्धरण)।

सप्तवारव्रत : कृत्यकल्पतरु (व्रत० २५-२७); हेमाद्रि (व्रत० २, ५२०-५९२); कृत्यरत्नाकर (५९३-६०४)।

सप्तम्यर्क-व्रत : राजमार्तण्ड (श्लोक ११७२-११७३)।

सप्तसप्तमीकल्प : शुक्ल पक्ष में किसी रविवार को; जब सूर्य उत्तरायण का आरम्भ करता है और जब कोई पुरुष नक्षत्र होता है; सभी सात सप्तमियों पर ब्रह्मचर्य-पालन, नक्त-विधि; ७ सप्तमियाँ इस प्रकार हैं—अर्कसम्पुट, मरिच, निम्ब, फल, अनोदना, विजया एवं कामिकी; पाँचवीं पर एकभक्त तथा छठी पर संभोग-वर्जन एवं मधु तथा मांस का त्याग; पत्तों पर सात नाम लिखकर, एक घट में डालकर किसी बच्चे से (जो इन सात नामों के अर्थ को नहीं जानता) एक पत्ता निकलवाना और उसे सातवीं सप्तमी मानना; एक वर्ष तक; सभी आकांक्षाओं की पूर्ति एवं सूर्यलोक तक पहुँच; कृत्यकल्पतरु (व्रत० १८९-१९१); हेमाद्रि (व्रत० १, ६८७-६८९, भविष्यपुराण १।२०८।२-३२ से उद्धरण)।

सप्तसागर-व्रत या **सप्तसमुद्र-व्रत :** चैत्र शुक्ल १ से प्रारम्भ; क्रम से सुप्रभा, कांचनाक्षा, विशाला, मानसोद्भवा, मेघनादा, सुवेणु एवं विमलोदका की पूजा; उनके नाम पर दही से होम; ब्राह्मणों को दही से युक्त भोज; एक वर्ष तक; तीर्थस्थान पर किसी ब्राह्मण को सात वस्त्रों का दान; इसे सारस्वत व्रत भी कहा जाता है; हेमाद्रि (व्रत० २, ५०७, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)। उपर्युक्त सरस्वती नदी की संज्ञाएँ या उसकी सात सहायक नदियों के नाम हैं, अतः 'सारस्वत' नाम अधिक उपयुक्त लगता है। देखिए विष्णुधर्मोत्तर० (३।१६४।१७)।

सप्तसुन्दरक-व्रत : पार्वती की, उसके सात नामों, यथा—कुमुदा, माधवी, गौरी, भवानी, पार्वती, उमा एवं अम्बिका के साथ पूजा; सात दिनों तक सात कुमारियों (लगभग ८ वर्षीया) को भोजन देना; ६ दिनों तक उपर्युक्त सात नामों में किसी एक का प्रयोग तथा 'कुमुदा प्रसन्न हों' ऐसा कहना; सातवें दिन सातों का आवाहन तथा गन्ध, पुष्प आदि तथा पान, सिन्दूर, नारियल आदि से सम्मान करना; पूजा के उपरान्त प्रत्येक के सामने दर्पण दिखाना; इससे सौन्दर्य एवं सौभाग्य की प्राप्ति तथा पाप-मुक्ति होती है; हेमाद्रि (व्रत० २, ८८६-८८७, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण)।

समुद्रव्रत : चैत्र शुक्ल १ से प्रारम्भ; सात दिनों तक प्रतिदिन; लवण, दूध, घी, दधिमण्ड, जलमिश्रित मदिरा, गन्ना के रस एवं मीठे दही से पूजा; रात्रि में हविष्य-भोजन; घी से होम; एक वर्ष तक; अन्त में एक दुधारू गाय का दान; राजा सम्पूर्ण विश्व का अधिपति हो जाता है; स्वास्थ्य, धन एवं स्वर्ग की

प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० २, ४६४-४६५, विष्णुधर्मोत्तरपुराण ३।१६०।१-७ से उद्धरण)। कभी-कभी समुद्र के सात प्रकार कहे गये हैं, यथा वायुपुराण (४९।१२३) एवं कूर्मपुराण (१।४५।४) में, और वे हैं लवण, ईख के रस, मद्य, दूध, घी, दही एवं जल के समुद्र।

समुद्र-स्नान : पूर्णिमा एवं अमावास्या जैसे पर्वदिनों पर समुद्र में स्नान करना चाहिए, किन्तु मंगलवार एवं शुक्रवार को नहीं; समुद्र एवं अश्वत्थ वृक्ष का सम्मान करना चाहिए, किन्तु उन्हें छूना नहीं चाहिए, किन्तु शनिवार को अश्वत्थ का स्पर्श किया जा सकता है; सेतु अर्थात् रामेश्वरम् में स्नान करने के लिए काल सम्बन्धी कोई अवरोध नहीं है; धर्मसिन्धु (३६)।

सम्पद्-गौरीव्रत : माघ शुक्ल १ पर; कुम्भ मास में सभी विवाहित एवं अविवाहित नारियों के लिए।

सम्पद्-व्रत : पंचमी को लक्ष्मी-पूजन एवं उपवास; एक वर्ष तक; वर्ष के अन्त में कलश में कुछ सोना रखकर दान; कर्ता प्रत्येक जन्म में धनी होता है और विष्णु-लोक जाता है; यह षष्ठी का व्रत है; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४४१-४४२, मत्स्यपुराण १०१।१९-२०); वर्षक्रियाकौमुदी (३४, मत्स्यपुराण से उद्धरण)।

सम्पुट-सप्तमी : देखिए ऊपर 'अर्कसम्पुटसप्तमी'।

सम्पूर्णव्रत : किसी त्रुटि या अवरोध या विघ्नविनायकों द्वारा दूषित किये गये सभी व्रतों को यह व्रत पूर्ण कर देता है; किसी देव की अपूर्ण पूजा में उस देव की स्वर्ण या रजत प्रतिमा का निर्माण करना चाहिए; उसके निर्माण के एक मास उपरान्त किसी ब्राह्मण द्वारा उसे दूध, दही, घी एवं जल से स्नान कराकर पुष्पों आदि से पूजा करनी चाहिए तथा चन्दन लेप से सिक्त जलपूर्ण कलश से उस देव को अर्घ्य देना चाहिए और अपूर्ण पूजा को पूर्ण करने के निमित्त प्रार्थना करनी चाहिए और 'स्वाहा' के साथ आहुतियाँ दी जानी चाहिए; आचार्य द्वारा 'तुम्हारी अपूर्ण पूजा पूर्ण हो गयी है' कहा जाना चाहिए। पुराण ने जोड़ा है—'देव ब्राह्मणों की बात मान लेते हैं; ब्राह्मणों में सभी देव अवस्थित रहते हैं; उनके वचन असत्य नहीं होते'; हेमाद्रि (व्रत० २, ८७६-८७९, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण)।

सम्प्राप्ति-द्वादशी : पौष कृष्ण १२ पर; अच्युत (कृष्ण) की पूजा; नास्तिकों आदि से न बोलना; वर्ष के दो भागों में; पौष से ६ मासों में क्रमशः पुण्डरीकाक्ष के रूप में, माधव रूप में (माघ में), विश्व रूप रूप में (फाल्गुन में), पुरुषोत्तम रूप में (चैत्र में), अच्युत रूप में (वैशाख में) तथा जय रूप में (ज्येष्ठ में); प्रथम ६ मासों में स्नाम एवं भोजन में तिल का प्रयोग; आषाढ़ से आगे के ६ मासों में पंचगव्य; इन ६ मासों में भी पूर्वोक्त नामों से ही पूजा; एकादशी को व्रत तथा द्वादशी को नक्त या एकभक्त; वर्ष के अन्त में एक गाय, वस्त्र, हिरण्य, अन्न, भोजन, आसन एवं पलंग का 'केशव प्रसन्न हों' के साथ दान; सभी कामनाओं की पूर्ति, इसी से व्रत का नाम सम्प्राप्ति है; हेमाद्रि (व्रत० १, १०९४-१०९५, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)।

सम्भोग-व्रत : दो प्रथम एवं दो पंचमी तिथियों पर उपवास; सूर्य का ध्यान, पत्नी के साथ लेटे हुए भी न तो प्रेम प्रदर्शित करना और न संभोग करना; ऐसा करने से सहस्रों वर्षों के तप के बराबर फल होता है; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३८८); हेमाद्रि (व्रत० २, ३९४, भविष्यपुराण से उद्धरण)।

सरस्वतीपूजाविधि : आश्विन शुक्ल में मूल-नक्षत्र पर सरस्वती का आवाहन, प्रतिदिन पूजा और श्रवण (जो मूल से चौथा नक्षत्र है) पर विसर्जन कुल; चार दिनों तक सामान्यतः आश्विन शुक्ल ७ से १० तक; व्रतराज (२४८-२४९); वर्षकृत्यदीपक (९३ एवं २६८-२६९); दोनों ग्रन्थों में ऐसा आया है कि इन दिनों अध्ययन, अध्यापन एवं पुस्तक-लेखन वर्जित है।

सरस्वतीस्थापन : आश्विन शुक्ल नवमी पर सरस्वती को पुस्तकों में स्थापित किया जाता है; वर्षकृत्यदीपक (९२-९३ एवं २६८-२६९)। तमिल देशों में एक विशिष्ट सरस्वती-पूजा होती है, जिसमें बड़े-बूढ़ों एवं छोटों की पुस्तकें एकत्र की जाती हैं, कन्याएँ एवं विवाहित नारियाँ अपनी संगीत-पुस्तकें एवं वीणा लाती हैं और सब की पूजा सरस्वती के रूप में की जाती है। शिल्पकारों एवं श्रमिकों में आज के दिन आयुधपूजा (उनके व्यापारिक यन्त्रों की पूजा) होती है।

सरिद्व्रत : मनोनुकूल नदी की पूजा; पुण्य प्राप्त होता है; हेमाद्रि (व्रत० १, ७९०, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण); कुछ लोग इसे सप्तमी-व्रतों के अन्तर्गत रखते हैं।

सर्पपंचमी : पंचमी को पर्याव्रत करना चाहिए, किसी ब्राह्मण को एक स्वर्ण-सर्प का दान करना चाहिए; इससे सर्पों से भय नहीं होता; हेमाद्रि (व्रत० १, ५६७, भविष्यपुराण से उद्धरण)।

सर्पबलि : देखिए स्मृतिकौस्तुभ (१७०-१७१)।

सर्पविषापह-पंचमी : श्रावण कृष्ण ५ पर; द्वार के दोनों ओर गोबर से सर्पों की आकृति बनाना; गेहूँ, दूध, भुने अन्नों, दही, दूर्वाशाखाओं, पुष्पों आदि से उनकी पूजा; सर्प प्रसन्न हो जाते हैं, सात पीढ़ियों तक सर्पों का भय नहीं रहता; हेमाद्रि (व्रत० १, ५६४-५६५, स्कन्दपुराण के प्रभास-खण्ड से उद्धरण); कृत्यकल्पतरु (९४, भविष्यपुराण १।३२।६२-६४ से उद्धरण); हेमाद्रि (व्रत० १, ५६४)।

सर्वकामव्रत : (१) माघ कृष्ण १४ पर पितरों की पूजा; यज्ञ करने का पुण्य; हेमाद्रि (व्रत० २, १५५, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण); (२) मार्गशीर्ष ११ पर उपवास, चन्द्र तथा मंगल, सूर्य, निर्ऋति (मृत्यु एवं विपत्ति की देवी), वरुण, अग्नि, रुद्र, मृत्यु, दुर्गा आदि ११ देवी-देवताओं की पूजा; एक वर्ष तक; अन्त में एक गोदान; रुद्रलोक की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० १, ११५१, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)।

सर्वकामावाप्तिव्रत : इसमें कार्तिक से १२ मालाएँ (सरणियाँ) होती हैं; कार्तिक पूर्णिमा पर पड़ने वाली कृत्तिका पर उपवास एवं एक वर्ष तक गन्ध, पुष्पों आदि से नरसिंह-पूजा; वर्ष के अन्त में श्वेत बछड़े के साथ एक श्वेत गाय एवं चाँदी का दान; शत्रुओं से मुक्ति; मार्गशीर्ष से आगे आश्विन तक, उस नक्षत्र पर उपवास जिसके उपरान्त पूर्णिमाएँ ज्ञापित होती हैं तथा कृष्ण, उनके रूपों एवं अवतारों की विभिन्न नामों से (मार्गशीर्ष में अनन्त, पौष में बलदेव, माघ में वराह...) पूजा; वर्ष के अन्त में किये गये दान विभिन्न होते हैं; इससे सभी कामनाएँ पूर्ण होती हैं, पाप नष्ट होते हैं और स्वर्ग-प्राप्ति होती है; हेमाद्रि (व्रत० २, ६५५-६५९, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)।

सर्वगन्ध : (सभी सुगन्धित द्रव्य)। ये विभिन्न ढंगों से उल्लिखित हैं। हेमाद्रि (व्रत० १, ४४) ने दो रूप दिये हैं : (१) कर्पूर, चन्दन, कस्तूरी एवं कुंकुम को बराबर मात्रा में सर्वगन्ध कहा जाता है; (२) कर्पूर, अगुरु, कस्तूरी, चन्दन, कक्कोल।

सर्वफलत्याग : मार्गशीर्ष शुक्ल ३, ८, १२ या १४ पर या अन्य मासों की इन्हीं तिथियों पर; ब्राह्मणों को पायस का भोज; एक वर्ष तक १८ धान्यों में कोई एक धान्य, सभी फलों एवं कन्दों का त्याग, किन्तु ओषधि के रूप में इनका ग्रहण हो सकता है; रुद्र, उनके बैल एवं धर्मराज (यम) की स्वर्ण-प्रतिमाओं का निर्माण; स्वर्ण, रजत एवं ताम्र के १६ चित्र, प्रत्येक दल में बड़े-बड़े फल (यथा बेल आदि), छोटे-छोटे फल (उदुम्बर, नारियल), कन्द (सुवर्णकन्द आदि); अन्नराशि पर दो जलपूर्ण कलश; एक पलंग; ये सभी पदार्थ एक गाय के साथ किसी गृहस्थ ब्राह्मण को दे दिये जाते हैं; 'मुझे अक्षय फल प्राप्त हो' का कथन; मत्स्यपुराण (९६।१-२५)।

सर्वमंगलत्रयोदशी : प्रति मास शुक्ल १३ पर एकभक्त या नक्त या उपवास तथा कृष्ण, बलभद्र एवं मंगला (दुर्गा) देवी (जिसे अंकावंका कहा जाता है) की पूजा; इन तीनों के स्मरण या इन तीनों की प्रतिमाओं की पूजा एवं पुष्प, मांस एवं मदिरा अर्पण से सभी कठिनाइयों पर विजय; हेमाद्रि (व्रत० २, १६-१७, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण); कृष्ण ने युधिष्ठिर से कहा था कि उनके गुरु सान्दीपनि ने जब दक्षिणा के रूप में उनसे अपने मृत पुत्र को जीवित कर देने को कहा तो उन्होंने (कृष्ण ने) देवी का ध्यान किया और मृत पुत्र को पुनर्जीवित कर दिया।

सर्वव्रत : शनिवार को पड़ने वाली शुक्ल १३ पर शिव-पूजा तथा उपवास; महापातकों से मुक्ति; हेमाद्रि (व्रत० २, २४)।

सर्वाप्ति-व्रत : यह चतुर्मूर्तिव्रत है; एक वर्ष तक चार मासों की तीन अवधियों में; विष्णु के चार रूप है: बल, ज्ञान, ऐश्वर्य एवं शक्ति; वासुदेव, संकर्षण, रुद्र एवं अनिरुद्ध पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर की चार दिशाओं के चार मुख हैं जो बल, ज्ञान आदि रूपों के प्रतिनिधि हैं; चैत्र से आगे के चार मासों में पूर्व से उत्तर के रूपों की पूजा; किसी ब्राह्मण को दिये जाने वाले दान-पदार्थ चैत्र में गृहस्थी के लिए उपयोगी होते हैं, वैशाख में युद्ध-सामग्री के योग्य, ज्येष्ठ में कृषि के लिए उपयोगी तथा आषाढ़ में यज्ञ के लिए उपयोगी होते हैं; यही विधि आगे की अवधियों में, यथा श्रावण तथा मार्गशीर्ष से आरम्भ होने वाले मासों में लागू होती है; स्वर्ग की प्राप्ति, इन्द्रलोक एवं विष्णु से सालोक्य की उपलब्धि; हेमाद्रि (व्रत० २, ५०२-५०३, विष्णु-धर्मोत्तर० ३।१४०।१-१३ से उद्धरण)।

सर्वाप्तिसप्तमी : माघ कृष्ण ७ पर; ध्यानपूर्वक सूर्य-पूजा; एक वर्ष तक; वर्ष की दो अवधियों में; प्रथम ६ मासों में तिल का स्नान एवं भोजन में प्रयोग, इन मासों में सूर्य के नाम क्रम से माघ मास से ये हैं : मार्तण्ड, अर्क, चित्रभानु, विभावसु, भग एवं हंस; दूसरी अवधि के ६ मासों में स्नान एवं भोजन में पंचगव्य का प्रयोग; रात्रि में भोजन किन्तु नमक एवं तेल का त्याग; सभी इच्छाओं की पूर्ति; कृत्यकल्पतरु (व्रत० १६८-१६९); हेमाद्रि (व्रत० १, ७३५-७३६, भविष्यपुराण १।१०८।१-१२ से उद्धरण)।

सर्वौषधि : मुख्य ओषधियाँ, यथा—मुरा, मांसी, वचा, कुष्ठ, शैलज, दो हरिद्राएँ, शुण्ठी (सूखी अदरख), चम्पक एवं मुस्ता; अग्निपुराण (१७७।१३); मदनरत्न (शान्ति पर); कृत्यकल्पतरु (शान्तिक); वर्षक्रियाकौमुदी (२१२, दस नाम आये हैं); पुरुषार्थचिन्तामणि (३०७); व्रतराज (१६, दस नाम किन्तु विभिन्न रूप से); हेमाद्रि (व्रत० १, पृ० ४९) में आया है—'कुष्ठं मांसी हरिद्रे द्वे मुरा शैलेयचन्दनम्। वचा चम्पकमुस्ते च सर्वौषध्यो दश स्मृताः॥'

सर्षपसप्तमी : तिथिव्रत; देवता सूर्य; सात सप्तमियों पर कर्ता सूर्याभिमुख हो अपनी हथेली पर पंचगव्य या अन्य द्रव पदार्थ रखता है तथा प्रथम से सातवीं सप्तमी तक क्रम से एक से आरम्भ कर सात सरसों रखकर उन्हें देखता है और अपने मन में कोई कामना करता है तथा सरसों से सम्बन्धित मन्त्र का उच्चारण कर बिना दाँत मिलाये पी जाता है; होम एवं जप; पुत्रों, धन एवं कामनाओं की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० १, ६८६-६८७, भविष्यपुराण से उद्धरण), कृत्यकल्पतरु (व्रत० १८७-१८८)।

सस्योत्सव : (तैयार हो गये अनाजों का उत्सव) शुक्ल पक्ष में किसी शुभ तिथि, नक्षत्र एवं मुहूर्त पर खेत में संगीत, गान के साथ जाना, अग्नि जलाकर होम करना, कुछ पके अनाज लेकर वैदिक मन्त्रों के साथ देवों एवं पितरों को अर्पित करना; कर्ता दही से मिलाकर पका अन्न खाता है और उत्सव करता है; हेमाद्रि (व्रत० २, ९१४, ब्रह्मपुराण)।

सहस्रभोजनविधि : सहस्र ब्राह्मणों को भोज देने की विधि; स्मृतिकौस्तुभ (४५४-४५५, बौधायनसूत्र का उद्धरण)। इसे अपने घर या किसी मन्दिर में करना चाहिए; पके भोजन से तथा घृत से होम, विष्णु के १२ नामों, यथा—केशव, नारायण आदि का प्रयोग; भाँति-भाँति के दान।

सागरव्रत : यह चतुर्मूर्तिव्रत है; मासव्रत; श्रावण से चार मासों तक; चार जलपूर्ण घटों को चार समुद्रों के रूप में (हरि के चार रूप, यथा—वासुदेव, संकर्षण आदि) पूजना; इन मासों के सभी दिनों में किसी नदी में स्नान; प्रतिदिन होम; कार्तिक के अन्तिम दिन में ब्राह्मणों को सम्मान एवं तिल के तेल का दान; स्वर्ग-प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० २, ८२९, विष्णुधर्मोत्तरपुराण ३।१४५।१-६ से उद्धरण)।

साधनदशमीव्रत : शुक्ल एवं कृष्ण की दशमी पर; यह एकादशी का एक अंग है; अहल्याकामधेनु (पाण्डुलिपि ६४०)।

साध्यव्रत : मार्गशीर्ष शुक्ल १२ पर; तिथिव्रत; देवता साध्य गण; एक वर्ष तक; साध्य गण १२ अर्धदेव कहे जाते हैं; हेमाद्रि (व्रत० १, ११७३, विष्णुधर्मोत्तरपुराण ३।१८१।१-३ से उद्धरण); विष्णुधर्मोत्तरपुराण ने १२ साध्यों के नाम दिये हैं।

सामव्रत : यह संवत्सरव्रत है; एक वर्ष तक गोबर से बने वृत्त में शिव एवं कृष्ण की प्रतिमा को स्नान कराना; अन्त में किसी सामवेदी ब्राह्मण को तिलधेनु के साथ एक स्वर्णघट का दान; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४४२-४४३, मत्स्यपुराण १०१।२५-२६ से उद्धरण); हेमाद्रि (व्रत० २, ८६४, पद्मपुराण के श्लोक)।

सारस्वतव्रत : (१) यह संवत्सरव्रत है; मत्स्यपुराण (६६।३-१८); कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४३५-४३६); हेमाद्रि (व्रत० १, ५५३-५५५; शुक्ल पक्ष की उस तिथि पर जिसके अपने प्रिय देवता स्वामी हों या पंचमी पर, रविवार को या किसी शुभ दिन पर आरम्भ; दोनों संध्याओं में एवं भोजन करते समय मौन व्रत; सरस्वती-पूजा तथा सुवासिनियों (सधवा नारियों) का सम्मान; पद्मपुराण (५।२२।१७८-१९४); भविष्योत्तरपुराण (३५। ३-१९); (२) एक वर्ष तक दोनों संध्याओं में मौन-साधन; वर्ष के अन्त में घृतपूर्ण घट, दो वस्त्रों, तिल एवं एक घण्टे का दान; सरस्वती-लोक की प्राप्ति; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४४१); हेमाद्रि (व्रत० २, ८६२, पद्मपुराण से उद्धरण); यह मत्स्यपुराण (१०१।१७-१८) में वर्णित है; (३) चैत्र शुक्ल १ से प्रारम्भ कर सात दिनों तक; सुप्रभा, कांचनाक्षी, विशाला, मानसरोवर, त्रिनादा, सुवेणु, विमलोदका (ये सभी सरस्वती के या उसकी शाखाओं के नाम हैं) की पूजा; प्रतिदिन दही से होम; दही से मिश्रित ब्रह्म-भोज; रात में घृत के साथ भात खाना; एक वर्ष तक; अन्त में अर्थात् फाल्गुन कृष्ण में अन्तिम सात दिनों तक एक से आरम्भ कर क्रम से सात वस्त्रों का दान; विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।१६४।१-७)।

सार्वभौमव्रत : कार्तिक शुक्ल १० से आरम्भ; उस दिन दही एवं पके भोजन से नक्त-विधि; पवित्र भोजन से दस दिशाओं की पूजा; विभिन्न रंगों के पुष्पों एवं भोज्य पदार्थों से ब्राह्मणों का सम्मान; एक वर्ष तक; जो राजा इसे करता है, वह विजयी एवं सम्राट् हो जाता है; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३०९); हेमाद्रि (व्रत० १, ९९२-९९३), दोनों में वराहपुराण (६५।१-६) से उद्धरण; कृत्यरत्नाकर (४२०); विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।१६४-१-७)।

सावित्रीव्रत : देखिए गत अध्याय ४।

सिंहस्थ-गुरु : जब बृहस्पति सिंह राशि में रहता है तो शत्रु पर आक्रमण, विवाह, उपनयन, गृह-प्रवेश, देवप्रतिमा स्थापना तथा कोई भी शुभ कार्य नहीं किया जाता है; मलमासतत्त्व (पृ० ८२८); भुजबलनिबन्ध (पृ० २७४); शुद्धिकौमुदी (पृ० २२२)। ऐसा विश्वास है कि सिंहस्थ बृहस्पति में सभी तीर्थस्थान गोदावरी में आ जाते हैं, अतः उस समय उसमें स्नान करना चाहिए (ऐसा काल एक वर्ष तक रहता है)। सिंहस्थ गुरु में विवाह

एवं उपनयन के सम्पादन के विषय में कई मत हैं, कुछ लोगों का कथन है कि विवाह एवं अन्य शुभ कर्म मघा नक्षत्र वाले बृहस्पति (अर्थात् सिंह के प्रथम १३⅓ अंश में) में वर्जित हैं। अन्य लोगों का कथन है कि गंगा एवं गोदावरी के मध्य के प्रदेशों में विवाह एवं उपनयन सिंहस्थ गुरु के सभी दिनों में वर्जित हैं; किन्तु अन्य कृत्य मघा नक्षत्र में स्थित गुरु के अतिरिक्त कभी भी किये जा सकते हैं। अन्य लोग ऐसा कहते हैं कि जब सूर्य मेष राशि में हो तो सिंहस्थ गुरु का कोई अवरोध नहीं है। इस विवेचन के लिए देखिए स्मृतिकौस्तुभ (पृ० ५५७-५५९)। ऐसा विश्वास किया जाता है कि अमृत का कुम्भ जो समुद्र से प्रकट हुआ, सर्वप्रथम देवों द्वारा हरिद्वार में रखा गया, तब प्रयाग में और उसके उपरान्त उज्जैन तथा अन्त में नासिक के पास त्र्यम्बकेश्वर में रखा गया।

सितसप्तमी : मार्गशीर्ष शुक्ल ७ पर उपवास, कमलों एवं श्वेत पुष्पों से सूर्य या उसकी प्रतिमा की पूजा; अन्त में श्वेत वस्त्रों का दान; हेमाद्रि (व्रत० १, ७७८-७७९, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)।

सितासप्तमी : भुवनेश्वर में; १४ यात्राओं में एक यात्रा; माघ शुक्ल सप्तमी पर; गदाधरपद्धति (कालसार, १९१)।

सिद्ध : शुक्रवार, प्रथमा, षष्ठी, एकादशी, त्रयोदशी, नक्षत्रों में पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराषाढा, हस्त, श्रवण एवं रेवती को सिद्ध कहा जाता है। इनमें सभी शुभ कृत्य किये जाते हैं; निर्णयामृत (३०)।

सिद्धार्थकादिसप्तमी : माघ या मार्गशीर्ष शुक्ल ७ पर, यदि अस्वस्थता हो तो किसी भी मास की सप्तमी पर; सूर्योदय के पूर्व आधे प्रहर (लगभग चार घटिकाओं) तक दाँतों को विशिष्ट वृक्षों की टहनियों से स्वच्छ किया जाता है (जिनमें प्रत्येक किसी कामना की पूर्ति के योग्य मानी जाती है, यथा मधूक से पुत्र प्राप्त होते हैं, अर्जुन से सौभाग्य स्थिर होता है, निम्ब से समृद्धि प्राप्त होती है, अश्वत्थ से यश मिलता है...आदि)। जब दातुन फेंक दी जाती है तो उसके गिरने के ढंग से शकुन निकाले जाते हैं। सात सप्तमियाँ मनायी जाती हैं, पहली सरसों से, दूसरी अर्क की कलियों से, तीसरी से सातवीं सप्तमी क्रम से मरिच, निम्ब, ६ फलों, भोजन (भात नहीं) से; जप, होम, सूर्य-पूजा, सूर्य-प्रतिमा के समक्ष सोना; गायत्री का पाठ (ऋ० ३।६२।१०); सूर्य-प्रतिमा के समक्ष सोते समय आये हुए स्वप्नों का निरूपण; विभिन्न पुष्पों से सूर्य-पूजा करने से विभिन्न लाभ, यथा—कमलों से यश, मन्दार से कुष्ठ हरण, अगस्त्य से सफलता आदि; ब्रह्म-भोज एवं रंगीन वस्त्रों, सुगन्धों, पुष्पों, हविष्य भोजन, एक गाय का दान; कृत्यकल्पतरु (व्रत० १७२-१८०); हेमाद्रि (व्रत० १, ६७९-६८५, भविष्यपुराण १।१९३।२-२१ से उद्धरण); कृत्यकल्पतरु (व्रत०) ने भविष्यपुराण (१९७।१-१०) को उद्धृत किया है।

सिद्धिविनायकव्रत : शुक्ल ४ पर या जब श्रद्धा एवं भक्ति से प्रेरित कोई हर्षपूर्ण जागरण हो तब गणेश की पूजा; तिलयुक्त जल से स्नान; गणेश की हिरण्य या रजत की प्रतिमा की पूजा; पंचामृत से प्रतिमा-स्नान तथा गन्ध, पुष्पों, धूप दीप एवं नैवेद्य का, गणाध्यक्ष, विनायक, उमासुत, रुद्रप्रिय, विघ्ननाशन के नामों के साथ अर्पण; २१ दूर्वाशाखाओं का अर्पण, २१ मोदक प्रतिमा के समक्ष रखे जाते हैं, एक गणेश के लिए, १० पुजारी तथा १० कर्ता के लिए; विद्या, धन एवं युद्ध में सिद्धि (सफलता) की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० १, ५२५-५२९, स्कन्दपुराण से उद्धरण); स्मृतिकौस्तुभ (२१०-२१६); पुरुषार्थचिन्तामणि (९५); व्रतराज (१४३-१५१)।

सीतलाषष्ठी : माघ शुक्ल ६ पर; बंगाल में प्रचलित; गुजरात में श्रावण कृष्ण ८ पर सीतलासप्तमी; उत्तर भारत में फाल्गुन (चैत्र) कृष्ण ८ पर सीतलाष्टमी।

सीतापूजा : (१) 'सीता' का अर्थ है 'कर्षित भूमि'। कृत्यरत्नाकर (५१८, ब्रह्मपुराण से उद्धरण) में आया है कि नारद के कहने पर दक्ष के पुत्रों द्वारा फाल्गुन कृष्ण ८ को पृथिवी मापी गयी थी; अतः देव एवं पितर लोग

उस दिन अपूपों (पूओं) के साथ श्राद्ध की अभिलाषा करते हैं; (२) राम की पत्नी सीता की पूजा, जो फाल्गुन कृष्ण ८ को उत्पन्न हुई थीं; कृत्यरत्नाकर (५२६-५२९ एवं ५१८)। और देखिए 'फाल्गुनकृत्य' के अन्तर्गत।

सीमोल्लंघन : देखिए 'विजयादशमी' के अन्तर्गत, गत अध्याय १०; तिथितत्त्व (१०३); पुरुषार्थ-चिन्तामणि (१४५-१४८)।

सुकलत्रप्राप्तिव्रत : कुमारियों, सधवाओं एवं विधवाओं के लिए; नक्षत्रव्रत; देवता नारायण; कुमारी को तीन नक्षत्रों, यथा—उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा एवं उत्तराभाद्रपदा को जगन्नाथ की पूजा करनी चाहिए तथा 'माधव' नाम लेना चाहिये, प्रियंगु एवं लाल पुष्पों का अर्पण करना चाहिये तथा कुंकुम का लेप करना चाहिये; 'माधव को प्रणाम' के साथ मधु एवं घी से होम; सुन्दर पति की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० २, ६२८-६३०, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण); शिव ने इस व्रत का वर्णन पार्वती से किया था।

सुकुलत्रिरात्रव्रत : मार्गशीर्ष मास में उस तिथि को जो त्र्यहस्पृक् हो, इसे किया जाता है; तीन दिनों तक उपवास; श्वेत, पीत एवं लाल पुष्पों, तीन लेपों तथा गुग्गुल, कुटुक (कटुक?) एवं राल की धूप से त्रिविक्रम (विष्णु) की पूजा; त्रिमधुर का अर्पण; तीन दीप; जौ, तिल एवं सरसों से होम; त्रिलोह (सोना, रजत एवं ताम्र) का दान; हेमाद्रि (व्रत० २, ३२२-३२३, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)। 'त्रिमधुर' एवं 'त्र्यहस्पृक्' को इनके अन्तर्गत देखिए।

सुकृततृतीया-व्रत : हस्त-नक्षत्र में श्रावण शुक्ल ३ पर; तिथिव्रत; नारायण एवं लक्ष्मी की पूजा; तीन वर्षों के लिए; मन्त्र ये हैं—'विष्णोर्नु कम्' (ऋ० १।१५४।१) एवं 'सक्तुमिव' (ऋ० १०।७२।२); व्रतराज (१०१-१०३); कृष्ण ने इस व्रत का वर्णन अपनी बहिन सुभद्रा से किया है।

सुकृतद्वादशी : तिथिव्रत; देवता विष्णु; फाल्गुन शुक्ल ११ पर उपवास एवं द्वादशी पर विष्णु-पूजा; एकादशी को दिन एवं रात्रि में 'नमो नारायणाय' का जप; कर्ता द्वारा क्रोध ईर्ष्या, लोभ, शठता आदि का त्याग; 'यह संसार व्यर्थ है' का स्मरण करना; यही विधि द्वादशी को भी; एक वर्ष तक प्रतिमास; अन्त में हरि की स्वर्ण-प्रतिमा की पूजा एवं एक गाय के साथ उसका दान; कर्ता नरक का दर्शन नहीं करता; हेमाद्रि (व्रत० १, १०७९-१०८१, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)।

सुखरात्रि या सुखरात्रिका : दीवाली (आश्विन अमावास्या) के लक्ष्मीपूजन को ऐसा कहा गया है; समयप्रदीप (पाण्डुलिपि, ४१ बी०), कृत्यतत्त्व (४३१); वर्षक्रियाकौमुदी (४६७-४६९); कालविवेक (४०३-४०४); दे० गत अध्याय १०।

सुखव्रत : (१) कृष्ण ७ पर उपवास तथा कृष्ण ८ पर नक्त; इहलोक में सुख एवं परलोक में स्वर्ग; हेमाद्रि (व्रत० २, ५०९, भविष्यपुराण से एक श्लोक); कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३८७, यहाँ तिथियाँ ६ एवं ७ हैं); (२) चतुर्दशी पर देवों की पूजा; शेष स्पष्ट नहीं है; हेमाद्रि (व्रत० २, १५५, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण); (३) अष्टमी पर ऋषियों की पूजा करने से सुख की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० १, ६२८, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से आधा श्लोक); (४) जब शुक्ल ४ को मंगलवार हो तो नक्त; चार चतुर्थियों पर किया जाने वाला; मंगल की पूजा (मंगल उमा के पुत्र कहे गये हैं); सिर पर मिट्टी रखना, उसे सारे शरीर पर लगाकर स्नान करना; दूर्वा, अश्वत्थ, शमी एवं गौ को छूना; १०८ आहुतियों से मंगल के लिए होम; सोने या रजत या ताम्र या सरल काष्ठ या देवदारु या चन्दन के पात्र में मंगल की प्रतिमा को रखकर उसकी पूजा; हेमाद्रि (व्रत० १, ५१४-५१९, भविष्यपुराण से उद्धरण); पुरुषार्थचिन्तामणि (९५); (५) षष्टिव्रत (मत्स्यपुराण १०१।७३); कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४५०); स्पष्ट नहीं है।

सुखसुप्तिका : यह सुखरात्रि ही है; हेमाद्रि (व्रत० २,३४८-३४९, आदित्यपुराण से उद्धरण); कृत्यकल्पतरु (नैयतकालिक, ४२१-४२२)।

सुखचतुर्थी : शुक्ल पक्ष में चतुर्थी जब मंगलवार को पड़ती है तो उसे सुखचतुर्थी या सुखदाचतुर्थी कहते हैं; हेमाद्रि (व्रत० १, ५१४ भविष्यपुराण १।३१।१६ से उद्धरण); कृत्यरत्नाकर (२७१); वर्षक्रियाकौमुदी (३१, देवीपुराण से उद्धरण)।

सुगतिद्वादशी : फाल्गुन शुक्ल ११ से प्रारम्भ; तिथिव्रत, कृष्ण देवता; उस दिन उपवास, कृष्ण-पूजा; १०८ बार कृष्ण का नाम-जप; एक वर्ष तक; ४-४ मासों के क्रम से ३ अवधियों में विभाजित; फाल्गुन से आरम्भ होने वाले चार मासों में कृष्ण-नामजप एवं कृष्ण-प्रतिमा के पादों पर जल की तीन धाराएँ; आषाढ़ से आश्विन तक की दूसरी अवधि में केशव-नामजप (जिससे कि मृत्यु के समय केशव नाम स्मरण हो सके); तीसरी अवधि में विष्णुनाम का जप; दैवी सुख एवं विष्णुलोक की प्राप्ति होती है; हेमाद्रि (व्रत०१,१०८१-१०८३,विष्णुधर्मोत्तर-पुराण ३।२१५।४-२२ से उद्धरण)।

सुगतिपौषमासीकल्प : (पौर्णमासी ?) फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा पर; तिथिव्रत; देवता विष्णु; कर्ता तेल एवं नमक का त्याग करके नक्त-विधि से रहता है; एक वर्ष तक, ४ मासों की तीन अवधियों में; लक्ष्मी के साथ केशव की पूजा; उस दिन नास्तिकों, पाषण्डियों, महापातकियों एवं चाण्डालों से नहीं बोलना चाहिए; हरि एवं लक्ष्मी को चन्द्र एवं रात्रि के समान माना जाता है; विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।२१६-।१७)।

सुगतिव्रत : (१) देवों के स्वामी की पूजा से सर्वोत्तम स्थिति की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० १, ७९२, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण); (२) एक वर्ष तक सभी अष्टमियों पर नक्त-विधि से भोजन करना; अन्त में गोदान; इन्द्र की स्थिति की प्राप्ति; तिथिव्रत; देवता इन्द्र; हेमाद्रि (व्रत० १, ८८१, पद्मपुराण से उद्धरण); मत्स्यपुराण (१०१।५६); अहल्याकामधेनु (पाण्डुलिपि ५६१ बी) ने इसे सुगत्यष्टमी कहा है।

सुजन्मद्वादशी : पौष शुक्ल १२ पर जब कि यह ज्येष्ठा-नक्षत्र पर पड़ती है; तिथिव्रत; देवता विष्णु; उपवास के साथ एक वर्ष तक प्रति मास विष्णु-पूजा; प्रति मास क्रम से घी, चावल, जौ, सोना, पकाये जौ, जल, पकाये अन्न, छत्र, पायस, गन्ना-रस, चन्दन एवं वस्त्र का दान और क्रम से निम्नलिखित को ग्रहण करना—गोमूत्र, जल, घी, हरी तरकारियाँ, दूर्वा, दही, चावल, जौ, तिल, सूर्य की किरणों से गर्म किया गया जल, दर्भयुक्त जल, दूध; रोग-मुक्त, मेधावी, प्रसन्न हो जाता है तथा उस कुल में पुनः उत्पन्न होता है जहाँ धन, अन्न आदि का प्राचुर्य होता है और चिन्ता नहीं व्यापती; हेमाद्रि (व्रत० १, ११७४-७५, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)।

सुजन्मावाप्तिव्रत : यह संक्रान्तिव्रत है; जब सूर्य मेष राशि में प्रवेश करता है तो उस दिन इसका आरम्भ होता है; यह वर्ष की सभी १२ संक्रान्तियों पर किया जाता है; प्रति संक्रान्ति पर उपवास, क्रम से सूर्य, भार्गव राम (परशुराम), कृष्ण, विष्णु, वराह, नरसिंह, दाशरथि राम, राम (बलराम), मत्स्य की प्रतिमाओं की पूजा; इनके चित्र भी किसी वस्त्र पर बनाकर पूजे जा सकते हैं; प्रत्येक संक्रान्ति पर उपर्युक्त नाम से होम; एक वर्ष तक; अन्त में जलधेनु का, छत्र एवं चप्पलों के साथ दान; प्रत्येक मास में सोने एवं दो वस्त्रों का दान; दीपमाला से रात्रि में पूजा; कर्ता निम्न पशुओं एवं म्लेच्छों में जन्म नहीं पाता; हेमाद्रि (व्रत० २, ७२७-७२८, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण); पुरुषार्थचिन्तामणि (१२); हेमाद्रि ने तुला एवं अन्य दो आगे वाली राशियों में पूजा का उल्लेख नहीं किया है। किन्तु विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।१९९) में ऐसा आया है कि जब सूर्य क्रम से तुला, वृश्चिक एवं धनु राशि में प्रवेश करता है तो क्रम से वामन, त्रिविक्रम एवं अश्वशीर्ष (हयग्रीव) की पूजा होती है।

सुदर्शनषष्ठी : इसे कोई क्षत्रिय या राजा सम्पादित करता है; किसी चक्र की नाभि पर कमल से मण्डल खींचने के उपरान्त षष्ठी पर उपवास, बीजकोष पर सुदर्शन (विष्णु-चक्र) की स्थापना, लोकपालों के आयुधों की स्थापना दलों पर होती है; कर्ता के बाहु सक्षम रहते हैं; लाल चन्दन-लेप, सरसों, लाल कमल, लाल वस्त्रों आदि से पूजा; गुड़ युक्त भोजन, रोटियों एवं फलों का नैवेद्य; शत्रुओं के नाश, युद्ध में विजय एवं सेना की रक्षा के लिए सुदर्शन के मन्त्रों का पाठ; विष्णु के धनुष (शार्ङ्ग), गदा आदि तथा गरुड़ की पूजा; राजा को सिंहासन पर बैठाया जाता है और एक युवा स्त्री उसकी आरती उतारती है; यह कृत्य किसी अशुभ लक्षण के उदित होने पर तथा जन्म-नक्षत्र पर भी किया जाता है; हेमाद्रि (व्रत० १, ६२०-६२४, गरुड़पुराण से उद्धरण)।

सुदेशजन्मावाप्ति : यह 'सुजन्मावाप्तिव्रत' ही है; विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।१९९।१-१०)।

सुनामद्वादशी : मार्गशीर्ष शुक्ल की द्वादशी पर; दशमी को एकभक्त; एकादशी पर उपवास; सर्वप्रथम सूर्य-पूजा और उसके उपरान्त विष्णु-पूजा; तिथिव्रत; देवता, विष्णु; कर्ता को विचार, वचन एवं कर्म से पवित्र रहना होता है; एक जलपूर्ण कलश को स्थापना, जिसमें कुंकुम, मोती एवं बहुमूल्य रत्न डाले गये रहते हैं, उसे वस्त्र से ढँक दिया जाता है, उसमें केशव की स्वर्ण-प्रतिमा की पूजा; पौष, माघ तथा आगे के अन्य मासों की द्वादशियों पर विष्णु के विभिन्न नामों (यथा—नारायण, माधव आदि) की पूजा; एक वर्ष तक; प्रतिमायुक्त १२ कलशों का ब्राह्मणों को दान, इसी प्रकार १२ गायों, वस्त्रों या (यदि धनहीन हो) एक गाय तथा सोने से युक्त पात्र का दान; हेमाद्रि (व्रत० १, १०६३-१०७२, विष्णुपुराण से उद्धरण); अग्निपुराण (१८८।११) ने नामद्वादशी की चर्चा की है।

सुरूपद्वादशी : पौष कृष्ण १२ पर जब कि पुष्य नक्षत्र हो; एकादशी को उपवास तथा द्वादशी को एक पूर्ण घट में, जिसके ऊपर एक पात्र में तिल रखा गया हो, हरि की स्वर्णिम या रजत प्रतिमा का पूजन; तिलयुक्त भोजन का नैवेद्य; पुरुषसूक्त (ऋ० १०।९०) के मन्त्रों के साथ अग्नि में तिल की आहुतियाँ; उस रात्रि जागर; घर एवं प्रतिमा का दान; कुरूपता से छुटकारा; हेमाद्रि (व्रत० १, १२०५-१२१३); शिव ने इसे उमा को बताया और कहा कि सत्यभामा ने इससे लाभ उठाया; व्रतार्क (पाण्डुलिपि, २४७ए) ने इसे गुर्जरों में प्रचलित माना है।

सुव्रत : चैत्र शुक्ल ८ से वासुदेव के रूपों, आठ वसुओं की गन्ध, पुष्पों आदि से पूजा; एक वर्ष तक; अन्त में एक गोदान; सभी कामनाओं की पूर्ति एवं विष्णुलोक की प्राप्ति; विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।१७२।१-७)।

सूर्यनक्तव्रत : यह वार-व्रत है; देवता सूर्य; इसमें रविवार को नक्त-विधि का प्रयोग करना चाहिए; जब हस्त नक्षत्र हो तो उस रविवार को एकभक्त तथा उसके उपरान्त प्रत्येक रविवार को नक्त। सूर्यास्त काल पर १२ दलों वाले एक कमल का चित्र लाल चन्दन से खींचना और पूर्व से आरम्भ कर आठ दिशाओं में विभिन्न नामों (यथा—सूर्य, दिवाकर) का न्यास; कमल के बीजकोष के पूर्व में सूर्य के घोड़ों का न्यास; ऋग्वेद एवं सामवेद के प्रथम मन्त्रों एवं तैत्तिरीय संहिता के प्रथम चार मन्त्रों के साथ अर्घ्य; एक वर्ष तक; कर्ता रोग-मुक्त होता है, सन्तति एवं धन की उपलब्धि करता है तथा सूर्यलोक जाता है; हेमाद्रि (व्रत० २, ५३८-५४१, मत्स्यपुराण से उद्धरण)।

सूर्यपूजाप्रशंसा : विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।१७१।१-७) ने एक वर्ष तक सभी सप्तमियों पर सूर्य-पूजा या एक वर्ष तक रविवार पर नक्त-विधि से भोजन करने या सूर्योदय पर सदा सूर्य-पूजा करने से उत्पन्न फलों का उल्लेख किया है। भविष्यपुराण (१।६८।८-१४) ने सूर्य-पूजा के लिए उपयुक्त विशिष्ट पुष्पों तथा उनके अर्पण से उत्पन्न फलों का उल्लेख किया है।

सूर्यरथयात्रा-माहात्म्य : भविष्यपुराण (१।५८)। सूर्य की रथयात्रा माघ में प्रारम्भ होती है। यदि प्रति वर्ष न की जाय तो एक बार करने के १२ वर्षों के उपरान्त इसे सम्पादित करना चाहिए; इसे अल्पावधियों में तोड़

कर नहीं करना चाहिए; सूर्य के रथ पर शूद्र नहीं चढ़ सकता। आषाढ़, कार्तिक एवं माघ की पूर्णिमाएँ इस यात्रा के लिए अत्यन्त पवित्र मानी जाती हैं, इसे रविवार को पड़ने वाली षष्ठी या सप्तमी पर भी किया जा सकता है।

सूर्यव्रत : (१) षष्ठी पर उपवास तथा सप्तमी पर 'भास्कर प्रसन्न हों' के साथ सूर्य-पूजा; सभी रोगों से मुक्ति; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३८८-३८९); (२) माघ में प्रातःकाल स्नान तथा किसी गृहस्थ एवं उसकी पत्नी का पुष्पों, वस्त्रों, आभूषणों एवं भोज से सम्मान; सौभाग्य एवं स्वास्थ्य की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० २, ७९४, पद्मपुराण से उद्धरण), कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४४४, मत्स्यपुराण १०१।३६-४७ के समान ही); (३) आश्विन में आरम्भ, जब शुक्ल पक्ष के रविवार को चतुर्दशी हो; तिथिव्रत; देवता शिव; शिवलिंग के लिए विशिष्ट स्नान, लेप रूप में रोचना का प्रयोग तथा लाल पुष्पों से पूजा; कपिला गाय के घी एवं दूध से नैवेद्य; किसी शैव ब्राह्मण को दान; कुंकुम से युक्त भोजन-दान; इससे पुत्रों की उत्पत्ति होती है; हेमाद्रि (व्रत० २, ६४-६५, कालोत्तरपुराण से उद्धरण); (४) रविवार को कर्ता और कर्म करता है तथा गुड़ एवं नमक से युक्त रोटियों से सूर्य की पूजा करता है और उस दिन नक्त रखता है; सभी कामनाओं की पूर्ति, सूर्य-लोक की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० १, ७७९-७८०, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण); (५) चैत्र शुक्ल ६ एवं ७ पर सूर्य-पूजा; श्वेत मिट्टी से एक वेदिका का निर्माण, जिस पर रंगीन चूर्णों से आठ दल वाले एक कमल की आकृति; बीजकोष पर सूर्य-प्रतिमा का स्थापन, पूर्व दिशा से आरम्भ कर आठ दिशाओं में अर्ध देवों, देवियों एवं मुनियों का चित्र खींचना तथा वसन्त से आरम्भ कर सभी ६ ऋतुओं में ऐसे दो को रखना; घी की आहुतियाँ, १०८ बार सूर्य को तथा ८ बार अन्य लोगों को; एक वर्ष तक; अन्त में गोदान एवं स्वर्ण-दान, सूर्यलोक की प्राप्ति; यदि १२ वर्षों तक किया जाय तो सायुज्य की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० १, ७७०-७७४, विष्णुधर्मोत्तरपुराण ३।१६७।११-१५, १६८।१-३० से उद्धरण); (६) मार्गशीर्ष में (रविवार को?) आरम्भ कर १२ मासों के लिए; लाल चन्दन से किसी ताम्रपत्र पर बीजकोष के साथ १२ दलों वाले कमल का चित्र तथा उस पर सूर्य-पूजा; कतिपय मासों में देवता के विभिन्न नाम (यथा—मार्गशीर्ष में मित्र, पौष में विष्णु, माघ में वरुण आदि); नैवेद्य तथा कर्ता द्वारा खाये जाने वाला विशिष्ट पदार्थ; विभिन्न पाप-मुक्ति एवं कामना-पूर्ति; हेमाद्रि (व्रत० २, ५५२-५५७, सौरधर्म से उद्धरण); यह वारव्रत है; (७) पूरे पौष भर नक्त तथा दोनों सप्तमियों पर उपवास; पौष में सूर्य एवं अग्नि की प्रतिदिन तीन बार पूजा; कृत्यरत्नाकर (४७५-४७६, भविष्य पुराण से उद्धरण)।

सूर्यषष्ठी : भाद्रपद शुक्ल में १ से ५ तक एकभक्त, ६ को उपवास एवं सूर्य-प्रतिमा की पूजा; एक वर्ष तक; प्रत्येक मास में आदित्य के विभिन्न नाम; अन्त में विस्तृत उद्यापन; हेमाद्रि (व्रत० १, ६०८-६१५, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण); निर्णयसिन्धु (१३४)।

सूर्याष्टमी : देखिए ऊपर 'अर्काष्टमी'।

सोमवती-अमावास्या : सोमवार की अमावास्या अति पुनीत होती है; कालविवेक (४९२, भविष्यपुराण से); हेमाद्रि (काल, ६४३); वर्षक्रियाकौमुदी (९); आज के दिन लोग (विशेषतः नारियाँ) अश्वत्थ वृक्ष के पास जाती हैं, विष्णु-पूजा करती हैं तथा वृक्ष की १०८ बार प्रदक्षिणा करती हैं; व्रतार्क (पाण्डुलिपि, ३५० बी-३५६); धर्मसिन्धु (२३); व्रतार्क का कथन है कि इसका उल्लेख निबन्धों में नहीं हुआ है, यह मात्र प्रचलन पर आधृत है।

सोमवारव्रत : (बहुवचन में); हेमाद्रि (व्रत० २, ५५७-५६६, केवल २ का उल्लेख); व्रतार्क (पाण्डु-लिपि ३७९ बी-३८२ बी); स्मृतिकौस्तुभ (१४९); वर्षकृत्यदीपक (४३७-४४३)। सामान्य नियम यह है—श्रावण, वैशाख, कार्तिक या मार्गशीर्ष के प्रथम सोमवार पर आरम्भ; शिव-पूजा; उस दिन पूर्ण उपवास या नक्त; वर्ष-

कृत्यदीपक में सोमवारव्रत एवं उसके उद्यापन का विस्तृत ब्यौरा उपस्थित किया गया है। अब भी श्रावण के सोमवार विशेष रूप से पवित्र माने जाते हैं।

सोमव्रत : (१) जब किसी पक्ष में अष्टमी सोमवार को पड़े तो शिव-पूजा होनी चाहिए, शिव-प्रतिमा का दायाँ भाग शिव का तथा बायाँ भाग हरि एवं चन्द्र का होता है; पंचामृत से लिंगस्नान, दक्षिण भाग में चन्दन एवं कर्पूर का प्रयोग तथा वाम भाग में कुंकुम, अगुरु, उशीर, नीराजन का देव एवं देवी के २५ दीपों के साथ प्रयोग; सपत्नीक ब्राह्मणों को भोज; एक या पाँच वर्षों के लिए; कृत्यकल्पतरु (व्रत० २६९-२७१); हेमाद्रि (व्रत० १, ८२९-८३१, कालिकापुराण से उद्धरण); (२) वैशाख-पूर्णिमा पर एक ताम्रपात्र में जल भरकर उसमें शंकर-प्रतिमा रखना और उसे वस्त्र से ढक देना तथा गन्ध एवं पुष्पों से पूजना तथा 'लोकस्वामी महादेव, जो चन्द्र का रूप धारण करते हैं, मुझ पर प्रसन्न हों' के साथ उसका दान; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३५३); हेमाद्रि (व्रत० २, १७४-१७५); कृत्यरत्नाकर (१६६-१६७); सभी ने भविष्यपुराण को उद्धृत किया है; (३) शुक्ल २ को लवण-पूर्ण पात्र का दान करना चाहिए; एक वर्ष तक; अन्त में गोदान; शिवलोक प्राप्ति; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४५१, मत्स्यपुराण १०१।८१ में ५९वाँ षष्ठिव्रत); हेमाद्रि (व्रत० १, ३८९, पद्मपुराण से उद्धरण); (४) जब अष्टमी रोहिणी नक्षत्र में पड़ती है तो इसका सम्पादन; पंचामृत से शिव-स्नान तथा लिंग या प्रतिमा पर कर्पूर एवं चन्दन-लेप का प्रयोग तथा श्वेत पुष्पों से पूजा; एक घट श्वेत शर्करा के चूर्ण से मिश्रित दूध नैवेद्य के रूप में; जागर; इससे दीर्घ आयु, यश आदि की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० १, ८६३, कालोत्तरपुराण से उद्धरण); (५) माघ शुक्ल १४ पर उपवास तथा १५ पर लिंग को वेदी के साथ घृत-युक्त कम्बल से आवृत करना, दो काली गायों का दान; जागर तथा संगीत एवं नृत्य; हेमाद्रि (व्रत० २, २३९-२४०, भविष्यपुराण से उद्धरण); (६) मार्गशीर्ष शुक्ल के प्रथम सोमवार या चैत्र के या किसी भी सोमवार को, जब कि पूजा करने की प्रेरणा बड़ी उद्दाम हो, शिवपूजा करनी चाहिए; श्वेत पुष्पों (मालती, कुन्द आदि) से शिव-पूजा, चन्दन लेप का प्रतिमा या लिंग पर प्रयोग; नैवेद्य; होम; हेमाद्रि (व्रत० २, ५५८-५६६, स्कन्दपुराण से उद्धरण) ने फलों का वर्णन किया है; (७) एक वर्ष तक प्रति सोमवार को ८ ब्राह्मणों को भोज देना चाहिए; अन्त में शिव की एक रजतप्रतिमा का दान; 'तत्पुरुषाय विद्महे०' (मैत्रा० सं० २।९।१, तै० आरण्यक १०।४६) नामक मन्त्र के साथ शिव एवं उमा की पूजा; पद्मपुराण (४।१०८।८२-९०)।

सोमायन-व्रत : एक मास के लिए; सात दिनों तक एक गाय के चारों थनों के दूध पर निर्वाह करना; सात दिनों तक केवल तीन थनों के दूध पर, आगे के सात दिनों तक एक थन के दूध पर तथा तीन दिनों तक उपवास; इससे सभी पाप कट जाते हैं; मिताक्षरा (याज्ञवल्क्यस्मृति ३।३२४, मार्कण्डेयपुराण से उद्धरण)।

सोमाष्टमीव्रत : तिथिव्रत; देवता शिव एवं उमा; सोमवारयुक्त नवमी पर रात्रि में शिव एवं उमा की पूजा; पंचगव्य से प्रतिमा-स्नान; वामदेव तथा अन्य नामों से शिव-पूजा; प्रतिमा के दक्षिण भाग में चन्दन एवं कर्पूर का तथा वाम भाग में कुंकुम एवं तुरुष्क (लोबान) का प्रयोग; देवी के सिर पर नीलम तथा शिव के सिर पर मोती रखे जाते हैं और श्वेत एवं लाल पुष्पों से पूजा; सद्योजात नाम के साथ तिल का होम; हेमाद्रि (व्रत० १, ८३३-८३५, स्कन्दपुराण से उद्धरण); भविष्योत्तरपुराण (५९।१-२३) ने इन्हीं शब्दों में इस व्रत का उल्लेख किया है; वामदेव, सद्योजात, अघोर, तत्पुरुष, ईशान शिव के पाँच मुख कहे जाते हैं; देखिए तै० आ० (९०।४३-४७)।

सौख्यव्रत : माघ की अष्टमी या एकादशी या चतुर्दशी पर एकभक्त एवं श्वेत वस्त्रों, चप्पलों (पादुकाओं), कम्बल, छत्र, जल तथा पात्र का अभावग्रस्त व्यक्ति को दान; हेमाद्रि (व्रत० २, ४४०, भविष्यपुराण से उद्धरण)।

सौगन्ध्य-व्रत : यह ऋतु-व्रत है; देवता शिव एवं केशव; हेमन्त एवं शिशिर में पुष्पों का तथा फाल्गुन पूर्णिमा को तीन प्रकार के सुगन्धित पत्रों का त्याग; 'शिव एवं केशव प्रसन्न हों' के साथ कुछ सोने का दान; हेमाद्रि (व्रत० २, ८६०)।

सौभाग्यतृतीयाव्रत : (१) फाल्गुन शुक्ल की तृतीया पर नक्त-विधि; लक्ष्मी के साथ हरि या उमा के साथ शिव (क्योंकि दोनों शास्त्रों एवं पुराणों में एक ही कहे गये हैं) की पूजा; मधु, घी एवं तिल से होम; एक वर्ष तक तीन अवधियों में; फाल्गुन से ज्येष्ठ के मासों तक बिना नमक या घी के गेहूँ से बने भोजन का प्रयोग, भूमि-शयन; कार्तिक से माघ तक जौ से बने भोजन का प्रयोग; माघ शुक्ल ३ पर रुद्र एवं गौरी या हरि एवं श्री की स्वर्ण-प्रतिमा का निर्माण और उसका मधु, घी, तिल-तैल, गुड़, नमक तथा गोदुग्ध युक्त ६ पात्रों के साथ दान; कर्ता सात जन्मों तक भाग्यवान् एवं सुन्दर बन जाता है; कृत्यकल्पतरु (व्रत, ७५-७७, वराहपुराण ५८।१-१९ से उद्धरण); हेमाद्रि (व्रत० १, ४७९-४८०); कृत्यरत्नाकर (५२३-५२४)।

सौभाग्यव्रत : (१) कार्तिक पूर्णिमा पर १६ दलों वाले चित्रित कमल के बीजकोष पर स्थापित चन्द्र-प्रतिमा की पूजा; कमल के किंजल्कों (अंशुओं) पर २८ नक्षत्रों (अभिजित् को लेकर) की पूजा, पत्तियों पर तिथियों एवं उनके स्वामियों की पूजा; व्रत के अन्त में दो वस्त्रों का दान; दस दिन उपवास या नक्त; इस व्रत से कल्याण, सौन्दर्य एवं संभोग-आनन्द की प्राप्ति होती है; हेमाद्रि (व्रत० २, २३५-२३६, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण); (२) एक वर्ष तक फाल्गुन एवं आगे की तृतीया पर नमक का त्याग; अन्त में एक घर एवं पलंग का सारी सामग्रियों के साथ दान तथा 'पार्वती प्रसन्न हों' के साथ एक सपत्नीक ब्राह्मण का सम्मान; कर्ता गौरीलोक वासी हो जाता है; तिथिव्रत; देवता गौरी; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४४१, मत्स्यपुराण १०१।१५-१६); हेमाद्रि (व्रत० १, ४८३, गरुड़पुराण से उद्धरण); वर्षक्रियाकौमुदी (२९-३०, यहाँ 'लवणम्' के स्थान पर 'शयनम्' आया है); अग्निपुराण (१७८।२४-२५) में भी यही श्लोक है; (३) पंचमी पर चन्द्र का पूजक दीर्घायु, धन एवं यश पाता है; हेमाद्रि (व्रत० १, ५७४, विष्णुधर्मोत्तरपुराण से उद्धरण)।

सौभाग्यशयन-व्रत : चैत्र शुक्ल ३ पर पंचगव्य एवं सुगंधित जल से गौरी एवं शिव की प्रतिमाओं का स्नान (इसी दिन गौरी का जन्म हुआ था); देवी एवं शिव के आपाद मस्तक एवं केश को प्रणाम; प्रतिमाओं के समक्ष सौभाग्याष्टक; दूसरे दिन प्रातः स्वर्णिम प्रतिमाओं का दान; एक वर्ष तक प्रत्येक तृतीया पर यही विधि; चैत्र से आगे प्रत्येक मास में विभिन्न पदार्थों का सेवन, विभिन्न मन्त्रों का प्रयोग, देवी के विभिन्न नामों का उपयोग, विभिन्न पुष्पों का प्रयोग; एक वर्ष तक एक फल का त्याग; अन्त में सामग्री के साथ एक पलंग, एक स्वर्णिम गाय एवं बैल का दान; सौभाग्य, स्वास्थ्य, सौन्दर्य, दीर्घायु की प्राप्ति; मत्स्यपुराण (६०।१-४९); कृत्यकल्पतरु (व्रत० ५६-६०), मत्स्यपुराण ६०।१४-४८ का उद्धरण); हेमाद्रि (व्रत० १, ४४४-४४९, मत्स्यपुराण ६०।१४-४८ का उद्धरण); ये श्लोक पद्मपुराण (५।२४।२२२-२७८) एवं भविष्योत्तरपुराण (२५।१-४२) में भी पाये जाते हैं।

सौभाग्यसंक्रान्ति : यह संक्रान्तिव्रत है; व्यतीपात वाले अयन या विषुव दिन या संक्रान्ति दिन पर; एक भक्त; सूर्य-पूजा; दो वस्त्रों एवं सौभाग्याष्टक का किसी सपत्नीक ब्राह्मण को दान; एक वर्ष तक; ब्रह्म-भोज; लवण-पर्वत, स्वर्णिम कमल एवं स्वर्णिम सूर्य-प्रतिमा का दान; हेमाद्रि (व्रत० २, ७३५-७३६, स्कन्दपुराण से उद्धरण)।

सौभाग्यसुन्दरी : मार्गशीर्ष या माघ कृष्ण की तृतीया पर; तिथिव्रत; देवता उमा; उस दिन उपवास एक वर्ष तक; प्रत्येक मास में उमा के विभिन्न नाम; पुष्प, फल, नैवेद्य तथा कर्ता द्वारा खाये जाने वाले सामा

आदि का अर्पण; व्रतार्क (पाण्डुलिपि ५६ ए-६० बी); व्रतराज (११४-१२०, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण); इसका सम्पादन चतुर्थी से युक्त तृतीया को हो सकता है किन्तु द्वितीया से युक्त तृतीया को नहीं।

सौभाग्यावाप्तिव्रत : यह मासव्रत है; देवता कृष्ण; माघ पूर्णिमा (पूर्णिमान्त गणना के अनुसार) के उपरान्त प्रथम तिथि पर; कृष्ण-प्रतिमा या वस्त्र पर खचित कृष्ण-चित्र की पूजा; प्रियंगु से सुगंधित किये गये जल से कर्ता द्वारा स्नान करना; प्रियंगुयुक्त चरु (भात) का अर्पण एवं उसी से होम; एक मास तक; फाल्गुन पूर्णिमा पर तीन दिनों के उपवास के उपरान्त कुंकुम से रँगे दो वस्त्रों, मधुपूर्ण पात्र आदि का दान; इससे सौभाग्य एवं सौन्दर्य की प्राप्ति; हेमाद्रि (व्रत० २, ७९९, विष्णुधर्मोत्तरपुराण ३।२०४।१-५ से उद्धरण)।

सौभाग्याष्टक : मत्स्यपुराण (६०।८-९) के अनुसार आठ सौभाग्य वस्तुएँ ये हैं—गन्ना, पारा, निष्पाव (घी एवं दूध से प्रयुक्त गेहूँ का पदार्थ), दही (गाय के दूध का), जीरा, धनियाँ, कुसुंभ एवं लवण; हेमाद्रि (व्रत० १, ४८-४९); कृत्यरत्नाकर (११५'); व्रतराज (१६); और देखिए पद्मपुराण (५।२४।२५१); भविष्योत्तरपुराण (२५।९)।

सौम्य-विधि : जब रविवार को रोहिणी-नक्षत्र हो तो उसे सौम्य नाम से पुकारा जाता है; इस दिन पर स्नान, दान, जप, होम, पितरों एवं देवों के तर्पण से अक्षय पुण्य की प्राप्ति होती है; नक्त-विधि एवं लाल कमलों, लाल चन्दन लेप, सुगन्ध धूप एवं पायस (नैवेद्य के रूप में) से सूर्य-पूजा; पापों से मुक्ति; कृत्यकल्पतरु (व्रत० १३-१४); हेमाद्रि (व्रत० २, ५२४)।

सौम्यव्रत : हेमन्त एवं शिशिर ऋतुओं के पुष्पों का त्याग, फाल्गुन पूर्णिमा पर 'शिव एवं केशव प्रसन्न हों' के साथ अपराह्न में सोने के तीन पुष्पों का दान; मत्स्यपुराण (१०१।१३-१४); कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४४१)।

सौरत्रिविक्रम-व्रत : यह मास-व्रत है; देवता सूर्य; तीन मासों या तीन वर्षों तक; कार्तिक में जगन्नाथ या सूर्य की पूजा, एकभक्त तथा एक ब्राह्मण को रात्रिकाल का भोजन-दान; यही विधि मार्गशीर्ष एवं पौष में सूर्य की पूजा विभाकर एवं दिवाकर के रूप में; युवावस्था एवं मध्यमावस्था में किये गये पाप तथा यहाँ तक कि महापाप भी कट जाते हैं; इसे 'त्रिविक्रम' इसलिए कहा जाता है कि सूर्य के तीन नाम व्यक्ति को तीन मासों या तीन वर्षों में मुक्ति देते हैं; हेमाद्रि (व्रत० २, ८५६, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण)।

सौरनक्तव्रत : यह वारव्रत है; देवता सूर्य; हस्त नक्षत्र के साथ रविवार को किया जाता है; ब्राह्मणों का सम्मान; सभी रोगों से मुक्ति; हेमाद्रि (व्रत० २, ५२१, नृसिंहपुराण से उद्धरण)।

सौरव्रत : मत्स्यपुराण (१०१।६३, एक षष्टिव्रत); कृत्यकल्पतरु (व्रत० ४४८); हेमाद्रि (व्रत० १, ७८७, पद्मपुराण से उद्धरण); सप्तमी को उपवास; देवता सूर्य; एक वर्ष तक; अन्त में सोने के कमल, गायों का कुछ सोने एवं भोजनपूर्ण घट के साथ दान; इससे सूर्यलोक की प्राप्ति होती है।

स्कन्दषष्ठी : आषाढ़ शुक्ल की षष्ठी को इस नाम से कहा जाता है; एक दिन पूर्व से उपवास करके षष्ठी को कुमार अर्थात् कार्तिकेय की पूजा; निर्णयामृत (४९); पुरुषार्थचिन्तामणि (१०१); स्मृतिकौस्तुभ (१३८)। निर्णयामृत में इतना और आया है कि भाद्रपद ६ को दक्षिणापथ में कार्तिकेय का दर्शन कर लेने से ब्रह्म-हत्या से गम्भीर पापों-जैसे मुक्ति मिल जाती है; और देखिए कृत्यरत्नाकर (२७५-२७७)। तमिल प्रदेश में स्कन्दषष्ठी महत्वपूर्ण है और इसका सम्पादन मन्दिरों या किन्हीं भवनों में होता है; हेमाद्रि (काल, ६२२); कृत्यरत्नाकर (११९) में ब्रह्मपुराण से उद्धरण देकर बताया है कि स्कन्द की उत्पत्ति अमावास्या को अग्नि से हुई थी, वे चैत्र शुक्ल ६ को प्रत्यक्ष हुए थे, देवों द्वारा सेनानायक बनाये गये थे तथा तारकासुर का वध किया था, अतः उनकी पूजा दीपों, वस्त्रों, अलंकरण, मुर्गों (खिलौनों के रूप में) आदि से की जानी चाहिए, अथवा

उनकी पूजा बच्चों के स्वास्थ्य के लिए सभी शुक्ल षष्ठियों पर करनी चाहिए; तिथितत्त्व (३५) ने चैत्र शुक्ल ६ को स्कन्दषष्ठी कहा है; स्मृतिकौस्तुभ (९३)।

स्कन्दषष्ठीव्रत : कार्तिक शुक्ल ६ को केवल फलाहार, दक्षिणाभिमुख होकर कार्तिकेय को अर्घ्य तथा एक मन्त्र के साथ दही, घी, जल एवं पुष्प चढ़ाना; कर्ता को रात्रि में भूमि पर रखा गया भोजन करना चाहिए; ऐसा करने से सफलता, सम्पत्ति, दीर्घ आयु, स्वास्थ्य, नष्ट राज्य की प्राप्ति होती है; शुक्ल या कृष्ण की षष्ठी को तेल का सेवन नहीं करना चाहिए; भविष्यपुराण (१।३९।१-१३); कृत्यकल्पतरु (व्रत०, ९९-१०१); हेमाद्रि (व्रत० १, ६०४-६०५); कृत्यरत्नाकर (४१५-४१६)। देखिए 'षष्ठी-व्रतों' के अन्तर्गत, जहाँ ऐसा व्यक्त किया गया है कि पंचमी से युक्त षष्ठी को वरीयता दी गयी है। गदाधरपद्धति (कालसार, ८३-८४) ने स्कन्दषष्ठी को चैत्र कृष्ण में रखा है।

स्त्रीपुत्रकामावाप्तिव्रत : यह मास-व्रत है; देवता सूर्य; जो नारी कार्तिक में एकभक्त रहकर, अहिंसा जैसे सदाचरणों का पालन करती हुई गुड़युक्त भात के नैवेद्य को सूर्य के लिए अर्पित करती है तथा षष्ठी या सप्तमी (दोनों पक्षों में) को उपवास करती है, वह सूर्यलोक को पहुँचती है और जब पुनः इस लोक में आती है तो किसी राजा या मनोनुकूल पुरुष को पति रूप में पाती है; मार्गशीर्ष से आगे के मासों के लिए विशिष्ट नियम बने हैं; हेमाद्रि (व्रत० २, ८२१-८२४, भविष्यपुराण से उद्धरण); कृत्यरत्नाकर (४०६)।

स्नापनसप्तमीव्रत : शिशु-अवस्था में ही मृत हो जाने वाले बच्चों की माता के लिए; भविष्योत्तरपुराण (५२।१-४०)।

स्नुहीविटपे-मनसापूजा : श्रावण कृष्ण ५ पर मनसा-देवी की पूजा; आँगन में स्नुही पौधे की टहनी पर; सर्प-दंश का भय दूर हो जाता है; तिथितत्त्व (३३), और देखिए गत अध्याय ७।

स्नेहव्रत : यह मास-व्रत है; देवता सम्भवतः विष्णु (?); आषाढ़ से लेकर चार मासों में तेल के साथ स्नान का त्याग; केवल पायस एवं घी का सेवन; अन्त में तिल के तेल से पूर्ण एक घट का दान; इससे लोगों का स्नेह मिलता है; हेमाद्रि (व्रत० २, ८१८, पद्मपुराण से उद्धरण)।

स्यमन्तक (मणि) : इसकी गाथा हरिवंश (१।३८) में है, देखिए गत अध्याय ८, गणेश-चतुर्थी के अन्तर्गत। इस विषय का प्रसिद्ध श्लोक "सिंहः प्रसेनमवधीत् सिंहो जाम्बवता हतः। सुकुमारक मा रोदीस्तव ह्येष स्यमन्तकः॥" हरिवंशपुराण (१।३८।३६) में पाया जाता है।

स्वर्णगौरीव्रत : भाद्र शुक्ल ३ को; देवता गौरी; केवल नारियों के लिए; १६ उपचारों से गौरी की पूजा; पुत्रों, धन एवं सौभाग्य की प्राप्ति के लिए देवी से प्रार्थना; उद्यापन पर १६ पुरवों (कुल्हड़ों) में १६ खाद्य पदार्थ भरकर तथा वस्त्र से ढँककर गृहस्थ ब्राह्मणों एवं उनकी पत्नियों को दान; व्रतार्क (पाण्डुलिपि ४१ ए-४४ बी); व्रतराज (९६-९७) में आया है कि यह कर्णाटक प्रान्त में व्यवहार रूप में प्रचलित है।

स्वस्तिकव्रत : आषाढ़ ११ या १५ से चार मासों तक; पुरुषों एवं स्त्रियों दोनों के लिए समान; कर्णाटक में प्रचलित; पाँच रंगों में स्वस्तिक खींचकर विष्णु के समक्ष रखना; मन्दिर या भूमि पर विष्णु-पूजा; व्रतार्क (पाण्डुलिपि, ३५६ बी--३५८, भविष्योत्तरपुराण से उद्धरण)।

हंसव्रत : पुरुषसूक्त के पाठ के साथ स्नान; उसी के पाठ के साथ तर्पण एवं जप; अष्टदल कमल के चित्र के मध्य में स्थापित हंस नाम से पुष्पों आदि द्वारा जनार्दन की पूजा; होम; गोदान; एक वर्ष तक, सभी कामनाओं की पूर्ति; विष्णुधर्मोत्तरपुराण (३।२२५।१-९)।

हनुमत्-जयन्ती : चैत्र शुक्ल १५ पर।

हयपंचमी या हयपूजाव्रत : चैत्र शुक्ल ५ को इन्द्र का अश्व उच्चैःश्रवा समुद्र से प्रकट हुआ था, अतः उस दिन उसकी पूजा गन्धर्वों (चित्ररथ, चित्रसेन आदि) के साथ की जाती है, क्योंकि वे उसके बन्धु कहे गये हैं; पूजा में संगीत, मिठाइयों, पोलिकाओं, दही, गुड़, दूध, चावल के आटे का उपयोग किया जाता है, इससे दीर्घ आयु, स्वास्थ्य, युद्ध में विजय की प्राप्ति होती है; हेमाद्रि (व्रत० १, ५७३, शालिहोत्र से उद्धरण); स्मृतिकौस्तुभ (९२)। इसे मत्स्यजयन्ती भी कहा गया है; अहल्याकामधेनु (पाण्डुलिपि, ३६० बी)।

हरकालीव्रत : माघ शुक्ल ३, तिथिव्रत; देवता देवी; स्त्रियों के लिए; जौ के हरे अंकुरों पर स्थापित उमा के रात्रि भर ध्यान में अवस्थित रहना, दूसरे दिन स्नान, देवी-पूजा एवं भोजन; १२ मासों में देवी के विभिन्न नामों का उपयोग तथा विभिन्न पदार्थों का सेवन; अन्त में एक सपत्नीक ब्राह्मण को दान; रोगों से मुक्ति, सात जन्मों तक सधवापन, पुत्र, सौन्दर्य आदि की प्राप्ति; शंकर ने पार्वती से पूछा है कि आपने (पार्वती ने) मेरी आधी देह पाने के लिए कौन-सा व्रत किया था।

हरतृतीया-व्रत : माघ शुक्ल ३ पर; तिथिव्रत; देवता उमा एवं महेश्वर; एक मण्डप में अष्टदल कमल का आलेखन; आठ दिशाओं में उमा के आठ नामों का न्यास, यथा—गौरी, ललिता, उमा, स्वधा, वामदेवी आदि; चित्र के मध्य में उमा-महेश्वर की स्थापना; गन्ध एवं पुष्पों से पूजा; चावल से पूर्ण एक कलश की स्थापना; घी की आठ तथा तिल की सौ आहुतियों से होम; प्रत्येक प्रहर (कुल ८ प्रहर) में स्नान एवं होम; दूसरे दिन एक सपत्नीक ब्राह्मण का सम्मान; इसे चार वर्षों तक करना चाहिए। इसके उपरान्त उद्यापन; आचार्य को उमा एवं महेश्वर की स्वर्ण प्रतिमा दान में दे दी जाती है; इससे सौभाग्य एवं स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है; हेमाद्रि (व्रत० १, ४८०-४८२)।

हरत्रिरात्रव्रत : बिल्व वृक्ष के तले बैठकर तीन दिनों तक उपवास करने एवं हर के नाम का एक लाख बार स्मरण करने से भ्रूणहत्या जैसे पाप भी कट जाते हैं; हेमाद्रि (व्रत० २, ३१८, सौरपुराण से उद्धरण)।

हरव्रत : अष्टमी पर कमलदल पर चित्र बनाकर उस पर हर की पूजा करना; घी एवं समिधा से होम; हेमाद्रि (व्रत० १, ८८१, भविष्यपुराण से उद्धरण)।

हरिकालीव्रत : भाद्रपद शुक्ल की तृतीया को सूप में उगाये गये सात धान्यों के अंकुरों पर काली की पूजा; सधवा नारियाँ उसे रात्रि में किसी तालाब में ले जाकर उसका विसर्जन करती हैं; हेमाद्रि (व्रत० १, ४३५-४३९, भविष्योत्तरपुराण २०।१-२८)। कथा यों है—काली दक्ष की पुत्री थीं, वे काले रंग की थीं और महादेव से उनका विवाह हुआ था। एक बार देवों की सभा में महादेव ने उन्हें अंजन के समान काली कहा। वे क्रोधित हो उठीं और अपने रंग को घास की भूमि पर छोड़कर अग्नि में कूद पड़ीं। वे पुनः गौरी के रूप में उत्पन्न हुई और महादेव की पत्नी बनीं। काली द्वारा त्यक्त काला रंग कात्यायनी बन गया, जिन्होंने देवों के कार्यों में बड़ी सहायता की। देवों ने उन्हें बरदान दिया कि जो व्यक्ति उनकी पूजा हरी घास में करेगा वह प्रसन्नता, दीर्घायु एवं सौभाग्य प्राप्त करेगा। प्रकाशित हेमाद्रि (व्रत) में 'हरिकाली' शब्द आया है, किन्तु यहाँ 'हरि' (विष्णु) के विषय में कोई प्रश्न नहीं उठता। सम्भवतः यहाँ 'हरि' का अर्थ है 'पिंगल' रंग (काली एक बार भूरी या पिंगला थी, गोरी नहीं थी)।

हरिक्रीडाशयन या हरिक्रीडायन : कार्तिक या वैशाख १२ पर; तिथिव्रत; देवता हरि; मधुयुक्त ताम्र-पात्र में चार हाथ वाले नृसिंह की स्वर्णिम प्रतिमा की स्थापना, हाथों के रूप में माणिक, नखों के रूप में मूंगा का प्रयोग होता है और इसी प्रकार वक्ष, कानों, आँखों एवं सिर पर अन्य बहुमूल्य रत्न रखे जाते हैं; पात्र में

जल भरा जाता है; जागर से पूजा; कर्ता को वन या युद्ध में भय नहीं मिलता, उसे धन एवं दीर्घायु की प्राप्ति होती है; कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३९२-३९३); हेमाद्रि (व्रत० २, ३७६-३७७, नृसिंहपुराण से उद्धरण)।

हरितालिकाव्रत : देखिए गत अध्याय ८।

हरितिथि : द्वादशी, स्मृतिकौस्तुभ (२९)।

हरिप्रबोधोत्सव : कार्तिक में विष्णु के जागरण का उत्सव, देखिए गत अध्याय ५।

हरिवासर : हरि का दिन। इस विषय में विभिन्न मत हैं; वर्षक्रियाकौमुदी (१४) का कथन है कि एकादशी हरि का दिन है न कि द्वादशी। गरुड़पुराण (१।१२७।१२) एवं नारदपुराण (२।२४।६ एवं ९) ने एकादशी को हरिवासर कहा है। कृत्यसारसमुच्चय (४३) ने मत्स्यपुराण को उद्धृत करते हुए कहा है कि यदि आषाढ़ शुक्ल द्वादशी बुधवार को पड़ती है और वह अनुराधा-नक्षत्र में रहती है, यदि भाद्रपद शुक्ल द्वादशी बुधवार को पड़ती है और उस समय श्रवण नक्षत्र रहता है तथा यदि कार्तिक शुक्ल द्वादशी बुधवार को पड़ती है और उस समय रेवती नक्षत्र रहता है तो उसे हरिवासर कहा जाता है। स्मृतिकौस्तुभ (२९) के अनुसार द्वादशी हरितिथि हैं।

हरिव्रत : (१) पूर्णिमा एवं अमावास्या पर एकभक्त-विधि; इस व्रत के सम्पादन से नरक में जाना नहीं होता; इन तिथियों पर पुण्याहवाचन एवं 'जय' जैसे शब्दों के साथ हरि-पूजा; एक ब्राह्मण को खिलाना, उसे प्रणाम करना तथा अन्य ब्राह्मणों, अंधों, असहायों एवं दलितों को भोज देना; हेमाद्रि (व्रत० २, ३७३, नरसिंहपुराण से उद्धरण); कृत्यकल्पतरु (व्रत० ३८९-३९०); (२) द्वादशी को उपवास करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है; हेमाद्रि (व्रत० १, ११७२, वराहपुराण से उद्धरण)।

हरिशयन : आषाढ़ में विष्णु का शयन; देखिए गत अध्याय ५।

हलषष्ठी : भाद्रपद कृष्ण ६ को इस नाम से पुकारा जाता है; निर्णयसिन्धु (१२३)।

हविष्य : कुछ व्रतों में यज्ञिय द्रव्य; कृत्यरत्नाकर (४००); तिथितत्त्व (१०९); निर्णयसिन्धु (१०६)।

हस्तगौरीव्रत : भाद्रपद शुक्ल ३ पर; धन-धान्य से पूर्ण राज्य की प्राप्ति के लिए कृष्ण द्वारा कुन्ती को सुनाया गया व्रत; व्रतार्क (पाण्डुलिपि ५० बी--५२ बी), अहल्याकामधेनु (२८० बी); गौरी, हर एवं हेरम्ब (गणेश) का ध्यान; १३ वर्षों तक; १४वें वर्ष में उद्यापन।

हिमपूजा : पुष्पों एवं दूध के नैवेद्य से चन्द्र, विष्णु के बाम नेत्र की पूर्णिमा पर पूजा; गायों को नमक देना; माता, बहिन, पुत्री को नये वस्त्रों से सम्मानित करना; यदि हिमालय के पास हों तो पितरों को हिम से मिश्रित मधु, तिल एवं घी देना चाहिए और जहाँ घी न हो 'हिम-हिम' का उच्चारण करना चाहिए तथा ब्राह्मणों को घृतपूर्ण भात का भोजन देना चाहिए; गीतों एवं नृत्य के साथ उत्सव तथा श्यामा-देवी की पूजा; सुरा पीने वालों को ताजी सुरा दी जाती है; कृत्यरत्नाकर (४७१-४७२, ब्रह्मपुराण से उद्धरण)।

हृदयविधि : देखिए कृत्यकल्पतरु (व्रत० १९-२०); हेमाद्रि (व्रत० २, ५२६); और देखिए 'आदित्य-वार' के अन्तर्गत।

होम-विधि : गृह्यसूत्रों में होम-विधि दी हुई है; हेमाद्रि (व्रत० १, ३०९-३१०)।

होलिका : देखिए गत अध्याय १२।

अध्याय १४

काल-धारणा

दर्शन शास्त्र की मुख्य एवं बड़ी समस्याओं में 'दिक्' एवं 'काल' के रूप की समस्या है। स्वभावतः प्रश्न उठते हैं--क्या दिक् एवं काल अन्ततोगत्वा वास्तविक हैं? क्या हमारा अवगम्य विश्व दिशाविहीन एवं कालविहीन है? क्या अखिल विश्व का आरम्भ काल से है? क्या दिक् एवं काल द्रव्य-वस्तुएँ हैं या वास्तविक या वस्तुओं के गुण या सम्बन्ध हैं? अति प्राचीन काल से अब तक इन समस्याओं के विषय में मत-मतान्तर पाये जाते रहे हैं। अतः यहाँ संस्कृत ग्रन्थों में आकलित काल-सम्बन्धी आलेखनों, कल्पनाओं एवं धारणाओं का संक्षिप्त दिग्दर्शन आवश्यक हो जाता है।

ऋग्वेद में 'काल' शब्द केवल एक बार आया है[1]--'जिस प्रकार द्यूत खेलने वाला 'कृत' (उत्क्षेप, ऊँची फेंक) को उचित काल में एकत्र करता है' (१०।४२।९ : 'कृतं यच् श्वघ्नी विचिनोति काले')। अथर्ववेद में दो सूक्त हैं (१९।५३।१-१० एवं १९।५४।१-५) जिनमें काल की उच्चतम धारणा व्यक्त होती है। कुछ विस्मयावह मन्त्रों का अनुवाद यों है--'काल सात रश्मियों (लगामों) वाले, सहस्र आँखों वाले, अजर एवं पर्याप्त बीज (शक्ति) वाले अश्व को हाँकता है अर्थात् लेकर चलता है; विज्ञ कवि लोग उस पर चढ़ते हैं (जिस प्रकार कोई रथ पर चढ़ता है); सभी भुवन उसके चक्र (पहिए) हैं; उसी ने सभी भुवनों को एक किया और उसी ने स्वयं सभी भुवनों की परिक्रमा की; पिता होकर वह सभी (भुवनों) का पुत्र बना; उससे बढ़कर, सचमुच, कोई अन्य तेज नहीं है; काल में मन है, काल में प्राण (उच्छ्वास) है; काल में नाम समाहित हैं; ये सभी जीव इसके आगमन से प्रसन्न होते हैं; काल ने प्रजा (जीवों) की उत्पत्ति की; आरम्भ में काल ने प्रजापति को उत्पन्न किया; स्वयम्भू कश्यप काल से उभरे और (इसी प्रकार) तप भी काल से निकले; काल पुत्र ने अतीत (भूत) एवं भविष्य (भव्य) की उत्पत्ति की; काल से ऋचाएँ एवं यजु (यज्ञ सम्बन्धी नियम) उत्पन्न हुए; यह लोक एवं परम लोक, पुण्यलोक एवं पुण्य (पवित्र) विधृतियाँ, इन सभी लोकों को ब्रह्म द्वारा पूर्णतया जीतकर काल परम देव की भाँति चलता रहता है (निवास करता है)।'[2]

१. मिलाइए 'कृतं न श्वघ्नी विचिनोति देवने।' ऋ० (१०।४३।५) एवं अथर्ववेद (२०।१७।५) को ऋ० (१०।४२।९) एवं अथर्ववेद (७।५०।६ तथा २०।८९।९) 'कृतमिव श्वघ्नी विचिनोति काले' से; और वही 'श्वघ्नीव यो जिगीवाँल्लक्षमादत्' ऋ० (२।१२।४); ऋ० (१०।४१।५) की व्याख्या छान्दोग्योपनिषद् (४।१।४) में यों है--'यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्ति' (जिस प्रकार छोटे दाव बड़े दाव द्वारा आत्मसात होकर विजयी को प्राप्त होते हैं)।

२. कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः। तमा रोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा

उपर्युक्त वचनों से प्रकट होता है कि अति आरम्भिक वैदिक काल में भी 'काल' शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता था—(१) सामान्य रूप से काल (जैसा कि आधुनिक संस्कृत एवं आधुनिक भारतीय भाषाओं में) एवं (२) वह काल (महाकाल) जो परम तत्त्व के समतुरूप है या सृष्टि का मूल है। दूसरा अर्थ भी, जैसा कि हम आगे देखेंगे, बहुत-से संस्कृत ग्रन्थों (पुराणों के सहित) में दृढ रूप से अवधारित है।

शतपथब्राह्मण (१।७।३।३ एवं २।४।२।४) में 'काल' का प्रयोग 'समय' या 'उचित समय' के अर्थ में हुआ है—'वह (क्रुद्ध रुद्र, जो आहुतियों के भाग से वंचित किया गया था) उत्तर की ओर उस समय उड़ा जब कि स्विष्टकृत् आहुतियाँ दी जा रही थीं' (१।७।३।३); प्रजापति ने (जब पशु उनके पास पहुँचे) कहा—'जब कभी तुम्हें उचित काल पर कुछ मिले या अनुचित काल पर मिले, तुम खा सकते हो' (२।४।२।४)।

विद्वानों द्वारा अति प्राचीन कही जाने वाली उपनिषदों के वचन भी दिये जा सकते हैं। छान्दोग्योपनिषद् (२।३१।१) ने 'काल' का प्रयोग 'अन्त होने' के अर्थ में किया है। बृहदारण्यकोपनिषद् (१।२।४) में भी आया है—'उसने आकांक्षा की 'मेरा दूसरा स्वत्व भी प्रकट हो जाता।' उसने उसे कुछ काल पर्यन्त तक, एक वर्ष तक, उत्पन्न किया, और उसके उपरान्त बहुत काल तक उसे पालित किया।' उसी उपनिषद् में गार्ग्य एवं राजा अजातशत्रु के संवाद में गार्ग्य ने बहुत-से पदार्थ बतलाये, जिनकी उसने ब्रह्म के समान उपासना की और राजा ने उनके विषय में इन शब्दों में उत्तर दिया, 'प्राण (उच्छ्वास) काल के पूर्व उसे नहीं त्यागता' एवं 'काल के पूर्व मृत्यु उसके पास नहीं आती।' यहाँ 'काल' शब्द निश्चित समय का सूचक है। और देखिए कौषीतकि ब्राह्मण जो बृ० उ० (२।१।१० एवं १२) के समान ही 'काल' शब्द प्रयुक्त करता है। श्वेताश्वतर उप० (१।१-२) में 'काल' शब्द सृष्टि के कारण या मूल के अर्थ में आया है—'कारण क्या है? क्या यह ब्रह्म है? हम कहाँ से उत्पन्न होते हैं? हम किससे जीवित रहते हैं? हम किस पर प्रतिष्ठित हैं? (या हम कहाँ जा रहे हैं?) . . .काल या स्वभाव या आवश्यकता या संयोग या तत्त्व या योनि (प्रकृति) या पुरुष, यही विचारणीय है (इनमें से कोई कारण है)। कुछ कवियों (ऋषियों) ने स्वभाव को कारण माना है, तथा अन्य मोहित लोगों ने काल को इसका कारण माना है।' यहाँ 'काल' शब्द सृष्टि का कारण माना गया है, जैसा कि हमने ऊपर अथर्ववेद में देख लिया है। माण्डूक्योपनिषद् का कथन है कि ओंकार त्रिविध काल (भूत, वर्तमान एवं भविष्य) से ऊपर है।[3]

भुवनानि विश्वा॥ स एव सं भुवनान्याभरत् स एव सं भुवनानि पर्यैत्। पिता सन्नभवत्पुत्र एषां तस्माद्वै नान्यत्परमस्ति तेजः॥ काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम्। कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः॥ कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम्। स्वयम्भूः कश्यपः कालात्तपः कालादजायत॥ अथर्ववेद (१९।५३।१, ४, ७, १०); कालो ह भूतं भव्यं च पुत्रो अजनयत्पुरा। कालादृचः समभवन्यजुः कालादजायत॥ इमं च लोकं परमं च लोकं पुण्यांश्च लोकान् विधृतीश्च पुण्याः। सर्वाँल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः स ईयते परमो नु देवः॥ अथर्व० (१९।५४।५)। ऋग्वेद (९।११४।२) में कश्यप ऋषि के रूप में हैं, पौराणिक कथाओं में वे अदिति के पति हैं; अदिति को ऋ० (१।८९।१०) में माता, पिता एवं पुत्र कहा गया है, अतः सम्भवतः यहाँ कश्यप प्रजापति ही हैं। अथर्व० (८।५।१४) में आया है कि कश्यप ने रक्षारत्न को उत्पन्न किया की : 'कश्यपस्त्वामसृजत कश्यपस्त्वा समैरयत्।' यहाँ 'विधृति' का सम्भवतः अर्थ है 'लोकों को पृथक् करने वाली सीमाएँ।'

३. किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः। कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्॥ श्वे० उप० (१।१-२); स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः।

मैत्री उपनिषद् (६।१४-१६) में काल पर एक लम्बा विवेचन है। पहले आया है—'ऐसा कहीं पर कहा गया है कि अन्न इस सम्पूर्ण संसार की योनि है, काल अन्न की योनि है; सूर्य काल की योनि है।' इसमें पुनः आया है—'काल से सभी जीव उत्पन्न होते हैं, काल से ही वे वृद्धि प्राप्त करते हैं और काल में ही समाप्त हो जाते हैं; काल मूर्ति है (निश्चित रूप या सीमाएँ) और अमूर्तिमान् (रूपरहित) है।' इसके उपरान्त इसने उद्घोषित किया है, 'ब्रह्म के वास्तव में दो रूप हैं, काल एवं अकाल। जो सूर्य के पूर्व है वह अकाल है अर्थात् कालरहित है (यही ब्रह्म का रूप है) और यह भागविहीन है। किन्तु जो सूर्य के साथ आरम्भित होता है वह काल है और उसके भाग भी हैं; वर्ष काल का वह रूप है जिसके भाग हैं। ये सभी जीव वर्ष द्वारा उत्पन्न होते हैं, ये उत्पन्न जीव वर्ष द्वारा वृद्धि को प्राप्त होते हैं और वर्ष में ही उनका क्षय हो जाता है। अतः वर्ष प्रजापति है, काल है, अन्न है, ब्रह्मनीड (ब्रह्म का निवास) है और आत्मा है।' फिर ऐसा कहा गया है, 'काल सभी जीवों को महान् आत्मा में पकाता है (पचाता है), किंतु जो व्यक्ति उसे जानता है जिसमें 'काल पचता है, वही वेदज्ञ है।' यहाँ मैत्री उप० ने काल को दो अर्थों में प्रयुक्त किया है, और पश्चात्कालीन कालानुभूति की धारणा व्यक्त की है—सूर्य की गतियों पर निर्धारित काल तथा ब्रह्म के स्वरूप से सम्बन्धित काल। और देखिए महानारायण उप० (११।१४), 'अहमेव कालो नाहं कालस्य', जहाँ काल को नारायण (ईश्वर) कहा गया है।

महाभारत में भी काल पर कई बार लिखा गया है। आदिपर्व (१।२४८-२५०) में आया है, 'काल भूतों (प्राणियों) की सर्जना करता है, काल प्रजाओं (लोगों) का नाश करता है; प्रजा के संहार में संलग्न काल काल को शमित करता है। काल शुभ एवं अशुभ स्थितियाँ उत्पन्न करता है; काल सबको समाप्त करता है और पुनः सबकी सृष्टि करता है, काल ही ऐसा है जो सबके सो जाने पर जागता रहता है; काल अजेय है।'[४] यही बात स्त्रीपर्व में भी है। और देखिए शान्तिपर्व (अध्याय २२४ एवं २२७), आश्वमेधिकपर्व (अध्याय ४५।१-९)।

भगवद्गीता में कई स्थानों पर 'काल' शब्द 'सामान्य समय' या 'यथा समय' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (यथा ४।२, ८।७ एवं २७, ८।२३, १७।२०)। इसमें 'काल' शब्द कृष्ण के लिए भी प्रयुक्त हुआ है जिन्हें पर ब्रह्म कहा गया है (यथा १०।३० एवं ३३, ११।३२)।

पाणिनि ने सामान्य अर्थ में, काल की अवधियों या ठीक समय के अर्थ में ही 'काल' शब्द को रखा है। देखिए पतञ्जलि (पाणिनि ३।३।१६७)। पतञ्जलि ने (पाणिनि २।२।५ के दूसरे वार्तिक में) काल-सम्बन्धी एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त की चर्चा की है। उनका कहना है—'लोग उसको काल कहते हैं जिसके द्वारा कठोर वस्तुओं की वृद्धि (उपचय) एवं क्षय (अपचय) लक्षित होता है, और वही (काल) रात्रि एवं दिन कहा जाता है जब कि

श्वेता० (६।१)। वराह की बृहत्संहिता इस अन्तिम की ओर संकेत करती है, यथा—'कालं कारणमेके, स्वभावमपरे परे जगुः कर्म।' येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद्यः। श्वे० उ० (६।२); आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः परस्त्रिकालादकालोपि दृष्टः। श्वे० उप० (६।५); मिलाइए माण्डूक्योपनिषद् 'भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव।'

४. कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः। संहरन्तं प्रजाः कालं कालः शमयते पुनः। कालो हि कुरुते भावान् सर्वलोके शुभाशुभान्।। कालः संक्षिपते सर्वाः प्रजा विसृजते पुनः। कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः।। स्त्रीपर्व (२।२४)। और देखिए शान्तिपर्व (२२१।४१) एवं गरुड़० (१।१०८।७)।

यह क्रिया से संयुक्त हो जाता है। वह क्रिया क्या है? उत्तर है, 'आदित्य (सूर्य) की गति।' जब वही गति बार-बार होती है तो मास एवं संवत्सर (वर्ष) होता है।'

मनुस्मृति (१।२१) में परमात्मा को काल और उसके विभागों (१।२४, कालं कालविभक्तीश्च) का सृष्टिकर्ता कहा गया है। परमात्मा विश्व-सृष्टि के उपरान्त अपने में विलीन होता प्रदर्शित किया गया है, और बार-बार एक कालावधि को दूसरी कालावधि से चूसता या पीड़ित करता हुआ प्रकट किया गया है (आत्मन्यन्तर्दधे भूयः कालं कालेन पीडयन्)।

सांख्य ने काल को अपने २५ तत्त्वों में परिगणित नहीं किया है। किन्तु इस पद्धति में काल को अछूता नहीं छोड़ा गया है। सांख्यकारिका में १३ कारण बताये गये हैं, ३ आभ्यन्तर और १० बाह्य। बाह्य कारणों का सम्बन्ध वर्तमान से दर्शित है और आभ्यन्तर कारणों का भूत, वर्तमान एवं भविष्य तीनों से (सांख्यकारिका १३३)।

वैशेषिकसूत्र (२।२।६-९) ने काल को नौ द्रव्यों में रखा है (पदार्थ १।५)।[5] कुछ दार्शनिक ऐसे हैं जो काल को भूत या भविष्य मानते हैं और उसे वर्तमान की संज्ञा देने को तत्पर नहीं हैं। न्यायसूत्र इसे नहीं मानता और कहता है कि काल भूत, वर्तमान एवं भविष्य है (२।१।३९-४३)। पतंजलि (पा० ३।२।१२३) से प्रकट होता है कि उनके समय में कुछ ऐसे दार्शनिक थे जो वर्तमान काल को नहीं मानते थे।

जयन्त भट्ट की न्यायमंजरी में काल पर बृहत् व्याख्या है। सर्वप्रथम इसमें उन लोगों के मतों का विवरण है जो काल की स्थिति को पृथक् इकाई के रूप में मानने को सन्नद्ध नहीं हैं। इन लोगों के अनुसार काल, घट आदि के समान, प्रत्यक्षीकृत नहीं है और क्षिप्रता एवं मन्दता की भावनाएँ केवल निरीक्षित-प्रभावों पर ही निर्भर हैं। यदि काल द्रव्य है, जो कि वैशेषिकों के मत से विभु एवं नित्य है, तो उसे भूत, वर्तमान एवं भविष्य के रूप में कैसे कहा जा सकता है? इन विरोधों के उत्तर में कुछ लोग कहते हैं—काल का प्रत्यक्षीकरण सीधे ढंग से होता है, क्योंकि यह मन के अपने विभिन्न प्रभावों के रूप में प्रकट होता है; ऐसे विभिन्न अनुभव, यथा 'ये विषय एक-के उपरान्त घटित हुए', 'यह बहुत देर के उपरान्त घटित हुआ', 'यह शीघ्रता से हो गया', नहीं व्याख्यायित हो सकते यदि काल का अस्तित्व न माना जाय। कुछ लोगों का मत है कि काल केवल अनुमानित है और इसका प्रत्यक्षीकरण सीधे ढंग से नहीं हो सकता। उनके तर्क हैं—'यह कहकर कि काल का सीधे ढंग से प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता, यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि काल का अस्तित्व नहीं है; यह अनुमान लगाना कि काल का अस्तित्व है, उचित है, जैसा कि चन्द्र का पिछली ओर का रूप होता है, यद्यपि हम उ सामने का ही रूप देख पाते हैं। अतः काल पृथक् इकाई के रूप में अवस्थित है, जैसा कि हम सामान्य अनुभव से प्रता, मन्दता, साथ-साथ घटित होना आदि जानते हैं। एक व्यक्ति बूढ़ा है या युवा है, इसका ज्ञान बिना काल न के नहीं हो सकता। काल आकाश की भाँति विभु है, एक है और नित्य है। जब काल एक है, विभु है और । य है तो इसके तीन विभाग (भूत, वर्तमान एवं भविष्य) कैसे सम्भव हैं? इसका उत्तर यों है—वास्तव में काल के विभाग नहीं हैं, ये विभाग तो कल्पनापरक हैं और ये काल की क्रिया के द्योतक हैं। यदि हम किसी व्यक्ति के विषय में यह कहें कि वह वर्तमान में चावल पकाता है (ओदनं पचति) तो यह 'पके चावल' के परिणाम के विशिष्ट स्वभाव के कारण है, जो कई क्रियाओं का प्रतिफल मात्र है, यथा अग्नि पर पात्र रखने से लेकर पृथिवी पर उतार कर रखने तक। तब हम इसे वर्तमान कहते

५. सात पदार्थों (प्राचीन काल में ६) में द्रव्य एक पदार्थ है। पदार्थ वह है जिसको नाम दिया जा सके और जो ज्ञात हो, वह ऐसा नहीं है जिसकी केवल भौतिक अवधारणा मात्र हो सके।

हैं। जब हम उन क्रियाओं की शृंखला पर ध्यान देते हैं जिसके फलस्वरूप चावल पका तो हम भूत काल का अर्थ लगाते हैं (उन क्रियाओं से जो अन्त में निःशेष हुई)। वास्तव में यह स्वयं क्रियाओं की विशिष्टताओं पर निर्भर है।

यह ध्यान देने योग्य है कि रघुनाथ शिरोमणि ने 'पदार्थ-निरूपण' (नव्यन्याय सम्प्रदाय के एक ग्रन्थ) में निरूपित किया है कि दिक्, काल एवं परब्रह्म एक ही हैं, वे पृथक् पदार्थ नहीं हैं।

योगसूत्रभाष्य (३।५१) में काल के विषय में एक मनोरंजक किन्तु गूढ़ विवेचन उपस्थित किया गया है। सूत्र इस प्रकार है—'क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्' अर्थात् क्षणों एवं उनके क्रमों पर संयम करने से विवेकजन्य ज्ञान उत्पन्न होता है। इस पर भाष्य यों है—'जिस प्रकार एक परमाणु द्रव्य है जो सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तक पहुँच सकता है, उसी प्रकार क्षण काल है जो परम अपकर्ष तक (सूक्ष्म से-सूक्ष्म सीमा तक) पहुँच सकता है'...आदि-आदि। इस विवेचन से यही प्रकट होता है कि योगसूत्र एवं इसके भाष्य ने यही माना है कि काल द्रव्य नहीं है, कोई प्रकट वास्तविकता नहीं है, यह केवल एक शब्द है, एक मानसिक धारणा है जो प्रत्यक्षीकरण या भौतिक पदार्थों की विशेषता (विशेषण या उपाधि) की अनुभूति मात्र है, यह परिवर्तित वस्तुओं से सम्बन्धित है, इसकी गणना हम वस्तुओं की गति या परिवर्तन से करते हैं, यह केवल शशकशृंग (खरगोश के सींग) के समान नहीं है।

बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों में भी काल के विषय में विवेचन है। प्रज्ञाकर गुप्त (लगभग ७०० ई०) के प्रमाण-वार्तिकभाष्य या वार्तिकालंकार में वैशेषिकसूत्र एवं प्रशस्तपाद का खण्डन है। इसमें यह प्रतिपादित है कि काल कोई पृथक् सत्ता नहीं है, यदि काल का कोई आरम्भ नहीं है और यह अनन्त है तो समय की दूरी एवं निकटता की धारणा नहीं हो सकती, दूरी, सन्निकटता या क्षिप्रता उन क्रियाओं से भिन्न नहीं है जिनके विषय में वे पूर्व ज्ञान देती हैं। बौद्ध मत भी कहता है कि काल कोई वस्तु नहीं है, यह विचार मात्र है, यह केवल मनुष्य के इन्द्रियज्ञान-भण्डार एवं प्रज्ञा की स्वानुभूतिमय (आत्मगत) दशा है, अपने में यह नास्तित्व का द्योतक है, यह कर्ता से भिन्न है। किन्तु जैन सिद्धान्त के अनुसार छः पदार्थ हैं, यथा जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल एवं काल, अर्थात् काल की पृथक् सत्ता है।

कतिपय पुराणों में भी काल के विषय में विवेचन है। कूर्मपुराण (१, अध्याय ५) में काल का स्वरूप यों आया है—'यह पूजनीय काल अनन्त, अजर एवं अमर है। यह सर्वगत्व, स्वतन्त्रत्व, सर्वात्मत्व रूप से महेश्वर है। यों तो बहुत-से ब्रह्मा, रुद्र, नारायण एवं अन्य देव हैं, किन्तु यह घोषित है कि एक ही भगवान् काल है। देव काल से ही सृष्ट हैं और पुनः काल द्वारा कवलित होते हैं। काल की शक्ति से ब्रह्मा, नारायण, ईश (शिव) प्राकृत लय को प्राप्त होते हैं और पुनः काल के योग से उत्पन्न होते हैं। इसी से पर ब्रह्म, प्रकृति, वासुदेव एवं शंकर की सृष्टि होती है। अतः विश्व कालात्मक है। वही अकेला परमेश्वर है। और देखिए विष्णुधर्मोत्तर (१।७२।१-७) जहाँ ये ही बातें दूसरे ढंग से आयी हैं। वायु एवं कूर्म दोनों में आया है—'काल जीवों की सर्जना एवं संहार करता है, सभी काल के वश में हैं, काल किसी अन्य के वश में नहीं है' (वायु, ३२।२९-३०, कूर्म, २।२।१६)। और देखिए विष्णुपुराण (१।२। १३-१५-२६), ब्रह्मपुराण, भागवतपुराण (३।११।३-७)।

ज्योतिष के ग्रन्थ सूर्यसिद्धान्त में आया है—'काल लोकों का अन्त करने वाला है; दूसरा प्रकार (काल-भेद) कलनात्मक है, जिससे गणना की जाती है।' काल के दो प्रकार हैं—स्थूल एवं सूक्ष्म, जिन्हें मूर्त भी कहा जाता है और अमूर्त भी। काल-विभाजन प्राण (उच्छ्वास) आदि मूर्त हैं और त्रुटि आदि अमूर्त हैं। चरकसंहिता (सूत्र-स्थान १।४८०) ने काल को ९ द्रव्यों में गिन रखा है और कहा है कि यह अचेतन है। यह प्रकट है कि यह वैशेषिक

सिद्धान्त से मेल रखता है। सुश्रुतसंहिता (२।३-५) में भी काल-विषयक विवेचन है। दार्शनिक वैयाकरणों में भर्तृहरि (वाक्यपदीय के लेखक) ने प्रकीर्णककाण्ड (कालसमुद्देश, १, ३, ३२) में कहा है कि काल एक द्रव्य है, विभु है, अन्य क्रियाओं से पृथक् अनन्त सत्ता वाला है। स्थानाभाव से और कुछ लिखना सम्भव नहीं है। जो लोग काल के विषय में विशेष अध्ययन करना चाहते हैं वे श्री हारानचन्द्र भट्टाचार्य द्वारा लिखित एवं प्रकाशित 'कालसिद्धान्त-दर्शिनी' का अध्ययन कर सकते हैं, क्योंकि उस ग्रन्थ में विभिन्न सम्प्रदायों, शाखाओं एवं संस्कृत ग्रन्थों में प्रतिपादित काल सम्बन्धी दार्शनिक धारणाओं का विस्तारपूर्वक विवेचन है। हम यहाँ पर पश्चिमी सिद्धान्तों की न व्याख्या करेंगे और न भारतीय दृष्टिकोण से उनकी तुलना ही।

प्राचीन समय से ही काल के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विभाजन का आलेखन होता आया है। वाज० सं० (३२।२) में आया है—'सभी निमेष (पलक गिरने की अवधियाँ) परम पुरुष से उद्भूत हैं, वह पुरुष विद्युत् के समान देदीप्यमान है।' और देखिए महानारायण उप० (१।८)। बृ० उप० (३।८।९) में आया है—'अक्षर ब्रह्म के आधिपत्य में सूर्य एवं चन्द्र दूर-दूर स्थित हैं, इसी प्रकार निमेष, मुहूर्त, दिन, रात्रि, पक्ष, ऋतुएँ, वर्ष पृथक्-पृथक् हैं।' महानारायण उप० (१।८-९) में काल की इकाइयाँ यों हैं—'निमेष, कलाएँ, मुहूर्त, काष्ठाएँ, अर्धमास, मास, ऋतुएँ एवं वर्ष। मनु (१।६४) में आया है कि १८ निमेष एक काष्ठा के, ३० काष्ठाएँ एक कला के, ३० कलाएँ एक मुहूर्त के, ३० मुहूर्त एक अहोरात्र (रात-दिन) के बराबर हैं। वराहमिहिर की बृहत्संहिता (२, पृ० २२) एवं प्रशस्तपाद (वैशेषिक सूत्र, २।२।४६ के) भाष्य में प्रारम्भिक काल वाली काल-विभाजन-सूची यों है—'व्यवहार में आने वाली इकाइयों का कारण काल है और उसके खण्ड हैं—क्षण, लव, निमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त, याम (प्रहर या दिन का $\frac{1}{8}$ भाग), अहोरात्र, अर्धमास, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर (वर्ष), युग, मन्वन्तर, कल्प, प्रलय एवं महाप्रलय।' पुराणों में भी निमेष से प्रलय या कल्प तक के काल-विभाजन उल्लिखित हैं (देखिए ब्रह्म २३१।६-१२; कूर्म १।५।६-१४; पद्म ५।३।४-२०; वायु ५७।६-३५)। निमेष (पलक गिरने के समय) को वायु एवं विष्णुधर्मोत्तर ने ऐसा काल कहा है जो एक लघु अक्षर के उच्चारण में लगता है। विष्णुधर्मोत्तर ने कहा है कि निमेष से लघु काल की भौतिक अवधारणा सम्भव नहीं है।

काल की इकाइयों की संख्या, नाम एवं समय के विषय में मतैक्य नहीं है। यथा मनु (१।६४)—१८ निमेष १ काष्ठा, ३० काष्ठा १ कला, ३० कला १ मुहूर्त, ३० मुहूर्त १ अहोरात्र। कौटिल्य (अर्थशास्त्र २, अध्याय २०, पृ०१०७-१०८, शामशास्त्रीसंस्करण)—२ त्रुट (या त्रुटि ?)=लव, २ लव=निमेष, ५ निमेष=काष्ठा, ३० काष्ठा=कला, ४० कला—नाड़िका, २ नाड़िका=मुहूर्त, ३० मुहूर्त=अहोरात्र। कुछ पुराणों में वही नाम आदि हैं—१५ निमेष=काष्ठा, ३० काष्ठा=कला, ४० कला=नाड़िका, २ नाड़िका=मुहूर्त, ३० मुहूर्त=अहोरात्र (वायु ५०।१६९, ५७।७=मत्स्य १४२।४ विष्णु २।८।५९, ब्रह्माण्ड २।२९।६, शान्ति० २३१।१२)। अमरकोश—१८ निमेष=काष्ठा, ३० काष्ठ=कला, ३० कला=क्षण, १२ क्षण=मुहूर्त, ३० मुहूर्त=अहोरात्र। भागवत (३।११।३-१०)—२ परमाणु=अणु, ३ अणु=त्रसरेणु, ३ त्रसरेणु=त्रुटि, १०० त्रुटि=वेध, ३ वेध=लव, ३ लव=निमेष, ३ निमष=क्षण, ५ क्षण=काष्ठा, १५ काष्ठा=लघु, १५ लघु=नाड़िका, २ नाड़िका=मुहूर्त, ३० मुहूर्त=अहोरात्र। आथर्वण ज्योतिष—१२ निमेष=लव, ३० लव=कला, ३० कला=त्रुटि, ३० त्रुटि=मुहूर्त। यह तालिका किसी तालिका से नहीं मिलती। अहोरात्र से प्रलय की इकाइयों का उल्लेख आगे होगा।

आगे कुछ कहने के पूर्व कुछ बातों पर विचार कर लेना आवश्यक है। ईसा से कई शताब्दियों पूर्व ज्योतिष वेदांगों में परिगणित था। मुण्डकोपनिषद् (१।१।४-५) में अपरा विद्या को यों कहा गया है—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिष। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र (२।४।८।११) में भी

वेदों के छः अंगों का उल्लेख है। पाणिनीय शिक्षा (श्लोक ४१-४२) में नक्षत्र-तारकों की गतियों के विज्ञान को वेद की आँख कहा गया है। ज्योतिष, जो (ऋग्वेद एवं यजुर्वेद का) वेदांग है, केवल ज्योतिःशास्त्र-सम्बन्धी बातों से ही सम्बन्धित था। वेदांगज्योतिष (यजुर्वेद का, श्लोक ३, ४) में आया है—'वेदों की उत्पत्ति यज्ञों के प्रयोग के लिए हुई; यज्ञ कालानुपूर्वी हैं अर्थात् वे काल के क्रम से चलते हैं; अतः जो कालविधानशास्त्र ज्योतिष को जानता है, वह यज्ञों को भी जानता है। जिस प्रकार मयूरों के सिर पर कलँगी होती है, नागों (सर्पों) के सिर पर मणि होती है, उसी प्रकार गणित वेदांगशास्त्रों का मूर्धन्य है।' इससे प्रकट है कि उस समय गणित एवं ज्योतिष समानार्थी शब्द थे। वृद्ध-वासिष्ठसिद्धान्त में आया है—'यह शास्त्र वेद की आँख है।' आगे चलकर ज्योतिष के तीन स्कन्ध हो गये—**तन्त्र** (गणित द्वारा ग्रहों की गतियों का ज्ञान प्राप्त करना और उन्हें निश्चित करना), **होरा** (जिसका सम्बन्ध कुण्डली बनाने से है और इसे **जातक** भी कहा जाता है) तथा **शाखा**, जो एक विस्तृत स्कन्ध था और जिसमें शकुन-परीक्षण, लक्षण-परीक्षण एवं भविष्यसूचन का विवरण था। इन तीनों स्कन्धों पर रचित ग्रन्थ को **संहिता** कहा गया। जो इन तीनों स्कन्धों (गणित, होरा एवं शाखा) का ज्ञाता होता था, उसे **संहितापारग** कहा जाता था। तीसरे स्कन्ध को 'शाखा' क्यों कहा गया इसका समुचित समाधान नहीं दिया जा सका है। होरा के तीन उपविभाग थे—जातक या जन्म, यात्रा या यात्रिक एवं विवाह।

गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों में यह बात पायी जाती है कि वे ज्योतिष-सम्बन्धी आवश्यकताओं एवं जानकारी को ज्योतिषशास्त्रज्ञों से लेते थे। गोभिल-गृह्यसूत्र (१।५।१३) में आया है—'इस बात पर पृथक् ग्रन्थ है, उसे पढ़ना चाहिए या पर्वों (अमावास्या या पूर्णिमा) के विषय में जानकार लोगों से पूछना चाहिए।' प्राचीन एवं मध्य काल के ज्योतिष-ज्ञान के विषय में गहरे मतभेद रहे हैं। वास्तव में, धर्मशास्त्र के इतिहास में इसका विवेचन नहीं होना चाहिए, क्योंकि उस विषय पर लिखने के लिए एक पृथक् ग्रन्थ की आवश्यकता पड़ेगी। किन्तु ज्योतिष की दो शाखाओं (होरा एवं शाखा) का धर्मशास्त्र पर बड़ा प्रभाव पड़ा है, अतः कुछ बातों का उल्लेख आवश्यक है। यद्यपि धर्मशास्त्रकारों ने ज्योतिष से बहुत कुछ लिया है, किन्तु वे ज्योतिःशास्त्र के शब्दों को अन्तिम सिद्धान्त मानने को सन्नद्ध नहीं रहा करते थे। यदि ज्योतिःशास्त्र एवं धर्मशास्त्र के सिद्धान्तों में कहीं विरोध उत्पन्न होता था तो वे धर्मशास्त्र को ही मान्यता देते थे। उदाहरणार्थ, मान लिया जाय कि एक व्यक्ति ने सप्तमी पर 'एकभक्त-व्रत' किया है। संकल्प सामान्य नियम के अनुसार प्रातःकाल किया जाता है। मान लिया कि वह सप्तमी षष्ठी एवं अष्टमी से संयुक्त है और सप्तमी दिन के दस बजे से आरम्भ होती है। ऐसी स्थिति में 'युग्मवाक्य' के अनुसार षष्ठी से संयुक्त सप्तमी को व्रत के लिए मान्यता प्राप्त होगी और संकल्प प्रातःकाल करना पड़ेगा, किन्तु वास्तव में ज्योतिष के अनुसार तिथि उस समय षष्ठी ही रहेगी। देवल के मत से धार्मिक स्नान, दान एवं व्रतों के प्रयोग के लिए तिथि पूरे दिन भर रहेगी यदि सूर्य उस तिथि की अवधि में ही अस्त हो जाय। अन्य उदाहरणों के लिए देखिए कृ० र० (पृ० २९९) एवं स्मृतिकौ० (तिथि, पृ० १२)।

भारत की ज्योतिष-विद्या एवं फलित ज्योतिष के विषय में वेबर, ह्विटनी, थिबो आदि पाश्चात्य विद्वानों ने कल्पित आधारों पर प्रमाणरहित सिद्धान्त बघारे हैं। वे यह भूल जाते हैं कि संस्कृत साहित्य का एक विशाल अंश नष्ट हो चुका है, जिसका पता अब नहीं चल सकता। यही बात यूनान के विषय में भी है (टाल्मी के ऐल्मगेस्ट के उपरान्त यूनान का बहुत-सा साहित्य नहीं प्राप्त होता)। दूसरी बात यह है कि वे यह बात भूल जाते हैं कि जो कुछ साहित्य अवशेष है वह धार्मिक है न कि ऐतिहासिक; और जो कुछ बातें गणित के विषय की मिलती हैं वे केवल विषय प्रतिपादन के सिलसिले में ही आ गयी हैं। जिसका उल्लेख हुआ है और उस सिलसिले में जो कुछ छूट गया है उससे यह नहीं समझना चाहिए कि और अन्य बातें थीं ही नहीं। कुछ बातों के मेल से, यथा संस्थाओं एवं

व्यवहारगत बातों की कतिपय समानताओं से यह नहीं समझना चाहिए कि एक ने दूसरे से कुछ उधार लिया है। मानवमन सब स्थानों पर समान है, इसकी आवश्यकताओं, वातावरण आदि में बहुत कुछ समानताएँ हैं, ऐसा नहीं समझना चाहिए कि किसी स्थान-विशेष के लोग ही बौद्धिक शक्तियों में एकाधिकार रखते रहे हैं। १९वीं शताब्दी में जिन लोगों ने भारतीय साहित्य एवं विषयों पर लिखा है उनमें अधिकांश लोग यूनान एवं रोम के साहित्य से शिक्षित थे और वे यूनानी दर्शन, गणित, कलाओं एवं मिस्री सभ्यता से अभिभूत थे। जब बेबिलोन एवं मध्य-पूर्व एशिया के भारतीय आलेखन सामने आने लगे तो लोगों की आँखें खुलीं। निम्नोक्त विद्वानों ने विश्व की आँखें खोल दीं---सर लियोनार्ड वुली, ग्लैनविले, सर टामस हीथ, सार्टन आदि ने यह सिद्ध कर दिया कि यूनानियों ने सुमेर के लोगों, मिस्रियों, बेबिलोन के लोगों से बहुत कुछ सीखा। यह कहना बचपन सिद्ध हो गया कि यूनान से ही ज्ञान विज्ञान का श्रीगणेश हुआ था। बेबिलोन के लोग यूनानियों से गणित के विषय में बहुत आगे थे। टाल्मी ने बेबिलोन से बहुत कुछ प्राप्त किया था। इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, रूस एवं अमेरिका, जो आज विज्ञान के क्षेत्र में बहुत आगे हैं, टॉल्मी को ही गणित-गुरु मानते हैं, किन्तु अब यह सिद्ध हो चुका है कि उन्होंने अरब से दशमलव का ज्ञान प्राप्त किया। अरब वालों का गणितगुरु भारत था। यहाँ इस विषय में अधिक नहीं लिखा जायगा।

ज्योतिःशास्त्र एवं फलित ज्योतिष के सम्बन्ध में कुछ मत-मतान्तर हैं। आकाश के ग्रह, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र, उनके ग्रहण, धूमकेतु, तारों का टूटना आदि ऐसी विस्मयकारी वस्तुएँ हैं जिन्हें देखकर लोगों के मन में भय, कौतूहल एवं जिज्ञासा की भावनाएँ उत्पन्न होती रही होंगी। कालान्तर में ज्योतिःशास्त्र एवं फलित ज्योतिष की उत्पत्ति हुई। प्राचीन काल में दोनों शब्द एक ही अर्थ रखते थे। कुछ लोगों के मत से ज्योतिःशास्त्र फलित ज्योतिष पर आधारित है। किन्तु प्रो० न्यूगेबोर एवं श्री पीटर डोएग इस मत को नहीं मानते। किन्तु लगता है, दोनों प्राचीन हैं और वे एक-दूसरे से प्रभावित होते रहे हैं। आजकल के बहुत-से लोग फलित ज्योतिष की बातों को गुलगपाड़ा ठहराते हैं। किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। क्या हम ज्वार-भाटों, ग्रहणों, अन्धड़-तूफानों, वर्षा आदि के विषय में भविष्यवाणियाँ नहीं करते? आकाश के ग्रह-नक्षत्र हमारे जीवन को अवश्य प्रभावित करते हैं।

किन्तु वास्तविक बात यह नहीं है। हमें यह देखना है कि क्या ज्योतिषाचार्यों एवं फलित ज्योतिष के जानकारों ने ग्रहों, नक्षत्रों आदि के विषय में यथातथ्य नियमों एवं विधियों का निर्माण करके यथातथ्य निष्कर्ष नहीं निकाले हैं? क्या उनके ज्ञान से हमारे अनुदिन के जीवन पर प्रकाश नहीं पड़ता है?

ज्योतिःशास्त्र एवं फलित ज्योतिष सम्बन्धी संस्कृत-साहित्य, कुछ एक-दूसरे से मिल जाते हुए भी, तीन कालावधियों में बाँटा जा सकता है। प्रथम युग है वैदिक संहिताओं एवं ब्राह्मणों का, जो अति आदिकालीन युगों से लगभग ईसा पूर्व ८०० के मध्य का है। दूसरा युग वह है जिसमें वेदांगज्योतिष, श्रौत, गृह्य एवं धर्म सूत्र, मनु, याज्ञवल्क्य, गर्ग के ग्रन्थों तथा सूर्यप्रज्ञप्ति जैसे जैन ग्रन्थों का निर्माण हुआ और जो तीसरी शताब्दी तक चलता रहा। तीसरा युग ईसा की प्रथम शताब्दी से प्रारम्भ हुआ, जिसमें सिद्धान्त नामक ग्रन्थ प्रणीत हुए और जिसमें आर्यभट (४७६ ई० में उत्पन्न), वराहमिहिर (४७५ ई० से ५५० ई० तक), ब्रह्मगुप्त (सन् ५९८ ई० में उत्पन्न) आदि ग्रन्थकार थे।

यहाँ पर उन ग्रन्थों की ओर कुछ संकेत किया जायगा जो विस्तार से अध्ययन के उपरान्त भारतीय ज्योतिःशास्त्र एवं दैवज्ञविद्या (फलित ज्योतिष) पर प्रभूत प्रकाश डालते हैं। सन् १८९६ ई० में प्रकाशित एवं शंकर बालकृष्ण दीक्षित द्वारा लिखित तथा सन् १९३१ ई० में उनके पुत्र द्वारा पुनः सम्पादित मराठी ग्रन्थ 'हिन्दू ज्योतिःशास्त्र का इतिहास' महत्त्वपूर्ण है। दीक्षित ने यह प्रतिपादित किया है कि भारतीय ज्योतिः-

शास्त्र पूर्णरूपेण स्वतन्त्र है और इस पर कोई बाहरी छाप नहीं है।* अन्य ग्रन्थ या लेख ये हैं---डेविस का 'एस्ट्रॉनामिकल कम्प्यूटेशंस आव दि हिन्दूज' (एशियाटिक रिसर्चेज, जिल्द ३ पृ० २०९-२७७); बेण्टली का 'हिस्टॉरिकल व्यू आव हिन्दू एस्ट्रॉनॉमी' (वही, जिल्द ६, पृ० ५३७-५८८); कोलब्रुक के 'मिसलेनिएस एसेज़' (जिल्द २, पृ० ३२१-३७३); वारेन का 'काल-संकलित'; जर्विस का 'इण्डियन मेट्रालॉजी'; बृहत्संहिता पर कर्न की भूमिका; बर्गेस, ह्विटनी (जे० ए० ओ० एस०, जिल्द ६, पृ० १४१-४९८); और देखिए वही, जिल्द ८ (पृ० १-९४); वराहमिहिर की पंचसिद्धान्तिका (थिबो एवं सुधाकर द्विवेदी द्वारा सम्पादित); प्रो० वेबर का 'उब्र डेन वेदकैलेण्डर, नामेंस ज्योतिषम्', मैक्समूलर का ऋग्वेद; बाल गंगाधर तिलक का 'ओरायन' एवं 'आर्कटिक होम इन दि वेदाज'; थिबो का 'इण्डियन ऐस्ट्रॉनामी, ऐस्ट्रॉलॉजी एण्ड मैथमेटिक्स'; अलबरूनी का 'इण्डिया'; इण्डियन एण्टीक्वेरी (जिल्द २३, पृ० १५४-१५९; जिल्द २४, पृ० ८५-१००); इण्डियन हिस्ट्रोरिकल क्वार्टरली (जिल्द ४, १९२८, पृ० ६८-७७); वही (जिल्द ५, पृ० ४७९-५१२); मेनन का 'ऐंश्येण्ट ऐस्ट्रॉनामी एवं कॉस्मामॉनी'; दत्त एवं सिंह का 'हिस्ट्री आव हिन्दू मैथेमेटिक्स'; दफ्तरी का 'भारतीय-ज्योतिःशास्त्र-निरीक्षण।' इसी प्रकार बहुत से लेख एवं ग्रन्थ प्रकाशित हैं।

* यह प्रसिद्ध मराठी ग्रन्थ पं० विश्वनाथ झारखण्डी द्वारा हिन्दी में अनूदित होकर 'हिन्दी समिति' द्वारा (सन् १९६३ में द्वितीय आवृत्ति) प्रकाशित हो चुका है।

अध्याय १५
काल की इकाइयाँ

अब हम 'युग' से पूर्ववर्ती 'मुहूर्त' तक की काल-इकाइयों का उल्लेख करेंगे। 'मन्वन्तर', 'कल्प' एवं 'प्रलय' पर चर्चा आगे होगी।

ऋग्वेद में 'युग' शब्द कम-से-कम ३३ बार विभिन्न अर्थों में आया है। इस विषय में देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड ३। दो अर्थ स्पष्टतया उभर उठते हैं—अल्पावधि एवं दीर्घावधि। ऋ० (१।१५८।६) में आया है—'ममता के पुत्र दीर्घतमा दस युगों में बूढ़े हुए, वे ब्रह्मा, बड़े याजक और अपने लक्ष्य की ओर बहने वाली नदियों (जलों) के नेता बने।'[1] यहाँ 'युग' दस वर्ष से अधिक अवधि का द्योतक नहीं हो सकता, सम्भवतः पाँच वर्षों की अवधि का द्योतक है। ऋ० (३।२६।३) में आया है—'अपनी माता के पास हिनहिनाते हुए अश्व के समान वैश्वानर (अग्नि) प्रत्येक युग (प्रति दिन, सायण) में कुशिकों द्वारा प्रज्वलित किया जाता है।' वेदांगज्योतिष (श्लोक १ एवं ५) में युग पाँच वर्षों का द्योतक है।[2] अतएव हम ऋग्वेद के 'युग' को पाँच वर्ष की अवधि के रूप में ले सकते हैं। ऋ० (३।५५।१८) में पाँच वर्ष की इकाइयों की (जिनमें प्रत्येक ६ ऋतुओं में विभाजित है) ओर गूढ़ संकेत है। ऋग्वेद में संवत्सर का अर्थ एक वर्ष है (१।११०।४; १।१४०।२; १।१६१।१३; १।१६४।४४; ७।१०३। १, ७, ९; १०।१९०।२)। ऋ० (१०।६२।२) में 'परिवत्सर' शब्द आया है। 'संवत्सर' एवं 'परिवत्सर' शब्द संहिताओं में प्रयुक्त पाँच वर्षों वाले युग के पाँच नामों में आये हुए दो नाम हैं। जिस प्रकार ऋग्वेद में 'युग' शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, उसी प्रकार यह सम्भव है कि 'संवत्सर' एवं 'परिवत्सर' शब्द केवल एक वर्ष के अर्थ में या पाँच वर्षों के वृत्त के अर्थ में प्रयुक्त हुए हों। तै० सं० (५।५।७।१-३) में संवत्सर के साथ रुद्र को नमस्कार किया गया है, दाहिने, पीछे, उत्तर एवं ऊपर क्रम से परिवत्सर, इदावत्सर, इदुवत्सर एवं वत्सर के साथ रुद्र को नमस्कार अर्पित किया गया है। वाज० सं० (२७।४५) ने इन पाँचों के नाम लिये हैं, केवल इदुवत्सर के स्थान पर इद्वावत्सर का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार अथर्ववेद (६।५५।२) में इदावत्सर, परिवत्सर एवं संवत्सर को नमस्कार किया गया है। तै० ब्रा० (१।४।१०।१) में अग्नि, आदित्य, चन्द्रमा एवं वायु क्रम से संवत्सर, परिसंवत्सर, इदावत्सर एवं अनुवत्सर कहे गये हैं; वहाँ वर्षों के चार नामों का चार चातुर्मास्यों से सम्बन्ध जोड़ा गया है, यथा वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध एवं शुनासीरीय। इससे प्रकट है कि संहिताओं में भी नाम (सामान्यतः पाँच) एक निर्दिष्ट

१. दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान्दशमे युगे। अपामर्थं यतीनां ब्रह्मा भवति सारथिः॥ ऋ० (१।१५८।६); अश्वो न क्रन्दञ्जनिभिः समिध्यते वैश्वानरः कुशिकेभिर्युगे युगे। ऋ० (३।२६।३); सायण ने 'युगे युगे' को 'प्रतिदिनम्' माना है। देखिए बृहद्देवता (४।२४) जहाँ दीर्घतमा की कथा आयी है।

२. पञ्चसंवत्सरमयं युगाध्यक्षं प्रजापतिम्। वेदांगज्योतिष, श्लोक १; माघशुक्लप्रपन्नस्य पौषकृष्ण-समापिनः। युगस्य पञ्चवर्षस्य कालज्ञानं प्रचक्षते॥ वही, श्लोक ५।

क्रम में उल्लिखित हैं। इस बात को थिबो महोदय अपने ग्रन्थ 'ग्रुण्ड्रिस' (पृ० ९) में हठवाद का आश्रय लेकर ठीक नहीं मानते और कहते हैं कि वैदिक काल में पञ्चवर्षीय युग का ज्ञान नहीं सिद्ध किया जा सकता। यह द्रष्टव्य है कि कौटिल्य ने पञ्चसंवत्सर युग का उल्लेख किया है और साथ ही साथ २॥ वर्ष एवं ५ वर्ष के अन्त के दो मलमासों को उसमें रखा है।[3]

महाभारत में भी पंचवर्षीय युग का उल्लेख है (सभापर्व, ११।३८)।[4] पितामहसिद्धान्त ने, जो अप्राप्य है, युग को सूर्य एवं चन्द्र का पंच-वर्ष माना है और कहा है कि ३० मासों के उपरान्त एक मलमास जुड़ता है। यह उदाहरण वराहमिहिर की पंचसिद्धान्तिका में है।[5]

अन्य प्रश्न है—वैदिक काल में वर्ष का क्या विस्तार था? ऋ० (१।१६४।११-१३ एवं ४८) में आया है—'ऋत के चक्र (पहिए) के बारह अर (तीलियाँ) हैं; यह आकाश में चतुर्दिक् घूमता है; यह कभी नहीं थकता (जरा को प्राप्त नहीं होता)। हे अग्नि, इसमें (चक्र में) ७२० पुत्रों के जोड़े निवास करते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि पिता (सूर्य) के, जो नीचे पानी गिराता है, पाँच पैर एवं बारह आकृतियाँ हैं, वह द्यौ (आकाश) के सुदूर अर्ध भाग में पूर्णता के साथ रहता है। अन्य लोग कहते हैं कि वह (सूर्य) जो सबको देखता है, निम्न (स्थान) में अवस्थित है जिसमें सात चक्र एवं छः अर (तीलियाँ) हैं; सभी भुवन पाँच अरों वाले घूमते चक्र में निवास करते हैं; एक चक्र (पहिआ) एवं बारह प्रधियाँ (अन्त या धारा, जहाँ अर या तीलियाँ चक्र से मिलती हैं अथवा जो पूरे चक्र की आकृति को ग्रथित करती हैं) तथा तीन नाभियाँ—वह कौन है जो तुम्हें (भली भाँति) जानता है?; उस (चक्र अर्थात् वर्ष) में ३६० अति अस्थिर खूँटियाँ हैं।'[6] उपर्युक्त वचनों में द्रष्टा ऋषि ने रहस्यात्मक एवं लाक्षणिक ढंग से वर्ष को ३ भागों में, ५ या ६ ऋतुओं में, १२ मासों में, ३६० दिनों, ७२० अहोरात्रों में पृथक्-पृथक् बाँटा है। यह कहना सम्भव है कि ऋत का चक्र राशिमण्डल है जो बारह भागों (द्वादशार, अर्थात् १२ अरों) में विभाजित है। किन्तु इस विभाजन को ठीक से मन में रख लेना कठिन कार्य है। ऋ० (१।१६४।१५) में आया है—'वे कहते हैं कि उनका जो एक साथ उत्पन्न हैं, सातवाँ एक ही से उत्पन्न है; देवों से केवल ६ जुड़वाँ ऋषि उत्पन्न हुए हैं।' यहाँ ६ ऋतुओं की ओर संकेत है, जिनमें प्रत्येक में दो मास हैं, सातवीं में केवल एक है

३. पञ्चसंवत्सरो युगमिति।...एवमर्धतृतीयानामब्दानामधिमासकम्। ग्रीष्मे जनयतः पूर्वं पञ्चाब्दान्ते च पश्चिमम्॥ अर्थशास्त्र २, अध्याय २० (देशकालमान) पृ० १०९।

४. क्षणा लवा मुहूर्ताश्च दिवा रात्रिस्तथैव च। अर्धमासाश्च मासाश्च ऋतवः षट् च भारत॥ संवत्सराः पञ्चयुगमहोरात्रश्चतुर्विधः। सभा० ११।३७-३८।

५. रविशशिनोः पञ्च युगं वर्षाणि पितामहोपदिष्टानि। अधिमासस्त्रिंशद्भिर्मासैरवमो द्विषष्ट्या तु॥ पञ्चसि० (१२।१)। वराह के मत से पैतामहसिद्धान्त ने 'शक २' (८० ई०) अर्थात् शक वर्ष २ से नवीन युग का आरम्भ माना है। अतः सम्भवतः यह लगभग सन् ८० ई० में प्रणीत हुआ।

६. यह सम्पूर्ण सूक्त (१।१६४) प्रहेलिकापूर्ण है। ऋ० (१।१६४।२) में आया है कि रथ (सूर्य) में सात घोड़े जुते हैं, इसका एक ही चक्र (पहिआ) है जिसमें तीन नाभियाँ हैं। चक्र का अर्थ है वर्ष, तीन नाभियाँ तीन ऋतुएँ हैं, ग्रीष्म, वर्षा एवं जाड़ा। ऋ० (१।१६४।१२ एवं १३) में चक्र ६ या ५ तीलियों वाला कहा गया है; चक्र के १२ अर या प्रधियाँ मास के द्योतक हैं। देखिए निरुक्त (४।२७); मिलाइए आदिपर्व (३।६०) जो ऋ० (१।१६४।११-१३) के समान है।

(१३वाँ या मलमास) तथा १३वाँ मास धार्मिक कृत्यों के लिए उपयुक्त नहीं है। अथर्ववेद (५।१४।४) में भी आया है कि संवत्सर में बारह अर हैं और मासों में ३०। इससे ऋ० १।१६४।११-१३ एवं ४८ के अर्थ पर प्रकाश पड़ जाता है। ब्राह्मणों में भी वर्ष में ३६० दिन एवं ७२० अहोरात्र कहे गये हैं (शतपथ ब्रा० ९।१।१।४३; ऐत० ब्रा० ७।७)।

वैदिक संहिताओं एवं ब्राह्मणों में १३वें मास (**अधिक मास या मलमास**) की चर्चा है (देखिए तै० सं० ४।६।७।१-२; कौषीतकि ब्रा० १९।२)। तै० सं० (१।१४।४, ६।५।३।४) ने स्पष्ट रूप से १३वें मास ('संसर्प' या अंहस्पत्य) का उल्लेख किया है। और देखिए वाज० सं० (७।३० एवं २२।३ : अंहस्पत्य), मैत्रायणी सं० (३।१२।१३ : संसर्प)। कौषीतकि ब्रा० (५।८) ने १३वें मास को शुनासीरीय यज्ञ से सम्बन्धित किया है। मैत्रायणी सं० (१।१०।८) ने 'ऋतुयाजी' एवं 'चातुर्मास्य-याजी' के अन्तर को लक्षित किया है। प्रथम वह है जो यह समझकर यज्ञ करता है कि 'अब वसन्त आ गया है, वर्षारम्भ हो गया है, शरद् का आगमन हुआ है; चातुर्मास्य-याजी वह है जो १३वें मास को ध्यान में रखकर यज्ञ करता है।' ऋग्वेदीय काल या तै० सं० के काल में मास किस प्रकार प्रयुक्त हुआ, स्पष्ट नहीं है। केवल यही स्पष्ट है कि एक पूरा मास जोड़ दिया गया। अतः थिबो (ग्रुण्ड्रिस, पृ० ७) का यह कथन कि सभी वैदिक वचनों से केवल ३६० दिनों वाला वर्ष-मात्र व्यक्त होता है, भ्रामक है। ऋग्वेदीय भारतीयों को वह वर्ष ज्ञात था जिसमें एक मास जुड़ता था (अर्थात् ३९० दिन वाला वर्ष, जिसमें मलमास होता था)। अतः उन दिनों दो कैलेण्डरों (पंचांगों) की बात ज्ञात थी; प्रथम धार्मिक कृत्यों के लिए ३६० दिनों का (३० दिनों वाले १२ मास) था, और दूसरा जिसमें एक और मास जुड़ता था, जिससे वर्ष के क्रम को भली भाँति जाना जा सके। आगे चलकर ३६० दिनों वाला वर्ष 'सावन' नाम से विख्यात हुआ (सवन का अर्थ है यज्ञ में सोमरस निकालना) और लगभग ३० मासों के उपरान्त एक मास जोड़ दिया जाता था जिससे चान्द्र वर्ष (३५४ दिनों वाला) सौर वर्ष की संगति में बैठ सके।

शतपथ ब्रा० (२।१।३।२) में सूर्य के **उत्तरायण** एवं **दक्षिणायन** की गतियों का उल्लेख है, यद्यपि 'अयन' शब्द वहाँ नहीं प्रयुक्त है, यथा 'स यत्रोदगावर्तते देवेषु तर्हि भवति।...यत्र दक्षिणावर्तते पितृषु तर्हि भवति।' ऋ० (३।३३।०) में अयन शब्द 'गति या मार्ग' के अर्थ में आया है (आयन्नापो अयनमिच्छमानाः)। पश्चात्कालीन साहित्य में उत्तरायण एवं दक्षिणायन शब्द भरपूर अपने ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। छः मासों तक उत्तर तथा छः मासों तक दक्षिण में सूर्य की गतियाँ बृ० उप० (६।२।१५-१६) में भी उल्लिखित हैं। वसन्त एवं ग्रीष्म उत्तरायण के प्रमुख भाग हैं, अतः इनके अनुषंग में तथा समनुरूपता की दृष्टि से वर्षा ऋतु भी देवों की पूजा के लिए है।

ऋतुओं के विषय में अस्पष्ट कथन हैं। ऋ० (१।१५) में 'ऋतुना' शब्द कई बार आया है, किन्तु एक बार 'ऋतून्' भी आया है—'हे इन्द्र, ऋतु के अनुसार ब्राह्मण की सम्पत्ति (सश्रीक पात्रों) से सोम का पान करो।' ऋ० (२।३६ एवं ३७) को ऋतव्य सूक्त कहते हैं। स्वयं ऋ० पाँच ऋतुओं का उल्लेख करता है, यथा वसन्त (१०।१६१।४, १०।९०।६), ग्रीष्म (१०।९०।६), प्रावृट् (७।१०३।३ एवं ९), शरद् (२५ बार, २।१२।११, ७।६६।११, १०।१६१।४ आदि), हेमन्त (१०।१६१।४), किन्तु स्पष्ट रूप से 'शिशिर' का उल्लेख नहीं है। अथर्ववेद (६।५५।२) में छः ऋतुओं के नाम आये हैं, किन्तु क्रम से नहीं (ग्रीष्मो हेमन्तः शिशिरो वसन्तः शरद्वर्षाः स्विते नो दधात)। ऐत० ब्रा० (१।१) में पाँच ऋतुओं का उल्लेख है, हेमन्त एवं शिशिर एक साथ हैं। शतपथ ब्रा० (२।१।३।१६) ने कहा है कि संवत्सर में छः ऋतुएँ हैं। अथर्ववेद (६।६१।२) में सात ऋतुओं का उल्लेख है, किन्तु इससे परेशान होने की बात नहीं है, क्योंकि सातवीं ऋतु सम्भवतः मलमास है जो अथर्व० (५।६।४) में स्पष्ट रूप से उल्लिखित है। तै० सं० (४।४।११।१) में छः ऋतुओं में प्रत्येक को दो मास वाली कहा गया है। वसन्त को

प्रथम स्थान मिला है (तै० ब्रा० १।१।२।६)। शतपथ ब्रा० (२।१।३।१-५) ने वसन्त एवं ग्रीष्म को देवों की, शरद्, हेमन्त एवं शिशिर को पितरों की ऋतुओं के रूप में वर्णित किया है, इसी प्रकार मास का शुक्ल पक्ष, दिन एवं पूर्वाह्ण देवों के लिए तथा कृष्ण पक्ष, रात्रि एवं अपराह्ण पितरों के लिए मान्य ठहराया है, और अन्त में व्यवस्था दी है कि ब्राह्मणों, क्षत्रियों एवं वैश्यों को क्रम से वसन्त, ग्रीष्म एवं शरद् ऋतु मे पवित्र अग्नि प्रज्वलित करनी चाहिए। अशोक के समय में 'वर्ष' (जो व्युत्पत्ति के अनुसार वर्षा ऋतु का द्योतक है) एवं 'संवत्सर' शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते थे।

कुछ पाश्चात्य विद्वान् यह कहते हैं कि वेदकालीन भारतीयों को ग्रहों का ज्ञान नहीं था। किन्तु उनके कथन भ्रामक हैं। थिबो महोदय ने वेद-कालीन भारतीयों को ऋतु-ज्ञान-विहीन कहा था, जो उपर्युक्त विवेचन से भ्रामक ठहरता है। इसी प्रकार उनकी ग्रह-विषयक धारणाएँ भी त्रुटिपूर्ण हैं। थिबो (ग्रुण्ड्रिस, पृ० ६, ११) एवं केयी (पृ० ३३) यह सिद्ध करने पर तुले हुए हैं कि भारतीयों में ऐसे उच्च ज्ञानों तक पहुँचने की शक्ति ही नहीं थी, ग्रह-पूजा, जो याज्ञ० (१।२९५-३०८) में वर्णित है, वैदिक काल में नहीं प्रचलित थी। कम-से-कम बृहस्पति की ओर दो मन्त्र संकेत करते हैं।[7] ऋ० (३।७।७) में आया है—'सात अध्वर्यु (याजक) पाँच ऋत्विजों के साथ प्रिय एवं पक्षी (अग्नि) के निहित पद की रक्षा करते हैं, बैल खाते हुए, निरायु, पूर्व में आनन्दित होते हैं, देव लोग देवों के लिए बने नियमों का अनुसरण करते है।' यहाँ पाँच अध्वर्यु या बैल पाँच ग्रहों के द्योतक हैं। इसी प्रकार "उसने (इन्द्र ने) द्यावा, पृथिवी एवं रोदसी (आकाश एवं पृथिवी के मध्य स्थल) को भर दिया। वह पाँच देवों का विभिन्न रूपों में अधीक्षण करता है, ४९ देवों (मरुतों) का उचित ऋतुओं में, ३४ प्रकाशों का, जो उसके समान ही हैं, उनके विभिन्न नियमों के अनुसार अधीक्षण करता है।"[8] 'ये पाँच बैल जो व्योम के बीच में स्थित हैं' (ऋ० १।१०५।१०)। ऋ० (१०।१२३।१ एवं ५) में जो 'वेन' शब्द आया है वह वेनस (शुक्र) का द्योतक हो सकता है। इसकी पाँचवी ऋचा का अर्थ यों है—'अप्सरा (युवा नारी) उषा (या विद्युत्) मुस्कान के साथ अपने प्रेमी की ओर उन्मुख होती हुई, उच्च व्योम में वेन को धारण करती है, वह वेन के स्थानों में घूमती है और सुनहले पंख पर उसके साथ बैठती है।' पूर्व में सूर्योदय के पूर्व उदित होते हुए शुक्र तारे का यह सुन्दर वर्णन है।

७. बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन्। सप्तास्यस्तु विजयते रवेण वि सप्तरश्मिरधमत्तमांसि ॥ ऋ० (४।५०। ४; अथर्व० २०।८८।४; बृहस्पतिः प्रथमं जायमानस्तिष्यं नक्षत्रमभिसम्बभूव। श्रेष्ठो देवानां पृतनासु जिष्णुः दिशो नु सर्वा अभयं नो अस्तु॥ तै० ब्रा० (३।१।१।५)। तिष्य शब्द पुष्य का द्योतक है और इसके अधिष्ठाता (देवता) बृहस्पति हैं (तै० ब्रा०, वही); यहाँ तक कि आगे के ग्रन्थ, यथा गोभिलगृह्य (३।३।१४) में तैषी का अर्थ है पौषी (पौर्णमासी)। तिष्य ऋ० (५।५४।१३) में आया है। और देखिए ऋ० (१०।६४।८)।

८. आ रोदसी अपृणादोत मध्यं पञ्च देवाँ ऋतुशः सप्तसप्त। चतुस्त्रिंशता पुरुधा वि चष्टे सरूपेण ज्योतिषा विव्रतेन॥ ऋ० (१०।५५।३)। यह गूढ़ अर्थ युक्त पद्य इन्द्र की प्रशंसा में है। पाँच देव वे ग्रह हैं जो एक साथ ही नहीं प्रकट होते हैं, प्रत्युत वे अपनी ऋतु के अनुसार (ऋतुशः) प्रकट होते हैं। ३४ प्रकाश हैं—सूर्य, चन्द्र, ५ ग्रह, २७ नक्षत्र। लुडविग एवं ओल्डेनबर्ग ने यह व्याख्या स्वीकृत की है। ३४ की कोई अन्य उचित एवं सन्तोषदायिनी व्याख्या नहीं है।

मास के विषय में आगे बहुत कुछ लिखा जायगा। शब्द 'मास्' या 'मास' है। 'मास्' शब्द ऋ० (१.२५।८, ४।१८।४, १०।५२।३) में है—'वह (अग्नि) प्रत्येक दिन एवं प्रत्येक 'मास्' में प्रकट होता है (ऋ० ३।३१।९)। ऋ० (५।७८।९) में भी 'मास्' आया है (वह शिशु जो माँ के पेट में दस 'मास्' रहता है जीवितावस्था में निकल आये . . .)। 'मास्' का अर्थ चन्द्र भी है (ऋ० ८।९४।२, १०।१२।७—सूर्ये ज्योतिरदधुर्मास्यक्तून्, अर्थात् देवों ने सूर्य में ज्योति तथा चन्द्र में अन्धकार रख दिया)। 'मास्' (चन्द्र) एवं 'मास' (महीना) भारोपीय है, क्योंकि यह शब्द विभिन्न रूपों में भारोपीय भाषाओं में प्रयुक्त होता है।

कतिपय ग्रन्थों में **नक्षत्रों** के विषय में लम्बे-लम्बे विवेचन उपस्थित किये गये हैं। 'नक्षत्र' शब्द के तीन अर्थ हैं—(१) सामान्य तारागण, (२) राशि-चक्र के २७ समान भाग एवं (३) राशि-चक्र के तारा-दल (जिनमें प्रत्येक के साथ एक या अधिक तारे होते हैं)। प्रस्तुत लेखक के मत से वैदिक संहिता में प्रथम एवं तृतीय अर्थ में ही 'नक्षत्र' का प्रयोग हुआ है। यह हो सकता है कि राशियाँ २७ समान भागों में विभक्त थीं और उन्हें नक्षत्र कहा गया, किन्तु सरलतर एवं अधिक रूप में प्रारम्भिक ढंग था अधिक प्रभावशाली तारों से तारा-दलों को अभिव्यक्त करना, यथा कृत्तिकाएँ, मृगशिराएँ, और उन्हें 'नक्षत्र' शब्द से सूचित करना। 'नक्षत्र' शब्द वैदिक संहिताओं एवं ब्राह्मणों में कई बार आया है। देखिए ऋ० (१।५०।२ : चोरों के समान नक्षत्र-गण, रात्रियों के समान सूर्य को लक्ष्य बनाने के लिए, जो संसार को देखता है, चले जाते हैं); ऋ० (३।५४।१९, ७।८६।१, १०।१११।७, १०।८५।२)। इन स्थानों पर 'नक्षत्र' शब्द 'तारे' के अर्थ में आया है। किन्तु ऋ० (१०।८५।२ एवं १०।६८।११) में (पितरों ने नक्षत्रों के साथ व्योम को अलंकृत किया), लगता है, 'नक्षत्र' शब्द विख्यात २७ तारा-पुंजों का द्योतक है। शत० ब्रा० ने कृत्तिकाओं (जो पूर्व दिशा से विचलित नहीं होतीं) एवं अन्य नक्षत्रों में (जो विचलित हो जाते हैं) भेद प्रकट किया है। दूसरा शब्द है 'स्तृ' (जो भारोपीय है) जो ऋ० (१।६८।५, १।८७।१, १।१६६।२ आदि) में आया है और इसका सम्बन्ध है आकाश के अलंकरण से। ऋक्ष शब्द 'तारा' के अर्थ में आया है (ऋ० १।२४।१०)—'ये ऋक्ष जो उच्च स्थिर हैं, रात्रि में दिखाई पड़ते हैं, किन्तु दिन में वे कहाँ चले जाते हैं?' यह सप्तर्षि-मण्डल का द्योतक है। अथर्ववेद (६।४०।१) में स्पष्ट रूप से सप्तर्षि-मण्डल की ओर संकेत है—'. . . सप्तर्षियों को आहुति देने से हमें अभय प्राप्त हो।' शत० ब्रा० (२।१।२।४) का कहना है कि प्राचीन काल में सप्तर्षि (सात ऋषि) 'ऋक्ष' कहे जाते थे। ऋ० (५।५६।३, ८।२४।२७ एवं ८।६८।१५) में 'ऋक्ष' शब्द का अर्थ 'भालू' (रीछ) या अन्य कुछ है। हमने ऊपर देख लिया है कि ऋ० (१०।५५।३) में २७ नक्षत्रों की ओर संकेत मिलता है। इसके अतिरिक्त ऋ० **तिष्य** एवं **अघा** तथा **अर्जुनी** (१०।८५।१३) का उल्लेख करता है जिनमें अन्तिम दो अथर्ववेद के अनुसार मघा एवं फाल्गुनी हैं। यह सम्भव है कि या तो अघा एवं मघा दोनों ऋग्वेदीय काल में एक ही नक्षत्र के नाम थे, या तै० सं० एवं अथर्ववेद के समयों में अघा मघा के नाम का द्योतक हो गया। अघा एवं अर्जुनी के, जो २७ नक्षत्रों में सम्मिलित थे, अतिरिक्त ऋग्वेद मृगशीर्ष, पुनर्वसु, शतभिषक् तथा कुछ अन्य नक्षत्रों के नाम भी लेता है। नक्षत्र २७ या २८ (उत्तराषाढा के उपरान्त तथा श्रवण के पूर्व अभिजित् को जोड़ने से) हैं। वैदिक साहित्य, वेदांगज्योतिष, यहाँ तक कि याज्ञवल्क्यस्मृति में भी नक्षत्रों का वर्णन कृत्तिका से अपभरणी (या भरणी) तक हुआ है, किन्तु तीसरी या चौथी शताब्दी से अब तक के ग्रन्थों में अश्विनी से रेवती तक होता है।

अब हम नक्षत्रों के नामों, उनके देवताओं, लिंग एवं उनमें रहने वाले तारों की सूची देंगे। नामों एवं नक्षत्र-देवों के विषय में मत-मतान्तर हैं। पूर्ण सूचियाँ तै० सं० (४।४।१०।१-३), तै० ब्रा० (१।५ एवं ३।१), अथर्ववेद (२।१३।३०) एवं वेदांगज्योतिष में मिलती हैं।

नक्षत्रों की सूची, उनके नाम, देवता आदि

संख्या	वैदिक नाम	वर्तमान नाम	वैदिक देवता	तै० सं० ४।४।१०। १-३	तै० ब्रा० १।५	तै० ब्रा० ३।१।४-५	अथर्ववेद १९।७। २-५	काठक सं० ३९।१३	मैत्रायणी सं० २। १३।२०	वेदांग-ज्योतिष २५-२६ (ऋ०), ३६।४० य० केवल देवनाम	लिंग	तारों की संख्या
१	कृत्तिका	कृत्तिका	अग्नि	कृत्तिका	कृत्तिका	कृत्तिका	किसी नक्षत्र के देवता का नाम नहीं	कृत्तिका	कृत्तिका	अग्नि	स्त्रीलिंग	तै० सं० (३।१।४।१) में सात नाम हैं, यथा अम्बा, दुला आदि (बहुला)
२	रोहिणी	रोहिणी	प्रजापति	रोहिणी	रोहिणी	रोहिणी	रोहिणी	रोहिणी	रोहिणी	प्रजापति	स्त्रीलिंग	१
३	मृगशीर्ष	मृगशीर्ष	सोम	मृगशीर्ष	इन्वका	मृगशीर्ष या इन्वका	मृगशीर्ष	इन्वका (देवता, मरुत)	इन्वका (देवता, मरुत)	सोम	नपुंसक लिंग	१ बहुवचन, तै० ब्रा० १।५, काठक, मैत्रा०
४	आर्द्रा	आर्द्रा	रुद्र	आर्द्रा	बाहु	आर्द्रा	आर्द्रा	बाहु	बाहु	रुद्र	स्त्रीलिंग	२ (तै० ब्रा० १।५), तै०सं०, काठ०, मैत्रा० (पुंल्लिग)
५	पुनर्वसु	पुनर्वसु	अदिति	पुनर्वसु	पुनर्वसु	पुनर्वसु	पुनर्वसु	पुनर्वसु	पुनर्वसु	अदिति	पुंल्लिग पुंल्लिग	२ १ काठ० एवं मैत्रा०
६	तिष्य	पुष्य	बृहस्पति	तिष्य	तिष्य	तिष्य	पुष्य	तिष्य	तिष्य	बृहस्पति	पुंल्लिग	१

७	आश्रेषा	आलेश्शा	सर्पाः	आश्रेषा	आश्रेषा	आश्रेषा	आश्लेषा	आश्लेपा	आश्लेषा	सर्पाः	स्त्रीलिंग	बहुवचन
८	मघा	मघा	पितरः	मघा	मघा	मघा	मघा	मघा	मघा	पितरः	स्त्रीलिंग	बहुवचन
९	फाल्गुनी	पूर्वा फाल्गुनी	अर्यमा	फाल्गुनी	पूर्वा फाल्गुनी	फाल्गुनी	पूर्वा फाल्गुनी	फाल्गुनीः (भग, देवता)	फाल्गुनीः (भग, देवता)	भग	स्त्रीलिंग	बहुवचन, २ (अथर्व०, तै० ब्रा० १।५, ३।१; १ (तै० सं०)
१०	फाल्गुनी	उत्तरा फाल्गुनी	भग	फाल्गुनी	उत्तर फाल्गुनी	फाल्गुनी	अवर्णित	उत्तरा फाल्गुनीः (अर्यमा)	फाल्गुनी (दे० अर्यमा)	अर्यमा	स्त्रीलिंग	१; २ तै० ब्रा० १।५।३।१।४।१०
११	हस्त	हस्त	सविता	हस्त	हस्त	हस्त	हस्त	हस्त	हस्त	सविता	पुल्लिंग	१; काठ० में २
१२	चित्रा	चित्रा	इन्द्र	चित्रा	चित्रा	चित्रा (त्वष्टा)	चित्रा	चित्रा (त्वष्टा)	चित्रा (त्वष्टा)	त्वष्टा	स्त्रीलिंग	१
१३	स्वाती	स्वाती	वायु	स्वाती	निष्टया (वायु)	निष्ट्या (वायु)	स्वाती	निष्ट्या (वायु)	निष्ट्यम्	वायु	स्त्रीलिंग नपुंसक लिंग	१ मत्रा०
१४	विशाखा	विशाखा	इन्द्राग्नी	विशाखे	विशाखे	विशाखे	विशाखे	विशाखम्	विशाखम्	इन्द्राग्नी	स्त्रीलिंग	२ नपुंसक लिं०, काठ०, मैत्रा०
१५	अनुराधा	अनुराधा	मित्र	अनुराधा	अनुराधा	अनुराधा	अनुराधा	अनुराधा	अनुराधा	मित्र	स्त्रीलिंग	बहुवचन, पुंल्लिंग, तै० ब्रा० ३।१।५।१
१६	रोहिणी	ज्येष्ठा	इन्द्र	रोहिणी	रोहिणी	ज्येष्ठा	ज्येष्ठा	ज्येष्ठा (इन्द्र)	ज्येष्ठा (वरुण)	इन्द्र	स्त्रीलिंग	१
१७	विचृतौ	मूल	पितरः	विचृतौ (पितरः)	मूलवर्हणी	मूल (निर्ऋति)	मूलम्	मूलम् (निर्ऋति)	मूलम् (निर्ऋति)		पुंल्लिंग	या स्त्रीलिंग, २ (विचृती), नपु० १ मूल, काठ०, तै० ब्रा० ३।१।५।३, स्त्री० १ (मूलबर्हणी)

१८	अषाढा	पूर्वाषाढा	आपः	अषाढा	पूर्वाषाढा	अषाढाः	अषाढा	अषाढा	आषाढा	आपः	स्त्रीलिंग	बहुवचन
१९	अषाढा	उत्तरा-षाढा	विश्वेदेवाः	अषाढा	उत्तरा-षाढा	अषाढाः	उत्तरा	उत्तरा-षाढा	अषाढा	विश्वेदेवाः	स्त्रीलिंग	बहुवचन
२०	अभिजित्	अभिजित् (अवर्णित)	ब्रह्मा	अनुल्लि-खित	अभिजित् (देवता नहीं)	अभिजित् (ब्रह्मा)	अभिजित्	अवर्णित	अभिजित् (ब्रह्मा)	अनुल्लि-खित	नपुंसक लिंग	१
२१	श्रोणा	श्रवण	विष्णु	श्रोणा	श्रोणा	श्रोणा	श्रवण	अश्वत्थ	श्रोणा (विष्णु)	विष्णु	स्त्रीलिंग	१
२२	श्रविष्ठा	धनिष्ठा	वसु	श्रविष्ठा	श्रविष्ठा	श्रविष्ठा	श्रविष्ठा	श्रविष्ठा	श्रविष्ठा	वसु	स्त्रीलिंग	बहुवचन
२३	शतभिषक्	शतभिषक्	इन्द्र	शतभिषक्	शतभिषक् (इन्द्र)	शतभिषक् (वरुण)	शतभिषक्	शतभिषक् (वरुण)	शतभिषक् (इन्द्र)		पुंल्लिंग नपुंसक०	१ अथर्व० एवं मैत्रा०
२४	प्रोष्ठपदा	पूर्वा भाद्रपदा	अज एकपाद्	प्रोष्ठपदा	प्रोष्ठपदा	प्रोष्ठपदा		प्रोष्ठपदा	प्रोष्ठपदा (अहिर्बु-ध्न्य)	अज एकपात्	पुंल्लिंग स्त्रीलिंग	बहुवचन, तै० ब्रा० १।५ एवं ३।१ अन्यों में
२५	प्रोष्ठपदा	उत्तरा भाद्रपदा	अहिर्बु-ध्निय	प्रोष्ठपदा (अहिर्बु-ध्निय	प्रोष्ठपदा (अहिर्बु-ध्निय	प्रोष्ठपदा (अहिर्बु-ध्निय)	प्रोष्ठपदा	उत्तरे पोष्ठपदा (अहिर्बु-ध्निय)	पोष्ठपदा (अज एकपात्)	अहिर्बु-ध्न्य	पुंल्लिंग	(या स्त्रीलिंग ?) बहुवचन
२६	रेवती	रेवती	पूषा	रेवती	रेवती	रेवती	रेवती	रेवती	रेवती	पूषा	स्त्रीलिंग	१
२७	अश्वयुजौ	अश्विनी	अश्विनी-कुमार (दोनों)	अश्वयुजौ	अश्वयुजौ	अश्वयुजौ	अश्वयुजौ	अश्वयुजौ	अश्वयुजौ	अश्विनौ (दोनों अश्विनी कुमार)	पुंल्लिंग	२
२८	अपभरणी	भरणी	यम	अपभरणी	अपभरणी	भरणी	भरण्यः	अपभरणीः	भरणीः	यम	स्त्रीलिंग	बहुवचन

इस सूची को देखने से पता चलता है कि नक्षत्रों के नामों में कहीं-कहीं भेद है। देवता भी कहीं-कहीं भिन्न हैं। कहीं-कहीं नक्षत्र में केवल एक तारा है, तो कहीं दो, तीन या अधिक। एक प्रश्न उठता है—तै० सं० एवं तै० ब्राह्मण तथा तै० ब्रा० (१।५) एवं तै० ब्रा० (३।१) में अन्तर क्यों है? इस प्रश्न का उत्तर सरल नहीं है। इतना ही कहा जा सकता है कि तै० सं० का वचन अपेक्षाकृत प्राचीन है। तै० ब्रा० से कई शताब्दियों पूर्व तै० सं० का प्रणयन हुआ था। किन्तु तै० ब्रा० (१।५) अपने (३।१) से अन्तर क्यों रखता है? इसका उत्तर भी कठिन है। इस विवेचन को स्थानाभाव से हम यहीं छोड़ते हैं।

अब एक प्रश्न उठता है—क्या भारतीय नक्षत्र यहीं के हैं या किसी बाहरी देश से उनका ज्ञान प्राप्त किया गया? प्रसिद्ध फ्रांसीसी ज्योतिःशास्त्रज्ञ बिओट का कहना है कि भारतीयों ने नक्षत्र-ज्ञान चीनियों से ग्रहण किया है और ह्विटनी महोदय भी इस मत के समर्थक हैं। कुछ अन्य विद्वानों ने यह भी कहा है कि भारतीयों ने नक्षत्र-ज्ञान बेबिलोन के लोगों या अरब लोगों से प्राप्त किया है। हम इसके विवेचन में नहीं पड़ना चाहते। स्वयं अरब लोगों ने कहा है कि उन्होंने भारतीय सिद्धान्तों से ही अपना ज्योतिःशास्त्र बनाया। अतः यह विवाद हम यहीं छोड़ते हैं (देखिए थिबो, ग्रुण्ड्रिस, पृ० १४)। बड़े विद्वान् अधिकतर दुराग्रह करते हैं और तथ्य से अपनी आँखें बन्द कर लेते हैं। सिड्यू के चीनी सिद्धान्त में पहले केवल २४ नक्षत्र थे जो आगे चलकर लगभग ई० पू० ११०० (देखिए थिबो, ग्रुण्ड्रिस, पृ० १३) में २८ हो गये। वैदिक ग्रन्थों में २४ नक्षत्रों की कोई चर्चा नहीं है। बेबिलोन एवं चीन में राशियों का सम्बन्ध धार्मिक कृत्यों से नहीं था। वैदिक काल में कोई व्यक्ति किसी निर्दिष्ट नक्षत्र में अग्नि प्रज्वलित किये बिना कोई यज्ञ नहीं कर सकता था। माघ, फाल्गुन, चैत्र आदि मासों के नाम नक्षत्रों के आधार पर ही बने, और यह बात संस्कृत भाषा में ही पायी जाती है, यूनानी, लैटिन या चीनी में नहीं। नक्षत्रों के देवता-गण वैदिक हैं, उनके बेबिलोनी या चीनी नाम नहीं पाये जाते। बेबिलोन में जो आलेख प्राप्त हुए हैं उनमें नक्षत्रों की गणना वैसी नहीं है जैसी कि हम वैदिक साहित्य में पाते हैं। तैत्तिरीय संहिता और तै० ब्रा० के बहुत पहले से वैदिक लोगों ने नक्षत्रों की संख्या (२७ या २८) निश्चित कर ली थी। नक्षत्रों, उनके नामों, उनके देवताओं आदि के क्रम यज्ञिय कृत्यों में समाहित हो चुके थे।

सभी नक्षत्रों के नाम महत्वपूर्ण (सार्थक) हैं और उनके साथ अनुश्रुतियाँ भी बँधी हुई हैं। उदाहरणार्थ, आर्द्रा का अर्थ है 'भीगा हुआ', यह नक्षत्र आर्द्रा नाम से इसी लिए प्रख्यात हुआ क्योंकि जब सूर्य इसमें अवस्थित हो तो वर्षा आरम्भ हो जाती है। पुनर्वसु का सम्भवतः यह नाम इसीलिए पड़ा कि धान एवं जौ के अनाज जो भूमि में पड़े थे अब नये धान के रूप में अंकुरित हुए। पुष्य नाम इसीलिए पड़ा कि नये अंकुर बढ़े और फलित-पोषित हुए। आश्रेषा या आश्लेषा नाम इसीलिए पड़ा कि धान या जौ के पौधे इतने बढ़ गये कि वे एक-दूसरे का आलिंगन करने लगे। मघा नाम इसलिए पड़ा कि धान या अन्य पौधे खड़े अन्नों के रूप में हो गये, जो स्वयं धन है। कृत्तिका नाम इसलिए पड़ा कि वे (६ या ७) चितकबरे मृगचर्म के समान हैं, जिस पर वेद के छात्र वेदाध्ययन के लिए आसन जमाते थे। इन तथ्यों के रहते हुए यह कैसे कहा जा सकता है कि भारतीयों पर नक्षत्र-सम्बन्धी बाहरी ऋण है। जिन लोगों ने बाहरी ऋण की बात कही है, उनके पास कोई उचित प्रमाण नहीं है। दुराग्रहों एवं कल्पनाओं का सहारा ही कुछ विद्वानों की हठवादिता के मूल में है। केवल एक ही बात इन दुराग्रहियों को मिलती है कि भारतीयों की नक्षत्र-गणना जो २८ तक है, बेबिलोन एवं चीनियों में भी पायी जाती है और इसीलिए कतिपय विचारक किन्तु हठवादी विद्वानों ने यह कहने का साहस किया कि लगभग ३५०० वर्ष से अधिक पहले भारतीयों ने नक्षत्र-ज्ञान उधार लिया। वहीं यह कल्पना भी सम्भव थी कि बेबिलोन एवं चीन के लोगों ने भारतीयों से यह ज्ञान प्राप्त किया या भारत, बेबिलोन एवं चीन ने किसी एक प्रागैतिहासिक मूल से यह ज्ञान प्राप्त किया। बिओट (फ्रेंच, बिओ), वेबर एवं ह्विटनी के सिद्धान्तों का खण्डन तिलक ने 'ओराएन' (विशेषतः पृ० ६१-९५) में किया है

एवं प्रो० जैकोबी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि कृत्तिका से आरम्भ नक्षत्र-श्रेणी प्राचीनतम व्यवस्था नहीं थी, प्रत्युत भारतीयों के पास इससे भी प्राचीन व्यवस्था थी, जिसमें महाविषुव के काल से आरम्भ कर मृगशीर्ष नक्षत्र से नक्षत्र-श्रेणी की गणना होती थी। विशेष अध्ययन के लिए देखिए इण्डियन एण्टीक्वेरी की जिल्दें (२३, पृ० १५४-१५९; पृ० २३८-२४९; ३६१-३६९; जिल्द ४८, पृ० ९५-९७) जहाँ बिओ, वेबर, बुहलर, थिबो आदि की मान्यताएँ व्यक्त हैं। यास्क ने नक्षत्र की व्युत्पत्ति 'नक्ष्' (जाना) धातु से की है, शतपथ ब्रा० (२।१।२।१७-१८) एवं तै० ब्रा० (२।७।१८) ने इसकी व्युत्पत्ति 'न+क्षत्र' से की है और पाणिनि (६।३।७५) ने इसे स्वीकार किया है। यह 'नक्षत्र' शब्द ऋ० (६।६७।६) में सूर्य के लिए भी प्रयुक्त है। तै० ब्रा० (१।५।२।१) ने बताया है कि किस प्रकार किसी धार्मिक कृत्य के लिए नक्षत्र को जानना चाहिए; व्यक्ति को चाहिए कि वह सूर्योदय के पूर्व एवं उसके समय, जब सूर्य की प्रथम किरणें उतरती हैं, आकाश को देखे जहाँ नक्षत्र परिदर्शित होता है, जब सूर्य प्रकट होता है तो नक्षत्र उसके पश्चिम में रहता है, उसी समय उसे, जो कुछ करना है, करना चाहिए। ऐसा आया है कि ऋषि मत्स्य ने इसी विधि से 'यज्ञेषु' एवं 'शतद्युम्न' की महत्ता स्थापित की थी (तै० ब्रा० १।५।२।१)।

ऐतरेयब्राह्मण (३।४४) के जैसे आरम्भिक काल में वैदिक भारतीय इस निष्कर्ष पर पहुँच गये थे कि सूर्य एक है और वह कभी अस्त नहीं होता[९]—'यह सूर्य वास्तव में न तो अस्त होता है और न उदित। जब लोग ऐसा सोचते हैं कि वह (सूर्य) अस्त होता है तो यह होता है कि वह दिन के अन्त में पहुँचता है, उलटा हो जाता है, नीचे रात्रि बनाता है और ऊपर दिन। जब लोग ऐसा सोचते हैं कि प्रातःकाल उदित होता है, तो उसका अर्थ है कि वह रात्रि के अन्तिम रूप में पहुँच कर उलटा हो जाता है, नीचे दिन बनाता है और ऊपर रात्रि। वह वास्तव में कभी भी नहीं अस्त होता है।' यह 'सूर्यप्रज्ञप्ति' में उल्लिखित जैन सिद्धान्त के विरोध में जाने वाली एक हृदयग्राही उक्ति है, क्योंकि जैन सिद्धान्त के अनुसार दो सूर्य एवं दो चन्द्र हैं। ग्रीस (यूनान) में हिराक्लिटस (ई० पू० ६००) ने भी भ्रामक उक्ति कही थी कि एक नया सूर्य प्रति दिन जन्म लेता है और मरता है (इयेस्लर, पृ० ४२)।

ब्राह्मण काल में भारतीयों ने विषुव-काल का ज्ञान कर लिया था (विषुव को यज्ञिय वर्ष के मध्य में रखा गया था, उस दिन रात-दिन बराबर विस्तार के थे)। तै० ब्रा० (१।२।३) में आया है—'जब कोई दो पक्षों को या शाला के झुकने वाले दो भागों को किसी बाँस या धरन से लगाते हैं तो वह मध्य में होता है, इसी प्रकार लोग दिवाकीर्त्य दिन का उपयोग दो पक्षों (अर्ध वर्षों) के मध्य में करते हैं।'[१०]

९. स वा एष न कदाचनास्तमेति नोदेति। तं यदस्तमेतीति मन्यन्तेऽह्न एव तदन्तमित्वाथात्मानं विपर्यस्यते रात्रीमेवाधस्तात्कुरुतेऽहः परस्तात्। अथ यदेनं प्रातरुदेतीति मन्यन्ते रात्रेरेव तदन्तमित्वाथात्मानं विपर्यस्यतेऽहरेवावस्तात्कुरुते रात्रिं परस्तात्। स वा एष न कदाचन निम्लोचति। ऐ० ब्रा० (३।४४)। यह विचार कुछ पुराणों ने भी ग्रहण किया है, उदाहरणार्थ, विष्णुपुराण (२।८।१५)। ब्रह्मगुप्त ने ब्राह्मस्फुटसि० (११।३) में जैन सिद्धान्त का खण्डन किया है। और देखिए पञ्चसिद्धान्तिका (१३।८)।

१०. एकविंशमेतदहरुपयन्ति विषुवन्तं मध्ये संवत्सरस्य। ऐ० ब्रा० (४।१८ या १८।४)। यथा शालायै पक्षसी मध्यमं वंशमभि समायच्छति एवं संवत्सरस्य पक्षसी दिवाकीर्त्यमभिसंतन्वन्ति नातिमाच्छन्ति। तै० ब्रा० (१।२।३)। ताण्ड्यब्राह्मण (४।६।३-१३ एवं ४।७।१) ने विषुव दिन का उल्लेख किया है और प्रतिपादित किया है कि दिवाकीर्त्यसाम का गान उस दिन होना चाहिए, क्योंकि देवों ने उस अन्धकार को, जिससे किसी असुर के पुत्र स्वर्भानु ने

यहाँ पर जान-बूझकर वैदिक काल के ज्योतिष-ज्ञान का विवरण थोड़ा लम्बा कर दिया गया है। कुछ यूरोपीय विद्वानों ने, जिन्होंने प्राचीन एवं मध्यकालिक भारत की ज्योतिष-सम्बन्धी उपलब्धियों पर लिखा है, भारतीय ज्योतिःशास्त्र तथा सामान्य रूप से सभी भारतीय पक्षों पर अपमानजनक एवं तिरस्कारपूर्ण उक्तियाँ कही हैं। यहाँ कुछ ही उदाहरण दिये जा रहे हैं। थिबो (ग्रुण्ड्रिस,पृ० ३) ने कृपापूर्वक यह उद्घोषित किया है कि यूनानी प्रभाव के पूर्व का भारतीय ज्ञान न-कुछ सा है और जो कुछ है वह मात्र प्रारम्भिक अवस्था का है। ह्विटनी (जे० ए० ओ० एस०, जिल्द ६,पृ० ४७१) महोदय ने भी अपने क्षुद्र ज्ञान का परिचय दिया है। वे अमेरिका के संस्कृतज्ञ पण्डित रहे हैं, किन्तु उन्होंने हिन्दू-मस्तिष्क की उपलब्धियों को गौण स्थान दिया है। उनके सहकर्मी श्री बर्गेस तो और आगे बढ़ गये हैं। यह है पश्चिमी विद्वानों के अल्प ज्ञान, हठवादिता, विरोधपक्षता आदि का रूप।

किन्तु क्या हम ह्विटनी महोदय को उन्हीं के शब्दों में उत्तर नहीं दे सकते हैं? टाल्मी के उपरान्त लगभग १४०० वर्षों तक ह्विटनी महोदय तथा अन्य अहंकारी पाश्चात्य लेखकों के पूर्वज लोगों ने ज्योतिष के क्षेत्र में कोई भी नवीन ज्ञान नहीं जोड़ा और अबोध रूप में गुलाम के समान टाल्मी के एल्मागेस्ट पर ही टिके रहे और यूरोपीय अन्धकार-युग के प्रणेता बने रहे। उस लूथर ने भी, जिसने पोप के अधिकार का खुलकर विरोध किया था, कोपर्निकस को मूर्ख कहा और उसे ज्योतिःशास्त्र को उलट देने का अपराधी माना, बाइबिल की निर्भरता स्थापित की और घोषित किया कि जोशुआ ने सूर्य को, न कि पृथिवी को, स्थिर रहने का आदेश दिया (जोशुआ, १०।१२)। यह उलटी गति है, जो कुछ बाइबिल में है वही सत्य है! हाय रे बुद्धि और उसका चमत्कार! ह्विटनी आदि तथाकथित विद्वानों को लूथर के समान कथनों एवं अपने अल्प ज्ञान, हठवादिता आदि पर लज्जा आनी चाहिए थी, इत्यलम्।

प्रस्तुत लेखक सभी पाश्चात्य लेखकों से, जो भारतीयता-शास्त्र में अभिरुचि रखते हैं तथा कुछ यूनानी लेखकों की उपलब्धियों के चकाचौंध में पड़े हुए हैं, निवेदन करता है कि वे सर नार्मन लाकीअर (डान आव ऐस्ट्रॉनामी, १८९४ ई०) के निम्नोक्त शब्दों को पढ़ें—'ऐनैक्ज़िमैण्डर ने कहा कि पृथिवी की आकृति वर्तुलाकार थी और उन दिनों के प्रत्येक ज्ञात स्थान उस वर्तुल रूप की चपटी सीमा पर अवस्थित थे; और प्लेटो ने, इस आधार पर कि ज्यामिति का अतिपूर्ण रूप घन है, कल्पना की कि पृथिवी घनाकार है, और यूनानियों द्वारा ज्ञात पृथिवी इसकी ऊपरी सतह पर थी। इन विषयों में अतिदर्पित यूनानी मस्तिष्क कुछ भी उन्नति नहीं कर सका था और अपने पूर्वज वैदिक याजकों से बहुत पीछे था (पृ० ८)।' यदि ज्ञान के दो-एक क्षेत्रों में यूनानी आगे बढ़े तो विश्व के अन्य भागों के कुछ लोग अन्य महत्त्वपूर्ण विषयों में बहुत आगे थे। प्रस्तुत लेखक उनसे यह भी निवेदन करता है कि वे सार्टन महोदय की लिखित 'ए हिस्ट्री आव साइंस' की भूमिका

सूर्य को विद्ध कर डाला था, दिवाकीर्त्य से नष्ट कर दिया, और वर्ष का आत्मा विषुव है तथा इसके दोनों पक्ष चतुर्दिक् चलते रहते हैं। देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड २, जहाँ 'गवामयन', सांवत्सरिक सत्र एवं विषुव दिन की अवस्थिति के विषय में लिखा हुआ है। यह नहीं भूलना चाहिए कि विषुव केवल एक ज्योतिःशास्त्रीय अवधि है और वह वैज्ञानिक यन्त्रों के बिना ठीक से निरीक्षित नहीं हो सकती। यज्ञिय वर्ष में केवल ३६० दिन होते हैं तथा विषुव नामक दिन मध्य में होता है तो इस प्रकार दिनों की कुल संख्या ३६१ हुई, किन्तु सौर वर्ष में लगभग ३६५$\frac{1}{4}$ दिन होते हैं तो विषुव के समय रात एवं दिन की बराबरी केवल लगभग होगी।

(पृ० ९) पढ़ें, जहाँ सार्टन महोदय ने पाश्चात्य लेखकों की अक्षम्य भूलों की ओर संकेत किया है, यथा मिस्र के वैज्ञानिक प्रयासों, मैसोपोटामिया आदि अन्य देशों की वैज्ञानिक उपलब्धियों पर पाश्चात्य लेखकों का ध्यान नहीं गया है। वे बचपने के साथ यही कहते हैं कि विज्ञान का आरम्भ यूनान से हुआ, और वे यूनानी अन्धविश्वासों को छिपाने का प्रयत्न करते हैं। १९वीं एवं २०वीं शताब्दियों के लेखकों के लिए यह उचित नहीं था कि वे किसी देश के लोगों की निन्दा करके उसे नीचे रख दें और किसी देश को आकाश में उछाल दें। उन्हें प्रमाणयुक्त, संतुलित, पक्षपातरहित होकर, विश्व के प्राचीन लोगों की उपलब्धियों पर सचेत होकर निर्णय देना चाहिए था।

वैदिक काल की प्राचीनता के विषय में विभिन्न मत हैं। जैकोबी, दीक्षित, तिलक आदि ने इसे ई० पू० ४००० या इससे भी अधिक माना है। विन्टरनित्ज़ ने ई० पू० २५००, मैक्समूलर तथा उनके अनुसरणकर्ता पाश्चात्य विद्वानों ने वैदिक साहित्य को ई० पू० १५०० से ई० पू० ८०० के बीच रखा है। यदि हम अन्तिम मत भी स्वीकार कर लें तो यह प्रकट होता है कि वैदिक साहित्य में ज्योतिष-सम्बन्धी विषयों में पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी, जो यूनान से किसी प्रकार भी प्राप्त नहीं की जा सकती थी। यूनान का कोई ऐसा साहित्य नहीं है जो निश्चितता के साथ ई० पू० ९०० या ८०० के पूर्व रखा जा सके। यूनान में होमर की कविताएँ एवं हेसिओड के ग्रन्थ अत्यन्त प्राचीन यूनानी साहित्य हैं। होमर में सूर्य, चन्द्र, प्रातः एवं सायं, तारा, प्लेइआडस (कृत्तिका), ह्याडेस, ओराइन, ग्रेट बियर, सिरियस (ओराइन का कुत्ता), बूटेस का उल्लेख है, जिन्हें हेसिओड ने भी उल्लिखित किया है। हेसिओड का कथन है कि जाड़े के ६० दिनों के उपरान्त वसन्त का आगमन हुआ, किन्तु उसमें विषुव दिनों का उल्लेख नहीं है। इस बात से स्पष्ट है कि वैदिक ज्योतिःशास्त्र इन दो यूनानी लेखकों से कई शताब्दियों पूर्व (यदि हजारों वर्ष पूर्व नहीं) इनसे कई गुना विकसित था।[11] भारतीयों एवं चीनियों के अतिरिक्त अति प्राचीन लोग हैं मिस्री, बेबिलोनी, हिट्टाइट एवं चाल्डियन लोग। मिस्र के विषय में कैम्ब्रिज ऐंश्येण्ट हिस्ट्री (जिल्द २, पृ० २१८) में आया है कि वहाँ के लोग गणित का उपयोग ज्योतिःशास्त्र में नहीं के बराबर करते थे। हिट्टाइटों एवं चाल्डियनों में कोई ऐसी बात नहीं थी और न किसी पाश्चात्य लेखक ने ऐसा कहा ही है कि भारतीयों को उनसे कुछ प्राप्त हुआ था। ई० पू० ८०० के करीब भी होमर एवं हेसिओड का ज्योतिष ज्ञान बहुत अल्प था। हिप्पार्कस, जो प्राचीन काल का सबसे बड़ा ज्योतिःशास्त्रज्ञ कहा गया है, और जिसने अपना कार्य लगभग ई० पू० १३० में पूरा किया, मैसोपोटैमिया में किये गये ई० पू० ७४७ ई० के निरीक्षणों की जानकारी रखता था। टाल्मी ने लगभग १५० ई० में लिखा और उसका ग्रन्थ एल्मागेस्ट हिप्पार्कस द्वारा किये गये निरीक्षणों पर आधारित था और टाल्मी के पूर्वजों के सारे कार्य भी हिप्पार्कस पर ही आधारित थे, जो टाल्मी के स्पष्ट कार्यों के समक्ष ठहर न सके और या तो उनका पठन-पाठन बन्द हो गया या वे नष्ट हो गये। फलित ज्योतिष पर यूनानी प्रभाव के बारे में आगे लिखा जायगा, किन्तु थोड़े-से शब्द भारतीय सिद्धान्तों एवं पश्चात्कालीन ग्रन्थों के विषय में लिख देना आवश्यक है।

पहली बात यह है कि सिद्धान्त-सम्बन्धी भारतीय ग्रन्थ यह नहीं स्वीकार करते कि भारतीय ज्योतिःशास्त्र का आधार यवन-ज्ञान था और न ज्योतिःशास्त्र के ग्रन्थों में उतनी संख्या में यूनानी मूल

११. देखिए 'ग्रीक ऐस्ट्रानॉमी' (टी० एल० हीथ, १९३२), भूमिका पृ० ११-१२ एवं सर नार्मन लाकीएर लिखित 'डान आव ऐस्ट्रानॉमी (१८९४), पृ० १३३, जहाँ यह उल्लिखित है कि जाब की पुस्तक एवं होमर तथा हेसिआड में केवल थोड़े से तारों का ज्ञान पाया जाता है।

वाले शब्द ही प्राप्त होते, जितने कि वराहमिहिर के फलित ज्योतिष में। पञ्चसिद्धान्तिका के विषयों में कहीं भी यूनानी शब्द का मूल प्रकट नहीं होता। वेबर आदि ने वराहमिहिर द्वारा प्रयुक्त 'रोमक' एवं 'पौलिश' पर अधिक निर्भरता व्यक्त की है। यदि रोमक शब्द अलेक्जैंड्रिया का है तो इससे यह नहीं सिद्ध होता कि इन सिद्धान्तों पर यूनानी प्रभाव है। मध्यकाल का कोई ग्रन्थ या पंचांग प्रमुख रूप से रोमक सिद्धान्त पर आधारित था, इस विषय में कोई प्रमाण नहीं मिलता।[12] वर्ष का विस्तार है ३६५ दिन, ५ घण्टे, ५५ मिनट एवं १२ सेकण्ड, जो हिप्पार्कस की गणना से मिलता है और जिसे टॉल्मी ने मान लिया है (थिबो, ग्रुण्ड्रिस, पृ० ४२)। वराह द्वारा अहर्गण के लिए व्यवस्थित नियम (रोमक सिद्धान्त के अनुसार) यवनपुर (उज्जयिनी नहीं) के मध्याह्न के लिए ठीक उतरता है। पश्चिम के विद्वानों ने इस बात पर कभी नहीं सोचा कि रोमक-सिद्धान्त जो संस्कृत में था, किसी ऐसे यूनानी द्वारा, अधिक सम्भव है, प्रणीत हो सकता है, जो भारतनिवासी रहा हो तथा संस्कृत एवं यूनानी दोनों भाषाओं या अलेक्जैंड्रिया के ज्योतिःशास्त्र का ज्ञाता रहा हो, तथा टाल्मी और यहाँ तक कि हिप्पार्कस का पूर्वकालीन रहा हो, तथा इसी से वराह ने अपने करण में उसका निष्कर्ष दिया हो, क्योंकि उन्होंने अपने प्रसिद्ध फलित ज्योतिष ग्रन्थ 'बृहत्संहिता' में यवन-दृष्टिकोण का उल्लेख किया है और अधिकतर अपना मतभेद प्रकट किया है। इतना ही नहीं, वराह यूनानी फलित ज्योतिष के प्रति उदार भी थे—'यवन, सचमुच म्लेच्छ हैं और यह शास्त्र उनमें सम्यक् रूप से व्यवस्थित है; यवन भी पूजित हैं, मानो वे भी ऋषि हों। तब फलित ज्योतिष के पण्डित किसी ब्राह्मण के विषय में क्या कहा जाय? (अर्थात् वह ब्राह्मण तो उनसे भी अधिक पूजित होगा)।'[13] यहाँ पर 'शास्त्र' शब्द 'होरा-शास्त्र' का द्योतक है। किन्तु वराह ने अन्यत्र ऐसी प्रशंसा यूनानियों के विषय में नहीं की है, उनके ज्योतिःशास्त्र एवं गणित की योग्यता की चर्चा नहीं की है। उन्होंने यूनानियों को ज्योतिःशास्त्र के विषय में कोई मान्यता नहीं दी, और न उनके सिद्धान्तों का कोई आधार माना। उन्होंने अपने फलित ज्योतिष-सम्बन्धी ग्रन्थ में प्रयुक्त शब्दों की सन्निधि में कोई ग्रीक (यूनानी) शब्द नहीं प्रयुक्त किया है।

१२. केवल यही बात नहीं थी कि रोमक सिद्धान्त स्वीकार नहीं किया गया, प्रत्युत बहुत पहले छठी शताब्दी में ब्रह्मगुप्त (५९८ ई० में उत्पन्न) ने इसकी भर्त्सना की और इसका स्मृतियों में समावेश करना अमान्य ठहरा दिया : 'युगमन्वन्तरकल्पाः कालपरिच्छेदकाः स्मृतावुक्ताः। यस्मान्न रोमके ते स्मृतिबाह्यो रोमकस्तस्मात्॥' ब्राह्मस्फुट-सिद्धान्त (१।१३)।

१३. म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्। ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैवविद् द्विजः॥ बृहत्संहिता (२।१५, कर्न का सम्पादन)। अलबरूनी (सचौ, जिल्द १, पृ० २३) ने भी इस पद्य की ओर संकेत किया है। पाणिनि (४।१।४९) में बारह शब्द (इन्द्रवरुण . . . यवनमातुलाचार्याणामानुक्) आये हैं जिनके अधिकांश के साथ पत्नी के अर्थ में 'आनी' प्रत्यय लगा है। 'यवन' शब्द 'इओनिया' (ionia) का स्पष्ट आवर्तन है, जो एशिया माइनर के तट पर २०-३० मील चौड़ा पहाड़ी भूमि-खण्ड है। पाणिनि ने अलेक्जेण्डर तथा उसके साथ या बाद के आने वाले यूनानियों की चर्चा नहीं की है, जैसा कि पाश्चात्य विद्वान् कहते हैं। ई० पू० छठी शताब्दी में माइलेटस यूनान का सबसे समृद्ध नगर था। पाणिनि के काल में यवनानी शब्द का अर्थ था यवन की पत्नी, किन्तु कात्यायन के काल में यह शब्द यूनानी लिपि का द्योतक था। आगे चलकर सभी ग्रीसवासी इओनिया के रहने वाले लोगों के समान 'यवन' कहे जाने लगे। देखिए विल ड्यूरां कृत 'लाइफ आव ग्रीस' (१९३९), पृ० १३४ एवं सार्टोन कृत 'ए हिस्ट्री आव् साइंस', पृ० १६२।

थिबो (ग्रुण्ड्रिस,पृ० ४२) का कथन है कि 'पुलिश' शब्द निश्चित रूप से अभारतीय है। यह अति आश्चर्य का विषय है कि पश्चिमी विद्वान् लेखक किसी शब्द की अभारतीयता को सिद्ध करने में इतने निश्चयात्मक हो उठते हैं। संस्कृत में कुछ अति प्राचीन शब्द ये हैं—पुलस्त्य, पुलह,[१४] पौलस्त्य (कुबेर), जिनमें 'पुलिश' शब्द के कई तत्त्व समाहित हैं। आज भी ऐसे नाम आते हैं, यथा नवाबसिंह। सिद्धान्तों को पैतामह एवं पौलिश इसलिए कहा गया है कि वे पितामह एवं पुलिश द्वारा प्रणीत हुए थे। थिबो का कथन है कि अलबरूनी ने 'पुलिश' को 'पौलुस' नामक यूनानी लेखक माना है। किन्तु भारतीय एवं यूनानी लेखकों के नामों से परिचित होते हुए भी अलबरूनी आज के पाश्चात्य लेखकों के समान भूल कर सकता है। वेबर, जो अपने अध्ययन एवं परिश्रम के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध हैं, ऐसी भूल करते हैं तो औरों की तो बात ही दूसरी है। यह बात अभिज्ञानशाकुन्तल में पाये जाने वाले उस उल्लेख के सदृश है, जहाँ शकुन्तला के पुत्र के नौकर ने यह कहा है कि लड़का नामों के सादृश्य से भ्रम में पड़ गया। स्वयं थिबो ने स्वीकार किया है कि यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि पौलिश सिद्धान्त यूनान के फलित ज्यौतिष के ज्ञाता पौलुस (या पौलस) के ग्रन्थ से सम्बन्धित है। पौलिश-सिद्धान्त अपेक्षाकृत केवल ज्योतिःशास्त्र की बातों से सम्बन्धित है। हमने ऊपर देख लिया है कि पितामह-सिद्धान्त लगभग ८० ई० में प्रणीत हुआ था। अतः उस सिद्धान्त ने सन् १५० ई० में प्रणीत टाल्मी से कुछ भी उधार नहीं लिया। अब हम इस विषय पर इतना ही कह देना पर्याप्त समझते हैं कि जिन भारतीयों ने संस्कृत भाषा के तत्त्वों को इतने परिमार्जित एवं वैज्ञानिक ढंग से माँजा एवं परिशुद्ध किया (पाणिनि), जिन्होंने 'योग' जैसे मानस अनुशासन की व्यवस्था की, अक्षरों के उच्चारण-सम्बन्धी मुखांगों पर प्रकाश डाला, जिन्होंने प्रातिशाख्यों एवं शाखाओं के ग्रन्थों का प्रणयन किया, जिन्होंने सर्वप्रथम बीजगणित के सिद्धान्तों का नियमन किया, जिन्होंने विश्व को दशमलव का ज्ञान दिया, जिसके आधार पर आज का गणित आधारित है, जिन्होंने अपने शून्य के ज्ञान को अरबों द्वारा यूरोप में भेजा, आदि-आदि, वे भारतीय किसी अन्य पिछड़े देश से ज्ञान-ऋण कैसे ले सकते हैं?

हमने वैदिक काल के ज्योतिःशास्त्र-सम्बन्धी वचनों का अध्ययन किया है। अब हम वैदिक वचनों के अन्तर्गत फलित ज्योतिष-सम्बन्धी ज्ञान का विवेचन करेंगे। मानव-मन भविष्य-ज्ञान के लिए अति उत्सुक रहता है और कुछ दिनों, कालों एवं परिणामों को शुभ या अशुभ मानने को सन्नद्ध रहता है। अति प्राचीन काल में लोगों द्वारा भविष्य की जानकारी के लिए बहुत से साधनों का आश्रय लिया जाता था। सूर्य, चन्द्र एवं ग्रहों की जो स्थिति जन्म के समय जैसी होती है, उसके आधार पर जो भविष्यवाणी की जाती है वही फलित ज्योतिष का विषय है। ऐसी सामान्य धारणा है। किन्तु अति प्राचीन काल में ऐसी धारणा कम-से-कम इसी अर्थ में नहीं थी। असीरिया में आकाश-स्थितियों एवं ग्रहों की दशाओं के आधार पर अन्न-उत्पत्ति, बाढ़ों, अन्धड़ों, आक्रमणों एवं अन्य उपद्रवों के विषय में फलित-ज्योतिष द्वारा भविष्यवाणी की जाती थी। आकाश के नक्षत्रों एवं पृथिवी की घटनाओं का सम्बन्ध देवों के विचारों से समझा जाता था और आसन्न घटनाएँ उनसे परिलक्षित की जाती थीं। हम इसे भौतिक फलित ज्योतिष कह सकते हैं (नैच्यूरल एस्ट्रालाजी), पंचांग-सम्बन्धी फलित ज्योतिष पश्चात्कालीन

१४. 'पुलस्त्य' शब्द अपरार्क द्वारा (१२वीं शती का पूर्वार्ध) लगभग बारह बार और स्मृतिचन्द्रिका (१३वीं शती का पूर्वार्ध) द्वारा लगभग तीस बार प्रयुक्त हुआ है। इन स्थानों पर वह एक स्मृतिकार कहा गया है। स्मृतिचन्द्रिका ने 'पुलह' को स्मृतिकार कहा है। मनु (१।३५) ने 'पुलस्त्य' एवं 'पुलह' को प्रजापति के दस पुत्रों में परिगणित किया है। पुलस्त्य एवं पुलह सप्तर्षियों में दो ऋषि हैं (बृहत्संहिता, १३।११)।

विकास है। स्वप्नों, पक्षियों की उड़ानों एवं स्वरों, भेड़ों के यकृत (कलेजे) पर पड़े संकेतों (जो बेबिलोन या रोम में देव-यज्ञों के समय काटे जाते थे) से भी कुशल दैवज्ञ लोग भविष्यवाणियाँ किया करते थे।

ऋग्वेद में भी शुभ दिनों की चर्चा है, यथा सुदिनत्वे अह्नाम् (३।८।५, ३।२३।४, ७।८८।४ एवं १०।७०।१), सुदिनत्वम ह्नाम् (२।२१।६), सुदिनेष्व ह्नाम् (४।३७।१)।[15] कुछ ऐसी उक्तियाँ भी हैं जहाँ यज्ञ आदि के शुभ दिनों के लिए आकांक्षा प्रकट की गयी हैं (ऋ० ४।४।७, ५।६०।५, ७।११।२, ७।१८।२, १।१२४।२ एवं १०।३९।१२)।[16]

ऋग्वेद-काल में अघा (मघा) में गौएँ दूलह के घर भेजी जाती थीं और विवाहोपरान्त दुलहिन अर्जुनी (या फाल्गुनी) नक्षत्र में रथ में बैठकर अपने पति के घर जाती थी। इसी के आधार पर विवाह के लिए बौधायनगृह्यसूत्र में रोहिणी, मृगशीर्ष, उत्तराफाल्गुनी एवं स्वाती का उल्लेख हुआ है।

काठक सं० (८।१), शतपथ ब्रा० (२।१।२), तै० ब्रा० (१।२।६-७) के अनुसार अग्न्याधेय (पवित्र अग्नि की स्थापना) का सम्पादन सात नक्षत्रों में किसी दिन या वसन्त, ग्रीष्म या शरद् ऋतु में कर्ता के वर्ण के अनुसार होता था, किन्तु सोमयज्ञ के लिए अपवाद भी रखा गया था। ऐसा आया है कि सोमयज्ञ का अभिकांक्षी व्यक्ति किसी भी ऋतु में अग्न्याधेय कर सकता था और उससे उसे ऐश्वर्य की प्राप्ति होती थी।

प्राचीन वैदिक उक्तियों में प्राकृतिक (भौतिक) फलित ज्योतिष एवं व्यक्तिपरक फलित ज्योतिष का अन्तर प्रकट नहीं हो पाता। उदाहरणार्थ, तै० सं० (मैत्रेण कृषन्ते, ४।८।४।२) में प्रतिपादित है कि अनुराधा में, जिसके देवता मित्र हैं, लोगों को खेत में हल चलाना चाहिए। पारस्करगृह्य० (२।१३) में आया है कि लोगों को (अपने खेत में) लांगल (हल) पुण्याह (शुभ दिन) में या इन्द्र देवता (वर्षा इन्द्र के हाथ में रहती है) वाले ज्येष्ठा (नक्षत्र) में रखना चाहिए (पुण्याहे लांगल योजनं ज्येष्ठया वेन्द्रदैवत्यम्)। वहीं यह भी आया है कि यदि व्यक्ति यह कामना करता है कि उसकी पुत्री अपने पति की प्रिया हो तो उसे चाहिए कि वह अपनी पुत्री का विवाह निष्ट्या (स्वाती) नक्षत्र में करे; यदि वह ऐसा करता है तो उसकी पुत्री पतिप्रिया हो जाती है और अपने पिता के घर नहीं लौट कर आती (तै० ब्रा० २।१३)। कृत्तिका से लेकर विशाखा तक के नक्षत्र देवनक्षत्र कहे गये हैं और उनमें सम्पादित कृत्य पुण्याह (पवित्र या शुभ दिन) पर सम्पादित माने जाते हैं। अथर्ववेद (६।११०।२-३) के काल में ऐसा विश्वास था कि ज्येष्ठा या विचृत् (मूल नक्षत्र) में उत्पन्न बच्चा या किसी व्याघ्र-सदृश नक्षत्र (भयंकर नक्षत्र) में उत्पन्न बच्चा या तो स्वयं मर जाता है या अपने माता-पिता की मृत्यु का कारण बनता है।[17]

१५. पोषं रयीणामरिष्टिं तनूनां स्वाद्मानं वाचः सुदिनत्वमह्नाम्। ऋ० २।२१।६; जातो जायते सुदिनत्वे अह्नां समर्य आ विदथे वर्धमानः। ऋ० ३।८।५; नि त्वा दधे वर आ पृथिव्या इलायास्पदे सुदिनत्वे अह्नाम्। दृषद्वत्यां मानुष आपयायां सरस्वत्यां रेवदग्ने दिदीहि॥ ऋ० ३।२३।४।

१६. यूनानी लोग क्षयोन्मुख चन्द्र को अशुभ एवं बढ़ते चन्द्र को शुभ मानते थे। हेसिओडी पद्धति (जो ऋग्वेद से कई शताब्दियों पश्चात् की है) भी शुभाशुभ दिनों की चर्चा करती है, यद्यपि हेसिओड यह स्वीकार करता है कि इसमें मतैक्य नहीं है। हेसिओड ने मास की पाँचवीं तिथि को विशिष्ट रूप से वर्जित माना है; अपोलो के लिए यूनान में सातवीं तिथि पवित्र थी और बेबिलोन में भी सातवीं पवित्र तिथि थी।

१७. ज्येष्ठघ्न्यां जातो विचृतोर्यमस्य मूलबर्हणात्परिपाह्येनम्। अत्येनं नेषद् दुरितानि विश्वा दीर्घायुत्वाय शतशारदाय॥ व्याघ्रेह्न्यजनिष्ट वीरो नक्षत्रजा जायमान सुवीरः। स मा वधीत्पितरं वर्धमानो मा मातरं प्र मिनीज्जनित्रीम्॥ अथर्ववेद (६।११०।२-३)।

इससे प्रकट है कि कुछ नक्षत्र (तै० ब्रा० १।५।२।१ या ३।१।२।८) तो शुभ एवं कुछ अशुभ (यथा ज्येष्ठा, मूल) थे। बृहदारण्यकोपनिषद् (६।३।१) से प्रकट है कि कुछ नक्षत्र पुंस्क (पुरुषवाची या पुल्लिग) थे—"यदि कोई व्यक्ति ऐसी कामना करे 'मैं महत्ता को प्राप्त करूँ' तो उसे उत्तरायण में किसी शुक्ल पक्ष में बारह दिनों तक केवल दूध का भोजन करना चाहिए और किसी पुंस्क नक्षत्र में किसी पुण्य दिन में अग्नि में आहुति देनी चाहिए।"

उपर्युक्त उदाहरणों से व्यक्त है कि आरम्भिक वैदिक कालों में भविष्यवाणियाँ नक्षत्रों के आधार पर की जाती थीं, और जन्म का कोई नक्षत्र शुभ या अशुभ माना जाता था। पाणिनि के समय में, पुष्य नक्षत्र शुभ माना जाता था, उसे उन्होंने 'सिध्य' नाम से पुकारा है। किन्तु इन प्रारम्भिक युगों में कोई ऐसे नियम नहीं बन पाये थे जिनसे ग्रहों का किसी नक्षत्र में प्रभाव जाना जा सके और न कुण्डलियाँ ही बनती थीं, जिनमें ग्रहों, नक्षत्रों एवं राशियों के घर आदि बने हों। उन दिनों प्रधानतया केवल नक्षत्रों, दिनों एवं भौतिक लक्षणों तथा शारीरिक लक्षणों तक ही भविष्यवाणियाँ सीमित थीं। देखिए पाणिनि १।४।३९ (राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः), ४।३।७३ (अणृगयनादिभ्यः) एवं काशिका (पाणिनि ३।२।५३) जिसमें जायाघ्नस्तिलकालकः, पतिघ्नी पाणिरेखा (हथेली की रेखा) के उदाहरण हैं।

ऋग्वेद (२।४२।१ एवं ३; निरुक्त ९।४) में कुछ ऐसे मन्त्र हैं जो कपिञ्जल-जैसे पक्षियों की बोलियों से घटने वाली शुभ या अशुभ घटनाओं की ओर संकेत करते हैं। बृहत्संहिता (९८।१४) ने प्रतिपादित किया है कि यात्रा में संलग्न व्यक्ति को पक्षिगण यह बताते हैं कि पूर्व जन्मों में उसके कर्म अच्छे थे या बुरे और उनके फल क्या हैं। पशुओं एवं पक्षियों के परिदर्शन, उड़ान, स्वर से सम्बन्ध रखने वाले शकुनों के विषय में वराहमिहिर के योगयात्रा ग्रन्थ में तथा अद्भुतसागर (पृ० ५६९-५८२) में पर्याप्त विस्तार पाया जाता है। योगयात्रा (१४।२० एवं २६) में आया है कि यात्रा करते समय कुछ पक्षी या पशु व्यक्ति की दाहिनी दिशा या दक्षिण दिशा में हों तो शुभ होता है और जब चाष पक्षी अपने मुख में कुछ लेकर व्यक्ति की दाहिनी ओर उड़ जाता है तो कल्याण होता है।

शुभाशुभ दिनों एवं नक्षत्रों से सम्बन्धित भावनाओं का परिणाम यह हुआ कि लोग निरीक्षणों में व्यस्त हो गये तथा निर्णय देने लगे, जिसके फलस्वरूप 'नक्षत्र विद्या' का उदय हुआ। छान्दोग्योपनिषद् (७।१।२ एवं ७।७।१) में इस विद्या की चर्चा है। जब नारद ज्ञान के लिए महान् आचार्य सनत्कुमार के पास गये तो आचार्य ने उनसे पूछा कि वे क्या-क्या पढ़ चुके हैं। इस पर नारद ने विद्याओं की एक लम्बी सूची सुनायी जिसमें चार वेदों, इतिहास-पुराण आदि के साथ नक्षत्र-विद्या (ज्योतिः-शास्त्र एवं फलित ज्योतिष) का भी उल्लेख है। आजकल की भाँति उन दिनों भी नक्षत्र-निरीक्षकों, फलितज्योतिषियों आदि के विषय में विचित्र धारणाएँ प्रचलित थीं। बहुधा लोग ऐसे लोगों की प्रवंचनाओं में फँस जाते थे और निराशा के नद में डूबने-उतराने लगते थे। देखिए तै० ब्रा० (३।४।४) एवं वाज० सं० (३०।१० एवं २०) जहाँ एक 'नक्षत्रदर्श' (नक्षत्रनिरीक्षक) प्रज्ञान के समक्ष अभियुक्त के रूप में लाया गया है और 'गणक' (नक्षत्रों एवं ग्रहों की गतियों की गणना करने वाला) ग्राम के मुखिया के साथ जलजन्तुओं के बीच फेंक दिया गया है। मनु ने भी नक्षत्र विद्या से जीविका चलाने वाले को उन ब्राह्मणों के साथ उल्लिखित किया है जिन्हें देव-कृत्य एवं श्राद्ध में न बुलाये जाने की व्यवस्था है (३।१६२)। मनु (६।५०) ने साधुओं को उत्पातों (भूचाल आदि), शारीरिक गतियों (आँख फड़कना आदि) या नक्षत्रविद्या या अंगविद्या (हाथ देखना आदि) के द्वारा जीविका चलाने की मनाही की है। हारीत एवं शंख-लिखित के प्राचीन सूत्रों ने घोषित किया है कि नक्षत्रजीवियों एवं नक्षत्रादेशवृत्तियों (जो नक्षत्रों का संदेश कहकर जीविका चलाते हैं) को अन्य ब्राह्मणों की पंक्ति में बैठने की अयोग्यता प्राप्त है (कृत्यकल्पतरु, श्राद्ध, पृ० ८८ में उद्धृत)। यही बात सुमन्तु ने (कृ० क० त०, पृ० ९१) 'मूल्यसांवत्सरिक' (जो धन के लिए फलित ज्योतिष का उपयोग करता है) के विषय में कही है। देखिए विष्णुधर्मसूत्र (४२।७)। तेविज्जसुत्त (सैक्रेड बुक आव दि ईस्ट, जिल्द ११, पृ० १९६-१९८

एवं दिग्घनिकाय (१, पृ० ६८) में महाशील ने बौद्ध साधुओं के लिए ऐसी वृत्ति की भर्त्सना की है जो मनुष्य की आयु बताकर, भविष्यवाणियाँ (ग्रहण, तारा गिरना, विजय, हार आदि) करके प्राप्त की जाती है। किन्तु बुद्ध ने केवल नक्षत्राध्ययन वांछित माना है (सैं० बु० ई०, जिल्द २०, पृ० २९२-२९४)। अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने (९वाँ अधिकरण, चौथा अध्याय, पृ० ३५१, शामशास्त्री सम्पादन, १९१९) लाभविघ्नों में तिथि-नक्षत्र की शुभाशुभता को परिगणित किया है।[18] इन उक्तियों से स्पष्ट है कि ईसा के कई शताब्दियों पूर्व वे लोग निन्दित समझे जाते थे जो फलित ज्योतिष द्वारा जीविका चलाते थे।

कौटिल्य ने फलित ज्योतिष की अति निर्भरता की निन्दा की है न कि उसके ज्ञान की। उसने राजा के पुरोहित के लिए जिन गुणों को आवश्यक माना है उनमें नक्षत्रविद्या का गुण भी सम्मिलित है (अर्थशास्त्र १।९, पृ० १५-१६)। यही बात कौटिल्य के कई सौ वर्ष उपरान्त याज्ञवल्क्य ने भी कही है—'पुरोहितं प्रकुर्वीत दैवज्ञमुदितोदितम्। दण्डनीत्यां च कुशलमथर्वांगिरसे तथा॥' जिसका अर्थ है—'राजा को ऐसा पुरोहित नियुक्त करना चाहिए जो दैवज्ञ हो (फलित ज्योतिष-विशारद हो), शास्त्रानुशासित बातों से शासन-शास्त्र (दण्डनीति) में प्रवीण हो और अथर्ववेद के ऐन्द्रजालिक कृत्यों में पारंगत भी हो (याज्ञ० १।३।१३)।'

नक्षत्रों पर आधारित फलित ज्योतिष के विकास के विषय में कुछ ऐसे वचन भी प्राप्त होते हैं जो कुछ अंशों में पश्चात्कालीन कुण्डली-पद्धति के 'गृहों' के समनुरूप हैं। इसके विषय में संकेत मिलते हैं, किन्तु वे अति प्राचीन नहीं हैं। वैखानसस्मार्तसूत्र (४।१४) में जन्म, कर्म, सांघातिक, सामुदायिक एवं वैनाशिक नामक नक्षत्रों का उल्लेख है और इनकी व्याख्या वराह ने (योगयात्रा में) एवं विष्णुधर्मोत्तरपुराण ने की है। योगयात्रा (९।१-३ एवं १०) में आया है—'जिस नक्षत्र में व्यक्ति उत्पन्न होता है उसे आद्य (प्रथम) कहते हैं, आद्य से दसवाँ कर्म कहा जाता है, आद्य से सोलहवाँ नक्षत्र सांघातिक कहा जाता है (सांघातिक का अर्थ है एक दल या व्यक्ति-समूह), आद्य से अठारहवाँ समुदाय (संग्रह या समूह), २३वाँ वैनाशिक (मृत्यु या नाश से सम्बन्धित), २५वाँ मानस कहलाता है, इस प्रकार सभी व्यक्ति छः नक्षत्रों (पहले, १० वें, १६ वें, १८ वें, २३ वें एवं २५ वें) से सम्बन्धित हैं। लोगों का कथन है कि राजा नौ नक्षत्रों से सम्बन्धित है, तीन अतिरिक्त वे हैं जो राजा की जाति, देश एवं उस नक्षत्र से सम्बन्धित हैं जिसमें राज्याभिषेक हुआ रहता है।' योगयात्रा एवं विष्णुधर्मोत्तर० (१।७८।१४-१६) में आगे आया है—'जब जन्म-नक्षत्र किसी बुरे नक्षत्र या उसके स्वरूप से प्रभावित हो जाता है तो व्याधि, धन-क्षय एवं झगड़े होते हैं; जब कर्म-नक्षत्र (इस प्रकार) प्रभावित होता है तो संकल्प में असफलता मिलती है; जब सांघातिक (१६वाँ) प्रभावित होता है तो धोखा मिलता है; जब सामुदायिक (१८वें) की ऐसी गति होती है तो एकत्र धन का क्षय होता है; जब वैनाशिक (२३वें) के साथ ऐसा होता है तो वांछित वस्तुओं का नाश होता है; जब मानस (२५वाँ) प्रभावित होता है तो चिन्ताकुलता एवं अप्रसन्नता का उदय होता है। जब सभी (छः) नक्षत्रों पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता तो व्यक्ति स्वस्थ होता है, आनन्द पाता है, उसका शरीर भली-भाँति पोषित होता है और उसे धन प्राप्त होता है। किन्तु सभी नक्षत्र (छः) प्रभावित हो जाते हैं तो व्यक्ति का नाश होता है और तीन के साथ छः नक्षत्र प्रभावित रहते हैं तो राजा की भी गति वैसी होती है। यदि अभिषेक नक्षत्र प्रभावित हो तो राज्य की हानि होगी, यदि

१८. लाभविघ्नः कामः कोपः साध्वसं मंगलतिथिनक्षत्रेष्टि (ष्ट ?) त्वमिति। 'नक्षत्रमतिपृच्छन्तं बालमर्थोऽतिवर्तते। अर्थो ह्यर्थस्य नक्षत्रं किं करिष्यन्ति तारकाः॥ साधना प्राप्नुवन्त्यर्थान् नरा यत्नशतैरपि। अर्थैरर्थाः प्रबध्यन्ते गजाः प्रतिगजैरिव॥' (अर्थशास्त्र, ९, ४, पृ० ३५१, शामशास्त्री, १९१९)।

देश-नक्षत्र प्रभावित हो तो देश एवं राजधानी पर कष्ट पड़ेगा और यदि राजा की जाति प्रभावित हो तो राजा की बीमारी की भविष्यवाणी होनी चाहिए। राजा की जाति के विषय में ये नक्षत्र हैं—तीन पूर्वा (पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाषाढ़ा एवं पूर्वाभाद्रपदा) तथा कृत्तिका ब्राह्मण-जाति के राजा के लिए हैं; तीन उत्तरा (उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा एवं उत्तराभाद्रपदा) तथा पुष्य क्षत्रिय राजा के लिए; अनुराधा, मघा एवं रोहिणी कृषक जाति के राजा के लिए; पुनर्वसु, हस्त, अभिजित् एवं अश्विनी वणिक् जाति के राजा के लिए हैं। देश के नक्षत्रों का उल्लेख बृहत्संहिता के १४ वें अध्याय में है। यहाँ वराहमिहिर टाल्मी से दो बातों में अन्तर रखते हैं : (१) वराह देशों को राशियों से शासित न मानकर केवल नक्षत्रों से मानते हैं; (२) वराह ने अपने को भारत तक सीमित रखा है, किन्तु टाल्मी (टेट्राबिब्लोस, ११।३, पृ० १५७-१५९) ने उस समय के सभी ज्ञात देशों का स्पर्श किया है। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है जो इस सिद्धान्त का खण्डन करती है कि वराह ने टाल्मी या पश्चात्कालीन यूनानी लेखकों की नकल की है। सम्पूर्ण भारत ९ भागों में बाँटा गया है—मध्यदेश एवं वे भूमिखण्ड जो पूर्व से लेकर उत्तर-पूर्व तक आठ भागों में बँटे हैं; प्रत्येक भूमिखण्ड कृत्तिका से आगे के तीन-तीन नक्षत्र-दलों से सम्बन्धित है। और देखिए विष्णुधर्मोत्तर० (१।८६।१-९)। जब ९ खण्डों में प्रत्येक के तीन नक्षत्रों का दल सूर्य, मंगल या शनि से प्रभावित होता है तो उन सभी नक्षत्रों से प्रभावित देश विपत्तियों में फँसते हैं। और देखिए मार्कण्डेय पुराण (५८।१०-५४)। विष्णुधर्मोत्तर० (१।८९।१-१३), योगयात्रा (९।१३-१८) एवं पराशर (अद्भुतसागर, पृ० २७१-२७४ में उद्धृत) द्वारा उपर्युक्त नौ नक्षत्रों से उपाहत (प्रभावित) फलों को दूर करने के लिए शान्ति-कृत्यों की व्यवस्था बतलायी गयी है।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि फलित ज्योतिष में १२ राशियों एवं १२ भावों (स्थानों या घरों) में कर्म नाम १०वें भाव को दिया गया है और मृत्यु (विनाश) ८वें भाव को।

महाभारत एवं रामायण में कतिपय ऐसे कथन हैं जहाँ किन्हीं नक्षत्रों के सम्बन्ध में ग्रह सामान्यतया लोगों पर आपत्ति ढाते, सेनाओं एवं व्यक्तियों को कष्ट में डालते कहे गये हैं। यथा, जब राम एवं रावण में प्रचण्ड युद्ध चल रहा था और रावण का पक्ष प्रबल पड़ रहा था तो रामायण (युद्धकाण्ड १०३।३० एवं ३१) में आया है—'रोहिणी, जिसके देवता प्रजापति हैं और जो चन्द्र की प्रिया है, बुध द्वारा आच्छादित है अतः इससे लोगों का अशुभ है।' इसी प्रकार यह आया है—'आकाश में विशाखा नक्षत्र, जिसके देवता इन्द्र एवं अग्नि हैं और जो कोसलों का नक्षत्र है, मंगल द्वारा घिरा हुआ है।'[१९] महाभारत में ग्रहों, नक्षत्रों एवं तिथियों की स्थितियों के विषय में बहुत अधिक कथन हैं, जिन्हें सुलझाना असम्भव सा है। देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड ३। यहाँ हम शकुनों एवं भविष्यवाणियों पर ही लिख रहे हैं। भीष्मपर्व (३।१२, १३, १६ एवं १७) में हम पढ़ते हैं, 'चित्रा नक्षत्र का अतिक्रमण करके एक श्वेत ग्रह अवस्थित है; इसमें कुरुओं का नाश ही कोई देखता है; पुष्य नक्षत्र का अतिक्रमण करके धूमकेतु खड़ा है; यह घोर (भयंकर) महान् ग्रह दोनों सेनाओं का अशिव करेगा। एक श्वेत प्रज्वलित ग्रह, जो धूम छोड़ता

१९. प्राजापत्यं च नक्षत्रं रोहिणीं शशिनः प्रियाम्। समाक्रम्य बुधस्तस्थौ प्रजानामशुभावहः॥ कोसलानां च नक्षत्रं व्यक्त-मिन्द्राग्निदैवतम्। आक्रम्यांगारकस्तस्थौ विशाखामपि चाम्बरे॥ रामायण (युद्धकाण्ड १०३। ३० एवं ३३)। बालकाण्ड (५।५-६) में आया है कि कोसल देश सरयूतीर पर स्थित है, अयोध्या इसकी राजधानी है। रघुवंश (४।७०) में राम के पूर्वज रघु कोसलेश्वर कहे गये हैं। बृहत्संहिता (१४।८-१०) के अनुसार कोसल उत्तर-पूर्व में प्रथम देश है, और उसके नक्षत्र हैं आश्लेषा, मघा एवं पूर्वा।

हुआ अग्नि-सा है, इन्द्र देवता वाले तेजस्वी ज्येष्ठा-नक्षत्र को घेरे हुए है; एक निर्मम धूमकेतु चित्रा एवं स्वाती में स्थित होकर रोहिणी, सूर्य एवं चन्द्र को पीड़ित कर रहा है।'

मंगल के विषय में कतिपय कथन परस्पर-विरोधी हैं। उदाहरणार्थ, उद्योगपर्व (१४३।९) का कथन है—'ज्येष्ठा में वक्र मंगल मित्र देवता वाली अनुराधा को खोज रहा है, मानो मृत्यु ला रहा है'; भीष्मपर्व (३।१४) में आया है—'मंगल मघा में वक्र है, बृहस्पति श्रवण में है तथा शनि भग देवता वाले नक्षत्र (पूर्वाफाल्गुनी) को पीड़ित कर रहा है।' शनि के विषय में भी कथन हैं—'महाद्युतिमान् एवं तीक्ष्ण ग्रह शनि नक्षत्र (प्रजापति वाली, रोहिणी) को पीड़ित कर रहा है और लोगों को और पीड़ा देगा'; 'शनि रोहिणी को अतिक्रान्त करके खड़ा है; बृहस्पति एवं शनि विशाखा के पास हैं।'

महाभारत-कथनों में एक द्रष्टव्य बात यह है कि जहाँ वे सूर्य, चन्द्र एवं ग्रहों की स्थितियों को, उनके नक्षत्रों के सम्बन्ध में, बताते हैं, वे कहीं भी ग्रहों की स्थितियों को उनकी राशियों अथवा सप्ताह-दिनों (यथा मंगल, रवि आदि) के सम्बन्ध में नहीं बताते।

आथर्वण-ज्योतिष (१०।१-११) ने नक्षत्र-ज्योतिष-सिद्धान्त को अन्य रूप से दर्शाया है। इसमें आया है—'मनुष्य के जन्म से १० वाँ नक्षत्र **कर्म** कहलाता है; १९ वाँ **गर्भाधानक**; दूसरा, ११ वाँ एवं २० वाँ मिलकर **सम्पत्कर** (समृद्धि लाने वाला); तीसरा, १२ वाँ एवं २१वाँ मिलकर **विपत्कर**; चौथा, १३ वाँ एवं २२ वाँ मिलकर **क्षेम**; ५ वाँ, १४ वाँ एवं २३ वाँ मिलकर **प्रत्वर**; छठा, १५ वाँ एवं २४ वाँ मिलकर **साधक**; ७ वाँ, १७ वाँ एवं २५ वाँ मिलकर **नैधन**; ८ वाँ, १७ वाँ एवं २६ वाँ मिलकर **मैत्र**; नवाँ, १८ वाँ एवं २७ वाँ मिलकर **परममैत्र** कहलाते हैं। ये ९ नक्षत्र-दल हैं (जिनमें प्रत्येक में ३ नक्षत्र हैं, कुल नक्षत्र २७ हैं)। प्रथम एवं दूसरे ९ संख्या में कम हैं। ये नाम पुनः १२ भावों से समन्वित होते हैं—जन्म (तनु या लग्न), सम्पत् (धन, दूसरा भाव), कर्म (१० वाँ भाव), नैधन (८वाँ भाव, विनाश या मृत्यु), मैत्र (चौथा भाव, सुहृद्), क्षेम (११ वाँ भाव, आय या लाभ)। इसके आगे आथर्वण ज्योतिष ने इन ९ दलों में करने या न करने योग्य बातों पर विस्तार के साथ विचार किया है। आथर्वण ज्योतिष का काल लगभग द्वितीय या प्रथम शताब्दी ई० पू० है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण अपने समय का एक विश्वकोश-सा है। इसका समय चौथी एवं छठी शताब्दी के बीच में रखा जा सकता है।

बृहदारण्यकोपनिषद् में यज्ञ के लिए शुभ दिनों की व्यवस्था की ओर संकेत मिलता है। ब्राह्मणों एवं कल्पसूत्रों ने वैदिक यज्ञों के लिए शुभ नक्षत्रों एवं ऋतुओं की व्यवस्था की थी। गृह्य एवं धर्मसूत्र भी घरेलू कृत्यों के लिए कुछ हेर-फेर के साथ ब्राह्मणों, बृहदारण्यकोपनिषद् एवं कल्पसूत्रों के समान ही व्यवस्था देते हैं। उदाहरणार्थ, आश्व० (१।१३।१), आपस्तम्ब० (६।१४।९), बौधायन० (१।१०।१), पारस्कर० (१।१४) तथा अन्य गृह्यसूत्र व्यवस्था देते हैं कि पुंसवन (जो कृत्य लड़का उत्पन्न होने के लिए होता है) का सम्पादन गर्भाधान के उपरान्त तीसरे मास में तिष्य नक्षत्र में या पुंस्क नक्षत्र वाले चन्द्र के दिन किया जाना चाहिए। भारद्वाजगृह्य ने स्पष्ट रूप से पुंसवन के लिए तिष्य, हस्त, अनुराधा, उत्तरा भाद्रपदा नक्षत्र निर्धारित किये हैं (१।२१)। चौल के लिए आपस्तम्बगृह्य (६।१६।३) ने जन्म के उपरान्त पुनर्वसु नक्षत्र ठीक माना है। पुनर्वसु का अर्थ ही है नया धन या नयी वृद्धि। कौशिकसूत्र ने पापनक्षत्र (४६।२५) एवं पुंनक्षत्र (भाग्यशाली) का उल्लेख किया है (३५।२)। विवाह के लिए कतिपय विभिन्न व्यवस्थाएँ हैं। आप० गृ० के मत से शिशिर (माघ एवं फाल्गुन) के दो मासों एवं ग्रीष्म के आषाढ़ के अतिरिक्त सभी मास विवाह के लिए ठीक हैं। गोभिलगृह्य ने केवल शुभ नक्षत्र की चर्चा की है। पारस्कर का उल्लेख लम्बा है। बौधायन गृ० (१।१।१८-२२) ने घोषित किया है कि 'विवाह के लिए सभी मास उचित हैं, किन्तु कुछ ऋषि आषाढ़, माघ एवं फाल्गुन को वर्जित ठहराते हैं; विवाह के नक्षत्र हैं रोहिणी, मृगशीर्ष, उत्तरा

फाल्गुनी एवं स्वाती। अन्य कृत्यों के नक्षत्र हैं पुनर्वसु, तिष्य, हस्त, श्रोणा (श्रवण) एवं रेवती। आश्व० गृह्य ने सभी महत्त्वपूर्ण संस्कारों के शुभ कालों के लिए यों कहा है (१।४।१-२)—'चौल, उपनयन, गोदान एवं विवाह का सम्पादन उत्तरायण में, चन्द्र-वृद्धि काल वाले पक्ष में तथा शुभ नक्षत्र में होना चाहिए; कुछ ऋषियों के मत से विवाह सभी कालों में सम्पादित हो सकता है।' आश्व० में आया है कि विवाहोपरान्त कन्या को मौन धारण करना चाहिए तथा ध्रुव, अरुन्धती एवं सप्तर्षि-मण्डल के दर्शन के उपरान्त ही बोलना चाहिए। यह बात पूर्वमीमांसासूत्र में और आगे आयी है—'देवों के सम्मान में किये जाने वाले कृत्य उत्तरायण में, शुक्लपक्ष के किसी शुभ दिन में किये जाने चाहिए (६।८।२३)।'

उपर्युक्त कथनों से प्रकट होता है कि ईसा से कई शताब्दियों पूर्व वैदिक एवं घरेलू कृत्यों के लिए केवल शुभ नक्षत्र का निर्धारण होता था न कि किसी तिथि का। सप्ताह के दिनों का भी उल्लेख नहीं किया जाता था। राशियाँ भी वर्णित नहीं हैं और ग्रहों की ओर भी संकेत नहीं है, केवल शुभ नक्षत्र में कृत्य-सम्पादन की व्यवस्था है।

किसी शुभ दिन या नक्षत्र की खोज (विशेषतः विवाह जैसे कृत्यों के लिए या गृह्य-कृत्यों के लिए या किसी संकल्प-पूर्ति के लिए) मध्यकालीन संस्कृत ग्रन्थों में मुहूर्त की खोज के नाम से विख्यात है। अतः 'मुहूर्त' शब्द के अर्थ एवं इतिहास पर विचार करना आवश्यक है।

अध्याय १६

मुहूर्त

'मुहूर्त' शब्द दो बार ऋग्वेद में आया है।[1] शुतुद्रि (सतलज) एवं विपाशा (व्यास) के संगम पर आये हुए विश्वामित्र ऋषि एवं नदियों के संवाद में इस प्रकार आया है—'मेरे वचनों (तुम्हारी स्तुति में कहे गये) के लिए, जिनके उपरान्त सोम का अर्पण होगा, तुम, जो एक व्यवस्थित नियम या क्रम में हो, थोड़ी देर के लिए रुक जाओ। दूसरे स्थान पर आया है—विभवशाली इन्द्र बहुत-सी मायाओं का प्रयोग करके अपने ही शरीर से अधिकतर बहुत-से रूप धारण करता है, क्योंकि वह सम्बोधित मन्त्रों से आहूत होकर व्यवस्थित नियम का पालन करता है, जो सोम का रस निश्चित या अनिश्चित कालों में पीता है, वह आकाश से थोड़ी देर के लिए तीन बार आता है।[2] इन दोनों कथनों में 'मुहूर्त' शब्द का अर्थ है 'अल्प काल, थोड़े क्षण।' यही अर्थ शत० ब्रा० (१।८।३।१७ : तन् मुहूर्तं धारयित्वा; २।३।२।५ : अथ प्रातः अनशित्वा मुहूर्तं समायामासित्वापि) एवं प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में आया है, यथा रघुवंश (५।५८)।

शत० ब्रा० (१०।४।२।१८ एवं १२।३।२।६) में 'मुहूर्त' का दूसरा अर्थ भी है। ऐसा आया है कि दिन के १५ मुहूर्त एवं रात्रि के १५ मुहूर्त (अहोरात्र के ३० मुहूर्त) होते हैं और वर्ष में कुल १०८०० (३०×३६०) मुहूर्त होते हैं। यहाँ मुहूर्त दिन का १५ वाँ भाग (अर्थात् सामान्य रूप से लगभग २ नाड़िका या घटिका) है। ऋ० (१०।१८९।३) में दिन-रात्रि के ३० भागों की ओर एक गूढ़ संकेत है, यथा 'त्रिंशद् धाम वि राजति वाक्पतंगाय धीयते', अर्थात् 'सूर्य की किरणों से दिन (एवं रात्रि) के ३० धाम प्रकाशित होते हैं', 'उस पक्षी (सूर्य) को यह स्तुति अर्पित हैं' (प्रतिवस्तोरह द्युभिः)। तै० ब्रा० (३।१०।१।१-३) में दिन एवं रात्रि के मुहूर्तों का उल्लेख है।[3] वेदांगज्योतिष

१. रमध्वं मे वचसे सोम्याय ऋतावरीरुप मुहूर्तमेवैः। ऋ० (३।३३।५)। यह निरुक्त (२।२५) द्वारा यों व्याख्यायित है—उपरमध्वं मे वचसे सोम्याय सोमसम्पादिने ऋतावरीः ऋतवत्यः...मुहूर्तम् एवैः अयनैः अवनैर्वा। मुहूर्तः मुहुः ऋतुः। ऋतुः अर्तेः गतिकर्मणः। मुहुः मूढः इव कालः। यहाँ 'मुहूर्त' का अर्थ है 'अल्प समय के लिए, एक क्षण के लिए।' निरुक्त ने इसकी व्युत्पत्ति 'मुहुः एवं 'ऋतु' (वह काल जो शीघ्र ही समाप्त हो जाता है) से की है।

२. रूपं रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम्। त्रिर्यद्दिवः परि मुहूर्तमागात्स्वैर्मन्त्रैरनृतुपा ऋतावा॥ ऋ० (३।५३।८)। सवन (दिन में सोमरस निकालना) तीन हैं: प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन एवं तृतीयसवन। देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड २।

३. चित्रः, केतुः, प्रभान्, आभान्, संभान्, ज्योतिष्मान्, तेजस्वान्, आतपन्, तपन्, अभितपन्, रोचनः, रोचमानः, शोभनः, शोभमानः, कल्याणः, ये दिन के मुहूर्त हैं। रात्रि के ये हैं—दाता, प्रदाता, आनन्दः, मोदः, प्रमोदः, आवेशयन्, निवेशयन्, संवेशनः, संशान्तः शान्तः, आभवन्, प्रभवन्, संभवन्, संभूतः, भूतः।

के मत से दो नाड़िकाएँ एक मुहूर्त की द्योतक (ऋग्वेद का वेदांगज्योतिष, श्लोक ७) हैं और सब से बड़े एवं सब से छोटे दिन में ६ मुहूर्तों (१२ घटिकाओं) का अन्तर पड़ता है। मनु (१।६४), कौटिल्य (अर्थशास्त्र २, अध्याय २०, पृ० १०७-१०८, शामशास्त्री का सम्पादन) एवं कतिपय पुराणों ने रात-दिन को ३० मुहूर्तों वाला कहा है। अतः ब्राह्मण-काल के बाद मुहूर्त का दूसरा अर्थ रहा है 'दो घटिकाओं की अवधि।' कौषीतकि-उपनिषद् (१।३) ने 'येष्टिह' नामक मुहूर्तों का उल्लेख किया है।

ऐसा प्रकट होता है कि ईसा के कई शताब्दियों पूर्व दिन के १५ मुहूर्तों के नाम तै० ब्रा० में उल्लिखित नामों से भिन्न पड़ गये थे। ब्राह्ममुहूर्त एक प्रसिद्ध मुहूर्त है, जिसका उल्लेख बौ० ध० सू० (२।१०।२६), मनु (४।९२) एवं याज्ञ० (१।११५) ने किया है। महाभारत (द्रोणपर्व, ८०।२३) में ब्राह्ममुहूर्त का उल्लेख है। कालिदास के रघुवंश (५।३६) में आया है कि अज का जन्म ब्राह्ममुहूर्त (ब्रह्मा देवता वाले अभिजित् में) में हुआ था। कुमारसम्भव (७।६) में आया है कि पार्वती की नारी-सम्बन्धिनियों ने उनको मैत्र मुहूर्त में, जब चन्द्र उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में था, विवाह के लिए अलंकृत किया था। और देखिए अन्य शुभ तिथियों के लिए सभा० (२।१५, २५।४), वन० (२५३।२८)। आथर्वण ज्योतिष (१।६-११) में १५ मुहूर्तों के नाम ये हैं---रौद्र, श्वेत, मैत्र, सारभट, सावित्र, वैराज, विश्वावसु, अभिजित् (मध्याह्न में), रौहिण, बल, विजय, नैर्ऋत, वारुण, सौम्य, भग। मुहूर्तदर्शन (या विद्यामाधवीय) में भी ये नाम हैं, कुछ अन्तर यह है---विश्वावसु के स्थान पर गान्धर्व है, वारुण के पूर्व शाक्र जोड़ दिया गया है और सौम्य छोड़ दिया गया है और कहा गया है कि अभिजित्, वैराज, श्वेत, सावित्र, मैत्र, बल एवं विजय शुभकार्य-सिद्धिजनक हैं। और देखिए महाभारत, आदि० (१२३।६), उद्योग० (६।१७-१८)। मनु (२।३०) में आया है कि शिशु के जन्म के १०वें या १२वें दिन शुभ तिथि, मुहूर्त एवं नक्षत्र में नामकरण करना चाहिए। ऐसा माना जा सकता है कि मनु एवं विद्यामाधवीय में ७ शुभ मुहूर्त समान ही हैं। पुराणों में भी १५ नाम आये हैं, किन्तु भिन्नता के साथ। मत्स्य (२२।२) में **अभिजित्** एवं **रौहिण** नाम आये हैं और कहा गया है कि नये गृह के निर्माण के लिए आठ शुभ मुहूर्त हैं।[४] इसमें **कुतप** नामक आठवें मुहूर्त का उल्लेख है (२२।८४)। उपर्युक्त बातों से प्रकट है कि मुहूर्तों के नाम दो बार पड़े, एक बार तै० ब्रा० में और दूसरी बार आथर्वणज्योतिष एवं पुराणों में। एक तीसरा युग ऐसा आया कि ये नाम पृष्ठभूमि में पड़ गये या व्यावहारिक रूप से विलुप्त-से हो गये, जैसा कि वराहमिहिर और अन्य ग्रन्थों के अवलोकन से प्रकट होता है। केवल ३० मुहूर्तों के देवताओं के नाम रह गये और उन्हीं से उनके नाम द्योतित होने लगे। बृहत्संहिता (४२।१२ एवं ९८।३) में वे नाम नहीं आते, किन्तु बृहद्योगयात्रा में ३० देवताओं के नाम आते हैं।[५] बृहत्संहिता (९८।१) में आया है---'किन्हीं नक्षत्रों में करने के लिए जो कार्य व्यवस्थित हैं वे उनके देवताओं की तिथियों में किये जा सकते हैं और करणों तथा मुहूर्तों में भी

४. स्वातौ (श्वेते?) मैत्रेथ माहेन्द्रे गान्धर्वाभिजिति रौहिणे। तथा वैराजसावित्रे मुहूर्ते गृहमारभेत्॥ मत्स्य० (२५३।८-९)।

५. शिवभुजगमित्रपितृवसुजलविश्वविरिञ्चिपंकजप्रभवाः। इन्द्राग्नीन्दुनिशाचरवरुणार्यमयोनयश्चाह्नि। रुद्राजाहिर्बुध्न्याः पूषा दस्रान्तकाग्निधातारः। इन्द्वदितिगुरुहरिरविलत्वष्ट्रनिलाख्याः क्षणा रात्रौ॥ अह्नः पञ्चदशांशो रात्रेश्चैवं मुहूर्त इति संज्ञा। बृहद्योगयात्रा (६।२-४)। और देखिए रत्नमाला (७।१-२)। यह द्रष्टव्य है कि रात्रि-सम्बन्धी मुहूर्त वायु० (४३।४४) की तालिका से मिलते हैं। और देखिए मुहूर्तमार्तण्ड (२।४), अलबरूनी (सचौ, जिल्द १, पृ० ३३८-३४२)।

वे सम्पादित हो सकते हैं।'[६] उदाहरणार्थ, यदि कोई कृत्य आर्द्रा नक्षत्र में करने को प्रतिपादित है, तो वह शिव के मुहूर्त (दिन के प्रथम मुहूर्त) में किया जा सकता है, क्योंकि दोनों (आर्द्रा एवं प्रथम मुहूर्त) का देवता एक ही (रुद्र) है। आथर्वणज्योतिष (२।१-११, एवं ३।१-६) में दिन के १५ मुहूर्तों में किये जाने वाले कार्यों पर विस्तारपूर्वक लिखा हुआ है। उदाहरणार्थ, भयंकर कार्य रौद्र में, प्रिय कार्य मैत्र में, शत्रुओं के अकल्याण के लिए जादू-टोना-सारभट में, काम्य कृत्यों एवं संकल्प-सफलता के लिए अभिजित् में, विजय के लिए आक्रमण विजय में, शुभ एवं शान्ति के कृत्य (इसी) विजय में, ब्राह्मणकुमारी से विवाह भग मुहूर्त में (क्योंकि ऐसा करने से पत्नी दुश्चरित्र नहीं होती)। यह द्रष्टव्य है कि पतंजलि (वार्तिक, पाणिनि, ५।१।८०) ने ऐसे व्यक्ति की चर्चा की है जो महीना भर प्रतिदिन एक मुहूर्त तक पाठ पढ़े।

वासन्तिक विषुव के उपरान्त रात्रि की अपेक्षा दिन क्रमशः बड़े होते जाते हैं और शारदीय विषुव के उपरान्त रात्रियाँ लम्बी होती जाती हैं। किन्तु एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक ३० मुहूर्त होते हैं, अतः यह कहना अधिक युक्तिसंगत है कि एक मुहूर्त दो घटिकाओं (४८ मि०) के बराबर है। किन्तु यह भी तो कहा जाता है कि दिन में १५ मुहूर्त होते हैं। वेदांगज्योतिष के स्थानीय मान के अनुसार भारत में सब से बड़ा दिन ३६ घटिकाओं का है, ऐसी स्थिति में १५ संख्या वाले मुहूर्तों में प्रत्येक की अवधि २$\frac{२}{५}$ घटिका होगी, और सबसे छोटा दिन जब २४ घटिकाओं का होगा तो उसकी अवधि १$\frac{३}{५}$ घटिका की होगी। इस अन्तर को हम विष्णुधर्मोत्तर (१।७३।६८) एवं ब्रह्माण्डपुराण (१।२।२१।१२२-१२३) में भी पाते हैं।

हमने बहुत पहले यह जान लिया है कि प्राचीन वैदिक काल में मुहूर्त के दो अर्थ प्रकट हो चुके थे, यथा (१) 'थोड़ी देर' एवं (२) 'दो घटिकाएँ।' किन्तु दिन के कुछ मुहूर्त (दो घटिकाओं की अवधि वाले) शुभ घोषित हो गये, अतः क्रमशः मुहूर्त का तीसरा अर्थ भी परिलक्षित हो गया, यथा 'वह काल जो किसी शुभ कृत्य के लिए योग्य हो' ('कालः शुभक्रियायोग्यो मुहूर्त इति कथ्यते।' मुहूर्तदर्शन, विद्यामाधवीय १।२०)। आगे चलकर हम देखेंगे कि इसी तीसरे अर्थ में मध्य काल के धर्मशास्त्र-ग्रन्थों ने 'मुहूर्त' का प्रयोग किया है।

उपर्युक्त तीसरे अर्थ की अभिज्ञता के लिए हमें ग्रहों, द्वादश भावों (कुण्डली में निर्मित धाम या गृह या स्थान) एवं राशियों का ज्ञान कर लेना आवश्यक है। किन्तु ऐसा करने के पूर्व यह भी जान लेना आवश्यक है कि ई० पू० चौथी शताब्दी के उपरान्त भारत के श्रेष्ठ मस्तिष्कों में क्या परिवर्तन आ चुका था। हमने यह देख लिया है कि किस प्रकार आकाश-निरीक्षक एवं गणक हेय दृष्टि से देखे जाने लगे थे और धन के लिए फलित-ज्योतिष कहने वाले लोग अयोग्य ब्राह्मण ठहरा दिये गये थे। किन्तु ई० पू० ५वीं या छठी शताब्दी तक कुछ लोग ज्योतिषी को, विशेषतः राजा के मामले में, बहुत महत्त्वपूर्ण मानते थे। गौतमधर्मसूत्र (११।१२-१३, १५-१६) में प्रतिपादित है—'राजा को चाहिए कि वह ऐसे पुरोहित (प्रासाद-पुरोहित) की नियुक्ति करे जो विद्या, अच्छे कुल, वक्तृता, सौन्दर्य, उपवयस्कता (न तो अधिक बूढ़ा और न कम अवस्था का), चरित्र से सम्पन्न हो और न्यायशील एवं तपस्वी हो; ऐसे पुरोहित द्वारा निर्देशित धार्मिक कृत्य करने चाहिए; राजा को चाहिए कि वह दैवोत्पातचिन्तकों का सम्मान करे, क्योंकि आचार्यों ने ऐसा कहा है कि देश-कल्याण उन पर आधारित है।' यह धारणा दृढ़तर होती गयी और यहाँ तक कि स्मृतिकार याज्ञवल्क्य (१।३०७-३०८) ने ईसा की आरंभिक शताब्दियों में उद्घोषित किया

६. यत्कार्यं नक्षत्रे तद्दैवत्यासु तिथिषु तत्कार्यम्। करणमुहूर्तेष्वपि तत् सिद्धिकरं देवतासदृशम्॥ बृहत्संहिता (९८।३)।

है—'जो-जो ग्रह दुःस्थ (दुष्ट या बुरे नक्षत्र से उपहत या प्रभावित) हों उनकी पूजा यत्न से की जानी चाहिए। ब्रह्मा ने ग्रहों को वर दिया है कि जब पूजित हो जाओ तब पूजक का कल्याण करो। राजा का उत्कर्ष एवं अपकर्ष ग्रहों पर आधारित है; अतः ग्रह पूज्यतम हैं।' निःसन्देह याज्ञ० (१।३४९, ३५१) ने कहा है—'कर्मसिद्धि दैव एवं पौरुष पर अवलम्बित है, इन दोनों में दैव पूर्वजन्म में किया गया कर्म (इस जन्म में अभिव्यक्त) ही है। जिस प्रकार एक पहिए से रथ नहीं चलता है, उसी प्रकार बिना पौरुष के दैव की सिद्धि नहीं होती।'[7]

दैव एवं पौरुष की तुलनात्मक महत्ता पर धर्मशास्त्र-ग्रन्थों में, विशेषतः महाभारत में, अधिक विवेचन है। तीन विचारधाराएँ भी हैं—(१) दैव सर्वशक्तिमान् है, (२) पौरुष सर्वोपरि है एवं (३) दोनों में मध्य का मार्ग प्रशस्त है (देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड ३)। बृहद्योगयात्रा का प्रथम अध्याय (२० श्लोक) एवं योगयात्रा का प्रथम अध्याय (२२ श्लोक) दैव (भाग्य) एवं पुरुषकार (पौरुष) पर विवेचन उपस्थित करते हैं। इतना होने पर भी राजा से लेकर रंक तक सभी लोग ज्योतिष के पूर्ण प्रभाव में थे। आज भी बहुत-से पढ़े-लिखे लोग तक ज्योतिष के बड़े प्रभाव में हैं। वह ज्योतिष जो कुण्डलियों का निर्माण करता है और व्यक्ति-विशेष से सम्बन्धित है, **होराशास्त्र** या **जातक** के नाम से विख्यात है। वराहमिहिर के काल में विद्वान् लोग भी 'होरा' शब्द के उद्गम के विषय में अनभिज्ञ थे। बृहज्जातक (१।३) में आया है—"कुछ लोगों के मत से 'होरा' **अहोरात्र** के पहले एवं अन्तिम अक्षर के निकाल देने से बना है। होराशास्त्र पूर्वजन्मों में किये गये अच्छे या बुरे फलों को भली-भाँति व्यक्त करता है।" यह द्रष्टव्य है कि बृहज्जातक दो बातों पर बल देता है—(१) यह होराशास्त्र को कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्तों से समन्वित करता है (कर्म को भोग से नष्ट करने के लिए पुनर्जन्म), (२) शास्त्र बताता है कि कुण्डली एक नक्शा या योजना मात्र है जो पूर्व जन्म में किये गये कर्मों से उत्पन्न किसी व्यक्ति के जीवन के भविष्य की ओर निर्देश करती है। होराशास्त्र यहाँ यह नहीं कहता कि व्यक्ति की कुण्डली के ग्रह उसे यह या वह करने के लिए बाध्य करते हैं, प्रत्युत वह कहता है कि कुण्डली केवल यह बताती है कि व्यक्ति का भविष्य किन दिशाओं की ओर उन्मुख है। ये सिद्धान्त पश्चात्कालीन मध्यवर्ती लेखकों द्वारा भी दुहराये गये हैं। उदाहरणार्थ, रघुनन्दन ने अपने उद्वाहतत्त्व (पृ० १२५) में दीपिका के मत को स्वीकार किया है कि ग्रह केवल यह बताते हैं कि पूर्व जन्मों में पाप किये गये थे, ग्रह स्वयं बुरे प्रभाव नहीं डालते। उन्होंने मत्स्यपुराण का उद्धरण दिया है—पुराने जीवनों (पूर्व जन्मों) में किये गये पाप वर्तमान जीवन में रोगों, दुर्गतियों एवं प्रियजन-मृत्यु के रूप में प्रतिफल देते हैं।[8] सम्भवतः एक तीसरा अन्तर्हित सिद्धान्त भी था, यथा नक्षत्र ऐसे मन्दिर हैं जिनमें देवता निवास करते हैं (नक्षत्राणि वै सर्वेषां देवानामायतनम्, श० ब्रा० १४।३।२।१२; देवगृहा वै नक्षत्राणि। य एवं वेद गृह्येव भवति, तै० ब्रा० १।२।५।११)। और देखिए मत्स्य० (१२७।१४-१५)। बेबिलोन एवं असीरिया के लोगों ने अपने ज्योतिष को तीन धारणाओं पर निर्भर समझा था—यथा (१) नक्षत्र मन्दिर हैं, जिनमें देव रहते हैं; (२) नक्षत्र भविष्य के विषय में मनुष्य को देवों का मन्तव्य बताते हैं; (३) मानव-इतिहास मार्दुक की अध्यक्षता में स्वर्गिक

७. दैवे पुरुषकारे च कर्मसिद्धिर्व्यवस्थिता। तत्र दैवमभिव्यक्तं पौरुषं पौर्वदेहिकम्॥ यथा ह्येकेन चक्रेण रथस्य न गतिर्भवेत्। एवं पुरुषकारेण बिना दैवं न सिध्यति॥ याज्ञ० (१।३४९, ३५१)।

८. अत एव दीपिकायाम्—ये ग्रहा रिष्टिसूचकाः—इत्यनेन ग्रहाणां पूर्वसिद्धपापबोधकत्वमिति, न तु पापजनकत्वम्। तथा च मत्स्यपुराणम्। पुरा कृतानि पापानि फलन्त्यस्मिंस्तपोधनाः। रोगदौर्गत्यरूपेण तथैवेष्टवधेन च। तद्विघाताय वक्ष्यामि सदा कल्याणकारकम्॥ उद्वाहतत्त्व (पृ० १२५)।

सभा में पूर्व-निश्चित किया जाता है। ये सिद्धान्त प्रथम को छोड़कर वराहमिहिर एवं उनके पश्चात् होने वाले लेखकों के सिद्धान्तों से भिन्न हैं। बेबिलोन एवं ग्रीस (यूनान) में कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त नहीं पाये जाते। अतः वहाँ के लोग परोक्ष रूप से अपने ज्योतिष द्वारा लोगों को उच्चाशय वाला नहीं बना सकते थे कि वे वर्तमान जीवन को सदाचारपूर्ण बना सकें। प्राचीन काल की अनैतिक एवं शिशुवत् दन्तकथाओं के रहते हुए भी ग्रह-सम्बन्धी भावना के प्रभाव एवं पूजा ने अधिकांश मस्तिष्कों को पकड़ रखा था और लोगों को वह अपेक्षाकृत बहुत अधिक बुद्धिवादी एवं विश्वसनीय जँचती थी।

कल्याणवर्मा की सारावली (२।२ एवं ४) ने इसका अनुसरण किया है और जोड़ा है कि लोगों को इस शास्त्र में 'जातक' नाम से जो ज्ञात है, वह 'होरा' नाम से विख्यात है, या 'होरा' शब्द (जो 'अहोरात्र' के आदि एवं अन्तिम अक्षर 'अ' एवं 'त्र' के विलोप से बना है) 'दैवविमर्शन' (नियति के विषय में विवेचन) का पर्यायवाची ही है।[9] संस्कृत ज्योतिष में 'होरा' के दो अन्य अर्थ भी हैं; यथा लग्न (वह राशि या लक्षण जो किसी विशिष्ट क्षण में पूर्व क्षितिज में उदित होता रहता है) एवं **राशि का अर्ध अंश** (बृहज्जातक, १।९)। ज्योतिष एवं ज्योतिषियों की महत्ता एवं उपयोगिता के विषय में अतिशय प्रशंसात्मक वचन कहे गये हैं। सारावली (२।५) में आया है—'धनार्जन में जातक (ज्योतिष) से बढ़कर कोई अन्य इतना बड़ा सहायक नहीं है, आपत्तियों के समुद्र में यह पोत के समान है तथा यात्रा या आक्रमण में यह मन्त्री के समान है।'[10] वराहमिहिर ने भी गर्व के साथ कहा है— 'जो वन में रहते हैं (वानप्रस्थ या मुनि हैं), सांसारिक विषय-भोगों से रहित हैं और बिना सम्पत्ति के हैं, वे भी नक्षत्रों की गति के जानकार ज्योतिषी से प्रश्न पूछते हैं। बिना ज्योतिषी के राजा उसी प्रकार अन्धे के समान मार्ग में अवस्थित हैं, जैसे कि बिना दीप के रात्रि तथा बिना सूर्य के नभ है। यदि ज्योतिःशास्त्रज्ञ एवं ज्योतिषी न हो तो शुभ मुहूर्त (काल), तिथि, नक्षत्र, ऋतुएँ एवं अयन (सूर्य की उत्तरायण एवं दक्षिणायन गतियाँ) आकुल हो उठें अर्थात् उनसे संभ्रम उत्पन्न हो जाय। जो कुछ एक देश-काल सर्वज्ञ सांवत्सर (ज्योतिषी) जानता है वह एक सहस्र हाथी या चार सहस्र अश्वारोही नहीं जान सकते या कर सकते' (बृहत्संहिता, २।७-९)। और देखिए कालविवेक (पृ० ४)।[11]

राजमार्तण्ड (श्लोक ४) में आया है—'पुरोहित, गणक (ज्योतिःशास्त्रज्ञ), मन्त्री एवं दैवज्ञ (ज्योतिषी, फलितज्ञ)—ये सभी चाहे कितना भी कष्ट या आपत्ति हो, राजा द्वारा पोषित (रक्षित) होने चाहिए, जैसा कि स्त्रियों के विषय में किया जाता है।'[12]

९. आद्यन्तवर्णलोपाद्धोराशास्त्रं भवत्यहोरात्रम् (५।१ रात्रात्)।...जातकमिति प्रसिद्धं यल्लोके तदिह कीर्त्यते होरा। अथवा दैवविमर्शनपर्यायः खल्वयं शब्दः॥ सारावली (२।२ एवं ४)।

१०. अर्थार्जने सहायः पुरुषाणामापदर्णवपोतः। यात्रासमये मन्त्री जातकमपहाय नास्त्यपरः॥ सारावली (२।५)।

११. वनं समाश्रिता येपि निर्ममा निष्परिग्रहाः। अपि ते परिपृच्छन्ति ज्योतिषां गतिकोविदम्॥ अप्रदीपा यथा रात्रिरनादित्यं यथा नभः। तथाऽसांवत्सरो राजा भ्रमत्यन्ध इवाध्वनि॥ मुहूर्ततिथिनक्षत्रमृतवश्चायने तथा। सर्वाण्येवाकुलानि स्युर्न स्यात्सांवत्सरो यदि॥ बृहत्संहिता (२।७-९)। न तत्सहस्रं करिणां वाजिनां वा चतुर्गुणम्। करोति देशकालज्ञो यदेको दैवचिन्तकः॥ बृ० सं० (२।२०)।

१२. पुरोधा गणको मन्त्री दैवज्ञश्च चतुर्थकः। एते राज्ञा सदा पोष्याः कृच्छ्रेणापि स्त्रियो यथा॥ राजमार्तण्ड (श्लोक ४)।

यह द्रष्टव्य है कि वराहमिहिर अधिकतर इस सिद्धान्त का त्याग करते हैं-कि कुण्डली एक चित्र मात्र (नक्शा) है जो प्रभावों (परिणामों) को अभिव्यंजित करती है, प्रत्युत वे निश्चयात्मक भाषा में ग्रहों के विषय में उद्घोषित करते हैं कि वे स्थितियों के नियामक भी होते हैं। दो-एक उदाहरण पर्याप्त होंगे। बृहज्जातक (५।६) में उन्होंने कहा है—'ऋषियों की घोषणा है कि वह व्यक्ति निश्चित रूप से पर पुरुष से उत्पन्न है, जिसकी कुण्डली में बृहस्पति की दृष्टि लग्न पर या चन्द्र पर या सूर्ययुक्त चन्द्र पर न हो या यदि चन्द्र सूर्य से युक्त हो और उसके साथ दुष्ट (हानिकर) ग्रह (मंगल या शनि) हों।'[13] पुनः बृहज्जातक (६।११) में आया है—'प्रथम, पाँचवें, सातवें, आठवें, नवें या बारहवें घर में किसी हानिकर (दुष्ट या अशुभ) ग्रह से समन्वित चन्द्र से (नये उत्पन्न शिशु की) मृत्यु होती है, यदि वह शुक्र या बुध या बृहस्पति से युक्त न हो या वह इन तीनों शक्तिशाली ग्रहों में किसी एक की दृष्टि में न हो (तो भी वैसा होता है)।' पुनः बृहज्जातक (१४।१) में आया है—'जब सूर्य किसी अन्य ग्रह से समन्वित हो तो वह निम्न फल उत्पन्न करता है—चन्द्र से समन्वित होने पर व्यक्ति लकड़ी की मशीन बनाने वाला या पत्थर से कार्य करने वाला होता है; मंगल से बुरे आचरणों वाला; बुध से कुशल, बुद्धिमान् प्रसिद्ध एवं प्रसन्न व्यक्ति; बृहस्पति से क्रूर या दूसरों के कार्य को करने की उत्कट इच्छा वाला; शुक्र से रंगमंच की जीविका करने वाला या आयुधजीवी; शनि से धातुविशेषज्ञ या विभिन्न प्रकार के बरतनों को बनाने वाला होता है।' सारावली (३३।४८-६१) ने बहुधा विभिन्न स्थितियों के फलों का उल्लेख किया है।

कुछ और कहने के पूर्व यह कह देना आवश्यक है कि ज्योतिष में अटल विश्वास करने वाला केवल भारत ही नहीं था। सिकन्दर के उपरान्त सम्पूर्ण यूरोप में भी ऐसी ही बात पायी जाती थी। यह हमने देख लिया है कि बेबिलोन के ज्योतिषी लोग राजा को सूर्य, चन्द्र एवं ग्रहों की अवस्थितियाँ बताया करते थे (देखिए आर० कैम्पबेल टाम्सन कृत 'दी रिपोर्ट आव दी मैजिशीयर्नस एण्ड ऐस्ट्रालाजर्स आव निनेवेह एण्ड बेबिलोन', जिल्द १ एवं २, संख्या ९, १५, १६, २१, ३२, ३३, ५२, ४३, ६३, ६६, ६७, ७२, ७४, ७६, ८६, १५१, १६४)। किन्तु कुण्डली-युक्त ज्योतिष का विकास वहाँ कालान्तर में हुआ। और देखिए 'ओल्ड टेस्टामेण्ट इजाइआह' (ई० पू० ७५९-७१०) : ४७।१ एवं १५; डैनिएल (४।७, १।२० एवं २।२ तथा २७)। चाल्डियनों के अनुसार पाँच ग्रह विशेषतः मनुष्यों के भाग्यों को नियन्त्रित करते थे और इन ग्रहों से बेबिलोन के पाँच नगर समन्वित माने जाते थे। और देखिए बौचे लेक्लेर्क ('ल' ऐस्ट्रालाजी ग्रीक, पृ० ५७२)। हेरोडोटस (२।८२) ने मिस्र देशवासियों के विचित्र व्यवहारों की चर्चा की है, यथा—वे प्रत्येक मास एवं दिन को किसी देवता के लिए पवित्र मानते थे। वे ऐसा समझते थे कि जन्म के दिन से व्यक्ति के भाग्य, चरित्र एवं मृत्यु सूचक देवतायुक्त दिन निश्चित कर दिये जाते हैं। किन्तु इससे कुण्डली-ज्योतिष (होराशास्त्र) की ओर निर्देश नहीं मिल पाता। मिस्रियों को सिकन्दर-युग के पूर्व राशि-ज्ञान प्राप्त नहीं था। आरम्भिक यूनानी ज्योतिषाचार्यों को फलित ज्योतिष का ज्ञान नहीं था, उन्होंने सिकन्दर द्वारा बेबिलोन पर अधिकार कर लेने के उपरान्त बेबिलोनी लोगों से यह ज्ञान लिया, क्योंकि तभी बेबिलोन के ज्योतिषाचार्य यूनान पहुँचने लगे। इसके बाद ही यूनानी मस्तिष्क ज्योतिष से प्रभावित

१३. न लग्नमिन्दुं च गुरुर्निरीक्षते न वा शशांकं रविणा समागतम्। सपापकोऽर्केण युतोथवा शशी परेण जातं प्रवदन्ति निश्चयात्॥ बृहज्जातक (५।६)। लघुजातक (४।४) में भी इसी के समान उक्ति है। सारावली में एक ऐसा ही श्लोक है 'पश्यति न गुरुः शशिनं लग्नं च दिवाकरं सेन्दुम्। पापयुतं वा सार्क चन्द्रं यदि जारजातः स्यात्॥' यह द्रष्टव्य है कि उत्पल को वराहमिहिर के सिद्धान्त एवं कथन का समर्थन करना आवश्यक लगा।

होने लगा। फलित ज्योतिष से परिचित होने से पूर्व यूनानी लोग भविष्यफल का ज्ञान आप्तवचनों, स्वप्न-व्याख्याओं, बलि किये हुए पशुओं की अँतड़ियों एवं यकृत (कलेजे) के निरीक्षण, पक्षियों की उड़ान एवं पुकारों (चिल्लाहटों), ग्रहणों, धूमकेतुओं एवं उल्कापातों से करते थे। बेबिलोन के देवता बेल के पुजारी बर्सोसस ने अपने आश्रयदाता एण्टिओकस प्रथम सोटर (ई० पू० २८०-२६१) को बेबिलोन एवं चाल्डिया के इतिहास पर एक ग्रन्थ बनाकर दिया, उसी पुजारी को बेबिलोनी ज्योतिष (फलित) को यूनान में प्रसारित करने तथा सर्वप्रथम एशिया माइनर के दक्षिण-पश्चिम कोण में स्थित कोस नामक स्थान की पाठशाला में उसे पढ़ाये जाने का यश प्राप्त हुआ था। यूनान से रोम में फलित ज्योतिष लगभग ई० पू० दूसरी शताब्दी में पहुँचा। तभी से यूनान एवं रोम के घर-घर में राशियों की चर्चा होने लगी। पोसिडोनिअस—जैसे स्टोइकों ने इसका समर्थन किया। कैटो ने अपने कृषि-सम्बन्धी ग्रन्थ में चाल्डियनों के ज्योतिष-ज्ञान के विरुद्ध सावधान किया है और ई० पू० १३९ में एक आदेश निकला, जिससे चाल्डिया के लोग इटली से बाहर कर दिये गये। डायडोरस सिसलस (रोम के आगस्टस के समकालीन) ने कुण्डली बनाने की चाल्डिया-विधि एवं सिद्धान्त का वर्णन किया है। होरेस (मृत्यु ई० पू० ८) ने अपनी माइसेनस नामक कविता में लिब्रा (तुला), स्कार्पिअन (वृश्चिक) एवं कैपिकार्नस (मकर) के विषय में तथा जोव (बृहस्पति) की रक्षादायिनी शक्ति एवं शनि के हानिकारक स्वरूप की ओर संकेत किया है। स्ट्रैबो (मृत्यु सन् २४ ई०) ने दृढ़ता के साथ कहा है कि चाल्डियावासी ज्योतिष एवं कुण्डली-निर्माण में दक्ष थे। पेट्रोनियस (प्रथम शती) ने अपने 'सैटि-रिकन' नामक उपन्यास में रात्रि के प्रीति-भोज में, जो ४० पृष्ठों में वर्णित है, एक ऐसे थाल का उल्लेख किया है जिसमें सभी राशियों के आकार रचे हुए थे और प्रत्येक के साथ विशिष्ट भोजन रखा हुआ था (देखिए विल डूराँ लिखित 'सीजर एण्ड क्राइस्ट', पृ० २९८)। जुवेनल (प्रथम शती के अन्त में) ने चाल्डिया के ज्योतिष में अधिक विश्वास रखने वाली नारियों की बड़ी भर्त्सना की है। ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि रोम एवं मध्य यूरोप में ज्योतिष के विरोध में कुछ नहीं कहा गया। सिसरो ज्योतिष में विश्वास नहीं करता था और उसका कहना था कि ग्रह बहुत दूर स्थित हैं। सेण्ट आगस्टाइन (३५४-४३० ई०) ने अपने ग्रन्थ 'सिटी आव गाड' में ज्योतिष को भ्रम माना है।

बेबिलोन एवं यूनान के ज्योतिष में बहुत-से भेद थे। बेबिलोनी ज्योतिष मूलतः राज्य एवं राजकुल से सम्बन्धित था, किन्तु यूनानी ज्योतिष व्यक्तियों से; बेबिलोनी ज्योतिष का सम्बन्ध पुरोहित-वृत्ति से था, किन्तु यूनान के ज्योतिर्विद् सामान्य जन थे। ज्योतिष आगे चलकर यूरोप में अन्तरराष्ट्रीय महत्ता रखने लगा और ज्योतिःशास्त्र (ऐस्ट्रानामी) के साथ मूल्यवान् विषय के रूप में विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाने लगा। इसका प्रचलन विशेषतया इसके वैज्ञानिक ढाँचे के कारण था, जो कि ग्रहों, कोष्ठकों, बारह राशियों आदि से अभिव्यक्त होता था। कोपर्निकस, गैलिलिओ एवं केप्लर स्वयं ज्योतिष का व्यवहार करते थे या इसके व्यवहार का विस्तार करते थे। बेकन यह कहने को तैयार था कि नक्षत्रों में कोई प्राणघाती अवश्यंभाविता (फेटल नेसेसिटी) नहीं है किन्तु वे दुःख देने या बलपूर्वक बाध्य करने की अपेक्षा अनुग्रहशील हैं। टाल्मी का 'टेट्राबिब्लोस' नामक ग्रन्थ लगभग १४०० वर्षों तक अपना प्रभुत्व जमाये हुए था और आज भी वह ज्योतिष में विश्वास करने वालों के समक्ष एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण है। यह एक मनोरंजक बात है कि महान् जर्मन कवि, नाटककार एवं दार्शनिक गेटे (१७४९-१८३२) ने अपने जन्म के ग्रहों की दृष्टियों (स्वरूपों) का उल्लेख करते हुए अपने संस्मरणों का आरम्भ किया है।

गत दो शताब्दियों में ज्योतिःशास्त्र-ज्ञान में गम्भीर वृद्धियों के कारण तथा हेलिओसेण्ट्रिक (सूर्यकेन्द्रक) सिद्धान्त के पक्ष में जिओसेण्ट्रिक (भूकेन्द्रक) सिद्धान्त के त्याग के कारण यूरोप में फलित ज्योतिष का प्रभाव कम पड़ गया। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि पश्चिम या अमेरिका में यह विलुप्त हो गया है। दोनों महायुद्धों

के भयंकर प्रभावों एवं क्लेशों के कारण इसके प्रभाव के प्रसार को शक्तिशाली गति मिली है। लाखों की संख्या में छपने वाले समाचार-पत्रों में प्रति दिन एवं प्रति सप्ताह नक्षत्रों से सम्बन्धित भविष्यवाणियाँ निकलती हैं। किन्तु ये भविष्यवाणियाँ अधिकतर अस्पष्ट होती हैं। बारह राशियों में प्रत्येक में लाखों व्यक्ति होंगे, किसका क्या भाग्य है? ऐसा कहा जाता है कि केवल अमेरिका में २५००० रजिस्टर्ड ज्योतिषी हैं।

टॉल्मी ने फलित ज्योतिष के पक्ष में बहुत सी बातें कही हैं। उसने इस बात पर बल देकर कहा है कि नक्षत्रों के प्रभावों की जानकारी करने के पूर्व ज्योतिषी को यह जान लेना आवश्यक है कि व्यक्ति किस देश, समाज, राष्ट्रीयता, रहन-सहन, आचार-विचार एवं वातावरण का है, नहीं तो भविष्यवाणी करने में भयंकर त्रुटियाँ हो सकती हैं—इथियोपिया का निवासी गोरा एवं सीधे केशों वाला तथा जर्मनी का निवासी काला एवं घुँघराले बालों वाला सिद्ध हो जायगा, आदि-आदि। लघुजातक (४।१) में उत्पल ने भी इसी प्रकार कहा है[१४]—'(ज्योतिषी को चाहिए कि) वह व्यक्ति की जाति के परिज्ञान के उपरान्त उसकी मूर्ति का निर्देश करे, क्योंकि श्वपाक (चाण्डाल) एवं निषाद काले होते हैं; उसे यह सोचना चाहिए कि (जिसकी कुण्डली की जाँच हो रही है) वह व्यक्ति किस कुल में, गोरे लोगों या काले लोगों के यहाँ, उत्पन्न हुआ, और किस देश में, क्योंकि कर्णाटक के लोग काले, विदेह के श्याम एवं कश्मीर के गोरे होते हैं।' स्पष्ट है कि भारतीय ज्योतिषाचार्यों ने भी देशाचार एवं लोकाचारों के ज्ञान पर बल दिया है। राजमार्तण्ड (श्लोक ३९९-४०१) में आया है—'सर्वप्रथम लोकाचारों पर विचार करना चाहिए; कतिपय शताब्दियों से जो स्थिर है, उस पर विचार करना चाहिए; पण्डित लोग बुरा लगने वाली (लोकदुष्ट) बात का त्याग करते हैं; अतः ज्योतिर्विद् को लोकमार्ग से चलना चाहिए। कुल एवं देश की चित्तवृत्ति का खण्डन नहीं करना चाहिए...।' विपत्तियों या घटनाओं से सम्बन्धित सामान्य ज्योतिर्विद्या, टाल्मी के अनुसार, **शाखा या संहिता** के अन्तर्गत (संकीर्ण दृष्टिकोण से) आती है।

मुहूर्त-सम्बन्धी साहित्य बड़ा विशाल है। काल पर लिखे गये सभी ग्रन्थ, यथा हेमाद्रि, कालमाधव, कालतत्त्वविवेचन, निर्णयसिन्धु आदि वास्तव में मुहूर्त पर ही हैं, क्योंकि वे संस्कारों एवं धार्मिक कृत्यों के उचित काल का विवेचन करते हैं। 'मुहूर्त' शब्द से युक्त ग्रन्थ ये हैं—मुहूर्तकल्पद्रुम (विट्ठल दीक्षित कृत, १६२८ ई०), मुहूर्तगणपति (गणपति रावल कृत, १६८५ ई०), अनन्तपुत्र राम द्वारा लिखित मुहूर्तचिन्तामणि (राम के बड़े भाई नीलकण्ठ के पुत्र गोविन्द की इस पर टीका 'पीयूषधारा' है, १६०४ ई०), केशवपुत्र गणेश कृत मुहूर्ततत्त्व, विद्यामाधव कृत मुहूर्तदर्शन (इस पर उसके पुत्र विष्णु की टीका है मुहूर्तदीपक), नागदेव कृत मुहूर्तदीपक, देवगिरि के निकट टायर ग्राम के निवासी अनन्त के पुत्र नारायण का मुहूर्तमार्तण्ड (१५७२ ई०) एवं रघुनाथ कृत मुहूर्तमाला तथा मुहूर्तमुक्तावली। इनमें केवल तीन ही मुद्रित हैं—मुहूर्तदर्शन, मुहूर्तचिन्तामणि तथा मुहूर्तमार्तण्ड, अन्य पाण्डुलिपियों में हैं (बाम्बे एशियाटिक सोसाइटी, लाइब्रेरी)। इस प्रकरण में श्रीपति (१०३९ ई०) द्वारा लिखित ज्योतिषमार्तण्ड, भोज रचित राजमार्तण्ड तथा अन्य काल-सम्बन्धी ग्रन्थों का सहारा लिया गया है। मुहूर्तचिन्तामणि (४८० श्लोकों में), मुहूर्तदर्शन (६०० श्लोकों में टीका के साथ) विशाल ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों की सभी बातें देना सम्भव नहीं है। मुहूर्तमार्तण्ड (१६१ श्लोकों में) ने मध्यम मार्ग अपनाया है। इसके विषय संक्षेप

१४. सत्त्वं रजस्तमो वा त्रिंशांशे यस्य भास्करस्तादृक्। बलिनः सदृशी मूर्तिर्बुद्ध्या वा जातिकुलदेशान्॥ जातिं बुद्ध्वा मूर्तिनिर्देशः, यतः श्वपाकनिषादा जातित एव कृष्णा भवन्ति।...कर्णाटाः कृष्णा वैदेहाः श्यामाः काश्मीरा गौराः।

में यों है—किन ग्रहों की स्थितियाँ एवं दृष्टियाँ, कौन युग, तिथियाँ, नक्षत्र, मास एवं देह-मन की दशाएँ शुभ कर्मों में वर्जित हैं; संस्कारों (यथा गर्भाधान, पुंसवन, जातकर्म, कर्णछेदन, चौल, उपनयन, वेदाध्ययन-समाप्ति) के उचित काल; विवाह के विषय (यह लगभग पूरे ग्रन्थ के एक तिहाई भाग में है, ५५ श्लोक में); गृह्याग्नि को जलाने के काल; गृह-निर्माण एवं प्रवेश के काल; यात्रा या आक्रमण करने के काल; शुभाशुभ शकुन; राज्याभिषेक, मूल्यवान् वस्त्रों एवं आभूषणों का धारण, कृषि-कर्म, पशुओं का क्रय-विक्रय, तिल एवं तिष्यफला के साथ स्नान, लुप्त वस्तुओं को प्राप्त करने, कूप-पुष्कर खोदने के, अधिक या अल्प समय के लिए अनध्याय के काल; शरीर पर छिपकली या गिरगिट गिर जाने के फल; जन्म की राशि से कौन ग्रह शुभ या अशुभ हैं तथा किस राशि में हैं; संक्रान्तियों का पुण्यकाल। यह द्रष्टव्य है कि इन कृत्यों में बहुत-से आज भी सम्पादित होते हैं, यद्यपि इनके सम्पादन में कमी होती जा रही है।

यह जान लेना चाहिए कि शकुनों के विषय में वराहमिहिर ने सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि अन्य जन्मान्तरों में किये गये शुभाशुभ कर्मों का फल ही लोगों की यात्रा या आक्रमण के समय शकुनों द्वारा अभिव्यक्त होता है।[15]

जहाँ एक ओर विवाह जैसे पवित्र अवसरों पर बाल बनवाने, नवीन वस्त्र धारण करने के विषय में मुहूर्त निकाला जाता था, वहीं चौर्य कर्म के लिए भी मुहूर्तमुक्तावली में मुहूर्त निकालने की व्यवस्था है, यथा जब आश्लेषा, मृगशीर्ष, भरणी, स्वाती, धनिष्ठा, चित्रा, अनुराधा नक्षत्रों में, शनिवार या मंगलवार को यदि रिक्ता तिथियों (चतुर्थी, नवमी, चतुर्दशी) में चोरी की जाती है तो वह सफल होती है। यह मुहूर्त निकालने के विषय में एक विचित्र उत्सुकता या पागलपन का परिचायक है।

यह आवश्यक है कि हम थोड़ा जातक के कुछ अंशों का परिज्ञान कर लें। जातक की सभी बातों का उल्लेख करने में एक स्वतन्त्र ग्रन्थ बन जायगा, अतः हम संक्षेप में मुख्य-मुख्य बातों की ओर संकेत करेंगे। नक्षत्रों, उनके देवताओं (स्वामियों) एवं उनकी श्रेणियों के अतिरिक्त हमें कुण्डली में राशियों, ग्रहों एवं भावों (घरों या स्थानों) का ज्ञान भी रखना होगा। इस विषय में हम वराह की बृहत्संहिता एवं बृहज्जातक, सारावली, श्रीपति की ज्योतिष-रत्नमाला, राजमार्तण्ड तथा गणेश के जातकालंकार (१६१३-१४ ई० में प्रणीत) ग्रन्थों पर निर्भर रहेंगे। २७ या २८ नक्षत्रों एवं उनके देवताओं का विवरण पहले ही दिया जा चुका है। यह द्रष्टव्य है कि नक्षत्रों के देवता से अधिकतर नक्षत्र या तिथि का भी संकेत मिलता है। यहाँ पर सर्वप्रथम नक्षत्र-विभाजन का उल्लेख होगा। बृहदारण्यकोपनिषद् (६।३।१) से प्रकट है कि नक्षत्र बहुत प्राचीन काल (लगभग ई० पू० १०००) में ही पुण्य एवं पाप (शुभ एवं अशुभ) तथा नारी एवं पुरुष (पुंस) के रूप में उल्लिखित हो चुके थे। वेदांगज्योतिष (याजुष, श्लोक ४२) ने नक्षत्रों को उग्र एवं क्रूर भागों में बाँटा है (उग्राण्यार्द्रा च चित्रा च विशाखा श्रवणोश्वयुक्। क्रूराणि तु मघा स्वाती ज्येष्ठा मूलं यमस्य यत्॥)। बृहत्संहिता (९७।६-११) में वे **ध्रुव** (या स्थिर), **तीक्ष्ण** (या दारुण), **उग्र** (या क्रूर), **क्षिप्र** (या लघु), **मृदु** (मैत्र), **मृदुतीक्ष्ण** (या साधारण या मिश्र), **चर** (या चल) कहे गये हैं।

बृ० सं० (९७।६-११) में आया है कि ध्रुव नक्षत्रों में राज्याभिषेक, शान्ति कृत्य, वृक्षारोपण, नगर-स्थापन, कल्याण-कर्म, बीजारोपण एवं अन्य स्थिर कर्म किये जाने चाहिए; तीक्ष्ण नक्षत्रों में हानि करने में सफलता,

१५. अन्यजन्मान्तरकृतं पुंसां कर्म शुभाशुभम्। यत्तस्य शकुनः पाकं निवेदयति गच्छताम्॥ बृहद्योगयात्रा (२३।१)।

मन्त्र-प्राप्ति, भूत जगाना, बन्दी बनाना, पीटना, सम्बन्ध तोड़ना आदि किये जाते हैं; उग्र नक्षत्रों का प्रयोग दूसरे की सम्पत्ति को नष्ट करने, धोखा देने, बन्दी बनाने, विष देने, आगजनी करने, हथियार से मारने एवं मार डालने में होता है; क्षिप्र (लघु) नक्षत्र बिक्री करने, प्रेम करने, ज्ञान प्राप्त करने, अलंकरण, कलाओं, शिल्पों (यथा बढ़ईगिरी), ओषधियों, यात्राओं के लिए घोषित हैं; मृदु नक्षत्र मित्र-प्राप्ति, काम-कृत्यों, वस्त्रों, आभूषणों, शुभ उत्सवों (विवाह आदि) एवं गाना गाने में लाभप्रद हैं; मृदु-तीक्ष्ण (या साधारण) नक्षत्र मिला-जुला फल (जब मृदु या भीषण कर्म किये जाते हैं) देते हैं; चल नक्षत्र अध्रुव (अस्थिर) कर्म में लाभप्रद होते हैं। मुहूर्तमार्तण्ड में आया है कि विज्ञ जन सफलता के लिए नक्षत्रों के नामों एवं दलों के अनुसार कर्म करते हैं। यह द्रष्टव्य है कि ज्योतिष-रत्नमाला (३।९) एवं मुहूर्तचिन्तामणि (२।२-८) आदि ने रविवार, सोमवार, मंगलवार, बुधवार, बृहस्पतिवार, शुक्रवार, शनिवार को क्रम से ध्रुव, चल, उग्र, मिश्र, लघु, मृदु एवं तीक्ष्ण कहा है, और बतलाया है कि इन दलों के तुल्य जो कर्म हैं उन्हें क्रम से उन्हीं सप्ताह-दिनों में करना चाहिए (संज्ञातुल्यमिहाचरन्ति सुधियो कार्यं हि संसिद्धये। मु० मा० २।३)।

बृ० जा० (अध्याय १६।१-२) ने अश्विनी से लेकर आगे के २७ नक्षत्रों में उत्पन्न लोगों की विशेषताओं पर १४ श्लोक लिखे हैं, यहाँ हम उदाहरण के लिए दो श्लोकों का अनुवाद दे रहे हैं—'अश्विनी में उत्पन्न व्यक्ति आभूषणों का प्रेमी, होता है, सुन्दर होता है, सुभग (दर्शनीय स्वरूप वाला या मोहक) होता है, (प्रत्येक बात में) दक्ष होता है एवं मतिमान् (बुद्धिमान्) होता है; भरणी में उत्पन्न व्यक्ति कृतनिश्चयी, सत्यवादी, रोगरहित, दक्ष, चिन्तामुक्त (सुखी) होता है; कृत्तिका में उत्पन्न व्यक्ति बहुभुक्त (पेटू अर्थात् अधिक खाने वाला, परदारप्रेमी, अधैर्यवान्, तेजस्वी, एवं प्रसिद्ध होता है; रोहिणी में उत्पन्न व्यक्ति सत्यवादी, पवित्र, प्रिय बोलने वाला (प्रियंवद), स्थिरमति एवं सुरूप होता है।'[१६] राजमार्तण्ड (श्लोक १६-४०) ने २७ नक्षत्रों के पर्याय दिये हैं, जिनके साथ नक्षत्रों के स्वामियों के नाम और नक्षत्रस्वामियों के पर्याय भी सम्मिलित हैं। ज्योतिषरत्नमाला, भुजबल एवं मुहूर्तचिन्तामणि (२।२२-२३) ने अभिजित् के साथ २८ नक्षत्रों को चार-चार के सात दलों में बाँटा है, जो ये हैं—**अन्धाक्ष, मन्दाक्ष, मध्याक्ष एवं स्वक्ष**। उन्होंने यह भी कहा है कि अन्धाक्ष में चुरायी गयी सम्पत्ति शीघ्र ही फिर पायी जा सकती है, मन्दाक्ष में चुरायी हुई प्रयत्न से, मध्याक्ष में चुरायी गयी नहीं प्राप्त होती किन्तु स्वामी को पता चलेगा कि वह चोर द्वारा ले जायी गयी है; स्वक्ष या सुलोचन में चुरायी गयी न तो मिलेगी और न उसके विषय में कुछ पता चलेगा। और देखिए बृ० सं० (अध्याय १४ एवं १५।१-२७), जिसका एक श्लोक यों है—'कृत्तिका में श्वेत पुष्प होते हैं, आहिताग्नि (जो पवित्र अग्नियाँ जलाते हैं), मन्त्रज्ञ (वेद मन्त्रों का ज्ञाता), सूत्रों एवं भाष्यों का ज्ञाता, आकरिक (खानों या भाण्डारों के अधिकारी-गण), नापित (नाई), ब्राह्मण, पुरोहित, घटकार एवं अब्दज्ञ (ज्योतिषाचार्य) उत्पन्न होते हैं।'[१७]

१६. प्रियभूषणः सुरूपः सुभगो दक्षोश्विनीषु मतिमांश्च। कृतनिश्चयसत्यारुग्दक्षः सुखितश्च भरणीषु।। बहुभुक्परदाररतस्तेजस्वी कृत्तिकासु विख्यातः। रोहिण्यां सत्यशुचिः प्रियंवदः स्थिरमतिः सुरूपश्च।। बृहज्जातक (१६।१-२)। और देखिए बृ० सं० (अध्याय १०१)।

१७. आग्नेये सितकुसुमाहिताग्निमन्त्रज्ञसूत्रभाष्यज्ञाः। आकरिकनापितद्विजघटकारपुरोहिताब्दज्ञाः।। बृ० संहिता (१५।१)।

बृ० सं०(१०४।१-५) ने घोषित किया है कि कौन-कौन-से नक्षत्र (२७ में) उस काल के अंग हैं जिसे **पुरुष** कहा जाता है। यह प्राचीन धारणा का विस्तार मात्र है। तै० ब्रा० (१।५।२-७) में आया है—'प्रजापति का हाथ हस्त नक्षत्र, उनका सिर चित्रा, उनका हृदय निष्ट्या (स्वाती), उनकी दोनों जाँघें विशाखा के दो तारे और उनकी प्रतिष्ठा (आश्रय या स्थिरता) अनुराधा है। वास्तव में प्रजापति नक्षत्रों के दलों के रूप में हैं।'

उपर्युक्त बातों से यह स्पष्ट है कि राशि-ज्योतिष के अतिरिक्त नक्षत्र-ज्योतिष का विकास भारत में पूर्णरूपेण पूर्व काल में ही हो चुका था और टाल्मी महोदय केवल राशियों तक ही सीमित थे, उनका नक्षत्रों से सम्बन्ध नहीं के बराबर था।

१२ राशियाँ एक चक्र में पायी जाती हैं; प्रत्येक राशि २$\frac{1}{4}$ नक्षत्रों तक विस्तृत होती है, यथा मेष का विस्तार अश्विनी, भरणी एवं कृत्तिका के एक चौथाई भाग तक होता है, वृषभ का विस्तार कृत्तिका के ३ भाग, पूरे रोहिणी एवं मृगशीर्ष के आधे तक रहता है, आदि-आदि। मेष से लेकर आगे की सभी १२ राशियाँ **कालपुरुष** के निम्न अंगों से सायुज्य स्थापित करती बतायी गयी हैं—सिर (मेष), मुख (वृषभ), छाती (वक्षस्थल), हृदय, आमाशय, मेखला (कमर), पेट (नाभि एवं गुप्तांगों के मध्य का भाग), गुप्तांग, दोनों जाँघ, दोनों घुटने, दोनों पिंडली, दोनों पाँव। वराह ने जोड़ा है कि 'राशि', 'क्षेत्र', 'गृह', 'ऋक्ष', 'भ' एवं 'भवन' जातक में पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त होते हैं। काल के अंगों से राशियों का सायुज्य ज्योतिष-ग्रन्थों में इसलिए किया गया है कि यदि किसी व्यक्ति की कुण्डली में कोई दुष्ट ग्रह किसी राशि में रहता है तो व्यक्ति उसी शरीरांग से पीड़ित होता है जो कालपुरुष के किसी अंग की राशि से सम्बन्धित रहता है, किन्तु यदि जन्म के समय कोई शुभ ग्रह किसी राशि में रहता है तो व्यक्ति उससे सम्बन्धित अंग का श्रेय प्राप्त करता है। नीचे हम बारह राशियों के संस्कृत नाम अंग्रेजी एवं लैटिन नामों एवं पर्यायवाचियों के साथ दे रहे हैं।

संस्कृत	पर्याय	अंग्रेजी	लैटिन
मेष	अज, छाग, क्रिय	रैम (Ram)	एरीस (Aries)
वृषभ	उक्षा, वृष, गो, गोपति, ताउरी या (तवुरु)	बुल (Bull)	टौरस (Taurus)
मिथुन	युग्म, नृयुग, जितुम, जुतुम या जित्म	ट्विंस (Twins)	जेमिनि (Gemini)
कर्क	कर्की, कर्कट, कुलीर	क्रैब (Crab)	कैंसर (Cancer)
सिंह	हरि, मृगेन्द्र, लेय	ल्वायन (Lion)	लियो (Leo)
कन्या	अंगना, युवति, कुमारी, प्राथोन (प्राथेन)	वर्जिन (Virgin)	विर्गो (Virgo)
तुला	तौलि, घट, वणिज्, तुलाधर, जूक	बैलेंस स्केल (Balance Scale)	लिब्रा (Libra)
वृश्चिक	अलि, कीट, कौर्प्य, कौर्पि	स्कार्पियन (Scorpion)	स्कार्पियो (Scorpio)
धनु	चाप, धन्वी, हयांग, तौक्षिक (तौक्ष)	आर्चर (Archer)	सैगिट्टैरियस (Sagittarius)
मकर	मृगास्य, मृग, आकोकेर	गोट (Goat)	कैप्रिकार्नस (Capricornus)
कुम्भ	घट, कुम्भधर, हृद्रोग	वाटर कैरियर (Water carier)	एक्वारिअस (Acquarius)
मीन	मत्स्य, झष, अनिमिष, इत्थ या (चेत्थ ?)	फिशेज (Fishes)	पिस्केस (Piscus)

यह द्रष्टव्य है कि पर्यायों की सूची और भी लम्बी है। उसी अर्थ के अन्य शब्द भी दिये जाते रहे हैं। सिंह के लिए मृगराज, मीन के लिए पृथुरोमा प्रयुक्त हो सकता है। वेबर आदि ने यह बताया है कि उपर्युक्त तालिका में जो रेखांकित शब्द हैं वे या तो यूनानी शब्द हैं या यूनानी शब्दों के रूपान्तरित संस्कृत शब्द हैं। यह ठीक कहा जा सकता है कि इन नामों में बहुत-से यूनानी राशियों के नामों से मिलते हैं। 'पाथोन' यूनानी 'पाथेन' होना चाहिए। कोई कारण नहीं दीखता कि 'कुलीर' को यूनानी शब्द माना जाये। कर्न ने इसे शुद्ध संस्कृत शब्द माना है। टाल्मी में कुलीर के तुल्य कोई शब्द नहीं है। 'कर्क' या 'कर्की' शब्द अथर्ववेद (४।३८।६-७) में आया है और इसका अर्थ संभवतः 'श्वेत' है। बृहज्जातक (१।८) के कथन का यही तात्पर्य है कि बारह राशियों के अन्य नाम भी हैं। वराहमिहिर ने अधिकतर यवन-मतों का उल्लेख किया है और अपना अन्तर्विरोध भी प्रकट किया है। प्रस्तुत लेखक ने 'यवनेश्वर एवं उत्पल' नामक लेख (जर्नल आव बाम्बे एशियाटिक सोसायटी, जिल्द ३०, पृ० १-८) में दर्शाया है कि स्फुजिध्वज नामक राजा द्वारा लिखित लगभग ४००० श्लोकों में 'यवनजातक' नामक एवं मीनराज द्वारा, जो अपने को यवनाधिपति कहता है, कई सहस्र श्लोकों में लिखित 'वृद्धयवनजातक' नामक ज्योतिष ग्रन्थ पाये जाते हैं। प्रो० सेन-गुप्त की यह धारणा कि ऋ० (१।५१।१) जैसी ऋचाओं में उल्लिखित मेष एवं वृषभ शब्द राशियों की ओर निर्देश करते हैं (अभि त्यं मेषम्...) ठीक नहीं जँचती, क्योंकि स्वयं उन्होंने स्वीकार किया है कि ऋग्वेद में अन्य शेष दस राशियों के नाम नहीं आते (ऐंश्येण्ट इण्डिएन क्रोनोलाजी, पृ० ९९)।

बृहज्जातक (१।५) द्वारा संक्षेप में वर्णित एवं उत्पल द्वारा व्याख्यायित राशियों का आकार इस प्रकार है—[18] "मीन (पिस्केस) दो मछलियों (एक दूसरे की पूँछ के सम्मुख) के रूप में; कुम्भ एक पुरुष के समान, जो अपने कंधे पर खाली घड़ा लिये है; मिथुन एक पुरुष के रूप में जो हाथ में गदा एवं वीणा लिये एक नारी के साथ है; धनु उस पुरुष के समान व्यक्त है जिसके हाथ में धनुष है और जिसके पैर घोड़े के पैर के समान हैं; मकर का रूप घड़ियाल के सदृश है जिसका मुख मृग का है; तुला पुरुष के समान है जिसके हाथ में तुला (तराजू) है; कन्या नौका में स्थित कन्या के समान है, जिसके एक हाथ में अनाज की बाली एवं दूसरे में अग्नि है; शेष राशियाँ अपने नामों के अनुरूप अभिव्यक्त की गयी हैं। बहुत-सी राशियों के प्रभाव में आने वाले पदार्थों की चर्चा उत्पल (बृ० सं० ४०, की व्याख्या में) ने काश्यप का उद्धरण देकर की है, उदाहरणार्थ वस्त्रों, ऊन, बकरी (या भेड़) के बाल से बने वस्त्रों, मसूर-दाल, गेहूँ (गोधूम), अरालंक (राल), जौ (यव), सोना एवं सूखी भूमि पर उगने वाले पौधों का स्वामी मेष है। और देखिए वामनपुराण (५।४९-५१)। वराह के वर्णन से पता चलता है कि मेष, वृषभ, कर्कट, सिंह, वृश्चिक, मकर एवं मीन पशुओं (चौपायों या कीट-पतंगों) की आकृतियाँ हैं और शेष पाँच, प्रत्येक में विशिष्ट बातों के साथ, मानव आकृतियों द्वारा द्योतित हैं। ये राशि-नाम कम-या-अधिक वही अर्थ रखते हैं जो बेबिलोन, यूनान, भारत एवं अन्य यूरोपीय देशों में प्रयुक्त होते हैं। किन्तु उनकी पशु और मानव आकृतियों में सभी देशों में सादृश्य नहीं है। चीन में बारह राशियाँ यों हैं—चूहा, बैल, व्याघ्र, खरगोश, नाग (अग्नि फेंकता साँप), सर्प, अश्व, भेड़, बन्दर, मुर्गी, कुत्ता एवं सूअर। राशियों की संज्ञाओं का उद्गम अज्ञात है। मेष, वृषभ आदि नाम पूर्ण रूपेण कल्पनात्मक हैं; रानियाँ सुदूर स्थित हैं; एक-दूसरे से बहुत दूर हैं; दूर से विभिन्न रूपों में दृष्टिगोचर होने से वृश्चिक, सिंह आदि रूपों में प्रतीत स्वगत-प्रतिच्छाया मात्र

१८. मत्स्यौ घटी नृमिथुनं सगदं सवीणं चापी नरोऽश्वजघनो मकरो मृगास्यः। तौली ससस्यदहना प्लवगा च कन्या शेषाः स्वनामसदृशाः स्वचराश्च सर्वे॥ बृ० जा० (१।५)।

हैं (किसी को कुछ दिखाई पड़ता है किसी को कुछ)। एक ही प्रकार के नक्षत्रों को विभिन्न नाम दे दिये गये हैं। मिस्र के धार्मिक ज्योतिःशास्त्र में बारह राशियों का अभाव है, मिस्रियों को सिकन्दर-युग के पूर्व राशि-ज्ञान नहीं प्राप्त था, इस तरह बहुत थोड़ी सी राशियाँ रोम-काल से प्राचीन ठहरती हैं। असीरिया के लोगों ने ज्योतिष-ज्ञान यूफ्रोट (दजला-फरात) की घाटियों में विकसित किया था, अतः अधिक विद्वान् राशि-ज्ञान का उद्गम बेबिलोन में मानने को सन्नद्ध हैं। किन्तु वेब महोदय ऐसा नहीं मानते, वे बेबिलोन को इसका श्रेय न देकर यूनान को ही सभी ज्ञानों का मूल मानते हैं, वे कहते हैं कि यह ज्ञान क्लीयोस्ट्रेटस का दिया हुआ है, जो प्लिनी (या लिनी) के अनुसार ई० पू० ५२० का है। किन्तु वेब महोदय का मत ठीक नहीं है, हम बेबिलोन को ही राशि-ज्ञान का श्रेय देने को सन्नद्ध हैं। सब से अन्त में लिखे गये ग्रन्थ 'हिस्ट्री आव साइंस (१९५३ ई०) में लेखक श्री सार्टन ने दर्शाया है कि बेबिलोन के लोगों ने क्लीओस्ट्रेटस से सहस्र वर्ष पूर्व ही राशि-ज्ञान प्राप्त कर लिया था, क्लीओस्ट्रेटस ने तो केवल राशियों को बराबर विस्तारों में आगे चलकर बाँटा था। यह प्रकट होता है कि मिस्र, मेसोपोटामिया एवं यूनान तीन देशों में मेसोपोटामिया को ही यह श्रेय मिलना चाहिए, जहाँ राशि-ज्ञान का सर्वप्रथम उदय हुआ। भारत के विषय में हम आगे लिखेंगे।

राशि-विभाजन—विभिन्न ढंग

राशिनाम	दिशा के स्वामी	पुरुष या स्त्री	चर या स्थिर	दिनबली या निशाबली	सौम्य या क्रूर	पृष्ठोदय या शीर्षोदय
मेष	पूर्व	पुरुष	चर	नि०	क्रूर	पृ०
वृषभ	दक्षिण	स्त्री	स्थिर	नि०	सौम्य	पृ०
मिथुन	पश्चिम	पु०	द्विस्वभाव	नि०	क्रूर	शी०
कर्क	उत्तर	स्त्री	चर	नि०	सौम्य	पृ०
सिंह	पूर्व	पु०	स्थिर	दि०	क्रूर	शी०
कन्या	दक्षिण	स्त्री	द्विस्वभाव	दि०	सौम्य	शी०
तुला	पश्चिम	पु०	चर	दि०	क्रूर	शी०
वृश्चिक	उत्तर	स्त्री	स्थिर	दि०	सौम्य	शी०
धनु	पूर्व	पु०	द्विस्वभाव	नि०	क्रूर	पृ०
मकर	दक्षिण	स्त्री	चर	नि०	सौम्य	पृ०
कुम्भ	पश्चिम	पु०	स्थिर	दि०	क्रूर	शी०
मीन	उत्तर	स्त्री	द्विस्वभाव	दि०	सौम्य	दोनों (उभयोदय)

बृहज्जातक (१।१०-११) ने थोड़े में उपर्युक्त बातों पर प्रकाश डाला है और उत्पल ने पारिभाषिक विषयों की व्याख्या की है। शीर्षोदय राशि में की गयी रण-यात्रा से वांछित फल मिलते हैं, किन्तु पृष्ठोदय राशि में ऐसा करने से हार होती है और अपनी सेना का संहार होता है। जो लोग क्रूर राशि में उत्पन्न होते हैं वे क्रूर स्वभाव के तथा सौम्य राशि वाले मृदु स्वभाव के और पुरुष राशि में उत्पन्न लोग साहसी एवं स्त्री राशि वाले मृदु स्वभाव के

होते हैं। चर राशि वाले अस्थिर तथा स्थिर राशि वाले स्थिर स्वभाव के और द्विस्वभाव वाले मिश्रित स्वभाव के होते हैं। किसी राशि के स्वामित्व की दिशा के ज्ञान से चोरी गयी हुई वस्तु की दिशा का पता चलता है या चोरी करने वाला व्यक्ति पकड़ा जायगा या हृत वस्तु मिलेगी, आदि का ज्ञान होता है। टालमी एवं बृहज्जातक की बातों में कहीं साम्य है तो कहीं असाम्य। बृहज्जातक (१।२०) एवं लघुजातक (१।६) ने रंगों में भी मेष आदि राशियों को बाँटा है—'लाल, श्वेत, हरा (तोते का रंग), पाटल रंग (पिंक या गहरा लाल), धूम के समान श्वेत, चितकबरा (चित्रविचित्र), काला, सुनहला, पीला, नानाविध रंग, गहरा भूरा (नेवले का रंग), श्वेत। टालमी में यह सब नहीं पाया जाता। राशियाँ चार भागों में विभक्त हैं—मानव (मिथुन, कन्या, तुला, धनु का अग्र रूप एवं कुम्भ), चौपाया या चतुष्पद (मेष, वृष, सिंह, धनु का अन्तिम भाग, मकर का अग्रिम भाग), जलीय (कर्कट, मीन, मकर का अन्तिम भाग) एवं कीट (वृश्चिक)। देखिए टेट्राबिब्लोस, ४।४, पृ० ३८९ एवं ३९१, जहाँ पर यह वर्णन कुछ अन्तर से प्राप्त है।

बृहज्जातक (१७।१-१२) में उन व्यक्तियों के गुणों का वर्णन है जो चन्द्र युक्त मेष तथा आगे की राशियों में उत्पन्न होते हैं और अन्त में (१३वें श्लोक में) जो फल घोषित हैं वे तभी सत्य उतर सकते हैं जब कि चन्द्र, उसकी राशि एवं राशि-स्वामी प्रबल होते हैं। बृ० जा० (१।१९) में ऐसा आया है कि द्विपद राशियाँ (मिथुन, कन्या, तुला, कुम्भ एवं धनु का अग्र भाग) यदि केन्द्र में हों तो दिन में प्रबल होती हैं; चतुष्पद राशियाँ (मेष वृष, सिंह, मकर का अग्र भाग एवं धनु का अन्तिम भाग) केन्द्र में रहने से रात्रि में प्रबल होती हैं; शेष अर्थात् जलीय राशियाँ एवं कीट राशियाँ (कुलीर, वृश्चिक, मीन एवं मकर का अन्तिम भाग) केन्द्र स्थान में सन्ध्या समय शक्तिशाली होती हैं। बृ० जा० (१८।२०) में आया है कि वही (१७वें अध्याय वाला, उपर्युक्त) फल तब भी प्राप्त होता है जब कि व्यक्ति के जन्म का लग्न मेष या कोई अन्य राशि हो।

अब हम ग्रहों के राशियों से सम्बन्धों एवं उनके संयुक्त प्रभावों के उल्लेख पर संक्षेप में प्रकाश डालेंगे। हमने देख लिया है कि वैदिक संहिताओं एवं ब्राह्मणों में बृहस्पति को छोड़कर अन्य सभी ग्रहों के स्पष्ट उल्लेख का सर्वथा अभाव है, कुछ वैदिक सूक्तों में पाँच ग्रह एवं शुक्र (वेन), लगता है, सांकेतिक रूप से आये हैं। असुर के पुत्र स्वर्भानु को अन्धकार द्वारा सूर्य को ढँकते हुए वर्णित किया गया है, अर्थात् ऐसा वर्णन है कि स्वर्भानु ने सूर्य को अन्धकार से ढक लिया (ग्रहण उत्पन्न कर दिया, देखिए ऋ० ५।४०।५, ६, ८ एवं ९)। छान्दोग्योपनिषद् (८।१३) में आया है कि सत्य ज्ञान से पूर्ण आत्मा सभी पापों से मुक्त होने पर शरीर को उसी प्रकार छोड़ देता है जिस प्रकार अश्व अपने शरीर की धूल को केशों द्वारा झाड़ देता है या चन्द्र राहु से मुक्त हो जाता है।[१९] मैत्रायणी उप० में शनि, राहु (ऊर्ध्वगामी पिण्ड) एवं केतु (अधोगामी पिण्ड) का उल्लेख है।[२०] किन्तु वैदिक साहित्य में ग्रहों के ज्योतिष-प्रभावों (फलित) का उल्लेख नहीं मिलता। महाभारत में ग्रहों के दुष्ट प्रभावों की ओर बहुधा संकेत मिलते हैं, किन्तु वे नक्षत्रों तक ही सीमित हैं। राहु एवं केतु आकाश में विश्व-क्षय के लिए उदित होते हुए दर्शित हैं।[२१] कौटिल्य (अर्थशास्त्र २, अध्याय २४, पृ० ११६) ने बृहस्पति के स्थान, गमन एवं मेघीय गर्भाधान से,

१९. अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसम्भवामि। छा० उप० (८।१३)।

२०. शनिराहुकेतूरगरक्षोयक्षनरविहगशरभेभादयोऽधस्तादुद्यन्ति। मैत्रायणी उ० (७।६)।

२१. राहुकेतू यथाकाशे उदितौ जगतः क्षये। कर्णपर्व (८७।९२)।

शुक्र के उदय, अस्त एवं गमन तथा सूर्य के प्राकृतिक एवं अप्राकृतिक प्रभाव से वर्षा के पूर्व ज्ञान, सूर्य से बीज-सिद्धि, बृहस्पति से अनाज की पर्याप्त पुष्टि एवं शुक्र से वर्षा होने का विचित्र उल्लेख किया है। यह द्रष्टव्य है कि भारत में सामान्य ज्योतिष (व्यक्तिगत या कुण्डली वाला नहीं) का प्रचलन, मेसोपोटामिया में राजपुरोहितों द्वारा दिये गये प्रतिवेदनों के समान, ईसा की कई शताब्दियों पूर्व से था। बृहज्जातक (२।२-३) ने सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु एवं केतु नामक ग्रहों एवं उनके पर्यायों का उल्लेख किया है।

बेबिलोनवासियों द्वारा ग्रह-निरीक्षण ई० पू० दूसरी सहस्राब्दी में किया गया था। सर्वप्रथम शुक्र का अध्ययन हुआ। शुक्र-निरीक्षण से उत्पन्न तालिकाएँ ई० पू० १९२१-१९०१ में बनीं। बृहस्पति एवं मंगल का भी निरीक्षण हुआ। बृहस्पति को स्वाभाविक रूप से अच्छा मान लिया गया, जब कि वह चमकदार हो या चन्द्र का अनुसरण करे। किन्तु मंगल अभाग्य का ग्रह था, किन्तु यदि वह दुर्बल हो या अस्त हो गया हो तो बुरे प्रभाव भी नष्ट हो जाते थे। शनि (अटल रूप से खड़ा रहने वाला) भाग्य का ग्रह कहा गया। इसी प्रकार अन्य ग्रहों के काल में उत्पन्न व्यक्तियों के फल कहे गये। बेबिलोनिया में ग्रहों को विभिन्न नाम भी मिले। विभिन्न कालों में ग्रहों के क्रम विभिन्न थे। ग्रह का वाचक अंग्रेजी शब्द 'प्लैनेट' यूनानी है, जिसका अर्थ है घूमने वाला। ग्रह तारों की तुलना में स्थान-परिवर्तन करते रहते हैं और विभिन्न कालों में विभिन्न स्थानों में रहते हैं। वर्तमान काल में तीन अन्य ग्रहों का ज्ञान हुआ है, यूरेनस (Uranus), नेप्चून (Neptune) एवं प्लूटो (pluto) जिनका पता क्रम से १७८१ ई०, १८४६ एवं १९३० ई० में चला।

बृहज्जातक (२।२-३), सारावली (४।१०-११) एवं राजमार्तण्ड (श्लोक ८-१५) ने सूर्य, चन्द्र एवं अन्य सात ग्रहों के विभिन्न नामों का उल्लेख किया है, यथा—

१. **सूर्य** : रवि, भानु, इन, आदित्य, सविता, भास्कर, अर्क, दिवाकर, तिग्मांशु, तपन, सहस्रांशु, प्रभाकर, उष्णकर, उष्णगु, मार्तण्ड, दिनमणि, दिनकर्ता, हेलि।

२. **चन्द्र** : विधु, इन्दु, चन्द्रमा, शीतांशु, सोम, मृगाङ्क, निशाकर, शीतरश्मि, निशानाथ, रोहिणीप्रिय, शशी, शीतगु, नक्षत्रपति।

३. **मंगल** : अंगारक, कुज, भौम, भूमिज, महीसुत, आवनेय, लोहितांग, क्षितिसुत, क्रूराक्ष, माहेय, रुधिर, वक्र, आर।

४. **बुध** : ज्ञ, विद्, बोधन, विबुध, कुमार, राजपुत्र, सौम्य, चन्द्रसुत, तारापुत्र, रौहिणेय, हिमरश्मिज, (हिम्न या हिम्ना)।

५. **बृहस्पति** : गुरु, इज्य, ईड्य, अंगिरा, सुरगुरु, सुरमन्त्री, सुराचार्य, वाक्पति, गिरीश, धिषण, सूरि, जीव।

६. **शुक्र** : भृगु, भृगुसुत, सित, भार्गव, कवि, उशना, दैत्यमन्त्री, दानवपूजित, असुरगुरु, काव्य, आस्फुजित्।

७. **शनैश्चर** : सौरि, सूर्यपुत्र, मन्द, असित, अर्कनन्दन, आर्कि, भास्करि, दिनेशात्मज, सहस्रांशुज, पातंगि, यम, शनि, छायापुत्र, कोण।

८. **राहु** : तम, अगु, असुर, स्वर्भानु, सिंहिकासुत, दानव, सुरारि, भुजंगम, विधुन्तुद, अमृतचौर, उपप्लव।

९. **केतु** : शिखी, ब्रह्मसुत, धूम्रवर्ण।

उपर्युक्त नामों में रेखांकित नाम, कुछ पाश्चात्य लेखकों के मत से, यूनानी नाम हैं। किन्तु बात ऐसी नहीं है। कोई यूनानी नाम चन्द्र के लिए नहीं है। जीव शब्द वेद में आया है। ऋ० (१।१६४।३०, १०।१८।३७) में इसका अर्थ है प्राणी, एक व्यक्ति। देखिए छा० उप० (६।३।२)। जब बृहस्पति सभी ग्रहों में श्रेष्ठ गिना जाने लगा और

ज्ञान एवं सुख का मूल बन गया (जीवो ज्ञान-सुखम्, बृ० जा०, २।१) तो वह प्राणियों का जीवन अर्थात् जीव कहा जाने लगा। 'बृहस्पतिर्नृणां जीवः' अर्थात् बृहस्पति मनुष्यों का जीव है (सारावली, १०।११६)। भुजबल में आया है—"उसका अन्य ग्रह क्या बिगाड़ेंगे जिसकी कुण्डली में बृहस्पति केन्द्र स्थान में हो। हाथियों का झुण्ड एक सिंह द्वारा मारा जाता है।"[22]

हम नीचे ग्रहों की विशेषताओं, यथा रंगों, स्वामियों, दिशाओं, तत्त्व, वेद, वर्णों, प्रभावों आदि की एक तालिका उपस्थित करते हैं।

ग्रह	रंग	स्वामी	दिशा	तत्त्व	वेद	वर्ण(जाति)	शुभ या अशुभ
सूर्य	लाल	अग्नि	पूर्व			क्षत्रिय	हानिकर
चन्द्र	श्वेत	जल	उत्तर-पश्चिम			वैश्य	क्षीण चन्द्र हानिकर
मंगल	अति लाल	कार्तिकेय	दक्षिण	अग्नि	सामवेद	क्षत्रिय	हानिकर
बुध	हरा	विष्णु	उत्तर	पृथिवी	अथर्ववेद	शूद्र	हानिकर ग्रहों से युक्त होने पर हानिकर
बृहस्पति	पीला	इन्द्र	उत्तर-पूर्व	आकाश	ऋग्वेद	ब्राह्मण	शुभकर
शुक्र	विचित्र (चितकबरा)	इन्द्राणी	दक्षिण-पूर्व	जल	यजुर्वेद	ब्राह्मण	शुभकर
शनि	काला	प्रजापति	पश्चिम	वायु		चाण्डाल	अशुभकर
राहु			दक्षिण-पश्चिम				

योगयात्रा (६।१) में आठ दिशाओं के देवताओं एवं उनके ग्रहों में अन्तर प्रदर्शित किया गया है। इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु, कुबेर एवं शिव क्रम से पूर्व, पूर्व-दक्षिण, दक्षिण, दक्षिण-पश्चिम, पश्चिम, पश्चिम-उत्तर, उत्तर एवं उत्तर-पूर्व नामक आठ दिशाओं के देवता या स्वामी हैं। यही बात ग्रहों के विषय में भी है।

इस प्रकार के विभाजन का उपयोग भी बताया गया है—ग्रहों के रंगों से चोरी गयी या खोयी हुई वस्तु का रंग एवं ग्रहों की पूजा के निमित्त फूलों की ओर संकेत मिलता है। ग्रह-पूजा में ग्रहों के साथ ग्रह-स्वामियों की पूजा भी होती है। ग्रहों की दिशाओं से राजा की रण-यात्रा की दिशा का ज्ञान किया जाता है। हितकर या अहितकर ग्रहों से व्यक्ति के अच्छे या बुरे चरित्र का पता चलता है। बृ० जा० (२७) में आया है कि चन्द्र, सूर्य एवं बृहस्पति सत्त्व-गुण के स्वामी हैं, बुध एवं शुक्र रजो-गुण के, मंगल एवं शनि तमोगुण के स्वामी हैं। उत्पल ने प्रकट किया है कि वराह एवं यवनेश्वर में अन्तर है। यवनेश्वर ने सूर्य, मंगल एवं बृहस्पति को सात्त्विक, चन्द्र एवं शुक्र को रजोगुणी,

२२. किं कुर्वन्ति ग्रहाः सर्वे यस्य केन्द्रे बृहस्पतिः। मत्तवारणसंघातः सिंहेनैकेन हन्यते॥ भुजबल (पृ० २८०, १२६२।

शनि को तमोगुणी तथा बुध को अपने साथ संयुक्त ग्रह के गुण को धारण करने वाला माना है। और देखिए बृ०, जा० (२।८-१०) एवं लघुजातक (२।१३-१९) जहाँ ग्रहों की विशेषताओं का वर्णन है। बृ० जा० (२।११, १२, १४) एवं सारावली (४।१५-१६) में एक अन्य तालिका पायी जाती है जिसमें ग्रहों से शासित मानवशरीर, उनके स्थानों, वस्त्रों, रत्नों, मणियों एवं रसों का उल्लेख है—

ग्रह	शरीरांग	स्थान	वस्त्र	रत्न एवं मणि	रस
सूर्य	अस्थियाँ	मन्दिर	भद्दा (मोटा)	ताम्र	उग्र
चन्द्र	रक्त	जल-स्थान	नवीन वस्त्र	रत्न	नमक
मंगल	मज्जा	अग्नि-स्थान	एक भाग जला हुआ	सोना	कटु
बुध	चर्म	क्रीड़ा-स्थल	भींगा	कांस्य	मिश्रित (सभी रस)
बृहस्पति	मांस	कोषागार	न तो नवीन और न बहुत पुराना	चाँदी	मधुर
शुक्र	वीर्य	शय्याकक्ष	मजबूत	मोती	खट्टा
शनि	मांसपेशियाँ	धूलि-बिल	फटा	लोहा	कषाय

ऐसा कहा गया है कि यदि बृहस्पति अपने गृह (अर्थात् धनु या मीन) में हो, तो वह सोने का भी स्वामी होता है।[23] इस प्रकार के नियोजन से व्यावहारिक जीवन पर प्रभाव पड़ता है। ज्योतिषी को, यदि ग्रह प्रबल है, तो पता चल सकता था कि जन्म का स्थान क्या है, उसे चोर का पता भी चल सकता था और यह भी ज्ञात हो सकता था कि भोजन के लिए आमन्त्रित व्यक्ति को किस प्रकार का भोजन मिल सकता है।

बृ० जा० (२।५) में आया है कि सूर्य, मंगल एवं बृहस्पति पुरुष हैं, चन्द्र एवं शुक्र स्त्री हैं तथा बुध एवं शनि नपुंसक हैं। टेट्राबिब्लोस (१।६) में शनि पुंल्लिंग है। बृ० जा० (२।२१) के अनुसार चन्द्र, मंगल एवं शनि निशाप्रबल (रात्रि में शक्तिशाली) हैं, सूर्य, बृहस्पति एवं शुक्र दिवाप्रबल हैं तथा बुध दोनों (दिनप्रबल एवं निशाप्रबल) है। टेट्राबिब्लोस (१।७) में अन्तर है, वहाँ शुक्र को निशाप्रबल और शनि को दिवाप्रबल कहा गया है।

कुछ राशियाँ ग्रहों के **स्वगृह** (अपने गृह) घोषित हैं, कुछ राशियाँ उनकी **उच्च** कही गयी हैं और उच्च के कुछ अंश **परमोच्च** घोषित हैं; उच्च से सातवीं राशि **नीच** कही गयी है और नीच के कुछ अंश **परमनीच** घोषित

२३. अर्कादि ताम्रमणिहेमयुक्तिरजतानि मौक्तिकं लोहम्। वक्तव्यं बलवद्भिः स्वस्थाने हेम जीवेपि।। लघुजातक (उत्पल द्वारा बृ० जा० २।१२ में उद्धृत)। ग्रहों एवं मुख्य धातुओं में जो सम्बन्ध स्थापित किया गया, वह रंगसादृश्य पर निर्भर था। विभिन्न ग्रह शरीर के विभिन्न अंगों पर शासन करते हैं, इस सिद्धान्त ने वैद्यकशास्त्र पर ज्योतिशशास्त्र का प्रभाव डाला।

हैं। सूर्य एवं चन्द्र में प्रत्येक की एक ही राशि स्वगृह है, किन्तु अन्य पाँच ग्रहों की दो-दो राशियाँ स्वगृह हैं। देखिए निम्न तालिका—

ग्रह	स्वगृह	उच्च राशि		नीच राशि	
सूर्य	सिंह	मेष	१० अंश	तुला	१० अंश
चन्द्र	कर्कट	वृषभ	३ अंश	वृश्चिक	३ अंश
मंगल	मेष एवं वृश्चिक	मकर	२८ अंश	कर्कट	२८ अंश
बुध	मिथुन एवं कन्या	कन्या	१५ अंश	मीन	१५ अंश
बृहस्पति	धनु एवं मीन	कर्कट	५ अंश	मकर	५ अंश
शुक्र	वृषभ एवं तुला	मीन	२७ अंश	कन्या	२७ अंश
शनि	मकर एवं कुम्भ	तुला	२० अंश	मेष	२० अंश

उच्च एवं नीच राशियों के बगल के अंश क्रम से परमोच्च एवं परमनीच के द्योतक हैं। इसकी व्याख्या स्फुजिध्वज के यवनजातक एवं मीनराज के वृद्धयवनजातक में की गयी है। सूर्य को सिंह स्वगृह इसलिए दिया गया कि वह अत्यन्त शक्तिशाली राशि है तथा चन्द्र को शीतलता के कारण जल-राशि कर्कट। सूर्य एवं चन्द्र में प्रत्येक ने अन्य पाँच ग्रहों को शेष राशियों में से एक-एक राशि दी है, यथा कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु एवं मकर सूर्य द्वारा बुध, शुक्र, मंगल, बृहस्पति एवं शनि को दी हुई हैं (ये ग्रह दूरी के आधार पर व्यवस्थित हैं) तथा चन्द्र ने उन्हीं पाँचों ग्रहों को मिथुन, वृश्चिक, मेष, मीन एवं कुम्भ में क्रम से एक-एक राशि दी है। टेट्राबिब्लोस (१।१७) ने भी इसी प्रकार की व्याख्या स्वगृहों के विषय में की है और बृ० जा० (१।१३) में निर्णीत उच्च एवं नीच राशियों से उसका मेल बैठ जाता है। किन्तु टालमी ने परमोच्च एवं परमनीच के अंश नहीं दिये हैं।

वह राशि जिसमें उसका स्वामी रहता है, या जिस पर उसके स्वामी की दृष्टि रहती है, या जहाँ बुध या बृहस्पति बैठा रहता है, या जब उस पर उनकी दृष्टि होती है और यदि वह शेष ग्रहों में एक या अधिक ग्रहों से आक्रान्त नहीं रहती, या उस पर किसी की दृष्टि नहीं रहती, तो वह राशि शक्तिशाली (प्रबल) होती है। एक और व्यवस्था है कि वृश्चिक राशि यदि सातवें घर में रहती है, तो प्रबल होती है; मानव राशियाँ (मिथुन, कन्या, तुला, धनु का अग्र भाग एवं कुम्भ) लग्न में। जल-राशियाँ (कर्कट, मीन, मकर का अन्तिम भाग) तब प्रबल होती हैं जब वे चौथे घर में रहती हैं तथा चतुष्पद राशियाँ (मेष, वृष, सिंह, धनु का अन्तिम भाग एवं मकर का अग्र भाग) दसवें घर में प्रबल होती हैं। देखिए बृ० जा० (१।१७)।

ग्रहों की स्वाभाविक शक्तिमत्ता निम्न क्रम में है—शनि, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, चन्द्र, सूर्य में प्रत्येक आगे वाला ग्रह अपने से पीछे वाले से अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली होता है। यदि किन्हीं दो या अधिक ग्रहों

की शक्ति अन्य दृष्टियों से बराबर हो तो इसी क्रम को ध्यान में रखकर यह निश्चय करना चाहिए कि कौन अधिक बलशाली है।[२४]

कुण्डली में ज्योतिष-सम्बन्धी बारह घर होते हैं, और उनमें प्रत्येक के बहुत-से पर्याय हैं, जिनमें बहुत-से यह बताते हैं कि कौन सी विशिष्ट बातें उस घर की दशा से जानी जा सकती हैं। इनका उल्लेख बृ० जा० (१।१५-१९), ल० जा० (१।१५-१९) एवं सारावली (३।२६-३३) में हुआ है, यथा—

कुण्डली के द्वादश स्थान (भाव)

पहला घर : **होरा**, तनु, कल्प, शक्ति, मूर्ति, लग्न, देह, अंग, उदय, वपु, **आद्य**, विलग्न।

दूसरा घर : धन, स्व, कुटुम्ब, अर्थ, कोश।

तीसरा घर : सहोत्थ, विक्रम, पौरुष, सहज, **दुश्चिक्य**।

चौथा घर : बन्धु, गृह, सुहृद्, पाताल, **हिबुक**, वेश्म, सुख, चतुरस्र, अम्बु, जल, अम्बा, यान, वाहन।

पाँचवाँ घर : सुत, धी, पुत्र, प्रतिभा, विद्या, वाक्स्थान, **त्रिकोण**।

छठा घर : अरि, रिपु, क्षत, व्रण।

सातवाँ घर : जाया, **जामित्र, द्यून, द्यूत**, पत्नी, स्त्री, चित्तोत्थ, अस्तभवन, काम, स्मर, मदन।

आठवाँ घर : मरण, रन्ध्र, मृत्यु, विनाश, चतुरस्र, छिद्र, विवर, लय, याम्य।

नवाँ घर : शुभ, गुरु, धर्म, पुण्य, त्रित्रिकोण, **त्रिकोण**, तप।

दसवाँ घर : आस्पद, मान, कर्म, **मेषूरण**, आज्ञा, ख, गगन, तात, व्यापार।

ग्यारहवाँ घर : आय, भव, लाभ, आगम, प्राप्ति।

बारहवाँ घर : व्यय, **रिःफ** (या **रिष्फ**), अन्त्य, अन्तिम।

यह द्रष्टव्य है कि उपर्युक्त भावों के नाम (उपाधियाँ अथवा संज्ञाएँ) दो प्रकार के होते हैं—(१) वे, जो घर के किसी विशिष्ट कार्य का बिना संकेत किये केवल नाम मात्र धारण करते हैं, यथा होरा, दुश्चिक्य, मेषूरण, रिःफ, चतुरस्र; (२) वे, जो घरों के विशिष्ट कार्यों का निर्देश करते हैं, यथा तनु (देह), स्व (धन-सम्पत्ति) या कुटुम्ब, सहज (भाई)।

बहुत-से घरों (भावों) की कुछ विशिष्ट उपाधियाँ या नाम हैं। पहला, चौथा, सातवाँ एवं दसवाँ घर **कण्टक, केन्द्र, चतुष्टय** कहा जाता है; केन्द्र के आगे के घर **पणफर** (दूसरा, पाँचवाँ, आठवाँ एवं ग्यारहवाँ) कहे जाते हैं; तीसरा, छठा, नवाँ एवं बारहवाँ **आपोक्लिम** के नाम से विख्यात हैं; छठा, आठवाँ एवं बारहवाँ **त्रिक** कहलाता है; तीसरा, छठा, दसवाँ एवं ग्यारहवाँ **उपचय** तथा शेष **अपचय** कहे जाते हैं। गर्ग के मत से तीसरा, छठा, दसवाँ एवं ग्यारहवाँ तभी उपचय कहे जाते हैं जब कि उन पर हानिकर ग्रहों की दृष्टि न हो या उनके स्वामी का शत्रु न हो। **त्रिकोण** को यूनानी शब्द कहा गया है।

घरों (भावों) के कतिपय नामों से प्रकट होता है कि उनसे निम्न बातों की भविष्यवाणी की जा सकती

२४. मन्दार-सौम्य-वाक्पति-सित-चन्द्रार्का यथोत्तरं बलिनः। नैसर्गिकबलमेतद् बलसाम्येऽस्मादधिकचिन्ता।। लघुजातक (२।७); उत्पल द्वारा बृ० जा० (२।२१) में उद्धृत; इसका चतुर्थ चरण यह है 'शरुबुगुशुचसाद्या वृद्धितो वीर्यवन्तः' जहाँ 'शरुबुगुशुचस' में क्रम से शनि, रुधिर (मंगल), बुध, गुरु शुक्र, चन्द्र एवं सविता हैं।

है—पहले भाव से स्वास्थ्य एवं शरीर-वृद्धि; दूसरे से कुटुम्ब की सम्पत्ति; तीसरे से भाई (एवं बहिनें) एवं शौर्य; चौथे से सम्बन्धी, मित्र, सौख्य, घर-द्वार एवं माता; पाँचवें से पुत्र, बुद्धि, ज्ञान; छठे से शत्रु एवं व्रण; सातवें से पत्नी, प्रेम-कर्म, विवाह; आठवें से मृत्यु, दोष एवं पाप; नवें से धर्म, बड़े लोग (संमान्य आदि), तप; दसवें से कर्म, मान, स्थिति एवं पिता; ग्यारहवें से अच्छे गुणों की प्राप्ति; बारहवें से व्यय, ऋण आदि।

थिबो (ग्रुण्ड्रिस, पृ० ६८) ने जैकोबी का अनुसरण करके प्रतिपादित किया है कि बारह भावों वाला सिद्धान्त, जो वराहमिहिर द्वारा विकसित किया गया और भारतीय फलित ज्योतिष का एक प्रमुख अंग है, पाश्चात्य देशों में फिर्मीकस मैटर्नस (चौथी शती के मध्य में) के पूर्व नहीं पाया जाता, और यूनानी ज्योतिष का प्रवेश भारत में फिर्मीकस एवं वराहमिहिर के मध्य काल में ही हुआ। दुःख के साथ कहना पड़ता है कि ऐसी उक्ति 'अन्धे व्यक्ति द्वारा अन्धे व्यक्ति का अनुसरण' वाली कहावत चरितार्थ करती है। पहली बात यह है कि टाल्मी के टेट्राबिब्लोस (२।८, पृ० १९१, ३।१०, पृ० २७३-२७५) में भावों की धारणा का अभाव नहीं है, जहाँ पहले, सातवें, नवें, दसवें एवं ग्यारहवें भावों की ओर संकेत है, हाँ यह सत्य है कि टाल्मी ने भावों की पद्धति पर विशेष ध्यान नहीं दिया है। सम्भवतः यह बात जैको बी एवं थिबो को नहीं सूझी। दूसरी बात यह है कि भावों का सिद्धान्त सबसे पहले वराह में ही नहीं आया। स्वयं वराह ने अपने पूर्ववर्ती कतिपय भारतीय लेखकों की ओर संकेत किया है जिनके ग्रन्थों में यह पद्धति भली-भाँति विकसित हो चुकी थी। ऐसा विश्वास नहीं किया जा सकता कि इतना बड़ा विशाल साहित्य लगभग एक सौ वर्षों में ही प्रणीत हुआ और वह भी फिर्मीकस के उपरान्त। इसके अतिरिक्त गर्ग, पराशर जैसे लेखक, जो वेदांगज्योतिष एवं सिद्धान्तों के मध्यकाल में रखे गये हैं (ई० पू० लगभग ८०० एवं ई० के उपरान्त २५० ई० के बीच में), यह सिद्धान्त जानते थे। कर्न (बृ० सं० की भूमिका, पृ० ५०) ने गर्ग को ई० पू० ५० में रखा है।

थिबो ने, आश्चर्य है, ज्योतिष पर विश्वकोश लिखते समय टाल्मी का भी ठीक से अध्ययन नहीं किया और न आथर्वणज्योतिष, वैखानससूत्र, विष्णुधर्मोत्तर जैसे ग्रन्थों की परीक्षा की, जहाँ ज्योतिष नक्षत्रों पर आधारित है। यह सचमुच बड़े आश्चर्य का विषय है। तीसरी बात यह है कि थिबो ने भारत में रहने वाले यूनानियों द्वारा लिखित संस्कृत ग्रन्थों का लेखा-जोखा नहीं लिया, जिनकी ओर वराह ने अधिकतर संकेत किया है, और कहीं-कहीं उनकी बातों का विरोध किया और खण्डन भी किया है तथा उत्पल ने जिनके सैकड़ों वचन उद्धृत किये हैं। देखिए स्फुजिध्वज द्वारा लिखित प्राचीन यवनजातक। ऊपर कहा जा चुका है कि फिर्मीकस के कई शतियों पूर्व कम-से-कम ५ भावों के नाम मिलते हैं। यह सम्भव है कि फिर्मीकस ने वराह के पूर्ववर्ती ज्योतिषाचार्यों के उद्धरण लिये हों और वे आचार्य यूनानी थे और संस्कृत में ही उन्होंने अपने ग्रन्थ लिखे थे। यह भी सम्भव है कि टाल्मी ने भी ऐसा किया हो, क्योंकि वह भावों को जानता था, यद्यपि उसका भाव-सम्बन्धी विवरण नवसिखुवा सा है। इसके अतिरिक्त यह भी बात है कि १२ घरों (भावों) में सभी संस्कृत-ग्रन्थों में यूनानी नामानुवर्ती नाम नहीं मिलते। यूनानी नामों के अनुवर्ती नाम पहले, तीसरे, चौथे, सातवें, दसवें एवं बारहवें भावों तथा कुछ भाव-दलों (यथा केन्द्र, पणफर एवं आपोक्लिम) में पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त कतिपय भावों से प्राप्त कुछ विशिष्ट बातें (जो बृ० जा० में उल्लिखित हैं) फिर्मीकस के कथनों से सर्वथा मेल नहीं खातीं। वराह ने दूसरे भाव को 'कुटुम्ब' एवं 'स्व' (सम्पत्ति) कहा है तो फिर्मीकस ने उसे 'लुक्रम' (अर्थात् कोई अपनी जीविका कैसे कमाएगा) की संज्ञा दी है; वराह में ग्यारहवें भाव का 'आय' नाम है तो फिर्मीकस ने उसे सत्कर्मों की संज्ञा दी है; फिर्मीकस में चौथा भाव पिता या माता-पिता का है तो वराह ने उसे बन्धु (संबन्धी) कहा है। फिर्मीकस में छठा एवं १२वाँ भाव क्रम से सम्पत्ति एवं बन्दीगृह हैं तो वराह ने उन्हें 'वैर' एवं 'व्यय' माना है।

कुछ पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या अभी नहीं हो सकी है। **होरा** का एक अर्थ है 'राशि का अर्ध'। विषम संख्याओं (१, ३, ५, ७, ९, ११) की राशियों के प्रथम अर्ध का देवता है सूर्य, दूसरे अर्ध का देवता चन्द्र है; किन्तु सम राशियों (२, ४, ६, ८, १० एवं १२) के प्रथम अर्ध का देवता चन्द्र है तथा दूसरे अर्ध का देवता है सूर्य (बृ० जा० १।११)। इसका उपयोग यह है कि सूर्य के होरा में उत्पन्न व्यक्ति स्वभाव से उद्योगी या साहसी होता है और जो चन्द्र के होरा में उत्पन्न होता है वह मृदु स्वभाव का होता है। बृ० जा० (१।१२) में कुछ लोगों (यवनेश्वर, उत्पल के अनुसार) का यह मत वर्णित है कि प्रथम होरा का स्वामी वही है जो राशि का स्वामी होता है तथा दूसरे होरा का स्वामी कुण्डली के ११वें घर का स्वामी होता है। इस मत का फल यह होगा कि सभी ग्रह होराओं के स्वामी हो सकते हैं न कि केवल सूर्य एवं चन्द्र ही ऐसे हो सकते हैं, जैसा कि वराह, सत्य आदि का कहना है। प्रत्येक राशि (३० अंश) तीन भागों में बँटी हुई है, जिनमें प्रत्येक में १० अंश होते हैं और वे **द्रेष्काण** (या द्रेक्काण) या दृकाण या दृगाण कहे जाते हैं (बृ० जा० ३।५, सम्भवतः मात्रा के आधार पर ये विभिन्न नाम हैं)। प्रत्येक राशि के तीनों भागों के स्वामी क्रम-से स्वयं राशि के स्वामी (प्रथम भाग के), पाँचवीं राशि के स्वामी (दूसरे भाग के) तथा नवीं राशि के स्वामी (तीसरे भाग के) होते हैं। उदाहरणार्थ, वृषभ के विषय में (जिसका स्वामी शुक्र है) प्रथम, दूसरे एवं तीसरे भागों के स्वामी क्रम से शुक्र, बुध (वृषभ से आगे पाँचवीं का स्वामी) एवं शनि (वृषभ से नवीं का स्वामी) हैं। यही बात अन्य राशियों के विषय में भी है।

'द्रेष्काण' के विषय में दो शब्द आवश्यक हैं। वेबर आदि के मत से यह यूनानी शब्द 'डेकैनोई' (Decanoi) है। 'डेकान' प्राचीन मिस्र में प्रचलित थे जहाँ मूलतः कोई राशि नहीं थी। डेकानल पद्धति ई० पू० तीसरी शती में मिस्र में प्रकट हुई। मूल रूप में डेकान प्रभावशाली नक्षत्र या नक्षत्र-समूह थे जो प्रत्येक दस दिनों की ३६ अवधियों में रात्रि के किन्हीं विशिष्ट घण्टों में उदित होते थे और इन अवधियों से मिस्री वर्ष बनता था। डेकान मूलतः 'जेनाई' (देवता) थे जो मिस्री वर्ष की ३६ दस-अवधियों के स्वामी थे। दस दिनों की प्रत्येक अवधि सूर्यास्त पर पूर्व क्षितिज में उगने वाले आगे के डेकान से संकेतित होती थी। बोचे लेक्लर्क ('एल' ऐस्ट्रॉलोजी ग्रीक, पृ० २१५-२४०) ने कहा है कि मिस्री भाषा में कोई विशिष्ट नाम (यथा यूनानी शब्द 'डेकानोस') नहीं पाया जाता और डेकान के कई पर्याय हैं। बोचे महोदय ने यही सिद्ध किया है कि मिस्री राशियाँ रोम-कालीन हैं और यूनानी राशियों की अनुकृतियाँ हैं।

बृहज्जातक में एक विशिष्ट अध्याय है २७ वाँ, जिसमें ३६ श्लोक हैं। इस अध्याय का नाम द्रेष्काणाध्याय है जिसमें द्रेष्काणों के ३६ देवताओं का उल्लेख है। लगता है, यह अध्याय देवता-अधीक्षकों के रूप में डेकानों की मिस्री धारणा की ओर संकेत करता है। भाषा लाक्षणिक है। यहाँ राशियों के भागों की चर्चा की गयी है। ३६ डेकानों में दो-तिहाई पुरुष हैं और शेष स्त्रीलिंग द्योतक। कुछ पुरुष-नारी मिश्रित आकृतियाँ, चतुष्पद, पक्षी या सर्प भी आते हैं। वराह (२७।२, १९, २१) ने स्पष्ट कहा है कि वे केवल वही विवरण दे रहे हैं जो यवनवर्णित है। टाल्मी के टेट्राबिब्लोस में ऐसा कुछ नहीं है और वराह ने टाल्मी एवं मनिलिअस के पूर्ववर्ती किसी भारतवासी यूनानी के संस्कृत-ग्रन्थ की ओर संकेत किया है। ज्योतिष-सम्बन्धी काव्य 'ऐस्टोनोमिका' के लेखक मनिलिअस ने सन् ९ ई० में डेकानों का प्रयोग किया है, किन्तु प्रतीत होता है कि इनका प्रयोग टाल्मी के काल में यूनान से लुप्त हो गया था। सारावली (४९।२) ने ३६ द्रेष्काणों का विवरण दिया है जो बृहज्जातक से भिन्न है। लगता है, उसके समक्ष कोई ऐसा संस्कृत-ग्रन्थ था जो किसी अन्य यवन का था और वह बृहज्ज
सर्वथा भिन्न था।

अब हम कुछ अन्य पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करेंगे। किसी ग्रह की रा
नवांश, द्वादशांश एवं त्रिंशांश—कुल छः मिलकर ग्रह के **वर्ग** या **षड्वर्ग** कहे जाते हैं

तुला एवं मकर (जो चर राशियाँ हैं) का नवांश **वर्गोत्तम** कहा जाता है, यही बात वृष, सिंह, वृश्चिक एवं कुम्भ (जो स्थिर राशियाँ हैं) के पाँचवें नवांश तथा मिथुन, कन्या, धनु एवं मीन (जो द्विस्वभाव वाली राशियाँ हैं) के नवें नवांश के विषय में भी है (वे भी वर्गोत्तम हैं, बृ० जा० १।१४) और वे शुभ फलदायक हैं। राशियों के वर्गोत्तम-नवांश राशियों के नाम वाले होते हैं। चन्द्र के घर से आगे के दूसरे घर में जब सूर्य को छोड़कर कोई अन्य ग्रह रहता है तो **सुनफा** योग होता है; चन्द्र के घर से आगे १२ वें घर में जब सूर्य को छोड़कर कोई अन्य ग्रह होता है तो **अनफा** योग होता है तथा चन्द्र के घर से आगे के दूसरे तथा १२ वें घर में (अर्थात् दोनों में) जब ग्रह होते हैं तो **दुरुधरा** योग होता है। जब चन्द्र केन्द्र में नहीं होता, या जब केन्द्र में सूर्य के अतिरिक्त कोई अन्य ग्रह नहीं होता और उपर्युक्त तीनों योग नहीं होते तो **केमद्रुम** नामक योग होता है। बृहज्जातक (१३।४) के अनुसार अनफा एवं सुनफा के प्रकार ३१-३१ (प्रत्येक में ३१) होते हैं, दुरुधरा के १८० प्रकार होते हैं। जब कुण्डली में किसी राशि में सूर्य होता है तो उससे आगे की दूसरी राशि **वेशि** कहलाती है (बृ० जा० १।२०)। उपर्युक्त पाँचों शब्द यूनानी कहे गये हैं। 'लिप्ता' शब्द, जिसका अर्थ होता है 'एक अंश का ६० वाँ भाग', भी यूनानी कहा गया है। और देखिए 'हरिज' (होराइजन) जो 'होरोज' (यूनानी) का द्योतक माना गया है। वे शब्द, जिन्हें वेबर, कर्न आदि ने यूनानी ठहराया है, कुल मिलाकर ३७ हैं—क्रिय, तावुरि, जितुम, कुलीर, लेय, पाथेन, जूक, कौर्प्य, तौक्षिक, आकोकेर, हृद्रोग, इत्थ, हेलि, आर, हिम्न, जीव, आस्फुजित, कोण, होरा, द्रेष्काण, केन्द्र, त्रिकोण, पणफर, आपोक्लिम, मेषूरण, दुश्चिक्य, हिबुक, जामित्र, द्यून, रिःफ, अनफा, सुनफा, दुरुधरा, केमद्रुम, वेशि, लिप्ता, हरिज। कुलीर एवं त्रिकोण, कर्न के अनुसार, संस्कृत शब्द हैं। जीव, 'ज्यूस' नहीं है। यूनानी शब्द ज्यूस (या ज्यूस, (zeus)) संस्कृत शब्द द्यौस् से मिलता है किन्तु 'जीव' से नहीं। 'ज्यूस' भारोपीय शब्द है और इसका अर्थ है 'स्वर्ग' या 'आकाश'। 'द्रेष्काण' या 'द्यूतम्' के विभिन्न रूपों की गणना की आवश्यकता नहीं है। 'होरा' शब्द भारतीय ज्योतिष के आरम्भिक काल में तीन अर्थों में प्रयुक्त होता था, जिनमें कोई भी 'घंटा' के अर्थ में नहीं प्रयुक्त हुआ है। यह सम्भव है कि यदि यह यूनानी है तो मिस्र या बेबिलोन से उधार लिया गया है, क्योंकि 'घंटा' के अर्थ में यह पश्चात्कालीन है और यह निश्चित नहीं है कि हिपार्कस (ई० पू० १४०) ने इसे उस अर्थ में प्रयुक्त किया था। यदि उपर्युक्त चार शब्द छोड़ दिये जायँ तो ३३ शब्दों के विषय में यह तर्क किया जा सकता है कि इन पर यूनानी प्रभाव है। इनमें कुछ, यथा राशियों के १२ नामों, ग्रहों के ६ नामों, कुछ भावों, यथा हिबुक, जामित्र, द्यून एवं केन्द्र के कई संस्कृत पर्याय हैं (कभी-कभी एक दर्जन), जिनका प्रयोग बृ० जा० में हुआ है। अतः इन पर भी विचार करना व्यर्थ है। ये 'बृहज्जातक' द्वारा इसलिए प्रयुक्त हुए कि कई भारतीय यूनानियों ने, जिन्होंने संस्कृत में ग्रन्थ लिखे थे, उनका प्रयोग किया था और बृहज्जातक ने विवरण की पूर्णता के लिए उनका प्रयोग किया। यहाँ तक कि 'केन्द्र' शब्द के, जिसका अर्थ है पहला, चौथा, सातवाँ एवं दसवाँ घर, दो संस्कृत पर्याय हैं 'कण्टक' एवं 'चतुष्टय'। इसके संस्कृत एवं यूनानी अर्थों में अन्तर भी है (यूनानी शब्द केण्ट्रान का अर्थ है कील)। अतः केवल १० शब्द, यथा अनफा, सुनफा आदि, ऐसे हैं जिनका भारतीय फलित ज्योतिष में बहुत अल्प योगदान है। ऐसा कहना कि वराह-मिहिर द्वारा विकसित भारतीय ज्योतिष इन शब्दों के प्रयोग के कारण यूनानी ज्योतिष पर आधारित है, बहुत बड़ी भूल एवं दूर का कोलाहल है। यह मानना अत्यन्त सन्देहपूर्ण है कि भारतीय, कुछ ऋषियों या दार्शनिकों को छोड़कर, यूनान गये और वहाँ से लौट कर आने पर उन्होंने यूनानी ज्योतिष का ज्ञान भारत को दिया; प्रत्युत हमारे पास प्रचुर प्रमाण हैं कि यूनानी भारत में बसे, उन्होंने संस्कृत में शिलालेख और विस्तार के साथ ज्योतिष के ग्रन्थ लिखे। देखिए बौचे-लेक्लर्क लिखित 'ल' ऐस्ट्रालाजी (Bouche'-leclerca : 'L' Astrologie Greque) एवं जी० आर० काए (आर्क्योलाजिकल सर्वे आव इण्डिया, मेम्बायर, सं० १८, पृ०

३९-४०) जहाँ क्रम से यूनानी, लैटिन, फ्रेंच नामों और राशियों, ग्रहों आदि के यूनानी शब्दों के विकास पर प्रकाश डाला गया है।

बृ० जा० (२।१५-१७), लघुजातक (२।१०-१२), सारावली (४।२८-३१), मुहूर्त-चिन्तामणि (६।२७-२८) आदि ग्रन्थों में ग्रहों के मित्रभाव, वैरभाव एवं पारस्परिक भिन्नता तथा उदासीनता पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। मित्र एवं शत्रु दो प्रकार के होते हैं—स्वाभाविक एवं प्रासंगिक (तात्कालिक)। देखिए तालिका—

ग्रह	मित्र	शत्रु	उदासीन (या सम)
सूर्य	चन्द्र, मंगल, बृहस्पति	शुक्र, शनि	बुध
चन्द्र	सूर्य, बुध	कोई नहीं	मंगल, बृहस्पति, शुक्र, शनि
मंगल	सूर्य, चन्द्र, बृहस्पति	बुध	शुक्र, शनि
बुध	सूर्य, शुक्र	चन्द्र	मंगल, बृहस्पति, शनि
बृहस्पति	सूर्य, चन्द्र, मंगल	बुध, शुक्र	शनि
शुक्र	बुध, शनि	सूर्य, चन्द्र	मंगल, बृहस्पति
शनि	बुध, शुक्र	सूर्य, चन्द्र, मंगल	बृहस्पति

उपर्युक्त तालिका के परिदर्शन से पता चलेगा कि सम्बन्धों में परस्परता (बदले की भावना) नहीं है। उदाहरणार्थ, बुध का शत्रु चन्द्र है, किन्तु वही बुध को मित्र मानता है; चन्द्र का कोई शत्रु नहीं है, किन्तु शुक्र चन्द्र को शत्रु मानता है। यवनों के अनुसार कोई ग्रह सम (न मित्र न शत्रु) नहीं हैं, या तो वे मित्र हैं या शत्रु।

प्रासंगिक मित्रता एवं शत्रुता के विषय में ये नियम हैं—जब ग्रह प्रत्येक से दूसरे, तीसरे, चौथे, दसवें, ग्यारहवें या बारहवें घर में होते हैं तो वे विवाह, आक्रमण या यात्रा आदि के अवसरों पर मित्र होते हैं, और नहीं तो वे उसी राशि में या ५वें, ६ठे, ७वें, ८वें, ९वें घरों में (प्रत्येक से) शत्रु होते हैं। यहाँ भी विभिन्न मत हैं, जिन्हें हम छोड़ रहे हैं।

ग्रहों का **बल** चार प्रकार का होता है—स्थान, दिशा, चेष्टा, काल के अनुसार। कोई ग्रह अपने स्थान में तभी बलवान् होता है जब कि वह अपने घर में हो, या उच्च हो या अपने मित्र के घर में हो या अपने त्रिकोण में हो या नवांश में हो। यही **स्थानबल** कहलाता है। बुध एवं बृहस्पति पूर्व में (अर्थात् जब वे लग्न में होते हैं) शक्तिमान् होते हैं; सूर्य एवं मंगल दक्षिण में (जब वे १०वें घर में होते हैं); शनि पश्चिम में (सातवें घर में); चन्द्र एवं शुक्र उत्तर में (चौथे घर में) बलवान् होते हैं। इसे **दिग्बल** कहा जाता है। सूर्य एवं चन्द्र उत्तरायण में (अर्थात् मकर से आगे ६ राशियों में) और; शेष ग्रह तभी बलवान् होते हैं जब वे वक्र होते हैं या चन्द्र से संयुक्त होते हैं या जब युद्ध (सूर्य एवं चन्द्र को छोड़कर अन्य ग्रहों के साथ) होता है, इनमें उत्तर वाला अपेक्षाकृत अधिक बलवान् होता है। गर्ग (अद्भुतसागर में उद्धृत) का कथन है कि **ग्रहयुद्ध** तभी होता है जब कोई ग्रह किसी अन्य ग्रह को ढँक लेता है, या जब यह थोड़ा ही ढँकता है, या जब एक का प्रकाश दूसरे के प्रकाश को पृष्ठभूमि में कर देता

है, या जब कोई ग्रह दूसरे से थोड़ा बायीं ओर रहता है। इसको **चेष्टाबल** कहते हैं। चन्द्र, मंगल एवं शनि रात्रि में प्रबल होते हैं, बुध रात एवं दिन दोनों में, अन्य ग्रह दिन में बलवान् होते हैं; क्रूर एवं सौम्य ग्रह क्रम से मास के कृष्ण एवं शुक्ल पक्ष में बलवान् होते हैं; ग्रह अपने द्वारा शासित वर्ष में बलवान् होता है, या अपने सप्ताह-दिन में या होरा में या अपने द्वारा शासित मास में। यही **कालबल** है। यवनेश्वर का कथन है कि शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से दस दिनों तक चन्द्र **मध्यबली** होता है, किन्तु आगे के दस दिनों (शुक्ल एकादशी से कृष्ण पंचमी) तक चन्द्र का बल श्रेष्ठ होता है तथा अन्तिम दस दिनों (कृष्ण षष्ठी से अमावास्या) तक चन्द्र **अल्पबली** होता है, किन्तु यदि चन्द्र पर सौम्य (बृहस्पति आदि) ग्रहों की दृष्टि पड़ती है तो वह सदा बलवान् होता है।

सारावली (५।२) में ग्रह के नौ प्रकार के स्वरूपों का उल्लेख है, यथा **दीप्त** (उच्च-होने पर प्रज्वलित), **स्वस्थ** (अपने घर में सुस्थिर), **मुदित** (मित्र के स्वगृह में प्रसन्न), **शान्त** (शुभ वर्ग में अवस्थित), **शक्त** (चमकते रहने पर सामर्थ्यवान्), **निपीड़ित** (दूसरे ग्रह से पराभूत), **भीत** (नीच होने पर डरा हुआ), **विकल** (सूर्य-प्रकाश हट जाने पर विकल) एवं **खल** (जब वह दुष्ट संगति में रहता है तब दुष्ट होता है)। सारावली (५। ५-१३) ने इन नौ परिस्थितियों में पड़े हुए ग्रह का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

ज्योतिष-ग्रन्थों में अनुश्रुतियों को भी मान्य किया गया है। वराहमिहिर की योगयात्रा (३।१९-२०) में आया है—'सूर्य अंग (बिहार) में उत्पन्न हुआ, चन्द्र यवनों के देश में, मंगल अवन्ती में, बुध मगध में, बृहस्पति सिन्धु में, शुक्र भोजकट में, शनि सौराष्ट्र में, केतु म्लेच्छों के देश में एवं राहु कलिंग में। यदि ये ग्रह प्रभावित होते हैं तो अपनी उत्पत्ति के देशों में कष्ट ढहाते हैं, अतः राजा को उन देशों पर आक्रमण करना चाहिए, जब एक या अधिक ग्रह प्रभावित हों।

भारतीय ज्योतिष का एक अति महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है **दृष्टि**। बृहज्जातक (२।१३), लघुजातक (२।८), सारावली (४।३२-३३) एवं मुहूर्तदर्शन (१।२७) में निम्न नियम हैं—अपने घर में स्थित सभी ग्रह ७वें घर में पूर्ण दृष्टि वाले होते हैं। शनि अपने घर से तीसरी एवं १०वीं राशि पर पूर्ण दृष्टि वाला होता है और अपने घर से तीसरे एवं १०वें ग्रहों पर भी पूर्ण दृष्टि वाला होता है। इसी प्रकार बृहस्पति अपने घर से ५वीं एवं ९वीं राशि पर तथा अपने से ५वें एवं ९वें ग्रहों पर पूर्ण दृष्टि रखता है; मंगल चौथी एवं ८वीं राशियों तथा उनमें से प्रत्येक के ग्रह पर पूर्ण दृष्टि वाला होता है। सूर्य, चन्द्र, बुध एवं शुक्र अपने-अपने घरों से ७वीं राशि पर तथा अपने से ७वें ग्रह पर पूर्ण दृष्टि रखते हैं। सभी ग्रह तीसरी एवं १०वीं पर $\frac{1}{4}$ दृष्टि, ५वीं एवं ९वीं पर $\frac{1}{2}$ दृष्टि तथा चौथी एवं ८वीं पर $\frac{3}{4}$ दृष्टि रखते हैं। इन सात (तीसरी, चौथी, ५वीं, ७वीं, ८वीं, ९वीं एवं १०वीं) राशियों को छोड़कर किसी अन्य राशि (या स्थान) पर किसी ग्रह की दृष्टि स्पष्ट रूप से वर्णित नहीं है तथा आंशिक दृष्टियों का फल भी आंशिक ($\frac{1}{4}$, $\frac{1}{2}$, $\frac{3}{4}$) होता है। टाल्मी में दृष्टियों का ब्यौरा भिन्न है। अतः दृष्टियों के बारे में भी टाल्मी एवं वराहमिहिर में पर्याप्त अन्तर है।

एक अन्य सिद्धान्त है **गोचर**। इसका तात्पर्य है जन्म की राशि से शुभ या अशुभ स्थानों में, अद्यतन अवधि में ग्रहों की शुभ या अशुभ स्थितियों पर विचार-विमर्श। इसका विवेचन मुहूर्तचिन्तामणि में है। उदाहरणार्थ, यदि सूर्य जन्म की राशि से छठे स्थान पर हो तो वह शुभ होता है, किन्तु यदि उसी समय जन्म की राशि से १२वें स्थान पर शनि को छोड़कर कोई अन्य ग्रह अवस्थित हो तो वह शुभ होता हुआ भी अशुभ हो जाता है। किन्तु यह फल तब नहीं होता जब कि ग्रह दूसरे ग्रह का पिता या पुत्र होता है (जैसे, शनि सूर्य का पुत्र तथा बुध चन्द्र का पुत्र है)। इसी प्रकार यदि बुध जन्म-राशि से दूसरे घर में हो या चौथे या छठे या ८ वें या १० वें या ११ वें में हो तथा अन्य ग्रह (चन्द्र को, जो बुध का पिता है, छोड़कर) क्रम से ५वें, तीसरे, ९वें, पहले, ८वें या

१२वें में हों तो बध, जो शुभ है, उस समय के लिए अशुभ हो जाता है। एक शब्द कारक है, जिसकी व्याख्या आवश्यक है। यह जटिल प्रश्न है। बृ० जा० (२२।१) एवं सारावली (७।८ एवं ११) ने इस पर विचार किया है। जितने भी ग्रह अपने गृह या उच्च या मूलत्रिकोण में होते हैं और पहले, चौथे, सातवें एवं दसवें स्थान में होते हैं तो वे एक-दूसरे के कारक होते हैं, किन्तु वह ग्रह, जो कुण्डली के १० वें गृह में होता है, विशिष्ट रूप से कारक होता है। मान लीजिए, लग्न कर्क है और उसमें चन्द्र है (अर्थात् वह चन्द्र का स्वगृह है) और मंगल, शनि, सूर्य एवं बृहस्पति अपने उच्च (मकर, तुला, मेष एवं कर्कट) में हैं, तो वे एक-दूसरे के कारक होते हैं। इस विषय में बहुत-से नियम हैं (बृ० जा० २२, सारावली ६)। सारावली (७।७-१२) ने एक दूसरा अर्थ भी दिया है—प्रत्येक ग्रह विशिष्ट रूप से लोगों से सम्बन्धित होता है, उन पर शासन करता है या कतिपय बातें प्रकट करता है। कवियों, पुष्पों, भोज्यों, मणियों, चाँदी, शंख, लवण, जल, वस्त्रों, भूषणों, नारियों, घी, तिल, तैलों एवं निद्रा का स्वामी चन्द्र है। मांगलिक वस्तुओं, धर्म, ऐश्वर्य-कृत्यों, महत्ता, शिक्षा, नियोगों (आज्ञाओं), पुरों, राष्ट्रों, यानों, शयनों, आसनों, सोना, धान्यों, निवासों एवं पुत्रों का स्वामी बृहस्पति है।

अब हम ग्रहों की दशा एवं अन्तर्दशा पर विचार करेंगे। विंशोत्तरी सिद्धान्त में मनुष्य की कल्पित अधिकतम आयु १२० वर्ष है तथा अष्टोत्तरी में वह १०८ वर्ष है। ये वर्ष ग्रहों में विभिन्न वर्ष-संख्याओं में विभाजित हैं और ऐसा कहा गया है कि दशाओं के विभिन्न विभाजन अन्तर्दशाएँ हैं। यह सिद्धान्त बृहज्जातक के आठवें अध्याय में वर्णित है और इसकी व्याख्या में उत्पल ने यवनेश्वर से बहुत पद्य उद्धृत किये हैं। अष्टकवर्ग का सिद्धान्त बृहज्जातक के नवें अध्याय में उल्लिखित है। कहा गया है कि सात ग्रह एवं लग्न आठ सत्ताएँ हैं और वे अपने पूर्ण या शुभ फल तभी उत्पन्न करती हैं जब कि वे मनुष्य के जीवन की विशिष्ट अवधियों एवं विशिष्ट घरों में हों। स्थान-संकोच से हम इसकी व्याख्या नहीं करेंगे।

बृहत्संहिता, बृहज्जातक तथा यात्रा वाले दो ग्रन्थों में वराहमिहिर ने अपने पूर्ववर्ती ज्योतिषाचार्यों का उल्लेख किया है। यहाँ संक्षेप में उनका उल्लेख होगा। निम्न सूची में सामान्य रूप से खगोल विद्या (ज्योतिःशास्त्र) के ग्रन्थों के नाम नहीं आये हैं। अत्रि, जिन्होंने, बृ० सं० ४५।१ के अनुसार उत्पातों पर लिखा है, वे गर्ग के शिष्य थे; बादरायण (बृ० सं० ३९।१) जिनसे उत्पल ने अपनी टीकाओं में बहुत से पद्य उद्धृत किये हैं, जिनमें एक ऐसा है (बृ० जा० ६।२) जिसमें शिशु की अकालमृत्यु पर यवनेन्द्र का मत वर्णित है; भागुरि (जिसे बृ० सं०, ८५।१ ने शकुनों पर लिखने वाला प्राचीन लेखक माना है); भारद्वाज (बृ० सं० ८५।२ में वर्णित एक लेखक, जिसके ग्रन्थ पर उज्जयिनी के राजा द्रव्यवर्धन ने अपना शकुन-ग्रन्थ आधारित किया); भृगु (बृ० सं० ८५।४३); च्यवन (बृ० यो० २९।३); देवल (बृ० सं० ७।१५ एवं योगयात्रा ९।१२); देवस्वामी (बृ० जा० ७।७); द्रव्यवर्धन (उज्जयिनी का राजा एवं शकुनों पर लिखने वाला); गर्ग (बृ० सं० की टीका में उत्पल ने गर्ग के ३०० से अधिक पद्य उद्धृत किये हैं; बृ० सं० ३५।३ की व्याख्या में उत्पल ने गर्गलिखित मयूरचन्द्रिका ग्रन्थ का उल्लेख किया है, बृ० सं० १।५ की व्याख्या में उसने वेदांगज्योतिष पर गर्ग के ३ पद्य उद्धृत किये हैं); वृद्धगर्ग (उत्पल, बृ० सं० १।११); गार्गी (उत्पल ने बृ० जा० की टीका में इसे उद्धृत किया है, इसका दूसरा नाम है भगवान्); गौतम (बृ० यो० २९।३); जीवशर्मा (बृ० जा० ७।९; उत्पल १३।३); काश्यप (बृ० यो० १९।१); काश्यप (उत्पल, बृ० सं० ४०।२); माण्डव्य (बृ० सं० १०३।३, उत्पल, बृ० जा० ६।६, ११।३ एवं ५, १३।२ एवं १२।४); मणित्थ (बृ० जा० ७।१, ११।९); मय (बृ० सं० २४।२, ५५।२९, ५६।८, बृ० जा० ७।१ आदि); नारद (बृ० सं० ११।५, २४।२); पराशर (बृ० सं० ७।८, १७।३, बृ० जा० ७।१ आदि); पौलिश; पितामह (बृ० सं० १।४); रत्नावलि (बृहद्योगयात्रा २।१); ऋषिपुत्र (बृ० सं० ४८।८५); सत्य (बृ० जा० ७।३, ९-११, १३,

१२।२, २०।१०; बृ० यो० ११।३४); सारस्वत (बृ० सं० ५३।९९); सिद्धसेन (बृ० जा० ७।७); उशना (योगयात्रा ५।३); वज्र (बृ० सं० २१।२); वसिष्ठ (बृ० सं० ५१।८, योगयात्रा २।३, ८।६); विष्णुगुप्त (बृ० जा० ७।७); यवन (बृ० जा० ७।१, ८।९, ११।१, २१।३, २६।१९, २१; लघुजातक ९।६)।

उपर्युक्त लेखकों के ग्रन्थ कई शताब्दियों में बिखरे रहे होंगे, क्योंकि उनकी प्रसिद्धि एवं महत्ता के लिए समय अपेक्षित है। गर्ग से लेकर वराहमिहिर तक पाँच शताब्दियों का समय है। गर्ग का काल ई० पू० ५० है। गर्ग के काल से कम-से-कम दो शतियों उपरान्त टाल्मी का जन्म हुआ और फिर्मिकस उसके ४०० वर्षों के उपरान्त हुआ। गर्ग ने राशियों के विषय में लिखा है, अतः स्पष्ट है कि भारतीयों ने यूनानियों से राशि-ज्ञान नहीं प्राप्त किया। यूनानियों को सिकन्दर के आक्रमण के उपरान्त (ई० पू० चौथी शती) बेबिलोन से कुण्डली-सम्बन्धी ज्योतिष का ज्ञान प्राप्त हुआ था।

'जोडिअक' (Zodiac) नामक यूनानी शब्द के विषय में कुछ जानकारी आवश्यक है। 'ज्योतिष्चक्र' इसका संस्कृत रूपान्तर-सा लगता है। यह शब्द यूनानी शब्द 'जोडिअन' (Zodian) से निकला है जिसका अर्थ है 'छोटे पशु' किन्तु इसका शाब्दिक अर्थ है 'पशुओं का वृत्त'। हेरोडोटस (१।७०) में यह 'अंकित या तक्षित आकृति' के अर्थ में आया है। यह उस समय व्योम-चक्र में कुछ नक्षत्र-दलों की कल्पित आकृतियों में किसी एक के विषय में प्रयुक्त होता था। 'जोडिअक' (राशिचक्र) व्योम की एक मेखला (वृत्त) है जो लगभग १६ अंश चौड़ी है और रविमार्ग द्वारा दो भागों में विभक्त है, जिसमें सूर्य, चन्द्र तथा अन्य ग्रह घूमते हैं। 'साइन्स आव दि जोडिअक' (Signs of the Zodiac) दो अर्थों में प्रयुक्त हो सकता है, यथा (१) नक्षत्रों के १२ दल, जो रविमार्ग (एक्लेप्टिक, Ecleptic) की सन्निधि में बिखरे दीखते हैं और स्थिति-व्यतिक्रम, विस्तार-असाम्य एवं चमक का द्योतन करते हैं; तथा (२) व्योम-मेखला के समान निर्मित (माने हुए) विभाग, जिनमें प्रत्येक ३० अंश (रेखांश) तक विस्तृत है। सामान्यतः यह माना जाता है कि प्रथम अर्थ दूसरे से प्राचीन है। मेइस्सनेर ने संकेत किया है कि बेबिलोन में ई० पू० ६ ठी शती में नेबुचड् नेज्जार के राज्यकाल में (ई० पू० ५६७) केवल नक्षत्रों के चित्र प्रकट किये जा सके थे और बारह नक्षत्र-दल ई० पू० ४१८ के लगभग दारा के राज्य-काल में बने। इन चित्रों का निर्माण किसने किया और इन्हें विभिन्न नाम किसने दिये, इसके विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। सम्भवतः नाम विभिन्न कालों में दिये गये। मेइस्सनेर का कथन है कि ई० पू० १३वीं शती में नक्षत्र-चित्र बन गये थे और उस समय के सीमा-पत्थरों में भी वे पाये जाते हैं।

शियापरेली ने 'ऐस्ट्रानामी इन दि ओल्ड टेस्टामेण्ट' (पृ० ८५) में लिखा है कि बेबिलोन में खड़े पत्थर खेतों में सीमा-चिह्नों (कुदुर्रु, बेबिलोनी भाषा) के रूप में रखे जाते थे या सामान्य लोगों की सूचना के लिए सम्पत्ति-अधिकार के सूचक के रूप में गाड़े जाते थे। इनमें अब तक ३० पत्थर पाये गये हैं, जिन पर आकृतियाँ खिची हुई हैं और इस अर्थ के शिलालेख हैं कि जो उन्हें हटायेगा उस पर भयानक अभिशाप पड़ेंगे। पृ० ८६ पर शियापरेली ने ई० पू० १२ वीं शती के बेबिलोनी स्मारक-चिह्न का चित्र दिया है जिसमें चन्द्र, सूर्य एवं शुक्र केन्द्र स्थल में अंकित हैं और उनके चतुर्दिक् बहुत-सी आकृतियाँ हैं, जिनमें वृश्चिक (बिच्छू), मेष (भेड़, जिसकी पूंछ मछली की है) एवं धनु बड़ी सरलता से पहचाने जा सकते हैं।

ऐसा तर्क किया जा सकता है कि ऋग्वेद की दो ऋचाएँ (१।२४।८ एवं १।१६४।११) राशियों की मेखला का द्योतन करती हैं—'राजा वरुण ने एक चौड़ा मार्ग बनाया है जिससे सूर्य उसका अनुगमन कर

सके'; 'ऋत के चक्र में बारह तीलियाँ हैं और वह बार-बार व्योम में चक्कर काटता है किन्तु थकता नहीं।'[२५]

उपर्युक्त बेबिलोनी सीमा-पत्थर एवं स्मारक-चिह्न यह सिद्ध करने को पर्याप्त हैं कि बेबिलोनिया में ई० पू० १००० के पूर्व ज्योतिष्चक्र की ४ या ५ राशियाँ प्रचलित हो चुकी थीं, किन्तु राशियों की आकृतियों की पूरी सूची बेबिलोनिया (या बेबिलोन) में लगभग ई० पू० छठी शती में प्रचलित हो सकी। सार्टन ने बड़ी सावधानी के साथ यह सम्भावना व्यक्त की है कि ईरान, भारत एवं चीन में बेबिलोनी प्रभाव पड़ा, किन्तु उन्होंने आगे चलकर इस विषय को सन्दिग्ध ही रख छोड़ा (देखिए 'हिस्ट्री आव साइंस, पृ० ७८)। विद्वानों ने यह बात मान ली है कि सब से प्राचीन कुण्डलियाँ मेसोपोटैमिया में ही पायी जाती हैं, न कि यूनान या मिस्र में। सार्टन का कथन है (पृ० ४५३) कि 'होरोस्कोपोस' शब्द बहुत बाद में यूनान में बना, इसका प्रयोग मैनिलियस ने प्रथम शती में तथा क्लीमेंट (अलेक्जेंड्रिया के निवासी) ने (१५०-२२० ई०) तीसरी शती के पूर्वार्ध में किया। इस शब्द का प्रयोग इस काल के पूर्व नहीं जा सकता। अत्यन्त प्राचीन यूनानी कुण्डली मिस्र से ई० पू० ४ में आयी और प्रो० नेयुगेबावर (ई० एस्० ए०, पृ० ८५, जे० ओ० एस्०, जिल्द ६३, पृ० ११५-१२४) का कथन है कि उन्हें ई० पू० ४ से ५०० ई० तक लगभग की ६० कुण्डलियाँ प्राप्त हुई हैं। अत्यन्त प्राचीन डेमोटिक एवं यूनानी कुण्डलियाँ ईसा की प्रथम शती में लिखी गयीं।

हमने ऊपर देख लिया है कि वैदिक काल में न केवल सामान्य ज्योतिष-विद्या (फलित ज्योतिष) का विकास हो चुका था, प्रत्युत नक्षत्रों पर आधारित व्यक्ति-सम्बन्धी ज्योतिष अथर्ववेद के काल से ही पढ़ा जाने लगा था और भाव आदि नामों से मिलती हुई नाम-संख्याओं अथवा पारिभाषिक शब्दों का आरम्भ हो चुका था, जन्म के नक्षत्र पर आधारित भविष्य-वाणियाँ की जाने लगी थीं, इतना ही नहीं, जन्म के नक्षत्र से दूर स्थित नक्षत्रों पर आधारित ज्ञान भी प्राप्त किया जाने लगा था। यह बात पश्चात्कालीन ज्योतिष-विद्या के आरम्भिक स्वरूपों की ओर, जो माध्यमिक काल में अति विकसित हुए (यथा, व्यक्ति का भविष्य जन्म-काल पर ही निश्चित हो जाता है, उसकी नियति का पता कुण्डली से लग सकता है) संकेत करती है। यह ज्ञात है कि भारत का मेसोपोटैमिया एवं पास के देशों से सम्बन्ध अति प्राचीन काल से है। सिकन्दर के आक्रमण के उपरान्त ई० पू० चौथी शती में यह सम्बन्ध और दृढ हो गया। ऐसा कहा जा सकता है कि सिकन्दर के आक्रमण के उपरान्त भारत ने, जहाँ पर नक्षत्र-ज्योतिष विकसित हो चुका था, बेबिलोनी स्मारक-चिह्नों एवं सीमा-पत्थरों पर अंकित राशियों की आकृतियों को लेकर अपने अनुरूप बना लिया।

बोधगया के सीमा-स्तम्भों पर बनी आकृतियों को देखकर यह बात हठात् मन में बैठ जाती है कि भारतीयों ने ई० पू० प्रथम शती में राशियों की आकृतियों की पहचान कर ली थी। स्तम्भों पर वृष से तुला, धनु एवं मकर की आकृतियाँ लक्षित हैं। इससे सिद्ध हो जाता है कि राशि-ज्ञान में भारतीयों ने यूनान से कुछ भी उधार नहीं लिया, जैसा कि वेबर आदि पाश्चात्य विद्वानों ने लिखा है। बोधगया में लक्षित आकृतियाँ बेबिलोनी आकृतियों से बहुत मिलती हैं। अभाग्यवश सभी स्तम्भ सुरक्षित नहीं रह सके हैं। देखिए इस विषय में बरुआ कृत 'गया एवं बुद्ध गया' (पृ० ९०-९२, १२, जिल्द २)।

२५. उरुं हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ। ऋ० (१।२४।८), वाज० सं० (८।२३), तै० सं० (१।४।४५।१); द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य। ऋ० (१।१६४।११), अथर्ववेद (९।९।१३)।

बेबिलोन एवं भारत के आपसी सम्बन्ध के विषय में दो शब्द लिखना अनिवार्य है। ए० एच० राईस का कथन है कि ई० पू० तीसरी शती में बेबिलोन एवं भारत में सांस्कृतिक एवं सम्भवतः सामाजिक सम्बन्ध स्थापित था और यह सम्बन्ध स्थल-मार्ग से ही था, क्योंकि अभी तक जल-मार्ग से सम्बन्ध-स्थापन के विषय में कोई प्रमाण नहीं मिल पाया है। जेनेसिसों एवं राजाओं के हिब्रू इतिहास-कथाओं में आये हुए तमिल शब्दों से सिद्ध होता है कि फिलस्तीन में मोर, चावल, भारतीय चन्दन आदि का प्रयोग होता था। लगभग ई० पू० १४०० के बोगोजकेई शिलालेख में हित्तियों के राजा एवं मितन्नी के राजा के मध्य हुई सन्धियों से प्रकट होता है कि मितन्नी के वंश के लोगों के देव-दल में वैदिक देव भी सम्मिलित थे, यथा इन्द्र, वरुण, मित्र एवं नासत्य। इतना ही नहीं, बोगोजकेई के ग्रन्थरक्षागारों वाले चार पत्रकों के आलेखनों से स्पष्ट हो गया है कि मितन्नी देश के किसी किक्कुली नामक व्यक्ति ने अश्वों के शिक्षण पर जो ग्रन्थ लिखा है उसमें बहुत-से ऐसे पारिभाषिक शब्द हैं जो संस्कृत शब्दों से मिलते हैं और मितन्नी, नूज़ी एवं सीरिया के राजाओं एवं सामन्तों के नाम भारोपीय मूल के ही हैं। बावेरु-जातक ने बेबिलोन एवं भारत के पारस्परिक व्यापार का उल्लेख किया है। यूनानी राजदूत, यथा मेगस्थनीज (जिसे सिल्यूकस ने चन्द्रगुप्त मौर्य के पास भेजा था), देईमेकस (जो चन्द्रगुप्त मौर्य के पुत्र बिन्दुसार के राजत्व-काल में आया था), भारत में भेजे गये थे और यह कहना ठीक ही है कि भारत से भी सेलूसिड एवं टालेमिक दरबारों में लोग जाते थे और इस प्रकार का आदान-प्रदान अशोक द्वारा भेजे गये धर्मदूतों से बहुत पहले से ही प्रचलित था। अशोक ने पाँच राजाओं के पास बौद्ध धर्मदूत भेजे थे, जिनके नाम ये हैं—अन्तियोग (सीरिया के ऐण्टिओकस), तुरमय (मिस्र के टालमी द्वितीय), अन्तिकिन (मैसीडोनिया के एण्टिगोनस), मगा (सीरिन के मगस) एवं (इपिरस के) अलिकसुन्दर। मैथ्यू के गॉस्पेल (१।१-२) में आया है कि बेथलहेम में जब ईसा का जन्म हुआ तो पूर्व से विज्ञ लोग जेरूसलेम में यह कहते हुए आये कि उन्होंने पूर्व में नवजात शिशु के रूप में प्रकट होते हुए नक्षत्र को देखा है और वे उसकी पूजा करने को आये हैं। फिलोस्ट्रेटस द्वारा लिखित टायना के अपोल्लोनियस के जीवनवृत्त (तीसरी शती के प्रथम चरण) में आया है कि भारत में बेबिलोनियों का आदर-सत्कार होता था और भारतीय राजा इआर्चस ने अपोल्लोनियस को सात अँगूठियाँ दी थीं जिनके नाम सात ग्रहों पर आधारित थे और जिन्हें उसे सप्ताह के दिनों में पहनना था।

यहाँ पर यही सिद्धान्त प्रतिपादित करने का प्रयत्न हो रहा है कि भारतीयों ने बेबिलोन में स्मारक-चिह्नों एवं सीमा-पत्थरों पर अंकित राशि-आकृतियों को देखकर, लगभग ई० पू० चौथी एवं तीसरी शती में, वहाँ के ज्ञान को अपने यहाँ प्राचीन काल से प्रचलित नक्षत्र-ज्योतिष में यथास्थान मिलाया और राशि-ज्योतिष का विकास अपने ढंग से किया। वराहमिहिर ने द्रेष्काणों की चर्चा करते हुए स्पष्ट लिखा है कि वे यवनों के मतों का दिग्दर्शन करा रहे हैं। यदि सम्पूर्ण भारतीय ज्योतिष यवनों से लिया गया होता तो वराहमिहिर उसे स्पष्ट कहते और उनके मतों का विवरण क्यों उपस्थित करते?

> म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्।
> ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैवविद् द्विजः।। (बृहत्संहिता २।१५)

वराहमिहिर के इस कथन से स्पष्ट है कि यवन ज्योतिष-परम्परा एवं भारतीय ज्योतिष-परम्परा एक ही नहीं थी और यवनों ने ज्योतिष पर संस्कृत में ग्रन्थ लिखे थे। वराह ने स्पष्ट रूप से कई बातों पर यवनों से विरोध प्रकट किया है।[२६] ई० पू० २०० के आसपास वासन्तिक विषुव (दिन-रात्रि का समभान) मेष राशि की

२६. वराह एवं यवनों के अन्तर्विभेदों में कुछ निम्न हैं : (१) यवनों के मतों के अनुसार सभी ग्रह होरा

मण्डलीय रेखा के आरम्भ में था, जो मेष राशि की आकृति से सर्वथा मिलती-जुलती थी। भारतीय ज्योतिर्विद्, जब मेष आदि राशियों का प्रयोग करने लगे, तो वे राशियों की गणना में कृत्तिका से आरम्भ करने की परिपाटी छोड़ कर अश्विनी नक्षत्र से करने लगे और उसे प्रथम नक्षत्र के रूप में मानने लगे, यद्यपि उत्तरा-भाद्रपदा की अग्रगति के कारण वासन्तिक विषुव का बिन्दु पीछे रह गया था। ईसा पूर्व की शतियों में राशि-पद्धति के विषय में भारतीय ज्योतिषियों के प्रारम्भिक प्रयासों का विकास जानना एवं उसका वर्णन करना कठिन है, क्योंकि वराहमिहिर के श्रेष्ठ ग्रन्थ बृहज्जातक ने सभी पूर्ववर्ती ग्रन्थों को ग्रस लिया और वे क्रमशः काल के मुख के ग्रास हो गये, और यही बात टाल्मी के दो ग्रन्थों 'सिण्टैक्सिस' (या एल्मागेस्ट) एवं 'टेट्राबिब्लोस' के विषय में भी है, क्योंकि उन्होंने भी अपनी श्रेष्ठता से अपने पूर्ववर्ती यूनानी ज्योतिष-ग्रन्थों की श्री छीन ली और वे इन दोनों के प्रभाव के कारण क्रमशः विलुप्त हो गये। यद्यपि सभी विद्वानों ने यह माना है कि यूनानी कुण्डली-ज्योतिष बेबिलोनी ऐस्ट्रॉनॉमी (ज्योतिःशास्त्र) एवं ऐस्ट्रॉलॉजी (फलित ज्योतिष) से प्रभावित हुआ था, किन्तु दोनों के बीच की सम्बन्ध-रेखा विलुप्त हो गयी है। यह सम्भव है कि भारतीय एवं यूनानी पद्धतियों में बहुत-सी समान बातें पायी जायँ, क्योंकि दोनों पर बेबिलोनी पद्धति का प्रभाव था। किन्तु ऐसा कहना कि भारतीय पद्धति, जो वराहमिहिर द्वारा विकसित हुई, फिर्मिकस एवं पौलस अलेक्जेण्ड्रिनस से उधार ली गयी, सर्वथा भ्रामक है। प्रो० नेयुगेबावर ने, ऐसा कहते हुए कि सूर्यसिद्धान्त यूनानी केन्द्रभ्रष्ट एवं परिधि-विधियों (एक्सेण्ट्रिक एवं एपिसाइक्लिक डीवाइसेज) पर अवलम्बित है, स्वीकार किया है कि वे विधियाँ भारतीयों द्वारा परिमार्जित की गयीं। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि अनुकरण नहीं हुआ प्रत्युत प्रारम्भिक प्रेरणा का बुद्धिमानी से परिमार्जन किया गया। हमने पहले ही देख लिया है कि बृहज्जातक द्रेष्काणों एवं भावों (कुण्डली के स्थानों) के बारे में फिर्मिकस से मतैक्य नहीं रखता। प्रस्तुत लेखक की यही प्रमुख धारणा है और प्रतिपादन है कि भारतीय ज्योतिष में टाल्मी के पूर्व ही राशियों एवं भावों के विषय में विकास हो गया था।

कुण्डलियों अथवा जन्मपत्रों का निर्माण केवल व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं है, प्रत्युत कम्पनियों, जहाजों, पशुओं, गृह-नीवों, नगरों एवं देशों के जन्मपत्र भी बनते हैं। जब कोई व्यक्ति कोई बात जानने के लिए ज्योतिषी के पास जाता है तो ज्योतिषी प्रश्न करने के काल की राशि (लग्न) का ज्ञान करता है। उस दिन एवं काल के ग्रहों के स्थानों की गणना करता है और तब शकुन एवं भावी लक्षण आदि बताता है।[२७] जन्म-पत्रिका बनाने के

(राशि के अर्धांश) के स्वामी हो सकते थे, किन्तु बृहज्जातक (१।११-१२) में ऐसी बात नहीं है; (२) यवनों के अनुसार चन्द्र कभी भी हानिकर ग्रह नहीं है, किन्तु बृ० जा० (२।५) इसे कुछ बातों में अहितकर मानता है; (३) यवनों ने मंगल को सात्त्विक माना है, किन्तु बृ० जा० (२।७) ने इसे तामसिक माना है; (४) यवनों के अनुसार ग्रह आपस में केवल मित्र या शत्रु हो सकते हैं, किन्तु बृ० जा० (२।१५) में आया है कि वे न तो मित्र ही हो सकते हैं और न शत्रु; (५) यवन एवं वराह (बृ० जा० २।१८) ग्रहों की तात्कालिक मित्रता एवं शत्रुता के विषय में मतैक्य नहीं रखते; (६) यवनों ने वज्रयोग की चर्चा की है, किन्तु बृ० जा० (१२।३ एवं ६) के मत से ऐसा योग असम्भव है; (७) यवनों के मत से केवल कुम्भ-द्वादशांश अशुभ है, किन्तु बृ० जा० (२१।३) ने इसमें दोष दिखाया है।

२७. प्रश्न-काल से सम्बन्धित ज्योतिष पर दो प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं, वराहमिहिर के पुत्र पृथुयशा की षट्पञ्चाशिका एवं उत्पल की आर्यासप्तति। प्रथम ग्रन्थ के दो श्लोक ये हैं—'होरास्थितः पुर्णतनुः शशांको जीवेन दृष्टो यदि वा सितेन। क्षिप्रं प्रणष्टस्य करोति लब्धिं लाभोपयातो बलवान् शुभश्च॥ दूरगतस्यागमनं सुतधनसहजस्थितैर्ग्रहैर्लग्नात्।

लिए वर्ष, मास, दिन, घण्टा या घटिका एवं जन्म का स्थान जानना आवश्यक है। बम्बई, पूना या कलकत्ता जैसे नगरों के अक्षांशों एवं देशान्तरों के आधार पर पंचांग बनते हैं। ये ऐसी तालिकाओं (सारणियों) का निर्माण करते हैं जिनके अनुसरण से व्यक्ति के जन्म-काल की राशि का ज्ञान होता है। किन्तु इन नगरों की तालिकाओं से अन्यत्र बने पंचांगों में उचित लग्न के ज्ञान की यथार्थता नहीं पायी जा सकती। जन्म-पत्र वर्ग-आकृतियों में या वृत्त-आकृतियों में बनते हैं, किन्तु वर्ग-आकृतियों में भी लग्न रखने के कई भेद हैं (जन्म के समय क्षितिज में उदित होती हुई राशि ही लग्न है)।

सौम्यैर्नष्टप्राप्तिः लब्धागमनं गुरुसिताभ्याम्॥' (५ एवं ३५)। ३५ वें श्लोक में प्रयुक्त 'लग्नात्' का अर्थ है प्रश्न के समय का लग्न। उसी ग्रन्थ का ५५ वां श्लोक है—'अंशकाज्ज्ञायते द्रव्यं द्रेष्काणैस्तस्कराः स्मृताः। राशिभ्यः कालदिग्देशा वयो जातिश्च लग्नपात्॥' इसका अर्थ है 'प्रश्न करते समय के लग्न के नवांश से हृत वस्तु का संकेत मिलता है, लग्न के द्रेष्काणों से चोर की विशेषताओं का पता चलता है (जैसा कि बृ० जा० अध्याय २७ में उल्लिखित है), राशियों से समय, दिशा एवं स्थान का परिज्ञान होता है, तथा लग्न के स्वामी से चोर की अवस्था एवं जाति जानी जाती है।'

अध्याय १७

धार्मिक कृत्यों के मुहूर्त

अब हम धार्मिक कृत्यों एवं व्यक्तियों के कर्मों के लिए व्यवस्थित मुहूर्तों पर प्रकाश डालेंगे। किन्तु ऐसा करने में हम थोड़े ही कृत्यों एवं कर्मों का उल्लेख करेंगे।

सर्वप्रथम कुछ सामान्य नियमों का उल्लेख आवश्यक है। आथर्वण ज्योतिष[1] का कथन है कि यदि व्यक्ति सफलता चाहता है तो उसे **तिथि, नक्षत्र, करण** एवं **मुहूर्त** पर विचार करके कर्म या कृत्य करना चाहिए; यदि उचित तिथि न मिल सके तो शेष तीनों पर आश्रित होना चाहिए, यदि प्रथम दो (अर्थात् तिथि एवं नक्षत्र) न प्राप्त हो सकें तो अन्तिम दो का आश्रय लेना चाहिए, किन्तु यदि प्रथम तीन (तिथि, नक्षत्र एवं करण) न प्राप्त हो सकें तो केवल मुहूर्त का सहारा लेना चाहिए, किन्तु यदि शीघ्रता हो और इन चारों में कोई उपलब्ध न हो सके तो ब्राह्मणों के उद्घोष से कि आज शुभ दिन है, उसे कर्म करना चाहिए और ऐसा कर देने से सफलता मिलती है। कुछ धार्मिक कृत्य प्रतिपादित कालों में ही होने चाहिए, उन परिस्थितियों में बृहस्पति एवं शुक्र की अवस्था (बाल्य एवं वृद्धावस्था), बृहस्पति का सिंह राशि में होना, या दक्षिणायन तथा मलमास का ध्यान नहीं रखना चाहिए, यथा पुंसवन से लेकर अन्नप्राशन तक के कृत्यों में। राजमार्तण्ड[2] में आया है कि 'आर्त अवस्था में ग्रहों एवं दिनों की ज्योतिष-स्थिति पर विचार नहीं करना चाहिए, भृगु ने कहा है कि ये नियम (शुभ स्थितियों से संबंधित) तभी माने जाने चाहिए जब जीवन स्वस्थ हो (बातें ठीक दशा में हों)।' सोम, बुध, बृहस्पति एवं शुक्र वार सभी कर्मों के लिए शुभ फलदायक हैं; केवल वे ही कर्म रविवार, मंगलवार एवं शनिवार को सफल होते हैं जिनको करने के लिए वे प्रतिपादित हों अथवा उचित ठहराये गये हों। किन्तु नारदीय पुराण (१।५६।३५९-६०) का कथन है कि बुधवार, बृहस्पतिवार एवं शुक्रवार सर्वोत्तम हैं, रविवार एवं सोमवार की स्थिति मध्यम है तथा अन्य दो, मंगलवार एवं शनिवार उपनयन के लिए निन्द्य ठहराये गये हैं।[3]

सामान्य नियम यह है कि सभी संकल्पित कर्म सफल होते हैं यदि वे तब किये जायँ जब लग्न से तीसरे, छठे, १० वें एवं ११ वें घर किसी शुभ ग्रह के साथ हों या उन पर किसी शुभ ग्रह की दृष्टि हो और जब लग्न

१. चतुर्भिः कारयेत्कर्म सिद्धिहेतोर्विचक्षणः। तिथिनक्षत्रकरणमु र्तेनेति निश्चयः॥ दूरस्थस्य मुहूर्तस्य क्रिया च त्वरिता यदि। द्विजपुण्याहघोषेण कृतं स्यात्सर्वसम्पदम्॥ आथर्वणज्योतिष (७।१२ एवं १६)।

२. ग्रहवत्सरशुद्धिश्च नार्तं कालमपेक्षते। स्वस्थे सर्वमिदं चिन्त्यमित्याह भगवान्भृगुः॥ राजमार्तण्ड (श्लोक ३८८)।

३. सोमसौम्यगुरुशुक्रवासराः सर्वकर्मसु भवन्ति सिद्धिदाः। भानुभौमशनिवासरेषु च प्रोक्तमेव खलु कर्म सिध्यति॥ रत्नमाला (३।१५); आचार्यसौम्यकाव्यानां वाराः शस्ताः शशीनयोः। वारौ तु मध्यमौ चैव व्रतेन्यौ निन्दितौ मतौ॥ नारदीयपुराण (१।५६।३५०-६९)।

दोनों से संयुक्त हो, जब ८ वाँ एवं १२ वाँ घर दोष रहित हो और चन्द्र तीसरे, छठे, १०वें या ११वें घर में हो (मुहूर्तचिन्तामणि, २।४४)।

यह द्रष्टव्य है कि हमारे मध्यकालिक धर्मशास्त्रकारों ने आरम्भिक सरल उत्सवों एवं कृत्यों को मुहूर्त के विस्तारों से बोझिल बना डाला है।

संस्कारों में हम सर्वप्रथम **जातकर्म** (बच्चे के जन्म के समय के कृत्य) को उठाते हैं। रत्नमाला में आया है--जातकर्म का सम्पादन मृदु, ध्रुव, क्षिप्र या चर नक्षत्र में होना चाहिए, सन्त लोग **नामकरण** के लिए बृहस्पति या शुक्र की चतुष्टय स्थिति (शिशु की कुण्डली के पहले, चौथे, सातवें या दसवें भाव) की प्रशंसा करते हैं (१३।२)।[4] जन्म के विषय में कुछ लेखक (यथा, मुहूर्तमार्तण्ड, ४।१९) **गण्डान्त** की चर्चा करते हैं, जो जन्म, विवाह, यात्रा या आक्रमण के लिए अशुभ है; अर्थात् १५ वीं तिथि का दो घटिकाओं तक प्रतिपदा से सायुज्य, इसी प्रकार एक घटिका के अर्ध भाग तक जब कर्क एवं सिंह, या वृश्चिक एवं धनु, या मीन एवं मेष संयुक्त हों, और चार घटिका तक जब रेवती एवं अश्विनी, आश्लेषा एवं मघा, ज्येष्ठा एवं मूल एक-दूसरे से संयुक्त हों। ये गडान्त सायुज्य बच्चे के पिता या माता आदि के लिए हानिकारक होते हैं। इसी प्रकार के फल की घोषणा आश्लेषा एवं मूल के कुछ भागों में हुए जन्म के विषय में भी की गयी है। नामकरण के विषय में मनु ने कहा है कि जन्म के उपरान्त १० वें या १२ वें दिन में या किसी शुभ तिथि में या शुभ गुण वाले मुहूर्त या नक्षत्र में इसका सम्पादन होना चाहिए।[5] **चौल या चूडाकर्म** के विषय में आश्व० गृ० (१।१७।१) में आया है कि इसका सम्पादन कुलपरम्परा के अनुसार जन्म के उपरान्त तीसरे वर्ष में होना चाहिए; किन्तु मनु (२।२५) के अनुसार यह पहले या तीसरे वर्ष में सम्पादित हो सकता है। चौल, उपनयन, गो-दान एवं विवाह के विषय में आश्व० गृ० (१।४।१-२) ने कहा है कि इनका उचित काल है उत्तरायण, शुक्लपक्ष तथा शुभ नक्षत्र। आपस्तम्बगृह्यसूत्र (१६।३) में आया है कि चौल का सम्पादन जन्म के तीसरे वर्ष में पुनर्वसु नक्षत्र में होना चाहिए। किन्तु मध्यकालिक धर्मशास्त्रलेखकों ने बहुत-सी बातें भर दी हैं। देखिए राजमार्तण्ड (जिसमें इस विषय में ३२ श्लोक हैं), स्मृतिच० (१, पृ० २३), अपरार्क (पृ० २९, याज्ञ० १।११-१२)।

ऐसे ही नियम प्रौढ लोगों के सामान्य क्षौर (बाल बनवाने) के विषय में भी हैं। कुछ श्लोक यों हैं--'निम्नोक्त नक्षत्र क्षौर के लिए हितकर हैं--हस्त, चित्रा, स्वाती, मृगशिरा, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषक्, रेवती, अश्विनी, ज्येष्ठा, पुष्य एवं पुनर्वसु या जब नक्षत्र उदित होते समय चन्द्र से युक्त हो और **ताराबल** हो। मकर, धनु, कन्या, मिथुन या वृष के उदय के समय भी क्षौर का सम्पादन प्रतिपादित है। ऐसा करने से सम्पत्ति, शक्ति एवं बुद्धि का विकास होता है। जब किसी अन्य राशि के उदित होते समय क्षौर किया जाता है तो व्याधि, भय की उत्पत्ति होती है। राजा की आज्ञा, ब्राह्मण की सम्मति, विवाह के समय, मृत-सूतक पर, बन्दीगृह से छूटने पर तथा किसी वैदिक यज्ञ की दीक्षा लेने के समय क्षुरकर्म सब समय आज्ञापित है।'[6]

४. मृदुध्रुवक्षिप्रचरेषु भेषु सूनोर्विधेयं खलु जातकर्म। गुरौ भृगौ वापि चतुष्टयस्थे सन्तः प्रशंसन्ति च नामधेयम्॥ रत्नमाला (१३।२)।

५. नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत्। पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते॥ मनु (२।३०)।

६. हस्तात्रयं मृगशिरः श्रवणत्रयं च पौष्णाश्विशक्रगुरुभानि पुनर्वसू च। क्षौरे तु कर्मणि हितान्युदयक्षणे च युक्तानि चोडुपतिना यदि शस्ततारा:॥ क्षौरं प्रशस्तं मृगचापलग्ने कन्याख्यलग्ने मिथुने वृषे च। पुष्टिं बलं

अब हम उपनयन के मुहूर्त की चर्चा करेंगे। यह संस्कार दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संस्करों में एक है। आश्व० गृ० (१।४।१) ने चार संस्कारों के लिए एक बहुत सरल नियम दिया है, जिसका उल्लेख अभी थोड़ी दूर पहले किया जा चुका है। आप० ध० सू० (१।१।१।१९) के मत से ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य का उपनयन क्रम से वसन्त, ग्रीष्म एवं शरद में होना चाहिए और अवस्था गर्भाधान के उपरान्त क्रम से ८, ११ एवं १२ वर्ष होनी चाहिए। देखिए यही बात मनु (२।३६) एवं याज्ञ० (१।१४) में। यह द्रष्टव्य है कि न तो किसी सूत्र ने और न मनु एवं याज्ञ० की स्मृतियों ने इस विषय में ग्रह-स्थिति या राशियों या सप्ताह-दिनों या मासों की स्थिति का उल्लेख किया है। आगे चल कर बहुत से नियम बनते और जुटते चले गये। राजमार्तण्ड में ७० श्लोक (३०४ से ३७३ श्लोक) हैं। इसके अनुसार वर्ष-गणना गर्भाधान से की जाती है। उपनयन के लिए उचित मुहूर्त प्राप्त करना बड़ा दुष्कर कार्य हो गया है। एक नियम यह है—उपनयन एवं विवाह आदि शुभ कृत्य जन्म के नक्षत्र, मास, दिन पर नहीं होने चाहिए और जेष्ठ पुत्र या ज्येष्ठ पुत्री के शुभ कृत्य ज्येष्ठ मास में नहीं किये जाने चाहिए। जन्म मास के विषय में ऋषियों में मत-भेद है। वसिष्ठ के मत से केवल जन्म-मास वर्जित है; गर्ग के अनुसार जन्म से केवल आठ दिन, अत्रि के अनुसार केवल दस दिन और भागुरि के अनुसार जन्म से केवल १५ दिन वर्जित हैं (राजमार्तण्ड, नि० सि०, पृ० २६३ में उद्धृत)। उपनयन-सम्पादन चन्द्र के न रहने पर (जब वह सूर्य की किरणों से न चमके), शुक्र के छिप जाने पर, जब सूर्य राशि के प्रथम अंश में रहे, अनध्याय (वेदाध्ययन जब वर्जित हो) के दिनों में तथा गलग्रह में नहीं होना चाहिए (अपरार्क, पृ० ३२; स्मृतिच० १, पृ० २७; हेमाद्रि, काल, पृ० ७५१)। कुछ तिथियाँ एवं काल गलग्रह कहलाते हैं, यथा सप्तमी से विद्ध अष्टमी, त्रयोदशी से चतुर्दशी, प्रतिपदा से द्वितीया आदि। यदि बृहस्पति जन्म की राशि से दूसरी, ५ वीं, ७ वीं, ९ वीं या १० वीं राशि में हो तब वह अति शुभ है; जब वह जन्म-राशि से प्रथम, तीसरी, छठी या १० वीं राशि में हो तो शान्ति कृत्य से शुद्ध होने पर शुभ होता है; किन्तु जब बृहस्पति जन्म-राशि से चौथी, ८ वीं या १२ वीं राशि में हो तो वह अशुभ माना जाता है (मुहूर्तचिन्तामणि ५।४६)।

ज्योतिषियों ने एक सुविधाजनक सिद्धान्त यह निकाला है कि दुष्ट ग्रह का शमन किया जा सकता है और हानिकर फल दूर किये जा सकते हैं, या यदि सम्पूर्ण दोष दूर न किया जा सके तो शान्ति कृत्यों के द्वारा उनका प्रभाव कम किया जा सकता है, या रत्नों या धातुओं आदि के व्यवहार से दोष का शमन हो सकता है। यथा मंगल एवं सूर्य को प्रसन्न करने के लिए मूँगा पहनना चाहिए, शुक्र एवं चन्द्र के लिए चाँदी, बुध के लिए सोना, बृहस्पति के लिए मोती, शनि के लिए लौह तथा अन्य दो (राहु एवं केतु) के लिए राजावर्त धारण करना चाहिए (रत्नमाला, १०।१५; पीयूषधारा, मु० चि० ४।११)। और देखिए रत्नमाला (१०।२९), बृ० सं० (१०३।४८)।

उपनयन में बृहस्पति को बड़ी महत्ता प्राप्त है, क्योंकि वह देवों का गुरु है एवं वाणी का स्वामी है और उपनयन का सम्बन्ध वेदाध्ययन से है। बृहस्पति की स्थिति पर ध्यान दिया जाता है। किन्तु बृहस्पति के ठीक न रहने पर कुछ अपवाद भी लक्षित किये गये हैं। एक अपवाद यह है—'यदि बृहस्पति जन्म-राशि से ८ वें घर में हो या सिंह राशि (जो सूर्य का स्वगृह है) में हो या नीच (मकर में) हो, या अपने शत्रु के घर में हो तो भी उपनयन

बुद्धिविवर्धनं च शेषेषु रोगं कुरुते भयं च ॥ नृपाज्ञया ब्राह्मणसंमतेन विवाहकाले मृतसूतके च। बद्धस्य मोक्षे क्रतुदीक्षणे च सर्वेषु शस्तं क्षुरकर्म भेषु॥ राजमार्तण्ड (२५८, २७२, २७९), भुजबल (पृ० १३०-१३१), अपरार्क (पृ० ३०), स्मृतिच० (१, पृ० २३)। अन्तिम श्लोक बृ० सं० (९८।१४) में भी है।

शुभ होता है यदि चैत्र में सम्पादित हो, जब कि सूर्य मीन (बृहस्पति के स्वगृह) में हो।' यह अपवाद इसलिए है कि उपनयन का मुख्य काल है गर्भाधान से आठवाँ वर्ष और अन्य दशाएँ गौण महत्त्व की होती हैं (धर्मसिन्धु, पृ० २०१)। ब्राह्मणों के उपनयन एवं समावर्तन में कुछ ही नक्षत्र शुभ माने गये हैं, यथा हस्त, चित्रा, स्वाती, पुष्य, धनिष्ठा, रेवती, अश्विनी, मृगशीर्ष, पुनर्वसु एवं श्रवण; जब चन्द्र शक्तिशाली हो (अर्थात् शुक्ल पक्ष की पंचमी से कृष्णपक्ष की पंचमी तक) तो किसी प्रतिपादित तिथि पर उपनयन सम्पादित होना चाहिए (हेमाद्रि, काल, पृ० ७४९; राजमा०, श्लोक ३१६; अपरार्क, पृ० ३२)।

विवाह के लिए अति जटिल नियम प्रतिपादित हैं। आश्व० गृ० (१।४।१-२) ने चार संस्कारों (चौल, उपनयन, गोदान एवं विवाह) के लिए बड़ा सरल नियम दिया है—उत्तरायण, शुक्ल पक्ष एवं कोई शुभ नक्षत्र। बौधा० गृ० (१।१।१८-२०) के अनुसार विवाह किसी भी मास में हो सकता है, किन्तु कुछ लोगों के अनुसार आषाढ़, माघ एवं फाल्गुन वर्जित हैं, शुभ नक्षत्र हैं रोहिणी, मृगशीर्ष, उत्तरा-फाल्गुनी एवं स्वाती। आप० गृ० में भी यही बात है। कौशिकसूत्र (७५।२-४) मध्यकालीन एवं वर्तमान काल के व्यवहार की विधि तक पहुँच जाता है और प्रतिपादित करता है कि विवाह-सम्पादन कार्तिक-पूर्णिमा से वैशाख-पूर्णिमा तक हो सकता है, या अपने मन के अनुसार हो सकता है, किन्तु चैत्र का मास या आधा चैत्र छोड़ देना चाहिए। मध्य एवं वर्तमान काल में मतैक्य नहीं है। राजमार्तण्ड ने चैत्र एवं पौष को छोड़कर सभी मास मान लिये हैं। किन्तु धर्मसिन्धु के मत से माघ, फाल्गुन, वैशाख एवं ज्येष्ठ शुभ हैं, मार्गशीर्ष मध्यम है; कुछ ग्रन्थों में आषाढ़ एवं कार्तिक आज्ञापित हैं और देशाचार को मान्यता दे दी गयी है।

अब नक्षत्रों, सप्ताह-दिनों, ग्रह-स्थितियों, विशेषतः बृहस्पति, शुक्र, सूर्य एवं चन्द्र पर विचार करना चाहिए। किन्तु ऐसा करने के पूर्व ११ वीं शती के पूर्वार्ध में प्रणीत राजमार्तण्ड एवं भुजबल की कन्या-विवाह-सम्बन्धी सम्मति पर ज्योतिष में विश्वास करने वाले तथा उसके अनुसार चलने वाले व्यक्तियों का ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है। राजमार्तण्ड में आया है—जब (आक्रामक) राजा ने देश पर अधिकार कर लिया हो, जब युद्ध चल रहा हो, जब माता-पिता का जीवन भय में (संशय में) हो तो प्रौढ कन्या के विवाह के लिए किसी (शुभ) काल की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए; यदि कन्या अति प्रौढ हो और धर्म-विरोधिनी न हो तो उसे, अविशुद्ध होने पर भी, विवाह के लिए दे देना चाहिए, और इस पर विचार नहीं करना चाहिए कि चन्द्र एवं लग्न शक्तिशाली हैं अथवा

७. राज्ञा ग्रस्तेऽथवा युद्धे पितॄणां प्राणसंशये। अति प्रौढा तु या कन्या न तु कालं प्रतीक्षते।। अतिप्रौढा तु या कन्या न तु धर्मविरोधिनी। अविशुद्धा तु सा देया लग्नचन्द्रबलैर्विना।। राजमार्तण्ड (श्लोक ३९७-३९८), उद्वाहतत्त्व (पृ० १२४), नि० सि० (पृ० ३०३) द्वारा उद्धृत। संवर्त (श्लोक ६७) में प्रतिपादित है कि यौवनावस्था से पूर्व कन्या का विवाह हो जाना चाहिए, किन्तु आठ वर्ष की कन्या का विवाह प्रशंसित होना चाहिए। पराशर (७।९) का कथन है कि यौवनावस्था प्राप्त कन्या से विवाह करने पर ब्राह्मण पंक्ति में बैठ कर भोजन करने के अयोग्य हो जाता है और वह वृषली का पति हो जाता है। राजमार्तण्ड (श्लोक ३९१) में आया है : 'अष्टवर्षा भवेद् गौरी दशवर्षा च कन्यका। संप्राप्ते द्वादशे वर्षे परस्तात् रजस्वला।।' अतः प्रौढ कन्या के विषय में कुछ लांछन लग गये हैं। भुजबल (पृ० १५२) में आया है : 'दशवर्षव्यतिक्रान्ता कन्या शुद्धिविवर्जिता। तस्मात्तारेन्दुलग्नानां शुद्धौ पाणिग्रहो मतः।।' अतः राजमार्तण्ड ने 'अविशुद्धा' शब्द का प्रयोग किया है। उद्वाहतत्त्व ने इस नियम को यह कहकर मृदु बना दिया है कि प्रौढ कन्या के विवाह में केवल चन्द्र एवं लग्न का विचार करना चाहिए।

हीं।' भुजबल (या भुजबलभीम) ने कहा है—ऋषियों की घोषणा है कि कन्या के विषय में ग्रहों, वर्षों, मास, ायन, ऋतु एवं दिनों की शुद्धता (शुभकरता) पर तभी विचार होता है जब वह दस वर्षों की रहती है (उद्वाह-ात्त्व, पृ० १२४ एवं ज्योतिस्तत्त्व, पृ० ६०५ में उद्धृत)।

विवाह-नक्षत्रों के विषय में मतभेद है, किन्तु रोहिणी, मृगशीर्ष, मघा, उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढ़ा, उत्तराभाद्रपदा, हस्त, स्वाती, मूल, अनुराधा, रेवती के विषय में सभी सहमत हैं (बृ० सं० १००।१)। ारदत्त आदि ने ४ नक्षत्र और जोड़ दिये हैं, यथा, अश्विनी, चित्रा, श्रवण एवं धनिष्ठा। किन्तु यदि इनमें कोई केसी दुष्ट (या हानिकर) ग्रह से संयुक्त हो तो उसे छोड़ देना चाहिए। सप्ताह में सोम, बुध, बृहस्पति एवं शुक्रवार ुभ हैं, और अन्य तीन मध्यम हैं। ज्योतिस्तत्त्व द्वारा उद्धृत एक श्लोक के अनुसार सप्ताह के दिनों का रात्रि में ाभाव नहीं होता, विशेषतः मंगलवार, शनिवार एवं रविवार का। तिथियों में अमावास्या वर्जित है; रिक्ता तिथियाँ (चौथी, नवमी एवं चतुर्दशी) कुछ अच्छी हैं; अन्य तिथियाँ शुभ फलदायक हैं; शुक्ल पक्ष अत्युत्तम है; तथा कृष्ण ाक्ष में त्रयोदशी तक की तिथियाँ मध्यम हैं।

यदि बृहस्पति शुभ हो तो छः वर्षों के उपरान्त कन्या का विवाह सम वर्षों में करना चाहिए, किन्तु जब सूर्य शुभ हो तो लड़के का विवाह विषम वर्षों में करना चाहिए; किन्तु दोनों का विवाह शुभ है यदि चन्द्र कल्याणकर हो। यदि बृहस्पति उच्च हो, स्वगृही हो या अपने मित्र के गृह में हो तो वह पूर्ण जीवन, धन-सम्पत्ति के विविध प्रकार आदि देता है; किन्तु यदि वह प्रथम या आठवें गृह में हो, या नीच हो, या अपने शत्रु के गृह में हो, ा अस्त हो तो वह वैधव्य एवं सन्तति-क्लेश प्रदान करता है। विवाह के समय लग्न के विषय में निम्नोक्त ग्रहों को ार्जित करना चाहिए : सूर्य को अपने से तीसरे, छठे एवं ८वें घर में; चन्द्र को दूसरे, तीसरे या चौथे घर में, मंगल को तीसरे या छठें घर में; बुध एवं बृहस्पति को आठवें एवं १२ वें घर में। यदि शुक्र लग्न में हो, या अपने से ूसरे, चौथे, पाँचवें, नवें या १०वें घर में हो, और उससे शनि, राहु एवं केतु तीसरे, छठे एवं आठवें घर में हों, और लग्न से ११ वें घर में प्रत्येक ग्रह हो तो विवाह से आनन्द की प्राप्ति होती है। यदि विवाह के समय बृहस्पति जन्म की राशि से दूसरे, ५ वें, ७ वें ९ वें एवं ११ वें घर में हो तो वह कन्या के लिए शुभ होता है; यदि वह पहले, तीसरे, छठे या १० वें में हो तो वह शान्ति-कृत्य कर देने से शुभकर हो जाता है; यदि वह चौथे, ८ वें या १२ वें में हो तो अशुभकर होता है; किन्तु यदि वह विवाह के समय कर्क, धनु या मीन में हो तो अशुभता का त्याग कर देता है, भले ही वह चौथे, ८ वें, या १२ वें में (जन्म की राशि से) हो। आपत्ति काल में चौथे या १२ वें घर में अवस्थित बृहस्पति दो शान्तियों (बृहस्पति-होमों) से तथा आठवें में अवस्थित बृहस्पति तीन शान्तियों (शान्ति-कृत्यों) से शुभ हो जाता है। लड़के (वर) के विषय में जन्म की राशि से तीसरे, ६ठे, १०वें या ११वें घर का सूर्य शुभ होता है; किन्तु अन्य राशियों में अवस्थित सूर्य होम कर देने से शुभ हो जाता है।

यदि कन्या यौवनावस्था में आ गयी हो तो बृहस्पति की शुभता पर विचार नहीं करना चाहिए, यहाँ तक कि यदि कन्या की राशि से बृहस्पति ८वें गृह में हो तब भी तीन शान्तियाँ करके विवाह सम्पादित कर देना चाहिए।

यदि बृहस्पति सूर्य के घर (अर्थात् सिंह राशि) में हो और सूर्य बृहस्पति के घर (मीन या धनु) में हो तो इसे **गुर्वादित्य** कहा जाता है और यह सभी कृत्यों के लिए निन्दित माना जाता है।

सिंहस्थ गुरु के विषय में मध्यकाल के ग्रन्थों में बहुत कुछ उल्लिखित है, जिसे आज भी लोग यथावत् मानते आये हैं। राजमार्तण्ड ने इस पर छः श्लोक लिखे हैं। जब बृहस्पति (गुरु) सिंह राशि में होता है तो कतिपय कृत्य अशुभ माने जाते हैं, यथा रणयात्रा, विवाह, उपनयन, गृह-प्रवेश, देव-प्रतिमा-प्रतिष्ठापन। ऋषियों ने कुछ

परिमार्जन उपस्थित किये हैं। पराशर में आया है कि गंगा एवं गोदावरी के मध्य के देशों में, जब बृहस्पति सिंहस्थ हो, विवाह-कृत्य नहीं करना चाहिए तथा सभी (भारत के) देशों में जब बृहस्पति मघा नक्षत्र (अर्थात् सिंह के प्रथम नक्षत्र) में हो और सूर्य मीन में हो तो विवाह नहीं होना चाहिए। वसिष्ठ ने कहा है—'गंगा के उत्तर एवं गोदावरी के दक्षिण के देशों में सिंहस्थ गुरु में विवाह एवं उपनयन बुरा नहीं है (भुजबल, पृ० २७५; राजमार्तण्ड, श्लोक १०५७; नि० सि०, पृ० ३०५)।

मुहूर्तों के जटिल स्वभाव के कारण विवाह के लिए **गोधूलि** या **गोरज** नामक लघु मार्ग अपनाया जाता है। राजमार्तण्ड ने इस विषय में १० श्लोक दिये हैं (५५०-५५९) जिनमें तीन यों हैं—'वह समय जब कि सूर्य अस्त होता हुआ कुंकुम या लाल चन्दनलेप के समान प्रतीत होता है, जब कि नभ में स्थित तारागण अपने प्रकाश से टिमटिमाते हुए नहीं दीखते, जब कि नभ गायों के खुरों की नोकों से चूर्ण की हुई धूलि से भर जाता है वह वेला धनधान्य की वृद्धि करने वाली गोधूलिका कहलाती है। इस मुहूर्त में ग्रह, तिथियाँ, विष्टि या तारागण या नक्षत्र (ऋक्ष) विघ्न नहीं उत्पन्न करते; यह अव्याहत योग भार्गव द्वारा विवाह-काल एवं यात्रा के लिए उद्घोषित है। जब कोई अन्य विशुद्ध लग्न नहीं हो तो ऋषिगण इस गोधूलिका (मुहूर्त) को विशुद्ध कह कर आदेश देते हैं; किन्तु यदि विशुद्ध एवं बलवान् लग्न प्राप्त हो जाय तो गोधूलिका मुहूर्त शुभ फल नहीं प्रदान करता। धर्मसिन्धु (पृ० २५४) ने केवल मुहूर्तमार्तण्ड (४।३८) को उद्धृत किया है, जहाँ यह आया है कि यह मुहूर्त केवल शूद्रों के लिए है, किन्तु अत्यन्त कठिनाई के समय, जब कि कन्या यौवनावस्था को प्राप्त हो गयी हो, यह ब्राह्मणों एवं अन्य वर्णों के लोगों के लिए शुभ हो सकता है। आजकल भी कभी-कभी सभी वर्णों द्वारा यह गोरज-मुहूर्त अपनाया जाता है।

विवाह-सम्बन्धी बहुत-से जटिल ज्योतिषीय विषय हैं, यथा **दशयोगचक्र** एवं **सप्तशलाकाचक्र**, जिनको हम स्थान-संकोच से यहीं छोड़ देते हैं। किन्तु एक विषय पर, जिसके बारे में आज भी विचार होता है, हम संक्षेप में कुछ कहेंगे, यथा वधू एवं वर की जन्म-राशि एवं नक्षत्रों से सम्बन्धित आठ कूटों की तुलना पर गुणों की गणना करना। इस विषय को **वधूवरमेलापक विचार** या **घटितगुणविचार** की संज्ञा मिली है। आठ कूट ये हैं—वर्ण, वश्य, तारा, योनि, ग्रहमैत्री, गणमैत्री, राशिकूट एवं नाड़ी (मु० चि० ६।२१)। वर्ण का एक गुण या लक्षण, वश्य के दो, तारा के तीन . . . इस प्रकार कुल ३६ गुण हैं। इनमें सभी, कहीं भी व्याख्यायित नहीं हैं, यहाँ तक कि सब से अन्त में आने वाले ग्रन्थ भी सभी कूटों का विवरण नहीं उपस्थित करते। धर्मसिन्धु ने अन्त के चार कूटों पर ही विचार किया है। आजकल भी ब्राह्मणों एवं अन्य जातियों में गण एवं नाड़ी को विशेष महत्त्व दिया

८. **यावत्कुंकुमरक्तचन्दननिभोऽप्यस्तं गतो भास्करो यावच्चोडुगणो नभःस्थलगतो नो दृश्यते रश्मिभिः। गोभिश्चापि खुराग्रभागदलितैर्व्याप्तं नभः पांसुभिः सा वेला धनधान्यवृद्धिजननी गोधूलिका शस्यते॥ नास्मिन्ग्रहा न तिथयो न च विष्टिवारा ऋक्षाणि नैव जनयन्ति कदा न विघ्नम्। अव्याहतः स तु नामवा (सततमेव ?) विवाहकाले यात्रासु चायमुदितो भृगुजेन योगः॥ लग्नं यदा नास्ति विशुद्धमन्यद् गोधूलिकं साधु तदाविशन्ति। लग्ने विशुद्धे सति वीर्ययुक्ते गोधूलिकं नैव शुभं विधत्ते॥ राजमार्तण्ड** (श्लोक, ५५१, ५५६ एवं ५५९); **ज्योतिस्तत्त्व** (पृ० ६१०-६११)। मिलाइए बृ० सं० (१०२।१३) : **गोपैर्यष्ट्या हतानां खुरपुटदलिता या तु धूलिर्दिनान्ते सोद्वाहे सुन्दरीणां विपुलधनसुतारोग्यसौभाग्यकर्त्री। तस्मिन्काले न चर्क्षं न च तिथिकरणं नैव लग्नं न योगः ख्यातः पुंसां सुखार्थं शमयति दुरितान्युत्थितं गोरजस्तु॥**

जाता है। इन दोनों पर इस महाग्रन्थ के खण्ड २ में विचार हो चुका है। मु० मा० (४।११-१२), मु० चि० (६।२१-३५), संस्कार-प्रकाश (वीरमित्रोदय का भाग) एवं संस्काररत्नमाला में इन आठ कूटों पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। बहुत-सी बातों को एक नियम ने सरल बना दिया है, यथा यदि वधू एवं वर के जन्म की एक ही राशि हो, किन्तु दोनों के जन्म-नक्षत्र भिन्न हों, या नक्षत्र तो एक ही हो किन्तु राशियाँ भिन्न हों तो गण एवं नाड़ी आदि का विचार नहीं होता, यदि दोनों का नक्षत्र एक ही हो और वे दोनों विभिन्न दिशाओं में उत्पन्न हुए हों तो विवाह शुभ माना जाता है।

विवाह में बृहस्पति की अनुकूलता को बहुत महत्त्व दिया जाता है। रत्नमाला (१६।२६) में आया है—'बुध, जो उदय हो (सूर्य से दूर रहने पर), और जन्म-पत्र के प्रथम, चौथे एवं १० वें स्थान को ग्रहण करता हो, एक सौ ज्योतिषीय दोषों का शमन करता है; शुक्र इस प्रकार के दूने दोषों को दूर करता है और देवों के गुरु (बृहस्पति) जब प्रबल होते हैं तो शत-सहस्र दोषों को दूर करते हैं।'

विवाह में **चन्द्रबल** एवं **तारावल** दोनों की आवश्यकता पड़ती है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि जन्म के नक्षत्र से तीसरा, पाँचवाँ एवं सातवाँ नक्षत्र क्रम से 'विपद्', 'प्रत्यरि' (शत्रु के सम्मुख) एवं 'वध' (नाश) कहलाता है और वे सभी अपने नामों के अनुरूप फल प्रदान करते हैं; अतः उनका शुभ कृत्यों, विशेषतः विवाह में त्याग करना पड़ता है। जन्म से लेकर नक्षत्र तीन-दलों के आधार पर ९ भागों में बँटे हैं। दूसरे दल में दुष्ट नक्षत्र हैं १२ वाँ, १४ वाँ एवं १६ वाँ तथा तीसरे दल में हैं २१ वाँ, २३ वाँ एवं २५ वाँ। ऐसी व्यवस्था थी कि जहाँ चन्द्र बलवान् है तो **तारावल** पर विचार नहीं किया जाता, किन्तु जहाँ चन्द्र दुर्बल (जैसा कि कृष्ण पक्ष में) है वहाँ तारावल महत्त्वपूर्ण होता है। कुछ लेखकों ने जन्म-नक्षत्र को भी कुछ कृत्यों में वर्जित माना है, यद्यपि वह अन्य कृत्यों में स्वीकार्य है। 'विपद्', 'प्रत्यरि' एवं 'वध' नामक दुष्ट तारा ब्राह्मणों को गुड़, नमक एवं सोने का दान तिल के साथ देकर प्रसन्न किये जा सकते हैं।

विवाह के विषय में राजमार्तण्ड (श्लोक ६११-६१२) का कथन है—'तिथि से दिन का मूल्य चौगुना, नक्षत्र का १६ गुना, योग का सौ गुना, सूर्य का सहस्र गुना होता है और चन्द्र का मूल्य लाख गुना होता है; अतः अन्य बलों की अपेक्षा चन्द्रबल को अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए।

अब भारत में राजा का महत्त्व नहीं रह गया है अतः राज्याभिषेक के मुहूर्तों का महत्त्व नाममात्र का रह गया है, इसलिए हम इस प्रकार के मुहूर्तों का उल्लेख नहीं करेंगे। जो लोग पढ़ना चाहें वे देखें रत्नमाला (१४। १-८), मु० मा० (८।१), मु० चि० (१०।१-४), राजनीतिरत्नाकर (पृ० ८२-८४, डा० के० पी० जायसवाल द्वारा सम्पादित)।

एक अन्य ज्योतिषीय शब्द है **यात्रा**, जिसके दो अर्थ हैं : (१) तीर्थ के लिए या धन कमाने के लिए यात्रा तथा (२) विजय के लिए राजा की रण-यात्रा। प्रथम प्रकार सभी वर्णों में समान है, किन्तु दूसरा केवल क्षत्रियों या राजा के लिए है (मु० चि० ११।१)। इस विषय में न केवल ज्योतिष-ग्रन्थों, प्रत्युत स्मृतियों, कौटिल्य के अर्थशास्त्र एवं पुराणों में बहुत महत्त्व प्राप्त है। आश्रमवासिकपर्व (७।१२-१८), मनु (७।१८१-२१२), मत्स्य० (२४०-२४३), अग्नि० (२३३-२३५), विष्णुधर्मोत्तर (२।१७५-१७६), अर्थशास्त्र (९, उसका कार्य जो आक्रामक होना चाहता है, एवं १०, युद्ध के सम्बन्ध में) ने विस्तार के साथ **यान** या **यात्रा** का विवेचन किया है। बृहत्संहिता (अध्याय २, पृ० ६१, कर्न का सम्पादन एवं पृ० ७१, द्विवेदी का सम्पादन) में यात्रा के विषयों को इस प्रकार रखा गया है—यात्रा के अन्तर्गत उचित तिथियों, दिवसों, करणों, नक्षत्रों, मुहूर्तों, विलग्न (प्रस्थान के समय का लग्न), (विभिन्न) योग (ग्रहों, नक्षत्रों, राशियों आदि के योग), शरीर-स्पन्दनों, स्वप्नों, विजय-स्नानों, ग्रह-यज्ञों,

गण-यागों (देव-गणों का दलों में पूजन, यथा गुह्यक), अग्निलिंगों (होम के समय अग्नि-ज्वाला के संकेतों), हाथी, घोड़ों के इंगितों, सेना के लोगों की बातचीतों एवं चेष्टाओं, नव-ग्रहों, ६ गुणों (संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव, आश्रय) के प्रयोग (ग्रहों के बलानुसार), शुभाशुभ वस्तुओं एवं दृश्यों, चार उपायों (साम, दान, दण्ड, भेद), शकुनों, सैन्य-निवेश (सेना-पड़ाव), अग्नि-वर्ण (अग्नि ज्वाला के रंग), मन्त्रियों, चरों, दूतों, आटविकों की यथाकाल में नियुक्ति एवं परदुर्गों को प्राप्त करने के साधनों का ज्ञान सम्मिलित है।

वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में यात्रा के विषयों पर कई अध्याय (४३।५०, ८८-९६) लिखने के अतिरिक्त तीन अन्य ग्रन्थ लिखे हैं, यथा बृहद्योगयात्रा, योगयात्रा एवं टिक्कनिका। बृहत्संहिता के अतिरिक्त वराहमिहिर ने यात्रा पर ११०० श्लोक लिखे हैं। पश्चात्कालीन ग्रन्थ, यथा, रत्नमाला (१५।१-७४), राजमार्तण्ड (श्लोक ६५३-७९५), मु० चि० (११।१-१०९) ने भी यात्रा पर लिखा है। 'योगयात्रा' नाम पड़ने का कारण यों है—'जब युद्ध सिर पर खड़ा रहता है तो शुभ तिथियों, दिवसों, नक्षत्र आदि का विचार करने एवं उनको जोहने से अधिक देरी हो सकती है। अतः किसी स्थिर स्थानवर्ती किन्हीं ग्रहों की स्थितियों (अर्थात् योग) पर ज्योतिषीय ढंग से विचार किया जाता है।' योगयात्रा एवं रत्नमाला में आया है—'जिस प्रकार विष भी (दूध जैसे पदार्थों से मिश्रित होने पर) अमृत के समान कार्य कर सकता है या जिस प्रकार मधु घृत से मिश्रित होने पर विष का कार्य कर सकता है, उसी प्रकार ग्रह अपनी विशिष्ट शक्ति का त्याग करके किन्हीं योगों के कारण अन्य फल दे सकता है। राजा योगों में रणयात्रा करते हैं, चोर एवं चारण शकुनों पर कार्य करते हैं, ब्राह्मण नक्षत्रों के गुणों के आधार पर कार्य करते हैं, अन्य लोग (इनके अतिरिक्त) मुहूर्तों की शक्ति से अपनी कार्य-सिद्धि प्राप्त करते हैं।

यदि किसी व्यक्ति के जन्म (लग्न) के समय की राशि का पता न हो, तो यात्रा के विषय में प्रश्न करने के लग्न का प्रयोग ज्योतिष-सम्बन्धी बातों के लिए हो सकता है। यदि ऐसा लग्न मेष, कर्क एवं तुला हो या मकर हो और उसमें शुभ ग्रह हों या उस पर उनमें से किसी की शुभ दृष्टि हो, तो प्रश्न-कर्ता अपने संकल्प में सफल होता है; किन्तु यदि लग्न में चाहे मंगल एवं चन्द्र हो या चन्द्र पर शनि की दृष्टि हो या वह ७वें या ८वें घर में हो और सूर्य लग्न में हो या कोई दुष्ट ग्रह लग्न में हो या चौथे, ७वें या ८वें घर में हो तो इन सभी स्थितियों में प्रश्नकर्ता (शत्रुओं द्वारा) हराया जायगा या नष्ट होगा (मु० चि० ११।४-५)। यात्रा में सप्ताह-दिवसों का कोई महत्त्व नहीं है। यात्रा के लिए षष्ठी, अष्टमी, द्वादशी, पूर्णिमा, अमावास्या, रिक्ता तिथियाँ (चौथी, नवमी एवं चतुर्दशी) एवं शुक्ल प्रतिपदा प्रतिपादित नहीं हैं (अन्य हैं)। यात्रा ९ नक्षत्रों, यथा अश्विनी, पुनर्वसु, अनुराधा, मृगशिरा, पुष्य, रेवती, हस्त, श्रवण एवं धनिष्ठा में प्रतिपादित है। योगयात्रा (४), रा० मा० (६९५-७५२), र० मा० (१५।१-७४), मु० चि० (११।५५-७४) ने कतिपय योगों का उल्लेख किया है जिनमें राजा सफल होता है। उदाहरणस्वरूप कुछ योग यों हैं—वह राजा, जिसकी रणयात्रा के काल के लग्न में बृहस्पति हो, बुध एवं शुक्र क्रम से चौथे एवं पाँचवें घर में हों, मंगल एवं शनि छठे में हों, सूर्य तीसरे में हो तथा चन्द्र १० वें में हो, मनोवांछित फल की प्राप्ति करता है (यो० या० ४।६; मु० चि० ११।५५); राजा विजयी होता है जब बृहस्पति लग्न में हो और अन्य ग्रह दूसरे एवं तीसरे घर में हों (मु० चि० ११।५९); यदि प्रयाण के समय शुक्र, बुध एवं सूर्य क्रम से दूसरे एवं तीसरे घर में हों तो उसके शत्रु युद्धाग्नि में पतंगों के समान गिरते हैं (यो० या० ४।११); जब शुक्र चौथे, तीसरे या ११वें घर में रहता है, और उस पर बृहस्पति की दृष्टि रहती है, जो केन्द्र (पहले, चौथे, ७ वें या १० वाँ घर) में रहता है और दुष्ट ग्रह ७ वें या ८ वें या ९ वें में न होकर अन्य घरों में होते हैं तो ऐसे योगों से राजा को धन (एवं विजय) अधिक मात्रा में प्राप्त होता है।

कुछ अन्य बातों की ओर भी संकेत किया जा सकता है। पौष से आगे के चार मासों में वर्षा बिना ऋतु वाली कही जाती है; उसके उपरान्त ७ दिनों तक व्रत एवं यात्रा नहीं करनी चाहिए; बिना ऋतु की वर्षा से राजा के प्रयाण में कोई दोष नहीं होता, यदि स्थल पर मनुष्यों एवं पशुओं के चरण-चिह्न न हों। मु० चि० (११।७६) में आया है कि जब तक उपनयन, मूर्ति-स्थापन, विवाह, (होलिका जैसे) उत्सव, अशौच (जन्म-मरण पर सूतक) समाप्त न हो जायँ और अनृतु-वर्षा, वज्रपात या तुषारपात के उपरान्त ७ दिन बीत न जायँ तब तक यात्रा नहीं करनी चाहिए। देखिए र० मा० (१५।५९)।

गृह-प्रवेश की तिथि के उपरान्त नवमी दिन को गृह के बाहर जाना या जाने के उपरान्त प्रवेश करना तथा स्वयं नवमी वर्जित है; यही बात सप्ताह-दिवस एवं नक्षत्र के विषय में भी है (मु० चि० ११।७९)।

शुक्र सम्मुख हो तो प्रस्थान नहीं करना चाहिए। यह विश्वास बहुत प्राचीन है, यह शान्तिपर्व एवं कालिदास में भी उल्लिखित है।[९] यदि राजा या किसी ने किसी शुभ दिन या योग में यात्रा करने का निर्णय कर लिया हो, किन्तु किसी अप्रत्याशित या अनिवार्य कार्य से वास्तविक जाना न हो पाये तो उसे प्रस्थान (प्रारम्भ करके कुछ दूर जाकर पुनः लौट आना या शुभ दिन पर कोई वस्तु भेज देना और उसके उपरान्त कुछ निश्चित दिनों के भीतर प्रयाण कर देना) रख देना चाहिए। ब्राह्मण को जनेऊ (यज्ञोपवीत), क्षत्रिय को कोई हथियार, वैश्य को मधु, शूद्र को कोई पवित्र फल (नारियल आदि) भेजना चाहिए या किसी भी वर्ण वाले को अपनी कोई प्रिय वस्तु भेजनी चाहिए (रा० मा०, श्लोक ७७१; मु० चि० ११।८९)। इस विषय में, अर्थात् कितनी दूर जायँ और लौट आयें, ऋषियों के मतों में भेद है। गार्ग्य के मत से व्यक्ति को अपने घर से दूसरे घर (बहुत सन्निकट) में जाना चाहिए; भृगु के मत से अपने गाँव की सीमा पार करके दूसरे गाँव में ठहरना चाहिए; भरद्वाज के मत से शरक्षेप (एक तीर जितनी दूर पहुँचता है) तक, तथा वसिष्ठ के मत से नगर के बाहर हो जाना चाहिए।[१०] प्रस्थान यात्रा की दिशा में ही होना चाहिए। यदि राजा प्रस्थान करे तो उसे १० दिनों तक एक स्थान पर नहीं टिका रहना चाहिए (अर्थात् वह ९ दिनों तक ठहर सकता है), सामन्त (माण्डलिक) सात दिनों तक तथा साधारण व्यक्ति पाँच दिनों तक; किन्तु कोई इन निर्धारित अवधियों से अधिक ठहर जाता है तो उसे पुनः नये मुहूर्त में यात्रा करनी चाहिए (र० मा० १५।५६; मु० चि० ११।९२)। आजकल भी प्रस्थान की परम्परा है, और लोग बहुधा पड़ोसी के घर में चावल, सुपाड़ी, हल्दी आदि रखकर वास्तविक यात्रा के समय उसे लेकर चल देते हैं।

योगयात्रा (१३।३) ने व्यवस्था दी है कि रणयात्रा के समय राजा को 'मंगल' वस्तु का दर्शन, श्रवण एवं स्पर्श करना चाहिए। वेद एवं वेदांगों के पाठों के, शंखों के, ढोलक के, 'पुण्याह' (यह पवित्र दिन है) जैसे शब्दों के एवं पुराणों के स्वर; धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, महाभारत एवं रामायण; सारसों, चाषों, मयूरों, हंसों एवं जीवंजीवक (चकोर) की चहचहाहट; पंकिल कछुओं की पीठों पर बैठे कौए; बिल्व वृक्ष, चौरी, चन्दन, बछड़े के साथ गाय, बकरी, प्रियंगुलता, भुने हुए अन्न, पुरुषों से भरे रथ शुभ वस्तुएँ हैं; झण्डे, सर्वौषधि, स्वस्तिक चिह्न,

९. यतो वायुर्यतः सूर्यो यतः शुक्रस्ततो जयः। पूर्वं पूर्वं ज्याय एषां सन्निपाते युधिष्ठिर॥ शान्ति० (१००।२०); दृष्टिप्रपातं परिहृत्य तस्य कामः पुरः शुक्रमिव प्रयाणे। कुमारसम्भव (३।४३)।

१०. गृहाद् गृहान्तरं गार्ग्यः सीम्नः सीमान्तरं भृगुः। शरक्षेपाद् भरद्वाजो वसिष्ठो नगराद्बहिः॥ रा० मा० (श्लोक ७६९); मु० चि० (११।९०)।

भेंटों से युक्त पात्र; घोड़ा, अशुष्क सिरका, गोबर, सरसों, दर्पण, रस्सी से बँधा बैल, मांस, जलपूर्ण घड़ा, पगड़ी, बाँसुरी, छत्र, दही, मधु, घी, पीला रोगन, कुमारी लड़की, झंडे का स्तम्भ, सोना, कमल, शंख, श्वेत बैल, पुष्प, सुन्दर वस्त्र, मछली, सुन्दर ढंग से वस्त्रावृत ब्राह्मण, सड़क पर चलने वाले, वेश्याएँ, जलती अग्नि, हाथी, भींगी भूमि, अंकुश, हथियार; रत्न, यथा मरकत, माणिक्य, स्फटिक; पुत्र के साथ युवती नारी; इन चिह्नों एवं पदार्थों को इस प्रकार व्यवस्थित रखना चाहिए कि वे अपने आप दृष्टिगोचर हो जायें। और देखिए अग्नि० (अध्याय २४३), र० मा० (१५।९७-९८), मु० मा० (७।१५-१६) आदि। शुभाशुभ दृश्यों, पशुओं, व्यक्तियों एवं पदार्थों की लम्बी सूचियाँ बृहत्संहिता (अध्याय ८६-९६, ऋषभ, मागुरि, देवल, भारद्वाज आदि पर आधारित तथा गर्ग आदि के यात्रा-ग्रन्थों के, जिनमें सभी प्रकार के शकुनों का उल्लेख है, यथा कुत्तों का भौंकना, पक्षियों एवं कौओं की बोलियों पर आधारित), बृहद्योगयात्रा (अध्याय २१-२८), योगयात्रा (१३।१४), मु० चि० (११।९९-१००), मु० मा० (७।१७-१९), राजनीतिप्रकाश (पृ० ३३५-३६०) में पायी जाती हैं। योगयात्रा का एक श्लोक उदाहरण के लिए यहाँ दिया जा रहा है—'निम्न अशुभ हैं (यात्रा में : कपास, औषध (जड़ी-बूटी), काला अन्न, नमक, नपुंसक व्यक्ति, अस्थियाँ, ताल (हरताल), अग्नि, साँप, कोयला, विष, केंचुल (साँप की चर्म खोल), मल, केशारि (छुरा); रोगी, जिसने वमन किया हो, पागल, जड़ (लकवा का मारा हुआ), अंधा, तृण (घास), तुष (भूसी), क्षुत्क्षाम (क्षुधा से पीड़ित) व्यक्ति, तक्र (मठा), शत्रु, मुण्डित सिर वाला व्यक्ति, तेल लगाया हुआ व्यक्ति, बिखरे बाल वाला व्यक्ति, पापी, लाल वस्त्र धारण करने वाला व्यक्ति।'

गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों में भी गृह-निर्माण (वास्तु) एक महत्त्वपूर्ण विषय माना गया है। इस महात्म्य के खण्ड दो में गृह-निर्माण एवं प्रथम प्रवेश के विषय में लिखा हुआ है, किन्तु वहाँ ज्योतिषीय चर्चा नहीं हुई है। पारस्कर गृ० (३।४।१-२) में केवल इतना आया है कि किसी शुभ दिन में गृह-निर्माण (शालाकर्म) करना चाहिए। हिरण्यकेशिगृह्य (१।२७।१) में विशेष बातें हैं; शालाकर्म उत्तरायण में, शुक्ल पक्ष में तथा रोहिणी या तीन उत्तराओं में करना चाहिए। मत्स्य० (अ० २५३) र० मा० (अ० १७) रा० मा० (श्लो० ८०५-८८४) हेमाद्रि (काल० पृ० ८१७-८२९) मुहूर्तदर्शन (९) ज्योतिस्तत्व (पृ० ६६२-६७०), मु० चि० (१२।१-२९), नि० सि० (पृ० ३६४) में गृह-निर्माण का उल्लेख है। मत्स्य० (२५२।२-४) ने वास्तुशास्त्र के १८ आचार्यों का उल्लेख किया है। मत्स्य० ने १२ महीनों में गृह-निर्माण के फलों का वर्णन किया है। आषाढ़ में गृह-निर्माण से रोग, अच्छी गायें, मृत्यु, अच्छे नौकर एवं पशुओं की प्राप्ति होती है; कार्तिक में नौकर, हानि, पत्नी की मृत्यु, धनधान्य; फाल्गुन में चावल, चोरों से भय, बहुत-से लाभ, सोना एवं पुत्र। शुभ नक्षत्र ये हैं—अश्विनी, रोहिणी, मूल, तीन उत्तराएँ, मृगशीर्ष, स्वाती, हस्त एवं अनुराधा; दिनों में रविवार एवं मंगलवार को छोड़ अन्य शुभ हैं। रा० मा० (श्लोक ८८६-८८७) ने बहुत-सी ज्योतिषीय आवश्यकताओं को दो श्लोकों में यों व्यक्त किया है : 'ऋषियों का कथन है कि गृह-निर्माण का शुभ कर्म शुभ तारा से युक्त पुनर्वसु, पुष्य, रोहिणी, मृगशीर्ष, चित्रा, धनिष्ठा, तीनों

११. कार्पासौषधकृष्णधान्यलवणक्लीबास्थितालानलं सर्पाङ्गारगराहिचर्मशकृतः केशारिसव्याधिताः। वातोन्मत्तजडान्धकतृणतुषक्षुत्क्षामतक्रारयो मुण्डाभ्यक्तविमुक्तकेशपतिताः काषायिणश्चाशुभाः॥ बृहद्योगयात्रा (२७।६), योगयात्रा (१३।१४), टिक्कनिकायात्रा (९।१५); मत्स्य० (२४३।१-८), आदि० (२९।३४), नारदस्मृति (प्रकीर्णक ५४), पियूषधारा (मु० चि० ११।९९-१००)।

उत्तराओं, रेवती, श्रवण, शतभिषक्, अनुराधा, स्वाती नक्षत्रों में, सोमवार, बुधवार, बृहस्पतिवार या शुक्रवार के दिन, शुभ योग पर, रिक्ता तिथियों (चौथी, नवमी एवं चतुर्दशी) को छोड़ कर किसी अन्य तिथि पर, उस दिन जब विष्टि न हो, जब शुभ ग्रह केन्द्र (प्रथम, चौथे, ७ वें एवं १० वें घरों) में हों, जब बृहस्पति लग्न या केन्द्र में हो, या शुक्र इन घरों में कहीं हो और गृही की राशि शुभ हो, जब कोई स्थिर नक्षत्र उदित हो रहा हो तब आरम्भ करना चाहिए या प्रथम गृह-प्रवेश करना चाहिए। रत्नमाला का कथन है कि गृह-निर्माण चर राशियों में नहीं होना चाहिए। बहुत-सी ऐसी जटिल गणनाएँ एवं रेखाकृतियाँ बनी हैं जो गृह-निर्माण के आरम्भ के उचित कालों का पता चलाती हैं, यथा **आय, व्यय** एवं **राहुमुखचक्र** जिनका विवेचन यहाँ नहीं किया जायेगा।

गृह-प्रवेश के सिलसिले में देखिए राजमार्तण्ड (श्लोक ८८७, ९००-९०८), रत्नमाला (१८।१-११), ज्योतिस्तत्त्व (पृ० ६७०-७१), मु० चि० (१३), नि० सि० (पृ० ३६६)। रा० मा० का कथन है कि गृह-प्रवेश रेवती, धनिष्ठा, शतभिषक्, रोहिणी, तीनों उत्तराओं, शुभ दिन, जब चन्द्र दुर्बल न हो, रिक्ता को छोड़ अन्य तिथियों में होना चाहिए। गृह-प्रवेश के समय फर्श पर पुष्प बिखरे हों, तोरण बने हों, जलपूर्ण पात्र (कलश) रखे हों, जिनमें चन्दन, पुष्प एवं होम से देव-पूजा की गयी हो और जहाँ ब्राह्मणों द्वारा वेद-पाठ हो रहा हो।

देवमूर्ति-प्रतिष्ठापन के उचित कालों के विषय में बृ० सं० (६०।२०-२१), मत्स्य० (२६४), विष्णुधर्मोत्तर (३।९६), रा० मा० (श्लोक ९०९-९४३), हेमाद्रि (काल, पृ० ८३०-८४७), ज्योतिस्तत्त्व (पृ० ६६६-६६७ एवं ६७२-७३), नि० सि० (पृ० ३३४-३३५), ध० सि० (पृ० ३१८) में बहुत कुछ उल्लिखित है। बृ० सं० (६०। २०-२१) में आया है—'उत्तरायण, शुक्ल पक्ष में, जब चन्द्र बृहस्पति के वर्ग में हो, जब लग्न स्थिर राशि का हो, लग्न की नवमांश राशि स्थिर हो, जब शुभ ग्रह केन्द्र में हों या जन्म-पत्रिका के ५ वें एवं ९ वें घर में हों, जब दुष्ट ग्रह तीसरे, छठे, १० वें या ११ वें स्थान में हों, ध्रुव या मृदु नक्षत्र श्रवण, पुष्य या स्वाती जैसे हों, शुभ दिन (मंगल को छोड़कर) पर देव-स्थापन होना चाहिए।' मत्स्य० (२६४।३-१२) के मत से जब मूर्ति की प्रतिष्ठा चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, माघ या फाल्गुन में हो, दक्षिणायन के उपरान्त शुक्ल पक्ष में हो, दूसरी, तीसरी, ५ वीं, ७ वीं, १० वीं तिथियों में हो, पूर्णिमा, त्रयोदशी (सर्वोत्तम तिथि) में हो या १६ नक्षत्रों (भरणी, कृत्तिका, आर्द्रा, पुनर्वसु, आश्लेषा, मघा, पूर्वा फाल्गुनी, चित्रा, विशाखा, धनिष्ठा, शततारका को छोड़ कर) में हो, जब लग्न पर बुध, बृहस्पति एवं शुक्र की दृष्टि हो, शुभ योग हो, जब लग्न या नक्षत्र (प्रतिष्ठापन का) दुष्ट ग्रहों से गृहीत न हो और ब्राह्म मुहूर्त हो, तो शुभ फल प्राप्त होते हैं।

रत्नमाला (२०।२-३) ने विभिन्न देवों की मूर्ति-प्रतिष्ठा के लिए विभिन्न नक्षत्रों की व्यवस्था दी है और मनोरंजक बात यह है कि उसमें बौद्ध प्रतिमा-स्थापन के लिए श्रवण नक्षत्र का प्रतिपादन है। माताओं, भैरव, वराह, नरसिंह एवं त्रिविक्रम अवतारों, देवी (महिषासुरमर्दिनी) की प्रतिमाओं की स्थापना दक्षिणायन में भी हो सकती है। लिंग-स्थापन के लिए विशिष्ट नियम हैं (देखिए निर्णयसिन्धु, पृ० ३३५-३३६)।

रा० मा० (श्लोक ९४२) के मत से मूर्ति-स्थापना के लिए द्वितीया, तृतीया, दशमी, त्रयोदशी एवं पञ्चदशी की तिथियाँ मान्य हैं, इतना ही नहीं, प्रत्युत स्थापक की इच्छा से सप्तमी एवं षष्ठी भी मान्य हो सकती हैं।

मध्यकालिक ग्रन्थों, यथा रा० मा०, भुजबल, मु० मा०, ज्योतिस्तत्त्व, नि० सि० में सूर्य के नीचे सभी विषयों (धार्मिक होना कोई आवश्यक नहीं) के मुहूर्तों एवं अशुभ कालों का विवेचन पाया जाता है, यथा पशुओं, गल्लों आदि का क्रय-विक्रय, कृषिकर्म, वृक्षारोपण, कूपों, पुष्करों आदि का खोदना, तैल-स्नान, त्रिफला-स्नान आदि के विषयों में।

उपर्युक्त बातों से प्रकट है कि भारतीयों के मन को लगभग दो सहस्र वर्षों से ज्योतिष ने किस प्रकार पकड़ रखा था। शुभ एवं अशुभ शकुनों के विषय में वराहमिहिर ने स्वयं कहा है—'यदि सभी शुभाशुभ राशियाँ या लक्षण एक ओर हों और दूसरी ओर मनःशुद्धि हो तो मनःशुद्धि से ही सफलता की प्राप्ति होती है।' या 'एक ओर सभी शकुन और दूसरी ओर मनःशुद्धि, दोनों के युद्ध में मन भयाक्रान्त हो सकता है। यहाँ तक कि केवल वायु ही विजय या पराजय का कारण बन सकती है' (बृ० यो० या० १४।३।६, यो० या० ५।१५)। और देखिए मत्स्य० (२४३।२५-२७), विष्णुधर्मोत्तर० (२।१६३।३२), अग्नि० (२३०।१३) आदि।

ज्योतिष में सार्वभौम विश्वास के कारण लोगों ने अवतारों एवं नायकों की जन्म-पत्रिकाएँ भी निर्मित कर डालीं। रामायण की कुछ पाण्डुलिपियों में राम की जन्म-पत्री भी बनी है, जिसकी कुछ बातें यों हैं—लग्न कर्क था, जिसमें चन्द्र एवं बृहस्पति का योग था, पाँच ग्रह उच्च थे। चन्द्र कर्क में रहने के कारण उच्च नहीं था, क्योंकि वह वृषभ में उच्च होता है। राम चैत्र शुक्ल नवमी को उत्पन्न हुए थे, अतः सूर्य मेष में था जो (सूर्य की उच्चता का द्योतक है। अतः बुध या तो सूर्य या मीन से युक्त होगा। इनमें कोई भी बुध का उच्च नहीं है। सम्भवतः बुध को शुक्र से संयुक्त समझना चाहिए, क्योंकि दोनों मित्र हैं, किन्तु जब बुध वृषभ में होगा तो वह शत्रु के घर में पड़ेगा। रामायण में राहु एवं केतु के उल्लेख का सर्वथा अभाव है।

परशुराम, हर्षवर्धन, शंकराचार्य आदि के जन्म-पत्रों का भी उल्लेख हुआ है, किन्तु वे ठीक नहीं हैं। कल्हण द्वारा वर्णित कश्मीर के राजा हर्ष (१०५९ ई० में उत्पन्न, शासन काल १०८९-११०१ ई०) का जन्म-पत्र ठीक जँचता है। इस विषय में यहाँ इतना ही पर्याप्त है।

वर्तमान काल के वैज्ञानिक, दार्शनिक एवं धर्म-विशेषज्ञों ने फलित ज्योतिष की सामान्यतः उपेक्षा की है। कुछ लोगों ने इसकी खिल्ली उड़ायी है, कुछ ने इसे अन्धविश्वासपूर्ण माना है और कुछ लोगों ने इसे भ्रामक एवं जाल मात्र समझा है। पाश्चात्य देशों में वैज्ञानिकों द्वारा निन्दित किये जाने पर भी इसे लाखों लोग मानते हैं।

ज्योतिष का मौलिक सिद्धान्त यह है कि सूर्य, चन्द्र तथा ग्रह हमारे जीवन को प्रभावित करते हैं और यह कहना वैज्ञानिक हैं। प्रश्न यह है कि क्या बृहज्जातक जैसे ग्रन्थों के ज्योतिष-सिद्धान्त बौद्धिक विश्लेषण एवं परीक्षाओं से ठीक उतरते हैं? यह कठिन प्रश्न है। हम बहुत-से ज्योतिषियों की करामातों का विवरण पढ़ते-सुनते हैं कि वे ठीक-ठीक बातें बता देते हैं, किन्तु जन्म-पत्र से जीवन की सभी बातों का परिज्ञान, भाग्य एवं उत्थान-पतन आदि का लेखा-जोखा जान लेना कठिन है।

ज्योतिषीय विवेचनों से कभी-कभी बद्धमूल धारणाएँ घर करती रही हैं। आश्लेषा या ज्येष्ठा में या गण्ड या गण्डान्त में उत्पन्न शिशु को लोग फेंक देते थे। इस विश्वास की जड़ें अथर्ववेद (६।११०।२-३) में भी पायी जाती हैं। प्रयोगपारिजात में उद्धृत गर्ग में आया है—'गण्डान्त पर दिन में उत्पन्न शिशु पिता की मृत्यु का कारण बनता है, रात्रि में उत्पन्न माता की मृत्यु का तथा सन्ध्या में उत्पन्न अपनी मृत्यु का कारण बनता है; कोई गण्ड निरामय (भयरहित) नहीं रह पाता। गण्ड में उत्पन्न बच्चों का त्याग कर देना चाहिए, या पिता को ६ मासों तक न तो उसे देखना चाहिए और न उसका स्वर सुनना चाहिए।' (शान्तिकमलाकर, नि० सि०, पृ० २४४)। मल्लाट ने व्यवस्था दी है—'ज्येष्ठा की अन्तिम घटिका में उत्पन्न या मूल की प्रथम दो घटिकाओं में उत्पन्न शिशु को त्याग देना चाहिए या पिता को उसका मुख आठ वर्षों तक नहीं देखना चाहिए; शिशु मूल के प्रथम चरण में उत्पन्न हो तो पिता की, दूसरे पाद (चरण) में माता की मृत्यु हो जाती है, तीसरे पाद में उत्पन्न होने से धन हानि होती है तथा चौथे पाद में शिशु के उत्पन्न होने से शुभ होता है; यही बात आश्लेषा में उत्पन्न होने से होती है, किन्तु गणना उलटी होती है, अर्थात् अन्तिम चरण से फलोत्पत्ति होती है। यह सभी बातें भ्रामक-सी हैं, क्योंकि

इस प्रकार के कालों में उत्पन्न बच्चों के माता-पिता दीर्घजीवी होते देखे गये हैं, स्वयं बच्चों पर कोई विपत्ति नहीं आयी है।

टॉल्मी ने सामान्येतर कक्षों एवं प्राक्चक्रों का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। यद्यपि वर्तमानकालिक ज्योतिःशास्त्रीय विवेचनों से परीक्षित होने पर उसके सिद्धान्त त्रुटिपूर्ण ठहरते हैं तथापि वह और उसके अनुयायी ग्रहणों के विषय में भविष्यवाणी करने में समर्थ थे। इससे विदित होता है त्रुटिपूर्ण धारणाओं से भी कुछ विषयों में सम्यक् अनुमान निकाले जा सकते हैं। वराहमिहिर तथा उनके अनुयायियों के सिद्धान्तों की जाँच भी सम्भव नहीं हो सकी है, क्योंकि पूर्व जीवनों में किये गये कर्मों की जाँच सम्भवतः नहीं हो सकती। बहुत से व्यक्ति अपने पूर्व जीवन के कर्मों में कोई विश्वास नहीं रखते और न पूर्व एवं भविष्य के जीवनों में अभिरुचि रखते हैं। कुछ लोग अपने जीवन की भावी बातों में कुछ जानकारी प्राप्त करने में अभिरुचि अवश्य रखते हैं। जन्म-पत्र से भावी प्रवृत्तियों पर प्रकाश पड़ता है, ऐसा ज्योतिष का विश्वास है। यदि ज्योतिषी लोग केवल भावी बातों की ही चर्चा करें और कोई भावात्मक बात न बतायें तो उनके पैर के नीचे की धरती ही खिसक जायगी और उनकी वृत्ति समाप्त हो जायगी। आज न केवल भारत में प्रत्युत विश्व के अधिकांश भागों में ज्योतिष एक जीता-जागता विश्वास है, और ऐसा प्रतीत होता है कि इस विश्वास को वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक शोध नष्ट नहीं कर सकते। किन्तु ऐसा विश्वास करना कि ग्रहों के कारण ही जीवन-गतियाँ रूप धारण करती जाती हैं, बड़ी भयंकर धारणा होगी, क्योंकि अपराधी ऐसा कह सकता है कि उसने जो अपराध किया उसका उत्तरदायित्व उस पर नहीं है, प्रत्युत उसने ग्रहों के प्रभाव में आकर ही यह अपराध किया है, जिसमें उसका कोई बल या अधिकार नहीं है, वह तो असहाय रहा है, उसका क्या दोष है, आदि।

भारतीय ज्योतिष के इस संक्षिप्त विवरण को समाप्त करने के पूर्व संस्कृत के एक ग्रन्थ भृगुसंहिता के विषय में कुछ लिखना आवश्यक है, जिसके विषय में यह विदित है कि उसमें मेष से लेकर आगे की १२ राशियों में उत्पन्न लोगों की जन्म-पत्रिकाएँ उल्लिखित हैं, जहाँ व्यक्तियों के पूर्व जन्मों के कर्मों की ओर संकेत है, व्यक्तियों के जन्म से मृत्यु तक की ग्रह-स्थितियों एवं महत्त्वपूर्ण जीवन-घटनाओं का पूर्ण उल्लेख है। जिनके पास भृगुसंहिता है वे सम्पूर्ण ग्रन्थ किसी अन्य को नहीं दिखाते, केवल वे जिज्ञासुओं के समक्ष ही उन्हें तथ्य देने के लिए कुछ श्लोक पढ़ कर सुना देते हैं और लोग सुन कर आश्चर्य में पड़ जाते हैं। इसमें बहुत-सी भ्रामकता है। प्रस्तुत लेखक ने बम्बई विश्वविद्यालय के देसाई संग्रह में भृगुसंहिता की चार पाण्डुलिपियाँ देखी हैं। यह संहिता गंधमादन पर्वत पर भृगु द्वारा अपने पुत्र शुक्र को पढ़ायी गयी है। इसमें मेष, वृषभ, मिथुन एवं कर्क नामक चार लग्नों में प्रत्येक के ६०० जन्म-पत्रों का उल्लेख है, प्रत्येक जन्म-पत्र के विषय में १५ से २० श्लोक हैं जो एक ही लग्न में विभिन्न ग्रहों की विभिन्न स्थितियों पर प्रकाश डालते हैं। सभी सम्भव जन्म-पत्रों को यदि १५ या २० श्लोकों में उल्लिखित किया जाय तो भृगुसंहिता को किसी पुस्तकालय में रखना सम्भव नहीं है। लग्नों के रूप में १२ राशियाँ हैं, ९ ग्रह (राहु एवं केतु को सम्मिलित कर) हैं और १२ भाव हैं। यदि गणित का प्रसार किया जाय तो करोड़ों जन्म-पत्र बनेंगे और १५ या २० श्लोकों में फल घोषित किये जायँ तो करोड़ों श्लोकों का प्रणयन हो जायगा। अतः भृगुसंहिता से उद्धरण लेकर जन्म-पत्र का विवरण उपस्थित करना अधिकतर धोखा है।

भारतीय ज्योतिष में सब से अधिक महत्वपूर्ण विषय हैं राशियाँ, ग्रह एवं बारह भाव (घर या स्थान)। सर्वप्रथम राशियों की चर्चा करेंगे। कुछ तारागण या तारा-दल मेष या वृषभ आदि क्यों कहे जाते हैं। आकाश में तो भेड़ एवं बैल नहीं हैं। पृथिवीस्थित कुछ निरीक्षकों ने कल्पना की कि कुछ तारागण आँखों के सामने पशुओं मानवीय आकृतियों एवं पौराणिक कल्पित जीवों के सदृश लगते हैं। यह हमने देख लिया है (दूसरे खण्ड के

अध्याय १६ में) कि चीनी एवं जापानी लोग इन्हें विभिन्न नामों से पुकारते हैं। अतः राशियों के नामकरण में बहुत-से कल्पनात्मक एवं मनमाने ढंगों का सहारा लिया गया है। एक बार अभिहित हो जाने के उपरान्त राशियाँ कई प्रकार से विभाजित होती हैं और उनके वर्ग के अनुसार ही भविष्यवाणियाँ की जाती हैं। ये विभाजन समान क्रम में आने वाले (अपनी अनुभूति के अनुरूप) विचारों एवं कल्पना पर आधारित हैं। किन्तु मेष एवं मिथुन (जो पुरुष एवं नारी दोनों हैं) दोनों पुरुष (पुंल्लिग) क्यों हैं और वृषभ एवं वृश्चिक स्त्री क्यों हैं? इसका कोई उत्तर नहीं है, केवल यही कहा जा सकता है कि राशियों को दो भागों, पुरुष एवं स्त्रीलिंग में विभाजित करना था तो उन्हें अनुरूपता के लिए (एक को) पुरुष एवं (दूसरे को) स्त्री कह दिया गया। इसी कारण से समनुरूपता के क्रम में मेष एवं कर्क को तथा सिंह एवं वृश्चिक को **स्थिर** कहा गया। सूर्य (सभी प्रकाशों को देने वाले एवं विश्व के आश्रय), मंगल एवं शनि को **क्रूर या पाप** (दुष्ट) ग्रह कहा गया, बृहस्पति एवं शुक्र को शुभकर तथा क्षयशील चन्द्र को अशुभकर कहा गया। यहाँ विचारों के साहचर्य एवं उपमा का सहारा लिया गया है। बृहस्पति एवं शुक्र दोनों चमकदार एवं श्वेत हैं, किन्तु मंगल लाल (रक्त के रंग का) है। इसके अतिरिक्त प्रथम दो क्रम से देवों एवं असुरों के गुरु हैं। अतः वे शुभकर हैं और मंगल अशुभकर है। सूर्य, बृहस्पति एवं मंगल पुंल्लिग, चन्द्र एवं शुक्र स्त्रीलिंग तथा बुध एवं शनि नपुंसक विचार-साहचर्य के कारण ही हैं। चन्द्र एवं शुक्र सुन्दर एवं मृदु हैं, अतः वे स्त्रीलिंग हैं, किन्तु सूर्य (जिसमें भयानक अग्नि है), मंगल (रक्त रंग वाला) एवं बृहस्पति (देवों के आचार्य) पुंल्लिग हैं। आज के ज्योतिःशास्त्र के अनुसार चन्द्र शुष्क है और उसमें ज्वालामुखियों के अवशेष मात्र हैं, तथापि ज्योतिषियों के अनुसार वह स्त्रीलिंग है। संस्कृत में चन्द्र को 'शशांक' कहा जाता है। जापानी चन्द्र-देवी 'ग्वाटेन' खरगोश के साथ अंकित है।

अब हम **स्वगृहों** एवं **उच्चों** (ग्रहों की उच्चताओं) के सिद्धान्त की चर्चा करेंगे। बारह राशियाँ एवं सात ग्रह हैं; पाँच ग्रहों को दो-दो राशियाँ स्वगृह के रूप में दी गयी हैं और शेष दो ग्रहों को एक-एक राशि स्वगृह के रूप में मिली है। बृहज्जातक में सूर्य एवं चन्द्र की केवल एक-एक राशि मानी गयी है क्रम से सिंह एवं कर्क, किन्तु अन्य पाँच ग्रहों में प्रत्येक को दो राशियाँ दी गयी हैं। ऐसा क्यों है? कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दिया जा सकता। दो राशियों को स्वगृह के रूप में लेना केवल अनुक्रम का द्योतक है, यथा सिंह के उपरान्त एक तथा कर्क के उपरान्त एक, अर्थात् कन्या एवं मिथुन बुध को; इसी प्रकार दूरी के आधार पर अन्य ग्रहों को राशियाँ दी गयी हैं। इसका परिणाम यह है कि वृषभ एवं तुला सुन्दर एवं चमकदार ग्रह शुक्र के स्वगृह हैं तथा धनु एवं मीन बृहस्पति के स्वगृह हैं। यदि हम **उच्च** के सिद्धान्त की बात करें तो कोई बौद्धिक ज्योतिषीय उत्तर नहीं मिलता कि मेष, वृषभ, मकर, कन्या, कर्क, मीन एवं तुला क्रम से सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र एवं शनि के उच्च क्यों कहे गये हैं।

बारह **भावों** के नामकरण एवं उनकी **व्यवस्था** का भी कोई बौद्धिक आधार नहीं प्राप्त होता। जन्म एवं मरण व्यक्ति के जीवन के दो छोर हैं। यदि पहला भाव **तनु** है तो मृत्यु का भाव (अन्तिम भाव) १२ वाँ होना चाहिए, किन्तु बृहज्जातक आदि ग्रन्थों में मृत्यु का भाव आठवाँ है। कुछ भावों के बारे में बहुत-से विषय हैं। उदाहरणार्थ, चौथे भाव में व्यक्ति के सम्बन्धी, मित्र, घर, आनन्द (सुख) एवं वाहन आदि हैं। पाँचवें भाव में पुत्र, ज्ञान, बुद्धि एवं वाणी है। मान लिया जाय कि यह भाव बड़े सुन्दर ढंग से व्यवस्थित है तो भविष्यवाणी होगी कि व्यक्ति को कई पुत्र होंगे, वह विद्वान् होगा और अच्छा वक्ता होगा। किन्तु ये सब एक साथ बहुत कम घटित होते हैं। बुद्धिमान् व्यक्ति पुत्रहीन होता है तथा अति विद्वान् व्यक्ति अधिकतर अच्छा वक्ता नहीं होता।

अब हम ग्रहों की पारस्परिक मित्रता एवं शत्रुता का विवेचन करेंगे। इस विषय में कोई भी स्पष्ट कारण

नहीं मिलता। सिद्धान्त रूप से शुभ ग्रह शुक्र सूर्य का शत्रु क्यों है, जब कि दूसरा शुभ ग्रह बृहस्पति उसका मित्र है? इसका उत्तर देना अति कठिन है। इतना ही नहीं, ये सम्बन्ध पारस्परिक सम्बन्धों पर नहीं आधारित हैं। चन्द्र का कोई शत्रु नहीं है, किन्तु शुक्र के दृष्टिकोण से शुक्र चन्द्र का शत्रु है। बुध (जो पौराणिक रूप से चन्द्र का पुत्र है) चन्द्र का मित्र है, किन्तु बुध के दृष्टिकोण के आधार पर उसका चन्द्र शत्रु है। एक और आश्चर्यजनक विषय है। मनुष्य के समान ग्रह भी (सूर्य एवं चन्द्र को छोड़ कर अन्य सभी) आपस में युद्ध करते हैं। इसके अतिरिक्त मंगल एवं बृहस्पति के बीच बहुत-से छोटे-छोटे ग्रह हैं; प्राचीन एवं मध्य कालों के जन्म-पत्रों में यूरेनिस, नैपच्यून, प्लूटो एवं बृहस्पति के कतिपय उपग्रहों की चर्चा ही नहीं हुई है।

भारतीय ज्योतिष का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है **दृष्टि**, जिसकी व्याख्या गत अध्याय में हो चुकी है। जब प्राचीन काल में ग्रहों की दूरी नहीं ज्ञात थी तो इस सिद्धान्त का महत्त्व था, किन्तु ज्ञान-परिधि बढ़ जाने से **दृष्टि-सिद्धान्त** का कोई औचित्य नहीं है। इस विशाल ब्रह्माण्ड में प्रत्येक ग्रह एवं तारा वास्तव में एक-दूसरे को देखता है, बीच में कोई आकाशीय तत्त्व आ जाने से इस प्रकार के देखने में व्यतिक्रम उत्पन्न हो सकता है। किन्तु यह जानना कितना कठिन है कि कोई ग्रह या तारा एक चौथाई, या अर्ध या तीन-चौथाई दृष्टि (विभिन्न कोणों में) पर दूसरे ग्रह या तारा को देखता है।

जब कोई ज्योतिषी यह कहता है कि कोई ग्रह (मान लीजिए शुक्र) अपने घर (स्वगृह) में है, अर्थात् चन्द्र के साथ वृषभ में, तो इसका क्या तात्पर्य है? वृषभ राशि में कई तारे होते हैं, जिनमें सब से अधिक ज्योतिर्मान् रोहिणी है। प्रकाश एक सेकण्ड में १,८६,००० मील चलता है और वर्तमान ज्योतिःशास्त्र के अनुसार रोहिणी स पृथिवी पर पहुँचने में उसे ५७ वर्ष लगते हैं। स्थिति यों है: पृथिवी पर का निरीक्षक चन्द्र, शुक्र एवं रोहिणी को एक-दूसरे के पास देखता है। आज के ज्योतिःशास्त्र के अनुसार चन्द्र पृथिवी से लगभग २, ४०,००० मील, शुक्र इससे कुछ करोड़ मील तथा रोहिणी अरबों मील दूर है। वे सन्निकट केवल दूर रहने के कारण ही दृष्टिगोचर होते हैं। यह एक ऐसी कठिनाई है जिसे ज्योतिषी भूल जाते हैं। जब कोई निरीक्षक आज रोहिणी को देखता है तो उसे जो किरणें आज दीख पड़ती हैं वे आज से ५७ वर्ष पूर्व वहाँ (रोहिणी) से चली थीं, किन्तु मंगल की किरणें अपने प्रस्थान से कुछ मिनटों में दीख जाती हैं तथा चन्द्र की डेढ़ सेकण्ड में दीख जाती हैं।

सम्भवतः राशि-ज्योतिष का प्रादुर्भाव भारत में ईसा के ३ शतियों पहले हुआ था। वराहमिहिर के पूर्वजों तथा स्वयं उन्होंने मेष, वृषभ आदि राशियों को ज्योतिर्मण्डल के किसी विशिष्ट वृत्तांश में देखा, और उन व्यक्तियों की मानसिक विशेषताओं एवं वृत्तियों के विषय में नियम प्रतिपादित किये जो तब उत्पन्न हुए थे जब चन्द्र मेष में था, या उन व्यक्तियों के विषय में लिखा जो मेष या अन्य राशियों में उत्पन्न हुए थे, जब सूर्य, मंगल आदि ग्रह उन राशियों में थे। आज से दो सहस्र वर्ष पहले जहाँ वृषभ राशि थी, वहाँ आज मेष राशि होगी। ऐसी स्थिति में ज्योतिषीय गणना कैसे ठीक हो सकती है, जब कि समय के व्यवधान से राशि-स्थलों में इतना परिवर्तन हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचनों से भारतीय ज्योतिष के दोष स्वतः प्रकट हो जाते हैं, और विचारशील व्यक्ति स्वयं निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि ज्योतिष के नियमों का प्रभाव उनके संकल्पों एवं क्रियाओं पर बहुत कम पड़ता है। अति प्राचीन काल में ज्योतिषीय विस्तार अधिक नहीं था, किन्तु गत दो सहस्र वर्षों में वह बहुत बढ़ गया तथा धार्मिक मान्यताएँ फलतः बहुत बोझिल हो गयीं। जो लोग ऐसा विश्वास करते हैं कि सभी घटनाएँ ग्रहों एवं तारों से प्रभावित एवं अभिभूत हैं, वे एक प्रकार से भूल करते हैं। वे एक ओर भगवान् के नियन्त्रण को नगण्य ठहरा देते हैं और मानव की स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति को छीन लेते हैं। यदि ज्योतिषी ग्रहों के द्वारा निर्देशित घटनाओं को

रोक नहीं सकते या उन्हें निरर्थक नहीं सिद्ध कर सकते तो उनके पूर्व ज्ञान से हमें क्या लाभ है? यदि वे नियति की घटनाओं को रोक सकते हैं या उन्हें निरर्थक सिद्ध कर सकते हैं तो वे इस सिद्धान्त को किस प्रकार प्रश्रय दे सकेंगे कि ग्रहों से ही घटनाएँ उद्भूत होती हैं?

अब प्रश्न उठता है कि उपनयन एवं विवाह जैसे धार्मिक कृत्य किस सीमा तक ज्योतिषीय निर्धारणाओं पर आधारित रहें। गृह्यसूत्रों एवं मनु के कालों में ज्योतिषीय आवश्यकताएँ बहुत कम थीं, ये आवश्यकताएँ क्रमशः बोझिल होती चली गयीं। ११ वीं शती में भी राजमार्तण्ड जैसे ग्रन्थों में विशिष्ट स्थितियों में विवाह आदि के समय धार्मिक कृत्यों के लिए ज्योतिषीय व्यवस्थाओं को शिथिल कर देने की बात चलायी गयी है। हमें गृह्यसूत्रों एवं मनु के नियमों तक ही अपने को सीमित रखना चाहिए।

अध्याय १८

पंचांग (पंजी), संवतों, वर्षों, मासों आदि की कतिपय गणनाएँ

व्रतों एवं उत्सवों के सम्पादन के सम्यक् कालों तथा यज्ञ, उपनयन, विवाह आदि धार्मिक कृत्यों के लिए उचित कालों के परिज्ञानार्थ हमें पंजी या पंचांग की आवश्यकता पड़ती है। लोक-जीवन के प्रयोग के लिए धार्मिक उत्सवों एवं ज्योतिषीय बातों की जानकारी के हेतु बहुत पहले से ही दिनों, मासों एवं वर्ष के सम्बन्ध में जो ग्रन्थ या विधिक संग्रह बनता है उसे पंचांग या पंजिका या पंजी कहते हैं। भारत में ईसाइयों, पारसियों, मुसलमानों एवं हिन्दुओं द्वारा लगभग तीस पंचांग व्यवहार में लाये जाते हैं। वर्तमान काल में हिन्दुओं द्वारा नाना प्रकार के पंचांगों का प्रयोग होता है। इनमें कुछ तो सूर्यसिद्धान्त पर, कुछ आर्यसिद्धान्त पर, कुछ अपेक्षाकृत पश्चात्कालीन ग्रन्थों, यथा ग्रहलाघव आदि पर आधारित हैं। कुछ पंचांग चैत्र शुक्ल प्रतिपद् (प्रतिपदा) से, कुछ कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा से आरम्भ किये जाते हैं तथा कुछ ऐसे स्थान हैं, यथा हलार प्रान्त (काठियावाड़), जहाँ वर्ष का आरम्भ आषाढ़ शुक्ल प्रतिपदा से होता है। गुजरात एवं उत्तरी भारत (बंगाल को छोड़ कर) में विक्रम संवत्, दक्षिण भारत में शक संवत् तथा कश्मीर में लौकिक संवत् का व्यवहार होता है। कुछ भागों (उत्तरी भारत एवं तेलंगाना) में मास पूर्णिमान्त (पूर्णिमा से अन्त होने वाले) होते हैं, अन्यत्र (बंगाल, महाराष्ट्र एवं दक्षिण भारत) में अमान्त (अमावास्या से अन्त होने वाले) होते हैं। इसका परिणाम यह है कि कुछ उपवास एवं उत्सव, जो भारत में सार्वभौम रूप में प्रचलित हैं, यथा एकादशी एवं शिवरात्रि के उपवास एवं श्रीकृष्णजन्म-सम्बन्धी उत्सव विभिन्न भागों में विभिन्न सम्प्रदायों द्वारा दो विभिन्न दिनों में होते हैं तथा कुछ कृत्यों के दिनों में तो एक मास का अन्तर पड़ जाता है। यथा पूर्णिमान्त गणना से कोई उत्सव आश्विन कृष्ण पक्ष में हो सकता है तो वही मास भाद्रपद कृष्ण पक्ष (अमान्त गणना के अनुसार) कहला सकता है और वही उत्सव एक मास उपरान्त मनाया जा सकता है। आजकल तो यह विभ्रमता और बढ़ गयी है जब कि कुछ पंचांग, यथा दृक् या दृक्प्रत्यय, जो नाविक पंचांग पर आधारित हैं, इस प्रकार व्यवस्थित हैं कि ग्रहण जैसी घटनाएँ उसी प्रकार घटें जैसा कि लोग अपनी आँखों से देख लेते हैं। ऐसा लगता है कि दक्षिण भारत में बहुत-सी पंजिकाएँ हैं। तमिलनाडु में दो प्रकार हैं, एक दृक्-गणित पर आधारित और दूसरा वाक्य-विधि (आर्यभट पर आधारित मध्यकाल की गणनाएँ, जो अपेक्षाकृत कम ठीक फल प्रकट करती हैं) पर। पुदुकोट्टाई पंचांग (वाक्य-विधि वाले) उसी नाम वाले राजाओं द्वारा प्रकाशित होते हैं। श्रीरंगम् पंचांग (वाक्य प्रकार) रामानुजीय वैष्णवों द्वारा व्यवहृत होते हैं, किन्तु माध्वों (वैष्णवों के एक सम्प्रदाय के लोगों) के लिए एक अन्य पंचांग है। स्मार्तों द्वारा व्यवहृत कञ्जनूर पंचांग अत्यंत प्रचलित है और वाक्य पंचांग है। स्मार्त लोग शंकराचार्य के अधिकार से प्रकाशित दृक्-पंचांग को व्यवहार में नहीं लाते। तेलुगु लोग गणेश दैवज्ञ के ग्रहलाघव (सन् १५२० में प्रणीत) पर आधारित सिद्धान्त-चन्द्र पंचांग का प्रयोग करते हैं। मलाबार में लोग दृक्-पंचांग का प्रयोग करते हैं किन्तु वह परहित नाम वाली मलाबार-पद्धति पर आधारित है न कि तमिलों द्वारा प्रयुक्त दृक्-पंचांग पर। तेलुगु लोग चन्द्र-गणना स्वीकार करते हैं और चैत्र शुक्ल से युगादि नामक वर्ष का आरम्भ मानते हैं, किन्तु तमिल सौर गणना के पक्षपाती हैं और अपने चैत्र का आरम्भ मेष विषुव से करते हैं, किन्तु उनके

व्रत एवं धार्मिक कृत्य, जो तिथियों पर आधारित हैं, चान्द्रमान के अनुसार सम्पादित होते हैं। बंगाली लोग सौर मासों एवं चान्द्र दिनों का प्रयोग करते हैं जो मलमास के मिलाने से त्रिवर्षीय अनुकूलन का परिचायक है।

तीन सिद्धान्त प्रयोग में आते हैं, यथा **सूर्यसिद्धान्त** (अपनी विशुद्धता के कारण सारे भारत में प्रयुक्त है), **आर्यसिद्धान्त** (त्रावणकोर, मलाबार, कर्णाटक में माध्वों द्वारा, मद्रास के तमिल जनपदों में प्रयुक्त) एवं **ब्राह्म-सिद्धान्त** (गुजरात एवं राजस्थान में प्रयुक्त)। अन्तिम सिद्धान्त अब प्रथम सिद्धान्त के पक्ष में समाप्त होता जा रहा है। सिद्धान्तों में महायुग से आरम्भ कर गणनाएँ की जाती हैं जो इतनी भारी भरकम हैं कि उनके आधार पर सीधे ढंग से पंचांग बनाना कठिनसाध्य है। अतः सिद्धान्तों पर आधारित **करण** नामक ग्रन्थों के आधार पर पंचांग निर्मित होते हैं, यथा बंगाल में मकरन्द, गणेश का ग्रहलाघव। ग्रहलाघव की तालिकाएँ दक्षिण, मध्य भारत तथा भारत के कुछ भागों में प्रयुक्त होती हैं। सिद्धान्तों में आपसी अन्तर के दो महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं—(१) वर्ष विस्तार के विषय में (वर्षमान का अन्तर केवल कुछ विपलों का है) और (२) कल्प या महायुग या युग में चन्द्र एवं ग्रहों की चक्र-गतियों की संख्या के विषय में।

ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि यह बात केवल भारत में ही पायी गयी है। आजकल का यूरोपीय पंचांग भी असन्तोषजनक है। प्रारम्भिक रूप में ई० पू० ४६ में जुलिएस सीजर ने एक संशोधित पंचांग निर्मित किया और प्रति चौथे वर्ष 'लीप' वर्ष की व्यवस्था की। किन्तु उसकी गणनाएँ ठीक नहीं उतरीं, क्योंकि सन् १५८२ में वासन्तिक विषुव २१ मार्च को न होकर १० मार्च को हुआ। पोप ग्रेगोरी १३ वें ने घोषित किया कि ४ अक्टूबर के उपरान्त १५ अक्टूबर होना चाहिए (दस दिन समाप्त कर दिये गये)। उसने आगे कहा कि जब तक ४०० से भाग न लग जाय तब तक शती वर्षों में 'लीप' वर्ष नहीं होना चाहिए (इस प्रकार १७००, १८००, १९०० ईसवियों में अति-रिक्त दिन नहीं होगा, केवल २००० ई० में होगा)। तब भी त्रुटि रह ही गयी, किन्तु ३३ शतियों से अधिक वर्षों के उपरान्त ही एक दिन घटाया जायेगा। आधुनिक ज्योतिःशास्त्र की गणना से ग्रेगोरी वर्ष २६ सेकण्ड अधिक है। सुधारवादी प्रोटेस्टेण्ट इंग्लैण्ड ने सन् १७५० ई० तक पोप ग्रेगोरी का सुधार नहीं माना, जब कि कानून बना कि २ सितम्बर को ३ सितम्बर न मान कर १४ सितम्बर माना जाय (११ दिन छोड़ दिये जायँ)। तब भी यूरोपीय पंचांग में दोष रह ही गया। इसमें मास में २८ से ३१ तक दिन होते हैं, एक वर्ष के एक पाद में ९० से ९२ दिन होते हैं; वर्ष के दोनों अर्धांशों (जनवरी से जून एवं जुलाई से दिसम्बर) में क्रम से १८१ (या १८२) एवं १८४ दिन होते हैं; मास में कर्म दिन २४ से २७ होते हैं तथा वर्ष एवं मास विभिन्न सप्ताह-दिनों से आरम्भ होते हैं। व्रतों का राजा ईस्टर सन् १७५१ के उपरान्त ३५ विभिन्न सप्ताह दिनों में (अर्थात् २२ मार्च से २५ अप्रैल तक) पड़ा, क्योंकि वह (ईस्टर) २१ मार्च पर या उसके उपरान्त पड़ने वाली पूर्णिमा का प्रथम रविवार है।

यह पहले ही निर्देश किया जा चुका है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में शुद्ध ज्योतिःशास्त्रीय बातों का विवेचन नहीं होगा, अतः लेखक तत्सम्बन्धी विवरणों में नहीं पड़ेगा। किन्तु आवश्यकतानुसार यत्र-तत्र कुछ बातों पर प्रकाश डाल दिया जायेगा। जो लोग भारतीय ज्योतिःशास्त्र (ऐस्ट्रॉनॉमी) के विषय में जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं वे निम्न ग्रन्थों एवं लेखों को पढ़ सकते हैं—वारेन का कालसंकलित; सूर्यसिद्धान्त (ह्विटनी द्वारा अनूदित); वराहमिहिर की पञ्चसिद्धान्तिका (थिबो एवं सुधाकर द्विवेदी द्वारा अनूदित); जे० बी० जर्विस कृत 'इण्डिएन मेट्रालॉजी'; शंकर बालकृष्ण दीक्षित कृत 'भारतीय ज्योतिःशास्त्र' (मराठी में उच्च कोटि का ग्रन्थ, हिन्दी में अनुवाद; सेवेल एवं दीक्षित का इण्डिएन कैलेण्डर (१८९६ ई०); सेवेल कृत 'इण्डिएन क्रोनोग्रैफी' (१९१२ ई०); सेवेल कृत 'सिद्धान्ताज एण्ड इण्डिएन कैलेण्डर'; लोकमान्य तिलक कृत 'वेदिक क्रोनोलोजी एण्ड वेदांग-ज्योतिष' (१९२५); दीवान बहादुर स्वामिकन्नू पिल्लई कृत 'इण्डिएन एफिमेरिस' (सात जिल्दों में); वी० बी०

केतकर कृत 'ज्योतिर्गणितम्, केतकी, वैजयन्ती, ग्रहगणित, एवं एण्डिएन एण्ड फारेन क्रानोलाजी; जैकोबी के लेख (एपिग्रैफिया इण्डिका, जिल्द १, पृ० ४०३-४६०; जिल्द २, पृ० ४८७-४९८; जिल्द १२, पृ० ४७, वही, पृ० १५८); सेवेल के लेख (ए० इ०, जिल्द १४, पृ० १, २४; जिल्द १५, पृ० १५९; जिल्द १६, पृ० १००-२२१; जिल्द १७, पृ० १७, १७३, २०५; इण्डिएन हिस्टारिकल क्वार्टरली, जिल्द ४, पृ० ४८३-५११, जिल्द १०, पृ० ३३२-३३६); नाटिकल एल्मैनेक (१९३५); प्रो० सेनगुप्त कृत 'ऐंश्येण्ट इण्डिएन क्रोनोलाजी' (१९४७, कलकत्ता विश्वविद्यालय); डा० के० एल० दफ्तरी कृत 'करण-कल्पलता' (संस्कृत में); 'भारतीय ज्योतिःशास्त्र निरीक्षण' (मराठी में); डा० मेघनाथ साहा का लेख 'रिफार्म आव दि इण्डिएन कैलेण्डर' (साइंस एण्ड कल्चर, कलकत्ता, १९५२, पृ० ५७-६८, १०९-१२३); रिपोर्ट आव दि कैलेण्डर रिफार्म कमिटी, भारत सरकार द्वारा प्रकाशित, १९५५ (बहुत लाभदायक ग्रन्थ)।

सभी देशों में काल की मौलिक अवधियाँ एक-सी हैं, यथा दिन, मास, वर्ष (जिसमें ऋतुएँ भी हैं)। वर्ष युगों अथवा कालों के अंश या भाग होते हैं जो काल-क्रमों एवं इतिहास के लिए बड़े महत्त्व के हैं। यद्यपि काल की अवधियाँ, समान हैं तथापि मासों एवं वर्षों की व्यवस्था में दिनों के क्रम में अन्तर पाया जाता है, दिनों की अवधियों (उपविभागों), दिन के आरम्भ-काल, ऋतुओं एवं मासों में वर्षों का विभाजन, प्रत्येक मास एवं वर्ष में दिनों की संख्या तथा विभिन्न प्रकार के मासों में अन्तर पाया जाता है। काल के बड़े मापक हैं सूर्य एवं चन्द्र। धुरी पर पृथिवी के घूमने से दिन बनते हैं। मास प्रमुखतः चान्द्र अवस्थिति है तथा वर्ष सूर्य की प्रत्यक्ष गति है (किन्तु वास्तव में यह सूर्य के चतुर्दिक् पृथिवी का भ्रमण है)। अयनवृत्तीय वर्ष सूर्य के वासन्तिक विषुव से अग्रिम विषुव तक का काल है। अयनवृत्तीय (ट्रापिकल) वर्ष नक्षत्रीय वर्ष (एक ही अचल तारे पर सूर्य की दो लगातार अर्थात् एक के उपरान्त एक पहुँच के बीच का काल) अर्थात् साइडरीयल वर्ष से अपेक्षाकृत छोटा है और यह कमी २० मिनटों की है, क्योंकि वासन्तिक विषुव का बिन्दु प्रति वर्ष ५० सेकण्ड के रूप में पश्चिम ओर घूम जाता है।[1]

आधुनिक पंचांग में संवत् का वर्ष, मास, मास-दिन तथा अन्य धार्मिक एवं सामाजिक रुचियों की बातें पायी जाती हैं। मनुष्य को युग, वर्ष, मास के विस्तारों का ज्ञान बहुत बाद को प्राप्त हुआ। चान्द्र मास २९½ दिन से कुछ अधिक तथा अयनवृत्तीय वर्ष ३६५¼ दिनों से कुछ कम होता है। ये विषम अवधियाँ हैं। साधारण जीवन एवं पंचांगों के लिए पूर्ण (सम-विभक्त) दिनों की आवश्यकता होती है। इतना ही नहीं, वर्ष एवं मास का

१. पृथिवी की दो गतियों (अपनी धुरी पर इसकी प्रतिदिन की गति या चक्कर एवं सूर्य के चतुर्दिक् इसके वार्षिक चक्कर) के अतिरिक्त एक तीसरी गति भी है जिसे लोग भली भाँति नहीं जानते हैं। पृथिवी पूर्णतः गोलक नहीं है, इसका निरक्षीय (भूमध्य रेखीय) व्यास इसके ध्रुवीय व्यास से बड़ा है। इसका फल यह होता है कि भूमध्य रेखा (निरक्ष) पर पदार्थ-समूह उभरा हुआ है जो उस स्थिति से अधिक है जब कि पृथिवी पूर्णरूपेण गोल होती। पृथिवी की धुरी पर एक हलकी सूच्याकार चक्कर में घूमने वाली गति है जो लट्टू के समान है और वह २५,८०० वर्षों में एक चक्कर लगा पाती है। यह वार्षिक हटना ५०".२ सेकण्ड का है, जो सूर्य एवं चन्द्र के निरक्षीय उभार पर खिंचाव के कारण होता है। इसी से स्थिर तारे, यहाँ तक कि ध्रुव तारा, एक शती के उपरान्त दूसरी शती या दूसरे काल में अपने स्थानों से परिवर्तित दृष्टिगोचर होते हैं। (नार्मन लॉकर एवं हिक्की)

आरम्भ भली भाँति व्याख्यायित होना चाहिए, और उनमें ऋतुओं एवं किसी संवत् का प्रयोग अत्यन्त आवश्यक है। ये ही पंचांग की आवश्यकताएँ हैं। उपर्युक्त दो ज्योतिःशास्त्रीय अवधियों की अतुल्यता ही पंचांगों की जटिलता की द्योतक है। मुसलमानों ने अयनवृत्तीय वर्ष के विस्तार पर ध्यान न देकर तथा चन्द्र को काल का मापक मान कर इस जटिलता का समाधान कर लिया। उनका वर्ष विशुद्ध चान्द्र वर्ष है। इसका परिणाम यह हुआ कि मुसलमानी वर्ष केवल ३५४ दिनों का हो गया और लगभग ३३ वर्षों में उनके सभी उत्सव वर्ष के सभी मासों में घूम जाते हैं। दूसरी ओर प्राचीन मिस्र वालों ने चन्द्र को काल के मापक रूप में नहीं माना और उनके वर्ष में ३६५ दिन थे (३० दिनों के १२ मास एवं ५ अतिरिक्त दिन)। उनके पुरोहित-गण ३००० वर्षों तक यही विधि मानते रहे; उनके यहाँ अतिरिक्त वर्ष या मलमास नहीं थे। ऋग्वेद (१।२५।८) में भी अतिरिक्त मास का उल्लेख है, किन्तु यह किस प्रकार व्यवस्थित था, हमें ज्ञात नहीं। हमें विदित है कि वेदांगज्योतिष ने पाँच वर्षों में दो मास जोड़ दिये हैं। प्राचीन कालों में मासों की गणना चन्द्र से एवं वर्षों की सूर्य से होती थी। लोग पहले से सही जान लेना चाहते थे कि व्रतों एवं उत्सवों के लिए पूर्णिमा या परिवा (प्रतिपदा) कब पड़ेगी, कब वर्षा होगी, शरद कब आयेगी और कब बीज डाले जायँ और अन्न के पौधे काटे जायँगे। यज्ञों का सम्पादन वसन्त ऋतु में या अन्य ऋतुओं में, प्रथम तिथि या पूर्णिमा को होता था। चान्द्र वर्ष के ३५४ दिन सौर वर्ष के दिनों से ११ कम पड़ते थे। अतः यदि केवल चान्द्र वर्ष की अभियोजना हो तो ऋतुओं को पीछे हटाना पड़ जायगा। इसी लिए कई देशों में अधिक मास की अभियोजना निश्चित हुई। यूनानियों में आक्टाएटेरिस (आठ वर्षों के वृत्त) की योजना थी, जिसमें ९९ मास थे जिनमें तीसरा, पाँचवाँ एवं आठवाँ मलमास थे। इसके उपरान्त १९ वर्षों का मेटानिक वृत्त बना, जिसमें ७ अधिक मास (१९×१२+७=२३५) निर्धारित हुए। ओल्मस्टीड (अमेरिकन जर्नल आव सेमेटिक लैंग्वेजेज, जिल्द ५५, १९३८, पृ० ११६) का कथन है कि बेबिलोन में मलमास-वृत्त आठ वर्षों का था, जिसे यूनानियों ने अपनाया। फादिरंघम (जर्नल आव हेलेनिस्टिक स्टडीज, जिल्द ३९, पृ० १७९) का कहना है कि बेबिलोनी मलमास-पद्धति ई० पू० ५२८ तक असंयमित थी तथा यूनान में ई० पू० पाँचवीं एवं चौथी शतियों में अव्यवस्थित थी। देखिए कैलेण्डर रिफार्म कमिटी की रिपोर्ट, पृ० १७५-१७६।

भारत में जन्म-पत्रिकाओं के उपयोग के लिए संवतों का प्रयोग लगभग २००० वर्षों से अधिक प्राचीन नहीं है। संवत् का लगातार प्रयोग हिन्दू-सिथियनों द्वारा, जिन्होंने आधुनिक अफगानिस्तान एवं उत्तर-पश्चिमी भारत में लगभग ई० पू० १०० एवं १०० ई० के बीच शासन किया, उनके वृत्तान्तों में हुआ। यह बात केवल भारत में ही नहीं पायी गयी, प्रत्युत मिस्र, बेबिलोन, यूनान एवं रोम में संवत् का लगातार प्रयोग बहुत आगे चलकर शुरू हुआ। ज्योतिर्विदाभरण में (जो पश्चात्कालीन रचना है, जिसमें यह आया है कि यह गतकलि ३०६८ अर्थात् ईसा संवत् से ३३ वर्ष पूर्व में प्रणीत हुआ) कलियुग के ६ व्यक्तियों के नाम आये हैं, जिन्होंने संवत् चलाये थे, यथा—युधिष्ठिर, विक्रम, शालिवाहन, विजयाभिनन्दन, नागार्जुन एवं कल्की, जो क्रम से ३०४४, १३५, १८०००, १००००, ४००००० एवं ८२१ वर्षों तक चलते रहे। प्राचीन देशों में संवत् का लगातार प्रयोग नहीं था, केवल शासन-वर्ष ही प्रयुक्त होते थे। अशोक के आदेश-लेखनों में केवल शासन-वर्ष ही प्रयुक्त हैं। कौटिल्य (अर्थशास्त्र, २।६, पृ० ६०) ने मालगुजारी संग्रह करने वाले के कार्य की व्यवस्था करने के सिलसिले में कालों की ओर भी संकेत किया है, जिनसे मालगुजारी एकत्र करने वाले सम्बन्धित थे, यथा राजवर्ष, मास, पक्ष, दिन आदि।[2]

२. राजवर्षं मासाः पक्षो दिवसश्च व्युष्टं वर्षाहेमन्तग्रीष्माणां तृतीयसप्तमा दिवसोनाः पक्षाः शेषाः पूर्णाः

यही बात व्यवहाररूप से कुषाणों एवं सातवाहनों के कालों तक चलती गयी, अर्थात् शासन-वर्ष ही प्रयुक्त होते रहे।

सैकड़ों वर्षों तक भारत में विभिन्न प्रकार के संवत् प्रयोग में आते रहे, इससे कालनिर्णय एवं इतिहास में बड़े-बड़े भ्रम उपस्थित हो गये हैं। संवतों की सूचियों के विषय में देखिए कनिंघम कृत 'इण्डिएन एराज'; स्वामिकन्नु पिल्लई कृत 'इण्डिएन एफेमेरिस' (जिल्द १, भाग १, पृ० ५३-५५); बी० बी० केतकर कृत 'इण्डिएन एण्ड फारेन क्रोनोलाजी' (पृ० १७१-१७२); पी० सी० सेनगुप्त कृत 'ऐंश्येण्ट इण्डिएन एराज' (पृ० २२२-२३८); डा० मेघनाथ साहा का लेख 'साइंस एवं कल्चर' (१९५२, कलकत्ता, पृ० ११६) तथा कैलेण्डर रिफार्म कमिटी (१९५५)। यहाँ हम कुछ ही संवतों की चर्चा करेंगे। अल्बरूनी (सचौ, जिल्द २, पृ० ५) ने पाँच संवतों के नाम दिये हैं, यथा श्रीहर्ष, विक्रमादित्य, शक, वल्लभ एवं गुप्त संवत्। पहले के विषय में उसके दो विभिन्न कथन हैं और प्रश्न अनिर्णीत छोड़ दिया गया है।

प्राचीन काल में भी कलियुग के आरम्भ के विषय में विभिन्न मत रहे हैं। आधुनिक मत है कि कलियुग ई० पू० ३१०२ में आरम्भ हुआ। इस विषय में चार प्रमुख दृष्टिकोण हैं—(१) युधिष्ठिर ने जब राज्य-सिंहासनारोहण किया; (२) यह ३६ वर्ष उपरान्त आरम्भ हुआ जब कि युधिष्ठिर ने अर्जुन के पौत्र परीक्षित को राजा बनाया; (३) पुराणों के अनुसार कृष्ण के देहावसान के उपरान्त यह आरम्भ हुआ (विष्णु० ४।२४। १०८-११३); (४) वराहमिहिर के मत से युधिष्ठिरसंवत् का आरम्भ शक-संवत् के २४२६ वर्ष पहले हुआ, अर्थात्, दूसरे मत के अनुसार, कलियुग के ६५३ वर्षों के उपरान्त। ऐहोल शिलालेख ने सम्भवतः दूसरे मत का अनुसरण किया है; क्योंकि उसमें शक संवत् ५५६ से पूर्व ३७३५ कलियुग संवत् माना गया है।[3] कलियुग संवत् के विषय में सब से प्राचीन संकेत आर्यभट द्वारा दिया गया है; उन्होंने कहा है कि जब वे २३ वर्ष के थे तब कलियुग

पृथगधिमासक इति कालः। अर्थशास्त्र (२।६, पृ० ६०)। फ्लीट, शामशास्त्री आदि ने इस वचन को कई ढंग से अनूदित किया है। विभिन्न अर्थों का कारण है 'व्युष्ट' शब्द का प्रयोग, जिसका शाब्दिक अर्थ है 'प्रातःकाल या प्रकाश' और यहाँ तात्पर्य है 'वर्ष का प्रथम दिन, जो शुभ माना जाता है।' देखिए पाणिनि (५।१।९६-९७) : तत्र च दीयते कार्यं भववत्। व्युष्टादिभ्योण्। प्रस्तुत लेखक इस कथन का अनुवाद यों करता है : 'राजवर्ष, मास, पक्ष, दिन, शुभ (वर्ष का प्रथम दिन), तीन ऋतुओं, यथा वर्षा, हेमन्त, ग्रीष्म के तीसरे एवं सातवें पक्ष में एक दिन (३० में) कम है, अन्य पक्ष पूर्ण हैं (मास में पूर्ण ३० दिन हैं), मलमास (अधिक मास) पृथक् (कालावधि) है। ये सभी वे काल हैं (जिन्हें मालगुजारी संग्रह करने वाला ध्यान में रखेगा)।' प्राचीन कालों में वर्ष में ६ ऋतुएँ थीं, १२ मास थे और थे प्रत्येक मास में ३० दिन। अर्थशास्त्र का यहाँ कथन है कि छः पक्ष ऐसे हैं जिनमें प्रत्येक में १४ दिन हैं, अतः चान्द्र वर्ष (१४×६+१५×६+३०×६=३५४) ३५४ दिनों का होगा। इसे सौर वर्ष के साथ चलाने के लिए अधिक मास का समावेश किया गया।

३. त्रिंशत्सु त्रिसहस्रेषु भारतादाहवादितः। सप्ताब्दशतयुक्तेषु गतेष्वब्देषु पञ्चसु।। पञ्चाशत्सु कलौ काले षट्सु पञ्चशतासु च। समासु समतीतासु शकानामपि भूभुजाम्।। एपिग्रैफिया इण्डिका (जिल्द ४, पृ० ७)। यहाँ पर स्पष्ट रूप से कलियुग का आरम्भ महाभारत युद्ध के उपरान्त माना गया है। पश्चात्कालीन ज्योतिःशास्त्रीय ग्रन्थों के अनुसार कलियुग संवत् के ३७१९ वर्षों के उपरान्त शक संवत् का आरम्भ हुआ। देखिए 'यातः षण्मनवो युगानि भमितान्यन्यद्युगांघ्रित्रयं नन्दाद्रीन्दुगुणास्तथा शकनृपस्यान्ते कलेर्वत्सराः।। सिद्धान्तशिरोमणि (१।२८)। 'नन्दाद्रीन्दुगुणा' ३१७९ के बराबर है (नन्द=९, अद्रि=७, इन्दु=१, गुण=३)।

के ३६०० वर्ष व्यतीत हो चुके थे (अर्थात् वे ४७६ ई० में उत्पन्न हुए)। एक चोल वृत्तान्तालेखन कलियुग संवत् ४०४४ (९४३ ई०) का है। देखिए जे० आर० ए० एस० (१९११, पृ० ६८९-६९४), जहाँ बहुत-से शिला-लेखों में उल्लिखित कलियुग-संवत् का विवेचन किया गया है। मध्यकाल के भारतीय ज्योतिषियों ने माना है कि कलियुग एवं कल्प के आरम्भ में सभी ग्रह (सूर्य एवं चन्द्र समेत) चैत्र शुक्ल-प्रतिपदा को रविवार के सूर्योदय के समय एक साथ एकत्र थे।[4] किन्तु बर्गेस एवं डा० साहा जैसे आधुनिक लेखक इस कथन को केवल कल्पनात्मक मानते हैं। किन्तु प्राचीन सिद्धान्त-लेखकों के इस कथन को केवल कल्पना मान लेना ठीक नहीं है। यह सम्भव है कि सिद्धान्त-लेखकों के समक्ष कोई अति प्राचीन परम्परा रही हो।[5]

प्रत्येक धार्मिक कृत्य के संकल्प में कृत्यकर्ता को काल के बड़े भागों एवं विभागों को श्वेतवाराह कल्प के आरम्भ से कहना पड़ता है, यथा वैवस्वत मन्वन्तर, कलियुग, कलियुग का प्रथम चरण, भारत में कृत्य करने की भौगोलिक स्थिति, सूर्य, बृहस्पति एवं अन्य ग्रहों वाली राशियों के नाम, वर्ष का नाम, मास, पक्ष, तिथि, नक्षत्र, योग एवं करण के नाम। देवल का कथन है कि यदि कृत्यकर्ता मास, पक्ष, तिथि, (कृत्य के) अवसर का उल्लेख नहीं करता तो वह कृत्य का फल नहीं प्राप्त करेगा (शान्तिमयूख, पृ० २)। यह है भारतीयों के धार्मिक जीवन में संवतों, वर्षों एवं इनके भागों एवं विभागों की महत्ता। अतः प्रत्येक भारतीय (हिन्दू) के लिए पंचांग अनिवार्य है।

विक्रम संवत् के उद्भव एवं प्रयोग के विषय में कुछ कहना कठिन है। यही बात शक संवत् के विषय में भी है। किसी विक्रमादित्य राजा के विषय में, जो ई० पू० ५७ में था, सन्देह प्रकट किये गये हैं। इस संवत् का आरम्भ गुजरात में कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा से (नवम्बर, ई० पू० ५८) है और उत्तरी भारत में चैत्र कृष्ण प्रतिपदा (अप्रैल, ई० पू० ५८) से। बीता हुआ विक्रम वर्ष बराबर है ईसवी सन् + ५७। कुछ आरम्भिक शिलालेखों में ये वर्ष कृत के नाम से आये हैं (यथा नन्द-यूप शिलालेख में २८२ कृत वर्ष; तीन यूपों के मौखरी शिलालेखों में २९५ कृत वर्ष; विजयगढ़ स्तम्भ-अभिलेख में ४२८; मन्दसौर में ४६१ तथा गदाधर में ४८०)। विद्वानों ने सामान्यतः कृत संवत् को विक्रम संवत् का पूर्ववर्ती माना है। किन्तु 'कृत' शब्द के प्रयोग की व्याख्या सन्तोषजनक नहीं हो सकी है। कुछ शिलालेखों में मालव-गण का संवत् उल्लिखित है, यथा नरवर्मा का मन्दसौर शिलालेख। कृत एवं मालव

४. लंकानगर्यामुदयाच्च भानोस्तस्यैव वारे प्रथमं बभूव। मधोः सितादेर्दिनमासवर्षयुगादिकानां युगपत् प्रवृत्तिः॥ ग्रहगणित, मध्यमाधिकार, श्लोक १५ (भास्कराचार्य का); चैत्रसितादेरुदयाद् भानोर्दिनमासवर्ष-युगकल्पाः। सृष्ट्यादौ लंकायां समं प्रवृत्ता दिनेऽर्कस्य॥ ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त (१।४)।

५. देखिए एपिग्रैफिया इण्डिका (जिल्द ८, पृ० २६१)। एपि० इण्डिका (जिल्द २८, पृ० ६३) में अर्केश्वर देव के कई पट्ट-लेख हैं जिनमें युगाब्द ४२४८ (कलियुग संवत्) का उल्लेख है, जो ६ फरवरी ११४८ ई० का है। और देखिए 'ऐनल्स आव साइंस' (जिल्द ८, संख्या ३, १९५२, पृ० २२१-२२८) जहाँ प्रो० नेउगेबावर एवं डा० ओ० श्मिड्ट का 'हिन्दू ऐस्ट्रानोमी एट न्यू मिंस्टर इन १४२८' नामक लेख है, जिसमें इंग्लैण्ड के न्यूमिंस्टर स्थान में लिखित एक अज्ञात लेखक के एक प्रबन्ध की ओर संकेत किया गया है, जिसमें १४२८ वर्ष एवं न्यूमिंस्टर के अक्षांश के लिए ज्योतिःशास्त्रीय गणनाएँ की गयी हैं। उस प्रबन्ध में कतिपय अरबी लेखकों के उद्धरण हैं, जिनमें एक 'ओमर' (या उमर, जो ८१५ ई० में मरा) का उल्लेख है, और प्रबन्ध में आया है कि एल्फंजो ने अवतार के ३१०२ वर्ष पूर्व १६ फरवरी को बाढ़ (फ्लड) के वर्ष का आरम्भ किया; यह तिथि स्पष्ट रूप से कलियुग संवत् (जिसे भारतीय ज्योतिषाचार्यों ने प्रयुक्त किया है) के आरम्भ से सर्वथा मिलती-जुलती है।

संवत् एक ही कहे गये हैं, क्योंकि दोनों पूर्वी राजस्थान एवं पश्चिमी मालवा में व्यवहृत हुए हैं। यह द्रष्टव्य है कि कृत के २८२ एवं २९५ वर्ष तो मिलते हैं किन्तु मालव संवत् के इतने प्राचीन शिलालेख नहीं मिलते। यह संभव है कि कृत नाम पुराना है और जब मालवों ने उसे अपना लिया तो वह 'मालव-गणाम्नात' या 'मालव-गण-स्थिति' के नाम से पुकारा जाने लगा। किन्तु यह कहा जा सकता है कि यदि कृत एवं मालव दोनों बाद में आने वाले विक्रम संवत् की ओर ही संकेत करते हैं, तो दोनों एक साथ ही लगभग एक सौ वर्षों तक प्रयोग में आते रहे, जैसे कि हमें ४८० कृत वर्ष एवं ४६१ मालव वर्ष प्राप्त होते हैं। यह मानना कठिन है कि कृत संवत् का प्रयोग कृतयुग के आरम्भ से हुआ। यह सम्भव है कि 'कृत' का वही अर्थ है जो 'सिद्ध' का है (यथा 'कृतान्त' का अर्थ है 'सिद्धान्त') और यह संकेत करता है कि यह कुछ लोगों की सहमति से प्रतिष्ठापित हुआ है। ८ वीं एवं ९ वीं शती से विक्रम संवत् का नाम विशिष्ट रूप से मिलता है। इतना ही नहीं, संस्कृत के ज्योतिःशास्त्रीय ग्रन्थों में यह शक संवत् से भिन्नता प्रदर्शित करने के हेतु सामान्यतः केवल संवत् नाम से उल्लिखित है। चालुक्य विक्रमादित्य षष्ठ के वेडरावे शिलालेख से पता चलता है कि राजा ने शक संवत् के स्थान पर चालुक्य विक्रम संवत् चलाया, जिसका प्रथम वर्ष था १०७६-७७ ई०।

लगभग ५०० ई० के उपरान्त संस्कृत में लिखित सभी ज्योतिःशास्त्रीय ग्रन्थ शक संवत् का प्रयोग करते पाये गये हैं। इस संवत् का यह नाम क्यों पड़ा, इस विषय में कई एक मत हैं। इसे कुषाण राजा कनिष्क ने चलाया या किसी अन्य ने, अभी तक कुछ भी अन्तिम रूप से नहीं कहा जा सका है। यह एक ऐसी समस्या है जो भारतीय इतिहास एवं काल-निर्णय की अत्यन्त कठिन समस्याओं में परिगणित होती है। वराहमिहिर ने इसे शक-काल (पंचसिद्धान्तिका एवं बृहत्संहिता १३।३) तथा शकेन्द्रकाल या शक-भूपकाल (बृ० सं० ८।२०-२१) कहा है। उत्पल (लगभग ९६६ ई०) ने बृ० सं० (८।२०) की व्याख्या में कहा है कि जब विक्रमादित्य द्वारा शक राजा मारा गया तो यह संवत् चला। इसके वर्ष चान्द्र-सौर-गणना के लिए चैत्र से एवं सौर गणना के लिए मेष से आरम्भ होते थे। इसके वर्ष सामान्यतः बीते हुए हैं और सन् ७८ ई० के वासन्तिक विषुव से यह आरम्भ किया गया है। सब से प्राचीन शिलालेख, जिसमें स्पष्ट रूप से शक संवत् का उल्लेख है, चालुक्य वल्लभेश्वर का है, जिसकी तिथि है ४६५ शक संवत् (अर्थात् ५४३ ई०)। क्षत्रप राजाओं के शिलालेखों में वर्षों की संख्या व्यक्त है, किन्तु संवत् का नाम नहीं है, किन्तु वे संख्याएँ शक काल की द्योतक हैं, जैसा कि सामान्यतः लोगों का मत है। कुछ लोगों ने कुषाण राजा कनिष्क को शक संवत् का प्रतिष्ठापक माना है। पश्चात्कालीन, मध्यवर्ती एवं वर्तमान कालों में (ज्योतिर्विदाभरण में भी यही बात है) शक संवत् का नाम शालिवाहन है। किन्तु संवत् के रूप में शालिवाहन रूप १३ वीं या १४ वीं शती के शिलालेखों में आया है। यह संभव है कि सातवाहन नाम (हर्षचरित में गाथासप्तशती के प्रणेता के रूप में वर्णित) शालवाहन बना और पुनः शालिवाहन के रूप में आ गया। देखिए कैलेण्डर रिफार्म कमिटी रिपोर्ट (पृ० २४४-२५६)।

कश्मीर में प्रयुक्त सप्तर्षि संवत् एक अन्य संवत् है जो लौकिक संवत् के नाम से भी प्रसिद्ध है। राजतरंगिणी (१।५२) के अनुसार लौकिक वर्ष २४ गत शक संवत् १०७० के बराबर है। इस संवत् के उपयोग में सामान्यतः शताब्दियाँ नहीं दी हुई हैं। यह चान्द्र-सौर संवत् है और चैत्र शुक्ल की प्रतिपदा को ई० पू० अप्रैल ३०७६ में आरम्भ हुआ। बृ० सं० (१३।३-४) ने एक परम्परा का उल्लेख किया है कि सप्तर्षि एक नक्षत्र में सौ वर्षों तक रहते हैं और जब युधिष्ठिर राज्य कर रहे थे तो वे मेष राशि में थे। सम्भवतः यही सौ वर्षों वाले वृत्तों का उद्गम है।

बहुत-से अन्य संवत् भी थे, यथा वर्धमान, बुद्ध-निर्वाण, गुप्त, चेदि, हर्ष, लक्ष्मणसेन (बंगाल में), कोल्लम या परशुराम (मलाबार में), जो किसी समय (कम-से-कम लौकिक जीवन में) बहुत प्रचलित थे। इनका उल्लेख यहाँ नहीं होगा।

हमने यह देख लिया है कि वैदिक ग्रन्थों में वर्ष के कई नाम थे, यथा संवत्सर, समा, वर्ष। नारदसंहिता (३।१-२) में ऐसा आया है कि काल के नौ प्रकार के मान थे, यथा ब्राह्म (ब्रह्मा का), दैव (देवों का), मानुष (मानव), पित्र्य (पितरों का), सौर, सावन, चान्द्र, नाक्षत्र एवं बार्हस्पत्य, किन्तु सामान्य भौतिक कार्यों में इनमें केवल पाँच ही प्रयुक्त होते हैं।[६] वेदांग-ज्योतिष ने, लगता है, चार प्रकार दिये हैं, क्योंकि उसमें आया है कि एक युग (पाँच वर्षों के) में ६१ सावन मास, ६२ चान्द्र मास, ६७ नाक्षत्र मास होते हैं। हेमाद्रि (काल, पृ० ९) ने केवल तीन वर्ष-मान बताये हैं, यथा चान्द्र, सौर एवं सावन। माधव (कालनिर्णयकारिका ११-१२) ने दो और लिखे हैं, यथा नाक्षत्र एवं बार्हस्पत्य। विष्णुधर्मोत्तर ने चार का उल्लेख किया है (बार्हस्पत्य छोड़ दिया है)। हेमाद्रि द्वारा वर्णित तीन अधिकतर धार्मिक एवं लौकिक कार्यों में प्रयुक्त होते रहे हैं। एक अमावास्या से दूसरी अमावास्या तक की अवधि को **चान्द्र मास** कहते हैं, और ऐसे १२ मासों से ३५४ दिनों वाला एक चान्द्र वर्ष बनता है। इसे एक चन्द्रोदय से दूसरे चन्द्रोदय तक की अवधि 'ल्यूनेशन' भी कहते हैं। चान्द्र मास की लम्बाई (अवधि या विस्तार) २९.२४६ से २९.८१७ दिनों तक की होती है, क्योंकि चन्द्रकक्षा के थोड़े झुकाव (विपथगामिता) एवं अन्य कारणों से कुछ-न-कुछ अन्तर पड़ जाता है, किन्तु मध्यम लम्बाई है २९.५३०५९ दिन। **सौर मास** उस अवधि का सूचक है जो सूर्य द्वारा एक राशि को पार करने से बनती है; इस प्रकार के १२ मासों से सौर वर्ष बनता है तथा सौर वर्ष का प्रथम दिन सौर मास का प्रथम दिन मेष होता है। यदि सूर्य का राशि में प्रवेश दिन में होता है तो वह दिन मास का प्रथम दिन होता है। यदि प्रवेश रात्रि में होता है तो दूसरा दिन मास का प्रथम दिन होता है। किसी राशि में सूर्य के प्रवेश का काल विभिन्न पंचांगों में विभिन्न होता है, किसी पंचांग में सूर्यास्त के पूर्व और किसी में सूर्यास्त के उपरान्त होता है। अतः मास के प्रथम दिन के विषय में एक दिन का अन्तर हो सकता है। विभिन्न अयनांशों एवं वर्ष की लम्बाई के अन्तर के प्रयोग से दृक्, वाक्य एवं सिद्धान्त पंचांगों में अन्तर पड़ सकता है और पर्व-उत्सवों के विषय में वर्ष के प्रथम दिन में भिन्नता पायी जा सकती है। **सावन वर्ष** ३० दिनों के १२ मासों का होता है और दिन की गणना एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक होती है। **नाक्षत्र मास** वह है जिसमें २७ नक्षत्रों में चन्द्र के गमन की अवधि पूरी होती है। **बार्हस्पत्य वर्ष** वह है जो एक राशि में बृहस्पति के भ्रमण से बनता है (लगभग ३६१ दिन का वर्ष)। आजकल की गणना के अनुसार बृहस्पति सूर्य के चारों ओर ११.८६ वर्षों में चक्कर लगा लेता है। ये चार या पाँच काल-विभाग प्रारम्भिक ग्रन्थों में नहीं वर्णित हैं, यहाँ तक कि पश्चात्कालीन गणना में चार विभागों का उपयोग नहीं हुआ है, यद्यपि ज्योतिःशास्त्रीय एवं धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में उनका उल्लेख अवश्य हुआ है। कौटिल्य (अर्थशास्त्र, २।२०, पृ० १०८) ने व्यवस्था दी है कि श्रमिकों का मास ३० अहोरात्र (दिन-रात्र)

६. ब्राह्मं दैवं मानुषं च पित्र्यं सौरं च सावनम्। चान्द्रमार्क्षं गुरोर्मानमिति मानानि वै नव॥ एषां तु नवमानां व्यवहारोऽत्र पञ्चभिः। तेषां पृथक्-पृथक् कार्यं वक्ष्यते व्यवहारतः॥ नारद-संहिता (३।१-२)। कल्प ब्रह्मा का दिन है (सूर्यसिद्धान्त १।२०)! ; एक मानव-वर्ष देवों के एक दिन के बराबर है (एकं वा एतद् देवानामहो यत्संवत्सरः। तै० ब्रा०, ३।९।२२।१); एक मानव-मास पितरों का अहोरात्र है (मनु १।६६)। मानुषमान (मानव मान) विमिश्र (मिश्रित) है क्योंकि लोग विभिन्न उपयोगों के लिए चार मान प्रयुक्त करते हैं, जैसा कि सि० शि० (१। ३०-३१) में उल्लिखित है (ज्ञेयं विमिश्रं तु मनुष्यमानं मानैश्चतुर्भिर्व्यवहारवृत्तेः॥ वर्षायनर्तुयुगपूर्वकमत्र सौरान् मासास्तथा च तिथयस्तुहिनांशुमानात्। यत्कृच्छ्रसूतक चिकित्सितवासराद्यं तत्सावनाच्च घटिकादिकमार्क्षमानात्॥) किन्तु उसने आगे कहा है (१।३२) कि ग्रहों के मान मानव मान से किये जाते हैं (ग्रहास्तु साध्या मनुजैः स्वमानात्)

का होता है, सौर मास १ दिन बड़ा होता है (एक मास में ३०½ दिन), चान्द्र मास में १ दिन कम (२९½ दिन), नाक्षत्र मास में २७ दिन, मलमास में ३२ दिन (या ३२ वें मास में यह घटित होता है?)। जो लोग घोड़ों को चराते हैं (या रखवाली करते हैं) उनके मास में (पारिश्रमिक के लिए) ३५ दिन तथा हस्तिवाहकों (पीलवानों) के मास में (पारिश्रमिक के लिए) ४० दिन होते हैं।[७] ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त (बृ० सं० २।४, पृ० ४० पर उत्पल द्वारा उद्धृत) में आया है कि **सौर गणना** से युग, वर्ष, विषुव, अयन, ऋतुओं, दिन एवं रात्रि की वृद्धि का ज्ञान होता है, **चान्द्र गणना** से तिथियों, करणों, मलमास, मास या क्षयमास, रात्रि के कृत्यों का ज्ञान होता है; **सावन गणना** से यज्ञों, सवनों (तीन सोम यज्ञों), ग्रह-गतियों, उपवासों, जनन-मरण-आशौचों, चिकित्सा, प्रायश्चित्तों तथा अन्य धार्मिक कृत्यों का परिचय मिलता है। देखिए विष्णुधर्मोत्तर (१।७२।२६-२७) भी।

आधुनिक काल में वर्ष का आरम्भ भारत के विभिन्न भागों में कार्तिक या चैत्र मास में होता है। प्राचीन कालों में विभिन्न देशों में विभिन्न उपयोगों के लिए विभिन्न मासों में वर्ष का आरम्भ होता था। कुछ वैदिक वचनों से प्रकट होता है कि गणना पूर्णिमान्त थी और वर्ष फाल्गुन पूर्णिमा के उपरान्त आरम्भ होता था और वसन्त वर्ष की प्रथम ऋतु था (तै० ब्रा० १।१।२।१३; कौ० ब्रा० ५।१; शांखायन ब्रा० १९।३; ताण्ड्य महा ब्रा० ५।९।७-१२ आदि)। कालनिर्णय (पृ० ६१) में माधव ने कहा है कि वेद पूर्णिमान्त मास पर आरूढ हैं। स्मृतिच० (श्राद्ध, पृ० ३७७) का कथन है कि दक्षिणापथ में अमान्त एवं उत्तरापथ (उत्तर भारत) में पूर्णिमान्त गणना होती है। वेदांगज्योतिष (१।५) के मत से युग (पाँच वर्ष) का प्रथम वर्ष माघ शुक्ल (मकर संक्रान्ति या उत्तरायण) से आरम्भ होता है। अल्बरूनी (सचौ २, पृ० ८-९) का उल्लेख है कि चैत्र, भाद्रपद, कार्तिक, मार्गशीर्ष से भारत के विभिन्न भागों में वर्ष का आरम्भ होता है। कौटिल्य (अर्थशास्त्र २।६, पृ० ६३) ने कहा है कि प्रशासन के आय-व्यय-निरीक्षण-कार्यालय में कर्मसंवत्सर चान्द्र था जो आषाढ़ की पूर्णिमा को समाप्त होता था। वनपर्व (१३०।१४-१६) में वर्ष के चैत्रारम्भ का उल्लेख है। यह सम्भव है कि वर्ष मार्गशीर्ष से आरम्भ होता था, क्योंकि अनुशासन, (१०६।१७-३०) ने मार्गशीर्ष से कार्तिक तक के एकभक्त व्रत के फलों का वर्णन किया है। कृत्यरत्नाकर (पृ० ४५२) ने ब्रह्मपुराण को उद्धृत कर लिखा है कि कृतयुग में मार्गशीर्ष की प्रतिपदा से वर्ष आरम्भ होता था।

अब हम कुछ बातें ६० वर्ष-वृत्त वाले (षष्ट्यब्द) **बार्हस्पत्य मान** के विषय में कहेंगे। विष्णुधर्मोत्तर (१। ८२।८) का कथन है कि षष्ट्यब्द का प्रभव नामक प्रथम वर्ष माघ शुक्ल से आरम्भ हुआ, जब सूर्य एवं चन्द्र धनिष्ठा नक्षत्र में थे और बृहस्पति से उनका योग था। बृ० सं० (४।२७-५२) में षष्ट्यब्द के विभव से ६०वें क्षय तक के फलों का उल्लेख है। और देखिए विष्णुधर्मोत्तर (१।८२।९), अग्नि० (अध्याय १३९) एवं भविष्य० (ज्योतिस्तत्त्व, पृ० ६९२-६९७ में उद्धृत)। षष्ट्यब्द के प्रत्येक वर्ष के साथ 'संवत्सर' शब्द जुड़ा हुआ है। दक्षिण में प्रत्येक वर्ष के आरम्भ में बार्हस्पत्य नाम सदा परिवर्तित रहा है; किन्तु उत्तर भारत में 'प्रभव' के स्थान पर 'विजय' शब्द रहा है। बार्हस्पत्य वर्ष का विस्तार ३६१.९२६७ दिनों का है और यह नाक्षत्र वर्ष से ४.२३ दिन

७. त्रिंशदहोरात्रः प्रकर्ममासः। सार्धसौरः (सार्धः सौरः?)। अर्धन्यूनश्चान्द्रमासः। सप्तविंशतिर्नक्षत्रमासः। द्वात्रिंशद् मलमासः। पञ्चत्रिंशदश्ववाहायाः। चत्वारिंशद्धस्तिवाहायाः। अर्थशास्त्र (२।२०, पृ० १०८)। महाभाष्य (पाणिनि ४।२।२१ के वार्तिक २ पर) ने भृतकमास (वेतन वाली नौकरी के मास) का उल्लेख किया है जो प्रकर्ममास का परिचायक-सा है।

कम है। इसका परिणाम यह है कि ८५ नाक्षत्र वर्षों में ८६ बार्हस्पत्य वर्ष हैं और ८५ वर्षों के उपरान्त एक वर्ष का क्षय हो जाता है।

मासों का विषय अत्यन्त जटिल है। भारतीयों ने आदि काल से ही चान्द्र-सौर पंचांग का प्रयोग किया है और यही बात बेबिलोन, चाल्डिया के लोगों, यहूदियों एवं चीनियों के बीच पायी गयी है। अतः सभी ने मलमास का सहारा लिया है। किन्तु भारतीयों में क्षय मास बहुत विरल था, जिसका अन्य देशों में अभाव था। यह अन्तर सूर्य एवं चन्द्र की गतियों एवं स्थानों की गणना के विभिन्न ढंगों के कारण उपस्थित हुआ। अधिक मास की अनिवार्यता पर कुछ शब्द यहाँ दिये जाते हैं। सौर वर्ष चान्द्र वर्ष से ११ दिनों से थोड़ा अधिक बड़ा होता है। यह अधिकता लगभग ३२ मासों में एक चान्द्र मास की होती है बेबिलोनियों के १९ वर्षों के एक वृत्त ७ मलमास (अर्थात्) सब मिला कर २३५ चान्द्र मास) थे। इसी वृत्त को यूनान में अथेनियानिवासी मेटान के नाम पर मेटानिक साइकिल (वृत्त) कहा गया। इसी के आधार पर यहूदी एवं ईसाई पंचांग बने, विशेषतः ईस्टर से सम्बन्धित। वेदांग-ज्योतिष से प्रकट है कि एक युग (पाँच वर्षों के वृत्त) में दो मलमास होते थे, एक था ढाई वर्षों के उपरान्त, दूसरा आषाढ़ और दूसरा युग के अन्त में दूसरा पौष। यही बात कौटिल्य में है। पुराणों में मलमास की विविध अवधियों का उल्लेख है। एक अपेक्षाकृत अधिक निश्चित नियम यह है कि वह चान्द्र-मास, जिसमें संक्रान्ति नहीं होती, अधिक कहलाता है और आगे के मास के नाम से, जो शुद्ध या निज या प्राकृत कहलाता है, द्योतित होता है। यदि एक सौर मास में दो अमावास्या पड़ती हों तब मलमास होता है। चान्द्र मास में जब दो संक्रान्तियाँ होती हैं तो दो मास हो जाते हैं, जिनमें प्रथम स्वीकृत होता है और दूसरा छोड़ दिया जाता है। यह दूसरा क्षयमास कहलाता है। इसका तात्पर्य यह है कि जब एक मास में दो संक्रान्तियाँ होती हैं तो क्षयमास होता है। वह चान्द्र मास जिसमें सूर्य मेष राशि में प्रविष्ट होता है, चैत्र तथा जिसमें वह वृषभ राशि में प्रवेश करता है वह वैशाख कहलाता है।

अधिक एवं क्षय मासों के विषय में कुछ और कहना आवश्यक है। फाल्गुन से आश्विन तक के सात मास केवल अधिक हो सकते हैं, क्षय नहीं। कार्तिक एवं मार्गशीर्ष अधिक एवं क्षय दोनों हो सकते हैं, किन्तु ऐसा बहुत कम ही होता है। माघ अधिक हो सकता है, किन्तु यह अधिक या क्षय कभी नहीं हुआ है। (देखिए केतकर का ग्रन्थ, इण्डियन एण्ड फारेन क्रोनोलाजी, पृ० ४०)। किन्तु शुद्धिकौमुदी (पृ० २७२) में आया है कि शक संवत् १३९७ में माघ मास का क्षय हुआ था। मलमासतत्त्व (पृ० ७७४) में उद्धरण आया है कि माघ मलमास हो सकता है, किन्तु पौष नहीं। केतकर (पृ० ४०) के मत से पौष के अधिक मास होने की सम्भावना नहीं है किन्तु वह मार्गशीर्ष की अपेक्षा क्षय मास होने की अधिक सम्भावना रखता है। क्षय मास सामान्यतः अधिक मास के पूर्व या उपरान्त (तुरत उपरान्त नहीं) होता है, अतः जब कुछ वर्षों में क्षय मास होता है तो दो अधिक मास पाये जाते हैं। इस विषय में और देखिए कैलेण्डर रिफार्म कमिटी रिपोर्ट, पृ० २४६-२५२।

शान्तिपर्व (३०१।४६-४७) ने संवत्सरों, मासों, पक्षों एवं दिवसों के क्षय का उल्लेख किया है। जब क्षयमास होता है तो इसके पूर्व का अधिक मास अन्य साधारण मासों के समान पवित्र रहता है, अर्थात् उसमें धार्मिक कृत्य करना मना नहीं है, तथा वह अधिक मास जो क्षयमास के उपरान्त आता है, धार्मिक कृत्यों के लिए वर्जित घोषित किया गया है। उदाहरण से इन दोनों को समझ लिया जाय। मान लीजिए चैत्र अमावास्या को मेष संक्रान्ति है, और अमावास्या के आगे की तिथि से दूसरी अमावास्या (जो वैशाख है) तक कोई संक्रान्ति नहीं है, और तब उसके उपरान्त प्रथम तिथि में वृषभ संक्रान्ति है, तो ऐसी स्थिति में वह मास जिसमें संक्रान्ति नहीं है अधिक वैशाख कहा जायगा, और वह मास जिसमें वृषभ संक्रान्ति पड़ती है शुद्ध वैशाख होगा। अब क्षय मास का उदाहरण

लें—मान लीजिए भाद्रपद अमावास्या को कन्या संक्रान्ति है, उसके उपरान्त अधिक आश्विन के बाद शुद्ध आश्विन आता है, जिसकी प्रथम तिथि पर तुला संक्रान्ति है, इसके उपरान्त कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा को वृश्चिक संक्रान्ति है, और मार्गशीर्ष-शुक्ल प्रतिपदा को धनु संक्रान्ति है और उसी मास की अमावास्या को मकर संक्रान्ति पड़ती है। ऐसी स्थिति में दो संक्रान्तियों (धनु एवं मकर) वाला मास क्षयमास होगा और तब पौष (मार्गशीर्ष एवं पौष से बने) का एक मास होगा। जब माघ अमावास्या को कुम्भ संक्रान्ति है तो फाल्गुन अधिक मास होगा और शुद्ध फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदा को मीन संक्रान्ति होगी। इस प्रकार उस वर्ष में, जिसमें क्षयमास होता है, अब भी १३ मास होते हैं और उसके दिन ३९० से थोड़े कम होते हैं।

चान्द्र तथा अन्य वर्षों के वर्णन के सिलसिले में हमने चान्द्र, सौर, सावन एवं नाक्षत्र मासों की ओर संकेत कर दिया है। जैसा कि कृत्यरत्नाकर में आया है (पृ० ८०), धर्मशास्त्र में नाक्षत्र मास की आवश्यकता नहीं पड़ती, यह केवल ज्योतिष-शास्त्र में ही चलता है। पंचांग सामान्यतः प्रत्येक वर्ष के लिए बनते हैं। उनमें १२ (या १३, जब मलमास होता है) के दो पक्षों के पृथक् पृष्ठ होते हैं। भारतीय पंचांग के पाँच महत्त्वपूर्ण भाग हैं; तिथि, सप्ताह-दिन, नक्षत्र, योग एवं करण। मुहूर्तदर्शन (१।४४) के मत से इसमें राशियों के समावेश से छः तथा ग्रहों की स्थितियों के उल्लेख से सात भाग होते हैं। एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक एक वार (दिन) होता है। तिथियों एवं नक्षत्रों के विषय में पहले ही कहा जा चुका है। योग एवं करण के विषय में आगे लिखा जायगा।

बारह महीनों एवं उनके दो-दो से गठित ६ ऋतुओं का उल्लेख बहुत प्राचीन है। देखिए तैत्तिरीय-संहिता (४।३।११। १), वाज० सं० (१३।२५)। मासों के वैदिक नाम हैं—मधु, माधव, शुक्र, शुचि, नभस्, नभस्य, इष, ऊर्ज, सहस्, सहस्य, तपस् एवं तपस्य। ब्राह्मणों में नक्षत्रों से ज्ञापित चान्द्र मासों का उल्लेख है। इसी से कुछ लोग सौर एवं चान्द्र ऋतुओं का भी उल्लेख करते हैं। सौर मास मीन राशि या मेष राशि से आरम्भ होते हैं तथा चैत्र आदि (या शेष वाले) कहलाते हैं।

पाणिनि ने मासों की व्युत्पत्ति की है, यथा चित्रायुक्त पौर्णमासी से चैत्र, और स्पष्ट रूप से (४।२।२२) आग्रहायणी, फाल्गुनी, श्रवणा, कार्तिकी एवं चैत्री (४।२।२३) के नाम दिये हैं। 'पौर्णमासी' पूर्णमास से व्युत्पन्न है (वार्तिक २, पा० ४।३।३५)। पुष्य नक्षत्र वाली पौर्णमासी तिथि 'पौषी' कही गयी है (पा० ४।२।२ एवं ४।२।३१)। इस प्रकार विकास के तीन स्तर हैं: (१) २७ नक्षत्रों के रूप प्रकट हुए और उनके नाम वैदिक संहिताओं में ही प्रचलित हो गये; (२) इसके उपरान्त पौर्णमासी चैत्री पौर्णमासी कही गयी आदि, क्योंकि उस तिथि पर चन्द्र चित्रा नक्षत्र में था, आदि; (३) इसके उपरान्त मासों के नाम यों पड़े—चैत्र, वैशाख आदि, क्योंकि उनमें चैत्री या वैशाखी पौर्णमासी थी। यह सब पाणिनि के बहुत पहले प्रचलित हुआ। आगे चलकर सौर मास मधु, माधव आदि चैत्र, वैशाख आदि चान्द्र मासों से द्योतित होने लगे और समानार्थी हो गये। यह कब हुआ, कहना कठिन है। किन्तु ईसा के बहुत पहले ऐसा हुआ। पौर्णमासी के दिन चन्द्र भले ही चित्रा या श्रवण नक्षत्र में या उसके पास न हो किन्तु मास तब भी चैत्र या श्रावण कहलाता है।

यह हमने देख लिया है कि प्राचीन ब्राह्मण-कालों में मास पूर्णिमान्त (पूर्णिमा से अन्त होने वाले) थे। यहाँ तक कि कनिष्क एवं हुविष्क जैसे उत्तर भारत के विदेशी शासकों के वृत्तान्तों में पूर्णिमान्त मासों का प्रयोग पाया जाता है, किन्तु कहीं-कहीं वहाँ मैसीडोनी नाम भी आये हैं।

ईसा पूर्व के शिलालेखों में मासों (ई० पूर्व दूसरी शती के मेनेण्डर के खरोष्ठी अभिलेख में कार्तिक चतुर्दशी का उल्लेख है) के नाम बहुत कम आये हैं। प्रचलित ढंग था ऋतु, तदुपरान्त ऋतु में नामरहित मास तथा दिवस का उल्लेख। कहीं-कहीं केवल ऋतु, पक्षों की संख्या एवं दिन के नाम आये हैं। कभी-कभी मास का नाम

आया है, किन्तु पक्ष या दिनों के नाम लगातार (१ से ३० तक) नहीं आये हैं। यह स्थिति, अर्थात् पक्षों एवं दिनों की वर्णन-रहितता, ९ वीं शती तक चली गयी। आजकल लोग **सुदि, वदि** या **वद्य** का प्रयोग करते हैं, उनमें प्रथम (अर्थात् सुदि) **शुक्ल दिन** (या दिवस) या **शुद्ध दिन** का छोटा रूप है तथा दूसरा (वदि) **बहुल दिन** या दिवस (व या ब परिवर्तित होते रहते हैं) का छोटा रूप है। वद्य का अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता। यह नहीं समझ में आता कि ईसा के पूर्व एवं उपरान्त के बहुत-से शिलालेखों में 'पक्ष' शब्द का उल्लेख क्यों नहीं हुआ है, जब कि ब्राह्मणों एवं उपनिषदों जैसे प्राचीन ग्रन्थों में उसका उल्लेख हुआ है।

दक्षिण भारत में मासों के नाम राशियों पर आधारित हैं,यथा मीन-मास, मेष-मास आदि। यही प्रयोग पाण्डय देश में भी प्रचलित था।

अधिक मास कई नामों से विख्यात है —अधिमास, मलमास, मलिम्लुच, संसर्प, अंहस्पति या अंहसस्पति, पुरुषोत्तममास। इनकी व्याख्या आवश्यक है। यह द्रष्टव्य है कि बहुत प्राचीन काल से अधिक मास निन्द्य ठहराये गये हैं। ऐत० ब्रा० (३।१) में आया है : 'देवों ने सोम की लता १३ वें मास में खरीदी, जो व्यक्ति इसे बेचता है वह पतित है, १३ वाँ मास फलदायक नहीं होता।' तै० सं० में १३ वाँ मास 'संसर्प' एवं 'अंहस्पति' (१।४।४।१ एवं ६।५।३।४) कहा गया है। ऋग्वेद में 'अंहस्' का तात्पर्य पाप से है। यह अतिरिक्त मास है, अतः अधिमास या अधिकमास नाम पड़ गया है। इसे मलमास इसलिए कहा जाता है कि मानो यह काल का मल है। अथर्ववेद (८।६।२) में 'मलिम्लुच' आया है, किन्तु इसका अर्थ स्पष्ट नहीं है। काठकसंहिता (३८।१४) में भी इसका उल्लेख है। पश्चात्कालीन साहित्य में 'मलिम्लुच' का अर्थ है 'चोर'। और देखिए ऋग्वेद (१०।१३६।२), वाज० सं० (२२।३०), शां० श्रौ० सू० (६।१२।१५)। मलमासतत्त्व (पृ० ७६८) में यह व्युत्पत्ति है : 'मली सन् म्लोचति गच्छतीति मलिम्लुचः' अर्थात् 'मलिन (गंदा) होने पर यह आगे बढ़ जाता है।' 'संसर्प' एवं 'अंहसस्पति' शब्द वाज० सं० (२२।३० एवं ३१) में तथा 'अंहसस्पति' वाज० सं० (७।३१) में आये हैं। और देखिए तै० सं० (१।४।१४।१ एवं ६।५।३।४)। 'अंहसस्पति' का शाब्दिक अर्थ है 'पाप का स्वामी।' पश्चात्कालीन लेखकों ने 'संसर्प' एवं 'अंहसस्पति' में अन्तर व्यक्त किया है। जब एक वर्ष में दो अधिमास हों और एक क्षय मास हो तो दोनों अधिमासों में प्रथम 'संसर्प' कहा जाता है और यह विवाह को छोड़कर अन्य धार्मिक कृत्यों के लिए निन्द्य माना जाता है। अंहसस्पति क्षय मास तक सीमित है। कुछ पुराणों में (यथा पद्म०, ६।६४) अधिमास पुरुषोत्तम मास (विष्णु को पुरुषोत्तम कहा जाता है) कहा गया है और सम्भव है, अधिमास की निन्द्यता को कम करने के लिए ऐसा नाम दिया गया है।

धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में अधिमास के विषय पर बहुत कुछ लिखा हुआ है। कुछ बातें यहाँ दी जा रही हैं। अग्नि० (१७५।२९-३०) में आया है—वैदिक अग्नियों को प्रज्वलित करना, मूर्ति-प्रतिष्ठा, यज्ञ, दान, व्रत, संकल्प के साथ वेद-पाठ, साँड़ छोड़ना (वृषोत्सर्ग), चूडाकरण, उपनयन, नामकरण, अभिषेक अधिमास में नहीं करना चाहिए। हेमाद्रि (काल, पृ० ३६-६३) ने वर्जित एवं मान्य कृत्यों की लम्बी-लम्बी सूचियाँ दी हैं। और देखिए निर्णयसिन्धु (पृ० १०-१५) एवं धर्मसिन्धु (पृ० ५-७)। कुछ सामान्य व्यवस्थाओं की चर्चा की जा रही है। सामान्य नियम यह है कि मलमास में **नित्य कर्मों** एवं **नैमित्तिक** कर्मों (कुछ विशिष्ट अवसरों पर किये जाने वाले कर्मों) को करते रहना ही चाहिए, यथा सन्ध्या, पूजा, पंचमहायज्ञ (ब्रह्मयज्ञ, वैश्वदेव आदि), अग्नि में हवि डालना (अग्निहोत्र के रूप में), ग्रहण-स्नान (यद्यपि यह नैमित्तिक है), अन्त्येष्टि कर्म (नैमित्तिक)। यदि शास्त्र कहता है कि यह कृत्य (यथा सोम यज्ञ) नहीं करना चाहिए तो उसे अधिमास में स्थगित कर देना चाहिए यह भी सामान्य नियम है कि **काम्य** (नित्य नहीं, वह जिसे किसी फल की प्राप्ति के लिए किया जाता है) कर्म

नहीं करना चाहिए। कुछ अपवाद भी हैं, यथा कुछ कर्म, जो अधिमास के पूर्व ही आरम्भ हो गये हों (यथा १२ दिनों वाला प्राजापत्य प्रायश्चित्त, एक मास वाला चान्द्रायण व्रत), अधिमास तक भी चलाये जा सकते हैं। यदि दुर्भिक्ष हो, वर्षा न हो रही हो तो उसके लिए **कारीरी इष्टि** अधिमास में भी करना मना नहीं है, क्योंकि ऐसा न करने से हानि हो जाने की सम्भावना रहती है। ये बातें कालनिर्णय-कारिकाओं (२१-२४) में वर्णित हैं।[८]

कुछ बातें ऐसी हैं जो मलमास के लिए ही व्यवस्थित हैं, यथा प्रतिदिन या कम-से-कम एक दिन ब्राह्मणों को ३३ अपूपों (पूओं) का दान करना चाहिए। कुछ ऐसे कर्म हैं जो शुद्ध मासों में ही करणीय हैं, यथा वापी एवं तड़ाग (बावली एवं तलाब) खुदवाना, कूप बनवाना, यज्ञ कर्म, महादान एवं व्रत। कुछ ऐसे कर्म हैं जो अधिमास एवं शुद्ध मास, दोनों में किये जा सकते हैं, यथा गर्भ का कृत्य (पुंसवन जैसे संस्कार), ब्याज लेना, पारिश्रमिक देना, मास-श्राद्ध (अमावास्या पर), आह्निक दान, अन्त्येष्टि क्रिया, नव-श्राद्ध, मघा-नक्षत्र की त्रयोदशी पर श्राद्ध, सोलह श्राद्ध, चान्द्र एवं सौर ग्रहणों पर स्नान, नित्य एवं नैमित्तिक कृत्य (हेमाद्रि, काल, पृ० ५२; समयप्रकाश, पृ० १४५)।

जिस प्रकार हमारे यहाँ १३ वें मास (मलमास) में धार्मिक कृत्य वर्जित हैं, पश्चिमी देशों में १३ वीं संख्या अभाग्यसूचक मानी जाती है, विशेषतः मेज पर १३ चीजों की संख्या।

भारतीय पंचांगों के पाँच अंगों में एक सप्ताह-दिन भी है। अतः दिनों एवं सप्ताह-दिनों पर संक्षेप में लिखना आवश्यक है। दोनों सूर्योदयों के बीच की कालावधि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अवधि मानी जाती है। यह सौर दिन है और लोक-दिन भी। किन्तु तिथि तो काल का चान्द्र विभाग है जिसका सौर दिन के विभिन्न दिग्-विभागों में अन्त होता है। 'दिन' शब्द के दो अर्थ हैं: (१) सूर्योदय से सूर्यास्त तक, (२) सूर्योदय से सूर्योदय तक। ऋग्वेद (६।९।१) में 'अहः' शब्द का दिन के कृष्ण भाग (रात्रि) एवं अर्जुन (चमकदार या श्वेत) भाग की ओर संकेत है (अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च वि वर्तेते रजसी वेद्याभिः)। ऋग्वेद में 'रात्रि' शब्द का प्रयोग उतना नहीं हुआ है जितना 'अहन्' का, किन्तु 'दिन' का सामासिक प्रयोग अधिक हुआ है, यथा 'सुदिनत्व', 'सुदिन', 'मध्यन्दिन।' 'अहोरात्र' (दिन-रात्रि) एक बार आया है (ऋ० १०।१९०।२)। पूर्वाह्ण (दिन का प्रथम भाग) ऋ० (१०।३४।११) में आया है। दिन के तीनों भागों (प्रातः, संगव एवं मध्यन्दिन) का उल्लेख है (ऋ० ५।१७।३)। दिन के पाँच भागों में उपर्युक्त तीन के अतिरिक्त अन्य दो हैं अपराह्ण एवं अस्तम्य, अस्तगमन या सायाह्न। ये पाँचों भाग शतपथब्राह्मण (२।३।२।९) में उल्लिखित हैं। 'प्रातः' एवं 'सायम्' ऋ० (५।७७।२, ८।२।२० एवं १०।१४६।३ एवं ४०) में आये हैं। कौटिल्य (१।१९), दक्ष एवं कात्यायन ने दिन एवं रात्रि को आठ भागों में बाँटा है। दिन एवं रात्रि के १५ मुहूर्तों का उल्लेख पहले ही हो चुका है।

दिन के आरम्भ के विषय में कई मत हैं। यहूदियों ने दिन का आरम्भ सायंकाल से माना है (जेनेसिस १।५ एवं १।१३)। मिस्रवासियों ने सूर्योदय से सूर्यास्त तक के दिन को १२ भागों में बाँटा; उनके घण्टे ऋतुओं पर निर्भर थे। बेबिलोनियों ने दिन का आरम्भ सूर्योदय से माना है और दिन तथा रात्रि को १२ भागों

८. काम्यारम्भं तत्समाप्तिं मलमासे विवर्जयेत्। आरब्धं मलमासात् प्राक् कृच्छ्रं चान्द्रादिकं तु यत्। तत्समाप्यं सावनस्य मानस्यानतिलंघनात्।। आरम्भस्य समाप्तेश्च मध्ये स्याच्चेन्मलिम्लुचः। प्रवृत्तमखिलं काम्यं तदानुष्ठेयमेव तु।। कारीर्यादि तु यत्काम्यं तस्यारम्भसमापने। कार्यकालविलम्बस्य प्रतीक्षाया असम्भवात्।। अनन्यगतिकं नित्यमग्निहोत्रादि न त्यजेत्। गत्यन्तरयुतं नित्यं सोमयागादि वर्जयेत्।। का० नि० कारिका (२१-२४)।

में बाँटा है, जिनमें प्रत्येक भाग दो विषुवीय घण्टों का होता है। एथेंस एवं यूनान में ऐतिहासिक कालों में दिन, सामान्यतः, पंचांग के लिए सूर्यास्त से आरम्भ होता था। रोम में दिन का आरम्भ आधी रात से होता था। भारतीय लेखकों ने दिनारम्भ सूर्योदय से माना है (ब्राह्मस्फुट-सिद्धान्त ११।३३), किन्तु वे दिन के विभिन्न आरम्भों से अनभिज्ञ नहीं थे। पंचसिद्धान्तिका (१५।२० एवं २३) में आया है कि आर्यभट ने घोषित किया है कि लंका में दिन का आरम्भ अर्धरात्रि से होता है, किन्तु पुनः उन्होंने कहा है कि दिन का आरम्भ सूर्योदय से होता है और लंका का वह सूर्योदय सिद्धपुर में सूर्यास्त से मिलता है, यमकोटि में मध्याह्न के तथा रोमक देश में अर्धरात्रि से मिलता है।[1]

आधुनिक काल में लोक-दिन का आरम्भ अर्द्धरात्रि से होता है।

सप्ताह केवल मानव-निर्मित व्यवस्था है। इसके पीछे कोई ज्योतिःशास्त्रीय या प्राकृतिक योजना नहीं है। स्पेन-आक्रमण के पूर्व मेक्सिको में पाँच दिनों की योजना थी। सात दिनों की योजना यहूदियों, बेबिलोनियों एवं दक्षिण अमेरिका के इंका लोगों में थी। लोकतान्त्रिक युग में रोमनों में आठ दिनों की व्यवस्था थी, मिस्रियों एवं प्राचीन अथेनियनों में दस दिनों की योजना थी। ओल्ड टेस्टामेण्ट में आया है कि ईश्वर ने छः दिनों तक सृष्टि की और सातवें दिन विश्राम करके उसे आशीष देकर पवित्र बनाया (जेनेसिस २।१-३)। एक्सोडस (२०। ८-११, २३।१२-१४) एवं डेउटेरोनामी (५।१२-१५) में ईश्वर ने यहूदियों को छः दिनों तक काम करने का आदेश दिया है और एक दिन (सातवें दिन) आराम करने को कहा है और उसे ईश्वर के सैब्बाथ (विश्रामवासर) के रूप में पवित्र मानने की आज्ञा दी है। यहूदियों ने सैब्बाथ (जो सप्ताह का अन्तिम दिन है) को छोड़कर किसी दिन को नाम नहीं दिया है; उसे वे रविवार न कहकर शनिवार मानते हैं।

ओल्ड टेस्टामेण्ट में सप्ताह-दिनों के नाम (व्यक्तिवाचक) नहीं मिलते। ऐसा प्रतीत होता है कि न्यू टेस्टामेण्ट में भी सप्ताह-दिन केवल संख्या से ही द्योतित हैं (मैथ्यू, २८।१; मार्क, १६।९; ल्यूक, २४।१)। सप्ताह में कोई न कोई दिन कतिपय देशों एवं धार्मिक सम्प्रदायों द्वारा सैब्बाथ (विश्रामदिन) या पवित्र माना गया है, यथा सोमवार यूनानी सैब्बाथ दिन, मंगल पारसियों का, बुध असीरियों का, बृहस्पति मिस्रियों का, शुक्र मुसलमानों का, शनिवार यहूदियों का एवं रविवार ईसाइयों का पवित्र या विश्राम दिन है।

सात दिनों के वृत्त के उद्भव एवं विकास का वर्णन ऐफ़० ऐच० कोलसन के ग्रन्थ 'दी वीक' (कैम्ब्रिज यूनीवर्सिटी प्रेस, १९२६) में उल्लिखित है। उस ग्रन्थ की कुछ बातें निम्न हैं। डायोन कैसिअस (तीसरी शती के प्रथम चरण में) ने अपनी ३७ वीं पुस्तक में लिखा है कि पाम्पेयी ने ई० पू० ८३ में जेरूसलेम पर अधिकार किया, उस दिन यहूदियों का विश्राम दिन था। उसमें आया है कि ग्रहीय सप्ताह (जिसमें दिनों के नाम ग्रहों के नाम पर आधारित हैं) का उद्भव मिस्र में हुआ। डियो ने 'रोमन हिस्ट्री' (जिल्द ३, पृ० १२९, १३१) में यह स्पष्ट किया है कि सप्ताह का उद्गम यूनान में न होकर मिस्र में हुआ और वह भी प्राचीन नहीं है बल्कि हाल का है। इससे प्रकट है कि यूनान में सप्ताह का ज्ञान-प्रवेश ईसा की पहली शती में हुआ। पाम्पेयी के नगर में, जो सन् ७९ ई० में लावा (ज्वालामुखी) में डूब गया था, एक दीवार पर सप्ताह के छः दिनों के नाम आलिखित हैं। इससे संकेत मिलता है कि सन् ७९ ई० के पूर्व ही इटली में सप्ताह-दिनों के नाम ज्ञात थे। कोलसन महोदय इस बात से भ्रमित हो गये हैं कि ट्यूटान देशों में 'वेंस्डे' एवं 'थर्स्टडे' जैसे नाम कैसे आये। सार्टन ने 'हिस्ट्री आव साइंस' में

१. लंकार्धरात्रसमये दिनप्रवृत्तिं जगाद चार्यभटः। भूयः स एव सूर्योदयात्प्रभृत्याह लंकायाम्॥ उदयो यो लंकायां सोऽस्तमयः सवितुरेव सिद्धपुरे। मध्याह्नो यमकोट्यां रोमकविषयेऽर्धरात्रः सः॥ पंचसि० १५, २०, २३।

लिखा है कि यहूदी सैब्बाथ, मिस्री दिन-घण्टे एवं चाल्डिया के ज्योतिष ने वर्तमान सप्ताह की सृष्टि की है (पृ० ७६-७७)। सार्टन का मत है कि ग्रहीय दिनों का आरम्भ मिस्र एवं बेबिलोन में हुआ, यूनान में इसका पूर्वज्ञान नहीं था। आधुनिक यूरोपीय घण्टे बेबिलोनी घण्टों एवं मिस्री पंचांग की दिन-संख्या पर आधारित हैं। ई० पू० दूसरी शती तक यूरोप में तथा मध्य एशिया में आज के सप्ताह-दिनों के नामों आदि के विषय में कोई ज्ञान नहीं था। टाल्मी ने अपने टेट्राबिब्लास में सप्ताह का ज्योतिषीय-प्रयोग नहीं किया है। आज के दिनों के नाम ग्रहों पर आधारित हैं, यथा सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र एवं शनि नामक सात ग्रहों पर। कई कारणों से रविवार सप्ताह का प्रथम दिन है; एक कारण यह है कि उसी दिन सृष्टि का आरम्भ हुआ। जिस प्रकार दिनों का क्रम है, उसमें ग्रहों की दूरी, उनके गुरुत्व, प्रकाश एवं महत्ता का कोई समावेश नहीं है। याज्ञ० (१।२९३) ने ग्रहों का क्रम यों दिया है—सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु एवं केतु। यही बात विष्णुपुराण (१।१२।९२) में भी है।

ऐसा तर्क दिया जाता है कि सप्ताह-दिनों का क्रम मिस्रियों के २४ घण्टों वाली विधि पर आधारित है, जहाँ प्रत्येक दिन-भाग क्रम से एक ग्रह से शासित है। रविवार को प्रथम भाग पर सूर्य का, २१ वें भाग के उपरान्त २२वें भाग पर पुनः सूर्य का, २३ वें पर शुक्र का, २४ वें पर बुध का शासन माना जाता है तथा दूसरे दिन २५ वें भाग (या घण्टे) को सोमवार कहा जाता है। यदि यह व्यवस्था २४ घण्टों एवं घण्टा-शासकों पर आधारित है तो वही क्रम लम्बे ढंग से भी हो सकता है। २४ घण्टों के स्थान पर ६० भागों (घटिकाओं) में दिन को बाँटा जा सकता है। यदि हम चन्द्र से आरम्भ करें और एक घटी (या घटिका) एक ग्रह से समन्वित करें तो ५७वीं घटी चन्द्र की होगी, ५८वीं बुध की, ५९वीं शुक्र की, ६०वीं सूर्य की और सोमवार के उपरान्त दूसरा दिन होगा मंगलवार।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन कालों में किसी देश में (और आज भी ऐसा है) सप्ताह-दिनों में एक के उपरान्त-एक दिनों में धार्मिक कृत्य नहीं होते थे। सप्ताह के दिनों के उद्‌भव एवं विकास के विषय पर मत-मतान्तर हैं। ऐसा कहा गया है कि भारतीय सप्ताह-दिन भारत के नहीं हैं, प्रत्युत वे चाल्डिया या यूनान के हैं। यहाँ हम यह देखेंगे साहित्यिक एवं शिलालेखीय प्रमाण हमें इस विषय में कितनी दूर ले जाते हैं। इस विषय में अत्यन्त प्राचीन शिलालेखीय प्रमाण है एरण का स्तभ-शिलालेख, जो बुधगुप्त (सन् ४८४ ई०) का है, जिसमें आषाढ़ शुक्ल द्वादशी एवं बृहस्पति का उल्लेख है। मान लिया जाय कि सप्ताह की धारणा अभारतीय है, तो इसके पूर्व कि वह सर्वसाधारण के जीवन में इस प्रकार समाहित हो जाय कि गुप्त सम्राट् अपनी घोषणाओं में उसका प्रयोग करने लगें, तो यह मानना पड़ेगा कि ऐसा होने में कई शतियों की आवश्यकता पड़ेगी।

अब हम साहित्यिक प्रमाण लें। आर्यभटीय (दशगीतिका, श्लोक ३) में गुरुदिवस (बृहस्पतिवार) का उल्लेख है।[10] बृहत्संहिता (१।४) में मंगल (क्षितितनय दिवस) का उल्लेख है। पंचसिद्धान्तिका (१।८) में सोम

१०. काहो ढ मनुयुग श्ख गतास्ते च मनुयुग छ्ना च। कल्पादेर्युगपादा ग च गुरुदिवसाच्च भारतात्पूर्वम्॥ दशगीतिका, श्लोक ३। टीकाकार ने लिखा है: 'राज्यं चरतां युधिष्ठिरादीनामन्त्यो गुरुदिवसो भारतगुरुदिवसः। द्वापरावसानगत इत्यर्थः। तस्मिन् दिवसे युधिष्ठिरादयो राज्यमुत्सृज्य महाप्रस्थानं गता इति प्रसिद्धिः। तस्माद् गुरुदिवसात् पूर्वकल्पादेरारम्य गता मन्वादय इहोक्ताः। इस श्लोक का अर्थ है: 'ब्रह्मा के एक दिन में १४ मनु हैं तथा ७२ युग एक मन्वन्तर बनाते हैं; इस कल्प में भारतयुद्ध के बृहस्पतिवार तक ६ मनु, २७ युग, ३ युगपाद व्यतीत हो चुके हैं।' 'काहः' का अर्थ है कस्य ब्रह्मणः अहः दिवसः; आर्यभट के अनुसार ढ १४; श्ख ७२; ष् ७० एवं ख २; छ्ना २७ (छ् ७ एवं न या ना २०); ग ३।

दिवस (सोमवार) आया है। बृ० सं० (१०३।६१-६३) ने रविवार से शनिवार तक के कर्मों का उल्लेख किया है। इसी विषय में उत्पल ने गर्ग नामक प्राचीन ज्योतिर्विद् के १८ अनुष्टुप् श्लोकों का उद्धरण दिया है। कर्न ने गर्ग को ई० पू० पहली शती का माना है। इससे प्रकट है कि भारत में सप्ताह-दिनों का ज्ञान ई० पू० प्रथम शती में अवश्य था। फिलास्ट्रेटस ने टायना के अपोल्लोनियस (जो सन् ९८ ई० में मरा) के जीवन-चरित में लिखा है कि किस प्रकार भारत में यात्रा करते समय अपोल्लोनियस ने ब्राह्मणों के नेता इर्चुस से ७ अँगूठियाँ प्राप्त कीं, जिन पर ७ ग्रहों के नाम थे और जिन्हें उसे प्रतिदिन एक-एक करके पहनना था। इससे भी यही प्रकट होता है कि ग्रह-नाम वाले सप्ताह-दिनों का ज्ञान भारतीयों को प्रथम शती में प्राप्त था। अतः ई० पू० प्रथम शती एवं ई० उपरान्त प्रथम शती के बीच में भारत के लोग ग्रहीय दिनों से परिचित थे।

वैखानस-स्मार्त-सूत्र (१।४) एवं बौधायनधर्मसूत्र (२।५।२३) में सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु एवं केतु नामक ग्रहों के नाम आये हैं। प्रथम ग्रन्थ (२।१२) में बुधवार का भी उल्लेख है। आथर्वण-वेदांग-ज्यौतिष (वारप्रकरण, श्लोक १ से ८) में रविवार से लेकर शनिवार तक के कर्मों का उल्लेख है। गाथा-सप्तशती (हाल कृत प्राकृत काव्य-संग्रह) में मंगल एवं विष्टि का उल्लेख है (३।६१)। याज्ञ० (१।२९६) में आज की भाँति दिनों एवं राहु-केतु के साथ नवग्रहों की चर्चा है। यही बात नारदपुराण (१।५१।८०) में है। और देखिए मत्स्य० (९३।७), विष्णुधर्मोत्तर (७८।१-७) आदि। पुराणों में सप्ताह-दिनों के विषय में बहुत-से वर्जित एवं मान्य कर्मों के उल्लेख हैं। बहुत-से पुराणों की तिथियों के विषय में मतभेद है, किन्तु इतना तो प्रमाणों से सिद्ध है कि ईसा की प्रथम दो शतियों में ग्रहों की पूजा एवं सप्ताह के दिनों के विषय में पूर्ण ज्ञान था। महाभारत जैसे विशाल ग्रन्थ में, जहाँ धर्मशास्त्रीय उल्लेख अधिक संख्या में हुए हैं, सप्ताह-दिनों की चर्चा नहीं है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह सप्रमाण सिद्ध हो चुका है कि भारतीय लोग ई० पू० प्रथम शती एवं ई० उपरान्त प्रथम शती के बीच ग्रहों की पूजा एवं ग्रहयुक्त दिनों के ज्ञान से भली भाँति परिचित थे। एक अन्य द्रष्टव्य बात यह भी है कि दिनों के नाम पूर्णतया भारतीय हैं, उन पर यूनानी या अभारतीय प्रभाव नहीं है। किन्तु राशियों के नाम के विषय में ऐसी बात नहीं है, वहाँ 'क्रिय' एवं 'लेय' जैसे शब्द बाह्य रूप से आ गये हैं। टॉल्मी (सन् १५० ई०) ने २४ घण्टों एवं ६० भागों का उल्लेख किया है। भारतीयों में ६० घटिकाओं का प्रयोग प्राचीन है। भारतीयों ने दोपहर या रात्रि से दिन की गणना नहीं की, प्रत्युत प्रातः से की है। आश्वमेधिकपर्व (४४।२) में स्पष्ट कथन है कि पहले दिन आता है तब रात्रि आती है।

भारत में सात दिनों वाले दिन-वृत्त के विषय में कई सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना सम्भव है। बुध, शुक्र, मंगल, बृहस्पति एवं शनि पाँच ग्रहों के साथ प्राचीन बेबिलोनियों ने पाँच देवों की कल्पना की थी। ये देव आगे चलकर रोमक रूपों में परिवर्तित हो गये। प्रेम की देवी ईस्टर शुक्र के रूप में हो गयी, मर्दुक नामक बड़ा देव बृहस्पति हो गया... आदि। ये पाँचों ग्रह सूर्य एवं चन्द्र के साथ स्वर्गिक रूप वाले हो गये। चाल्डिया के मन्दिरों में जो पूजा होती थी और जो सीरिया तक प्रचारित थी, उसमें विशिष्ट दिन पर प्रत्येक देव की प्रार्थनाएँ होती थीं। जो देव जिस दिन पूजित होता था वह उसी दिन के साथ समन्वित हो गया। जो दिन सूर्य एवं चन्द्र के लिए पवित्र थे वे रविवार एवं सोमवार हो गये। इंग्लैण्ड में कुछ दिन-नाम प्रयोग में आ गये, यथा वेड्नस डे (वोडेंसडे) एवं थर्स् डे (थोर्स डे)। किन्तु सप्ताह के दिन यूरोप में बेबिलोनी देवों के नाम से ही बने। भारत एवं बेबिलोन में अति प्राचीन काल से व्यापारिक तथा अन्य प्रकार के सम्पर्क स्थापित थे। इस विषय में हमने पहले ही चर्चा कर ली है। भारत में सूर्य-पूजा प्राचीन है, यथा, कश्मीर में मार्तण्ड, उत्तरी गुजरात में मोढेरा, उड़ीसा में कोणार्क। आज भी कहीं-कहीं राहु एवं केतु के मन्दिर हैं, यथा अहमदनगर जिले में राहुरि स्थान पर। कौटिल्य ने काल के बहुत-से भागों का

(त्रुटि से युग तक) उल्लेख किया है और कहा है कि दो नाड़िकाएँ एक मुहूर्त के तथा एक अहोरात्र (दिन-रात) ३० मुहूर्तों के बराबर हैं। इससे प्रकट है कि कौटिल्य को केवल ६० नाड़िकाओं वाला दिन ज्ञात था। एक नाड़ी बराबर थी एक घटी (या घटिका) के।

काल-गणना की अन्य विधि भी प्रचलित थी, यथा—६ बड़े अक्षरों के उच्चारण में जो समय लगता है उसे प्राण कहा जाता है; ६ प्राण मिलकर एक पल के बराबर होते हैं, ६० पल एक दण्ड, घटी या नाड़ी के बराबर (सूर्यसिद्धान्त १।११; ज्योतिस्तत्त्व, पृ० ५६२)। पाणिनि (३।२।३०) ने 'नाडिन्धम' की व्युत्पत्ति 'नाड़ी' से की है। 'नाड़ी' एक अति प्राचीन शब्द है।[11] यह ऋग्वेद (१०।१३५।७) में आया है जिसका अर्थ है मुरली। लगता है, आगे चलकर यह कालावधि का द्योतक हो गया जो शंख या मुरली या तुरही जैसे बाजे के बजाने से प्रकट किया जाता था और जो 'नाड़ी' के रूप में (एक दिन के ६० वें भाग में) घोषित हो गया, क्योंकि उन दिनों घड़ियाँ नहीं होती थीं। अतः ६० नाड़ियों एवं घटियों (दोनों शब्द पतञ्जलि द्वारा, जो ई० पू० १५० में विद्यमान थे, प्रयुक्त हुए हैं) का दिन-विभाजन बहुत प्राचीन है। सूर्यसिद्धान्त में २४ घण्टों की चर्चा है, किन्तु वह ग्रन्थ पश्चात्कालीन है और उस पर बाह्य प्रभाव हो सकता है, किन्तु उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत में दिन-विभाजन की परिपाटी (अर्थात् दिन को घटियों एवं नाड़ियों में बाँटना) अति प्राचीन है और उस पर बाह्य प्रभाव की बात ही नहीं उठती। स्वयं पतंजलि ने नाड़ी एवं घटी के प्रयोग को पुराना माना है। अतः ई० पू० दूसरी शती से बहुत पहले नाड़ी एवं घटी का प्रचलन सिद्ध है। पूर्ण रूप से सप्ताह-दिनों पर भी बाह्य प्रभाव सिद्ध नहीं किया जा सकता। बेबिलोनी एवं सीरियाई प्रचलन के प्रभाव की बात उठायी जाती है, किन्तु इसे समानता मात्र से सिद्ध नहीं किया जा सकता। केवल पाश्चात्य हठवादिता प्रमाण नहीं हो सकती। देखिए कनिंघम (इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, जिल्द १४, पृ० १) जहाँ यूरोपीय एवं भारतीय सप्ताह-विभाजन की तालिकाएँ एवं रेखाचित्र दिये हुए हैं। अल्बरूनी (सचौ, जिल्द १, अध्याय १९, पृ० २१४-२१५) ने लिखा है कि भारतीय लोग ग्रहों एवं सप्ताह-दिनों के विषय में अपनी परिपाटी रखते हैं और दूसरे लोगों की परिपाटी को, भले ही वह अधिक ठीक हो, मानने को सन्नद्ध नहीं हैं।

११. 'नाड़ी' एवं 'नाड़िका' के कई अर्थ हैं—मुरली, नली, धमनी, एक आधा मुहूर्त। 'नाडिन्धम' का अर्थ स्वर्णकार है (क्योंकि वह एक नली से फूंककर आग धौंकता है)। काठकसंहिता (२३।४ : सैषा वनस्पतिषु वाग्वदति या नाड्यां या तूणवे) से प्रकट होता है कि नाड़ी एक ऐसा वाद्य था जिससे स्वर निकलते थे।

अध्याय १९

कल्प, मन्वन्तर, महायुग, युग

युग (पाँच वर्ष) से लेकर सप्ताह एवं दिन के काल-विभाजन पर प्रकाश डालने के उपरान्त अब हम युग, महायुग, मन्वन्तर एवं कल्प की काल-विभाजन-सम्बन्धी चर्चा करेंगे। 'कल्प' शब्द का बीज ऋग्वेद (१०।१९०।३) में पाया जाता है,[1] जहाँ ऐसा आया है—'सृष्टिकर्ता ने सूर्य, चन्द्र, दिन, पृथिवी एवं अन्तरिक्ष की, पहले की भाँति, सृष्टि की।' निश्चित तिथि वाला अत्यन्त प्राचीन प्रमाण अशोक के अनुशासनों में पाया जाता है, यथा गिरनार एवं काल्सी का चौथा प्रस्तर-लेख (आव सवट कपा अर्थात् यावत् संवर्त-कल्पम्) तथा शहबाजगढ़ी एवं मानसेरा का पाँचवा प्रस्तर-लेख (आव कपम्—यावत् कल्पम्)। इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि कल्प के विशाल विस्तार के सिद्धान्त ई० पू० तीसरी शती के बहुत पहले से घोषित थे। बौद्धों ने भी कल्पों के सिद्धान्त को अपनाया था, जैसा कि महापरिनिब्बानसुत्त (३।५२) से प्रकट है—'हे भगवन्, कृपा करके कल्प में रहें। हे महाभाग, असंख्य लोगों के कल्याण एवं सुख के लिए कल्प भर रहें।'

ऐसा विश्वास चला आ रहा है कि आदि काल में मानव-समाज आदर्श रूप से अति उत्कृष्ट था और क्रमशः नैतिक बातों, स्वास्थ्य, जीवन-विस्तार आदि में क्रमिक अपकर्ष होता चला गया और सुदूर भविष्य में पुनः नैतिक बातों आदि का स्वर्ण युग अवतरित होगा। इस विषय में हमने इस महाग्रन्थ के खण्ड ३ में पढ़ लिया है। 'युग' शब्द के कई अर्थ हैं—काल की अल्पावधि (ऋ० ३।२६।३), पाँच वर्षों का एक वृत्त, दीर्घावधि एवं सहस्रों वर्ष की अवधि। प्रो० मन्कड़ ने 'पूना ओरिएण्टलिस्ट' (जिल्द ६, पृ० २११-२१२) में इसके दस अर्थ दिये हैं। उनकी सभी बातें ग्रहण नहीं की जा सकतीं, उदाहरणस्वरूप, जब वे शाकुन्तल (४ युगान्तरम् आरूढः सविता) में युग को दिन का चौथाई भाग मानते हैं। ऐसा कहीं भी उल्लिखित नहीं हुआ है। शाकुन्तल में उसका अर्थ होना चाहिए 'सूर्य आकाश में (पूर्व क्षितिज में) एक युग (धुरा) ऊपर आ गया है।' ऋ० (१०।६०।८, १०।१०१।३ एवं ४) में भी यही अर्थ है। महाभारत, मनु एवं पुराणों में युगों, मन्वन्तरों एवं कल्पों के विषय में बहुत कुछ विस्तार के साथ कथित है। युग चार हैं—कृत, त्रेता, द्वापर एवं तिष्य या कलि और ये केवल भारत से सम्बन्धित माने गये हैं।[2] हमने इस महाग्रन्थ के खण्ड ३ में पढ़ लिया है कि आरम्भिक रूप में द्यूत (जुआ) के किन्हीं चार पाशों के

१. सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः। ऋ० (१०।१९०।३)।

२. चत्वारि भारते वर्षे युगानि मुनयो विदुः। कृतं त्रेता द्वापरं च तिष्यं चेति चतुर्युगम्॥ वायु० (२४।१, ४५।१३७ एवं ५७।२२)। और देखिए मत्स्य० (१४२।१७-१८), ब्रह्म० (२७।६४)। द्वापर युग के अन्त के विषय में कई बातें पायी जाती हैं। ऐसा आया है कि कौरवों एवं पाण्डवों का युद्ध द्वापर एवं कलि की सन्ध्या में हुआ (आदि० २।१३)। शल्य० (६०।२५), वन० (१४९।३८) में आया है कि जब भारतयुद्ध होने वाला था तो कलियुग समीप था। किन्तु बहुत-से पुराणों में ऐसा आया है कि कृष्ण ने जब अपने अवतार का अन्त किया और स्वर्ग चले गये

प्रक्षेपों (फेंकों) को युग कहा जाता था, किन्तु लगभग ई० पू० चौथी शती (यदि इससे पूर्व नहीं) युग मानवों से सम्बन्धित हो गया। आरम्भिक गुप्ताभिलेखों में कृत युग को महान् गुणों के वृत्त से सम्बन्धित माना गया है (एपि० इण्डिका, जिल्द २३, पृ० ८१)। महाभारत में युगों, मन्वन्तरों एवं कल्पों के सिद्धान्त का विस्तार से उल्लेख हुआ है (वन० अध्याय १४९, १८८; शान्ति०, अ० ६९, २३१-२३२); मनु (१।६१-७४, ७९-८६), विष्णुधर्मसूत्र (२०।१-२१), विष्णुपुराण (१।३, ६।३), ब्रह्म० (५।२२९-२३२), मत्स्य० (१४२-१४५), वायु० (अध्याय २१, २२, ५७, ५८, १००), कूर्म० (१, अ० ५१ एवं ५३), ब्रह्माण्ड० (२।६ एवं ३१-३६, ३।१), मार्कण्डेय० (५८-६४, ६६-७०, ७१-९७) में भी युग-सम्बन्धी विशाल साहित्य है। ज्योतिःशास्त्रीय ग्रन्थ भी, यथा आर्यभटीय, सूर्यसिद्धान्त, ब्रह्मगुप्त, सिद्धान्तशिरोमणि इनके विषय में उल्लेख करते हैं। किन्तु इनमें कहीं भी कल्पों, मन्वन्तरों एवं युगों के उद्भव के विषय में सन्तोषजनक व्याख्या नहीं पायी जाती। पार्जिटर महोदय का कथन है कि युग-विभाजन का ऐतिहासिक आधार है। ऐसा हो सकता है और नहीं भी हो सकता। कतिपय पुराणों में आया है कि युग-सिद्धान्त भारत तक ही सीमित था। सामान्यतः युगों के स्वभाव या स्वरूप का वर्णन इन ग्रन्थों में एक-सा है, किन्तु विस्तारों में मतभेद है। मनुस्मृति के उल्लेख प्राचीनतम उल्लेखों में परिगणित हैं, अतः हम संक्षेप में उन्हें यहाँ सर्वप्रथम रखेंगे। सात मनु ये हैं—स्वायम्भुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष एवं वैवस्वत। इसके उपरान्त निमेषों का विभाजन है (१८ निमेष=काष्ठा, ३०=काष्ठा=कला, ३० कला=मुहूर्त, ३० मुहूर्त=अहोरात्र)। ऐसा आया है कि मानव मास पितरों का अहोरात्र (दिन एवं रात्रि) है, मानव वर्ष देव अहोरात्र है। कृतयुग का विस्तार देव-मान से ४००० वर्ष है, इसके पूर्व सन्ध्या ४०० वर्ष है, इसके उपरान्त सन्ध्यान्त ४०० वर्ष है। शेष तीन, त्रेता, द्वापर एवं कलियुग क्रम से ३०००, २००० एवं १००० देव वर्ष के हैं; सन्ध्या एवं सन्ध्यान्त क्रम से हैं ६००, ४०० एवं २०० देव वर्ष। इस प्रकार चार युगों का विस्तार १२००० वर्षों (४८००+३६००+२४००+१२००) का है, जिसे देवों का युग (यह दिव्य मानक है) कहा गया है; इन चारों के १००० वर्ष ब्रह्मा का एक दिन और उतनी ही ब्रह्मा की एक रात्रि है। १२००० देव वर्षों के ७१ युगों में प्रत्येक को मन्वन्तर कहा जाता है और मन्वन्तर असंख्य हैं और इसी प्रकार सृष्टियाँ एवं प्रलय भी असंख्य हैं। मनु में कल्प का उल्लेख नहीं है। मनुस्मृति के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में यथा विष्णु-पुराण (६।३।११-१२) में आया है कि १४ मन्वन्तरों का एक कल्प होता है, जो ब्रह्मा का एक दिन है। देवों का एक दिन एक मानव वर्ष है, अतः १२००० वर्षों की चतुर्युगी ४३,२०,००० मानव वर्षों के बराबर होगी (१२०००×३६०), जिसे मानुष काल-मानक कहा जाता है।

युगों की इन विशाल वर्ष-संख्याओं का निर्देश कब और कैसे हुआ, यह अभी एक पहेली ही है। शत-पथ ब्राह्मण काल में ही लोग विशाल वर्ष-संख्याओं से परिचित थे। वहाँ (१०।४।२, २२, २३ एवं २५) आया है कि एक वर्ष में १०,८०० मुहूर्त होते हैं (३०×३६०, ३० अहोरात्र का द्योतक है), प्रजापति ने ऋग्वेद की व्यवस्था

तो कलियुग का आरम्भ हो गया। यह बात वायु० (९९।४२८-२९), ब्रह्माण्ड० (३।७४।२४१), मत्स्य० (२७३। ४९-५०), विष्णु० (४।२४।११०), भागवत० (१२।२।३२), ब्रह्म० (२१२।८) में दूसरे शब्दों में कथित है। मौसलपर्व (१।१३ एवं २।२०) में आया है कि कृष्ण भारत-युद्ध के ३६ वर्षों के उपरान्त स्वर्ग को चले गये। इन बातों से इतना तो स्पष्ट है कि भारत-युद्ध (महाभारत) के तुरन्त उपरान्त ही या कुछ वर्षों के उपरान्त द्वापर का अन्त हुआ।

इस प्रकार की कि इसके अक्षरों की संख्या १२००० व्याहृतियों (प्रत्येक व्याहृति में ३६ अक्षर होते हैं) के बराबर है, अर्थात् कुल अक्षर ४,३२,००० हैं; ऐसा भी कहा गया है कि ऋग्वेद में १०,८०० पंक्तियाँ (प्रत्येक पंक्ति में ४० अक्षर हैं, अतः १०८०० × ४० = ४,३२,०००) हैं। प्रजापति ने अन्य दो वेदों की व्यवस्था भी की और तीनों वेदों में ८,६४,००० अक्षर हैं। ३६० यज्ञिय दिनों में १०,८०० मुहूर्त होते हैं और मुहूर्त के उपरान्त मुहूर्त पर ८० अक्षरों की वृद्धि होती है, अतः १०८०० × ८० = ८,६४,००० अक्षर हुए। पेरिस के 'कालेज दि फ्रांस' के प्रो० डा० जीन फ़िलियोजात ने एक मत प्रकाशित किया है कि शतपथ में दी हुई उपर्युक्त संख्या वैज्ञानिक है और हेराक्लिटस ने जो कहा है कि १०,८०० साधारण मानुष वर्ष 'महान् वर्ष' के द्योतक हैं और बेरोसस ने जो यह कहा है कि महान् ज्योतिर्षीय काल ४,३२,००० वर्षों का है, तो इन दोनों से शतपथ ब्राह्मण का कथन बहुत प्राचीन है, । अतः यदि उधार लेने की बात उठती है तो वह यह है कि यूनानियों ने भारत से उधार लिया (देखिए डा० जे० फ़िलियोज़ात, जे० ओ० आर०, मद्रास, जिल्द २५, १९५७ ई०, पृ० १-८)। ब्रह्मा का एक दिन बराबर है एक कल्प के, अर्थात् ४,३२,०००० × १००० = ४, ३२,००,००,००० वर्ष। ब्रह्मा के जीवन के १०० वर्ष के मानुष वर्ष जानने के लिए ४,३२,००,००,००० को २ से गुणा और पुनः ३६० और पुनः १०० से गुणा करना होगा, इस प्रकार ब्रह्मा का वर्ष बराबर होगा ३१,१०,४०,००,००,००,००० वर्ष के। यही बात अल्बरूनी (सचौ, जिल्द १, पृ० ३३२) ने भी कही है। कुछ लोगों ने ब्रह्मा के जीवन को १०८ वर्ष माना है। ब्रह्मा अब तक ५० वर्ष के हो चुके हैं और यह उनके जीवन का दूसरा अर्धांश है, अब वाराहकल्प एवं वैवस्वत मन्वन्तर (सातवाँ) चल रहा है। अतीत छः मनु हैं—स्वायंभुव, स्वारोचिष, उत्तम, तामस, रैवत एवं चाक्षुष तथा आज के मनु हैं वैवस्वत (सातवें)। देखिए ब्रह्म० (५।४-५), विष्णु० (३।१।६-७)। शेष ७ मनु विभिन्न रूपों से संज्ञापित हैं। नरसिंह-पुराण (२४।१७-३५) में भावी मनुओं के नाम ये हैं—सावर्णि, दक्ष सावर्णि, ब्रह्मसावर्णि, धर्मसावर्णिक, रुद्रसावर्णि, रुचि एवं भौम; ब्रह्म० (५।५-६) में ७ में ४ नाम ये हैं—सावर्णि, रैम्य, रौच्य एवं मेरुसावर्णि। नारदपुराण (१।४०।२०-२३) में १४ मनुओं के नाम आये हैं। ऐसा आया है कि प्रत्येक मन्वन्तर[3] में विभिन्न ऋषियों, मनु-पुत्रों, देवों, राजाओं, स्मृतियों, इन्द्र एवं धर्म की सम्यक् व्यवस्था एवं लोगों की रक्षा के पालकों का दल होता है (ब्रह्म० ५।३९; विष्णु० ३।१-२)। विष्णु० में ऐसा आया है कि कुछ देव चार युगों तक, कुछ एक मन्वन्तर तक और कुछ एक कल्प तक रहते हैं (१।१२।९३)। विष्णुधर्मसूत्र (२०।१-१५) में मनु के समान ही मन्वन्तरों एवं कल्पों का उल्लेख है किन्तु इसमें एक अन्य बात भी है कि ब्रह्मा का सम्पूर्ण जीवन पुरुष (विष्णु) के एक दिन के बराबर है और पुरुष की रात्रि भी इतनी ही लम्बी है। यह द्रष्टव्य है कि यही मत अल्बरूनी (सचौ, जिल्द १, पृ० ३३२) ने पुलिश सिद्धान्त में भी पाया है। यह नहीं ज्ञात है कि उन यूरोपीय विद्वानों ने, जो पुलिश को पौलस अलेक्जैड्रिनस कहते हैं, यह किस प्रकार दर्शाया है कि उपर्युक्त बातें यूनानी ज्योतिर्विद् पौलस में पायी जाती हैं। अन्य विस्तार हम यहीं छोड़ते हैं।

३. मन्वन्तर का अर्थ है 'अन्य मनुः' या 'मनूनामन्तरमवकाशोऽवधिर्वा'। यदि १००० महायुगों को १४ से भाग दें तो प्रत्येक मन्वन्तर ७१ महायुग + कुछ और (अर्थात् $\frac{6}{14}$ महायुग)। 'मनु' शब्द ऋग्वेद एवं अन्य संहिताओं में आया है। मनु को मानवता एवं ऋषियों (मुनियों) का पिता कहा गया है और कहा गया है कि वे मानवों के उचित मार्ग का प्रदर्शन करते हैं। देखिए ऋ० (२।३३।१३, ८।३०।३, ४।५४।१); तै० सं० (२।२।१०।२); काठक सं० (११।५)। शतपथ ब्रा० (१।८।१।१) में मनु एवं प्रलय की प्रसिद्ध गाथा आयी है। तै० सं० (३।१।९।४-६) एवं ऐ० ब्रा० (२२।९) में मनु एवं उनके पुत्र नाभानेदिष्ट की कथा है।

कलियुग के (जो पुराणों के अनुसार ४,३२,००० वर्षों तक चलेगा और जो ५०७१ वर्षों तक, सन् १९७० ई० में, बीत चुका है) निराशावादी एवं दारुण वृत्तान्तों का उल्लेख वन० (अध्याय १८८, १९०), शान्ति० (६९।८०-९७), हरिवंश (भविष्यपर्व, अध्याय ३-५), ब्रह्म० (अध्याय २२९-२३०), वायु० (अ० ५८, ९९), मत्स्य० (१४४।३२-४७), कूर्म० (१।३०) तथा अन्य पुराणों में किया गया है। देखिए इस महाग्रन्थ का खण्ड ३, जहाँ वनपर्व का संक्षेप दिया हुआ है। वायु० (अ० २१-२३) में ३३ कल्पों के नाम आये हैं। मत्स्य० (२९०) ने ३० कल्पों के नाम दिये हैं। ब्रह्माण्ड० (२।३३।११९) में आया है कि कल्प ३५ से न कम हैं और न अधिक।

पुराणों में प्रलय के चार प्रकार दिये गये हैं: **नित्य** (जो जन्म लेते हैं उनकी प्रति दिन की मृत्यु), **नैमित्तिक** (जब ब्रह्मा का एक दिन समाप्त होता है, और विश्व का नाश होता है) **प्राकृतिक** (जब प्रत्येक वस्तु प्रकृति में विलीन हो जाती है) तथा **आत्यन्तिक** प्रलय (मोक्ष, सम्यक् ज्ञान से परमात्मा में विलीनता)। कतिपय पुराणों में नैमित्तिक एवं प्राकृतिक प्रलयों का अति दुःखावह वर्णन पाया जाता है। कूर्म० (२।४५। ११-५९) में उल्लिखित वर्णन का संक्षेप यहाँ दिया जा रहा है। जब एक सहस्र चतुर्युगों का अन्त होता है तो एक सौ वर्षों तक वर्षा नहीं होती; परिणाम यह होता है कि प्राणी मर जाते हैं और पृथिवी में विलीन हो जाते हैं; सूर्य की किरणें असह्य हो जाती हैं, यहाँ तक कि समुद्र सूख जाते हैं; पर्वतों, वनों एवं महाद्वीपों के साथ पृथिवी सूर्य की भीषण गर्मी से जलकर राख हो जाती है। जब सूर्य की किरणें प्रत्येक वस्तु को जलाती गिरती हैं तो सम्पूर्ण विश्व एक विशाल अग्नि के सदृश लगता है। चल एवं अचल सभी वस्तुएँ जल उठती हैं। महासमुद्रों के जन्तु बाहर आकर राख बन जाते हैं। संवर्तक अग्नि प्रचण्ड आँधी से बढ़कर सम्पूर्ण पृथिवी को जलाने लगती है और उसकी ज्वालाएँ सहस्रों योजन ऊपर उठने लगती हैं, वे गन्धर्वों, पिशाचों, यक्षों, नागों, राक्षसों को जलाने लगती हैं, केवल पृथिवी ही नहीं, प्रत्युत 'भुवः' एवं 'स्वः' लोक भी जल जाते हैं। तब विशाल संवर्तक बादल हाथियों के झुण्डों के समान, विद्युत से चमत्कृत हो आकाश में उठने लगते हैं, कुछ तो नीले कमलों के सदृश, कुछ पीले, कुछ धूमिल, कुछ मोम से लगने लगते हैं और आकाश में छा जाते हैं और अति वर्षा कर अग्नि बुझाने लगते हैं। जब अग्नि बुझ जाती है, नाश के बादल सम्पूर्ण लोक को बाढ़ों से घेर लेते हैं; पर्वत छिप जाते हैं, पृथिवी पानी में निमग्न हो जाती है और सभी कुछ जलार्णव हो जाता है और तब ब्रह्मा यौगिक निद्रा में आ जाते हैं। वन० (२७२।३२-४८) में नैमित्तिक प्रलय का संक्षिप्त वर्णन है।

कूर्म० (२।४६) एवं विष्णु० (६।४।१२-४९) में प्राकृतिक प्रलय का वर्णन है जो सांख्य के वर्णन के समान है। संक्षेप में यों है—जब अधः लोकों के साथ सभी लोक अनावृष्टि से नष्ट हो जाते हैं और **महत्** से आगे के सभी प्रभाव नष्ट हो जाते हैं, तो जल सर्वप्रथम **गन्ध** को सोख लेता है और जब **गन्धतन्मात्रा** नष्ट हो जाती है, पृथिवी जलमय हो जाती है; जल के विशिष्ट गुण **रस-तन्मात्रा** का नाश हो जाता है, केवल अग्नि शेष रहती है और सम्पूर्ण लोक अग्निज्वाला से परिपूर्ण हो जाता है; तब वायु अग्नि को आत्मसात् कर लेता है और **रूप-तन्मात्रा** का विनाश हो जाता है; वायु सभी १० दिशाओं को हिला देता है; आकाश वायु के **स्पर्श-गुण** को हर लेता है और केवल आकाश ही शून्य-सा पड़ा रहता है और **शब्द-तन्मात्रा** चली जाती है। इस प्रकार सात प्रकृतियाँ महत् एवं अहंकार के साथ क्रम से समाप्त हो जाती हैं; यहाँ तक कि पुरुष एवं प्रकृति परमात्मा (विष्णु) में विलीन हो जाते हैं। विष्णु का दिन मानुष वर्षों के दो परार्धों के बराबर होता है।

कुछ ऐसे ग्रन्थ, यथा हरिवंश (भविष्यपर्व, अध्याय १०।१२-६८), कहते हैं कि कल्प के अन्त में केवल मुनि मार्कण्डेय बचे रहते हैं और प्रलय (या कल्प) के समय तक विष्णु में अवस्थित रहते हैं और फिर उनके मुख से

बाहर आ जाते हैं। ब्रह्म० (५२।१२-२९ एवं ५३।५५) का कथन है कि कल्पान्त के समय मार्कण्डेय एक वट वृक्ष देखते हैं और रत्नजटित एक शय्या पर पड़े हुए एक बालक (स्वयं विष्णु) को देखते हैं; इसके उपरान्त वे उसमें प्रवेश कर जाते हैं और बाद को बाहर आ जाते हैं। और देखिए मत्स्य० (१६७।१४-६६)। भगवद्गीता (८।१८-१९) में ब्रह्मा की रात्रि के आगमन पर सभी प्राणियों के बार-बार लय एवं ब्रह्मा के दिन के आरम्भ पर प्राणियों के पुनरुद्भव की बात आयी है।

युगों, मन्वन्तरों एवं कल्पों का सिद्धान्त तथा कल्पनामय वर्षों की संख्या एवं प्रलय के भीषण रूप का वर्णन आदि अवास्तविक एवं मनोराज्यमयी कल्पना मात्र है। किन्तु इसमें अन्तर्हित भाव है अखिल ब्रह्माण्ड की काल-रहितता; यद्यपि समय-समय पर यह प्रकट होता है, क्रमशः घटता, नष्ट हो जाता है, केवल दिव्य प्रकाश के उपरान्त पूर्णता के रूप में पुनः प्रकट होने के लिए। इसमें यह भावना भी है कि मानव वास्तविकता के पीछे पड़ा रहता है और भाँति-भाँति के आदर्शों की प्राप्ति करना चाहता है। इसमें यह महान् भावना है कि मानव किसी विशिष्ट लक्ष्य को लेकर चलता है, विभिन्न प्रकार के बड़े-बड़े प्रयासों एवं उद्योगों के साथ उसकी प्राप्ति का प्रयत्न करता है, कुछ सफलता के उपरान्त उस लक्ष्य का त्याग करता है और उस ढंग को भी छोड़ता है जिसके सहारे वह आगे बढ़ा था और पुनः किसी अन्य लक्ष्य का निर्धारण करता है और उसकी प्राप्ति के लिए बहुत काल तक इस आशा से प्रयत्न करता है कि सुदूर काल में वह ऐसे समाज का निर्माण कर सके जो पूर्ण हो। मनु (१।८६)[४] में आया है—'कृतयुग में तप सर्वोच्च लक्ष्य था, त्रेता में ज्ञान, द्वापर में यज्ञ, कलि में केवल दान।' यह बात मानव के विभिन्न सुन्दर उद्योगों एवं प्रेरणाओं की द्योतक है।

युगों, मन्वन्तरों एवं कल्पों के सिद्धान्त के विस्तारों के विषय में कई मत-मतान्तर हैं। कुछ यहाँ दिये जा रहे हैं। आर्यभट के मत से चारों युगों का विस्तार समान था, न कि ४, ३, २ एवं १ के समानुपात में; उन्होंने कहा है कि जब वे २३ वर्ष के थे तो तीन युगपाद एवं ३६०० वर्ष व्यतीत हुए थे (कालक्रियापाद १०)। ब्रह्मगुप्त (१।९) ने कहा है कि यद्यपि आर्यभट ने घोषित किया है कि कृतयुग आदि युगों के चार पाद बराबर हैं, किन्तु स्मृतियों में ऐसी बात नहीं पायी जाती। एक अन्य विरोधी बात भी है। आर्यभट (दशगीतिका, श्लोक ३) ने कहा है कि मनु ७२ युगों की एक अवधि है, किंतु अन्य स्मृतियों एवं पुराणों ने मन्वन्तर को ७१ युग माना है। आर्यभट ने यह भी कहा है कि ब्रह्मा का दिन १००८ चतुर्युगों के बराबर है (ब्रह्मगुप्त १।१२)। प्रसिद्ध वैज्ञानिक ज्योतिर्विद् भास्कराचार्य (१११४ ई० में उत्पन्न) ने धैर्य के साथ कहा है—'कुछ लोगों का कथन है कि ब्रह्मा का अर्ध जीवन (अर्थात् ५० वर्ष) समाप्त हो चुका है, किन्तु कुछ लोगों के मत से ५८ वर्ष व्यतीत हुए हैं। चाहे जो सत्य परम्परा हो, इसका कोई उपयोग नहीं है, ब्रह्मा के चालू दिन में जो दिन व्यतीत हो चुके हैं, उन्हीं में ग्रहों की स्थितियों को रखना है।'

उपर्युक्त बातों के सिलसिले में हमें संख्याओं, अंकों, उनकी प्राचीनता तथा तथा अंक-लेखन के विषय में भी थोड़ी विज्ञता प्राप्त कर लेनी चाहिए। ऋग्वेद में १ से १० तक के अंकों का बहुधा उल्लेख है। 'सहस्र' एवं 'अयुत' (१० सहस्र) भी उल्लिखित हैं (ऋ० ४।२६।७, ८।१।५ एवं ८।२१।१८)। और भी देखिए ऋ० (८।४६।२२), (१।५३।९), (१।१२६।३), (८।४।२०), (८।४६।२९) आदि। तै० सं० (४।४।११।३-४)

४. तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते। द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे॥ मनु (१।८६)। देखिए यही बात शान्ति० (२३।२८), वायु० (८।६५-६६), पराशरस्मृति (१।२३)।

में ईंटों की संख्याएँ आयी हैं, यथा १, १००, १०००, अयुत (१०,०००), नियुत, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, समुद्र, मध्य, अन्त एवं परार्ध। और देखिए वहीं (७।२।११-१९), (७।२।२०), (४।४।११।३-४) आदि। इन बातों से स्पष्ट है कि ई० पू० एक सहस्र वर्ष पहले से वर्षों की ज्योतिश्शास्त्रीय संख्याएँ परिज्ञात थीं। क्या यूनान में अर्बुद के आगे की संख्याएँ पायी गयी थीं? निरुक्त (३।१०) ने एक, द्वि, त्रि, चतुर्, अष्ट, नव, दश, विंशति, शत, सहस्र, अयुत, नियुत, प्रयुत, अर्बुद की व्युत्पत्ति की है। और देखिए पाणिनि (५।१।५९), सभा० (६५।३-४), आर्यभट (गणितपाद २), वायु० (१०१।९३-१०२)। यह द्रष्टव्य है कि प्राचीन यूनानियों के पास एक नियुत (दशलक्ष) के लिए कोई एक शब्द था ही नहीं।

विष्णुपुराण (६।३।४-५) के मत से परार्ध एक से आगे का १८ वाँ क्रम है, और प्रत्येक क्रम अपने से पूर्व के क्रम से दसगुना है। भारत में कई शतियों से प्रयुक्त १८ क्रमों की तालिका निम्न ढंग से है—"एक-दशशत-सहस्रायुतलक्षप्रयुतकोटयः क्रमशः। अर्बुदमब्जं खर्वनिखर्वमहापद्मशंकवस्तस्मात्॥ जलधिश्चान्त्यं मध्यं परार्धमिति दशगुणोत्तराः संज्ञाः। संख्यायाः स्थानानां व्यवहारार्थं कृताः पूर्वैः॥" लीलावती (परिभाषा, १०-११)।
परार्धमिति दशगुणोत्तराः संज्ञाः। संख्यायाः स्थानानां व्यवहारार्थं कृताः पूर्वैः॥" लीलावती (परिभाषा, १०-११)।

(१) एक	(१०) अब्ज या पद्म
(२) दश	(११) खर्व
(३) शत	(१२) निखर्व
(४) सहस्र	(१३) महापद्म
(५) अयुत	(१४) शंकु
(६) लक्ष	(१५) जलधि या समुद्र
(७) प्रयुत	(१६) अन्त्य
(८) कोटि	(१७) मध्य
(९) अर्बुद	(१८) परार्ध

संहिताओं के निर्देशों से प्रकट है कि आज से सहस्रों वर्ष पूर्व भारतीयों को दशमलव पद्धति का ज्ञान था, किन्तु दशमलव स्थानीय था या स्थानमूल्य पद्धति वाला—इन दोनों में कौन-सा वैदिक काल में ज्ञात था, अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है। सामान्यतः यह विश्वास किया जाता है कि आधुनिक दशमलव पद्धति भारतीय है, जिसे अरब वालों ने भारत से लिया और आगे चलकर यूरोपियों ने अरबों से उसे प्राप्त किया। यह पद्धति अरब वालों ने १२ वीं शती में यूरोप में प्रचारित की। यह पद्धति मानव के उच्चतम कोटि वाले आविष्कारों में एक है। इस विषय में बहुत कुछ लिखा जा चुका है और सिद्ध किया जा चुका है कि गणित-गुरु भारतीय ही रहे हैं। बहुत-से हठवादी यूरोपीय लेखक भारत को इसका श्रेय नहीं देना चाहते थे। सन् १९५६ ई० में कान्स्टेंस रीड महोदय ने अपनी पुस्तक 'फ्राम जीरो टु इनफिनटी' में लिखा है कि शून्य दस अंकों में प्रथम अंक है और इसके द्वारा अनन्त तक की संख्याओं की परिगणना सम्भव है। इस अद्भुत आविष्कार पर पैथागोरस, यूक्लिड एवं आर्किमिडिज जैसे महान् यूनानियों का भी ध्यान नहीं जा सका था। मिस्रियों को भी दशमलव के स्थानीय मूल्य का ज्ञान नहीं था। बेबलोनी लोग भी इस ज्ञान से अछूते रहे हैं। यह कहना कठिन है कि भारत में यह ज्ञान कब उत्पन्न हुआ। किन्तु ईसा के पहले कई शतियों पूर्व भारतीयों ने इसका ज्ञान कर लिया था। छन्द-मात्रा के विषय पर पिंगल मुनि का एक ग्रन्थ वेदांग है। पिंगल का वह छन्दः सूत्र शून्य का प्रयोग करता है (८।२८-३१)। शतपथ ब्रा० (११।४।३।२०)

भी वेदांगों से परिचित है, किन्तु वह पिंगल के ग्रन्थ से परिचित था कि नहीं, कोई संकेत नहीं मिलता। सम्भवतः आपस्तम्ब-धर्मसूत्र (२।४।८।१०-११) में यह 'छन्दोविचिति' के नाम से उल्लिखित है (षडंगो वेदः। छन्दः कल्पो व्याकरणं ज्योतिषं निरुक्तं शीक्षा छन्दोविचितिरिति)। शबर (लगभग २०० ई०, ४०० ई० के उपरान्त कभी नहीं) ने पिंगल के ग्रन्थ को पाणिनि-सूत्र के समकक्ष रखा है। इससे पिंगल की प्राचीनता स्वतः प्रमाणित हो जाता है।

अंकों को लिखने की कई परिपाटियाँ थीं। एक परिपाटी ऐसी थी जिसके अनुसार एक अंक विभिन्न स्थानों के अनुसार विभिन्न मूल्यों वाला हो जाता था, यथा अंक २, केवल २ या २० या २०० आदि हो सकता था यदि उसे इकाई पर या दहाई पर या सैकड़ा स्थान पर रखा जाय। एक परिपाटी थी शब्दों द्वारा पूर्ण अंकों का द्योतन करना। यह ज्योतिर्विय ग्रन्थों में उत्तम परिपाटी थी, क्योंकि लम्बे-लम्बे आलेखनों में यह सरल सी थी और उन दिनों पाण्डुलिपियाँ ही बनती थीं, मुद्रण-यन्त्र नहीं थे। पाण्डुलिपियों के निर्माण में अंकों के लेखन में अशुद्धि हो सकती थी, किन्तु मात्राओं से सम्बद्ध होने के कारण शब्द में से कुछ भी छूटना सम्भव नहीं था, क्योंकि ऐसा होने पर अशुद्धि हठात् प्रकट हो जाती थी और लेखक शुद्ध कर लेते थे। यह था श्लोक या मात्रा के प्रयोग का चमत्कार। उदाहरणार्थ, तै० ब्रा० (१।५।११।१) में 'कृत' शब्द 'चार' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वराहमिहिर (छठी शती के आरम्भ में) ने शब्द-अंकों का प्रयोग किया है, किन्तु मूल्य-स्थान पद्धति के अनुरूप। नीचे हम शब्द-अंकों की सूची दे रहे हैं। यह अन्तिम सूची नहीं है। एक ही अंक या संख्या के लिए बहुत-से पर्याय पाये जाते हैं। देखिए अलबरूनी (सचौ, खण्ड १, पृ० १७४-१७९) एवं बुहलर की 'इण्डिएन पैलिओग्राफी' (इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, जिल्द ३३; परिशिष्ट, पृ० ८३-८६)।

० : शून्य, ख, अम्बर, गगन, अभ्र, आकाश, बिन्दु, पूर्ण।

एक : एक, भूमि, इन्दु, रूप, आदि, विष्णु।

दो : द्वि, अक्षि या लोचन, पक्ष, अश्विनौ, दस्र, दोः, दोषन्, भुज, यम या यमल।

तीन : त्रि, क्रम (विष्णु के तीन पाद, ऋ० १।२२।१८), ग्राम (संगीत में), राम, पुर (रुद्र द्वारा जलायी गयी नगरियाँ), लोक (पृथिवी, स्वर्ग एवं नरक), गुण (सत्त्व, रजस्, तमस्), अग्नि (गार्हपत्य, आहवनीय एवं दक्षिणाग्नि)।

चार : चतुर्, अब्धि (समुद्र), कृत, युग, वेद, श्रुति, वर्ण।

पाँच : पंच, इषु या शर (मदन के बाण), वायु (प्राण, अपान, व्यान, उदान एवं समान), भूत (पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश), अक्ष (इन्द्रियाँ), इन्द्रिय, पाण्डव या पाण्डु-सुत।

छह : षट्, रस (मधुर, तिक्त, कषाय, लवण आदि), अंग (वेदांग), ऋतु, तर्क (द्रव्य से समवाय तक की तर्क-कोटियाँ), दर्शन (षट् दर्शन)।

सात : सप्त, ऋषि या मुनि, स्वर, अश्व (सप्ताश्व), गिरि, पर्वत, धातु।

आठ : अष्ट वसु, सर्प, मंगल, मतंगज (आठ दिशाओं के हाथी), सिद्धि।

नौ : नव, संख्या (१ से ९ तक), नन्द (९ नन्द राजागण), रन्ध्र या छिद्र, निधि, अंक, गौ, ग्रह या नभश्चर।

दस : दश, पंक्ति,[५] आशा या दिशा (ऊर्ध्व एवं अधर को मिलाकर), अवतार, रावणशीर्ष।

५. पंक्तिविंशतित्रिंशच्चत्वारिंशत्पञ्चाशत्षष्टिसप्तत्यशीतिनवतिशतम्। पाणिनि (५।१।५९)।

ग्यारह : एकादश, महेश्वर, रुद्र।
बारह : द्वादश, आदित्य, अर्क, सूर्य, मास।
तेरह : त्रयोदश, विश्वे (विश्वेदेवाः)।
चौदह : चतुर्दश, मनु, इन्द्र, भुवन, रत्न।
पन्द्रह : पञ्चदश, तिथि।
सोलह : षोडश, कला (चन्द्रकलाएँ), नृप या राजा, अष्टि।
सत्रह : सप्तदश, अत्यष्टि।
अठारह : अष्टादश, धृति।
उन्नीस : एकोनविंशति, अतिधृति।
बीस : विंशति, कृति, नख (नाखून), अंगुलि।
इक्कीस : एकविंशति, प्रकृति, मूर्च्छना (संगीत में)।
बाईस : द्वाविंशति, जाति, आकृति।
चौबीस : चतुर्विंशति, जिन या सिद्ध (२४ तीर्थंकर)।
पच्चीस : पंचविंशति, तत्त्व (२५ सांख्य-सिद्धान्त)।
सत्ताईस : सप्तविंशति, भू, नक्षत्र।
बत्तीस : द्वात्रिंशत्, दशन या द्विज (दोनों का अर्थ दाँत है)।
तैंतीस : त्रयस्त्रिंशत्, सुर (देवता)।
उनंचास : एकोनपंचाशत्, तान (संगीत में)।

वराहमिहिर (पंचसिद्धान्तिका एवं बृहत्संहिता) एवं अन्य पश्चात्कालीन ज्योतिर्विदों ने अधिकतर अंकों एवं दशमलव स्थानों के लिए इसी प्रकार के विशिष्ट शब्दों का प्रयोग किया है। एक विशिष्ट द्रष्टव्य बात यह है कि शब्द-दल (जो संख्यासूचक होते हैं) के प्रथम शब्द इकाई के स्थान में होते हैं और उसके उपरान्त बाद वाले शब्द दहाई के स्थान में होते हैं, यथा 'सप्ताश्विवेद-संख्यम्'=४२७; नियम है—"अंकानां वामतो गतिः।"

आर्यभट ने अपने ग्रन्थ 'दशगीतिकापाद' (श्लोक ३) में एक अन्य विधि दी है, जहाँ क (का भी) से म तक १ से २५ अंकों के द्योतक हैं; य, र, ल, व, श, ष, स, ह क्रम से ३०, ४०, ५०, ६०, ७०, ८०, ९०, १०० के द्योतक हैं। अस्तु,

पंचांग के पाँच अंगों में एक अंग है **योग**। इसके लिए कोई प्रत्यक्ष ज्योतिषीय घटना नहीं है। यह सूर्य एवं चन्द्र के रेखांशों के योग से (या यह वह काल है जिसमें सूर्य एवं चन्द्र देश के १३ अंश एवं २० कला पूर्ण करते हैं) माना जाता है। जब योग १३.२० अंशों का होता है उस समय विष्कम्भ योग का अन्त होता है; जब वह २६.४० अंशों का होता है तो प्रीति योग का अन्त होता है। योग २७ हैं और ३६० अंश बनाते हैं। रत्नमाला (४।१-३) में इस प्रकार के योग हैं—

नाम	देवता	नाम	देवता
१. विष्कम्भ	यम	५. शोभन	बृहस्पति
२. प्रीति	विष्णु	६. अतिगण्ड	चन्द्र
३. आयुष्मान्	चन्द्र	७. सुकर्मा	इन्द्र
४. सौभाग्य	ब्रह्मा	८. धृति	आपः

नाम	देवता	नाम	देवता
९. शूल	सर्प	१८. वरीयान्	कुबेर
१०. गण्ड	अग्नि	१९. परिघ	विश्वकर्मा
११. वृद्धि	सूर्य	२०. शिव	मित्र
१२. ध्रुव	पृथ्वी	२१. सिद्ध	कार्तिकेय
१३. व्याघात	पवन	२२. साध्य	सावित्री
१४. हर्षण	रुद्र	२३. शुभ	कमला
१५. वज्र	वरुण	२४. शुक्ल	गौरी
१६. सिद्धि	गणेश	२५. ब्रह्म	अश्विनौ
१७. व्यतीपात	शिव	२६. ऐन्द्र	पितर गण

२७. वैधृति अदिति

ये **नित्य योग** कहे जाते हैं। रत्नमाला के मत से ये अपने नामों के अनुसार शुभ या अशुभ फल देते हैं। मुहूर्तदर्शन (२।१६) के मत से इन २७ योगों में ९ निन्द्य हैं, यथा परिघ, व्यतीपात, वज्र, व्याघात, वैधृति, विष्कम्भ, शूल, गण्ड एवं अतिगण्ड। 'रत्नमाला' में कहा गया है कि व्यतीपात एवं वैधृति पूर्णरूपेण अशुभ हैं, परिघ का पूर्वार्ध एवं अशुभ नाम वाले योगों का प्रथम पाद अशुभ हैं; सभी शुभ कृत्यों में विष्कम्भ एवं वज्र की तीन घटिकाएँ, व्याघात की ९, शूल की ५, गण्ड एवं अतिगण्ड की ६ घटिकाएँ वर्जित हैं। और देखिए अग्निपुराण (१२७। १-२), कालनिर्णय (पृ० ३२९-३३०) एवं कालनिर्णयकारिका (१०८-१०९)।

योगों की पद्धति बहुत प्राचीन मानी जानी चाहिए। याज्ञ० (१।२१८) में व्यतीपात योग का उल्लेख है। हर्षचरित (उच्छ्वास ४) में बाण ने कहा है कि जब हर्ष का जन्म हुआ तब व्यतीपात जैसे दोषों से दिन रहित था (व्यतीपातादि-सर्वदोषाभिषंगरहितेऽह्नि)। सामान्यतः वर्ष में १३ (कभी-कभी १४) व्यतीपात योग होते हैं और ९६ श्राद्धों में १३ व्यतीपातों के श्राद्ध सम्मिलित हैं। इन २७ योगों के अतिरिक्त कुछ और भी योग हैं जो किन्हीं तिथियों के साथ किन्हीं सप्ताह-दिनों के संयुक्त होने से उत्पन्न होते हैं या कि जब कोई ग्रह किन्हीं विशिष्ट राशियों में किन्हीं विशिष्ट तिथियों या नक्षत्रों पर बैठ जाते हैं। कपिलाषष्ठी एवं अर्धोदय इसी प्रकार के योग हैं। व्यतीपात, जो २७ योगों में १७ वाँ है, दो अर्थों में प्रयुक्त होता है—(१) जब अमावास्या रविवार को पड़ती है और चन्द्र श्रवण, अश्विनी, धनिष्ठा, आर्द्रा एवं आश्लेषा नक्षत्रों में किसी के प्रथम पाद में रहता है, (२) जब शुक्ल पक्ष की द्वादशी को बृहस्पति एवं मंगल सिंह राशि में हों, सूर्य मेष में और जब वह हो तिथि हस्त नक्षत्र में हो। इन दोनों को कभी-कभी महाव्यतीपात भी कहते हैं। इन योगों पर दान करने की व्यवस्था दी गयी है (लघुशातातप १५०; हेमाद्रि, काल, पृ० ६७२)। सूर्यसिद्धान्त (११।१-२) ने व्यतीपात एवं वैधृत (या वैधृति) की व्याख्या की है। जब सूर्य एवं चन्द्र दोनों अयनों (उत्तरायण एवं दक्षिणायन) की ओर रहते हैं और जब दोनों के रेखांशों का जोड़ एक वृत्त में होता है और वे बराबर झुकाव में रहते हैं तब वैधृति योग होता है। जब सूर्य एवं चन्द्र अयनों के दोनों ओर रहते हैं और उनके झुकाव समान होते हैं तब वह व्यतीपात होता है और उनके रेखांशों का जोड़ अर्धवृत्त होता है। यह नहीं समझ में आता कि ये योग-काल अशुभ क्यों माने जाते हैं। वैधृति नामक २७ वाँ योग सभी दशाओं में व्यतीपात के समान ही है। भरद्वाज का कथन है कि इन दोनों योगों में दान करने से अनन्त फल मिलता है।

इन २७ योगों के अतिरिक्त बहुत-से योगों का उल्लेख पंचांगों में होता है, यथा अमृतसिद्धि, यमघण्ट,

दग्धयोग, मृत्युयोग, धवाड़ आदि। स्थान-संकोच से इनका वर्णन यहाँ नहीं होगा (देखिए रत्नमाला, ८।८; भुजबल-निबन्ध, पृ० ३१, श्लोक १२६ एवं पृ० २८, श्लोक ११४)।

पंचांग का पाँचवाँ अंग है **करण**। तिथि का अर्ध करण होता है, अतः एक तिथि में दो करण तथा एक चान्द्र मास में ६० करण होते हैं। करण के दो प्रकार हैं, : चर एवं स्थिर। बृ० सं० (९९।१-२) में देवता-नाम के साथ ७ चर करण ये हैं : (१) भव—इन्द्र; (२) बालव—ब्रह्मा; (३) कौलव—मित्र; (४) तैतिल—अर्यमा; (५) गर (या गज)—पृथिवी; (६) वणिज—श्री; (७) विष्टि—यम। देवता-नाम के साथ चार स्थिर करण ये हैं : (१) शकुनि—कलि; (२) चतुष्पाद—वृष; (३) नाग—सर्प; (४) किंस्तुघ्न—वायु। तिथि का दो में विभाजन राशि के दो होराओं के विभाजन के समान है (बृहज्जातक १।९)। इन विभाजनों में पूर्ववर्ती कौन है? सम्भवतः तिथियों का दो करणों में विभाजन पूर्ववर्ती है।

'करण' शब्द 'कृ' धातु से बना है, यह तिथि को दो भागों में करता है, अतः यह करण कहा गया है। बहुत-से करणों के नाम विचित्र हैं, उनके अर्थ का बोध नहीं हो पाता। करणों का उपयोग ज्योतिषीय (फलित ज्योतिषीय) है अतः उनका प्रयोग ४०० ई० के पूर्व ही हुआ होगा। इनके विषय में देखिए बृ० सं० (९९।३-५)।

धर्मशास्त्र के मध्य काल के लेखकों के मन में विष्टि नामक सातवें करण ने दारुण भय उत्पन्न कर दिया है। यह द्रष्टव्य है कि यदि चान्द्र मास की तिथियों को ६० भागों में बाँटा जाय और अमान्त मास की प्रतिपदा के दूसरे अर्ध में बव का आरम्भ हो तो विष्टि एक मास में आठ बार आयेगी, जैसा निम्न तालिका से व्यक्त है—

बव— २	९	१६	२३	३०	३७	४४	५१
बालव—३	१०	१७	२४	३१	३८	४५	५२
कौलव—४	११	१८	२५	३२	३९	४६	५३
तैतिल—५	१२	१९	२६	३३	४०	४७	५४
गर— ६	१३	२०	२७	३४	४१	४८	५५
वणिज—७	१४	२१	२८	३५	४२	४९	५६
विष्टि—८	१५	२२	२९	३६	४३	५०	५७

इनमें स्थिर करण होंगे शकुनि ५८, चतुष्पाद ५९, नाग ६० एवं किंस्तुघ्न १ (आगे के मास के प्रथम पक्ष की प्रतिपदा)।

करणों की प्रणाली मनोराज्यमयी कल्पना मात्र है। करणों के विषय में, विशेषतः विष्टि के विषय में (जो मास में आठ बार होती है) जो यह कहा गया है कि यह भुजंग (साँप) के आकार की है, दारुण है, आदि-आदि, वह ज्योतिषीय भावनाओं से सम्बन्धित कल्पना की उच्च उड़ान मात्र है।

६. कुर्याद् बवे शुभचरस्थिरपौष्टिकानि धर्मक्रियाद्विजहितानि च बालवाख्ये। संप्रीतिमित्रवरणानि च कौलवे स्युः सौभाग्यसंश्रयगृहाणि च तैतिलाख्ये ॥ कृषिबीजगृहाश्रयजानि गरे वणिजि ध्रुवकार्यवणिग्युतयः। न हि विष्टिकृतं विदधाति शुभं परघातविषादिषु सिद्धिकरम् ॥ कार्यं पौष्टिकमौषधादि शकुनौ मूलानि मन्त्रास्तथा गोकार्याणि चतुष्पदे द्विजपितॄनुद्दिश्य राज्यानि च। नागे स्थावरदारुणानि हरणं दौर्भाग्यकर्माण्यतः किंस्तुघ्ने शुभमिष्टिपुष्टिकरणं मंगल्य-सिद्धिक्रियाः ॥ बृ० सं० (९९।३-५)।

पंचांगों के पाँचों अंगों की चर्चा कर लेने के उपरान्त हिन्दू पंचांगों के विषय में कुछ कह देना आवश्यक है। भारत में बहुत-से पंचांग हैं, और एक प्रकार से इस क्षेत्र में अराजकता-सी है। कदाचित् ही दो पंचांग आपस में मेल रखते होंगे। बहुत-से भारतीय ऐसा चाहते हैं कि भारतीय गणना-पद्धति आधुनिक वैज्ञानिक ज्योतिःशास्त्रीय पद्धति के पास ला दी जाय। यदि वराहमिहिर जैसे ज्योतिर्विद् आज होते तो वे ऐसा ही करते। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता (१०५।५) एवं बृहज्जातक (२८।८) में कहा है—"इस ग्रन्थ को प्रयोग में लाते समय जो कुछ अवैज्ञानिक लगे, या पाण्डुलिपि (लिखावट) में दोष के कारण जो कुछ त्रुटिपूर्ण जँचे, या मेरे द्वारा जो कुछ त्रुटिपूर्ण हो गया हो या अल्प रह गया हो या न हो सका हो, वह, विद्वानों द्वारा राग का त्याग करके एवं विद्वानों के मुख से ज्ञान प्राप्त करके ठीक कर लिया जाना चाहिए।"[7] आधुनिक काल में भारतवर्ष में ज्योतिषियों के तीन सम्प्रदाय हैं—सूर्यसिद्धान्त (सौर पक्ष) का सम्प्रदाय, (२) ब्रह्मसिद्धान्त (ब्राह्म पक्ष) का सम्प्रदाय एवं (३) आर्यसिद्धान्त (आर्य पक्ष) का सम्प्रदाय। इनके अन्तर में दो बातें प्रमुख हैं—(१) वर्ष का मान (विस्तार) एवं (२) महायुग जैसी किसी विशिष्ट कालावधि में सूर्य, चन्द्र एवं ग्रहों के भ्रमणों की संख्या। वर्ष के विस्तार का अन्तर इन सिद्धान्तों में बहुत अल्प है, यथा कुछ विपल (एक विपल १/६० पल, एक पल १/६० घटिका और एक घटिका २४ मिनट)। सूर्यसिद्धान्त के अनुसार वर्ष-विस्तार में ३६५ दिन, १५ घटिकाएँ एवं ३१.५२३ पल हैं, किन्तु वासन्तिक विषुव तक सूर्य के दोनों अयनों के बीच की अवधि है ३६५ दिन, १४ घटिकाएँ एवं ३१.९७२ पल तथा नाक्षत्र वर्ष में ३६५ दिन, १५ घटिकाएँ, २२ पल एवं ५३ विपल पाये जाते हैं। इसका निष्कर्ष यह है कि सूर्यसिद्धान्त के अनुसार हिन्दू ज्योतिर्विदों का आरम्भ-बिन्दु आज वासन्तिक विषुव के बिन्दु से पूर्व में २३ अंश अधिक है। इस अन्तर को **अयनांश** कहा जाता है। विषुव से गिनने पर आकाशचारी पिण्डों के रेखांशों में ये अयनांश भी सम्मिलित हैं, अतः ये **सायन** (स=अयन) कहे जाते हैं। सूर्यसिद्धान्त एवं मध्यकालिक संस्कृत ग्रन्थों की विधियों से प्राप्त आकाशीय पिण्डों के स्थान **निरयन** गणना द्वारा प्रकट किये जाते हैं। आजकल अधिकांश पंचांगों के मत से, जो सूर्यसिद्धान्त पर आधारित हैं, मकरसंक्रान्ति सामान्यतः १४ जनवरी को पड़ती है, किन्तु आज की अधिकतम सही गणना के अनुसार यह २१ दिसम्बर को पड़नी चाहिए। उन पंचांगों के अनुसार, जिन्हें ठीक शुद्ध होने का गर्व है, मकरसंक्रान्ति ९ जनवरी को पड़ती है, अर्थात् हमारी मकर संक्रान्ति शुद्ध समय से २३ या १८ दिन उपरान्त पड़ती है और यही बात वासन्तिक एवं शारद विषुव तथा ग्रीष्म अयन आदि निरीक्षणों के विषय में भी पायी जाती है। आज भी अश्विनी (जिसमें शक संवत् ४४४ में वासन्तिक विषुव पड़ता था) को प्रथम नक्षत्र कहा जाता है, जब कि वासन्तिक विषुव-बिन्दु उत्तरा-भाद्रपदा नक्षत्र (जिसे अब प्रथम नक्षत्र माना जाना चाहिए) में आ गया है। आधुनिक गणना के समीप भारतीय पंचांग को मिलाने का प्रयास किया गया है, किन्तु अभी सफलता नहीं के बराबर प्राप्त हो सकी है। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने सन् १९१४ (बम्बई), १९१७ (पूना) एवं १९१९ (साँगली) में तीन ज्योतिर्विद्-गोष्ठियाँ कीं और प्रस्ताव भी रखे गये, किन्तु परम्परावादी दृष्टिकोण के कारण विशेष सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। आज भी लोग सूर्यसिद्धान्त से शासित होना पसंद करते हैं।

७. ग्रन्थस्य यत्प्रचरतोऽस्य विनाशमेति लेख्याद् बहुश्रुतमुखाधिगम क्रमेण।
यद्वा मया कुकृतमल्पमिहाकृतं वा कार्यं तदत्र विदुषा परिहृत्य रागम्॥
—बृ० सं० (१०५।५) एवं बृहज्जातक (२८।८)।

पंचांग-निर्माण में स्थान विशेष पर लोग ध्यान नहीं देते। पूना एवं बम्बई में दूरी का अन्तर है, रेखांशों का अन्तर है। दोनों के पंचांग एक नहीं हो सकते। १० या १५ मील की दूरी विशेष दूरी नहीं है, किन्तु पूना एवं बम्बई की दूरी अधिक है। वास्तव में प्रत्येक नगर का पंचांग पृथक् होना चाहिए।

नवम्बर सन् १९५२ में शासन की ओर से डा० मेघनाथ साहा की अध्यक्षता में पंचांग सुधार समिति (कलेण्डर रिफार्म कमिटी) बनी, जिस पर सारे भारत के लिए एक पंचांग बनाने का भार सौंपा गया। उस समिति ने नवम्बर सन् १९५५ में अपना मूल्यवान् निष्कर्ष उपस्थित किया। **लोक-पंचाग** एवं **धार्मिक पंचांग** रिपोर्ट के पृ० ६-८ में अंकित हैं। स्वतन्त्र भारत के प्रशासन द्वारा सबके लिए समान पंचांग की व्यवस्था की जानी चाहिए।

लोक पंचांग के लिए समिति द्वारा निम्न निष्कर्ष दिये गये हैं—

(१) शक संवत् का प्रयोग होना चाहिए। शक संवत् १८८६ सन् १९६४-६५ ई० के बराबर है।

(२) वर्ष का आरम्भ वासन्तिक विषुव के अगले दिन से होना चाहिए।

(३) सामान्य वर्ष में ३६५ दिन हों, किन्तु प्लुत (लीप) वर्ष में ३६६ दिन हों। शक संवत् में ७८ जोड़ने पर यदि ४ से भाग लग जाय तब वह प्लुत वर्ष माना जायगा। किन्तु जब योग में १०० का भाग लग जाय तो जब उसमें ४०० से भाग लगेगा तभी प्लुत वर्ष माना जायगा, अन्यथा वह सामान्य वर्ष ही समझा जायगा।

(४) चैत्र (या छैत्र भी लिखा जाता है) वर्ष का प्रथम मास होगा और मासों के दिन निम्न प्रकार से होंगे—

चैत्र : ३० दिन (या ३१ दिन, प्लुत वर्ष में)

वैशाख	: ३१ दिन	आश्विन	: ३० दिन
ज्येष्ठ	: ३१ दिन	कार्तिक	: ३० दिन
आषाढ	: ३१ दिन	मार्गशीर्ष	: ३० दिन
श्रावण	: ३१ दिन	पौष	: ३० दिन
भाद्रपद	: ३१ दिन	माघ	: ३० दिन
		फाल्गुन	: ३० दिन

संशोधित भारतीय पंचांग के दिनांक ग्रेगॉरी पंचांग के दिनांकों की संगति में हैं। दिनांक इस प्रकार हैं—

भारतीय	ग्रेगरी	भारतीय	ग्रेगरी
चैत्र १	: मार्च २२ (सामान्य वर्ष में)	अश्विन	: सितम्बर २३
	: मार्च २१ (लीप वर्ष में)	कार्तिक	: अक्तूबर २३
वैशाख १	: अप्रैल २१	मार्गशीर्ष	: नवम्बर २२
ज्येष्ठ १	: मई २२	पौष	: दिसम्बर २२
आषाढ १	: जून २२	माघ	: जनवरी २१
श्रावण १	: जुलाई २३	फाल्गुन	: फरवरी २०
भाद्रपद १	: अगस्त २३		

संशोधित पंचाग के अनुसार भारतीय ऋतु-क्रम यों होगा—

ग्रीष्म	: वैशाख एवं ज्येष्ठ	हेमन्त	: कार्तिक एवं मार्गशीर्ष
वर्षा	: आषाढ़ एवं श्रावण	शिशिर	: पौष एवं माघ
शरद्	: भाद्रपद एवं आश्विन	वसन्त	: फाल्गुन एवं चैत्र

धार्मिक पंचांग के विषय में निम्नांकित निष्कर्ष हैं—

(५) सौर मासों की गणना, जो उसी नाम वाले मासों की जानकारी के लिए आवश्यक है, वासन्तिक विषुव से २३ अंश एवं १५ कला (निश्चित अयनांश) पहले ही की जायगी। यह आज के अधिकांश पंचांग-निर्माताओं के व्यवहार की संगति के लिए है।

इस प्रकार मासों का आरम्भ निम्न रूप से होगा—सौर वैशाख सूर्य के २३°१५' रेखांश से आरम्भ होगा, सौर ज्येष्ठ और चैत्र तक अन्य सौर मास क्रम से ये होंगे—५३°१५', ८३°१५', ११३° १५', १४३°१५', १७३° १५', २०३° १५', २३३°१५, २६३° १३', २९३° १५', ३२३° १५', ३५३° १५'।

यह केवल समझौता मात्र है, जिससे परम्परा अचानक उखड़ न जाय। फिर भी इससे कालिदास एवं वराहमिहिर के कालों की ऋतुओं और आज की ऋतुओं में समानता नहीं पायी जा सकेगी। ऐसी आशा की जाती है कि शीघ्र ही सुधारों के फलस्वरूप चान्द्र एवं सौर पर्वोत्सव उन्हीं ऋ ओं में हो सकेंगे, जैसा कि आरम्भिक कालों में सम्भव था और उनका प्रचलन था।

(६) जैसा कि पहले भी मान्य था, धार्मिक उपयोगों के लिए चान्द्र मास प्रतिपदा से आरम्भ होंगे और उस सौर मास के, जिसमें प्रतिपदा पड़ती है, नाम से पुकारे जायँगे। यदि सौर मास में दो प्रतिपदाएँ पड़ जायँगी तो प्रथम प्रतिपदा से आरम्भ होने वाला चान्द्र मास अधिक या मलमास कहलायेगा और दूसरी प्रतिपदा से आरम्भ होने वाला चान्द्र मास शुद्ध या निज मास कहलायेगा।

(७) १३° २०' नक्षत्र भाग से चन्द्र के आगे चले जाने या अस्त का क्षण या उसमें सूर्य का प्रवेश परिवर्तित अयनांश से गणित किया जायगा। इस अयनांश का मूल्य (मान) २१ मार्च सन् १९५६ में २३° १५' ०" था। इसके उपरान्त यह क्रमशः बढ़ता गया है जिसका मध्यम मान लगभग ५०° २७" है।

इन व्यवस्थाओं से सूर्य द्वारा निर्धारित होनेवाले धार्मिक कृत्य, यथा विषुव-संक्रांति, उत्तरायण-संक्रान्ति एवं दक्षिणायन-संक्रान्ति ज्योतिषीय ढंग से उचित ऋतुओं में पड़ेंगी, किन्तु चान्द्र पंचांग से निर्धारित कृत्य आज की विधियों से ही चलते रहेंगे और संशोधित नियम द्वारा प्रयुक्त शोधन से ऋतुओं की गड़बड़ी रुक जायगी।

आज से १४०० वर्ष पहले जिन ऋतुओं में कृत्य होते थे उनसे आज के कृत्य २३ दिन पूर्व खिसक आये हैं। क्योंकि पंचांग-निर्माताओं ने विषुव-सम्बन्धी अग्रगमन पर ध्यान नहीं दिया। अब यह गड़बड़ी क्रमशः दूर हो जायगी। यों तो यह गड़बड़ी अचानक रोकी जा सकती है किन्तु संशोधकों ने सन्तुलन पर बल दिया है।

नक्षत्रों की गणना में परिवर्तित अयनांश का प्रयोग किया गया है, जिससे कि किसी विशिष्ट नक्षत्र में चन्द्र आकाश में उसी नाम के तारा या तारा-समूह में दिखाई पड़ जाय। यह वैदिक काल से ही चला आया है और पूर्णरूपेण वैज्ञानिक भी है।

(८) दिन की गणना अर्धरात्रि से अर्धरात्रि तक होगी (८२½° पूर्व रेखांश एवं २३° ११' उत्तरी अक्षांश के मध्य से) किन्तु यह लोक-दिन है। धार्मिक उपयोगों में सूर्योदय से ही दिन की गणना होगी।

(९) गणनाओं के लिए सूर्य एवं चन्द्र के रेखांशों का ज्ञान उनकी गतियों के समीकरणों से किया जाय, जिसके निरीक्षित मूल्यों से संगति बैठती रहे।

(१०) भारतीय शासन द्वारा भारतीय पंचांग एवं नौ (नाविक) पंचांग का निर्माण होते रहना चाहिए, जिससे सूर्य, चन्द्र, ग्रहों तथा अन्य आकाशीय पिण्डों के स्थानों का अग्रिम ज्ञान होता रहे। प्रति वर्ष उपर्युक्त संशोधनों के आधार पर बने हुए लौकिक एवं धार्मिक भारतीय पंचांग का निर्माण होना चाहिये।

अध्याय २०

शान्ति का वैदिक अर्थ एवं विधियाँ

शान्ति शब्द 'शम्' धातु से बना है, जिसके कई अर्थ हैं (यथा बन्द करना, दूर करना, बुरा प्रभाव हटाना, मना करना, प्रसन्न होना, शमन करना या प्राण हरना) और वह चौथे एवं दसवें धातु-गण से सम्बन्धित है। यह ऋग्वेद में नहीं आया है, किन्तु अथर्व० एवं वाज० सं० में प्रयुक्त हुआ है। किन्तु 'शम्' धातु एवं इसके कतिपय रूप, व्युत्पत्तियाँ तथा 'शम्' अव्यय सैकड़ों बार ऋग्वेद में आये हैं (१।९३।५, १।१०६।५, ३।१७।३, ३।१८।५ आदि में 'योः' के साथ शम्, यथा 'शंयोः'; १।११४।२, १।८९।२, २।३३।१३ आदि में 'शं च योश्च')। इन स्थलों पर शब्दों का सामान्यतः अर्थ लगाया जाता है, 'सुख एवं कल्याण' या 'स्वास्थ्य एवं धन'। 'शम्' शब्द ऋग्वेद में १६० बार आया है। ऋ० (१। ११४।१) में आया है—'हम लोग इन स्तुतियों को उस रुद्र को देते हैं, जो शक्तिशाली है, जिसको जूड़ा है, जो वीरों पर शासन करता है, जिससे कि हमारे दो पैरों वाले एवं चार पैरों वाले प्राणियों का कल्याण हो तथा इस ग्राम में प्रत्येक वस्तु समृद्धिशाली एवं कष्टरहित हो।'[1] यहाँ 'शम्' का भाव स्पष्ट है। कहीं-कहीं वस्तुवाचक संज्ञाओं के रूप में 'शम्' एवं 'योः' शब्द स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाते हैं। उदाहरणार्थ 'शं च योश्च रुद्रस्य वश्मि' (ऋ० २।३३।१३) एवं 'यच्छं च योश्च मनुरायेजे पिता तदश्याम तव रुद्र प्रणीतिषु, (ऋ० १।११४।२), अर्थात् 'हे रुद्र, हम आपके मार्गदर्शन से उन 'शम्' एवं 'योः' को प्राप्त कर सकें, जिन्हें पिता मनु ने यज्ञ से प्राप्त किया।' निरुक्त (४।२१) में व्युत्पत्ति आयी है। 'शम्' एवं 'योः' का अन्वय-रूप अर्थ क्रम से 'सुख' एवं 'दुःख-वियोग' है।

अथर्ववेद (१९।९) में 'शान्ति' शब्द १७ बार आया है। ३ से लेकर ५ तक के मन्त्रों में वाक् एवं मन तथा पाँच इन्द्रियों की ओर संकेत आया है और ऐसा कहा गया है कि ये सातों घोर (भयंकर या अशुभ) उत्पन्न करते हैं और इन्हीं में शान्ति उत्पन्न करने के लिए प्रयास करना चाहिए (१९।९।५)। ६ से ११ तक के मन्त्रों में देवों, ग्रहों, पृथिवी, उल्कापातों, गौओं, नक्षत्रों, जादू-कृत्यों, राहु, धूमकेतु, रुद्रों, वसुओं, आदित्यों, ऋषियों एवं बृहस्पति की स्तुति सुख देने के लिए की गयी है। १२वें मन्त्र में इन्द्र, ब्रह्मा तथा अन्य देवों से प्रार्थना की गयी है कि वे स्तुतियों के प्रणेता को आश्रय दें, और १३वें में घोषणा है—'इस विश्व में (शान्ति द्वारा) जितनी वस्तुएँ प्रसन्न की गयीं, उन्हें सातों ऋषि जानते हैं। वे सभी मेरे सुख के लिए हों; सुख मेरा हो, भय से मेरी रहितता (छुटकारा) हो।' १४ वाँ मन्त्र जो वाज० सं० (३६।१७) के समान है, घोषित करता है, 'पृथिवी, रोदसी, स्वर्ग, जल, वृक्ष-पौधे, सभी देव (इस वचन के) प्रणेता द्वारा किये गये कृत्यों से उन्हीं शान्तियों द्वारा प्रसन्न हो चुके हैं और शुभ हो चुके हैं तथा उन शान्तियों द्वारा यहाँ जो कुछ दारुण है, क्रूर (अशुभ) है, पाप है (उनके बुरे प्रभाव) दूर हों; वे सभी

१. **इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्रभरामहे मतीः। यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम्॥ ऋ० (१।११४।१)।**

प्रसन्न हों, शुभ हों और हमारे लिए सुखप्रद हों।'[२] अथर्व० (१९।१०।१-१०) में 'शम्' ५१ बार आया है, वहाँ कई देवों के कल्याण के लिए प्रार्थना है और (१९।११) में एक 'शान्ति' है जिसमें 'शम्' १८ बार आया है। देखिए वाज० सं० (३६।८-१२), जहाँ 'शम्' कई बार आया है और एक मन्त्र (३६।१२) इस प्रकार है—'दिव्य जल हमारे लिए अभिष्ट हों, वे हमें सुख, सहायता एवं रक्षा दें, वे हमारी ओर हमारे सुख एवं कल्याण के लिए बहें।'[३]

तै० सं० में 'शमयति' एवं 'शान्ति' का प्रयोग एक ही संदर्भ में या एक ही वचन (वाक्य-समूह) में हुआ है। आया है—"रुद्र देवों में क्रूर (देव) हैं,...पुरोहित जब रुद्र (से सम्बन्धित वचन का) पाठ करता है, तो मानो क्रूर (कर्म) करता है, 'मित्र के मार्ग में' वह प्रसन्न करने के लिए कहता है।" और देखिए ऐत० ब्रा० (१३।१०)। तै० सं० (३।४।१०।३) में रुद्र को वास्तोष्पति कहा गया है और उन्हें प्रसन्न करने के लिए बल दिया गया है। और देखिए तै० सं० (६।३।३।२-३) और मिलाइए वाज० सं० (५।४२-४३) एवं शत० ब्रा० (३।६।४।१३) जहाँ समान शब्द आये हैं।

उपर्युक्त वचनों से प्रकट होता है कि 'शम्', 'शमयति' एवं 'शान्ति' शब्दों का वैदिक संहिताओं में बड़ा महत्त्व है। ऋ० (१।१६।७, १।७७।२; ९।१०४।३) में 'शन्तम' शब्द अग्नि, इन्द्र, सोम (१।७६।१, ६।३२।१), याजक या गायक (८।१३।२२), देवों द्वारा रक्षा (५।७६।१, १०।१५।४) आदि के लिए लगभग चौबीस बार आया है और उसका सामान्यतः भाव है 'शुभकर या सुख देने वाला।' इसी प्रकार 'शन्ताति' (ऋ० १।११२।२०, ८।१८।७) का अर्थ है 'शुभ करने वाला।'

'शमयति' (शम् से निर्गत) एवं 'शान्ति' शब्द ऋ० में नहीं पाये जाते, किन्तु तैत्तिरीय एवं अन्य संहिताओं तथा ब्राह्मणों में उनका प्रयोग हुआ है। ऋ० में कहीं-कहीं 'शमि' शब्द आया है (१।८७।५, २।३१।६, ३।५५।३, ८।४५।२७, १०।४०।१), जिसका अर्थ सायण के अनुसार 'कर्म' (कर्म, यज्ञ आदि) है। 'शमी' शब्द भी आया है (१।२०।२, १।८३।४, १।११०।४, २।१।९ आदि)। यहाँ भी सायण ने 'शमी' को 'कर्म' के ही अर्थ में लिया है, न कि शमी वृक्ष के अर्थ में। किन्तु एक स्थान (ऋ० ६।३।२) पर 'शमी' लकड़ी या ईंधन के अर्थ में आया है।

कात्यायनश्रौतसूत्र (२६।५१ : शान्तिकरणमाद्यन्तयोः) के अनुसार वाजसनेयी संहिता का सम्पूर्ण ३६ वाँ अध्याय प्रवर्ग्य कृत्य के आरम्भ एवं अन्त में शान्ति के रूप में प्रयुक्त होता है।

यज्ञ में पशु की बलि के पूर्व होता अध्रिगु प्रैष का पाठ करता है, जिसमें 'शम्' धातु का प्रयोग है, यथा '...हे अध्रिगु, तुम्हें (पशु को) इस प्रकार काटना या मारना चाहिए कि उसे ठीक से ले जाया जा सके' (आश्व० श्रौ० ३।३)। यहाँ 'शम्' धातु मार डालने के अर्थ में स्पष्ट रूप से प्रयुक्त है। यह अर्थ पूर्व लिखित अर्थों (प्रसन्न करना, बुरा प्रभाव दूर करना) से सर्वथा भिन्न है। किन्तु यह गौण अर्थ में ही प्रयुक्त है, अर्थात् यज्ञ में बलि दिये हुए पशु के अंगों को देकर देवों को प्रसन्न करना।

तैत्तिरीय ब्राह्मण (१।१।३।११) ने शमी वृक्ष या शाखा को देवों के क्रुद्ध रूपों को शान्त करने से सम्बन्धित किया है। आया है—'प्रजापति ने अग्नि उत्पन्न की, वे डर गये 'यह अग्नि मुझे जला सकती है।' उसने शमी

२. ताभिः शान्तिभिः सर्वशान्तिभिः शमयामोऽहं यदिह घोरं क्रूरं यदिह पापं तच्छान्तं तच्छिवं सर्वमेव शमस्तु नः॥ अथर्व० (१९।९।१४)।

३. शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शं योरभि स्रवन्तु नः॥ वाज० सं० (३६।१२), ऋ० (१०।९।४), अथर्व० (१।६।१), सामवेद (३३), तै० ब्रा० (१।२।१।१)।

(शाखा) से अग्नि (की भयंकर ज्वाला) को शान्त किया; यही शमी का शमित्व है, इसमें शमीमय सम्भार होता है, जिससे अग्नि के जलाने से बचाव हो सके।" भाव यह है कि उत्पन्न होते ही अग्नि में भयंकर दाहकता थी जो शमी के प्रयोग से दूर की गयी; शान्ति वह कर्म या कृत्य है जो देव के क्रूर स्वरूप को प्रसन्न करता है और देव को शुभकर बनाता है।[4] और देखिए ऐतरेय ब्राह्मण (३।२)। शतपथ ब्रा० (१०।२।३।३६ एवं ३७) में भी शमी की शाखा से अग्नि-ज्वाला की शान्ति का उल्लेख है, और 'शमी' को 'शम्' से व्युत्पन्न ठहराया गया है और उसे शान्ति (प्रसन्न करने) का साधन समझा गया है।

ब्राह्मणों में शान्ति के कई साधनों का वर्णन है, किन्तु ये बड़े सरल हैं। कभी-कभी वेद-मन्त्र पाठ ही पर्याप्त माना गया है। तैत्तिरीय ब्रा० (१।१।८२) ने श्रौत अग्नियों को प्रज्वलित करने के समय साम-गान की व्यवस्था दी है। तीन साम हैं--रथन्तर, वामदेव्य एवं बृहत्, प्रत्येक क्रम से तीनों लोकों से सम्बन्धित है, "जब अग्नि निकाली जाती है तो वह वामदेव्य साम का गायन करता है; वामदेव्य अन्तरिक्ष है, और उसके (वामदेव्य गान) द्वारा वह अग्नि को अन्तरिक्ष में प्रतिष्ठापित करता है। वामदेव्य शान्ति है; (वामदेव्य गान पर) वह शान्त (प्रसन्न) अग्नि को, जो पशव्य (पशु प्रदायक) है, निकालता है।" और देखिए तै० सं० (३।४।२।६-७), ऐत० ब्रा० (३७।२)। सामिधेनी मन्त्रों के पाठ के पूर्व एवं पश्चात् होता जप करता है। शांखायन ब्रा० (३।३) में आया है कि सामिधेनी सदा वज्र हैं और इनके साथ जप करने से अग्नि शान्त (प्रसन्न) होती है।

बुरे प्रभावों को दूर करने के लिए जल भी एक साधन रूप में घोषित है। जल शान्ति का साधन है (देखिए ऐत० ब्रा० ३२।४)। तै० आरण्यक (४।४२) ने प्रवर्ग्य कृत्य में ३७ शान्ति-मन्त्रों का उल्लेख किया है।

वैदिक साहित्य से प्रकट होता है कि आरम्भिक काल में शान्ति का प्रयोग कई अर्थों में होता था, यथा (१) बुरे प्रभावों से दूर होने की अवस्था, (२) बुरे प्रभावों को दूर करने का साधन, जैसे जल, वैदिक मन्त्र या सूक्त एवं (३) शान्ति कृत्य।

यज्ञ-सम्बन्धी बातों में देवों को प्रसन्न या शान्त करने की सरल शान्तियों के अतिरिक्त ऋग्वेद में कुछ ऐसी अशुभ घटनाओं की ओर भी संकेत मिलते हैं जिनको दूर करने के लिए उपाय बताये गये हैं। उदाहरणार्थ, ऋ० (१०।१६४।१-५) नामक ऋचा दुःस्वप्नों को दूर करने के लिए घोषित है। तीसरा मन्त्र घोषित करता है--'अग्नि उन सभी बुरे एवं अवांछित कर्मों को हमसे दूर फेंक दे (कर दे), जिन्हें हमने जागरण या स्वप्न की अवस्था में किया हो, चाहे वे इच्छाजनित रहे हों या शापित रहे हों या इच्छा के अभाव में हुए हों।' ऋग्वेद (५।८२।४-५) में आया है--'हे सविता देव, आज सन्तति से युक्त कल्याण हमारे लिए उत्पन्न करो तथा बुरे स्वप्नों के प्रभावों को भयभीत करो; हे सविता देव, सभी पापों (दुष्कृत्यों) को दूर करो तथा हमें वह दो जो शुभ हो।'[5] 'हे राजा

४. प्रजापतिरग्निमसृजत। सोऽबिभेत्प्र मा धक्ष्यतीति। तं शम्याऽशमयत्। तच्छम्यै शमित्वम्। यच्छमीमयः सम्भारो भवति शान्त्या अप्रदाहाय। तै० ब्रा० (१।१।३।२)। सायण ने व्याख्या की है: 'शमयत्यनेनेति व्युत्पत्त्या शमीति नाम सम्पन्नम्। अतस्तत्संभारः पूर्वं विद्यमानस्य दाहस्योपशान्त्यै, इतः परमदाहाय च सम्पद्यते।'

५. अद्या नो देव सवितः प्रजावत् सावीः सौभगम्। परा दुःष्वप्न्यं सुव। विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद् भद्रं तन्न आ सुव॥ ऋ० ५।८२।४-५; यो मे राजन् युज्यो वा सखा वा स्वप्ने भयं भीरवे मह्यमाह। स्तेनो वा यो दिप्सति नो वृको वा त्वं तस्माद्वरुण पाह्यस्मान्॥ ऋ० २।२८।१०; त्रिते दुःष्वप्न्यं सर्वमाप्त्ये परि दद्मस्यनेहसो व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः॥ ऋ० ८।४७।१५।

वरुण, चाहे जो, मित्र या सहायक मेरे प्रति घोषित करता है कि मुझे स्वप्न से भय है, या कोई भी,चाहे चोर या भेड़िया मेरी हानि करना चाहता है, उससे आप हमारी रक्षा करें।' ऋ० (८।४७।१५) में ऋषि घोषणा करता है—'हम सभी दुःस्वप्न त्रित आप्त्य को दे देते हैं, आपकी कृपा किसी द्वारा रोकी नहीं जा सकती, आप द्वारा की गयी रक्षा अच्छी है।' देखिए ऋ० (८।४७।१४, १६-१८; १०।३६।४; १०।३७।४), जहाँ बुरे स्वप्नों की चर्चा हुई है। इसी प्रकार ऋ० में पक्षियों की बोलियों से अच्छे या बुरे शकुनों एवं उल्लू की बोली से अपशकुन की बात कही गयी है (२।४२।१)।[६] और देखिए ऋ० (२।४३।१-३; १०।१६५।१-३; १०।१६५।५) एवं अथर्व० (६।२७।१-३; ६।२९।१-२) तथा आश्व० गृ० (३।७।७), मानव गृ० (२।१७), कौशिकसूत्र (४७।७) एवं ऋग्विधान (४।२०।२)। शांखायनगृह्य (५।६, ७, १० एवं ११) में आया है—'यदि कोई रोगग्रसित हो जाय तो उसे ऋ० (१।११४) के मन्त्रों के, जो रुद्र की स्तुति में कहे गये हैं, साथ गवेधुक अन्नों की आहुतियाँ देनी चाहिए। यदि किसी के घर में मधुमक्खियाँ छत्ता बना लें तो उसे ऋ० (१।११४) के साथ १०८ उदुम्बर-टुकड़ों को दही, मधु एवं घी से युक्त कर यज्ञ करना चाहिए और उपवास करना चाहिए तथा ऋ० (७।३५) का पाठ करना चाहिए; यदि घर में चींटियाँ ढूह बना लें तो घर का त्याग कर देना चाहिए और तीन रातों (एवं दिनों) का उपवास करके महाशान्ति का कृत्य करना चाहिए। ऐतरेय आरण्यक (३।२।४) में दस स्वप्नों का उल्लेख है, यथा कोई व्यक्ति काले दाँत वाले काले पुरुष को देखता है, और वह पुरुष उसे मार डालता है, या सूअर उसे मार डालता है, या उस पर बन्दर झपटता है, वायु उसे तेजी से उड़ा ले जाती है; वह सोना निगलकर वमन कर देता है; मधु खाता है; कमलों के डंठल चूसता है; केवल एक (लाल) कमल-नाल लेकर चलता है; गदहों या सूअरों के झुण्ड हाँकता है; नलद पुष्पों की माला पहनकर वह काले बछड़े के साथ काली गाय को दक्षिण दिशा में हाँकता है। यदि कोई इनमें से एक भी स्वप्न देखता है तो उसे उपवास करना चाहिए, एक पात्र में दूध के साथ चावल पकाना चाहिए और उसकी आहुतियाँ अग्नि में डालनी चाहिए और रात्रिसूक्त (ऋ० १०।१२७।१-८) का पाठ करना चाहिए, अन्य भोजन (गृह में पका) ब्राह्मणों को देना चाहिए और स्वयं चावल खाना चाहिए। इसी आरण्यक में कुछ विचित्र प्रकृति-रूपों के देखे जाने की चर्चा है, यथा सूर्य को पीले चन्द्र की भाँति देखना, आकाश को मजीठ के रूप में देखना आदि।

छान्दोग्योपनिषद् (५।२।९) में आया है—'यदि कोई काम्य कृत्य में संलग्न रहने पर स्वप्न में स्त्री देखता है तो समझना चाहिए उसे समृद्धि प्राप्त होगी (इच्छित वस्तु प्राप्त होगी)।' छान्दोग्योपनिषद् (८।१०।१), बृहदारण्यकोपनिषद् (४।३।७-२०) एवं प्रश्न० (४।५) में स्वप्न-प्रकृति-रूपों के मनोविज्ञान पर विचार प्रकट किये गये हैं, जिन पर हम यहाँ विचार नहीं करेंगे।

अथर्व० में भी स्वप्नों एवं कपोत (कबूतर) जैसे पक्षियों के विषय में कतिपय वचन हैं। कौशिक-सूत्र में शान्ति के रूप में अथर्व० के मन्त्र (४।४५।१ एवं ४६।१) उल्लिखित हैं (८।२०) : 'स्वप्न देखने पर व्यक्ति अथर्व० (२।४५।१ एवं ४६।१) के पाठ के साथ मुख-प्रक्षालन करता है, यदि वह भयानक स्वप्न देखता है तो मिश्र धान्य (कई अन्न) अग्नि में डालता है या दूसरी दिशा (शत्रु के खेत) में डालता है; अथर्व० (७।१००।१) के साथ करवट बदल लेता है, स्वप्न में खाते समय वह अथर्व० (७।१०१।१) का पाठ करता है और देखने लगता है; अथर्व० (६।

६. कनिक्रदज्जनुषं ···विदत्॥ ऋ० २।४२।१। निरुक्त (९।४) ने इसका अर्थ किया है। सायण के मत से यहाँ कपिंजल पक्षी की ओर संकेत है।

४६।२) के पाठ से सभी स्वप्न नष्ट हो जाते हैं। दो पद्य इस प्रकार हैं—'हे स्वप्न, हम तुम्हारी जन्मभूमि जानते हैं, तुम देवों की बहिनों के पुत्र हो, तुम यम के सहायक हो; तुम अन्तक हो, तुम मृत्यु हो; हे स्वप्न, हम तुम्हें वैसा समझते हैं; हे स्वप्न, तुम हमें दुःस्वप्नों से बचाओ; मैं दुःस्वप्न देखने पर घूम जाता (करवट बदल लेता) हूँ, ऐसा ही बुरे भाग्य में भी करता हूँ, मैं ब्रह्म (वैदिक प्रार्थना) को अपनी सुरक्षा बनाता हूँ, मैं स्वप्नों से आगत दुश्चिन्ताओं को भी भगाता हूँ।' और देखिए कात्यायनश्रौतसूत्र (२५।११।२०)।

आपस्तम्बगृ० (८।२३।९) ने कतिपय असाधारण दृश्यों के लिए एक ही प्रकार की शान्ति की व्यवस्था दी है—'स्थणाविरोहण (घर के खम्भे अर्थात् थून्ही में अंकुर निकलने) में, घर पर मधुमक्खी का छत्ता होने पर, यदि चूल्हे पर कपोत पदचिह्न दीख पड़े या घर में रोग उत्पन्न हो जाय या अन्य अद्भुत उत्पात प्रकट हो जायँ तो अमावास्या की अर्धरात्रि में, जहाँ जल-शब्द न सुनाई पड़े, व्यक्ति को अग्नि में समिधा डालने से लेकर आज्य भाग की आहुतियों तक के कृत्य करने चाहिए, तदनन्तर जप एवं आहुतियाँ देनी चाहिए। इसी प्रकार सामविधान ब्राह्मण में भी उत्पातों पर शान्ति की व्यवस्था है (५।२-३, ५।७।२ आदि)। अथर्व० (१९।९।९) में उल्कापात (नक्षत्रमुल्काभिहतं शमस्तु नः), षड्विंश० (५।९।२) में भी उल्कापात तथा (५।१०।२) में मूर्ति के हँसने, रोने आदि की ओर संकेत है। स्थानाभाव से गृह्यसूत्रों में वर्णित शान्तियों का और उल्लेख नहीं किया जायगा।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक साहित्य, श्रौतसूत्रों, सामविधान-ब्राह्मण एवं ऋग्विधान में शान्तियों का प्रयोग न-केवल क्रुद्ध देवों या शक्तियों को प्रसन्न करने के लिए, प्रत्युत कुस्वप्न जैसी घटनाओं तथा सूर्य-चन्द्र-रूपों, अशुभ पक्षियों की बोलियों आदि के लिए भी होता था।

सभी प्रकार के शकुनों एवं उत्पातों की शान्तियों के विषय में पश्चात्कालीन वैदिक साहित्य में विशद विवेचन पाया जाता है। गृह्यसूत्रों, कौशिकसूत्र, अथर्व-परिशिष्टों, पुराणों, बृहत्संहिता (अध्याय ४४), कृत्यकल्पतरु (शान्तिक-पौष्टिक-काण्ड), बल्लालसेन एवं उनके पुत्र लक्ष्मणसेन के अद्भुतसागर, मदनरत्न (शान्तिखण्ड), रघुनन्दन के ज्योतिस्तत्त्व, कमलाकर भट्ट के शान्तिकमलाकर एवं नीलकण्ठ के शान्तिमयूख में शान्ति-विषयक विशद चर्चाएँ पायी जाती हैं। इनमें अद्भुतसागर एक विशाल ग्रन्थ (७५१ पृष्ठों में) है। बहुत-से शान्ति-कृत्य अब प्रयोग में नहीं लाये जाते। हम यहाँ संक्षेप में कुछ ही शान्तियों का उल्लेख करेंगे।

कौशिकसूत्र (अध्याय १३, कण्डिका ९३-१३६) में अद्भुतों एवं उनकी शान्तियों का उल्लेख है। ९३ वीं कण्डिका में ४२ औपसर्गिक उत्पातों का उल्लेख है, अन्य कण्डिकाओं में कुशकुनों या उत्पातों तथा प्रत्येक की शान्ति का वर्णन है। इन शान्तियों में अथर्ववेद के मन्त्र गौण महत्त्व रखते हैं, अधिकांश मन्त्र स्वतन्त्र रूप से आये हैं। यह द्रष्टव्य है कि बाद में ये शान्तियाँ प्रायश्चित्त के नाम से पुकारी गयी हैं।

मदनरत्न (लगभग १४२५ से १४५० ई०) में वर्णित शान्तिक-पौष्टिक विषय यह प्रकट करते हैं कि मध्यकाल में शान्तियों का बड़ा महत्त्व था। इसकी अप्रकाशित पाण्डुलिपि की अनुक्रमणिका में निम्न वर्णन हैं—विनायकस्नान; सूर्य से केतु तक नवग्रहों को प्रसन्न करने की शान्तियाँ; शनैश्चरव्रत; शनि को प्रसन्न करने की शान्तियाँ (स्कन्द पुराण के नागरखण्ड एवं प्रभासखण्ड से उद्धरण लिये गये हैं); बृहस्पति एवं शुक्र की पूजा; पाँच या अधिक ग्रहों के योग पर यामलों[७] पर आधारित शान्तियाँ; विष्णुधर्मोत्तर० से उद्धृत ग्रहस्नान; ज्वर या अन्य

७. यामल तन्त्र कोटि के ग्रन्थ हैं, जिनकी संख्या बहुत है, किन्तु बहुधा उनकी संख्या ८ कही जाती है। गणेशयामल, ब्रह्मयामल, रुद्रयामल, विष्णुयामल, शक्तियामल आदि ग्रन्थ भी हैं। स्मृतिकौस्तुभ ने कुछ तिथियों,

रोगों में तिथि एवं सप्ताह-दिन की शान्ति; नक्षत्रशान्ति; जन्म काल के ९ उग्र नक्षत्रों एवं शेष की शान्तियाँ; अमावास्या, मूल या आश्लेषा या ज्येष्ठा नक्षत्रों में जन्म पर शान्तियाँ; पिता या बड़े भाई के नक्षत्र पर जन्म होने पर शान्ति; गण्ड, वैधृति, व्यतीपात योग, संक्रान्ति, विषनाड़ी, ग्रहणों पर जन्म होने पर शान्तियाँ; गोमुखप्रसव नामक शान्ति; गर्भाधान से एक मास तथा उसके आगे के मासों के भ्रूण की रक्षा के लिए घोषित शान्तियाँ; बलि; भ्रूण-पीड़ा के मार्जन के लिए ओषधि; सरलता से जनन के साधन; जन्म के उपरान्त रक्षा के लिए; मन्त्रों के साथ प्रथम दिन पर बलि, नीराजन आदि; पवित्र जल से शिशु पर छिड़काव, देवों एवं पितरों का जल-तर्पण, होमों, यन्त्रों द्वारा देवों एवं पितरों को सन्तुष्ट करना; जन्मोपरान्त पहली तिथि से १२ वीं तिथि तक के कृत्यों के सामान्य नियम तथा प्रथम मास तथा आगे के एक वर्ष के मासों के कृत्य-नियम; दुष्ट आत्मा द्वारा पकड़े जाने पर मन्त्रों के साथ शिशु का लेप, वासना, स्नान; दूर्वा से होम, लम्बी आयु के लिए होम; अद्भुतों के लिए शान्ति तथा मूर्तियों, अग्नि, वृक्षों, वर्षा, जलाशयों के विषय में विचित्र घटनाओं, विचित्र जननों, जुड़वाँ उत्पत्ति, हथियारों, पशुओं, मन्दिर-ध्वंस एवं गृह-ध्वंस के विषय में विचित्र उपस्थितियों के बारे में शान्तियाँ; कतिपय उत्पातों एवं अद्भुतों की शान्तियाँ; कपोत पक्षी एवं कौओं की मैथुन-क्रिया दर्शन पर शान्तियाँ; शरीर पर गिरगिट एवं छिपकली गिरने पर शान्तियाँ; जनन-मरण के अशौचों पर शान्तियाँ; हाथी-घोड़ों के विषय की शान्तियाँ; सप्ताह-दिनों की शान्तियाँ; महाशान्ति; नवग्रहमख; अयुतहोम और उसकी विधि तथा नरसिंह०, देवी० एवं भविष्य० में वर्णित लक्षहोम एवं कोटिहोम के नियम; देवीपुराण में वर्णित वसोर्धारा। कण्डिका संख्या ९३ (कौशिक सूत्र) में वर्णित अद्भुत ये हैं--(घृत, मधु, मांस, सोना, रक्त आदि की भयंकर) वर्षा; यक्ष (बन्दर, पशु, कौए आदि जो मानव आकृति में प्रकट होते हैं); दो मेढ़कों की टर्रटर्र; कुल के सदस्यों का झगड़ा-फसाद (कलह); भूचाल; सूर्य-ग्रहण; चन्द्र-ग्रहण; औषसी (प्रातः? या उषःकाल) जब ऊपर नहीं जाती; जब वर्ष भयंकर हो जाता है, जब बाढ़ का भय होता है; जब ब्राह्मण अस्त्र-शस्त्र ग्रहण करते हैं; जब देव-प्रतिमाएँ नाचने लगती हैं, नीचे गिर जाती हैं, हँसती हैं, गाती हैं और अन्य रूप धारण करती हैं; जब दो हल-साथी उलझ पड़ते हैं; जब दो रस्सियाँ या धागे एक-दूसरे से उलझ जाते हैं; जब एक अग्नि दूसरी के स्पर्श में आ जाती है; जब कौआ जुड़वाँ बच्चा पैदा करता है; जब घोड़ी या गदही या नारी दो बच्चे जनती हैं; जब गाय से रक्त-दूध निकलता है; जब बैल गाय का दूध (थन से) पीने लगता है; जब एक गाय दूसरी गाय का थन पीने लगती है; जब गाय, घोड़ा, खच्चर या मानव आकाशफेन सूँघने लगते हैं; जब चींटियाँ अप्राकृतिक ढंग से व्यवहार करने लगती हैं; जब नीली मधु-मक्खियाँ अप्राकृतिक ढंग से व्यवहार करने लगती हैं; जब कोई अपूर्व अद्भुत प्रकट होता है; जब गाँव, घर, अग्नि-शाला, सभा-स्थल में कोई वस्तु टूट-फूट जाती है; जब शुष्क स्थान से पानी चलने लगता है; जब तिल से उतना ही तेल (?) निकलता है; जब यज्ञिय सामग्री पक्षियों, द्विपदों, चतुष्पदों के स्पर्श से अपवित्र हो जाती है; जब वेणी (लड़के या लड़की की) बायीं ओर हो

सप्ताह-दिनों एवं नक्षत्रों की कुछ घटियों (नाड़ियों या घटिकाओं) को विषनाड़ी या विषघटी (जिनसे अशुभ फल मिलते हैं) कहा है। किन्तु ज्योतिषीय ग्रन्थों में केवल नक्षत्रों की कुछ घटियों को ही यह उपाधि दी गयी है और इन घटियों में उत्पन्न व्यक्ति माता, पिता, धन एवं अपनी हानि का कारण बताया गया है (धर्मसिन्धु, पृ० १८४)। मदनरत्न ने शान्तिक में २७ नक्षत्रों के विषय में विशद वर्णन उपस्थित किया है, यथा प्रत्येक नक्षत्र की विषघटी, अश्विनी में ५० वीं घटिका के उपरान्त तीन घटिका विषनाड़ी, भरणी में २४ के उपरान्त एक घटिका, पुनर्वसु एवं पुष्य में क्रम से ३० एवं २० घटिकाओं के उपरान्त एक घटिका है।

जाती है; जब यज्ञिय स्तम्भ से अंकुर निकल आते हैं; जब दिन में उल्कापात होता है; जब धूमकेतु अंधकार उत्पन्न कर देता है; जब बार-बार उल्कापात होता है; जब चोंच में मांस लेकर पक्षी किसी के घर पर उतरता है; जब बिना अग्नि के प्रकाश फूटने लगता है; जब अग्नि फूत्कार करने लगती है; जहाँ घृत, तैल, मधु टपकने लगता है; जब ग्रामाग्नि से कोई घर जल जाता है; जब दुर्घटना से किसी का घर जल जाता है; जब बाँस स्वर निकालने लगते हैं; जब जलाशय में पात्र फूट जाता है या बटलोही फूट जाती है या यवयुक्त पात्र फूट जाता है।

स्थानाभाव से उपर्युक्त अद्भुतों की शान्तियों का विवेचन यहाँ सम्भव नहीं है। दो-एक उदाहरण पर्याप्त होंगे। जब भूचाल हो तो पाँच मन्त्रों के साथ घृत की आहुतियाँ दी जानी चाहिए, इनमें तीन जिष्णु (विष्णु) के विषय में हैं और इस प्रकार हैं—"जिस प्रकार सूर्य स्वर्ग में ज्योतिर्मान् है, वायु आकाश में है, अग्नि पृथिवी में प्रवेश करती है, उसी प्रकार यह जिष्णु अटल एवं स्थिर रहे। जिस प्रकार सरिताएँ रात-दिन अपने तत्त्व (मिट्टी, कीचड़ आदि) को समुद्र में डालती हैं, उसी प्रकार (देवों के) सभी वर्ग, एक मन होकर मेरे आवाहन (यज्ञ) में आयें; देवी पृथिवी सभी देवों के साथ मेरे लिए स्थिर हो, वह सभी दुष्टताओं को भगा दे और उन शत्रुओं को, जो मुझसे घृणा करते हैं, चीर-फाड़ डाले।" 'स्वाहा' शब्द के साथ आहुतियाँ देकर उसे अथर्व० (६।८७।१, ६।८८।१) के मन्त्रों और अथर्व० (१२।१।२) के अनुवाक के पाठ के साथ आहुतियाँ देनी चाहिए। यही प्रायश्चित्त है (भूचाल के विषय में)। देखिए कौशिकसूत्र (अध्याय ९८)। और देखिए वही, अध्याय ९९ एवं १०० जहाँ क्रम से सूर्य-ग्रहण एवं चन्द्र-ग्रहण-सम्बन्धी शान्तियों का वर्णन है।

शान्तियों के सम्बन्ध में अद्भुत, उत्पात एवं निमित्त नामक तीन शब्दों को भली भाँति समझ लेना चाहिए। 'अद्भुत' प्राचीन शब्द है। ऋग्वेद में कई बार प्रयुक्त हुआ है और किसी देवता के लिए 'आश्चर्ययुक्त' के अर्थ में आया है। कहीं-कहीं यह 'भविष्य' एवं सम्भवतः 'औत्पातिक' के अर्थ में भी आया है निरुक्त (१।५) के अनुसार ऋ० (१।१७०।१) की व्याख्या इस प्रकार है—'ऋषि अगस्त्य ने सर्वप्रथम इन्द्र को हवि देने का वचन दिया, किन्तु आगे चलकर उन्होंने वही मरुतों के लिए करना चाहा, इस पर इन्द्र ने अगस्त्य के पास आकर विरोध किया कि जो आज वचन दिया गया, वह नहीं है, और न वह कल भी होगा, कौन जाने, भविष्य में क्या होगा।'[८] यास्क ने 'अद्भुत' का अन्वय 'अ-भूत' (जो अभी नहीं घटित हुआ है) से किया है और कहा है कि सामान्य भाषा में अद्भुत का अर्थ यह भी है 'वह जो अभी घटित नहीं हुआ है।' गृह्यसूत्रों में 'अद्भुत' शब्द ही आया है और शान्तियों को 'अद्भुत शान्तियाँ' कहा गया है। अद्भुत न केवल भूचालों, ग्रहणों, धूमकेतुओं, उल्कापातों आदि के लिए प्रयुक्त हुआ है, प्रत्युत यह असाधारण घटनाओं के लिए भी प्रयुक्त हुआ है, यथा गाय द्वारा रक्त-दूध देना, गाय द्वारा गाय का थन पीना आदि। वृद्ध-गर्ग ने 'अद्भुत' को ऐसी घटना समझा है, जो पहले न हुई हो (अर्थात् अपूर्व) अथवा जो पहले हुई हो, किन्तु उससे पूर्ण रूपेण परिवर्तित दूसरी घटना हो जाय। ६७ वाँ आथर्वण परिशिष्ट 'अद्भुत शान्ति' कहा जाता है। इसने अद्भुतों को सात दलों में बाँटा है—इन्द्र, वरुण, यम, अग्नि, कुबेर, विष्णु एवं वायु और प्रत्येक के कुछ अद्भुतों के नाम लिखे हैं, यथा रात्रि में इन्द्रधनुष (इन्द्र), गिद्ध (गृद्ध) या उल्लू का घर पर उतरना या कपोत का घर में प्रवेश (यम), बिना अग्नि का धुवाँ (अग्नि), किसी के जन्म के नक्षत्र पर ग्रहण (विष्णु)। परिशिष्ट सामवेद के अद्भुत उसके ब्राह्मण पर आधारित हैं।

८. निरुक्त (१।५) : 'अगस्त्य इन्द्राय हविर्निरुप्य मरुद्भ्यः संप्रदित्सांचकार स इन्द्र एत्य परिदेवयांचक्रे। न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद्वेद यदद्भुतम्। अन्यस्य चित्तमभिसंचरेण्यमुताधीतं विनश्यति।। (ऋ० १।१७०।१)।

श्रौत या गृह्यसूत्रों में 'उत्पात' शब्द विरल ही प्रयुक्त है। गौतमधर्मसूत्र (११।१२-१३, १५-१६) ने राजा को आदेश देते हुए कि उसे विद्वान्, शीलवान् ब्राह्मण को पुरोहित बनाना चाहिए, यह व्यवस्था दी है कि उसे जो ज्योतिषी एवं शकुन-व्याख्या करने वाले करने को कहें उस पर ध्यान देना चाहिए और पुरोहित को चाहिए कि वह शान्ति-कृत्य करे (यथा वास्तु-होम) तथा इन्द्रजाल (जादू) कृत्य (राजा की ओर से) करे।[1] किन्तु पुराणों एवं मध्यकालिक संस्कृत ग्रन्थों में उत्पात शब्द अद्भुत शब्द की अपेक्षा अधिक प्रयुक्त हुआ है, कभी-कभी दोनों समानार्थक रूप में प्रयुक्त हुए हैं। गर्ग का कथन है—'देवता मनुष्यों के दुष्कर्मों से अशुभकर हो जाते हैं और आकाश, अन्तरिक्ष एवं भूमि में अद्भुत (असाधारण घटनाएँ) उत्पन्न करते हैं। ये सभी लोकों के लिए देवों द्वारा उत्पन्न उत्पात हैं; ये उत्पात सब लोगों के नाश के लिए प्रकट होते हैं और अपने भयानक रूपों द्वारा लोगों को (अच्छा कार्य करने के लिए) प्रेरित करते हैं।' यहाँ अद्भुत एवं उत्पात शब्द एक दूसरे के पर्याय हैं। और देखिए मत्स्यपुराण (२२८।१-२)। सामान्यतः, उत्पात वे घटनाएँ हैं जो सब के लिए भयानक होती हैं। अमरकोश ने 'अजन्य', 'उत्पात' एवं 'उपसर्ग' को समानार्थक कहा है। गर्ग, वराहमिहिर एवं अथर्व-परिशिष्ट ने उत्पात को स्वाभाविक क्रम (स्थिति) का उलटा (विलोम) माना है। अमरकोश के अनुसार **निमित्त** का अर्थ है 'कारण या अग्रसूचक चिह्न।' निमित्त शुभ एवं अशुभ दोनों हो सकता है, यही उत्पात (जो सामान्यतः अशुभ होता है) एवं निमित्त का अन्तर है। एक अन्य अन्तर भी है। निमित्त बहुधा व्यक्ति के अंगों के फड़कने तक सीमित है (मत्स्य० अध्याय २४१), किन्तु कहीं-कहीं व्यापक अर्थ में भी इसका प्रयोग हुआ है (निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव, गीता १।३१)। देखिए रामायण (अयोध्या० ४।१७-१९), भीष्म० (२।१६-१७), विराट० (४६।३०)। मनु (६।५०) ने 'उत्पात' एवं 'निमित्त' में भेद किया है।

महाभारत में अशुभ घटनाओं (निमित्तों या उत्पातों) का बहुत उल्लेख हुआ है, यथा सभा पर्व (८०।२८-३१ ८१।२२-२५), वन० (१७९।४१, २२४।१७-१८), विराट (३९।४-६) आदि। प्रमुख उत्पात एवं अद्भुत ये हैं—भयंकर स्वप्न; अन्धड़-तूफान (निर्घात); उल्कापात; दक्षिण में शृगालिन का रोना; बालू के कणों के साथ भयंकर एवं सूखी आँधी; भूचाल; असामान्य काल में सूर्य-ग्रहण; बिना बादलों के विद्युत-चमक; मन्दिरों पर गृद्ध, कौओं का वास; दुर्ग की दीवारों एवं प्राकारों पर भी उनका वास; अचानक अग्नि; फटे झंडे या पताकाएँ; सूर्य-चन्द्र का मण्डल; नदियों में रक्त-जल-प्रवाह; बिना बादलों की वर्षा; रक्त या पंक की वर्षा; हाथियों की चिंघाड़; अन्धकार-युक्त आकाश; घोड़ों का अश्रु-प्रवाह; स्वच्छ आकाश में बादल-गर्जन; नदियों का उलटा प्रवाह; बायें हाथ एवं आँख का फड़कना; मेढक की टर्र-टर्र; समुद्र का तूफान; मूर्तियों का काँपना, नाचना, हँसना एवं रोना; पीला सूर्य; सूर्याभिमुख हो कपोत, मैना एवं हरिण का रुदन, सूर्य के पास मुण्डरहित धड़ों का प्रकट होना; विचित्र जन्म, यथा गाय से गदहा, नेवले से चूहा (युद्धकाण्ड ३५।३०)। इन ग्रन्थों में शुभ चिह्न बहुत कम वर्णित हैं (बालकाण्ड २२।४, उद्योग० ८३।२३-२६, ८४।११७, भीष्म० ३।६५-७४, शान्ति० ५२।२५, आश्वमेधिक० ५३।५-६)। प्रमुख शुभ लक्षण ये हैं—बिना बादलों के स्वच्छ गगन; शीतल एवं स्पर्श से आनन्द देने वाली वायु का प्रवाह; धूल का न उड़ना, मनुष्य की दाहिनी ओर पक्षियों एवं पशुओं का जाना; धूमरहित अग्नि, जिसकी ज्वाला दाहिनी ओर हो; पुष्पवर्षा, चाष, क्रौंच, मोर जैसे शुभ पक्षियों का दाहिनी ओर चहचहाना (कर्ण० ७२।१२-१३)।

१. ब्राह्मणं च पुरोदधीत विद्याभिजनवाग्रूपवयःशीलसम्पन्नं न्यायवृत्तं तपस्विनम्। तत्प्रसूतः कर्माणि कुर्वीत।......यानि च दैवोत्पातचिन्तकाः प्रब्रूयुस्तान्याद्रियेत। तदधीनमपि ह्येके योगक्षेमं प्रतिजानते। गौ० ध० सू० (११।१२-१३, १५-१६)।

गर्ग, पराशर, सभापर्व, बृहत्संहिता (४५।२), मत्स्य० (२२९।५), अथर्व-परिशिष्ट (६९।१।२) आदि ने उत्पातों को तीन भागों में बाँटा है—दिव्य (स्वर्गिक वस्तुओं से उठने वाले), आन्तरिक्ष (आकाश में उभरने वाले) एवं भौम (पृथिवी में प्रकट होने वाले)। यह विभाजन प्राचीन है (अथर्व० १९।९।७)। गर्ग एवं बृ० सं०, मत्स्य० (२२९।६-९), अग्नि० (२६३।१२-१३) में तीनों प्रकार के उत्पातों का उल्लेख है। दिव्य उत्पात हैं—ग्रहों, नक्षत्रों, ग्रहणों एवं धूमकेतुओं की असामान्य दशाएँ; आंतरिक्ष उत्पात हैं—अन्धड़, तूफान, असामान्य घन-खण्ड, उल्कापात, सन्ध्याएँ, दिशाओं का अद्भुत लालिमायुक्त प्रकट होना, मण्डल, वायु में भ्रमात्मक आकृति प्रकट हो जाना, इन्द्रधनुष एवं अद्भुत वर्षा (यथा रक्तिम जल, मछलियों की वर्षा, कछुओं की वर्षा आदि); भौम उत्पात ये हैं—भूचाल, तालाबों की असामान्य स्थिति। बृ० सं० में आया है कि भौम उत्पात शान्तियों से दूर किये जाते हैं, आंतरिक्ष उत्पात शान्तियों से कुछ कम (मृदु) हो जाते हैं, किन्तु दिव्य उत्पात शान्तियों से नहीं दूर होते (जैसा कि उत्पल के मत से काश्यप ने कहा है, किन्तु वराहमिहिर के अनुसार अधिक सोना, भोजन, गाय एवं भूमि के दानों, पृथिवी पर गाय का दूध शिव पर (रुद्र के मन्दिर में) चढ़ाने एवं कोटिहोम करने से दिव्य उत्पात दूर किये जा सकते हैं। वराहमिहिर एवं मत्स्य० के अनुसार दिव्य उत्पात आठ प्रकार से बुरा फल देते हैं—स्वयं राजा पर, उसके पुत्र, कोश, वाहनों, राजधानी, रानी, पुरोहित एवं प्रजा पर।[10]

विभिन्न नामों वाली शान्तियों के नाम मत्स्य०, वराहमिहिर आदि द्वारा उल्लिखित हैं। मत्स्य० में वर्णित १८ शान्तियाँ संक्षेप में यों हैं—**अभय शान्ति** तब की जाती है जब राजा विजयी होना चाहता है या जब उस पर आक्रमण होता है, या जब उसे भय होता है कि उस पर माया की गयी है या जब वह शत्रुओं का नाश करना चाहता है या जब उस पर बड़ा भय आ जाता है। **सौम्य शान्ति** तब की जाती है जब राजरोग (टी० बी०) हो जाता है, घावों से दुर्बल होने पर या यज्ञ करने की इच्छा होने पर। **वैष्णवी शान्ति** की व्यवस्था भूचाल में, दुर्भिक्ष में, अति वृष्टि में, अनावृष्टि में, टिड्डियों के भय में तथा चोरों की क्रिया होने में होती है। **रौद्री शान्ति** का प्रयोग पशुओं एवं मानवों में महामारी उत्पन्न हो जाने पर या भूत-प्रेत के प्रकट होने पर या राज्याभिषेक में या आक्रमण होने पर या जब राज्य में कोई विश्वासघात होता है या जब शत्रु-हनन होता है, तब की जाती है। **ब्राह्मी शान्ति** की व्यवस्था तब की जाती है जब वेदाध्ययन के नष्ट होने का डर रहता है या जब नास्तिकता फैलने लगती है या जब कुपात्रों को सम्मान मिलने लगता है। जब अन्धड़-तूफान तीन दिनों तक चलते रहते हैं और वात से रोग फैलने लगते हैं तब **वायवी शान्ति** की व्यवस्था होती है। **वारुणी शान्ति** अनावृष्टि में या जब असामान्य वर्षा (रक्त-जल की वर्षा आदि) होने लगती है तब की जाती है। **प्राजापत्य शान्ति** असामान्य जनन में की जाती है। **त्वाष्ट्री शान्ति** हथियारों की असामान्य दशाओं में की जाती है। **कौमारी शान्ति** की व्यवस्था बच्चों के लिए होती है। **आग्नेयी शान्ति** अग्नि के अद्भुत रूपों में की जाती है। **गान्धर्वी शान्ति** आज्ञोल्लंघन में, पत्नी एवं भृत्यों के नाश में या अश्वों के लिए की जाती है। **आंगिरसी शान्ति** हाथियों के विकृत होने पर की जाती है। **नैर्ऋती शान्ति** पिशाचों के भय में की जाती है। **याम्या शान्ति** की व्यवस्था मृत्यु या दुःस्वप्न की घटनाओं में होती है। **कौबेरी शान्ति** धन की हानि में की जाती है। जब वृक्षों की असामान्य दशाएँ आती हैं तो **पार्थिवी शान्ति** की व्यवस्था होती है। ज्येष्ठा या अनुराधा नक्षत्र में उत्पात होते हैं तो **ऐन्द्री शान्ति** की जाती है।

१०. आत्मसुतकोशवाहनपुरदारपुरोहितेषु लोके च। पाकमुपैति दैवं परिकल्पित मष्टधानृपतेः॥ बृ० सं० (४५।७), मत्स्य० (२२९।१२-१३)।

अग्नि० (२६३।७-८) ने उपर्युक्त १८ शान्तियों का उल्लेख किया है और कहा है कि **अमृता, अभया** एवं **सौम्या** नामक शान्तियाँ सर्वोत्तम हैं। कतिपय असामान्य उत्पातों की दशाओं में कई शान्तियों की चर्चा वराहमिहिर ने भी की है। स्थान-संकोच से हम उसकी चर्चा यहाँ नहीं कर सकेंगे। किन्तु एक शान्ति का उल्लेख आवश्यक है—'यदि कोई यक्षों (यातुधानों) को देखे, जब ज्योतिषियों द्वारा महामारी का निर्देश हो तो ऐसी स्थितियों में गर्ग ने उनके नाश के लिए निम्न शान्तियों दी व्यवस्था दी है—महाशान्ति, बलि, पर्याप्त भोजन, इन्द्र एवं इन्द्राणी की पूजा (बृ० सं० ४५।७९-८०)। बृ० सं० (४५।८२-९५) ने कुछ ऋतुओं में उपस्थित घटनाओं को उत्पात नहीं माना है और मत्स्य० (२२९।१४-२५) में आये हुए ऋषिपुत्र के वचनों को (कुछ अन्तरों के साथ) उद्धृत किया है, यथा चैत्र एवं वैशाख में निम्न शुभ (ऐसे उत्पात जिनमें शान्ति की आवश्यकता नहीं होती) हैं—विद्युत-चमक, उल्कापात, भूचाल, चमकती सन्ध्याएँ, अन्धड़-तूफान, मण्डल, गगन-धूलि, वन-धूम, रक्तिम सूर्योदय एवं सूर्यास्त।

अध्याय २१

कतिपय विशिष्ट शान्तियाँ

अब हम कुछ विशिष्ट शान्तियों का उल्लेख करेंगे। इनमें अधिकांश वैदिक काल के पश्चात् की हैं। पहली है **विनायक-शान्ति या गणपति-पूजा**। यह उपनयन एवं विवाह जैसे संस्कारों के आरम्भ में की जाती है, जिससे कि निर्विघ्न फल की प्राप्ति हो, उत्पातों के अशुभ प्रभाव दूर हों या सपिण्ड की मृत्यु से उत्पन्न प्रतिकूल परिणामों का निवारण हो सके। इसका स्वतन्त्र रूप से सम्पादन शुक्ल पक्ष की चतुर्थी या बृहस्पति या पुष्य, श्रवण, उत्तरा, रोहिणी, हस्त, अश्विनी, मृगशीर्ष शुभ नक्षत्रों में होता है। किन्तु जब इसका सम्पादन उपनयन जैसे संस्कारों के आरम्भ में किया जाता है तब उस प्रमुख कृत्य का काल ही इसके लिए उपयुक्त माना जाता है। इसका संकल्प धर्मसिन्धु (पृ० २०५) में दिया हुआ है। मानवगृह्य एवं बैजवापगृह्य में चार विनायकों (सभी दुष्ट आत्माओं के रूप में) का उल्लेख है, किन्तु आगे चलकर याज्ञ० (१।२७१-२९४) में विनायक न-केवल विघ्नकर्ता माना गया है, प्रत्युत विघ्नहर्ता भी कहा गया है, किन्तु और आगे चलकर गणपति-पूजा को प्रत्येक कृत्य के लिए अनिवार्य ठहराया गया है (गोभिल १।१३)। याज्ञ० (१।२९३) में आया है कि विनायक की प्रतिपादित पूजा तथा ग्रह-पूजा से सर्वोत्तम फल एवं श्री की प्राप्ति होती है।[1] और देखिए विष्णुधर्मोत्तर (२।१०५।२-२४)। ब्रह्माण्ड० में आया है कि गर्भाधान से लेकर जातकर्म आदि संस्कारों, यात्रा, वाणिज्य, युद्ध-काल, देव-पूजा, संकट में तथा इच्छाओं की सिद्धि में गजानन की पूजा अवश्य की जानी चाहिए।[2] भविष्य० (अध्याय १४४) की गणनाथशान्ति याज्ञवल्क्य की विनायकशान्ति से मिलती जुलती है।

याज्ञवल्क्य (१-२९४-३०८), वैखानसस्मार्त-सूत्र (४।१३-१४), बौधायनगृह्यशेषसूत्र, मत्स्यपुराण (९३।१-१०५), विष्णुधर्मोत्तर (१।९३-१०५) एवं अन्य पुराणों, बृहद्योगयात्रा (१८।१-२४) एवं मध्यकालिक निबन्धों में नवग्रहों (सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु एवं केतु) के शान्ति-कृत्य की व्यवस्था है। यह **नवग्रहशान्ति** निबन्धों में वर्णित **शान्ति-होमों** का नमूना (प्रकृति) है। वैखानसस्मार्तसूत्र (४।१४) में आया है कि सभी धार्मिक कृत्यों के आरम्भ में नवग्रहशान्ति का सम्पादन होना चाहिए।[3]

१. एवं विनायकं पूज्य ग्रहांश्चैव विधानतः। कर्मणां फलमाप्नोति श्रियं चाप्नोत्यनुत्तमाम्॥ याज्ञ० (१।२९३), भविष्य० (ब्राह्मपर्व, २३।३०)।

२. जातकर्मादिसंस्कारे गर्भाधानादिकेपि च। यात्रायां च वणिज्यादौ युद्धे देवार्चने शुभे॥ संकष्टे कामसिद्धयर्थं पूजयेद्यो गजाननम्। तस्य सर्वाणि कार्याणि सिध्यन्त्येव न संशयः॥ ब्रह्माण्ड० (३।४२।४४); ब्रह्माण्ड० (४।४४।६५-७०) ने गणेश के ५१ नाम दिये हैं।

३. ग्रहपूजां पुरस्कृत्य सर्वकर्म समारभेदिति विज्ञायते। वै० स्मा० सू० (४।१४); शान्तिकमलाकर में आया है: 'अयं सर्वशान्तिप्रकृतिस्तु ग्रहयज्ञ उच्यते। तत्र स्कान्दयाज्ञवल्क्यौ श्रीकामः शान्तिकामो वा...।'

याज्ञवल्क्य (१।२९४) का कथन है—'जो श्री-प्राप्ति की कामना करने वाला है, सभी विपत्तियों को दूर करना चाहता है, (कृषि के लिए) वर्षा की कामना करता है, लम्बी आयु चाहता है, स्वास्थ्य चाहता है और शत्रुओं के निवारण के लिए इन्द्रजाल (जादू) कृत्य करने का इच्छुक है, उसे ग्रह-यज्ञ सम्पादित करना चाहिए।' मत्स्य० (९३।५-६) के अनुसार नवग्रहमख तीन प्रकार का है—(१) **अयुतहोम** (जिसमें १०००० आहुति होती हैं), **लक्षहोम** एवं **कोटिहोम**। अयुतहोम का सम्पादन विवाहों, उत्सवों, यज्ञों, मूर्ति-प्रतिष्ठापनों एवं अन्य कर्मों में होता है, जिससे उनमें कोई बाधा न उपस्थित हो; इसका सम्पादन उन अवसरों पर भी होता है जब कि मन उद्विग्न होता है या जब कोई अशुभ शकुन या असामान्य घटना घटती है।[४]

याज्ञवल्क्यस्मृति में जो विधि है, वह संक्षेप में है और ग्रहयज्ञ-सम्बन्धी ग्रन्थों में सबसे प्राचीन है। हम मत्स्य० एवं वैखानस० से कुछ लेकर उस विधि को उपस्थित करते हैं। क्रम से ताम्र, स्फटिक, लाल चन्दन, सोना (बुध एवं बृहस्पति दोनों के लिए), चाँदी, लोहा, सीसा, पीतल या (यदि ये सब उपलब्ध न हों) तो किसी वस्त्र-खण्ड पर ग्रहों के अनुरूप रंगों के चूर्ण से चित्रों या (चन्दन जैसे सुगंधित लेप से) वृत्तों द्वारा नव-ग्रहों की आकृतियाँ बना लेनी चाहिए। मत्स्य० (९३।११-१२) ने व्यवस्था दी है कि आकृतियों के चित्रांकन में सूर्य मध्य में होना चाहिए, मंगल, बृहस्पति, बुध, शुक्र, चन्द्र, शनि, राहु एवं केतु की आकृतियाँ चावल-अन्नों से क्रम से दक्षिण, उत्तर, उत्तर-पूर्व, पूर्व, दक्षिण-पूर्व, पश्चिम, दक्षिण-पश्चिम एवं उत्तर-पश्चिम में प्रतिष्ठापित (अंकित) होनी चाहिए।[५] याज्ञ० (१।२९८) में व्यवस्था है कि पुष्पों, सुगंधित पदार्थों के रंग ग्रहों के उपयुक्त वस्त्रों, होने चाहिए,[६] हवि दी जानी चाहिए, सभी ग्रहों के लिए गुग्गुल की धूप देनी चाहिए तथा पके चावल की आहुतियाँ मन्त्रों के साथ क्रम से नव-ग्रहों को दी जानी चाहिए।

४. विवाहोत्सवयज्ञेषु प्रतिष्ठादिषु कर्मसु। निर्विघ्नार्थं मुनिश्रेष्ठ तथोद्वेगाद्भुतेषु च॥ कथितोऽयुतहोमोऽयं लक्षहोममतः शृणु॥ मत्स्य० (९३।८४), भविष्य० (४।१४१।८६-८७)। टिप्पणियों से अभिव्यक्त है कि याज्ञ० एवं मत्स्य० में बहुत-से पद्य एक ही हैं और मत्स्य० में अपेक्षाकृत अधिक विस्तार है। यह सम्भव है कि तीनों में याज्ञ० सबसे प्राचीन है, वै० याज्ञ० एवं वै० स्मा० सू० से स्मा० सू० उसके उपरान्त तथा मत्स्य० तीनों के उपरान्त लिखित हुआ है।

५. मत्स्य० (९३।११-१२) को मिताक्षरा ने याज्ञ० (१।२९७) एवं वै० स्मा० सू० (४।१३) की टीका में उद्धृत किया है: 'मध्याग्नेयदक्षिणैशान्योत्तरपूर्वपश्चिमनैर्ऋतवायव्याश्रिताः।' जो क्रम से सूर्य (मध्य में), चन्द्र (आग्नेय अर्थात् दक्षिण-पूर्व में), मंगल (दक्षिण में), बुध (ऐशान अर्थात् उत्तर-पूर्व में), बृहस्पति (उत्तर में), शुक्र (पूर्व में), शनि (पश्चिम में), राहु (नैर्ऋत अर्थात् दक्षिण-पश्चिम में) एवं केतु (वायव्य अर्थात् उत्तर-पश्चिम में) की दिशाओं का द्योतक है।

६. नवग्रहों एवं उनके देवों के अनुरूप रंगों का उल्लेख वै० स्मा० सू० में इस प्रकार है: रक्तसितातिरक्त-श्यामपीतसितासितकृष्णधूम्रवर्णाः। अनलाप्पतिगुहहरीन्द्रशचीप्रजापतिशेषयमाधिदेवत्याः॥ मत्स्य० में कुछ अन्तर है; वहाँ (९३।१६-१७) रंग इस प्रकार हैं: सूर्य एवं मंगल के लिए लाल, चन्द्र एवं शुक्र के लिए श्वेत, बुध एवं बृहस्पति के लिए पीत, शनि एवं राहु के लिए काला तथा केतु के लिए धूम्र वर्ण। मत्स्य० (९३।१३-१४) के अनुसार ग्रहों के अधिदेव हैं: शिव, उमा, स्कन्द, हरि, ब्रह्मा, इन्द्र, यम, काल एवं चित्रगुप्त (क्रम से सूर्य, चन्द्र आदि के लिए)।

नवग्रहों की मन्त्रतालिका

ग्रह	मन्त्र, याज्ञ० (१।२९९-३०१) में	मन्त्र, मत्स्य० (९३।३३-३७) में	मन्त्र, वैखानस० सूत्र (४।१४) में
सूर्य	आ कृष्णेन, ऋ० (१।३५।२)	वही	आसत्येन, तै० (३।४।११।२)
चन्द्र	इमं देवा, वाज० सं० (९।४० एवं १०।१८)	आप्यायस्व, ऋ० (१।९१।१६ या ९।३१।४)	सोमो धेनुं, ऋ० (१।९१।२०), वाज० सं० (३४।२१)
मंगल	अग्निर्मूर्धा, ऋ० (८।४४।१६)	वही	वही
बुध	उद्बुध्यस्व, वाज० सं० (१५।५४) तै० सं० (४।७।१३।५)	अग्ने विवस्वदुषसः, ऋ० (१।४४।१)	वही जो याज्ञ० में है
बृहस्पति	बृहस्पते अति यदर्यः, ऋ० (२।२३।१५)	बृहस्पते परिदीया रथेन, ऋ० (१०।१०३।४)	वही जो याज्ञ० में है
शुक्र	अन्नात् परि-श्रुतः, वाज० सं० (१९।७५), मैत्रा० (३।११६)	शुक्रं ते अन्यत्, ऋ० (६।५८।१)	वही जो मत्स्य० में है
शनि	शन्नो देवीर्, ऋ० (१०।९।४)	वही	वही
राहु	काण्डात्, वाज० (१३।२०) तै० सं० (४।२।९।२)	कया नश्चित्र, ऋ० (४।३१।१)	वही जो मत्स्य० में है
केतु	केतुं कृण्वन्, ऋ० (१।६।३)	वही	वही

विष्णुधर्मोत्तर (१।१०२।७-१०) के मन्त्र याज्ञ० के समान हैं। और देखिए भविष्य० (४।१४१।३४-३६) एवं पद्म० (५।८२।३०-३२)। याज्ञ० ने प्रत्येक ग्रह के लिए होम की समिधाओं की संख्या १०८ या २८ बतायी है, जो मधु या घृत या दही या दूध से मिश्रित होनी चाहिए और सूर्य से लेकर केतु तक के लिए समिधा क्रम से अर्क, पलाश, खदिर, अपामार्ग, पिप्पल, उदुम्बर, शमी, दूर्वा एवं कुश की होनी चाहिए। तीन वर्णों के व्यक्ति को प्रतिपादित विधि (पाद-प्रक्षालन आदि) से ब्राह्मणों का सम्मान करना चाहिए और उन्हें क्रम से गुड़ के साथ पका चावल (बखीर), दूध एवं शक्कर में पका चावल (खीर), हविष्य, दूध में पका साठी (६० दिनों में होने वाले धान) का चावल, दही के साथ पका चावल, घृत के साथ पका चावल, तिलचूर्ण के साथ पका चावल, मांसयुक्त चावल, कई रंगों वाला चावल (सूर्य, चन्द्र आदि ग्रहों के क्रम से) खिलाना चाहिए या अपनी सामर्थ्य के अनुसार जो उपलब्ध हो देना चाहिए। दक्षिणा क्रम से यों है—दुधारू गाय, शंख, गाड़ी का बैल, सोना, वसन, श्वेत घोड़ा, काली गाय, लौह-अस्त्र, मेमना। यही बात विष्णुधर्मोत्तर (१।१०३।१-६) में भी है। व्यक्ति को किसी निश्चित काल में अपने नक्षत्र में स्थित प्रतिकूल ग्रह की विशिष्ट पूजा करनी चाहिए। याज्ञ० ने निष्कर्ष निकाला है कि राजाओं का उत्कर्ष-अपकर्ष ग्रहों पर निर्भर है। और देखिए विष्णुधर्मोत्तर (१।१०६-९-१०), कृत्यकल्पतरु (शान्तिक), शान्ति-मयूख (पृ० २१)।

वैखानस स्मा० सू० (४।१३) ने नव-ग्रहों के लिए कुछ विभिन्न नैवेद्य भोजन की व्यवस्था दी है। मत्स्य० ने अयुतहोम के वर्णन के अन्त में कहा है—'जिस प्रकार बाणों से रक्षा के लिए कवच होता है उसी प्रकार शान्ति (ग्रह-यज्ञ) दैवोपघातों से रक्षा करती है।'[७]

मत्स्य० (९३।९२) में ऐसी घोषणा है कि लक्षहोम की आहुतियों एवं दक्षिणाओं में अयुतहोम का दसगुना तथा कोटिहोम लक्षहोम का सौगुना है तथा यही प्रकार ग्रहों एवं उनके देवों के आवाहन एवं विसर्जन में होममंत्रों, स्नान एवं दान के विषय में भी है। मत्स्य० (९३।१११-११२) में एक विज्ञप्ति है कि अन्नहीन यज्ञ राष्ट्र को जला देता है (अर्थात् राष्ट्र पर विपत्ति आती है), मन्त्रहीन यज्ञ से ऋत्विज जल जाता है, दक्षिणाहीन यज्ञ यजमान को जला देता है; यज्ञ के समान कोई शत्रु नहीं है। अतः दरिद्र व्यक्ति को लक्षहोम कभी नहीं करना चाहिए। क्योंकि यज्ञ में (भोजन एवं दक्षिणा-सम्बन्धी) विग्रह (यजमान पर) सदा विपत्ति ढाता है। देखिए बृहद्योगयात्रा (१८।१-२४), योगयात्रा (अध्याय ६)।

याज्ञ० में ग्रहयज्ञ सरल एवं संक्षेप में है, किन्तु पुराणों, निबन्धों एवं आधुनिक ग्रन्थों में यह बहुत बोझिल हो गया है। दो-एक बातें यहाँ दी जा रही हैं। प्रत्येक ग्रह को गोत्र दे दिया गया है और उसके जन्म के लिए देश निर्धारित कर दिया गया है।[८] अतः प्रत्येक ग्रह के आवाहन में इन दो बातों को जोड़ दिया जाता है। सूर्य से केतु तक गोत्र क्रम से यों हैं—काश्यप, आत्रेय, भारद्वाज, आत्रेय, आंगिरस, भार्गव, काश्यप, पैठीनसि एवं जैमिनि। और देखिए रघुनन्दनकृत संस्कारतत्त्व (पृ० ९४६), जहाँ पर यह उल्लेख है कि यदि ग्रह-पूजा बिना गोत्रों एवं देशनामों के की जायगी तो वह ग्रहों के लिए अनादर की सूचक होगी।

शान्तिमयूख (पृ० १२) जैसे कुछ मध्यकालिक ग्रन्थों ने स्कन्दपुराण के पद्यों को उद्धृत करते हुए कहा है कि शनि की प्रतिकूल दृष्टि के कारण सौदास को मानुष मांस खाना पड़ा, राहु के कारण नल को पृथ्वी पर घूमना पड़ा, मंगल के कारण राम को वनगमन करना पड़ा, चन्द्र के कारण हिरण्यकशिपु की मृत्यु हुई, सूर्य के कारण रावण का पतन हुआ, बृहस्पति के कारण दुर्योधन की मृत्यु हुई, बुध के कारण पाण्डवों को उनके अयोग्य कर्म करना पड़ा तथा शुक्र के कारण हिरण्याक्ष को युद्ध में मरना पड़ा।

कुछ निबन्धों में अशुभ ग्रहों के लिए विशिष्ट दानों की चर्चा हुई है। यहाँ हम धर्मसिन्धु (पृ० १३५) से कुछ उदाहरण दे रहे हैं। **सूर्य** के लिए : लाल मणि, गेहूँ, गाय, लाल वसन, गुड़, सोना, ताम्र, लाल चन्दन, कमल; **चन्द्र** के लिए : बाँस के बने पात्र में चावल, कपूर, मोती, श्वेत वसन, घृतपूर्ण घड़ा, बैल; **मंगल** के लिए : प्रवाल (मूँगा), गेहूँ, मसूर दाल, लाल बैल, गुड़, सोना, लाल वसन, ताम्र; **बुध** के लिए : पीला वसन, सोना, पीतल का पात्र, मुद्ग (मूंग) दाल, मरकतमणि (पन्ना), दासी, हाथीदाँत, पुष्प; **बृहस्पति** के लिए : पुष्पराग (पोखराज), हल्दी, शक्कर,

७. यथा बाणप्रहाराणां कवचं भवति वारणम्। तद्वद् दैवोपघातानां शान्तिर्भवति वारणम्॥ मत्स्य० (९३।८१), विष्णुधर्मोत्तर (१।१०५।१४)। मत्स्य० (२२८।२९) में पुनः आया है : 'बाणप्रहारा न भवन्ति यद्वत् राजन्नृणां संनहनैर्युतानाम्। दैवोपघाता न भवन्ति तद्वद्धर्मात्मनां शान्तिपरायणानाम्॥'

८. अंगेषु सूर्यो यवनेषु चन्द्रो भौमो ह्यवन्त्यां मगधेषु सौम्यः। सिन्धौ गुरुर्भोजकटेषु शुक्रः सौरः सुराष्ट्रे विषये बभूव॥ म्लेच्छेषु केतुश्च तमः कलिंगे जातो यतोऽतः परिपीडितास्ते। स्वजन्मदेशान्परिपीडयन्ति ततोभियोज्याः क्षितिपेन देशाः॥ योगयात्रा (३।१९-२०)। मिलाइए सारावली (७।१४-१५) जहाँ शुक्र को समतट में तथा राहु एवं केतु दोनों को द्रविड़ में जनमे कहा गया है।

घोड़ा, पीत अन्न, पीत वसन, नमक, सोना; शुक्र के लिए : कतिपय रंगों के वसन, श्वेत अश्व, गाय, हीरा, सोना, चाँदी, लेप, चावल; शनि के लिए : इन्द्रनील (नीलम), माष, तिल, तिल का तैल, कुलित्थ (कुल्थी) की दाल, भैंस, लोहा, काली गाय; राहु के लिए : गोमेद, घोड़ा, नीला वसन, कम्बल, तिल का तैल, लोहा; केतु के लिए : लहसुनिया रत्न, तिल एवं तिल का तेल, कम्बल, कस्तूरी, मेमना, वसन।

शान्तियों की संख्या-सूची बहुत लम्बी है। उनका सम्पादन प्राकृतिक घटनाओं, यथा ग्रहणों, भूचालों, असामान्य वर्षाओं, अन्धड़-तूफानों, उल्कापातों, धूमकेतुओं, मण्डलों के लिए होता है; ग्रहों की गतियों एवं स्थितियों के अशुभ प्रभावों से रक्षा करने के लिए होता है; मानवों एवं पशुओं के विचित्र जन्मों पर होता है; घोड़ों एवं हाथियों की अच्छाई के लिए होता है; कुछ प्रतिकूल घटनाओं, यथा मूर्तियों के हँसने, रोने, गाने, गिरने, पशु-पक्षियों की बोलियों, शरीर पर छिपकली, गिरगिट के गिरने तथा कुछ पवित्र अवसरों पर होता है।

शान्ति-कृत्य, पौष्टिक कृत्य एवं महादान आदि साधारण अग्नि में ही किये जाते हैं। देखिए शान्तिमयूख (पृ० ४)। मनु० (३।६७) एवं याज्ञ० (१।९७) ने गृह्यसूत्रों में प्रतिपादित धार्मिक कृत्यों का ही उल्लेख किया है। मिताक्षरा (याज्ञ० १।२८५-८६) ने विनायकशान्ति में साधारण (गृह की) अग्नि की ही व्यवस्था दी है।

मनु (४।१५०) एवं विष्णुधर्मसूत्र (७१।८६) में प्रतिपादित है कि सूर्य के लिए होम एवं शान्तिहोम गृहस्थ द्वारा पर्वो (अर्थात् पूर्णमासी एवं अमावस्या) पर होना चाहिए।[९] ये शान्तियाँ निश्चित कालों में होती थीं। इसी प्रकार जब भी किसी जाति का, कोई स्त्री या पुरुष ६० वर्ष पूरा कर लेता था, तो यह सम्भव माना जाता था कि वह शीघ्र ही मर जायगा, या उसकी माता या पिता या पत्नी या पुत्र मर सकते हैं, या भाँति-भाँति के रोगों से वह ग्रसित हो सकता है; इस प्रकार के भय को दूर करने के लिए एक शान्ति व्यवस्थित थी (आज भी यह की जाती है) जिससे वह लम्बी आयु पा सके, सभी प्रकार की विपत्तियों से मुक्त रहे और उसे पूर्ण समृद्धि प्राप्त हो। इस शान्ति को **षष्टयब्दपूर्ति** या **उग्ररथशान्ति** कहा जाता है।

उग्ररथशान्ति के विषय में प्राचीनतम उल्लेख बौधायनगृह्यसूत्र (५।८) में पाया जाता है। इसका सम्पादन जन्म के मास एवं उसके नक्षत्र में होता है। जन्म के दिन पर जब व्यक्ति ६० वर्ष का हो जाता है, वह शुभ स्नान करता है, आह्निक कृत्य करता है, ब्राह्मणों को निमन्त्रित कर उनमें एक को, जो वेदज्ञ होता है, वेदांगों को जानता है और सुचरित्रवान् होता है, चुनता है। सर्वप्रथम गणेश-पूजा की जाती है, उसके उपरान्त पुण्याहवाचन होता है, मातृ-पूजा की जाती है और तब नान्दीश्राद्ध किया जाता है। व्यक्ति को सर्वोषधियाँ लानी होती हैं, पाँच वृक्षों की शाखाएँ एवं पत्तियाँ, पाँच रत्न, पंचगव्य एवं पंचामृत एकत्र करना होता है। इसके उपरान्त नवग्रह-पूजा की जाती है। एक या ½ या ¼ पल की मार्कण्डेय-प्रतिमा बनायी जाती है जिसे दो वसनों से आच्छादित जलपूर्ण पात्र में रखा जाता है, इसके उपरान्त १६ उपचार कर मार्कण्डेय को १००८ या १०८ या २८ या ८ इन्धनाहुतियाँ दी जाती हैं तथा पका हुआ चावल, घृत, दूर्वा एवं सुन्दर पात्र मन्त्रों के साथ दिये जाते हैं। इसके उपरान्त कृत्यकर्ता दूर्वा एवं १०००० या ५००० या ३००० या १००० तिलाहुतियों के साथ मृत्युंजय (शिव) के सम्मान में होम करता है; इसके उपरान्त वह पृथक् रूप से चिरंजीवी रूपों की पूजा करता है, यथा अश्वत्थामा, बलि, व्यास, हनुमान्, विभीषण, कृप एवं परशुराम की पूजा। इसके उपरान्त वह अपनी समर्थता के अनुसार भुने चने का होम करता है और

९. सावित्रान् शान्तिहोमांश्च कुर्यात्पर्वसु नित्यशः। मनु (४।१५०); पर्वसु शान्तिहोमं कुर्यात्। वि० ध० सू० (७१।८६)।

श्रीसूक्त, रुद्र, आयुष्यमन्त्रों, पुरुषसूक्त तथा विशेषतः पूर्व वेद का पाठ करता है। उसे होम समाप्त कर पूर्णाहुति देनी चाहिए। इसके उपरान्त यजमान (कृत्यकर्ता; जिसने ६० वर्ष पूरे कर लिये हों) पर पात्र से जल छिड़क जाता है, ऐसा ही उसकी पत्नी, सगे सम्बन्धियों के साथ भी किया जाता है। इसके उपरान्त शान्तिमन्त्र, पुरुष सूक्त, ऋ० (१०।१८।१) का मन्त्र, आयुष्य मन्त्र, पावमान मन्त्र, शिवसंकल्प के ६ मन्त्रों (वाज० सं० ३२।१-६) एवं महाशान्ति का जप किया जाता है। इसके उपरान्त ऋत्विक् को पात्र, अभिषेक से सिक्त वसन, बछड़े के साथ सजायी हुई गाय का दान किया जाता है। ब्राह्मणों को दस दान एवं एक सौ मानों का सोना दिया जाना चाहिए। यजमान को आज्यावेक्षण करना चाहिए और सभी जीवों (कौओं आदि) को बलि देनी चाहिए। इसके उपरान्त उसे ब्राह्मणों से आशीर्वाद ग्रहण करना चाहिए और नवीन वस्त्र धारण करना चाहिए। इसके उपरान्त उसे नीराजन करके देवों को नमस्कार करना चाहिए तथा एक सहस्र या सौ ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए और तब अपने सम्बन्धियों के साथ स्वयं भोजन करना चाहिए। जो कोई इस शान्ति को ग्रहशान्ति के लिए प्रतिपादित नियमों के अनुसार करता है वह निश्चित रूप से सौ वर्षों तक जीएगा, सभी अभाग्य दूर होंगे और सभी समृद्धि उसकी होगी।

इस शान्ति को 'उग्ररथ' क्यों कहा गया है, कहना कठिन है। एक अन्य शान्ति ७० वर्ष की पूर्णता या ७७ वें वर्ष के ७ वें मास की ७ वीं रात्रि को की जाती है, जिसे **भैमरथी-शान्ति** कहा जाता है (शब्दकल्पद्रुम)। बौ० गृ० शेषसूत्र (१।२४) में एक शान्ति का उल्लेख है जो सौ वर्षों या १००० अमावास्याओं की समाप्ति पर की जाती है।

शान्ति-सम्पादन के काल के विषय में सामान्य नियम यह है कि यह कभी भी अवसर पड़ने पर होता है यथा स्वप्न में देखे गये शकुनों से निर्देशित दुष्ट फलों के निवारण, ग्रहों के दुष्ट या बुरे फलों, उत्पातों आदि से सुरक्षा पाने आदि के लिए। इसके लिए सूर्य के उत्तरायण, शुक्ल पक्ष आदि के लिए बाट नहीं जोही जाती; शान्ति-सम्पादन दक्षिणायन एवं मलमास में भी हो सकता है (मलमासतत्त्व, पृ० ७९६; कृत्यकल्प०)। यदि शीघ्रता न हो तो यह सम्पादन किसी शुभ दिन, शुभ तिथि, नक्षत्र में हो सकता है, यथा तीन उत्तराओं, रोहिणी, श्रवण, धनिष्ठा, शततारका, पुनर्वसु, स्वाती, मघा, अश्विनी, हस्त, पुष्य, अनुराधा एवं रेवती में (धर्मसिन्धु, पृ० १७६)। लक्षहोम का सम्पादन शुभ-ग्रहों एवं नक्षत्रों में होना चाहिए (मत्स्य० ९३।८६)। कोटिहोम का सम्पादन चैत्र या कार्तिक में होना चाहिए (मत्स्य० २३९।२०-२१)।

अद्भुतों एवं उत्पातों के लिए **महाशान्ति** की व्यवस्था है। इसके विस्तार के विषय में विभिन्न ग्रन्थों में विभिन्न बातें हैं। देखिए अद्भुतसागर (पृ० ३४१), शान्तिमयूख (पृ० १०६-१०८) एवं कमलाकरकृत शान्तिरत्न। इसका सम्पादन रजस्वला होने पर (निर्णयसिन्धु, पृ० २३३), राज्याभिषेक, रण-यात्रा, दुःस्वप्नों, अशुभ निमित्तों आदि में (भविष्योत्तर,१४३।२-४६) होता है। जब अशुभ ग्रह हों; उल्कापात हो; केतु-दर्शन हो; अन्न... भूकम्प हो; मूल या गण्डान्त में जन्म हो; जुड़वाँ उत्पन्न हों; जब छत्र या अण्डे-पृथिवी पर गिर जायँ; जब कौआ, उल्लू या कबूतर गृह में प्रवेश कर जायँ; जब पाप (दुष्ट) ग्रह वक्र (विशेष जन्म-राशि या नक्षत्र में) हों; जब बृहस्पति, शनि, मंगल एवं सूर्य क्रम से प्रथम, चौथे, आठवें या बारहवें घर में हों; जब ग्रहयुद्ध हो; जब वसन, हथियार, घोड़े, गायें, रत्न एवं केश लुप्त हो जायँ; जब रात्रि में सामने इन्द्रधनुष दीख पड़े; जब घर की थूनी (स्तम्भ या स्थाणु) टूट जाय; जब खच्चरी को गर्भ रह जाय; जब ग्रहण हो तो महाशान्ति की जानी चाहिए। स्थान-संकोच से इसकी विधि (प्रयोग) का वर्णन यहाँ नहीं किया जायगा। विशेष वर्णन के लिए देखिए भविष्योत्तर० (१४३।२-४६)।

अद्भुतसागर नामक विशाल ग्रन्थ में मण्डलों, इन्द्रधनुषों, तूफानों (महावातों), दिग्दाहों, उल्कापातों, धूमकेतुओं, भूचालों, घनरहित वर्षा, रक्तवर्षा, मत्स्य-वर्षा आदि विरल प्राकृतिक घटनाओं का उल्लेख है, जिनमें कुछ के विषय में संक्षेप में यह है—बृहत्संहिता (३२।१२) में भूचाल के विषय में पहले के चार आचार्यों के मत प्रकाशित हैं: यह समुद्र में रहने वाले जीवों से उत्पन्न होता है (काश्यपमत); पृथिवी के भार को ढोने से थकित दिग्गजों की लम्बी श्वासों से इसकी उत्पत्ति होती है (गर्ग आदि का मत); आकाश में प्रचण्ड वायु के पारस्परिक घात-प्रतिघात एवं भूमि पर गिरने से भूचाल-स्वर होता है (वसिष्ठ आदि); यह अदृष्ट (पृथिवी के लोगों के पापों) से उत्पन्न होता है (वृद्धगर्ग आदि आचार्य)।[१०] देखिए बृ० सं० (३२।३-७, ३२।८-२२), अद्भुतसागर (पृ० ३८३-४०९), द्रोणपर्व (७७।४) एवं शैल्यपर्व (५६।१० एवं ५८।४९)।

यद्यपि वराहमिहिर के पहले से ग्रहणों के वास्तविक कारण ज्ञात थे, किन्तु सामान्य जन में शतियों तक (और आज भी) कुछ विचित्र विश्वास रहा है। वराह ने वृद्ध गर्ग एवं पराशर जैसे प्राचीन आचार्यों की आलोचना की है, क्योंकि उन्होंने ग्रहण का कारण बुध से युक्त पाँच ग्रहों का संयोग माना है और सूर्य के मण्डल एवं मन्द किरणों को निमित्त माना है।[११] हम ग्रहण की शान्ति के विषय में स्थानाभाव से यहाँ कुछ और नहीं लिखेंगे। देखिए नि० सि० (पृ० ६८)।

उल्कापातों में भी शान्ति की व्यवस्था थी। इनके विषय में कई प्रकार की धारणाएँ थीं। गर्ग के अनुसार उल्काएँ लोकपालों[१२] द्वारा फेंके गये क्षेपणास्त्र-शस्त्र हैं जो शुभ या अशुभ घटनाओं का निर्देश करते हैं। कुछ लोगों के मत से ये वास्तव में वे महात्मा हैं जो स्वर्ग में अपने अच्छे कर्मों को भोगकर पृथिवी पर पुनः जन्म लेने को आते हैं।[१३] ये भयंकर अवसरों पर भी गिरती हैं, यथा शल्यपर्व (५८।५०-५१) में व्यक्त है कि भीम से गदायुद्ध करते समय जब दुर्योधन गिरा तो जलती हुई उल्का भयंकर स्वर एवं प्रचण्ड वात के साथ पृथिवी पर गिरी। और देखिए द्रोणपर्व (७।३८-३९), मत्स्य० (१६३।४३) एवं अद्भुतसागर (पृ० ३४२)। उल्कापातों में **अमृता महाशान्ति** करने की व्यवस्था है।

कुछ प्राकृतिक रूप, जो कुछ कालों में उत्पात कहे जाते हैं, अन्य अवसरों पर वैसे नहीं समझे जाते। बृ० सं० (४५।८२) में आया है: मधु एवं माधव (चैत्र एवं वैशाख) में निम्नोक्त शुभ हैं—विद्युत्, उल्कापात, भूचाल,

१०. ब्रह्मपुराण (२१।२३-२४) में भूचाल का एक भिन्न कारण बताया गया है: 'यदा विजृम्भतेऽनन्तो मदाघूर्णितलोचनः। तदा चलति भूरेषा साद्रितोयाधिकानना॥'

११. न कथंचिदपि निमित्तैर्ग्रहणं विज्ञायते निमित्तानि। अन्यस्मिन्नपि काले भवन्त्यथोत्पातरूपाणि॥ पंचग्रहसंयोगान्न किल ग्रहणस्य सम्भवो भवति। तैलं च जलेऽष्टम्यां न विचिन्त्यमिदं विपश्चिद्भिः॥ बृ० सं० (५। १६-१७)।

१२. लोकपाल चार दिशाओं एवं चार मध्य दिशाओं के स्वामी या रक्षक हैं जो पूर्व से आरम्भित हो क्रम से यों हैं: इन्द्र, अग्नि, यम (दक्षिण के), सूर्य, वरुण (पश्चिम के), वायु, कुबेर (उत्तर) एवं सोम। कुछ ग्रन्थ सूर्य के स्थान पर निर्ऋति को रखते हैं। मनु (५।९६)।

१३. उल्कास्वरूपमाह गर्गः। अस्त्राणि विसृजन्त्येते शुभाशुभनिवेदकाः। लोकपाला महात्मानो लोकानां ज्वलितानि तु॥ उत्पल (बृ० सं० ३३।१) एवं अ० सा० (पृ० ३२१): दिवि भुक्तशुभफलानां पततां रूपाणि यानि तान्युल्काः। बृ० सं० (३३।१)।

दीप्तिमान् सन्ध्या, महाध्वनि वाला तूफान (महावात), सूर्य एवं चन्द्र के मण्डल, आकाश में धूलि, वन में धूम, रक्तिम सूर्योदय एवं सूर्यास्त, वृक्षों से भोजन एवं रसों की प्राप्ति की सम्भावना, तैलयुक्त पदार्थ, कतिपय पुष्प एवं फल, गायों एवं पक्षियों में काम-सम्बन्धी क्रियाएँ। निम्नोक्त ग्रीष्म (ज्येष्ठ एवं आषाढ़) में शुभ हैं : नक्षत्रों एवं उल्काओं के पात से गगन का धूमिल हो जाना, या जिसमें सूर्य एवं चन्द्र तिमिराच्छन्न हो जायँ, जो बिना अग्नि के भयंकर अग्निज्वाला से परिपूर्ण लगे, महास्वन, धूम, धूलि एवं प्रचण्ड वात, जिसमें सन्ध्या लाल कमल-सी दीख पड़े और जो अन्धड़युक्त समुद्र-सा प्रतीत हो और जब नदियाँ शुष्क हो जायँ। वर्षा (श्रावण एवं भाद्रपद) में निम्नोचित भयंकर नहीं हैं : इन्द्रधनुष, मण्डल, बिजली, शुष्क वृक्षों से अंकुर निकलना, पृथिवी का हिलना, चक्कर लगाना या असाधारण रूप धारण करना, पृथिवी में स्वन होना या उसमें महाछिद्र बन जाना या झीलों एवं नदियों में बहुत पानी हो जाना, अर्थात् बाढ़ का दृश्य उपस्थित हो जाना, कूपों का लबालब भर जाना, पर्वतों पर से घरों का लुढ़कना। शरद् (आश्विन एवं कार्तिक) में निम्न बुरे नहीं हैं : दिव्य नारियों (अप्सराओं), प्रेतों, गन्धर्वों, विमानों एवं अन्य अद्‌भुतों के दर्शन, गगन में दिन में भी ग्रहों, नक्षत्रों एवं अन्य तारों का दिखाई पड़ जाना, वनों, पर्वतों पर संगीत एवं गान का सुनाई पड़ जाना, अनाज के पौधों की अधिकता एवं जलाभाव। हेमन्त (मार्गशीर्ष एवं पौष) में निम्न शुभ हैं : ठण्डी वायु एवं तुषारपात, पशु-पक्षियों की ऊँची बोलियाँ, राक्षसों, यक्षों तथा अन्य अदृश्य जीवों का प्रकट हो जाना; अमानुषी स्वर, आकाश एवं दिशाओं का तिमिराच्छन्न हो जाना, वनों एवं पर्वतों का धूमिल हो जाना, सूर्योदय एवं सूर्यास्त का ऊँचाई पर हो जाना। शिशिर (माघ एवं फाल्गुन) में निम्न दर्शन शुभ हैं : बर्फ गिरना, तीखी हवाएँ, भयंकर जीवों एवं अद्‌भुतों का प्रकटीकरण, नक्षत्रों एवं उल्काओं के पात से गगन का अंजन-सदृश एवं लोहित-पीत हो जाना, नारियों, गायों, भेड़ों, खच्चरों, पशु-पक्षियों में असामान्य शिशु-उत्पत्तियाँ, पत्तियों, अंकुरों एवं लताओं का विचित्र रूप धारण कर लेना। उपर्युक्त बातें जब अपनी ऋतुओं में घटती हैं तो शुभ होती हैं, किन्तु अन्य कालों में घटने पर वे भयंकर उत्पात एवं अद्‌भुत की द्योतक होती हैं।

महाभारत, कौशिकसूत्र (कण्डिका १०५), मत्स्य० (२४३), विष्णुधर्मोत्तर, बृहत्संहिता, अद्‌भुतसागर (पृ० ४२५-४३६), हेमाद्रि (व्रत, खण्ड २, पृ० १०७८-१०७९) एवं मदनरत्न (शान्ति) में एक विचित्र घटना का उल्लेख है और वह है देवों की प्रतिमाओं का कम्पन, नृत्य, हास, रुदन। भीष्मपर्व (११२।११) में कौरवों के मन्दिरों की मूर्तियों के सम्बन्ध में ऐसा उल्लेख है।[१४] और देखिए मत्स्य० (१६३।४५-४६, पद्म० ५।४२।१३७-१३८) जहाँ हिरण्यकशिपु-नृसिंह युद्ध के समय की देव-प्रतिमाओं की अस्तव्यस्तता का वर्णन है।[१५] आथर्वण-परिशिष्ट (५२) में यह वर्णन गद्य में हुआ है। इन विचित्र लीलाओं से अनावृष्टि, अस्त्र-भय, दुर्भिक्षा महामारी, राजा एवं मन्त्रियों के नाश की सम्भावनाएँ होती हैं। इसके लिए शान्ति की व्यवस्था है, जिसकी चर्चा यहाँ नहीं होगी।

मानव-जन्म से सम्बन्धित शान्तियाँ कई हैं जो विभिन्न प्रकारों, रूपों एवं दशाओं में हुए जन्मों पर आधारित हैं, यथा मूल, आश्लेषा, ज्येष्ठा नक्षत्र, गण्डान्त आदि में हुए जन्मों, कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी या अमावस्या, व्यतीपात

१४. अथ यत्रैतद्दैवतानि नृत्यन्ति च्योतन्ति हसन्ति गायन्ति वान्यानि वा रूपाणि कुर्वन्ति य आसुरा मनुष्या मा नो विदन्नमो देववधेभ्य इत्यभयैर्जुहुयात्। सा तत्र प्रायश्चित्तिः। कौशिकसूत्र (१०५)।

१५. देवायतनस्थाश्च कौरवेन्द्रस्य देवताः। कम्पन्ते च हसन्ते च नृत्यन्ति च रुदन्ति च।। भीष्मपर्व (११२।११)। उन्मीलन्ति निमीलन्ति हसन्ति च रुदन्ति च। विक्रोशन्ति च गम्भीरा धूमयन्ति ज्वलन्ति च। प्रतिमाः सर्वदेवानां वेदयन्ति महद्भयम्।। मत्स्य० (१६३।४५-४६, पद्म० ५।४२।१३७-१३८)।

योग या वैधृति या ग्रहण पर, या जुड़वाँ जन्मों, या तीन पुत्रों के उपरान्त कन्या के जन्म या तीन कन्याओं के उपरान्त पुत्र के जन्म पर की जाने वाली शान्तियाँ। इनमें कुछ आज भी सम्पादित होती हैं। मूल नक्षत्र का जन्म वही फल देता है जो ज्येष्ठा एवं आश्लेषा वाला देता है। स्थानाभाव से हम इन शान्तियों का उल्लेख नहीं कर सकेंगे।

कौशिकसूत्र (कण्डिका ११० एवं १११), बृ० सं० (४५।५१-५४) एवं अद्भुतसागर (पृ० ५५९-५६९) में स्त्रियों, गौओं, घोड़ियों, गदहियों आदि के प्रसव के विषय में प्रभूत वर्णन मिलता है। कुछ बातें यहाँ दी जा रही हैं। वराह का कथन है: 'जब स्त्री एक ही समय में दो या तीन या चार या अधिक बच्चे जनती है या अद्भुत रूप वाला बच्चा (राक्षस या राकस) उत्पन्न करती है, या जब समय से बहुत पहले ही बच्चे उत्पन्न हो जाते हैं तब देश या कुल का नाश हो जाता है' (४५।५२)। और देखिए मत्स्य० (२३५।१-३) एवं विष्णुधर्मोत्तर (२।१४०।१-३)। इसी प्रकार सर्वप्रथम अद्भुत रूप वाले बच्चों के जन्म, वेदज्ञों की पत्नियों द्वारा मोर, गृद्ध आदि के जन्म, घोड़ियों द्वारा बछड़े एवं शृगालिन द्वारा कुत्ते के जन्म, चार या पाँच कन्याओं के जन्म के विषय में भीष्म० (३।२-७) में उल्लेख है। बृ० सं० (४५।५३-५४) में आया है: यदि वडवा (घोड़ी), ऊँटिन, भैंस, गोहस्ती को जुड़वाँ बच्चे उत्पन्न हो जाते हैं तो वे मर जाते हैं। ऐसे जन्मों का प्रभाव ६ मासों तक रहता है। गर्ग ने इसके लिए दो श्लोकों की शान्ति की व्यवस्था दी है। जो व्यक्ति अपना भला चाहता है उसे जुड़वाँ या राक्षस उत्पन्न करने वाली स्त्रियों को दूसरे देश में भेज देना चाहिए, उसे ब्राह्मणों को उनकी इच्छा के अनुकूल दान देना चाहिए और शान्ति-सम्पादन करना चाहिए। विचित्र जन्म देने वाले पशुओं को उनके झुण्डों से पृथक् कर अन्य देशों में त्याग देना चाहिए, नहीं तो नगर, स्वामी एवं यूथ (पशु-समूह) का नाश हो जायगा।

भविष्य को जानने के कई ढंग होते हैं, यथा (१) ग्रहों एवं नक्षत्रों की स्थिति, (२) व्यक्तियों की जन्म-पत्रिकाएँ, (३) खंजन एवं कौओं आदि की उड़ान एवं बोलियाँ, (४) प्राकृतिक घटनाएँ (ग्रहण, उल्काएँ आदि), (५) स्वप्न, (६) अचानक सुने गये स्वन, (७) मनुष्यों, पशुओं आदि की दैहिक एवं मानसिक दशाएँ। प्रथम चार के वर्णन हो चुके हैं। अब हम स्वप्नों का विवरण उपस्थित करेंगे।

यह हमने बहुत पहले ही देख लिया है कि वैदिक साहित्य में स्वप्नों का सम्बन्ध भाग्य या अभाग्य से लगाया गया है। रामायण-महाभारत, आथर्वण-परिशिष्ट (स्वप्नाध्याय, ६८, पृ० ४३८-४४९), बृहद्योगयात्रा (१६।१-३१), पुराणों (वायु १९।१३-१८; मत्स्य २४२; विष्णुधर्मोत्तर २।१७६; भविष्य १।१९४; ब्रह्मवैवर्त, गणेश-खण्ड ३४। १०-४० आदि) में अच्छे-बुरे स्वप्नों का उल्लेख है। अग्निपुराण (२२९, जिसके बहुत से श्लोक मत्स्य० २४२; भोजकृत भुजबल०, पृ० २९८-३०४ में पाये जाते हैं) एवं अद्भुतसागर (पृ० ४९३-५१५) में विस्तार के साथ स्वप्नों एवं उनकी शान्तियों का उल्लेख है। शंकराचार्य ने वेदान्तसूत्र (३।२।४) की टीका में कहा है कि स्वप्नाध्याय के पाठक यह घोषित करते हैं कि हाथी आदि पर चढ़े हुए अपने को देखना शुभ है तथा गदहों से खींचे जाते हुए वाहन पर अपने को बैठा देखना अशुभ है। ऐसा प्रकट होता है कि अंगिरा जैसे प्राचीन लेखकों में विरले लोग ही ऐसा कहते हैं—'ग्रहों की गतियाँ, स्वप्न, निमित्त (आँख फड़कना आदि), उत्पात संयोग से ही कुछ फल उत्पन्न करते हैं; समझदार लोग उनसे भीत नहीं होते।'[१६] बहुत-से अवसरों पर रामायण में कतिपय स्वप्नों का उल्लेख हुआ

१६. गीतश्चायमर्थोऽङ्गिरसा। ग्रहाणां चरितं स्वप्ननिमित्तौत्पातिकं तथा। फलन्ति काकतालीयं तेभ्यः प्राज्ञा न बिभ्यति॥ वेणीसंहार (२।१५)।

है। कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं। त्रिजटा राक्षसी ने अपने बहुत-से स्वप्नों का वर्णन किया है जिनसे राक्षसों के नाश एवं राम के लिए शुभ का संकेत मिलता है (सुन्दरकांड, २७।२३)। दुःस्वप्न ऐसे थे : रावण का सिर घुटा हुआ है; उसने उस तेल को पी लिया, जिससे वह नहाया हुआ था; वह लाल वसन पहने था; मदोन्मत्त था; करवीर पुष्पों की माला पहने था; पुष्पक विमान से पृथिवी पर गिर पड़ा; वह गदहों द्वारा खींचे जाते हुए रथ में बैठा था आदि-आदि (१९-२७)। और देखिए वन० (२८०।६४-६६), अयोध्या० (६९।८), मौसलपर्व (३।१-४)।

पुराणों, पराशर, वराह के ग्रन्थों आदि के आधार पर अद्भुतसागर के शुभ एवं अशुभ स्वप्नों का उल्लेख इतना विशाल है कि उन सबका वर्णन यहाँ सम्भव नहीं है। देखिए मत्स्य० (२४२।२-१४), बृहद्योगयात्रा (अ० सागर, पृ० ४९४)। मत्स्य० (२४२।२१-३५) में शुभ स्वप्नों का उल्लेख है। भद्रबाहु के जैन कल्पसूत्र में १४ अति शुभ स्वप्नों की चर्चा है, यथा हाथी, बैल, सिंह, श्री देवी का लेप, माला, चन्द्र, सूर्य, झण्डा, पात्र, कमल की बावली, समुद्र, दैवी स्थान (निवास), रत्नों की राशि, ज्वाला। और देखिए मत्स्य० (३४३।२-१२), योगयात्रा (१३।४), ज्योतिस्तत्त्व (पृ० ७२९-७३०), वसन्तराजशाकुन (५।२-६)।

भारत में अपेक्षाकृत उच्च विचार यह था कि स्वप्न भविष्य की शुभाशुभ घटनाओं के संकेत मात्र हैं (वेदान्तसूत्र ३।२।४, शंकराचार्य की उस पर टीका)। किन्तु कुछ लोगों ने बुरे स्वप्नों से उत्पन्न फलों को दूर करने की व्यवस्था भी दी है (मुजबल०, पृ० ३०४)।

आथर्वण-परिशिष्ट (६८, पृ० ४३८-४४९) ने कहा है कि विभिन्न व्यक्ति अपनी प्रकृतियों के आधार पर स्वप्न देखते हैं, यथा पित्त, वात एवं कफ की प्रकृति के अनुसार स्वप्न उठते हैं। उसमें वराह के समान ही शान्ति की व्यवस्था है।

धर्मसिन्धु (पृ० ३५९-३६०) में शुभाशुभ स्वप्नों का उल्लेख है और अशुभ स्वप्नों के प्रतिफलों के निवारण के उपाय भी बताये गये हैं, यथा ऋ० (२।२८।१०) एवं तै० सं० (४।१४-१२३) के मन्त्रों के साथ सूर्य की पूजा, या अमावास्या को श्राद्ध करना, या चण्डी के सम्मान में सप्तशती या विष्णु-सहस्रनाम आदि का पाठ।

सभी प्राचीन देशों एवं लोगों में स्वप्नों के विषय में विश्वास रहा है और उनके विश्लेषण के विषय में उत्सुकता पायी गयी है। बेबिलोन एवं असीरिया के दरबारों में चाल्डिया के ज्योतिषियों एवं स्वप्न-विश्लेषकों को बड़े आदर के साथ रखा जाता था। डैनिएल (अध्याय २) में उल्लिखित है कि बेबिलोन का राजा नेबुचद्नन्देज्जार चाल्डियावासियों को न केवल स्वप्न-विश्लेषण के लिए कहता था, प्रत्युत इस बात के लिए उन्हें उद्वेलित करता था कि वे उन स्वप्नों को भी बतायें एवं उनका विश्लेषण करें जिन्हें वह भूल गया है, नहीं तो उन्हें मृत्युदण्ड दिया जायगा। यूनान के सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक प्लेटो ने स्वप्नों को महत्त्वपूर्ण दैहिक एवं मानसिक लक्षण माना है, उसने कुछ स्वप्नों को अलौकिक आधार भी दिया है और अपनी पुस्तक टाइमियस (अध्याय ४६ एवं ४७) में व्याख्या की है कि स्वप्न ऐसे भावी दृश्य हैं जिन्हें निम्न श्रेणी की आत्माएँ ग्रहण करती हैं। जे० आर० ए० एस० (जिल्द १६, पृ० ११८-१७१) में एन० ब्लैण्ड ने मुसलमानों के ताबिर-विज्ञान या स्वप्न-विश्लेषण के विषय में एक लम्बा लेख लिखा है। नौशेरवाँ (५३१-५७९ ई०) के एक स्वप्न का मनोरम वर्णन मिलता है। नौशेरवाँ ने स्वप्न में देखा कि वह स्वर्णपात्र से शराब पी रहा है, और उसी पात्र में एक काले कुत्ते ने मुंह डालकर शराब पी ली। उसने अपने मन्त्री बुजुरमिहर से इसका अर्थ जानना चाहा। मन्त्री ने बताया कि इससे प्रकट होता है कि उसकी प्रिय रानी के पास कोई काला दास है जो उसका प्रेमी है। मन्त्री ने कहा कि राजा के समक्ष अन्तःपुर की नारियों को नग्न होकर नाचना चाहिए। उन नारियों में एक ने आनाकानी की और पता चला कि वह एक काली दासी थी। इस प्रकार वजीर (मन्त्री) की व्याख्या सच निकली। वजीर के नाम में 'वराहमिहिर' नाम की ध्वनि निकलती है और ऐसा सोचना

विचित्र-सा नहीं लगेगा कि सम्भवतः प्राचीन काल का प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर नौशेरवाँ के दरबार में उच्च पद पर आसीन था, क्योंकि उसी काल में वह हुआ था।

आधुनिक काल में बहुत-से पढ़े-लिखे लोग स्वप्नों में कोई विश्वास नहीं रखते; कुछ लोग उनको आगामी घटनाओं का अमोघ लक्षण मानते हैं, किन्तु तीसरी श्रेणी में वे लोग आते हैं जो स्वप्न-विश्लेषकों के तर्कों को सुन लेने को तो तैयार हैं, किन्तु स्वप्न के महत्त्व को स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। देखिए कैथरिन टेलर क्रैग की पुस्तक 'फैब्रिक आव ड्रीम्स', फ्रायड कृत 'इण्टरप्रीटेशंस आव ड्रीम्स' एवं डब्लू० एच० डब्लू० सैबाइन कृत 'सेकण्ड साइट इन डेली लाइफ।' इन ग्रन्थों के विवेचन की यहाँ आवश्यकता नहीं है।

अब हम कुछ अन्य मनोरंजक शान्तियों का उल्लेख करेंगे। जब कोई प्रपौत्र (पुत्र के पुत्र का पुत्र) जन्म लेता है तो प्रपितामह को उसका मुख देखने के लिए शान्ति करनी होती है।[17] इसमें संकल्प होता है।[18] व्यक्ति को गणेश पूजन से आरम्भ कर मातृ-पूजन के कृत्यों को करके जलपूर्ण पात्र की प्रतिष्ठा करनी होती है, फिर उसमें वरुण की पूजा की जाती है और ढोलक की ध्वनि के साथ नीराजन[19] कृत्य करना होता है; तदुपरान्त कम्बल से युक्त उदुम्बर के पीढ़े पर बैठकर ब्राह्मणों से प्रार्थना की जाती है कि वे उसके शरीर पर जल छिड़कें। ब्राह्मण वैसा करते हैं और वरुण का मन्त्र एवं गंगा का मन्त्र कहते हैं। अभिषेक के उपरान्त कृत्यकर्ता नवीन वस्त्र धारण कर गंगापूजन करता है। पीतल के पात्र में तरल घी रखा जाता है, कृत्यकर्ता उसमें सर्वप्रथम अपनी परिछाईं देखता है और फिर सोने के पात्र में रखे दीपक के प्रकाश में वह अपने प्रपौत्र का मुख देखता है। इसके उपरान्त वह सोने के एक सौ फूलों के साथ प्रपौत्र पर जल-बिन्दु छिड़कता है। फिर अभिषेक वाले पात्र से जल लेकर वह प्रपौत्र पर जल छिड़कता है। इसके उपरान्त वह समाप्ति पर एक गाय दान करता है और यथाशक्ति ब्रह्मभोज करता है। तब वह विष्णु-प्रतिमा का पूजन करता है और उसे पायस देता है और प्रार्थना मन्त्र का पाठ करता है। इसके उपरान्त वह विष्णु-प्रतिमा का दान करता है और उस घी को भी, जिसमें उसने अपना मुख देखा है, ब्राह्मणों को दे देता है।

उदकशान्ति एक अन्य शान्ति है जो आज भी बहुधा की जाती है। इसका सम्पादन बहुत-सी घटनाओं के प्रभाव के निवारण, स्वास्थ्य-लाभ, पित्त, वात एवं कफ से उत्पन्न रोगों को दूर करने आदि के लिए होता है। आजकल इस शान्ति का बहुत विस्तार किया जाता है। इसके विषय में देखिए **बौधायनगृह्यशेषसूत्र** (१।१४)। इसके विषय में हम स्थान-संकोच से यहाँ नहीं लिख रहे हैं।

धर्मसिन्धु ने एक शान्ति का उल्लेख किया है जो किसी के पुनर्जीवित हो जाने पर की जाती है। यदि किसी को मृत समझ कर लोग श्मशान ले जाते हैं और वह जीवित हो जाता है तो इस शान्ति की व्यवस्था होती

१७. प्रपौत्र की महत्ता के लिए देखिए श्लोक 'पुत्रेण लोकाञ् जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते। अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम्॥ मनु (९।१३७), वसिष्ठ (१७।५), विष्णुधर्मसूत्र (१५।४६)।

१८. मम ब्रह्मलोकावाप्ति-सर्वतीर्थयात्रा-सकलदानजन्यपुण्यजातावाप्तिद्वारा श्रीपरमेश्वरप्रीत्यर्थं प्रपौत्रमुख-दर्शनं करिष्ये। तदंगं गणेशपूजनं स्वस्तिपुण्याहवाचनं मातृकापूजनं नान्दीश्राद्धं च करिष्ये इति संकल्प्य।

१९. 'नीराजन' में मनुष्यों एवं अश्वों के समक्ष दीपों का घुमाना या आरती करना होता है। बृ० सं० (४३।२) में नीराजन एक शान्ति भी है : 'द्वादश्यामष्टम्यां कार्तिकशुक्लस्य पंचदश्यां वा। आश्वयुजे वा कुर्यान्नी-राजनसंज्ञितां शान्तिम्॥'

है। जिस व्यक्ति के घर में ऐसा व्यक्ति प्रवेश करता है वह मर जाता है, ऐसा विश्वास है। अतः एक होम किया जाता है, जिसमें १००८ उदुम्बर-समिधाओं को दूध एवं घी में मिला कर अग्नि में डाला जाता है और गायत्री मन्त्र (ऋ० ३।६२।१०) का पाठ किया जाता है। होम के अन्त में किसी ब्राह्मण को एक कपिला गाय और तिलपूर्ण पीतल का पात्र दिया जाता है। पात्र यथाशक्ति ८१ पलों या ४०½ या २०¼ या ९ या ६ या कम-से-कम ३ पलों के वजन का होना चाहिए।

कुछ ग्रन्थों में भाद्रपद मास में गाय, माघ में भैंस या दिन में घोड़ी के बच्चा देने पर शान्ति की व्यवस्था दी हुई है। घी एवं तिल की १०८ आहुतियाँ दी जाती हैं तथा अस्यवामीय (ऋ० १।१६४) एवं 'तद्विष्णोः' (ऋ० १।२२।२०) के मन्त्रों का पाठ होता है। ऐसा विश्वास रहा है कि यदि भैंस माघ मास में बुधवार को या घोड़ी श्रावण मास में दिन में या गाय जब सूर्य सिंह राशि में हो, बियाए (बच्चा जने) तो स्वामी की मृत्यु ६ महीनों में कभी हो जाती है। देखिए शान्तिकमलाकर, अद्भुतसागर (पृ० ५६८)।

आधुनिक काल में किसी नये गृह में प्रवेश के एक दिन पूर्व या उसी दिन **वास्तुशान्ति** या वास्तु-शमन (मत्स्य० २६८।३) नामक शान्ति की जाती है। इस विषय में हमने इस महाग्रन्थ के खण्ड २ में पढ़ लिया है। पश्चात्कालीन निबन्धों में इसका विशद वर्णन है।

गृह में रहने वाली छिपकली (पल्ली, पल्लिका, कुड्यमत्स्य या गृहगोधिका) की ध्वनियों, गतियों (चालों) या शरीर के विभिन्न भागों पर इसके गिरने से सम्बन्धित अग्र सूचनाओं के विषय में शान्ति-व्यवस्था है। देखिए वसन्तराज-शाकुन (अध्याय २७), अद्भुतसागर (पृ० ६६६-६६८), ज्योतिस्तत्त्व (पृ० ७०६-७०७), शान्तिरत्न या शान्ति-कमलाकर, धर्मसिन्धु (पृ० ३४७-३४८)। अन्तिम दो ग्रन्थों से कुछ बातें यहाँ दी जा रही हैं। यदि छिपकली पुरुष के दाहिने अंग में, सिर पर (ठुड्डी को छोड़कर), छाती, नाभि या पेट पर गिरे तो शुभ होता है, किन्तु ऐसा ही स्त्रियों के वाम अंग पर गिरने से शुभ माना जाता है। यही बात गिरगिट के चढ़ने पर भी होती है। यदि छिपकली और गिरगिट अंग पर गिरे तथा अंग पर दौड़ जाय तो व्यक्ति को वस्त्रसहित स्नान कर लेना चाहिए और अशुभ को दूर करने तथा शुभ की वृद्धि के लिए शान्ति करनी चाहिए। यदि घर वाली छिपकली या गिरगिट से स्पर्श हो जाय तो स्नान कर लेना चाहिए, पंचगव्य पीना चाहिए, घृत में मुख देखना चाहिए, छिपकली या गिरगिट की स्वर्ण-प्रतिमा को लाल वस्त्र में लपेट कर उसको सम्मान गन्ध, पुष्प से देना चाहिए, जलपूर्ण पात्र में रुद्र की पूजा करनी चाहिए, अग्नि में मृत्युंजय मन्त्र के साथ १०८ खदिर-समिधाएँ डालनी चाहिए, व्याहृतियों के साथ अग्नि में तिल की १००८ या १०८ आहुतियाँ देनी चाहिए और स्विष्टकृत् से लेकर अभिषेक तक का कृत्य करके सोना, वसन एवं तिल का दान करना चाहिए।

योगयात्रा (७।१-१२) एवं हेमाद्रि (व्रत, २, पृ० ८९४-८९७) ने अश्विनी से रेवती तक के नक्षत्रों एवं उनके देवताओं की पूजा एवं धार्मिक स्नानों का तथा तज्जनित कतिपय लाभों का उल्लेख किया है। आथर्वण-परिशिष्ट (१, नक्षत्रकल्प, भाग ३७-५०) में कृत्तिका से भरणी तक के नक्षत्रों में स्नान का विधान पाया जाता है। किन्तु बृहत्संहिता (४७।१-८७), आथर्वण-परिशिष्ट (५, पृ० ६६-६८), विष्णुधर्मोत्तर (२।१०३), योगयात्रा (७।१३-२१), कालिकापुराण (अध्याय ८९) एवं हेमाद्रि (व्रत, भाग २, पृ० ६००-६२८) में पुष्य-स्नान या **पुष्याभिषेक** नामक शान्ति का वर्णन है। ऐसा कहा गया है कि बृहस्पति ने इन्द्र के लिए यह शान्ति की, तब वृद्ध गर्ग ने इसे प्राप्त किया और उन्होंने इसका ज्ञान मागुरि को दिया। अधिकांश ग्रन्थों ने इसे राजा तक ही सीमित रखा है, क्योंकि राजा मूल होता है और प्रजा वृक्ष, मूल के आघात से वृक्ष प्रभावित होता है। अतः

राजा के कल्याण की चिन्ता की जाती है (जिससे प्रजा स्वतः सुखी हो जाय)। स्थानाभाव से इसका उल्लेख नहीं किया जायगा।

बृहद्योगयात्रा (१३।१-१०), मत्स्य० (२४१।१-१४), वसन्तराज (६।४।१-१४, पृ० ८७-९२) में **स्पन्दन** या **स्फुरण** से सम्बन्धित अग्रसूचकों के विषय में विशद उल्लेख है। तीनों ग्रन्थों में समान बातें पायी जाती हैं। वसन्तराज अन्य दोनों ग्रन्थों पर आधारित है, इसमें सन्देह नहीं है। वराहमिहिर मत्स्य० पर आधारित है कि मत्स्य० वराहमिहिर पर, कहना कठिन है; यह भी सम्भव है कि दोनों किसी अन्य ग्रन्थ पर आधारित हैं। हो सकता है कि वराहमिहिर ने मत्स्य० से उधार लिया हो। पुरुष के दाहिने अंगों का स्फुरण (स्पन्दन) शुभ एवं बायें का अशुभ होता है। यही बात नारियों में उलटी है। सिर से लेकर पाँव तक के अंगों के स्पन्दनों के फलों का वर्णन बहुत स्थान ग्रहण कर लेगा। केवल दो-एक उदाहरण यहाँ पर्याप्त होंगे। ललाट के स्फुरण से पृथिवी लाभ होता है; मस्तक से प्राप्त धन की वृद्धि होती है; भ्रूनस (भौंह और नाक के मध्य स्थल) से प्रियसंगम होता है; आँख-स्थल से मृत्यु होती है; आँख के पास से धनागम होता है; बाहुओं से मित्र-स्नेह मिलता है; हाथ से धनागम होता है; पीठ से पराजय मिलती है; छाती से सफलता प्राप्त होती है और पैर के ऊपरी भाग से उत्तम स्थान की प्राप्ति होती है; पादतल से धन लाभ के साथ यात्रा होती है। मत्स्य० (२४१।१४) में आया है कि अशुभ लक्षणयुक्त स्पन्दनों में ब्राह्मणों को सुवर्ण दान से प्रसन्न करना चाहिए।

अति प्राचीन काल से अंगों का प्रस्फुरण (विशेषतः हाथ एवं आँख का) भावी शुभ एवं अशुभ घटनाओं का सूचक माना जाता रहा है। मनु ने उत्पातों या निमित्तों, नक्षत्रों या अंगविद्या से अग्रसूचनाओं की घोषणा करके भिक्षा माँगना संन्यासियों (परिव्राजकों) के लिए वर्जित ठहराया है (मनुस्मृति ६।५०)। कालिदास ने नायक के बाहु के फड़कने एवं शकुन्तला की दाहिनी आँख के फड़कने से उत्तम भाग्य की घोषणा की है।[२०] शेक्सपियर ने अपने नाटक 'ओथेलो' में डेसडेमोना से कहलवाया है कि उसकी आँखों की खुजली से अशुभ लक्षण प्रतीत होता है। बृहद्योगयात्रा (१३।१०), बृ० सं० (५१।१०) एवं वसन्तराज ने घोषित किया है कि तिलों, घावों, चिह्नों एवं मस्सों (शरीर के) के स्फुरणों से वैसे ही फल प्राप्त होते हैं जो उनके स्थान वाले शरीरांगों से उत्पन्न माने जाते हैं।[२१]

बृहत्संहिता (९३।१-१४), बृहद्योगयात्रा (२१।१-२१) एवं योगयात्रा (१०।१-७५) में रणयात्रा के अवसर पर हाथियों के दाँतों की व्यवस्था, दाँतों के कट जाने पर उनके चिह्नों, हाथियों के थक जाने के स्वरूप एवं उनकी गतियों के आधार पर अग्र सूचनाओं के विषय में सविस्तार उल्लेख मिलता है। किन्तु इस विषय में किसी शान्ति की चर्चा नहीं है, अतः हम यहाँ कुछ विशेष नहीं लिखेंगे। अग्निपुराण (२९१।१-२४), विष्णुधर्मोत्तर

२०. देखिए मनु (६।५०) : न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्रांगविद्यया। नानुशासनवादाभ्यां भिक्षां लिप्सेत कर्हिचित्॥ टीकाकारों ने अंगविद्या के कई अर्थ किये हैं। सम्भवतः यह सामुद्रिक है। मुनि पुण्यविजय ने अंगविज्जा नामक एक प्राकृत ग्रन्थ का प्रकाशन किया है, जिसमें निमित्तों के आठ प्रकार कहे गये हैं : अंग, स्वप्न, लक्षण, व्यंजन, स्वप्न, चिह्न, भौम एवं आन्तरिक्ष। और देखिए शाकुन्तल, अंक ५, श्लोक ११ एवं अंक ७, श्लोक १३।

२१. इति पिटकविभागः प्रोक्त आ मूर्धतोयं व्रणतिलकविभागोप्येवमेव प्रकल्प्यः। भवति मशकलक्ष्मावर्तजन्मापि तद्वन्निगदितफलकारि प्राणिनां देहसंस्थम्॥ बृहत्संहिता (५१।१०); मशकं तिलकं पिटकं वापि व्रणमथ चिह्नं किमपि कदापि। स्फुरति पदान्यधितिष्ठति यावत्स्यात् पूर्वोक्तं फलमपि तावत्॥ वसन्तराज० (६।४।११, पृ० ९१)।

(२।५०।१-९३), बौधा० गृ० सू० (१।२०) एवं हेमाद्रि (व्रत, जिल्द २, पृ० १०३६-१०५१) ने हाथियों के रोगों के निवारण के लिए शान्तियों की व्यवस्था दी है, अतः बौधा० गृ० सू० से **गजशान्ति** का वर्णन उपस्थित किया जा रहा है जो सम्भवतः सबसे प्राचीन और सरल है---

"किसी मास के शुक्ल पक्ष की अष्टमी या चतुर्दशी तिथि को या श्रवण नक्षत्र में स्वामी को चाहिए कि वह ब्राह्मणों को भोजन दे और उनसे घोषित कराये 'यह शुभ दिन है, कल्याण हो, समृद्धि हो।' वह सर्वप्रथम तिल एवं चावल की हवि तैयार करे, गायत्री मन्त्र (ऋ० ३।६२।१०) का पाठ करके जल लाये, दो घड़ों का मुख नये वस्त्र से गायत्री मन्त्र के साथ ढँक दे और उनके ऊपर नारियल या कोई फल रख दे तथा पका चावल पश्चिम दिशा में रखे और दोनों घड़ों को पाँच दूर्वा-दलों पर रख दे। इसके उपरान्त हस्तिशाला को दर्भ की मालाओं से सज्जित करके अग्नि में भोजन छोड़े, जिसकी गंध हाथी को मिले। तब स्वामी अश्वत्थ का चम्मच (चमस), ईंधन एवं दर्भ घास तैयार रखता है। इसके उपरान्त वह साधारण होम की क्रिया करता है और घृतसूक्त (ऋ० ८।८१।१-९) का पाठ करता है। तब पुरोहित घृत एवं पाँच मन्त्रों (तै० सं० ४।५।१-५) के साथ १००८ अतिरिक्त आहुतियाँ देता है। इसके उपरान्त स्विष्टकृत् आहुति से लेकर गोदान की क्रिया-विधि अपनायी जाती है। तब पवित्र अग्नि के समक्ष 'भूतों को स्वाहा' के साथ शेष भोजन को दूर्वा पर रखा जाता है। इसके उपरान्त वह (पुरोहित) थाली में रखे भोजन को हाथी को खिलाता है और आयुष्यसूक्त के पाठ के साथ घड़ों के नीचे की पाँच दूबों को खिलाता है। इसके उपरान्त वह (पुरोहित) प्रणीता का जल छिड़कता है और 'आपो हि ष्ठा' (ऋ० १०।९।१-३) आदि के साथ हाथी को पवित्र करता है।[22] तब हाथी हस्तिशाला में लाया जाता है। वह लम्बी आयु वाला हो जाता है।"

अग्निपुराण (अध्याय २९१) में वर्णित गजशान्ति पूर्णतया भिन्न है। विष्णुधर्मसूत्र (२।५०।१-९३) में इसका अति विस्तार है। हेमाद्रि (व्रत, भाग २, पृ० १०३६-१०५१) में भी इसका विशद वर्णन है जो 'पालकाप्य' द्वारा उद्घोषित है। अमरकोश में हाथियों के आठ प्रकार हैं, जिनमें प्रत्येक एक दिशा से सम्बन्धित है, यथा--- ऐरावत, पुण्डरीक, वामन, कुमुद, अञ्जन, पुष्पदन्त, सार्वभौम एवं सुप्रतीक। और देखिए उद्योगपर्व (१०३। ९-१६), द्रोणपर्व (१२१।२५-२६), जहाँ दिग्गजों का उल्लेख है। विष्णुधर्मोत्तर (२।५०।१०-११) में आठ नाम हैं, किन्तु वहाँ सार्वभौम के स्थान पर नील नाम आया है। हेमाद्रि के कतिपय श्लोक हस्त्यायुर्वेद (आनन्दाश्रम संस्करण, अध्याय ३५ एवं ३६) से उद्धृत हैं। किन्तु हम यहाँ अधिक वर्णन नहीं उपस्थित कर सकेंगे।

बृहत्संहिता (९२।१-१४), बृहद्योगयात्रा (२२।१-२१) एवं योगयात्रा (११।१-१४) में घोड़ों की चालों, हिनहिनाने, कूद-फाँद, टाप से पृथिवी कुरेदने तथा उनके आसनों आदि के शुभाशुभ प्रतिफलों का उल्लेख पाया जाता है, किन्तु वहाँ किसी प्रकार की शान्ति का वर्णन नहीं है, अतः हम अन्य बातें यहाँ नहीं देंगे। अग्निपुराण (२९०।१-८), विष्णुधर्मोत्तर (२।४७।१-४२), बौ० गृ० सू० (१।१९) एवं हेमाद्रि में एक शान्ति का उल्लेख है जिसके द्वारा घोड़ों के रोगों का निवारण होता है। स्थानाभाव से इस शान्ति का उल्लेख यहाँ नहीं किया जा रहा है।

शान्तियों का सम्बन्ध शकुनों से भी है। ऋग्वेदसंहिता (४।२६।६, ९।८६।१३, ९।९६।१९ एवं २३, ९।१०७।२०, ९।११२।२, १०।६८।७ आदि) में 'शकुन' का अर्थ है 'पक्षी' और वह 'शकुनि' (ऋ० २।४२।१,

२२. प्रणीता जल वह है जो अग्नि के उत्तर एक पात्र में मन्त्र-पाठ के साथ रख दिया जाता है।

२।४३।२ एवं ३) एवं 'शकुन्ति' (ऋ० २।४२।३, २।४३।१) का पर्यायवाची है। ऋ० (१०।१६।६) 'यत् ते कृष्णः शकुन आतुतोद) में कौआ को काला पक्षी कहा गया है। हमने बहुत पहले देख लिया है कि कपोत जैसे पक्षियों को ऋग्वेद में अभाग्य एवं भय का सूचक माना गया है। इसी से 'शकुन' शब्द कालान्तर में पक्षियों की बोली, गति आदि से समन्वित हो भय एवं विपत्तियों का सूचक बन गया। शकुनों पर विशद साहित्य मिलता है। कुछ ग्रन्थ ये हैं—

मत्स्यपुराण (अध्याय २३७, २४१, २४३), अग्नि० (अध्याय २३०-२३२), विष्णुधर्मोत्तर० (२।१६३-१६४), पद्म० (४।१००।६५-१२६), बृ० सं० (अ० ८५-९५), बृ० यो० (अ० २३-२७), यो० या० (अ० १४), भद्रबाहु का 'निमित्त', वसन्तराजशाकुन, सोमेश्वर चालुक्य (११२६-११३६ ई० सन्) का मानसोल्लास (२।१३), अद्भुतसागर, राजनीतिप्रकाश (पृ० ३४५-३४७)। इनमें वसन्तराज-शाकुन अत्यन्त विशद है और इसका उद्धरण अद्भुतसागर आदि ग्रन्थों ने लिया है। इस ग्रन्थ का परिचय देना आवश्यक है। यह बीस वर्गों में विभाजित है और इसमें विभिन्न छन्दों में १५२५ श्लोक हैं।[२३] इसमें आया है[२४]—मैं उन शकुनों को उद्घाटित करूँगा, जो इस विश्व में जीवों के वर्गों द्वारा अभिव्यक्त हैं, यथा—दो पदों वाले (मनुष्य एवं पक्षी), चार पद वाले (हाथी, अश्व आदि), षट् पदों वाले (मधुमक्खियाँ), अष्ट पदों वाले (अनुश्रुतियों अर्थात् कल्पित कथाओं वाले पशु, यथा शरभ), ऐसे जीव जिनके बहुत-से पद हों (यथा—बिच्छू), बिना पद वाले (यथा—सर्प आदि) जीवों द्वारा। वह शकुन है, जिसके द्वारा शुभाशुभ फलों का निश्चित ज्ञान प्राप्त किया जाता है, यथा—गति (बायीं या दायीं ओर आदि), (पक्षियों एवं पशुओं के) स्वर, उनके आलोकन एवं भाव-चेष्टा। जो व्यक्ति शकुनशास्त्र में पारंगत होता है वह यह जान कर कि उसको किसी पदार्थ से कठिनाइयाँ उत्पन्न होंगी या ऐसा नहीं होगा, उसे त्याग देता है या उसे कार्यान्वित करता है। इसके केवल अध्ययन मात्र से ही पाठक को आनन्दमय ज्ञान प्राप्त हो जाता है और फल मिल जाते हैं। इस ग्रन्थ ने वराहमिहिर (बृ० सं० ८५।५) का मत घोषित किया है कि शकुन यात्रा करते समय या घर में रहने पर, किसी भी अवस्था में, पूर्वजन्म के कर्मों के फल घोषित करते हैं। यह ग्रन्थ इस विरोध का उत्तर देता है कि यदि कोई व्यक्ति पूर्वजन्म के कर्मों के फलों से छुटकारा नहीं पा सकता तो इस शास्त्र का महत्त्व ही क्या है। इसका कथन है कि पूर्वजन्मों के कर्म किन्हीं कालों एवं स्थानों में फल देते हैं और मनुष्य पूर्वजन्मों के कर्मों के फलों से छुटकारा उसी प्रकार पा सकता है जिस प्रकार वह सर्पों, अग्नि, काँटों आदि भयावह पदार्थों से पाता है। यदि भाग्य (नियति) ही निश्चयात्मक

२३. प्रकीर्तिता विंशतिरेव यस्मिन्वर्गा महाशाकुनसारभूताः। सहस्रमेकं त्विह वृत्तसंख्या तथा सपादानि शतानि पञ्च॥ वसन्तराज (११।१२)।

२४. द्विपदचतुष्पदषट्पदमष्टापदमनेकपदमपदम्। यज्जन्तुवृन्दमस्मिन् वक्ष्यामस्तस्य शकुनानि॥ शुभाशुभज्ञानविनिर्णयाय हेतुर्नृणां यः शकुनः स उक्तः। गतिस्वरालोकनभावचेष्टाः संकीर्तयामो द्विपदादिकानाम्॥ सापायमेतन्निरपायमेतत्प्रयोजनं भावि ममेति बुद्ध्या। असंशयं शाकुनशास्त्रविज्ञो जहाति चोपक्रमते मनुष्यः॥.... अवेक्षितेऽस्मिन्न खलूपदेष्टा न चात्र कार्यं गणितेन किंचित्। उत्पद्यते मुष्य हि ज्ञानमात्राज्ज्ञानं मनोहारि फलानुसारि॥ पूर्वजन्मकृतकर्मणः फलं पाकमेति नियमेन देहिनः। तत्प्रकाशयति दैवनोदितः प्रस्थितस्य शकुनः स्थितस्य च॥.... दैवमेव यदि कारणं भवेत्प्रीतिशास्त्रमुपयुज्यते कथम्। यद्बलेन सुधियो महोद्यमाः पालयन्ति जगतीं जनाधिपाः॥ पूर्वजन्मजनितं पुराविदः कर्म दैवमिति संप्रचक्षते। उद्यमेन तदुपार्जितं तदा दैवमुद्यमवशं न तत्कथम्॥ वसन्तराज १।६-८, १४, २१-२२। अद्भुतसागर ने (पृ० ५६९) शुभाशुभ० एवं अन्य श्लोक उद्धृत किये हैं।

तत्त्व है तो राजनीति-शास्त्र एवं शासन-शास्त्र से क्या लाभ, जिनके ज्ञान से राजा उद्योगपूर्वक इस संसार की रक्षा करते हैं? विद्वानों ने घोषित किया है कि दैव (भाग्य) केवल वह कर्म है जो पूर्वजन्मों में संगृहीत होता है, पूर्वजन्म के कर्म मनुष्य के उद्योग से ही प्राप्त होते हैं, तब कोई कैसे कह सकता है कि दैव मनुष्य के उद्योग पर निर्भर नहीं रहता?

वसन्तराज के विषय २० वर्गों एवं १५२५ श्लोकों में विभाजित हैं, जिनका संक्षिप्त वर्णन यों है---(१) शास्त्रप्रतिष्ठा (३१ श्लोक); (२) शास्त्रसंग्रह (१३ श्लोक); (३) अभ्यर्चन (३१ श्लोक); (४) मिश्रक (७२ श्लोक); (५) शुभाशुभ (१६ श्लोक); (६) नरेंगित (५० श्लोक); (७) श्यामारुत (४०० श्लोक); (८) पक्षिविचार (५७ श्लोक); (९) चाश (५ श्लोक); (१०) खंजन (२७ श्लोक); (११) करापिका (११ श्लोक); (१२) काकरुत (१८१ श्लोक); (१३) पिंगलिकारुत (२०० श्लोक); (१४) चतुष्पद (५० श्लोक); (१५) षट्पद, बहुपद एवं सर्प (१३ श्लोक); (१६) पिपीलिका (१५ श्लोक); (१७) पल्ली-विचार (३२ श्लोक); (१८) श्व-चेष्टित (२२२ श्लोक); (१९) शिवारुत (९० श्लोक); (२०) शास्त्रप्रभाव (२४ श्लोक)।

वसन्तराज के ग्रन्थ की एक विशेषता यह है कि इसका आधे से अधिक भाग (७८१ श्लोक) तीन पक्षियों के स्वरों से सम्बन्धित है, यथा श्यामा पर ४०० श्लोक, कौआ पर १८७ श्लोक एवं पिंगलिका (उल्लू के समान पक्षी) पर २०० श्लोक। ३१२ श्लोक कुत्तों के भूँकने एवं गति पर तथा उनके शोरगुल पर २२२ श्लोक हैं और इसी प्रकार शृगालिनी की बोली पर ९० श्लोक हैं। यह द्रष्टव्य है कि शाक्त लोगों का ऐसा विश्वास है कि शृगालिनी काली की दूती है और शुभ है; इसके स्वर को प्रातःकाल सुनने पर व्यक्ति को नमस्कार करना चाहिए और ऐसा करने पर सफलता मिलती है। उपर्युक्त बातें यह स्पष्ट करती हैं कि वसन्तराज ने शकुन के अर्थ का विस्तार कर डाला है और उसके अन्तर्गत मनुष्यों एवं पशुओं के कर्मों पर आधारित निमित्तों को सम्मिलित कर लिया है।

वसन्तराज ने अन्त में स्वयं कहा है कि वह शकुन है, जो इस लोक में स्मरित होता है, सुना जाता है, जिसका स्पर्श किया जाता है, जिसे देखा जाता है या जो स्वप्नों में उद्घोषित होता है, क्योंकि इन सभी से फल प्राप्त होते हैं। उसका कथन है कि शकुन उतना ही प्रामाणिक है जितने कि वेद, स्मृतियाँ एवं पुराण हैं, क्योंकि यह सत्य ज्ञान देने में कभी असफल नहीं होता है। उसके कुछ मनोहारी वक्तव्य संक्षेप में यहाँ कहे जा सकते हैं---यदि उल्लू रात्रि में घर के ऊपरी भाग पर बैठ कर बोलता है तो दुःख का संकेत मिलता है और गृह-स्वामी के पुत्र की मृत्यु हो जाती है (८।४०)। ऐसा आज भी विश्वास किया जाता है। निमित्तसूचक स्वरों में कौए की बोली प्रधान है। कुत्तों का भूँकना सभी शकुनों का सार है। बृहद्योगयात्रा में ऐसा आया है कि कुछ पशु एवं पक्षी कुछ ऋतुओं में अग्रसूचना के लिए व्यर्थ हैं, यथा---रोहित (लाल) हिरन, अश्व, बकरी, गदहा, ऊँट, खरगोश शिशिर ऋतु में निष्फल होते हैं। कौआ एवं कोकिल वसन्त ऋतु में निष्फल होते हैं; सूअर, कुत्ता, भेड़िया आदि पर भाद्रपद में विश्वास नहीं करना चाहिए; शरद् में कमल (या शंख), साँड़ एवं क्रौंच जैसे पक्षी निष्फल सिद्ध होते हैं; श्रावण में हाथी एवं चातक निष्फल होते हैं; हेमन्त में व्याघ्र, भालू, बन्दर, चीता, भैंस तथा वे जीव जो बिलों में रहते हैं (यथा सर्प) तथा मानवीय बच्चों के अतिरिक्त सभी शिशु निष्फल होते हैं। यही बात वसन्तराज ने भी ज्यों-की-त्यों कही है (४।४७-४८)। वसन्तराज ने वराहमिहिर से बहुत उधार लिया है।

वसन्तराज (३।३-४) का कथन है कि शकुनों के विषय में पाँच सर्वोत्तम हैं, यथा---पोदकी पक्षी, कुत्ता, कौआ, पिंगला पक्षी एवं शृगालिनी। सरस्वती, यक्ष (कुबेर), चण्डी एवं पार्वती की सखी क्रम से पोदकी, कुत्ते (तथा चील), पिंगला एवं शृंगालिन के देवता एवं देवी हैं। उसने आगे कहा है कि सभी पशुओं एवं पक्षिओं के देवता होते हैं, अतः शकुन-वक्ता को चाहिए कि वह उन्हें न मारे, क्योंकि उन्हें मारने पर उनके देवता रुष्ट हो जाते

हैं। उपश्रुति के विषय में वसन्तराज का कथन अवलोकनीय है। 'प्रदोष या प्रातःकाल जब कि लोग बहुधा मौन रहते हैं, उस समय यदि कोई व्यक्ति कोई कार्य करने को सन्नद्ध रहता है तो उसे उपश्रुतियों (दिव्य वाणी या आकाशवाणी) के सभी स्थानों पर विचार करना चाहिए। बिना किसी संकेत पर एक बच्चा जो कुछ कह उठता है वह युगान्त तक मृषा नहीं हो सकता। उपश्रुति के अतिरिक्त मनुष्यों के लिए कोई अन्य ऐसा सुबोध एवं सत्य शकुन नहीं हो सकता।' मानसोल्लास (२।१३, श्लोक ९२०-९२६, पृ० ११०-११३) एवं वसन्तराज (६, पृ० ७८-८०, श्लोक ५-१२) ने 'उपश्रुति' नामक भविष्यवाणी की जानकारी के एक विचित्र ढंग का उल्लेख किया है—'जब सभी लोग सोये रहते हैं और जनमार्ग पर कोई व्यक्ति नहीं रहता, तीन विवाहित नारियों को किसी कुमारी कन्या के साथ गणेश की पूजा (गन्ध, पुष्प आदि से) करनी चाहिए; इसके उपरान्त चण्डिका का अभिवादन कर कुडव-पात्र में अन्न को अक्षत के साथ भरना चाहिए और उस पर सात बार मन्त्र-पाठ करना चाहिए; तब उस अन्नराशि पर झाड़ू के घास वाले भाग को रखकर उस पर गणेश-प्रतिमा रखनी चाहिए। उन्हें चाहिए कि वे उस कुडव को गणेश-प्रतिमा के साथ किसी रजक (धोबी) के घर ले जायें। घर के सम्मुख अपने मन की बात (संकल्प) को मौन रूप से ही कह कर श्वेत अक्षतों को फेंक देना चाहिए। इसके उपरान्त उन्हें ध्यानपूर्वक सुनना चाहिए। जब वे घर के भीतर से किसी पुरुष, स्त्री या बच्चे या किसी भी व्यक्ति द्वारा स्वैरसंलाप (अपने मन से कहा गया कुछ भी) सुनें, चाहे वह शुभ हो या अशुभ, तो उन्हें सुने गये वचन के अर्थ पर विचार करना चाहिए। इस प्रकार प्राप्त निष्कर्ष भविष्य के संकल्प के विषय में असत्य नहीं ठहर सकता। इसी प्रकार की विधि चाण्डाल के घर जाकर भी अपनायी जा सकती है।'[25]

२५. प्रदोषकाले यदि वा प्रभाते लोके क्वचित् किञ्चन भाषमाणे। उपश्रुतिः कार्यसमुद्यतेन सार्वत्रिकी वा परिभावनीया।। यद्बालकेनोक्तमचोदितेन तत्स्यादसत्यं न युगान्तरेपि। उपश्रुतेर्नान्यदिहास्ति किञ्चित्सत्यं सुबोधं शकुनं जनानाम्।। वसन्तराज (६, पृ० ८०-८१) 'उपश्रुति' ऋ० (१।१०।३) में भी आया है और उसका अर्थ केवल यह है 'सुनने के लिए पास में आना।' और देखिए ऋ० (८।८।५ एवं ८।३४।११)। अर्चयित्वा गणाधीशं...। कुमार्याः सहिता नार्यस्तिस्रः सुप्ते जनेऽखिले। अक्षतैः पूरयेयुस्ता यत्किञ्चित् कुडवादिकम्। चण्डिकायै नमः कृत्वा सप्तकृत्वोऽभिमन्त्रितम्।। संमार्जनीकृतावेष्टे स्थापयेयुर्गणाधिपम्। व्रजेयुस्तं समादाय रजकस्य निकेतनम्।। तद्गेहस्य पुरोभागे निक्षिपेयुः सिताक्षतान्। मनोगतं समुद्दिश्य शृणुयुः सुसमाहिताः।। श्रूयते वचनं किञ्चिद् रजकालयमध्यगम्। नार्या नरेण बालेन प्रोक्तमन्येन केनचित्।। स्वैरसंलापनोद्भूतं शुभं वा यदि वाशुभम्। शृण्वन्तीभिः फलं ज्ञेयं तद्वाक्यार्थविचारतः।। चण्डालनिलयेऽप्येवं श्रवणे शोधने क्रमः। यद् ब्रूयुर्वचनं तत्र तत्तथा न तदन्यथा।। मानसोल्लास (२।१३, श्लोक ९२०-९२६)। वसन्तराज ने अधिकांश में ये ही शब्द कहे हैं। किसने किससे उधार लिया है, कहना कठिन है। सम्भवतः दोनों ने किसी अन्य से उद्धरण लिया है, अर्थात् सम्भवतः दोनों का मूल एक ही है। 'कुडव' अन्न की एक तौल है और वह 'प्रस्थ' की चौथाई होती है। हेमाद्रि (व्रत, भाग १, पृ० ५७) एवं पराशरमाधवीय (२।१, पृ० १४१) द्वारा उद्धृत भविष्यपुराण के अनुसार २ पल प्रसृति, २ प्रसृति कुडव, ४ कुडव प्रस्थ, ४ प्रस्थ आढक, ४ आढक द्रोण, १६ द्रोण खारी। शबर (जैमिनि १०।३।४५) ने कुडव, आढक, द्रोण एवं खारी का उल्लेख किया है। पाणिनि ने आढक एवं खारी का उल्लेख किया है (५।१।५३ एवं ५।४।१०१)। प्राचीन स्मृतियों के अनुसार रजक (धोबी) सात अन्त्यजों में परिगणित है—रजकश्चर्मकारश्च नटो बुरुड एव च। कैवर्तमेदभिल्लाश्च सप्तैते चान्त्यजाः स्मृताः।। अत्रि १९९, अंगिरा, यम (३३)। अभी कुछ वर्ष पूर्व

उपश्रुति के समान ही एक विचित्र ढंग पद्म० (पातालखण्ड, १००।६५-१६६) में भी वर्णित है। ऐसा उल्लिखित है कि विभीषण को, जब उसने रामेश्वर नामक स्थापित शिव-लिंग का दर्शन कर लिया था, तब द्रविड़ों ने सिकड़ियों से बाँध लिया और जब किसी को इसका पता न चल सका तो राम ने स्वयं शम्भु से पूछा और शम्भु ने बताया कि पुराणों (श्लोक ५१-५३ में वर्णित) का निमित्तात्मक शब्दों के रूप में उपयोग हो सकता है। विधि यों है—पाँच वर्ष से अधिक किन्तु दस वर्ष से कम अवस्था अविवाहित कन्या अथवा युवा होने के पूर्व किसी कन्या का गन्ध, पुष्प, धूप एवं अन्य उपचारों से सम्मान करना चाहिए और उससे निम्नोक्त शब्द कहने चाहिए, 'सत्य बोलो, प्रिय सत्य बोलो; हे कल्याणकारिणी सरस्वती, आपको प्रणाम है, आपको प्रणाम है।' उसे दूर्वा के तीन जोड़े देने चाहिए जिन्हें वह किसी ग्रन्थ के दो पृष्ठों के बीच में डालेगी। इन्हीं पृष्ठों के बीच का श्लोक संकल्प की सफलता को बतायेगा। श्लोक का अर्थ भली भाँति बैठाया जायगा और संकल्पित बात से उसका मेल बैठाया जायगा। यदि पृष्ठ स्पष्ट न हों अथवा आधे जल गये हों, तो ऐसा कहा गया है कि उस श्लोक को भाग्य द्वारा भेजा गया माना जाना चाहिए, जैसा कि उपश्रुति विधि से जाना जाता है। ऐसा उल्लिखित है कि इस विधि का प्रयोग प्रति दिन नहीं करना चाहिए। विधि-प्रयोग के पूर्व पुराण की पूजा की जानी चाहिए और प्रातःकाल शकुन के लिए उसका उपयोग करना चाहिए। इस प्रकार के शकुन के लिए स्कन्दपुराण सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। कुछ लोगों के मत से विष्णु० एवं रामायण से भी सहायता ली जा सकती है। किन्तु पद्म० के मत से विष्णुपुराण का उपयोग शकुन के लिए नहीं करना चाहिए, क्योंकि यदि कोई सदाचरणहीन व्यक्ति उसका उपयोग करेगा तो उससे अशुभ संकेत प्राप्त होंगे। स्वयं शम्भु ने स्कन्दपुराण की पूजा की और पूछा कि शिवभक्त विभीषण को सिकड़ियों से क्यों बाँधा गया। इस प्रकार तीन श्लोक प्रकट हुए जिनमें दो इस प्रकार हैं—

बद्ध्वा समुद्रं स तु राघवेन्द्रो रुरोध गुप्तान् क्षणदाचरेन्द्रान्।
योद्धुं समागत्य समाययुस्ते लंकापुरस्थास्त्वतिकायमुख्याः।।
अट्टशूला जनपदा शिवशूला द्विजास्तथा।
प्रमदाः केशशूलिन्यो भविष्यन्ति कलौ युगे।। (पद्म०, पा० १००।१३३-१३४)

यहाँ पर दूसरा श्लोक पहेली-रूप है और कलियुग के स्वरूपवर्णन में भी आया है। और देखिए वनपर्व (१८८। ४२)। अन्त में पुराण का कथन है कि महाभारत का आदिपर्व या इसके सभी पर्व शकुन के लिए प्रयोजित हो सकते हैं।

उपर्युक्त विधि के समान ही निमित्तों एवं शकुनों का पता चलाने के लिए हिन्दी के महाकवि तुलसीदास (संवत् १५८९ या सन् १५३२ ई० में जन्म) की दो कृतियाँ—रामाज्ञा (या रामशकुनावली, जिसमें ३४३ दोहे हैं)

लेखक को एक नवीन प्रकाशित एवं ए० लियो ओपेनहाइम द्वारा लिखित 'दि इंटरप्रिटेशन आफ ड्रीम्स इन दि ऐंश्येंट नियर 'ईस्ट' ग्रन्थ पढ़ने को मिला, जिसके साथ लेखक द्वारा अनूदित 'असीरियन ड्रीम बुक' भी थी (जिल्द ४६, भाग ३, १९५६, अमेरिकन फिलासाफिकल सोसाइटी, न्यू सीरीज)। लेखक ने स्वप्न-विषयक मनोरंजक बातों के समानान्तर स्वरूपों की ओर संकेत नहीं किया है; किन्तु पृ० २११ पर लेखक ने संयोग से घटने वाली वाणियों (असम्बन्धित लोगों द्वारा उच्चरित) की ओर संकेत अवश्य किया है जो प्राचीन काल में न-केवल फिलस्तीन में, प्रत्युत मेसोपोटामिया में भी विख्यात थीं।

एवं रामशलाका प्रसिद्ध हैं। देखिए इस विषय में श्री जी० ए० ग्रियर्सन (इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, जिल्द २२, पृ० २०४) एवं एच० जैकोबी (फेस्टगेव, पृ० ४४९-४५५)।

यह द्रष्टव्य है कि चरकसंहिता जैसे वैज्ञानिक ग्रन्थ भी वैद्य को निर्देश देते हैं कि वह रोगी की एवं समाचार देने वाले की दशा पर ध्यान दे, अन्य क्रियाओं का अवलोकन करे और अशुभ शकुनों पर ध्यान दे। यह सब इन्द्रिय-स्थान (अध्याय १२) में वर्णित है। दो-एक बातें यहाँ दी जा रही हैं—'वह रोगी केवल एक मास तक जीवित रहेगा, जिसके सिर पर गोबर के सूखे चूर्ण के समान चूर्ण या भूसी उभरती है; वह रोगी एक पक्ष से अधिक काल तक जीवित नहीं रह सकता जिसकी छाती स्नान करते या चन्दन लगाते समय सूख जाय जब कि अन्य शरीरांग अभी गीले ही रहें। वे दूत (समाचारवाहक), जो रोगी के यहाँ से वैद्य के पास उस समय पहुँचते हैं जब कि वह अग्नि में आहुतियाँ डालता रहता है या पितरों को पिण्डदान करता रहता है, रोगी को मार डालेंगे (अर्थात् इससे रोगी की आसन्न मृत्यु प्रकट होती है)। दयनीय दशा वाली, डरी हुई, आतुरता से चलती हुई, दुःखी, गन्दी एवं व्यभिचारिणी नारी; तीन व्यक्ति (साथ आने वाले), टेढ़े अंग वाले (विकलांग), नपुंसक—ऐसे व्यक्ति उन लोगों के समाचारवाहक होते हैं जो मरणासन्न होते हैं। समाचारवाहक द्वारा बुलाये जाने पर जब वैद्य उसके द्वारा रोगी की दशा का वर्णन सुनता हुआ कोई अशुभ लक्षण देखता है, या किसी दुखी व्यक्ति, शव या मृत व्यक्ति के लिए किये जाने वाले अलंकरण को देखता है तो उसे रोगी के पास नहीं जाना चाहिए। दही, पूर्ण अनाज, ब्राह्मण, बैल, राजा, रत्न, जलपूर्ण पात्र, श्वेत अश्व आदि शुभ लक्षण कहे गये हैं। किन्तु वैद्य को चाहिए कि वह अपने द्वारा देखे गये अशुभ शकुनों की घोषणा न करे, क्योंकि ऐसा करने से रोगी को धक्का लग सकता है और उन लोगों को भी कष्ट मिल सकता है जो उस घोषणा को सुनते हैं।'

शान्ति-सम्बन्धी पठनीय मन्त्रों तथा विषयों की जानकारी के लिए ऋग्वेद के शान्ति-सूक्त एक स्थान पर निम्न प्रकार से रखे जा सकते हैं—

(१) आ नो भद्राः (ऋ० १।८९।१-१०)।
(२) स्वस्ति न इन्द्रो (ऋ० १।८९।६-१०)।
(३) शं न इन्द्राग्नी (ऋ० ७।३५।१-११)।
(४) यत इन्द्र भयामहे (ऋ० ८।६१।१३-१८)।
(५) भद्रं नो अपि वातय मनः (ऋ० १०।२०।१)।
(६) आशुः शिशानो (ऋ० १०।१०३।१-१३)।
(७) मुञ्चामि त्वा (ऋ० १०।१६१।१-५)।
(८) त्यमु शु (ऋ० १०।१८५।१-३)।
(९) महि त्रीणाम् (ऋ० १०।१८५।१-३)।
(१०) रात्री व्यख्यत् (ऋ० १०।१२७।१-८)।

उपर्युक्त सूक्तों में अधिकांश पूर्ण रूप से या खण्डांश में अथर्ववेद, तैत्तिरीय सं० एवं अन्य वैदिक संहिताओं में पाये जाते हैं।

कुछ ऐसे मन्त्र भी हैं जिन्हें 'रक्षोघ्न' (सभी दुष्ट आत्माओं का हनन करने वाले) कहा जाता है, यथा—कृणुष्व पाजः (ऋ० ४।४।१-१५), 'रक्षोहणम्' (ऋ० १०।८७।१-२५), इन्द्रासोमा तपतम्' (ऋ० ७।१०४।१-२५), 'अग्ने हंसि न्यत्रिणम्' (ऋ० १०।११८।१-९), 'ब्रह्मणाग्निः' (ऋ० १०।१६२।१-६)। इनमें भी कुछ पूर्ण रूप से या खंड अंश में तै० सं०, अथर्ववेद एवं अन्य वैदिक ग्रन्थों में पाये जाते हैं।

तैत्तिरीय संहिता (४।५) के ग्यारह अनुवाक, जिनका आरम्भ 'नमस्ते रुद्र मन्यव' से होता है, रुद्राध्याय या केवल रुद्र कहे जाते हैं। उनका एक वाचन 'आवर्तन' कहा जाता है, किन्तु इनका ग्यारह बार का वाचन 'एकादशिनी' कहा जाता है। 'एकादशिनी' के ग्यारह बार के वाचन का नाम 'लघुरुद्र' है, लघुरुद्र के ग्यारह बार के वाचन को 'महारुद्र' एवं ग्यारह महारुद्र 'अतिरुद्र' कहे जाते हैं। रुद्र के तीन स्वरूप हो सकते हैं—जप, होम (अग्नि में मन्त्रों० के साथ आहुतियाँ डालना), अभिषेक (मन्त्र पाठ के साथ पवित्र जल को देवता पर निरन्तर चढ़ाना)। रुद्राध्याय के पाठ के लिए यजमान (यदि वह स्वयं ऐसा न कर सके तो) किसी ब्राह्मण को नियुक्त कर सकता है। ऐसा एकादशिनी के लिए भी हो सकता है। किन्तु लघुरुद्र एवं महारुद्र के लिए सामान्यतः ग्यारह एवं अतिरुद्र के लिए २१ ब्राह्मण नियुक्त होते हैं। रुद्राभिषेक का उल्लेख बौधायनगृह्यशेषसूत्र (२।१८।११-१६) में हुआ है।

'त्र्यम्बकं यजामहे' (ऋ० ७।५९।१२; तै० सं० १।८।६।२; वाज० सं० ३।६०) मन्त्र को 'मृत्युंजय' कहा जाता है। इसका जप अल्पावधि में होने वाली मृत्यु से बचने के लिए किया जाता है। बौधायनगृह्यशेषसूत्र (३।११) ने अपेक्षाकृत अधिक विस्तार के साथ इस कृत्य की व्यवस्था दी है और इसके अनुसार जप के मन्त्र हैं 'अपैतु मृत्युः' (तै० सं० ३।७।१४।४), 'परं मृत्यो' (तै० ब्रा० ३।७।१४।५), 'मा नो महान्तम्' (ऋ० १।११४।७), 'मा नस्तोके' (तै० सं० ३।४।११।२), 'त्र्यम्बकं यजामहे' (तै० सं० १।८।६।२), 'ये ते सहस्रम्' (तै० सं० ३।१०।८।२)।

इस अध्याय में वर्णित बहुत-सी शान्तियाँ अब प्रचलित नहीं हैं। आजकल ऐसी हवा बह रही है कि जो शान्तियाँ की भी जाती हैं, ऐसा लगता है, वे भी भविष्य में विलुप्त हो जायँगी।

अध्याय २२

पुराण-साहित्य का उद्गम एवं विकास

हमने इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में पुराणों पर एक संक्षिप्त अध्याय लिख दिया है। वहाँ यह दिखलाया गया है कि किस प्रकार तैत्तिरीय आरण्यक, छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक उपनिषदों ने इतिहास एवं पुराण (कभी-कभी सामूहिक रूप से 'इतिहासपुराणम्' और कभी-कभी 'इतिहासः पुराणम्' कहा गया है) का उल्लेख किया है और किस प्रकार विद्यमान पुराण ईसा की छठी शती के पूर्व के हैं। यह भी प्रदर्शित किया गया है कि परम्परा से प्रमुख पुराणों की संख्या १८ रही है[1] और मत्स्य, विष्णु, वायु एवं भविष्य नामक पुराणों में धर्मशास्त्र विषयक बहुत-सी बातें कही गयी हैं। गरुड़-पुराण एवं अग्निपुराण में ऐसे सैकड़ों पद्य हैं जो याज्ञवल्क्यस्मृति के समान ही हैं, सभी पुराणों के विस्तार में अत्यधिक अन्तर भी है, बहुत-से पुराणों ने स्वयं लघु कृतियों का उल्लेख किया है जो उपपुराण के नाम से विख्यात हैं। पुराण तीन दलों में विभक्त हैं, यथा—सात्त्विक, राजस एवं तामस (जैसा कि गरुड़ १।२२३।१७-२०, एवं पद्म ६।२६३।८१-८४ में किया गया है)। हमने पुराणों के उन अध्यायों की ओर भी संकेत कर दिया है जहाँ धर्मशास्त्रीय बातें, यथा—आचार, आह्निक, दान, राजधर्म, श्राद्ध, तीर्थ आदि वर्णित हैं।

इस विभाग में हम ईसा की आरम्भिक शतियों में पुराणों के प्रभाव से उत्पन्न उन कतिपय भावनाओं, आदर्शों एवं प्रयोगों का उल्लेख करेंगे जो समय-समय पर प्राचीन भारतीय जनता पर अपना प्रभाव एवं परिवर्तन छोड़ते गये हैं।

आगे की बातों पर प्रकाश डालने के पूर्व कुछ आरम्भिक बातें कह देना आवश्यक है। साहित्य-वर्ग में पुराणों का उल्लेख उस काल से बहुत पहले हुआ है, जिसकी ओर हमने पहले संकेत किया है (देखिए, इस ग्रन्थ का प्रथम खण्ड)। अथर्ववेद (११।७।२४) ने पुराण को एक वचन में लिखा है[2] : 'ऋक् एवं साम के पद्य, छन्द, पुराण यजु के नियमों के साथ यज्ञिय भोजन के शेष अंश से उदित हुए, (जैसे कि) देव लोग, जो स्वर्ग में रहते हैं। उसने अपना स्थान परिवर्तित किया और बृहत् दिशा की ओर चला गया; और इतिहास एवं पुराण, गाथाएँ, वीरों की प्रशंसा में कहे गये पद्यों (नाराशंसी) ने उसी प्रकार अनुसरण किया।' शतपथब्राह्मण (११।५।६।८) ने भी 'इतिहास-

१. मत्स्य (५३।१८-१९), अग्नि (२७२।४-५) एवं नारद (१।९२।२६) ने वायु को अठारह महापुराणों में परिगणित किया है, किन्तु विष्णु (३।६।१९), मार्कण्डेय (१३४।८), कूर्म (१।१।१३), पद्म (१।६२।२), लिंग (१।३९।६१), भागवत (१२।७।२३), ब्रह्मवैवर्त (३।१३३।१४) ने वायु के स्थान पर शैव रखा है और वायु को अठारह महापुराणों की सूची से सर्वथा हटा दिया है।

२. ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥ अथर्व० (११।७।२४); स बृहतीं दिशमनुव्यचलत्। तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्। अथर्व० (१५।६।१०-११)।

पुराणम्' (एक सामासिक शब्द के रूप में) का उल्लेख किया है और उसमें ऐसा आया है कि पारिप्लव के ९वें दिन होता पुरोहित अन्य बातों के साथ इस प्रकार निर्देश देता है---'पुराण वेद है; यह वही है; ऐसा कहते हुए उसे कोई पुराण कहना चाहिए (१३।४।३।१३)।'[3] शांखायन श्रौतसूत्र (१६।२।२७) एवं आश्वलायन श्रौतसूत्र (१०।७) के अनुसार पारिप्लव के दो दिनों में इतिहासवेद एवं पुराणवेद का पाठ होना चाहिए। किन्तु ये दोनों सूत्र (यद्यपि ये ऋ० से सम्बद्ध हैं) पाठ करने के दिन के विषय में भिन्न मत देते हैं। यह कहना कठिन है कि अथर्ववेद, शतपथब्राह्मण एवं उपनिषद् पुराण नामक ग्रन्थों से परिचित थे या नहीं, अथवा वे केवल किसी एक पुराण नामक ग्रन्थ से परिचित थे। किन्तु तै० आरण्यक (२।१०) ने इतिहास एवं पुराण को बहुवचन में लिखा है, जिससे प्रकट होता है कि पश्चात्कालीन वैदिक काल में तीन या अधिक पुराण नामक ग्रन्थ थे जिन्हें अश्वमेध जैसे पवित्र यज्ञ करने वाले पढ़ते थे। ऐसा सोचना ठीक भी हो सकता है कि एकवचन में प्रयुक्त 'पुराणम्' शब्द किसी विशिष्ट प्रकार के ग्रन्थ का परिचायक था। उपनिषदों में 'इतिहास-पुराण' को पाँचवाँ वेद कहा गया है और शत० ब्रा० में 'इतिहास-पुराणम्' सामासिक शब्द है, इससे ऐसा अनुमान निकाला जा सकता है कि 'इतिहास' एवं 'पुराण' कुछ बातों एवं विषयों में एक-दूसरे के समान थे। आपस्तम्बधर्मसूत्र (१।६।१९।१३) ने एक पुराण (एकवचन में) के दो पद्य उद्धृत किये हैं (प्रत्येक दो स्थानों पर), जिनमें एक भविष्यत् पुराण का कहा गया है और दूसरे स्थान पर एक पुराण का संक्षेप उपस्थित किया गया है, जिसमें ऐसा आया है कि जब कोई व्यक्ति किसी को हानि पहुँचाने के लिए आक्रमण करता है तो यदि वह व्यक्ति जिस पर आक्रमण किया गया है, आक्रामक को मार डालता है तो ऐसा करने से पाप नहीं लगता। इससे स्पष्ट होता है कि आपस्तम्ब के समक्ष भविष्यत् नामक एक पुराण था और ऐसा या ऐसे पुराण भी थे जिसमें या जिनमें भोजन-सम्बन्धी, गृहस्थ एवं नैष्ठिक ब्रह्मचारी जैसे आश्रमों के नियम भी थे और उनमें आततायी को मृत्युपर्यन्त रोकने एवं प्रलय तथा पुनः सृष्टि के विषय में वर्णन मिलता था। ये बातें स्मृतियों एवं पुराणों के अन्तर्गत आ जाती हैं। 'पुराण' शब्द का अर्थ है 'प्राचीन', अतः 'भविष्यत् पुराण' शब्द विरोधसूचक शब्द है। आपस्तंब के बहुत पहले से 'पुराण' नामक शब्द ऐसे ग्रन्थ के लिए प्रयुक्त होता था जिसमें प्राचीन गाथाएँ आदि रहती थीं; इस प्रकार के कतिपय ग्रन्थ प्रणीत रहे होंगे, और सम्भवतः उनमें समकालीन घटनाएँ भी संगृहीत होती रहीं और ऐसी घटनाएँ भविष्यवाणी के रूप में रख दी गयीं। इसी से 'भविष्यत्पुराण' नाम पड़ा।[4]

३. मध्वाहुतयो ह वा एता देवानां यदनुशासनानि विद्या वाकोवाक्यमितिहासपुराणं गाथा नाराशंसीरित्यहरहः स्वाध्यायमधीते। शतपथ ११।५।६।८; अथाष्टमेऽहन्।... मत्स्याश्च मत्स्यहनश्चोपसमेता भवन्ति। तानुपदिशतीतिहासो वेदः सोऽयमिति कंचिदितिहासमाचक्षीत। अथ नवमेऽहन्।...तानुपविशति पुराणं वेदः सोऽयमिति किंचित्पुराणमाचक्षीत। श० ब्रा० १३।४।३।१२-१३। टीका के अनुसार इतिहास कल्पित कथा है। यथा--- 'आरम्भ में कुछ नहीं था, केवल जल था', और पुराण का अर्थ है पुरूरवा एवं उर्वशी जैसे कथानक। मिलाइए गोपथब्राह्मण (१।१।२१)।

४. यह द्रष्टव्य है कि वराहपुराण (१७७)।३४) ने स्पष्ट रूप से भविष्यत्पुराण का उल्लेख किया है। संकेत मिला है कि कृष्ण के पुत्र साम्ब ने भविष्यत् नामक पुराण का नवीकरण किया और चार स्थानों में सूर्य-प्रतिमाएँ स्थापित कीं, यथा---(१) यमुना के दक्षिण में, (२) यमुना एवं मुल्तान के मध्य में, जिसे कालप्रिय कहा गया, (३) मूलस्थान (आज के मुल्तान) में एवं (४) मथुरा में। देखिए भविष्य० (१।७२।४-७) जहाँ सूर्य-प्रतिमा के तीन केन्द्रों का उल्लेख है। मत्स्य० (५३।६२) ने भी भविष्यत्० का उल्लेख किया है।

आपस्तम्ब ने भविष्यत्-पुराण एवं पुराण का उल्लेख किया है, इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ई० पू० ५०० के पूर्व कतिपय पुराण थे, जिनमें एक था भविष्यत्पुराण और उस समय के प्रसिद्ध पुराणों में सर्ग, प्रतिसर्ग एवं स्मृति के विषयों का समावेश था।

उपर्युक्त निष्कर्ष अन्य ग्रन्थों से भी प्रमाणित होता है। गौतमधर्मसूत्र ने व्यवस्था दी है कि बहुश्रुत वह ब्राह्मण है जो लोगों के आचार-व्यवहार, वेद, वेदांग, वाकोवाक्य (कथनोपकथन), इतिहास एवं पुराण जानता है। उसमें यह भी आया है कि राज्य-शासन एवं न्याय-कार्य में राजा को वेद, धर्मशास्त्र, वेद के छह अंगों, (चार) उपवेदों एवं पुराण पर अवलम्बित होना चाहिए।[5]

उपर्युक्त विवेचन से प्रतीत होता है कि यद्यपि हम अथर्ववेद, शतपथब्राह्मण एवं उपनिषदों में उल्लिखित पुराण अथवा पुराणों के विषयों के संबन्ध में कोई निश्चित मत प्रकाशित नहीं कर सकते, किन्तु आपस्तम्ब एवं गौतम के काल तक विद्यमान पुराणों के विषयों से मिलते-जुलते विषयों का समावेश करने वाले पुराण उपस्थित थे, ऐसा कहा जा सकता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में आया है कि त्रयी का अर्थ है तीनों वेद, यथा—ऋग्वेद, सामवेद एवं यजुर्वेद और अथर्ववेद एवं इतिहासवेद (भी) वेद हैं।[6] इससे प्रकट होता है कि कौटिल्य के काल में इतिहास तीनों वेदों के समान एक निश्चित प्रकार की कृति था। एक अन्य स्थान पर कौटिल्य ने व्यवस्था दी है, 'अर्थशास्त्र में प्रवीण एवं राजा का भला चाहने वाले मन्त्री को चाहिए कि वह अन्य मार्गदर्शकों द्वारा पथभ्रष्ट किये गये राजा को इतिवृत्त (इतिहास अथवा ऐतिहासिक घटनाओं) एवं पुराणों के द्वारा उचित मार्ग पर ले आये।' राजा के प्रतिदिन की चर्या के लिए नियम बनाते समय कौटिल्य ने व्यवस्था दी है कि दिन के बाद वाले भाग में राजा को इतिहास सुनना चाहिए; इतिहास को उन्होंने पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण (साहसपूर्ण अथवा साहसिकों या वीरों के उदाहरण), धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र (शासन एवं राज्य-शिल्प के विज्ञान) से समन्वित माना है।[7] लगता है, कौटिल्य ने यहाँ पर इतिहास को महाभारत माना है। महाभारत ने अपने को इतिहासों में सर्वश्रेष्ठ माना है, अपने को धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र एवं कृष्णवेद कहा है।[8] राजा के कर्मचारियों में ऐसे नाम आये हैं—कार्तान्तिक (फलित ज्योतिष विशेषज्ञ), नैमित्तिक (शकुन एवं पूर्व सूचनाओं की जानकारी रखने वाले), मौहूर्तिक (शुभ काल जानने वाले), पौराणिक, सूत एवं मागध, जिन्हें वेतन के रूप में १००० पण मिलते थे। अपेक्षाकृत अति प्राचीन एवं आरम्भिक दक्षस्मृति (२।६९) ने दिन के छठे एवं सातवें भाग में सभी द्विज गृहस्थों के लिए इतिहास एवं पुराण के अध्ययन की व्यवस्था दी है। औशनसस्मृति ने कहा है कि वेदांगों एवं पुराणों का अध्ययन उत्सर्जन के उपरान्त मास

५. तस्य च व्यवहारो वेदो धर्मशास्त्राण्यङ्गान्युपवेदाः पुराणम्। गौ० ध० सू० (११।१९)।

६. सामर्ग्यजुर्वेदास्त्रयस्त्रयी अथर्ववेदेतिहासवेदौ च वेदाः। अर्थशास्त्र (१।३); मुख्यैरवगृहीतं वा राजानं तत्प्रियाश्रितः। इतिवृत्तपुराणाभ्यां बोधयेदर्थशास्त्रवित्॥ अर्थशास्त्र (५।६, पृ० २५७)।

७. पूर्वमहर्भागं हस्त्यश्वरथप्रहरणविद्यासु विनयं गच्छेत्, पश्चिममितिहासश्रवणे। पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रं चेतीतिहासः। अर्थशास्त्र (१।५, पृ० १०)।

८. अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत्। कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना॥...इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कविबुद्धयः।...अस्याख्यानस्य विषये पुराणं वर्तते द्विजाः। आदिपर्व (२।८३, ८५-८६)। आदिपर्व (६२।२३) में महाभारत को धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र एवं मोक्षशास्त्र कहा गया है। मार्कण्डेयपुराण (१।६-७) ने महाभारत को चारों पुरुषार्थों का शास्त्र और चारों वर्णों के उचित कर्मों की जानकारी का साधन माना है।

के कृष्ण पक्ष में करना चाहिए। मनुस्मृति (३।२३२) ने जो यह कहा है कि श्राद्ध कृत्य में निमन्त्रित ब्राह्मणों को वेदों, धर्मशास्त्रों, गाथाओं, इतिहासों, पुराणों एवं खिल मन्त्रों का पाठ करना चाहिए, उससे स्पष्ट होता है कि उसमें जिन पुराणों की ओर संकेत किया गया है, वे आज के विद्यमान पुराण ही हैं। याज्ञवल्क्यस्मृति ने १४ विद्यास्थानों के नाम इस प्रकार गिनाये हैं : पुराण, न्याय (तर्कशास्त्र), मीमांसा (वैदिक व्याख्या के नियम), धर्मशास्त्र, ४ वेद एवं ६ वेदांग।[१] लगता है, याज्ञ० के काल में ये विद्याएँ महत्ता के अनुसार क्रमबद्ध रखी गयी थीं। याज्ञ० ने उन ऋषियों की ओर संकेत किया है, जिन्होंने वेदों, पुराणों, विद्याओं (छह अंगों), उपनिषदों, श्लोकों (इतिहास ?), सूत्र ग्रन्थों (यथा जैमिनि या न्याय के सदृश सूत्र-ग्रन्थों), भाष्यों तथा जो कुछ साहित्य में विद्यमान हैं उनकी व्याख्या की है या जिनका प्रवर्तन किया है। एक अन्य स्थान पर याज्ञ० ने व्यवस्था दी है कि गृहस्थ को स्नान के उपरान्त प्रातःकाल देवों एवं पितरों की पूजा करनी चाहिए और जप-यज्ञ करना चाहिए तथा अपनी योग्यता के अनुसार वेद, अथर्ववेद, इतिहास एवं पुराणों तथा दार्शनिक ग्रन्थों के कतिपय भागों का पाठ करना चाहिए। इससे पता चलता है कि इतिहास एवं पुराणों को एक-साथ रखा जाता था, वे दोनों वैदिक साहित्य से भिन्न थे तथा कम-से-कम ईसा की तीसरी शती में याज्ञ० के काल में धार्मिक बातों में पुनीतता एवं प्रामाणिकता ग्रहण कर चुके थे। महाभाष्य (पाणिनि ४।२।५९-६०) के एक वार्तिक ने आख्यान (यथा—यावक्रीतिक, यायातिक), आख्यायिका (यथा—वासवदत्तिक, सौमनोत्तरिक), इतिहास (ऐतिहासिक), पुराण (पौराणिक) में ठक् (इक) प्रत्यय लगा कर शब्द-निर्माण की व्यवस्था दी है। महाभारत की कतिपय उक्तियों में 'पुराण' एकवचन में प्रयुक्त है (आदि० ५।२, ३१।३-४, ५१।६, ६५।५२; उद्योग० ७८।४७-४८; कर्ण० ३४।४४; शान्ति० २०८।५; अनुशासन० २२।१२, १०२।२१), और कहीं-कहीं बहुवचन में (आदि० १०९।२०; विराट० ५१।१०; स्त्रीपर्व १३।२; शान्ति० ३३९।१०६; स्वर्गारोहण ५।४६-४७ जहाँ पुराणों की संख्या १८ है)। वनपर्व (१९१।१५-१६) में मत्स्यपुराण एवं वायु० द्वारा उल्लेखित एक पुराण का उल्लेख हुआ है। ऐसा कहना असम्भव है कि पुराण-सम्बन्धी अनेक संकेत पश्चात्कालीन क्षेपक हैं, यद्यपि कुछेक हो सकते हैं। जब महाभारत में पुराण-गाथाएँ एकत्र की गयीं उसके पूर्व आज का कोई पुराण उतना विशद नहीं था, ऐसा कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसे कथन के लिए कोई प्रमाण नहीं है।

बाण (७ वीं शती का पूर्वार्ध) जैसे प्रारम्भिक संस्कृत ग्रन्थकार, शबर (२००-४०० ई० से पश्चात्कालीन नहीं) जैसे भाष्यकार, कुमारिल (७ वीं शती), शंकराचार्य (६५०-८०० ई० के किसी काल में) एवं विश्वरूप (८००-८५० ई०) इस विषय में कोई संदेह नहीं छोड़ते कि उनके समय में पुराणों के विषय आज के विषयों के सदृश ही थे। जैमिनि (१०।४।२३) के भाष्य में शबर ने यज्ञों के सम्बन्ध में देवता की परिभाषा करते हुए लिखा है कि एक मत के अनुसार वे अग्नि आदि हैं जिनका उल्लेख इतिहास एवं पुराणों में स्वर्ग में रहने वालों के रूप में हुआ है। कादम्बरी एवं हर्षचरित में बाण ने महाभारत एवं पुराणों का बहुधा उल्लेख किया है जिनमें कादम्बरी

१. पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः। वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥ याज्ञ० १।३; यतो वेदाः पुराणानि विद्योपनिषदस्तथा। श्लोकाः सूत्राणि भाष्याणि यच्च किंचन वाङ्मयम्॥ याज्ञ० ३।१८९; वेदाथर्वपुराणानि सेतिहासानि शक्तितः। जपयज्ञप्रसिद्ध्यर्थं विद्यां चाध्यात्मिकीं जपेत्॥ याज्ञ० (१।१०१)। मिलाइए, विष्णुपुराण ५।१।३७-३८ एवं याज्ञ० १।३। कभी-कभी याज्ञ० की सूची में चार उपवेदों, यथा आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद एवं अर्थशास्त्र को मिला लिया जाता है और संख्या १४ से १८ हो जाती है। देखिए, विष्णुपुराण (३।६।२५-२६, जहाँ १४ विद्या० एवं उपवेदों का उल्लेख है)।

की दो एवं हर्षचरित की एक उक्ति मनोरंजक है। जाबालि मुनि की कुटी का वर्णन करते हुए बाण ने एक श्लेष का प्रयोग किया है, 'पुराण में वायुप्रलपित' (वायु देवता द्वारा उद्घोषित, प्रलपित या जल्पना) था, किन्तु कुटी में (वातव्याधि का प्रलाप) नहीं था।[10] इसी प्रकार तारापीड के प्रासाद के वर्णन में बाण ने श्लेष प्रयुक्त किया है, जहाँ उसे पुराण के तुल्य माना है (दो अर्थ ये हैं, 'जहाँ विश्व का संचित धन उचित रूप में व्यवस्थित है', 'जिसमें लोकों के सम्पूर्ण गोलकों का वर्णन है; जिसका प्रत्येक भाग उचित रूप में व्यवस्थित है')। कादम्बरी के उत्तरभाग (बाण के पुत्र द्वारा प्रणीत) में आया है कि सभी आगमों (परम्परा से चले आये हुए धार्मिक ग्रन्थ), यथा—पुराणों, रामायण एवं भारत में शापों के विषय में बहुत-सी कहानियाँ हैं। यहाँ पुराणों को पहले रखा गया है, इससे प्रकट होता है कि वे रामायण एवं भारत (महाभारत) से सम्भवतः अधिक सम्मानित एवं प्रचलित थे। हर्षचरित[11] में ऐसा आया है कि पुस्तकवाचक सुदृष्टि ने बाण एवं उसके सम्बन्धियों तथा मित्रों का सम्मान करने के लिए वायु द्वारा प्रवर्तित पुराण का संगीतमय पाठ कराया, जो मुनि (व्यास) द्वारा रचा गया था, जो अति विशद है, जो विश्व-व्यापी (सभी स्थानों पर ज्ञात) है, जो पावन है, जो हर्ष के चरित से भिन्न नहीं है (जिसके लिए पुराण में प्रयुक्त सभी विशेषण उपयुक्त हैं)। यह प्रकट होता है कि यहाँ वायु पुराण स्पष्ट रूप से उल्लिखित है (जिसके लिए पवमान-प्रोक्त एवं पावन शब्द आये हैं)। यहाँ यह भी कहा गया है कि पुराणों में विश्व के कतिपय भागों का वर्णन पाया जाता है। यह वर्णन वायु, मत्स्य (अध्याय ११४-१२८), ब्रह्माण्ड (२।१५) की ओर संकेत करता है। ऐसा तर्क किया जा सकता है कि बाण द्वारा उल्लिखित पुराण ब्रह्माण्ड हो सकता है, क्योंकि उस पुराण में आया है—'आरम्भ एवं अन्त में ब्रह्मा ने उसे वायु को दिया, जिससे वह कतिपय दैवी एवं अर्ध दैवी व्यक्तियों को प्राप्त हुआ और अन्त में उसे सूत ने व्यास से प्राप्त किया।' यह तर्क स्वीकार्य नहीं हो सकता, क्योंकि बाण को यह स्पष्ट रूप से कहने में कोई रोक नहीं सकता था कि सुदृष्टि द्वारा ब्रह्माण्ड पुराण का पाठ कराया गया था।

कुमारिल भट्ट ने अपने तन्त्रवार्तिक में कई स्थानों पर पुराणों एवं उनमें पायी जाने वाली बातों की ओर संकेत किया है। दो-एक मनोरंजक उक्तियाँ यहाँ दी जा रही हैं। जैमिनि (१।३।१) पर कुमारिल का कथन है—"अतः सभी स्मृतियों की प्रामाणिकता उस प्रयोजन से सिद्ध है जो उनके द्वारा किया जाता है; उनमें (स्मृतियों में) सब कुछ धर्म एवं मोक्ष से सम्बन्धित है (प्रामाणिक है), क्योंकि वह वेद से उत्पन्न होता है; जो कुछ अर्थ एवं सुख से सम्बन्धित है वह लोगों के व्यवहार पर आधारित है। इस प्रकार एक अन्तर किया जाना चाहिए। यही तर्क इतिहास एवं पुराणों के उपदेश वाक्यों में भी प्रयुक्त होता है। उपाख्यानों की व्याख्या अर्थ-

१०. पुराणे वायुप्रलपितम्। काद०, पूर्वभाग, वाक्य-समूह ३७; पुराणमिव यथाविभागावस्थितसकल-भुवनकोशम्। काद०, पूर्वभाग, वाक्य-समूह ८५ (राजकुल)। स्वयं वायुपुराण में आया है कि सूत ने नैमिष वन में मुनियों से वायु द्वारा प्रवर्तित पुराण सर्वप्रथम कहा (१।४७-४८ पुराणं संप्रवक्ष्यामि यदुक्तं मातरिश्वना। पृष्टेन मुनिभिः पूर्वं नैमिषीयैर्महात्मभिः॥); वायु० के अध्याय ३४-४९ में भुवनविन्यास है; आगमेषु सर्वेष्वेव पुराणरा-मायणभारतादिषु सम्यगनेकप्रकाराः शापवार्ताः। काद०, उत्तरभाग (चन्द्रापीड के हृदय टूटने के समाचार पर राजा तारापीड को सान्त्वना देने के लिए शुकनास की वक्तृता)।

११. पुस्तकवाचकः सुदृष्टिः...गीत्या पवमानप्रोक्तं पुराणं पपाठ। हर्षचरित ३, चौथा भाग-समूह; दोनों के लिए प्रयुक्त आर्या छन्द है 'तदपि मुनिगीतमतिपृथु तदपि जगद्व्यापि पावनं तदपि। हर्षचरितादभिन्नं प्रतिभाति मे पुरा-णमिदम्॥' हर्ष० ३, ५वाँ वाक्य-समूह। पवन का अर्थ है वायु और इसी से पावन 'वायवीय' के स्थान पर आया है।

वादों में प्रयुक्त होने वाले तर्क से की जा सकती है (अर्थात् वे वेद के स्तुतिद्योतक वाक्यों के सदृश प्रयोजन एवं प्रामाणिकता वाले हैं)। पृथिवी के विभागों का कथन प्रदेशों के अन्तर को समझने के उपयोग में आता है, जिसके द्वारा धर्माधर्म से उत्पन्न फलों को भोगा जाता है, जो कुछ अंश में अपने अनुभव पर आधारित होता है तथा कुछ अंश में वेद पर आधारित होता है। पुराणों में वंशों का जो क्रमबद्ध निरूपण होता है उससे ब्राह्मण एवं क्षत्रिय जातियों और उनके गोत्रों के ज्ञान की प्राप्ति होती है और वह वास्तविक अनुभूतिमूलक एवं स्मृतिमूलक होता है (अर्थात् वह वास्तविक अनुभूति एवं परम्परा से चले आये हुए ज्ञान पर आधारित होता है); देशों एवं काल के परिमाणों से सांसारिक आदान-प्रदान एवं ज्योतिःशास्त्र-सम्बन्धी व्यवहार में सहायता प्राप्त होती है और वे वास्तविक प्रत्यक्ष, गणित, परम्परा एवं अनुमान पर आधृत होते हैं। भावी कथन (भविष्य में घटने वाली बातों का कथन) वेद पर आधृत है, क्योंकि वह धर्माधर्म से उत्पन्न फलों के विभिन्न प्रकार के ज्ञानों की अनुभूति कराता है और अनादि काल से चले आये हुए युगवैशिष्ट्य-ज्ञान का परिचय देता है।"[१२] इस कथन से यह स्पष्ट है कि कुमारिल को इतिहास एवं पुराणों का जो परिचय था उसमें गाथाएँ, पृथिवी स्थिति-ज्ञान (भूगोल), वंश-सूचियाँ, काल-परिमाण एवं भविष्य में घटने वाली घटनाओं का उल्लेख था। कुमारिल (जै० १।३।७) का एक अन्य कथन भी द्रष्टव्य है—'पुराणों में ऐसा वर्णित है कि कलियुग में शाक्य (गौतम बुद्ध) एवं अन्य उदित होंगे जो धर्म के विषय में विप्लव खड़ा करेंगे, उनके शब्दों को कौन सुनेगा?'[१३] इससे प्रकट है कि सातवीं शती के पूर्व पुराणों में कलियुग के स्वरूप का निरूपण पाया जाता था और कुमारिल को पुराण ज्ञात थे। वे बुद्ध को विष्णु का अवतार नहीं मानते थे, प्रत्युत वे उनकी भर्त्सना करते थे। क्षेमेन्द्र ने अपना दशावतार ग्रन्थ सन् १०६६ ई० में लिखा है, अपरार्क ने मत्स्यपुराण (अध्याय २८५) से एक लम्बा वाक्य-समूह उद्धृत किया है, जिसके सात श्लोकों में विष्णु के दस अवतारों (बुद्ध भी सम्मिलित किये गये हैं) का उल्लेख है, जयदेव के गीतगोविन्द ने बुद्ध को अवतार माना है। इन बातों से स्पष्ट है कि १००० ई० के पूर्व बुद्ध विष्णु के एक अवतार के रूप में मान लिये गये थे, यद्यपि सातवीं शती में कुछ पुराणों ने उनकी निन्दा की थी। 'स्वर्ग' शब्द के अर्थ के विषय में विचार करते हुए कुमारिल ने पूछा है—'क्या यह नक्षत्रों का लोक है या मेरु पर्वत का पृष्ठ भाग है, जैसा कि इतिहास एवं पुराणों में आया है, या यह मात्र सुख की एक स्थिति का द्योतक है?"[१४] इससे प्रकट है कि कुमारिल के काल में पुराणों में मेरु का पृष्ठ भाग स्वर्ग के रूप में निरूपित था।

१२. तेन सर्वस्मृतीनां प्रयोजनवती प्रामाण्यसिद्धिः। तत्र यावद्धर्ममोक्षसम्बन्धि तद्वेदप्रभवम्। यत्त्वर्थसुखविषयं तल्लोकव्यवहारपूर्वकमिति विवेक्तव्यम्। एषैवेतिहासपुराणयोरप्युपदेशवाक्यानां गतिः। उपाख्यानानि त्वर्थवादेषु व्याख्यातानि। यत्तु पृथिवीविभागकथनं तद्धर्माधर्मसाधनफलोपभोगप्रदेशविवेकाय। किंचिद्दर्शनपूर्वकं किंचिद्वेदमूलम्। वंशानुक्रमणमपि ब्राह्मणक्षत्रियजातिगोत्रज्ञानार्थं दर्शनस्मरणमूलम्। देशकालपरिमाणमपि लोकज्योतिःशास्त्रव्यवहारसिद्ध्यर्थं दर्शनगणितसंप्रदायानुमानपूर्वकम्। भाविकथनमपि त्वनादिकालप्रवृत्तयुगस्वभावधर्माधर्मानुष्ठानफलविपाकवैचित्र्यज्ञानद्वारेण वेदमूलम्। तन्त्रवार्तिक (जै० १।३।१: धर्मस्य शब्दमूलत्वादशब्दमनपेक्षं स्यात्)।

१३. स्मृयन्ते च पुराणेषु धर्मविप्लुतिहेतवः। कलौ शाक्यादयस्तेषां को वाक्यं श्रोतुमर्हति॥ तन्त्रवार्तिक पृ० २०३, जै० १।३।७। कुछ पुराणों, यथा—वराह (११३।२७-२८), ब्रह्म (१२२।६८-७०), पद्म (६।२११।१३-१५) ने विष्णु के दस अवतारों (बुद्ध को सम्मिलित करते हुए) का वर्णन किया है। किन्तु इन पुराणों में पश्चात्कालीन क्षेपक आ गये हैं और इनकी तिथियों के विषय में निश्चित बात करना सम्भव नहीं है।

१४. तथा स्वर्गशब्देनापि नक्षत्रदेशो वा वैदिकप्रवादपौराणिकयाज्ञिकदर्शनेनोच्यते...यदि वेतिहासपुरा-

शंकराचार्य ने वेदान्तसूत्र के भाष्य में पुराणों के विषयों एवं उनके उन विशिष्ट स्वरूपों का उल्लेख अधिकतर किया है जो आज पुराणों में यथावत् पाये जाते हैं, यद्यपि उन्होंने किसी पुराण का नाम नहीं लिया है। उदाहरणार्थ, उनका कथन है कि पुराण द्वारा यह प्रतिष्ठापित है कि अतीत एवं भावी कल्पों की संख्या के विषय में कोई सीमा नहीं है (वे० सू० २।१।३६)। वे० सू० (१।३।३०) में आचार्य शंकर ने दो श्लोक उद्धृत किये हैं जिन्हें वे स्मृतिमूलक मानते हैं, किन्तु वास्तव में वे विष्णुपुराण (१।५।५९-६०) के हैं और मनु एवं याज्ञ० जैसी प्राचीन स्मृतियों में नहीं पाये जाते। वे० सू० (३।१।१५ : अपि च सप्त) में भाष्य का कथन है कि वे, जिन्होंने पुराण पढ़े हैं या उन्हें जानते हैं, ऐसा कहते हैं कि रौरव आदि सात नरक हैं, जहाँ पापी लोग दुष्कर्म करने के फलस्वरूप जाते हैं। विष्णुपुराण ने तामिस्र, रौरव आदि सात नरकों का उल्लेख किया है, जहाँ वेदविरोधी, यज्ञविरोधी एवं उचित धर्माचरण न करने वाले जाते हैं। मनु (४।८७-९०), याज्ञ० (३।२२२-२२४), विष्णुधर्मसूत्र (४३।२-२२) ने २१ नरकों का उल्लेख किया है और सभी पुराणों ने २१ या इससे अधिक नरकों की ओर संकेत किया है। इस विषय में हमने इस ग्रन्थ के प्रथम खंड में ही पढ़ लिया है। वे० सू० (१।३।२६ एवं ३३) में भाष्य ने कहा है कि वैदिक मन्त्रों, अर्थवाद-वाक्यों, इतिहास एवं पुराण तथा प्रचलित विश्वास के आधार पर लोग समझ सकते हैं कि देवों को शरीर प्राप्त हैं। वे० सू० (२।१।१) में शंकराचार्य ने एक ऐसा श्लोक उद्धृत किया है जो वायुपुराण में भी है और १।३।३० में ५ श्लोक स्मृति के कहे गये हैं जो वायुपुराण (९।५७-५९ एवं ६४-६५) के हैं। याज्ञवल्क्यस्मृति की टीका में विश्वरूप ने पुराणों पर दो मनोरंजक टिप्पणियाँ दी हैं। याज्ञ० (३।१७०) में जहाँ विश्व-विकास के सांख्य-सिद्धान्त का वर्णन है, उसकी टीका में विश्वरूप का कथन है कि यह सिद्धान्त (विश्व की सृष्टि एवं विलयन का सिद्धान्त) पुराणों में पाया जाता है। याज्ञ० (३।१७५) में जहाँ यह कहा गया है कि पितृलोक का मार्ग अगस्त्य नक्षत्र एवं अजवीथि के मध्य में है, विश्वरूप की टिप्पणी है कि पुराणों में आकाश में सूर्य की कई वीथियाँ (मार्ग) हैं और अजवीथि अगस्त्य के अनन्तर है।

उपर्युक्त निरूपण से यह व्यक्त होता है कि शबर से विश्वरूप तक के लेखकों ने पुराणों के विषयों के बारे में जो कुछ संकेत अथवा उल्लेख किये हैं उनसे यह प्रकट है कि ईसा की दूसरी शती से लेकर छठी या सातवीं शती तक के पुराणों में वे ही बातें पायी जाती हैं जो आज के पुराणों में देखने को मिलती हैं।

आगे कुछ लिखने के पूर्व यहाँ युग-पुराण (गार्गी-संहिता का एक अंश) के बारे में कुछ चर्चा कर देना आवश्यक है, क्योंकि यह उन प्रारम्भिक एवं विद्यमान पुराणों में परिगणित है, जिन्हें 'पुराण' की संज्ञा एवं विधा प्राप्त है। कर्न महोदय ने बृहत्संहिता की अपनी भूमिका (पृ० ३२-४०) में इस विरल पुराण की चर्चा की और विद्वानों के समक्ष इसके बहुमूल्य ऐतिहासिक आँकड़ों को एक कटी-छँटी पाण्डुलिपि से निकाल कर रखा। आगे चल कर डा० जायसवाल महोदय ने कर्न की अपूर्ण पाण्डुलिपि तथा अन्य दो पाण्डुलिपियों से युगपुराण का संशोधित संस्करण उपस्थित किया जो अनुष्टुप् छन्द की ११५ अर्ध पंक्तियों में है। पुनः प्रो० लेवी की प्रति भी प्राप्त हुई, जिसका उपयोग डा० जायसवाल ने किया (जे० बी० ओ० आर० एस्०, जिल्द १४)। और देखिए प्रो० के० एच्० ध्रुव का लेख (वही, जिल्द १६, पृ० १८-६६), प्रो० डी० के० मनकड़ का ग्रन्थ (चारुतर प्रकाशन, वल्लभविद्यानगर,

णोदयनं मेरुपृष्ठम्, अथवा अन्वयव्यतिरेकाभ्यां विभक्तं केवलमेव सुखम्।...तन्त्रवार्तिक, पृ० २९९ (जै० १।३।३०)। बहुत-से पुराणों में देव एवं उपदेव मेरु पर्वत के पृष्ठ भाग के निवासी कहे गये हैं। देखिए, मत्स्य (२।३७-३८), पद्म (५।८।७२-७३)।

१९५१), जहाँ जायसवाल के युग-पुराण सम्बन्धी मतों की आलोचना आदि है और ऐतिहासिक तथ्यों की ओर पर्याप्त निर्देश हैं।

युगपुराण को प्रो० मनकड़ द्वारा प्राप्त पाण्डुलिपि में स्कन्दपुराण कहा गया है। यह बृहत्संहिता का ११३ वाँ अध्याय है। 'स्कन्दपुराण' नाम सम्भवतः इसलिए पड़ा है कि इस पुराण के आदि में स्कन्द ने विभिन्न युगों की विशेषताओं के विषय में शिव से प्रश्न पूछा है। कृत, त्रेता एवं द्वापर की विशेषताओं का उल्लेख क्रम से ११-२८, २९-४५ एवं ४६-७४ पंक्तियों में हुआ है (देखिए प्रो० मनकड़ का संस्करण)। प्रो० मनकड़ के संस्करण में ७५-२३५ पंक्तियाँ एवं डा० जायसवाल के संस्करण में १-११५ पंक्तियाँ (जे० बी० ओ० आर० एस०, जिल्द १४, पृ० ४००-४०८) कलियुग की विशेषताओं एवं ग्रन्थ के पूर्व की कुछ शतियों के राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास पर प्रकाश डालती हैं। युगपुराण में वर्णित कलियुग की विशेषताएँ वनपर्व (१८८।३०-६४) में उल्लिखित विशेषताओं से सर्वथा मिल जाती हैं। दोनों में श्लोक का अर्धांश एक ही है।

महत्त्वपूर्ण बातें संक्षेप में यों हैं—'द्रौपदी की मृत्यु के उपरान्त कलियुग का आरम्भ हुआ। कलियुग के आरम्भ में परीक्षित् का पुत्र जनमेजय एक प्रसिद्ध राजा होगा, किन्तु वह ब्राह्मणों से विरोध करेगा। कलियुग में शिशुनाग का पुत्र उदायि गंगा के दक्षिण किनारे पर पाटिलपुत्र नगर बसायेगा, जो पुष्पपुर के नाम से पुकारा जायेगा, पाँच जो सहस्र, सौ, पाँच वर्षों, पाँच मासों, पाँच दिनों एवं पाँच मुहूर्तों तक अवस्थित रहेगा। उस पुष्पपुर में शालिशूक नामक उद्भ्रान्त एवं दुष्ट राजा होगा, जो अपने गुणी बड़े भाई विजय को साकेत में स्थापित करेगा। तब वीर यवन, पाञ्चाल एवं माथुर लोग साकेत पर आक्रमण करेंगे और कुसुमपुर को, जिसकी किलेबन्दी मिट्टी की होगी जीत लेंगे। यवनों के इस आक्रमण से सभी देश आकुल हो जायेंगे। इसके उपरान्त अनार्य लोग आर्यों के व्यवहारों का अनुसरण करेंगे। कलियुग के अन्त में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य समान रूप से वस्त्र धारण करेंगे और एक-सा व्यवहार करेंगे। लोग नास्तिक सम्प्रदायों में सम्मिलित होंगे और पत्नियों के लिए (उन पर बलात्कार करने के लिए) एक-दूसरे से मित्रता करेंगे। शूद्र लोग 'ओम्' के साथ आहुतियाँ डालेंगे तथा दूसरों को 'भोः' शब्द से सम्बोधित करेंगे और ब्राह्मण लोग दूसरों को 'हे आर्य' कहेंगे। यवन नगर (पुष्पपुर) में पाँच राजा स्थापित करेंगे। यवन लोग मध्यदेश में बहुत समय तक नहीं रहेंगे। यवनों के नाश के उपरान्त साकेत में सात शक्तिशाली राजा होंगे। मध्यदेश में रक्तरंजित युद्ध होंगे। सभी आग्निवेश्य राजा युद्ध में समाप्त होंगे और यही दशा प्रजा की होगी।'

'इसके उपरान्त कलिंग के राजा सात के विरोध से लोभी शक नाश को प्राप्त होंगे, पृथिवी का सत्यानाश होगा एवं पुष्पपुर में शून्यता प्राप्त होगी। रक्त-चक्षु अमलात पुष्पपुर को प्राप्त करेगा। म्लेच्छराज अमलात असहाय जनता एवं चारों वर्णों का नाश करेगा। अमलात अपने सम्बन्धियों के साथ नाश को प्राप्त होगा और एक राजा होगा जिसका नाम गोपाल होगा, वह एक वर्ष राज्य कर के मर जायगा। इसके उपरान्त पुष्यक नामक न्यायी राजा होगा जो केवल एक वर्ष तक राज्य करेगा। दो अन्य राजाओं के उपरान्त अग्निमित्र राजा होगा जो एक कन्या के लिए ब्राह्मणों से भयंकर युद्ध करेगा। उसके उपरान्त उसका पुत्र २० वर्षों तक राज्य करेगा। शबरों से युद्ध होने के कारण प्रजा की दशा बुरी होगी। तब सात राजा राज्य करेगा। इसके उपरान्त शकों का विप्लव होगा जो प्रजा की एक-चौथाई का नाश कर देंगे और लोगों को अनैतिक बना देंगे।' इस प्रकार युगपुराण एक निराशा-जनक टिप्पणी के साथ समाप्त होता है।

युगपुराण शकों के आगे के वंशों की चर्चा नहीं करता, अर्थात् वह आन्ध्रों, आभीरों एवं गुप्तों के विषय में मौन है, अतः वह उन पुराणों से पुराना है जिनमें इन वंशों की भी चर्चा है। डा० जायसवाल ने इसे ई० पू० प्रथम शती के उत्तरार्ध में रखा है, जो ठीक ही जँचता है।

प्रो० ए० के० नारायण ने एक पुस्तक लिखी है जो अभी हाल में छपी है। उसका नाम है 'दी इण्डो-ग्रीक्स' (आक्सफोर्ड, १९५७)। इस पुस्तक में युगपुराण के कुछ कठिन वाक्यों पर सुन्दर टिप्पणियाँ दी हुई हैं। उन्होंने यह बताया है कि कर्णपर्व में यवन लोग सर्वश्र म्लेच्छों से भिन्न एवं वीर कहे गये हैं (कर्णपर्व ४५।३६)।

मत्स्य (५३।३-११), वायु (१।६०-६१), ब्रह्माण्ड (१।१।४०-४१), लिंग (१।२।२), नारदीय (१।९२। २२-२६), पद्म (५।१।४५-५२) में आया है कि पुराण मौलिक रूप से एक ही था और ब्रह्मा ने सर्वप्रथम इसके विषय में विचार किया, इसके उपरान्त उनके अधरों से वेद निकले। मौलिक रूप में पुराण में एक सौ करोड़ श्लोक थे तथा व्यास ने इसका सार ४ लाख श्लोकों में प्रत्येक द्वापर युग में घोषित किया। पुराणों की कोई प्राचीन परम्परा थी या आरम्भ में केवल एक ही पुराण था, जो कल्पना मात्र है, यह सब कुछ निश्चितता से कहना सम्भव नहीं है। ऊपर हमने देख लिया है कि बहुत प्राचीन काल में (तैत्तिरीय आरण्यक के काल में) पुराण बहुवचन में प्रयुक्त होते थे। अतः यह कहा जा सकता है कि वर्तमान कालिक पुराण प्राचीन पुराणों के उत्तराधिकारी मात्र हैं, यद्यपि प्राचीन पुराणों के विषय में हम कुछ भी नहीं के बराबर जानते हैं।

पुराणों की (आगे चलकर एवं स्वयं पुराणों द्वारा घोषित महापुराणों की) संख्या परम्परा से अठारह है। ये कतिपय पुराणों में वर्णित हैं, यथा—विष्णु (३।६।२१-२३), वराह (११२।६९-७२), लिंग (१।३९।६१-६३), मत्स्य (५३।११), पद्म (१०।५१-५४), भविष्य (१।१।६१-६४), मार्कण्डेय (१३४।७-११), अग्नि (२७२), भागवत (१२।१३।४-८), वायु (१०४) २-१०), स्कन्द (प्रभासखण्ड, २।५-७)। अठारह नामों एवं उनके विस्तार तथा विषयों के बारे में अन्तर मिलता है। मत्स्य (५१।१८-१९), अग्नि (२७२।४-५), नारदीय (१।९२।२६-२८) ने वायु को १८ में चौथा माना है, जब कि अधिकांश पुराण शिवपुराण को चौथे स्थान पर रखते हैं। स्कन्द (प्रभास खण्ड २।५ एवं ७) ने चौथे स्थान पर शिव को रखा है न कि वायु को और वायवीय (सम्भवतः ब्रह्माण्ड) को अन्तिम स्थान पर। देवीभागवत में एक श्लोक आया है जिसमें १८ पुराणों के प्रथम अक्षर आये हैं और वहाँ शिवपुराण नहीं है।[15] सौरपुराण (९।५-१२) की १८ वाली सूची में वायु चौथे स्थान पर है (यहाँ शिव नहीं है) और ब्रह्माण्ड अन्त में। सूतसंहिता (१।१।७-११) ने १८ पुराणों के नाम दिये हैं, वायु को छोड़ दिया और उसके स्थान पर शिवपुराण को रखा है। दानसागर ने अपनी भूमिका के श्लोकों (११-१२, पृ० २-३) में वायवीय एवं शैव को पृथक्-पृथक् रखा है। हेमाद्रि (दान, भाग—१, पृ० ५३१) द्वारा उद्धृत कालिकापुराण के श्लोकों में शिव, कालिका, सौर तथा वह्निज (आग्नेय, जो वास्तविक है) प्रमुख अठारह पुराणों में परिगणित हैं। डा० ए० डी० पुसल्कर की धारणा है कि वायु को ही अठारह पुराणों में रखा जाना चाहिए न कि शिवपुराण को।[16] अलबरूनी ने अपने ग्रन्थ

१५. मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्। अनापलिंगकूस्कानि पुराणानि पृथक् पृथक्॥ देवीभागवत (१। ३।२)। मद्वय मत्स्य, मार्कण्डेय; भद्वय भविष्य, भागवत; ब्रत्रयं ब्रह्म, ब्रह्मवैवर्त, ब्रह्माण्ड; वचतुष्टय वराह, वामन, वायु, विष्णु; अ, ना, प, लिं, ग क्रम से अग्नि, नारदीय, पद्म, लिंग, गरुड़; कू कूर्म; स्क स्कन्द। विल्सन ने विष्णु० के अनुवाद की भूमिका में लिखा है कि उनकी वराह वाली पाण्डुलिपि में गरुड़ एवं ब्रह्माण्ड के नाम नहीं आये हैं, प्रत्युत वायु एवं नरसिंह के नाम १८ की सूची में हैं। अवश्य ही यह पाण्डुलिपि इस विषय में विचित्र है।

१६. डा० ए० डी० पुसल्कर (विद्या भवन सीरीज, बम्बई, १९५५) द्वारा लिखित 'स्टडीज इन दि एपिक्स एण्ड पुराणज आव इण्डिया,' (अध्याय २, पृ० ३१-४१)। मत्स्य (५३।१८-१९) में वही वर्णित है जो वायुपुराण में लिखित है।

में (१०३० ई० में लिखित) एक पुराण-सूची दी है, उसमें केवल शिवपुराण को वायुपुराण के स्थान पर रख दिया गया है तथा अन्य अन्तर नहीं प्रकट किया गया है। अलबरूनी को विष्णुपुराण पढ़कर सुनाया गया था। इससे स्पष्ट है कि प्रमुख पुराणों की सूची ईसा की दसवीं शती के बहुत पहले पूर्ण हो चुकी और विष्णुपुराण में वह सूची सन् १०३० ई० के बहुत पहले आ गयी रही होगी। अलबरूनी ने एक अन्य सुनी-सुनायी सूची भी दी है, जो यों है—आदि, मत्स्य, कूर्म, वराह, नरसिंह, वामन, वायु, नन्द, स्कन्द, आदित्य, सोम, साम्ब, ब्रह्माण्ड, मार्कण्डेय, तार्क्ष्य (गरुड़), विष्णु, ब्रह्म एवं भविष्य। इस सूची में वायु का नाम है, किन्तु शैव (शिव पुराण या शैव पुराण) का नहीं। इस सूची में कुछ पुराणों में वर्णित कुछ उपपुराण भी सम्मिलित कर लिये गये हैं (यथा—आदि, नरसिंह, नन्द, आदित्य, सोम एवं साम्ब) और कुछ ऐसे पुराण जो एकमत से महापुराण कहे जाते हैं (यथा—पद्म, भागवत, नारद, अग्नि, लिंग एवं ब्रह्मवैवर्त) छोड़ दिये गये हैं। इससे स्पष्ट है कि कुछ उपपुराण, यथा—आदि, नरसिंह, आदित्य, साम्ब, नन्द (नन्दी?) कम-से-कम सन् १००० ई० के कुछ वर्ष पहले ही प्रणीत हो चुके रहे होंगे। बालम्भट्ट (१८ वीं शती के उत्तरार्ध में) ने मिताक्षरा (याज्ञ० १।३) की टीका में लिखा है कि वायवीयपुराण को शैवपुराण भी कहा जाता था।

अब हम नीचे १८ पुराणों की सूची दे रहे हैं। इसमें प्रत्येक पुराण के श्लोकों की संख्या के विषय में भी जानकारी दी जा रही है।

क्रम-संख्या	पुराण का नाम	मत्स्य, वायु १०४ एवं अन्य ग्रन्थों के अनुसार श्लोकों की संख्या	अन्य पुराणों के अनुसार श्लोकों की संख्या तथा टिप्पणी
१	ब्रह्म	१०,००० नारद (९२।३१) एवं भागवत (१२।१३।४) के अनुसार	अग्निपुराण (२७२।१) के अनुसार २५,०००।
२	पद्म	५५,०००	
३	विष्णु	२३,०००	कतिपय ग्रन्थों में संख्या ६ से २४ सहस्र तक लिखी हुई है।
४	वायु	२४,०००	अग्नि (२७२।४-५) के अनुसार १४,००० एवं देवी-भागवत (१।३।७) के अनुसार २४,६००।
५	भागवत	१८,०००	
६	नारदीय	२५,०००	
७	मार्कण्डेय	९,०००	स्वयं मार्कण्डेय (१३४।३९) के अनुसार ६९०० तथा नारद (१।९८।२ एवं वायु १०४।४) के अनुसार ९०००।
८	अग्नि	१६,०००	भागवत (१२।१३।५) के अनुसार १५,४०० तथा अग्नि (२७२।१०-११) के अनुसार १२,०००।
९	भविष्य	१४,५००	अग्नि (२७२।१२) के अनुसार १४,०००।
१०	ब्रह्मवैवर्त	१८,०००	

क्रम-संख्या	पुराण का नाम	मत्स्य, वायु १०४ एवं अन्य ग्रन्थों के अनुसार श्लोकों की संख्या	अन्य पुराणों के अनुसार श्लोकों की संख्या तथा टिप्पणी
११	लिंग	११,०००	
१२	वराह	२४,०००	
१३	स्कन्द	८१,०००	अग्नि (२७२।१७) के अनुसार ८४,०००। देखिए आगे का अध्याय २३, स्कन्दपुराण का विवरण।
१४	वामन	१०,०००	
१५	कूर्म	१८,०००	नारद (१।१०६।३) एवं भागवत (१२।१३।८) के अनुसार १७,०००, अग्नि (२७२।१२) के अनुसार ८,०००।
१६	मत्स्य	१४,०००	अग्नि (२७२।२०-२१) के अनुसार १३,०००।
१७	गरुड़	१८,०००	भागवत (१२।१३।८) एवं देवीभागवत (१।३) के अनुसार १९,०००, तथा अग्नि (२७२।२१) के अनुसार ८,०००।
१८	ब्रह्माण्ड	१२,२०० मत्स्य (५३।५४) के अनुसार	भागवत (१२।१३-८) एवं अग्नि (२७२।२३) के अनुसार १२,०००।

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि अठारह पुराणों में कुल ४,००,६०० श्लोक हैं, जैसा कि अधिक पुराणों की सूचियों से प्रकट होता है। यह संख्या कुछ पुराणों में वर्णित ४ लाख की संख्या से मिल जाती है। किन्तु विद्यमान पुराणों की श्लोक-संख्या उतनी नहीं है जितनी कि कही गयी है। उदाहरणार्थ, विष्णुचित्ती एवं वैष्णवाकूतचन्द्रिका नामक विष्णुपुराण (३।६।२३) की टीकाओं से प्रकट होता है कि विष्णुपुराण में ६, ८, ९, १०, २२, २३ से लेकर २४ सहस्र श्लोक तक पाये जाते हैं। दोनों टीकाएँ ६००० श्लोकों वाले विष्णुपुराण की टीका करती हैं। यही बात कूर्मपुराण के साथ भी पायी जाती है, जहाँ यह बहुत-से पुराणों के कथनानुसार १७,००० या १८,००० श्लोकों वाला है, वहाँ आज इसमें केवल ६००० श्लोक पाये जाते हैं। नारदीय के अनुसार १०,००० एवं अग्नि के अनुसार २५,००० श्लोकों वाले ब्रह्म में आज लगभग १४,००० श्लोक हैं। दूसरी ओर स्कन्द में ८१,००० श्लोक कहे गये हैं, किन्तु मुद्रित संस्करण में इससे कई सहस्र अधिक श्लोक पाये जाते हैं। भविष्य (ब्राह्मपर्व) में आया है कि प्रत्येक पुराण में पहले मौलिक रूप में १२,००० श्लोक पाये जाते थे, किन्तु विस्तार होता गया, क्योंकि गाथाएँ बढ़ती गयीं, यहाँ तक कि स्कन्द में एक लाख श्लोक हो गये और भविष्य में ५०,००० श्लोक। जिस क्रम में पुराण रखे गये हैं, वह भी सदैव एक-सा नहीं रहा है। अधिकांश पुराण ब्रह्म को प्रथम स्थान में रखते हैं एवं उपर्युक्त तालिका को ही मानते हैं, किन्तु वायु (१०४।३) एवं देवीभागवत (१।३।३) ने सूची का आरम्भ मत्स्य से किया है। स्कन्द (प्रभासखण्ड २।८-९) ने ब्रह्माण्ड को प्रथम स्थान में रखा है। भागवत (१२।७।२३-२०) ने अन्य क्रम में पुराणों की सूची दी है। वामनपुराण (१२।४८) ने मत्स्य को सर्वोपरि स्थान दिया है। सभी पुराणों के विषयों की चर्चा मत्स्य (अध्याय ५३), अग्नि (अध्याय २७२), स्कन्द (प्रभासखण्ड,

२।२८-७६), नारदीय (जिसमें ब्रह्म से ब्रह्माण्ड तक के सभी १८ पुराणों के विषयों पर १८ अध्याय हैं, १।९२।-३०-३१ से लेकर १।१०९ तक) ने की है। वायुपुराण को छोड़ कर अन्य प्रमुख पुराणों की संख्या के विषय में कोई मतभेद नहीं है।

पुराणों-सम्बन्धी प्रश्न और जटिल हो उठता है जब हम कुछ पुराणों में वर्णित उपपुराणों के नाम पाते हैं, यद्यपि कुछ पुराण उनकी चर्चा नहीं करते। उदाहरणार्थ, मत्स्य (५३।५९-६२) ने नारसिंह, नन्दी, आदित्य एवं साम्ब को उपपुराणों के नाम से पुकारा है, उसमें यह भी व्यक्त है कि नारसिंह का विस्तार १८,००० श्लोकों तक हो गया और उसने पद्मपुराण द्वारा उद्घोषित नृसिंह अवतार वर्णन विस्तारित कर दिया है। कूर्म (१।१।१६-२०), पद्म (४।१११।९५-९८), देवीभागवत (१।३।१३-१६) ने अठारह उपपुराणों के नाम दिये हैं। कुछ उपपुराणों के नाम प्रमुख पुराणों के नाम के समान ही हैं, यथा—स्कन्द, वामन, ब्रह्माण्ड एवं नारदीय। प्रो० हज़्रा (उपपुराण, जिल्द १) के अनुसार उपपुराणों की संख्या १०० है। बहुत ही कम उपपुराण प्रकाशित हो सके हैं, और जो प्रकाशित हैं उनके विषय प्रमुख पुराणों के विषयों से बहुत सीमा तक मेल रखते हैं और सभी 'पञ्च-लक्षण' नामक पुराण-परिभाषा को असत्य ठहराते हैं। ऐसा पहले ही व्यक्त किया जा चुका है कि सभी प्रमुख अठारह पुराणों के श्लोकों की संख्या ४ लाख कही गयी है।[17] यह द्रष्टव्य है कि इस संख्या में उपपुराणों के श्लोकों की संख्या सम्मिलित नहीं है और न किसी पुराण में ऐसा आया है कि ४ लाख की श्लोक-संख्या में उपपुराणों के श्लोक भी सम्मिलित हैं। मत्स्य एवं कूर्म ने उपपुराणों के विषय में जो टिप्पणी दी है, उस पर ध्यान देना आवश्यक है। मत्स्य (५३।५८-५९ एवं ६३; हेमाद्रि, व्रत, भाग १, पृ०२१-२२) के अनुसार सभी उपपुराण प्रमुख पुराणों के उपभेद हैं; वहाँ यह बलपूर्वक कहा गया है—'यह जान लो कि जो अठारह पुराणों से स्पष्ट रूप से पृथक् घोषित है वह उन्हीं से उत्पन्न भी हुआ है'।[18] कूर्म भी अस्पष्ट ही है, उसमें आया है कि मुनियों १८ पुराणों का अध्ययन

१७. पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्। अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः॥ पुराणमेकमेवासीत्तदा कल्पान्तरेऽनघ। त्रिवर्गसाधनं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम्॥ प्रवृत्तिः सर्वशास्त्राणां पुराणस्याभवत्ततः। कालेनाग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य ततो नृप॥ व्यासरूपमहं कृत्वा संहरामि युगे युगे। चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे सदा॥ तदष्टादशधा कृत्वा भूर्लोकेऽस्मिन् प्रकाश्यते। अद्यापि देवलोकेऽस्मिन् शतकोटिप्रविस्तरम्॥ तदर्थोऽत्र चतुर्लक्षं संक्षेपेण निवेशितम्। पुराणानि दशाऽष्टौ च सांप्रतं तदिहोच्यते॥ मत्स्य (५३।३-११); पद्म (५।१।४५-५२) में मत्स्य के ये सभी श्लोक हैं। वायु (१।६०-६१) एवं ब्रह्माण्ड (१।१।४०-४१) में प्रथम श्लोक पाया जाता है। ब्रह्मपुराण (२४५।४) में आया है, 'आद्यं ब्राह्माभिधानं च सर्ववाञ्छाफलप्रदम्।' विष्णुपुराण (३।६।२०) में आया है 'आद्यं सर्वपुराणानां पुराणं ब्राह्ममुच्यते॥' देवीभागवत (१।३।३) ने मत्स्य को प्रथम स्थान दिया है।

१८. उपभेदान् प्रवक्ष्यामि लोके ये संप्रतिष्ठिताः। पाद्मे पुराणे यत्रोक्तं नारसिंहोपवर्णनम्॥ तच्चाष्टादश साहस्रं नारसिंहमिहोच्यते।...अष्टादशभ्यस्तु पृथक् पुराणं यत्प्रदिश्यते। विजानीध्वं द्विजश्रेष्ठास्तदेतेभ्यो विनिर्गतम्॥ मत्स्य ५३।५८-५९ एवं ६३ (हेमाद्रि, व्रत, भाग १, पृ० २१-२२ द्वारा उद्धृत)। ये श्लोक स्कन्द (प्रभासखण्ड २।७९-८३) में भी आये हैं। कृत्यरत्नाकर (पृ० ३२) ने व्याख्या की है, 'विनिर्गतमुद्भूतम्। यथा कालिकापुराणात्।' प्रो० हज़्रा ने (स्टडीज आदि, जिल्द १, पृ० १६, टिप्पणी ३३) में परिभाषाप्रकाश (पृ० १५) का उद्धरण दिया है 'एतान्युपपुराणानि पुराणेभ्य एव निर्गतानीति याज्ञवल्क्येन पुराणत्वेन संगृहीतानि', और टिप्पणी की है कि इससे प्रकट होता है कि उपपुराण याज्ञवल्क्य को विदित थे। प्रो० हज़्रा यहाँ भ्रम में पड़ गये हैं, उनकी टिप्पणी

करने के उपरान्त उनके संक्षिप्त संस्करण रूप में उपपुराण बनाये।[19] विभिन्न ग्रन्थों की उपपुराण-सूचियाँ, जिनमें अधिकांश प्रो० हज़्रा ने अपने उपपुराण-सम्बन्धी लेख (ए० बी० ओ० आर० आई०, जिल्द २१, पृ० ४०-४८) एवं 'स्टडीज़' (पृ० ४-१३) में रखी हैं, एक-दूसरे से मेल नहीं रखतीं। मत्स्य० ने केवल चार उपपुराणों के नाम गिनाये हैं, अतः ऐसा सोचना कि उस श्लोक के समावेश के समय तक केवल चार ही उपपुराण थे, अतार्किक नहीं है। यह भी कहा जा सकता है कि उस समय तक केवल उन चार ही को उपपुराण की महत्ता प्राप्त हो सकी थी। बहुत-से उपपुराण पश्चात्कालीन हैं। नरसिंह, विष्णुधर्मोत्तर, देवी जैसे थोड़े से उपपुराण सम्भवतः ७ वीं या ८ वीं शती के हैं। प्रो० हज़्रा ने १८ उपपुराणों के निर्माण-काल को ६५०-८०० ई० के बीच रखा है (ए० बी० ओ० आर० आई०, जिल्द २१, पृ० ५१ एवं 'स्टडीज़ इन उपपुराणज', जिल्द १)। उन्होंने यह माना है (पृ० १४) कि उपपुराण-साहित्य में बहुत-से ग्रन्थ अपेक्षाकृत बाद के हैं, किन्तु उन्होंने बड़े साहस के साथ उद्घोष किया है कि उपपुराणों का आरम्भ गुप्त-काल के लगभग हो चुका था। इस उद्घोष के लिए हमारे पास कोई भी प्रमाण नहीं है। उपपुराणों के प्रणयन की तिथियों पर लम्बा विवेचन यहाँ अनावश्यक है। हमें जानना चाहिए कि जब प्रमुख १८ पुराणों ने अपना आज का रूप पा लिया, उन दिनों उपपुराणों की संख्या छोटी थी, वे प्रमुख पुराणों के संक्षिप्त रूप माने जाते थे। वे पुराण, जिन्होंने उपपुराणों का उल्लेख किया है, ऐसा नहीं कहते कि वे दैवी प्रेरणा से युक्त व्यास द्वारा प्रणीत हुए (प्रत्युत किन्हीं मुनियों द्वारा, जैसा कि कूर्म का कथन है), आरम्भिक रूप में उन्हें १८ पुराणों जैसी प्रामाणिकता नहीं प्राप्त थी। सौर (जो स्वयं एक उपपुराण है) उपपुराणों को खिल कहता है (९।५)। स्मृतितत्त्व (१५२०-१५७० ई०) या वीरमित्रोदय (१७ वीं शती के पूर्वार्ध में) जैसे मध्यकालीन निबन्धों ने ही (जो महापुराणों एवं उपपुराणों से कई शतियों के उपरान्त लिखे गये, जिनके लेखकों को इन दो प्रकारों वाले पुराणों के काल की दूरी का ज्ञान नहीं था) पुराणों को धर्म का मूल माना है (याज्ञवल्क्यस्मृति में) और वे ही ऐसा कह सकते हैं कि

सर्वथा त्रुटिपूर्ण है। इस वाक्य में जो कुछ है उसका यही अर्थ है कि वीरमित्रोदय ने १७ वीं शती (याज्ञवल्क्य के लगभग १५०० वर्षों के उपरान्त) में ऐसा विचार किया कि याज्ञ० ने अपनी स्मृति (याज्ञ० १।३) के 'पुराण' शब्द में 'उपपुराणों' को भी रखा। यह मित्र मिश्र का मत है। यह कोई आवश्यक नहीं है कि हम इसे मानें; हमें इससे कोई अनुमान निकालने की आवश्यकता नहीं है। धर्म-साधन के रूप में पुराण को ही याज्ञ० ने माना है, किन्तु उनके समय में कितने पुराण प्रणीत हो चुके थे, इस विषय में वे पूर्णतया मौन हैं। उनके समय में तीन से अधिक पुराण थे, ऐसा सिद्ध करने के लिए हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है। ऐसा सोचना असम्भव है कि उन्होंने 'पुराण' शब्द के अन्तर्गत उपपुराणों को भी रखा है, और वह भी केवल इस बात पर कि कुछ उपपुराणों की रचना सन् १००० ई० के पूर्व हो चुकी थी।

१९. अन्यान्युपपुराणानि मुनिभिः कथितानि तु। अष्टादश पुराणानि श्रुत्वा संक्षेपतो द्विजाः॥ कूर्म० (१।१।१६)। यह और आगे वाले श्लोक, जिनमें १८ उपपुराणों का उल्लेख है, हेमाद्रि (व्रत, भाग १, पृ० २१), रघुनन्दन (मलमासतत्त्व, पृ० ७९२-७९३), मित्र मिश्र (परिभाषाप्रकाश, पृ० १३-१४, जो वीरमित्रोदय का एक अंश है) तथा अन्य मध्यकालीन लेखकों द्वारा उद्धृत हैं। ये लेखक १५ वीं शती के उपरान्त के हैं, केवल हेमाद्रि १३ वीं शती के उत्तरार्ध का है। ऐसा कहना कि ये श्लोक हेमाद्रि में क्षेपक रूप में आ गये हैं, ठीक भी हो सकता है। यह द्रष्टव्य है कि रघुनन्दन ने पहले स्पष्ट रूप से नारसिंह, नन्दी, आदित्य एवं कालिका नामक चार उपपुराणों के नाम लिये हैं और तब कूर्म० से १८ उपपुराणों के नाम उद्धृत किये हैं।

पुराणों के साथ उपपुराण भी हैं। मित्र मिश्र जैसे लेखक ही ऐसी उक्ति कह सकते हैं, किन्तु उनके मत को स्वीकार करने के लिए हम बाध्य नहीं हो सकते। यह भी सन्देहात्मक है कि याज्ञवल्क्य पुराण शब्द से आज के महापुराणों की ओर संकेत करते हैं या वे यह जानते थे कि उनके काल में इनकी संख्या अठारह थी। यदि कुछ उपपुराण अपने को महापुराणों की भाँति ही प्रामाणिक मानें तो यह वैसा ही है जैसा कि महापुराण अपने विषय में कहते हैं कि ब्रह्मा ने सर्वप्रथम पुराणों के विषय में सोचा और तब उनके अधरों से वेदों की उद्भूति हुई। इस प्रकार के आत्म-गौरव की बात पर आज के विद्वान् किसी प्रकार का ध्यान नहीं देते। उपपुराण मुनियों एवं ऋषियों के द्वारा ही उत्पन्न हुए। कई महत्त्वपूर्ण बातों में उपपुराण महापुराणों से स्पष्ट रूप से भिन्न हैं। प्रथम बात यह है कि १८ पुराण अर्ध-दैवी विभूति व्यास द्वारा प्रणीत समझे गये हैं; दूसरी बात यह है कि मत्स्य० एवं कूर्म० के अनुसार ये (उपपुराण) पुराणों के संक्षेप हैं; तीसरी बात यह है कि उपपुराणों के श्लोक सभी पुराणों के सम्मिलित श्लोकों की संख्या चार लाख में सम्मिलित नहीं हैं; चौथी बात यह है कि आरम्भिक टीकाकार एवं निबन्धकार (यथा मिताक्षरा, कृत्यकल्पतरु) या तो किसी उपपुराण का उल्लेख ही नहीं करते या करते भी हैं तो केवल आधे दर्जन बार और वह भी यदा-कदा; अन्तिम बात यह है, जैसा कि स्वयं प्रो० हज्रा कहते हैं कि विभिन्न सम्प्रदायों के अनुयायी, यथा—शाक्त, सौर, पाञ्चरात्र अपने पुराणों में क्षेपक भरते जाते थे और कुछ के विषय में तो इतना कहा जा सकता है कि उन्होंने सर्वथा नये एवं स्वतन्त्र ग्रन्थ लिख डाले, जिनके द्वारा वे अपने विचारों का प्रसार करते थे और उन्हें पुराणों की संज्ञा से विभूषित करते थे।

धर्मशास्त्र की प्रारम्भिक टीकाएँ एवं निबन्ध अति प्रसिद्ध उपपुराणों की ओर बहुत ही कम संकेत करते हैं। मिताक्षरा ने, यद्यपि इसने ब्राह्म का नाम लिया है (याज्ञ० १।३ एवं ४५), निम्नोक्त पुराणों से उद्धरण लिया है, मत्स्य (बहुत अधिक), विष्णु (याज्ञ० ३।६), स्कन्द (याज्ञ० ३।२९०), भविष्य (याज्ञ० ३।६), मार्कण्डेय (याज्ञ० १।२३६, २५४, ३।१९, २८७, २८९) एवं ब्रह्माण्ड (याज्ञ० ३।३०)। किन्तु याज्ञवल्क्यस्मृति की इस प्रसिद्ध टीका में कहीं किसी उपपुराण का उल्लेख नहीं है। लक्ष्मीधर के कल्पतरु (१११०-११३० ई० के लगभग प्रणीत) ने महापुराणों के बहुत-से उद्धरण दिये हैं, किन्तु केवल छह उपपुराणों के नाम लिये हैं, यथा—आदि (शुद्धि पर केवल दो बार), नन्दी (दान एवं नियतकालिक पर बहुत-से उद्धरण), आदित्य, कालिका, देवी, नरसिंह (इन सभी चारों के उद्धरण विभिन्न विषयों के सम्बन्ध में)। अपरार्क (१२ वीं शती के पूर्वार्ध में) ने ब्रह्म, ब्रह्माण्ड, भविष्यत्, मार्कण्डेय, वायु, विष्णु एवं मत्स्य के उद्धरण दिये हैं, किन्तु नाम से केवल आदि, आदित्य, कालिका, देवी, नन्दी, नृसिंह, विष्णु-धर्मोत्तर (सात बार), विष्णुरहस्य (एक बार) एवं शिवधर्मोत्तर (एक बार) को पुकारा है। दानसागर (११६९ ई० में लिखित) में आया है 'उक्तान्युपपुराणानि व्यक्तदानविधीनि च।' अर्थात् 'उपपुराणों का प्रकाशन हुआ है जो दानविधि बताते हैं', और इसमें ये नाम आये हैं—आद्य (आदि या ब्रह्म ?), आदित्य, कालिका, नन्दी, नरसिंह, मार्कण्डेय, विष्णुधर्मोत्तर एवं साम्ब। इसमें टिप्पणी आयी है कि विष्णुरहस्य एवं शिवरहस्य केवल संग्रह रूप में हैं। उपपुराणों के विषय में ११७० ई० के उपरान्त के लेखकों की चर्चा अनावश्यक है।

लगभग एक दर्जन मुख्य पुराणों में १८ पुराणों की ओर जो संकेत मिलते हैं तथा उनमें कुछ के विषयों का जो उल्लेखन है, उससे स्वभावतः ऐसा अनुमान निकल आता है कि ये वचन (उक्तियाँ) तब जोड़े गये जब सभी अठारह पुराण अपने पूर्ण रूप को प्राप्त हो चुके थे। ऐसा विश्वास करना सम्भव नहीं है कि सभी मुख्य पुराण एक ही व्यक्ति द्वारा एक ही काल में प्रणीत हुए, या एक ही काल में बहुत-से लेखकों द्वारा लिखे गये। इसके अतिरिक्त पुराणों के बहुत-से संस्करण या तो एक ही पाण्डुलिपि पर या अनियमित ढंग से एकत्र की गयी कुछ पाण्डु-लिपियों पर आधारित हैं, जैसा कि महाभारत के उस संस्करण के विषय में कहा जा सकता है जो बी० ओ० आर०

आई० (भण्डारकर ओरिएण्टल रिचर्स इंस्टीट्यूट, पूना) द्वारा प्रकाशित हुआ है। अतः बहुत-से निष्कर्ष, जो पुराणों के प्रचलित प्रकाशित संस्करणों पर या पाण्डुलिपियों पर आधारित हैं, केवल अनुमानित ही मानने चाहिए, क्योंकि वे आगे चलकर भ्रामक एवं त्रुटिपूर्ण सिद्ध हो सकते हैं। विण्टरनित्ज महोदय ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर' (अंग्रेजी अनुवाद, कलकत्ता, जिल्द १, पृ० ४६९) में जो कहा है, यथा—'महाभारत में प्रत्येक विभाग, इतना ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक श्लोक की तिथि का निर्णय पृथक् रूप से होना चाहिए।' यही बात हम पुराणों के विषय में और अधिक बल देकर कह सकते हैं, विशेषतः ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक प्रयोजनों के विषय में, जब हम किसी विभाग या पंक्ति का प्रयोग करना चाहते हैं।

यह ठीक है कि पुराणों एवं कुछ प्राप्त उपपुराणों में बहुत-सी प्राचीन गाथाएँ एवं परम्पराएँ पायी जाती हैं किन्तु ये आख्यान आदि इस प्रकार बहुत-से हाथों में पड़कर दूषित हो गये हैं या इतने बढ़ गये हैं, क्योंकि सम्प्रदाय-विशेष ने अपनी मान्यताओं को उभारने के लिए अथवा अपने सम्प्रदाय की पूजा-पद्धति को श्रेष्ठता प्रदान करने के लिए आख्यानों एवं परम्पराओं में इतनी वृद्धि कर डाली है कि उनसे तथ्य निकालने के पूर्व तथा प्राचीन एवं मध्यकाल के विश्वासों एवं भारतीय समाज के सामान्य स्वरूप को जानने के लिए हमें बहुत सतर्क रहना पड़ेगा।

हमारे पास अभी तक कोई भी पुष्ट प्रमाण नहीं प्राप्त हो सका है जिसके आधार पर हम विष्णुधर्मोत्तर को छोड़कर किसी अन्य उपपुराण को ८ वीं या ९ वीं शती के पूर्व प्रणीत जान सकें। पुराणों के विषय में भी बहुत-से क्षेपकों का अनाचार एवं अतिचार कम नहीं है। १८ पुराणों, उनकी संख्या एवं विषयों के बारे में बहुत-से भयंकर क्षेपक हैं। किन्तु पुराणों में अति प्राचीन बातें हैं और वे उपपुराणों की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय हैं, क्योंकि उनके उद्धरण ८वीं एवं ९वीं शताब्दी के लेखकों या उनसे भी पुराने लेखकों की कृतियों में मिल जाते हैं।

अमरकोश ने 'इतिहास' को 'पुरावृत्त' (अर्थात् अतीत में जो घटित हुआ वह) एवं 'पुराण' को 'पञ्चलक्षण' (अर्थात् जिसमें पाँच लक्षण या विशेषताएँ हों) माना है। निःसंदेह यह ठीक ही है कि कुछ पुराण 'पुराण' को 'पञ्चलक्षण' कहते हैं और उन पाँच लक्षणों को यों कहते हैं—**सर्ग** (सृष्टि), **प्रतिसर्ग** (प्रलय के उपरान्त पुनः सृष्टि), **वंश** (देवों, सूर्य, चन्द्र एवं कुलपतियों के वंश), **मन्वन्तर** (काल की विस्तृत सीमावधियाँ), **वंशानुचरित** या वंश्यानुचरित (सूर्य, चन्द्र एवं अन्य वंशों के उत्तराधिकारियों के कार्य एवं इतिहास)। भागवत के अनुसार पुराणों में दस विषयों का उल्लेख है। उसमें यह भी कहा गया है कि कुछ लोगों के मत से केवल पाँच विषयों की चर्चा है।[20] भागवत के दस विषय हैं—**सर्ग**, **विसर्ग** (नाश के उपरान्त विलयन या सृष्टि), **वृत्ति** (शास्त्र द्वारा व्यवस्थित या स्वाभाविक जीवन-वृत्तियाँ अर्थात् जीने के साधन), **रक्षा** (जो लोग वेदों से घृणा करते हैं उनका अवतारी देवता नाश करते हैं), **अन्तर** (मन्वन्तर), **वंश**, **वंश्यानुचरित**, **संस्था** (लय के चार प्रकार), **हेतु** (सृष्टि का कारण, यथा आत्मा, जो अविद्या के वश में होकर कर्म एकत्र करता है) एवं **अपाश्रय** (आत्माओं का आश्रय, अर्थात् ब्रह्म)। मत्स्यपुराण ने पुराणों की अन्य विशेषताओं की चर्चा की है, यथा—सभी पुराणों में मनुष्यों के चार पुरुषार्थों का

२०. पुराणलक्षणं ब्रह्मन् ब्रह्मर्षिभिर्निरूपितम्। शृणुष्व बुद्धिमाश्रित्य वेदशास्त्रानुसारतः॥ सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृत्तिरक्षान्तराणि च॥ वंशो वंश्यानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः। दशभिर्लक्षणैर्युक्तं पुराणं तद्विदो विदुः। केचित्पंचविधं ब्रह्मन् महदल्पव्यवस्थया॥ भागवत १२।७।८-१०; ११-१९ तक के श्लोकों में दस लक्षणों का अर्थ है: हेतुर्जीवोऽस्य सर्गादेरविद्याकर्मकारकः। ये चानुशयिनं प्राहुरव्याकृतमुतापरे॥ व्यतिरेकान्वयो यस्य जाग्रत्स्वप्न-सुषुप्तिषु। मायामयेषु तद् ब्रह्म जीववृत्तिष्वपाश्रयः॥ भागवत (१२।७।१८-१९)।

उल्लेख है; धर्म के विरुद्ध आचरण करने के प्रतिफल भी वर्णित हैं; पुराणों का सात्त्विक, राजस एवं तामस भागों में विभाजन है; सात्त्विक एवं राजस पुराण क्रम से हरि एवं ब्रह्मा की महत्ता की प्रशंसा करते हैं, तामस पुराण अग्नि एवं शिव की महत्ता गाते हैं, मिश्रित पुराण सरस्वती एवं पितरों की महत्ता गाते हैं। मनु ने केशव से जो प्रश्न किये हैं (मत्स्य० २।२२-२४) वे उन विषयों के परिचायक हैं जो पुराण में कहे जायँगे, यथा—सृष्टि एवं प्रलय, वंश, मन्वन्तर, वंश्याचरित, विश्व का विस्तार तथा दान, श्राद्ध, वर्णों, आश्रमों, इष्ट एवं पूर्त, देव-मूर्ति-प्रतिष्ठापन आदि से सम्बन्धित नियम।

यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि अमरकोश में पुराणों की विशेषताओं के विषय में पाँच लक्षणों का उल्लेख क्यों हो गया है। अमरकोश को हम ५ वीं शती के उपरान्त का ग्रन्थ नहीं कह सकते।[२१] यह सम्भव है कि उस काल के पूर्व पुराणों की संख्या अधिक नहीं थी, वे तब तक अति वृद्धि को नहीं प्राप्त हो सके थे और चूँकि इतिहास एवं पुराण एक साथ ही पाँचवें वेद के रूप में उपनिषदों द्वारा पुकारे जाते थे, अतः उन दोनों के कुछ विषय समान थे। इतिहास में सम्भवतः सृष्टि, प्रलय, मन्वन्तरों आदि का निरूपण नहीं होता था, उसमें केवल राजाओं के वंशों का वर्णन तथा अतीत के वीरों के साहसिक कर्मों एवं गाथाओं का उल्लेख होता था। कभी-कभी इतिहास (महाभारत) पुराण की संज्ञा पा लेता है और कुछ वर्तमान पुराण अपने को इतिहास कह उठते हैं। उदाहरणार्थ, वायुपुराण (१०३।४८, ५१) एक ही संदर्भ में अपने को इतिहास एवं पुराण दोनों कहता है।[२२] ब्रह्मपुराण अपने को पुराण एवं आख्यान दोनों कहता है (२४५।२७ एवं ३०)। महाभारत जो अपने को सामान्यतः इतिहास कहता है (यथा आदि १।१९, २६, ५४) या इतिहासों में सर्वश्रेष्ठ कहता है, तब भी अपने को 'आख्यान' (आदि० २।३८८-८९), 'काव्य' (आदि० २।३९०), 'कार्ष्णवेद' (आदि० १।२६४) एवं 'पुराण' (आदि० १।१७) कहता है।[२३] इससे प्रकट होता है कि प्रारम्भिक रूप में दोनों के बीच में केवल एक झीनी चादर जैसा अन्तर था। पुराण को 'पञ्चलक्षण' रूप में परिभाषित करते हुए अमरकोश एवं कुछ पुराणों ने उन विषयों की ओर संकेत कर दिया है जो पुराणों को इतिहास एवं संस्कृत साहित्य की अन्य शाखाओं से भिन्न करते हैं। यह हमने बहुत पहले ही देख लिया है कि आपस्तम्ब के पूर्व के पुराण एवं भविष्यत्पुराण में न-केवल सर्ग एवं प्रतिसर्ग का ही उल्लेख था, प्रत्युत स्मृति-सम्बन्धी विषय भी सम्मिलित थे। पुराणों एवं अमरकोश में दी हुई परिभाषा से यह निष्कर्ष निकालना नहीं चाहिए कि प्राचीन पुराणों में केवल पाँच ही विषय निर्धारित थे, जैसा कि किर्फेल साहब विश्वास करते हैं (देखिए किर्फेल का आइन्लीतुंग (पृ०

२१. मैक्समूलर ('इण्डिया, ह्वाट कैन इट टीच अस', पृ० ३२८, १८८२) ने लिखा है कि अमरकोश का चीनी अनुवाद ५६१-५६६ ई० में हुआ। क्षीरस्वामी की टीका युक्त अमरकोश के सम्पादन में श्री ओक महोदय ने इसे चौथी शती का माना है। होइन्र्ले (जे० आर० ए० एस्०, १९०६, पृ० ९४०-९४१) ने एक हलके एवं खींचा-तानी वाले प्रमाण के आधार पर अमरकोश को ६२५ ई० एवं ९५० ई० के मध्य में कहा है।

२२. इमं यो ब्राह्मणो विद्वानितिहासं पुरातनम्। शृणुयाच्छ्रावयेद्वापि तथाध्यापयतेऽपि च॥...धन्यं यशस्यमायुष्यं पुण्यं वेदैश्च संमतम्। कृष्णद्वैपायनेनोक्तं पुराणं ब्रह्मवादिना॥ वायु (१०३।४८-, ५१), और देखिए वायु १०३।५६ (इतिहास) एवं ५८ (पुराण), ब्रह्माण्ड ४।४।४७, ५० (जो वायु १०३।४८ एवं ५१ ही है)।

२३. जयो नामेतिहासोयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा। उद्योग ०१३६।१८; जयो नामेतिहासोयं श्रोतव्यो मोक्षमिच्छता। स्वर्गारोहणिक० (५।५१); इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कविबुद्धयः। आदि० (२।३८५)। अनाश्रित्यैतदाख्यानं कथा भुवि न विद्यते। आदि० २।३७ एवं ३८८; इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते॥ आदि० २।३८९।

२२, पुराण पञ्चलक्षण); जर्नल आव वेंकटेश्वर ओ० आई०, जिल्द ७ एवं पृ० ९४, (जहाँ किर्फेल का मत दिया हुआ है)। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि पाँच विषय ऐसे थे जो पुराणों को साहित्य की अन्य शाखाओं से पृथक् सिद्ध करते थे और विशेषतः इतिहास से, जो इसका सजातीय था। या यह भी हो सकता है कि ये पाँच लक्षण पुराणों के लिए आदर्श रूप में निर्धारित किये गये थे और पुराण-वर्ग के प्रारम्भिक प्रतिनिधि ग्रन्थों में ये पाँच लक्षण (आप० ध० सू० के पूर्व) नहीं पाये जाते थे।

विद्यमान पुराणों में पाँच से अधिक विषय पाये जाते हैं। कुछ पुराण इन पाँच विषयों को स्पर्श मात्र करते हैं और अन्य विभिन्न विषयों पर विशद वर्णन उपस्थित करते हैं। केवल कुछ पुराण ही पाँच लक्षणों पर प्रभूत प्रकाश डालते हैं। आज के महापुराणों के विस्तार के तीन प्रतिशत से कम ही अंश में 'पंचलक्षण' का विवरण समाप्त हो जाता है। जितने पुराण हैं उनमें केवल विष्णुपुराण ही 'पंचलक्षण' परिभाषा के अनुसार सम्यक् ठहरता है, किन्तु इसमें कुछ अन्य विषय भी उल्लिखित हैं। यदि गणना की जाय तो पता चलेगा कि विद्यमान प्रमुख १८ पुराणों में लगभग १,००,००० श्लोक ऐसे हैं, जो व्रत, श्राद्ध, तीर्थ एवं दान के चार विषयों पर प्रभूत प्रकाश डालते हैं। बहुत-से पुराणों में समान अध्यायों एवं विषयों का समावेश पाया जाता है (यथा मत्स्य[२४] एवं पद्म, वायु एवं ब्रह्माण्ड में लम्बे-लम्बे अंश एक-दूसरे से लिये गये हैं। यह सम्भव है कि आज के प्रमुख पुराण आदि काल के पुराणों के, जो सम्भवतः उन दिनों संख्या में १८ नहीं थे और याज्ञवल्क्य-स्मृति से पहले प्रणीत हुए थे, एकपक्षीय एवं वृद्धिप्राप्त प्रतिनिधि मात्र हों। आज हमें जो कुछ ज्ञात है, उसके आधार पर यह कहना सम्भव नहीं है कि आदि काल में याज्ञवल्क्य० के पूर्व पुराण क्या थे और उनमें किन-किन विषयों का समावेश होता था। १८ की संख्या सम्भवतः इसलिए प्रसिद्ध हुई कि महाभारत के सम्बन्ध में कई बातों में वह महत्त्वपूर्ण थी—महाभारत १८ दिनों तक चलता रहा, उसमें १८ अक्षौहिणी सेनाएँ लड़ी थीं, महाभारत में १८ पर्व हैं और गीता में भी १८ अध्याय हैं।[२५]

पुराणों को कई श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है, यथा—(१) ज्ञान-कोशीय, यथा अग्नि, गरुड़ एवं नारदीय; (२) विशेषतः तीर्थ से सम्बन्धित, यथा पद्म, स्कन्द एवं भविष्य; (३) साम्प्रदायिक, यथा लिंग, वामन, मार्कण्डेय; (४) ऐतिहासिक, यथा वायु एवं ब्रह्माण्ड। सम्भवतः वायु, ब्रह्माण्ड, मत्स्य एवं विष्णु विद्यमान पुराणों में सबसे प्राचीन हैं, यद्यपि उनमें भी समय-समय पर प्रभूत वृद्धियाँ होती रही हैं।

सात पुराणों में ऐतिहासिक सामग्रियाँ पायी जाती हैं, यथा महाभारत तक के प्राचीन वंश तथा महाभारत से आगे आन्ध्रों एवं गुप्तों के अभ्युदय तक के वंश; ये सात पुराण हैं—वायु (९९।२५०-४३५), विष्णु (४।२०।१२ से

२४. उदाहरणार्थ, मत्स्य अध्याय ५५ एवं ५७-६० सर्वथा पद्म के ५।२४।६४-२७८ हैं, मत्स्य ६२-६४=पद्म ५।२२।६१-१६४, मत्स्य ६९-७०=पद्म ५।२३।२-१४६, मत्स्य ७१।७२=पद्म ५।२४।१-६४, मत्स्य ७४-८०=पद्म ५।२१।२१५-३२१, मत्स्य ८३।९२=पद्म ५।२१।८१-२१३ आदि। किर्फेल ने 'पुराण पञ्चलक्षण' (तथा जिल्द ७, पृ० ८४-८६, जे० वी० ओ० आई०) में ब्रह्माण्ड एवं वायु के एक अध्याय में समानता प्रदर्शित की है और टिप्पणी की है कि ब्रह्माण्ड कुछ बातों में (१।२७, जिसमें १२९ श्लोक हैं तथा २।२१-५८ जिसमें २१४१ श्लोक हैं) वायु से नहीं मिलता, वायु के २७०४ श्लोक ब्रह्माण्ड से किसी प्रकार की समानता नहीं प्रकट करते (देखिए पुराण पंचलक्षण, पृ० १३ एवं जे० वी० ओ० आई०, जिल्द ७, १९४६, पृ० ८७)। किर्फेल ने ब्रह्माण्ड एवं वायु के समान अध्यायों की एक तालिका प्रस्तुत की है (पृ० १५-१६ एवं जिल्द ७, पृ० ८८-९०, जे० वी० ओ० आई०)।

२५. देखिए ओटो स्टीन का १८ संख्या सम्बन्धी लेख (पूना ओरिएण्टलिस्ट, जिल्द १, पृ० १-३७)।

४।२४।४४ तक), ब्रह्माण्ड (३।७४।१०४-२४८), भागवत (११९२।९-१६, ९।२२।३४-४९ एवं १२।१७), गरुड़ (१४० एवं १४१।१-१२), भविष्य (३।३ एवं ४, यह वृत्तान्त व्यावहारिक रूप में सर्वथा व्यर्थ एवं निरर्थक है)। मत्स्य में आन्ध्र राजाओं की पूरी सूची पायी जाती है और उसमें (२७३।१६-१७) आया है कि २९ आन्ध्र राजा ४६० वर्षों तक राज्य करेंगे, किन्तु वायु (९९।२५७-३५८) के अनुसार ३० आन्ध्र राजा ४५६ (४०६ ?) वर्षों तक राज्य करेंगे। वायु (९९।३५५) एवं मत्स्य (२७३।१६) दोनों पुलोमा (पुलोवा, वायु में) को आन्ध्रों का अन्तिम राजा कहते हैं। टॉल्मी ने, जिसने अपनी पुस्तक 'भारत का भूगोल' सन् १५० ई० में प्रकाशित की, लिखा है कि उसके समय में टोलेमाइओज बैठान (पैठन) का राजा था (देखिए जे० आई० एच, जिल्द २२, १९४३, पृ० ८४, एपास्टिल्स आव कल्याण)। अतः स्पष्ट है कि ये ऐतिहासिक वृत्तान्त १५० ई० के उपरान्त ग्रन्थों में संगृहीत हुए होंगे। केवल चार पुराणों, यथा वायु, ब्रह्माण्ड, भागवत एवं विष्णु ने सामान्य रूप से कहा है कि गुप्त कुल के राजा गंगा की तलहटी में प्रयाग, साकेत (अयोध्या) एवं मगध में राज्य करेंगे, किन्तु गुप्त राजाओं के नाम विशेष रूप से नहीं आये हैं। गुप्त-सम्बन्धी पंक्तियाँ बहुत अंश तक अशुद्ध हैं। पार्जिटर (डाइनेस्टीज़ आव दि कलि एज, पृ० १२) आदि ने तर्क दिया है कि समुद्रगुप्त एक महान् विजेता था, जैसा कि प्रयाग के स्तम्भ की प्रशस्ति से अभिव्यक्त है (फ्लीट, गुप्त इंस्क्रिप्शंस, सं० १)। अधिकांश लेखकों का मत है कि गुप्त-वंश का राज्य ई० ३२० में आरम्भ हुआ। ऐसा तर्क उपस्थित किया जाता है कि यदि पुराणों के शोधकर्ता या शोधकर्ताओं को समुद्रगुप्त की महत्त्वपूर्ण विजयों का पता रहा होता तो वे उसका नाम तो अवश्य ही लेते, अतः पुराणों का शोध कार्य ३२०-३३५ ई० में हुआ।

पुराणों से सम्बन्धित बहुत बड़ा साहित्य निर्मित हो गया है। जो लोग इस विषय में अभिरुचि रखते हों अथवा जिन्हें विशेष जानकारी प्राप्त करनी हो वे निम्नोक्त कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों या लेखों आदि का अवलोकन कर सकते हैं---विल्सन की भूमिका (विष्णुपुराण का अंग्रेजी अनुवाद, जिल्द १, १८६४); एफ० ई० पार्जिटर के ग्रन्थ, यथा---'पुराण टेक्स्ट्स आव दि डाइनेस्टीज़ आव दि कलि एज़' (१९१३), 'ऐंश्येण्ट इण्डियन जीनियालाजीज' (आर० जी० भण्डारकर भेंट ग्रन्थ, पृ० १०७-११३), 'इण्डियन हिस्ट्रारिकल ट्रेडिशन' (आक्सफोर्ड, १९२२); डब्लू० किर्फेल के ग्रन्थ, यथा---'डास पुराण पञ्चलक्षण' (बॉन, १९२७), 'डाइ कॉस्मोग्रैफी उर इण्डेर' (१९२०), 'भारतवर्ष' (स्टुटगार्ट, १९३१); व्रीज़ की कृति, यथा---'पुराण स्टडीज' (पत्री कमेमोरेशन जिल्द, पृ० ४८२-४८७); हरप्रसाद शास्त्री द्वारा एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल के तत्त्वावधान में उपस्थापित पाण्डुलिपियों की विवरणात्मक पुस्तक-सूची (जिल्द ५, भूमिका) तथा उनका लेख (महापुराण, जे० बी० ओ० आर० एस्०, जिल्द १५, पृ० ३२३-३४०); प्रो० बी० सी० मजुमदार का लेख (आशुतोष मुखर्जी रजत जयन्ती ग्रन्थ, ३, ओरिण्टैलिया, भाग २, पृ० ९-३०); डा० ए० बनर्जी-शास्त्री का लेख (ऐंश्येण्ट इण्डियन हिस्टॉरिकल ट्रेडिशन, जे० बी० ओ० आर० एस्०, जिल्द १३, पृ० ६२-७९, जिसमें मैकडोनेल, पार्जिटर आदि के अप्रामाणिक वक्तव्यों को शुद्ध करने का प्रयास किया गया है); 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया' (जिल्द १, पृ० २९६-३१८); विन्तरनित्ज़ की 'हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर' (इंगलिश अनुवाद, जिल्द १, पृ० २९६-३१८); प्रो० एच्० सी० हज्रा की 'स्टडीज इन दि पुरानिक रेकर्ड्स आव हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स' (ढाका, १९४०), 'पुराणज़ इन दि हिस्ट्री आव स्मृति' नामक लेख (इण्डियन कल्चर, जिल्द १, पृ० ५८७-६१४); 'महापुराणज़' (ढाका यूनिवर्सिटी स्टडीज़, जिल्द २, पृ० ६२-६९); 'स्मृति चैप्टर्स इन पुराणज़' (आई० एच्० क्यू०, जिल्द ११, पृ० १०८-१३०); 'प्री-पुरानिक हिन्दू सोसाइटी राइट्स एण्ड कस्टम्स इंफ्लुएंस्ड बाई दि इकनामिक एण्ड सोशल व्यूज़ आव दि सैक्रेडोटल क्लास' (ढाका यूनिवर्सिटी स्टडीज, जिल्द १२, पृ० ९१-१०१); 'इंफ्लुएंस आव तन्त्र ऑन स्मृतिनिबन्धज़' (ए० बी० ओ० आर० आई०, जिल्द १५, पृ० २२०-२३५ एवं जिल्द १६, पृ० ३८-६२); 'पुराण लिटरेचर एज़ नोन टु बल्लालसेन' (जे० ओ० आर०, मद्रास, जिल्द १२, पृ० १२९-

१४६); 'सम माइनर पुराणज' (ए० बी० ओ० आर० आई०, जिल्द १९, पृ० ६९-७९); 'दि अश्वमेध, दि कॉमन सोर्स ऑव ओरिजिन आव दि पुराण पंचलक्षण एण्ड दि महाभारत' (ए०बी०ओ०आर० आई०, जिल्द ३६, पृ० १९०-२०३, १९५५); 'सम लॉस्ट उपपुराणज' (जे० ए० एस्०, कलकत्ता, जिल्द २०, पृ० १५-३८); दास गुप्त की 'इण्डियन फिलॉसफी' जिल्द ३, पृ० ४९६-५११ (ऑन फिलॉसॉफिकल स्पेकूलेशंस आव सम पुराणज); डा० डी० आर० पाटिल का लेख 'गुप्त इंस्क्रिप्शंस एण्ड पुरानिक ट्रेडिशंस' (डी० सी० आर० आई०, जिल्द २, पृ० २-५८, गुप्ताभिलेखों एवं पुराणों की पंक्तियों की तुलना); प्रो० वी० आर० रामचन्द्र दीक्षितार के ग्रन्थ, यथा—'दि पुराण, ए स्टडी' (आई० एच्० क्यू०, जिल्द ८, पृ० ७४७-६७) एवं 'पुराण इंडेक्स' (तीन जिल्दों में); डा० ए० डी० पुसल्कर का लेख (प्रोग्रेस आव इण्डिक स्टडीज में, १९१७-१९४२, बी० ओ० आर० आई० की रजत-जयन्ती, पृ० १३९-१५२) एवं 'स्टडीज इन एपिकस एण्ड पुराणज आव इण्डिया' (बी० वी० बम्बई, १९५३); प्रो० डी० आर० मनकड के लेख, युगों पर (पी० ओ०, जिल्द ६, भाग ३-४, पृ० ६-१०), मन्वतरों पर (इ० हि० क्वा०, जिल्द १८, पृ० २०८-२३०) एवं बी० बी० (जिल्द ६, पृ० ६-१०) में; डा० घुर्ये का सभापति-भाषण (ए० आई० ओ० सी०, १९३७, पृ० ९११-९५४); डा० ए० एस् अल्तेकर का लेख (जे० बी० ए० यू०, जिल्द ४, पृ० १८३-२२३); डा० यदुनाथ सिंह, 'ए हिस्ट्री आव इण्डियन फिलॉसॉफी' (जिल्द १, पृ० १२५-१७७, पुराणों के दर्शन पर); श्री आर० मार्टिन स्मिथ के दो लेख (जे० ए० ओ० एस्०, जिल्द ७७, सं० २, एप्रिल-जून, १९५७ एवं सं० ४, दिसम्बर १९५७)।

पार्जिटर एवं किर्फेल के महत्त्वपूर्ण निष्कर्षों के विषय में कुछ टिप्पणियाँ देना आवश्यक है। पार्जिटर ने आदि काल से महाभारत तक के इतिहास का ढाँचा खड़ा किया है। उन्होंने महाभारत की तिथि ई० पू० ९५० मानी है (ए० आई० एच्० टी०, अध्याय १५, पृ० १८२)। उनका मत है कि प्राचीन भारत में दो परम्पराएँ थीं, क्षत्रिय एवं ब्राह्मण। उन्होंने कई बार ब्राह्मणों के ऐतिहासिक ज्ञान के अभाव की ओर संकेत किया है और ऐसा घोषित किया है कि पुराण क्षत्रिय परम्परा के परिचायक हैं। उनके मत से तीन जातीय मूल (जड़ें) थे, **मानव** (या **मान्व**, जैसा कि उन्होंने कहा है), **ऐल** एवं **सौद्युम्न**, जो क्रम से द्रविड़, आर्य एवं मुण्ड का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनके मत से, पुराण प्राकृत में लिखे गये ग्रन्थों के संस्कृत रूप हैं और वे ग्रन्थ थे कलियुग के वंशों से सम्बन्धित। बाद के लेखकों ने महाभारत वाली उनकी तिथि नहीं मानी है, क्योंकि तत्सम्बन्धी उनके तर्क न्यायपूर्ण, वस्तुगत एवं पक्षपातरहित नहीं हैं और वे बहुधा आत्मगत धारणाओं से परेशान हो औसत पर अधिक उतर आते हैं। इनके मत से महाभारत का युद्ध नन्दों से १०५० वर्ष पूर्व हुआ था; अर्थात् महाभारत की तिथि है ई० पू० १४७५। पाण्डुलिपियों एवं मुद्रित पुराणों से हमें परीक्षित् के जन्म एवं नन्द के सिंहासनारोहण के बीच के काल में चार अवधियाँ प्राप्त होती हैं, यथा—१०१५ वर्ष (विष्णुपुराण), १०५० वर्ष (वायु, ब्रह्माण्ड एवं मत्स्य की पाण्डुलिपि), १११५ वर्ष (भागवत), १५०० वर्ष (विष्णु एवं मत्स्य की कुछ पाण्डुलिपियाँ)।[26] स्वयं पार्जिटर ने बलपूर्वक तर्क दिया है कि परम्परा

२६. यावत्परीक्षितो जन्म यावन्नन्दाभिषेचनम्। एतद्वर्षसहस्रं तु ज्ञेयं पञ्चदशोत्तरम्॥ विष्णु (४।२४।३२); भागवत (१२।२।२६) में आया है 'आरभ्य भवतो जन्म...सहस्रं तु शतं पञ्चदशोत्तरम्।' महापद्माभिषेकात्तु यावज्जन्म परीक्षितः। एतद्वर्षसहस्रं तु ज्ञेयं पञ्चाशदुत्तरम्॥ मत्स्य २७३।३५ (यहाँ आया है, एवं वर्ष०), वायु ९९। ४१५ (यहाँ आया है, महादेवाभिषेकात्तु), ब्रह्माण्ड ३।७४।२२७ (यहाँ आया है, महानन्दाभिषेकान्तं)। श्रीधर ने भागवत के १२।२।२६ की टीका में कहा है कि नवें स्कन्ध में भागवत ने परीक्षित् के समकालीन मगधराज मार्जारि से आगे के २० राजाओं के शासन-काल के लिए १००० वर्ष माने हैं। इसके उपरान्त ५ प्रद्योतन राजाओं ने १३८

प्रामाणिक है और पौराणिक वंशावलियाँ सर्वथा ठीक हैं (आर० जी० भण्डारकर प्रेज़ेण्टेशन वाल्यूम, पृ० १०७-११३ एवं ए० आई० एच्० टी०, अध्याय १०, पृ० ११९-१२५)। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि यह एक सामान्य अनुभूति है कि एक प्रसिद्ध घटना एवं अन्य घटना के बीच के वर्षों का जोड़ बड़ी सरलतापूर्वक स्मरण रखा जा सकता है और मौखिक रूप से सैकड़ों वर्षों तक चला जा सकता है, किन्तु सैकड़ों राजकीय नामों का इस प्रकार चलते जाना सरल नहीं है, कुछ नाम सरलतापूर्वक बीच में ही खिसक जा सकते हैं। और भी, स्वयं मत्स्य, ब्रह्माण्ड एवं वायु का कथन है कि वे इक्ष्वाकु एवं बृहद्रथ के मध्यग केवल प्रसिद्ध राजाओं का ही उल्लेख करेंगे। पौरव वंश में बहुत-से राजा थे, किन्तु सबका उल्लेख नहीं हुआ है। अतः यह सम्भावना है कि पश्चात्कालीन वंशों के बहुत-से राजाओं के नाम भी छूट गये हों (उदाहरणार्थ, मत्स्य २१३।१६ के अनुसार आन्ध्र २९ थे, वायु ९९।३५७ के अनुसार ३०)। केवल राजाओं के शासन-वर्षों को गिन लेने से ही यह नहीं पता चल सकता है कि अमुक वंश का राज्य इतने वर्षों तक चलता रहा। पार्जिटर महोदय को अपने मन में दो बातों (अर्थात् परम्परा एवं पौराणिक वंशावलियों की विश्वसनीयता तथा अत्यधिक प्रसिद्ध घटनाओं के बीच के काल को स्मरण रखने की सुगमता) के साथ महाभारत की तिथि का भी पता चलाना चाहिए था। परीक्षित् एवं नन्द के बीच की अवधि से सम्बन्धित वक्तव्य को पार्जिटर महोदय अविश्वसनीय मानते हैं, क्योंकि उनके मत से १०१५ एवं १०५० नामक संख्याएँ असंगत हैं। पुराणों की अधिकांश उक्तियों में कोई-न-कोई असंगति अवश्य देखने में आती है। अतः उन्हें यह देखने का प्रयास करना चाहिए था कि १०१५, १०५० एवं १५०० में कौन-सी संख्या प्राचीनतम एवं उत्तम पाण्डुलिपियों से प्रमाणित होती है, विशेषतः जब इन तीन संख्याओं के संस्कृत पर्यायवाची शब्द, यथा पंचदश, पञ्चाशत् एवं पञ्चशत, लेखकों द्वारा (जो पाण्डुलिपियाँ तैयार करते हैं) गड़बड़ी में पड़ सकते हों और सादृश्य के कारण कुछ के कुछ लिख लिये गये हों। यदि हम कम अवधि वाली संख्या ही लें, अर्थात् १०१५ वर्ष, तो महाभारत को हम १४४० ई० पू० में रखेंगे (नन्द के राज्याभिषेक के वर्ष ई० पू० ४२५ में १०१५ वर्ष जोड़ने से)। बहुत-से पाश्चात्य लेखकों एवं प्रो० एस्० एन्० प्रधान (क्रॉनॉलॉजी आव ऐंश्येण्ट इण्डिया, कलकत्ता, १९२७, पृ० २४९) ने पौराणिक वक्तव्यों में दोष देखा है, वे उन्हें अव्यावहारिक मानकर छोड़ देते हैं। प्रो० प्रधान ने तीन कुलों के राजाओं को वास्तविक मान लिया है, और विश्वास किया है कि प्रत्येक के लिए २८ वर्ष मध्यम अवधि है, और २८ से गुणा करके महाभारत की तिथि ई० पू० ११५० निश्चित की है। यहाँ पर उनके तर्कों पर विचार करना सम्भव नहीं है। वे यह भूल जाते हैं कि स्वयं पुराणों ने स्पष्ट रूप से कहा है कि उन्होंने केवल मुख्य या महत्त्वपूर्ण राजाओं का ही उल्लेख किया है। और भी, पार्जिटर जैसे अन्य लेखक भी हैं जो अन्य देशों की भाँति भारत जैसे देश में भी एक राजा के शासन-काल के लिए १७ या १८ वर्षों का औसत पर्याप्त समझते हैं। हम प्रो० प्रधान के तर्क को स्वीकार करने में असमर्थ हैं। पाश्चात्य लेखकों में अधिकांश, भारतीय विषयों में प्राचीन तिथियाँ निर्धारित करने में संकोच करते हैं या विरक्तता प्रदर्शित करते हैं। पार्जिटर महोदय कोई अपवाद नहीं हैं। पाण्डुलिपियों के द्वारा शक्तिशाली समर्थन के रहते हुए भी उपर्युक्त तीन कालावधियों में से किसी एक को सीधे तौर से मान लेने की अपेक्षा वे कुछ ऐसे साधनों का सहारा लेते हैं जो उनके विचित्र जादूगरी के प्रयासों के परिचायक हैं (ए० आई० एच्० टी०, पृ० १८०-१८३)। उनकी पद्धति की कुछ व्याख्या एवं परीक्षा आवश्यक है।

वर्षों तक राज्य किया। तब शिशुनागों ने ३६० वर्षों तक राज्य किया। इस प्रकार परीक्षित् एवं नन्द के राज्याभिषेक की अवधि १४९८ वर्षों की हुई। इसी से वे उक्त अवधि को १५०० वर्षों वाली मानते हैं।

व्यास को भारत-युद्ध के समय में, जो द्वापर युग के अन्त का द्योतक है, जीवित कहा गया है और यह भी कहा गया है कि उन्होंने १८ पुराणों का भी प्रणयन किया था। महाभारत के पूर्व के राजा-गण, पाण्डव वीर और उनके कुछ उत्तराधिकारी वंशज एवं उनके कुछ समकालीन राजा-गण मत्स्य०, वायु०, ब्रह्माण्ड० आदि द्वारा अतीत कहे गये हैं। अधिसोमकृष्ण या अधिसीमकृष्ण[२७], जो अर्जुन से आगे का छठा उत्तराधिकारी था, उस समय जीवित था जब सत्र में मुनियों द्वारा पुराणों का वाचन हुआ था। वायु० (९९।२८२) एवं मत्स्य० (२७१।५) दोनों में ऐसा आया है कि इक्ष्वाकु वंश में बृहद्बल से छठा (या पाँचवाँ, जैसा कि मत्स्य में आया है) उत्तराधिकारी वंशज दिवाकर उस समय जीवित था जब पुराणों का वाचन हुआ था। इसके उपरान्त ये पुराण (वायु९९।३०, मत्स्य २७१।२३ एवं ब्रह्माण्ड ३।७४।११३) ऐसा वर्णन करते हैं कि जरासंध (मगध का राजा) के वंश में, जो पाण्डवों का समकालीन था और जिसका पुत्र सहदेव महाभारत में मारा गया, एक सेनजित् था, जो अधिसीमकृष्ण एवं दिवाकर का समकालीन था, और जो सहदेव से सातवें क्रम में था। ये सभी तीन राजा पुराणों में वर्तमान राजा कहे गये हैं और वे राजा, जो इन तीनों के उपरान्त राजा हुए, भविष्य में कहे गये हैं। पार्जिटर महोदय सर्वप्रथम ऐक्ष्वाक, पौरव एवं मागध वंशों के उन राजाओं का योग लगाते हैं, जो वास्तव में संज्ञापित हुए हैं (जिनके नाम गिनाये गये हैं) और उन लोगों को छोड़ देते हैं जिनके नाम नहीं आये हैं (क्योंकि स्वयं पुराणों ने कहा है कि वे केवल प्रमुख राजाओं को ही परिगणित कर रहे हैं)। इस प्रकार योग १४०८ (वर्ष) होता है। उन्होंने इन तीन वंशों के राजाओं (जिनके नाम आये हैं और जो क्रम से ४७, ५० एवं ३१ की संख्या में आते हैं) का औसत शासन-काल निकाला है। वे वास्तविक ऐतिहासिक औसतों की जाँच में राजाओं की लम्बी सूचियों (यथा ४७, ५० एवं ३१) को असम्भव ठहराते हैं। बड़े आश्चर्य की बात यह है कि पार्जिटर महोदय ऊपर कही गयी यह महत्त्वपूर्ण बात भूल जाते हैं कि ऐक्ष्वाक, मागध एवं पौरव वंशों में सामान्यतः केवल महत्त्वपूर्ण राजाओं के ही नाम पुराणों द्वारा उल्लिखित हैं; वे दूसरी बात यह भूल जाते हैं कि आज के पुराण प्राचीन पुराणों के टुकड़े एवं अंश मात्र हैं, क्योंकि ब्रह्माण्ड (३।७४) में सभी पौरव एवं ऐक्ष्वाक राजा सर्वथा अवर्णित हैं। पार्जिटर महोदय महापद्म तक के दस राज्यों के राजाओं के शासन कालों का औसत निकालते हैं और प्रत्येक के राज्य के लिए इस प्रकार २६ वर्ष का माध्यम उपस्थित करते हैं। इसके उपरान्त वे पूर्वी एवं पश्चिमी देशों के चौदह राजाओं की परीक्षा कर प्रत्येक के शासन-काल के लिए १८ वर्षों का माध्यम उपस्थित करते हैं। पार्जिटर महोदय का कथन है कि पूर्वी देशों के राजाओं का शासन-काल पश्चिमी राजाओं की अपेक्षा कम होता है, अतः १८ वर्ष का माध्यम वे भारतवर्ष के लिए पर्याप्त समझ लेते हैं। उनका कथन है कि ऐसा मानना हमारी उदारता एवं सचाई का द्योतक है। इसके उपरान्त वे शासनों की मध्यमावस्था १८ को २६ (दश शतियों के राजाओं की मध्यम संख्या) से गुणा करते हैं और ४६८ वर्षों की संख्या निर्धारित करते हैं। इस संख्या को वे महापद्म नन्द की तिथि ई० पू० ३८२ (जिसका निर्धारण भी उन्होंने स्वयं किया है) से जोड़ देते हैं और इस प्रकार ई० पू० ८५० (=४६८+३८२) को वे अधिसीमकृष्ण, दिवाकर एवं सेनजित् (जो वर्तमान राजा

२७. अधिसोम कृष्ण की वंश-परंपरा यों है: अर्जुन—पुत्र अभिमन्यु—पुत्र परीक्षित्—पुत्र जनमेजय—पुत्र शतानीक, उसके उपरान्त अश्वमेधदत्त, और उसके उपरान्त अधिसोम कृष्ण। देखिए वायु (९९।२४९-२५८, जिसका अन्तिम श्लोक यह है—अधिसीमकृष्णो धर्मात्मा साम्प्रतोयं महायशाः। यस्मिन् प्रशासति महीं युष्माभिरिदमाहृतम् ॥) मत्स्य (५०।५५-६७) में वे ही शब्द हैं जो वायु में हैं, किन्तु यहाँ अधिसीमकृष्ण को शतानीक का पुत्र कहा गया है।

थे) के शासन-काल की आरम्भिक तिथि ठहराते हैं। इस के उपरान्त वे वर्तमान राजाओं एवं युधिष्ठिर के बीच के राजाओं का पाँच का माध्यम (औसत) मानकर पाँच राजाओं के लिए लगभग १०० वर्ष मान लेते हैं और इस प्रकार ई० पू० ९५० तक पहुँच जाते हैं, जो उनके अनुसार भारत-युद्ध की तिथि है। वे पुराणों (एवं महाभारत) के ज्योतिः-शास्त्रीय प्रमाण को एक वाक्य में यह कहकर कि 'ज्योतिःशास्त्रीय वक्तव्यों में वैज्ञानिक यथार्थता नहीं पायी जाती और वे बाद में ही कहे गये होंगे', निरादृत कर देते हैं। इस ग्रन्थ के लेखक ने महाभारत, पुराणों, वराहमिहिर, आर्यभट एवं शिलालेखों के प्रमाणों के आधार पर महाभारत की सम्भावित तिथि पर विचार किया है (खण्ड ३), अतः यहाँ पर इसके विषय में विस्तार करना अनावश्यक है। किन्तु प्रस्तुत लेखक को पार्जिटर की विधियाँ बहुत ही भ्रामक एवं त्रुटिपूर्ण जँचती हैं। किर्फेल जैसे पश्चात्कालीन लेखकों ने पार्जिटर द्वारा प्रतिपादित दो परम्पराओं वाला सिद्धान्त स्वीकृत नहीं किया है और न यही माना है कि पुराण खरोष्ठी लिपि में लिखित प्राकृत भाषा के मौलिक ग्रन्थों के संस्कृत रूप हैं (देखिए 'पुराण टेक्ट्स आदि' की भूमिका, पृ० १६)। एक अन्य महत्त्वपूर्ण एवं स्वतन्त्र साधन का उपयोग न तो पार्जिटर ने किया है और न किर्फेल ने। ऐसा प्रतीत होता है कि लगभग ई० पू० ३०० में मेगस्थनीज़ को ऐसी सूची दी गयी थी जिसमें बच्चुस से लेकर अलेक्जैण्डर तक के राजाओं (१५३ या १५४) के नाम थे, जो कुल मिलाकर ६४५१ वर्षों एवं ३ मासों तक राज्य करते रहे (मैक्रिण्डिल, ऐंश्येण्ट इण्डिया ऐज़ डेस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज़ एण्ड ऐरियन, १८७७, पृ० ११५ एवं कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया, जिल्द १, १९२२, पृ० ४०९)। यदि थोड़ी देर के लिए कल्पना की जाय कि राजाओं का विवरण अप्रामाणिक है तब भी यह तथ्य रह जाता है कि लगभग ई० पू० ३०० में भारतीयों के पास ऐसे राजाओं की एक सूची थी जो उस तिथि से पूर्व सहस्रों वर्षों तक राज्य करते रहे, न कि कुछ सौ वर्षों तक (जैसा कि पार्जिटर महोदय हमें विश्वास दिलाते रहे हैं!)।

हमने बहुत पहले ऊपर देख लिया है कि आपस्तम्ब ने भविष्यत्पुराण का उल्लेख किया है और एक पुराण से चार श्लोक उद्धृत किये हैं। उस पुराण को भविष्यत्पुराण नाम से सम्भवतः इसलिए पुकारा गया क्योंकि उसमें भविष्यवाणी के रूप में ऐसे राजाओं के नाम एवं वृत्तान्त दिये हुए हैं जो महाभारत के वीरों के उपरान्त उनके वंशजों की कुछ पीढ़ियों एवं उनके समकालीन राजाओं के पश्चात् हुए थे; इतना ही नहीं, यह भी सम्भव है कि वह पुराण किसी मुनि द्वारा या व्यास द्वारा प्रणीत हुआ था। क्योंकि कलियुग का आरम्भ महाभारत के उपरान्त माना जाता है; पराशर, पराशर के पुत्र व्यास, व्यास के पुत्र शुक अधिक या कम रूप में पाण्डवों के समकालीन थे और वे सभी द्वापर युग में होने वाले कहे जाते हैं तथा सभी अठारहों पुराण व्यास द्वारा द्वापर युग में रचित माने गये हैं। अतः अधिसीमकृष्ण एवं उसके समकालीनों के वंशजों के कलियुगी राजाओं का इतिहास पुराणों द्वारा भविष्यवाणी के रूप में उपस्थित किया गया है। पार्जिटर एवं किर्फेल में दोनों ने यह नहीं देखा कि तथाकथित भावी राजा दो दलों में विभाजित हैं, यथा—ऐल, ऐक्ष्वाक एवं मागध नामक वंशों के क्रम से अधिसीमकृष्ण, दिवाकर एवं सेनजित् से लेकर उनके उत्तराधिकारियों तक[२८] (यथा—ऐक्ष्वाक वंश में सुमित्र एवं ऐल वंश में क्षेमक) का एक

२८. अत्रानुवंशश्लोकोऽयं भविष्यज्ञैरुदाहृतः। इक्ष्वाकूणामयं वंशः सुमित्रान्तो भविष्यति। सुमित्रं प्राप्य राजानं संस्थां प्राप्स्यति वै कलौ॥ वायु ९९।२९२, मत्स्य २७१।१५-१६, ब्रह्माण्ड ३।७४।१०६; अत्रानुवंशश्लोकोऽयं गीतो विप्रैः पुराविदैः। ब्रह्मक्षत्रस्य यो योनिर्वंशो देवर्षिसत्कृतः। क्षेमकं प्राप्य राजानं संस्थां प्राप्स्यति वै कलौ॥ वायु ९९।२७८, ब्रह्माण्ड ३।७४।२६५, मत्स्य ५१।८८। तीसरे वंश की अन्तिम पीढ़ी के लोगों के विषय में कोई अनुवंशश्लोक नहीं है।

दल, तथा दूसरा वह दल जिसमें प्रद्योत, शुंग, आन्ध्र, शक आदि वंशों के पश्चात्कालीन राजा सम्मिलित हैं। प्रथम दल के राजा सम्भवतः प्राचीन भविष्यत्पुराण या किसी अन्य पुराण में उल्लिखित हैं, जैसा कि आपस्तम्ब में आया है, किन्तु दूसरे दल के राजा-गण उस समय नहीं हुए थे जब भविष्यत्पुराण प्रणीत हुआ (ई० पू० ५००-४०० के पूर्व), प्रत्युत वे आगे के कालों में लिखित पुराणों में ही चर्चित हो सके। मत्स्य एवं वायु के वचनों से यह बात स्पष्ट हो जाती है।[२९] मत्स्य में आया है, 'इसके उपरान्त मैं ऐड (ऐल), ऐक्ष्वाक एवं पौरव वंशों के भावी राजाओं की घोषणा करूँगा और इनके साथ मैं उनकी भी घोषणा करूँगा जिनके साथ ये तीनों गुणशील अथवा धर्मात्मा वंश नाश को प्राप्त होंगे तथा मैं उन सभी राजाओं का वर्णन करूँगा जो भविष्य (पुराण) में कहे गये हैं। इन लोगों से भिन्न राजा उभरेंगे, यथा—क्षत्र (? क्षत्रिय वर्ग के), पारशव (पारशी जाति या ऐसे लोग जो शूद्र बाप एवं ब्राह्मणी माँ से उत्पन्न होते हैं), शूद्र (राजा के रूप में) एवं अन्य जो विदेशी हैं, अन्ध्र, शक, पुलिन्द, चुलिक, यवन, कैवर्त (मछली मारने वाले), आभीर, शबर एवं अन्य, जो म्लेच्छ (जाति) से उद्‌भूत हैं—इन सभी को मैं क्रम से नाम लेकर घोषित करूँगा। इन (दोनों दलों) में प्रथम है अधिसीमकृष्ण जो अभी जीवित है, और मैं इसके वंश के उन राजाओं का वर्णन करूँगा जो भविष्य (पुराण) में वर्णित हैं।' यह वक्तव्य इसे पूर्णरूपेण स्पष्ट करता है कि प्राचीन भविष्यत्पुराण में ऐल, ऐक्ष्वाक एवं पौरव नामक तीन वंशों के राजा उनके अन्तिम राजा तक उल्लिखित थे, किन्तु पश्चात्कालीन राजा, यथा—आन्ध्र एवं शक, उसमें नहीं चर्चित थे। प्रस्तुत लेखक पार्जिटर की इस बात से सहमति रखता है (पृ० ८, भूमिका, 'पुराण टेक्स्ट्स' आदि) कि 'भविष्ये कथितान्' (मत्स्य ५०।७७) या 'भविष्ये पठितान्' (वायु ९९।२९२) भविष्य (पुराण) में वर्णित वंशजों की ओर संकेत करते हैं और वे केवल 'भविष्य में वर्णित' का ही अर्थ नहीं देते। किन्तु यह बात नहीं समझ में आती कि वे 'भविष्यत्' को 'भविष्य' का बिगड़ा हुआ रूप क्यों मान बैठते हैं। 'भविष्यत्' वैसा ही शुद्ध शब्द है जैसा कि 'भविष्य' क्योंकि बहुत वक्तव्यों में ऐसा प्रयोग देखा गया है, यथा वराह (१७७।३४), मत्स्य (५३।६२)।

२९. अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि भविष्या ये नृपास्तथा। ऐडेक्ष्वाकान्वये चैव पौरवे चान्वये तथा।। येषु संस्थास्यते तच्च ऐडेक्ष्वाकुकुलं शुभम्। तान्सर्वान् कीर्तयिष्यामि भविष्ये कथितान्नृपान्।। तेभ्योपरे पि ये त्वन्ये ह्युत्पत्स्यन्ते नृपाः पुनः। क्षत्राः पारशवाः शूद्रास्तथान्ये ये बहिश्चराः।। अन्धाः (अन्ध्राः) शकाः पुलिन्दाश्च चूलिका यवनास्तथा। कैवर्ताभीरशबरा ये चान्ये म्लेच्छसम्भवाः।। पर्यायतः प्रवक्ष्यामि नामतश्चैव तान्नृपान्। अधिसोम (सीम?) कृष्णश्चैतेषां प्रथमं वर्तते नृपः। तस्यान्ववाये वक्ष्यामि भविष्ये कथितान् नृपान्।। मत्स्य (५०।७३-७७)। मिलाइए वायु ९९।२६६-२७० (केवल ये अन्तर पाये जाते हैं, यथा—'पर्यायतः' एवं 'भविष्ये तावतो नृपान्' के लिए 'भविष्ये पठितान्', 'वर्षाग्रतः')। 'पारशवाः' (पार्शवः या पर्शवः) सम्भवतः 'पर्शु' नामक किसी लड़ाकू जाति के लिए प्रयुक्त हुआ है। देखिए 'पर्श्वादियौधेयादिभ्यामणञौ' (पाणिनि ५।३।११७) जिससे यह प्रकट होता है कि पाणिनि के काल में पर्शु यौधेय के सदृश 'आयुधजीविसंघ' था। डेरियस के बेहुस्तुन अभिलेख (ई० पू० ५२२-४८६) से प्रकट होता है कि 'पर्शु' लोग प्राचीन पारसी लोग थे। देखिए डा० डी० सी० सरकार कृत ('सेलेक्ट इंस्क्रिप्शंस्,' जिल्द १, पृ० १-६, जहाँ 'पर्स' एक देश के नाम के रूप में आया है। ऊपर जो अन्य अर्थ दिया हुआ है वह संदर्भ में नहीं बैठ पाता। पुलिन्द लोग विन्ध्य भाग में रहते थे और अशोक के १३ वें अभिलेख में अन्ध्रों के साथ समन्वित हैं। अमरकोश में आया है 'भेदाः किरातशबरपुलिन्दा म्लेच्छजातयः।'

सम्भवतः पार्जिटर महोदय आपस्तम्ब के 'भविष्यत्' को पश्चात्कालीन 'भविष्य' के सदृश समझ लेना चाहते हैं। किन्तु नाम-साम्य के अतिरिक्त कोई अन्य प्रमाण ऐसा नहीं है जिसके आधार पर ऐसा समझा जाय या कहा जाय। अतः ऐसा प्रकट होता है कि वर्तमान पुराण ऐल, ऐक्ष्वाक एवं पौरव के वंशजों का वृत्तान्त 'प्राचीन भविष्य' के आधार पर देते हैं, किन्तु अन्य एवं अपेक्षाकृत पश्चात्कालीन राजाओं के वृत्तान्त के लिए वे अन्य बातों या मौखिक परम्पराओं का, जिन्हें वे संगृहीत कर सके, सहारा लेते हैं। अन्य परिस्थितियों से यह अनुमान दृढ़ता प्राप्त करता है। आज के पुराण प्राचीन राजाओं के बारे में 'अनुवंश श्लोक' या गाथाएँ उद्धृत करते हैं, यथा—कार्तवीर्य (वायु ९४।२०, मत्स्य ४३।२४, ब्रह्माण्ड ३।१८-२०, ब्रह्म १३।१७)। ये पुराण ऐल एवं ऐक्ष्वाक वंशों के अन्तिम राजा के नाम भी बताते हैं, यथा—क्रम से सुमित्र एवं क्षेमक। किन्तु अपेक्षाकृत पश्चात्कालीन राजाओं, यथा—आन्ध्रों, शुंगों आदि के बारे में इन पुराणों में कोई गाथा या श्लोक नहीं उद्धृत हुए हैं। पार्जिटर महोदय का कहना है (पृ० १३, 'पुराण टेक्स्ट्स' आदि) कि प्राचीन भविष्य में गुप्त राजाओं का संकेत मिलता है, किन्तु इस कथन की पुष्टि में हमें कोई प्रमाण नहीं प्राप्त होता। प्राचीन भविष्य का निर्माण आपस्तम्ब (ई० पू० चौथी या पाँचवीं शती) के पूर्व हो चुका था, इससे स्पष्ट है कि मूल रूप में उसमें गुप्तों की ओर किसी प्रकार का संकेत सम्भव नहीं है, क्योंकि गुप्तों का शासन सन् ३२० ई० से आरम्भ होता है। मत्स्य ने गुप्तों का उल्लेख नहीं किया है, वह केवल आन्ध्रों के अधःपतन का उल्लेख करता है। अतः ऐसा समझा जाना चाहिए कि मत्स्य का प्रणयन अथवा संशोधन तीसरी शती के मध्य या अन्त में हुआ होगा, किन्तु यह सम्भव है कि कुछ अध्याय या श्लोक उस तिथि के उपरान्त जोड़े गये हों। जब वायु (९९।३८३), ब्रह्माण्ड (३।७४।१९५), विष्णु (४।२४।१८) एवं भागवत (१२।१।३७) ने गुप्तों को शासकों के रूप में वर्णित किया तो प्रथम दो ने सम्भवतः ये श्लोक तभी जोड़े जब गुप्त-शासन का आरम्भ मात्र हुआ था और विष्णु एवं भागवत (जो अशुद्ध है) ने सम्भवतः वायु एवं ब्रह्माण्ड की पाण्डुलिपियों से उधार लिया होगा। यह स्पष्ट है कि इन चारों में प्रथम दो लगभग ३२०-३३५ ई० में प्रणीत हुए या संशोधित हुए, और अन्य दो उनसे और बाद।

किर्फेल का 'पुराण पंचलक्षण' नामक ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें पौराणिक विषय का अध्ययन एक नये ढंग से हुआ है। इस ग्रन्थ की जर्मन भूमिका का अंग्रेजी अनुवाद श्री वेंकटेश इंस्टीट्यूट (तिरुपति) के जर्नल (जिल्द ७, पृ० ८०-१२१ एवं जिल्द ८, पृ० ९-३३) में हुआ है। किर्फेल ने पार्जिटर के बहुत-से मतों से अपना विरोध प्रकट किया है। उनके प्रमुख निष्कर्ष ये हैं—अग्नि एवं गरुड़ के संक्षेप एवं विष्णु में गद्य-विस्तार के रहते हुए भी पुराणों के केवल तीन ही पूर्ण दल हैं, यथा—ब्रह्म एवं हरिवंश, ब्रह्माण्ड एवं वायु, तथा मत्स्य के; अन्य पुराण तो उनके छोटे या बड़े अंश मात्र हैं। उपर्युक्त तीन दलों में ब्रह्माण्ड एवं हरिवंश सबसे प्राचीन हैं (ब्रह्माण्ड एवं वायु नहीं, जैसा कि पार्जिटर का मत है)। किर्फेल का कथन है कि ब्रह्माण्ड एवं वायु मौलिक रूप से एक ही पुराण थे, विशेषतः इसलिए कि दोनों के अधिकांश एक-दूसरे से मिलते-जुलते हैं। किर्फेल का यह भी कहना है कि पार्जिटर महोदय का यह मत भ्रामक है कि वायु एवं ब्रह्माण्ड के संयोजन (अर्थात् उनमें आगे जो जोड़ दिया गया है) प्राचीन भविष्य (पुराण) से लिये गये हैं (किर्फेल, पृ० १८, जिल्द ७, उपर्युक्त जर्नल), प्रत्युत उधार लिया हुआ विषय किसी अन्य प्राचीन स्वतन्त्र ग्रन्थ से है। किर्फेल पार्जिटर के इस सिद्धान्त को नहीं मानते कि पुराण प्राकृत भाषा के संस्कृत रूपान्तर हैं और न यही स्वीकार करते कि विष्णु अपने वर्तमान रूप में वायु या ब्रह्माण्ड से बाद का है, ऐसा होते हुए भी कि इसमें पुराणों के पंचलक्षण अपने मौलिक रूप में उपस्थित हैं। पुराणों का १८ प्रकारों में विभाजन, उनका सात्त्विक, राजस एवं तामस में बँटना मौलिक नहीं है, प्रत्युत वे पुराणों के अन्तिम परिष्कृत रूपों के द्योतक मात्र हैं। पार्जिटर ने ऐसा विचार किया था कि कोई उद्-पुराण था, जिसने पंच-लक्षणों को व्यवस्थित रखा था और

उनका पूर्ण एवं स्पष्ट व्याख्यात्मक निर्वाह किया था। किर्फेल महोदय इस कथन को विशुद्ध कल्पनात्मक मानते हैं (उक्त जर्नल की जिल्द, ८, पृ० ३१)।

प्रस्तुत लेखक किर्फेल महोदय के अधिकांश मतों को प्रयोगात्मक रूप से स्वीकार करता है, किन्तु यह मानने को तैयार नहीं है कि पंच-लक्षण (सर्ग आदि) सम्पूर्ण पुराण साहित्य के प्राचीनतम मौलिक अंश हैं।

इस प्रकरण के विषय के साथ पुराणों की तिथि अथवा युग पर विवेचन करना समीचीन नहीं होगा। तो भी दो-एक बातें कह देना पूर्णतया अप्रासंगिक नहीं लगता।

पुराणों के विषय में प्रस्तुत लेखक के विचार ये हैं—अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण एवं प्राचीन उपनिषदों में उल्लिखित 'पुराण' के विषय में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है, किन्तु इतना स्पष्ट है कि पुराण ने वेदों के समान ही पुनीतता के पद को प्राप्त कर लिया था और वैदिक काल में वह इतिहास के साथ गहरे रूप से सम्बन्धित था। **पुराण-साहित्य के विकास की यह प्रथम सीढ़ी थी**, किन्तु हम प्राचीन कालों के पुराण के भीतर के विषयों को बिल्कुल नहीं जानते। तै० आ० ने 'पुराणानि' का उल्लेख किया है, अतः उसके समय में कम-से-कम तीन पुराण तो अवश्य रहे होंगे (क्योंकि यह बहुवचन में है और द्विवचन में रहने पर केवल दो का बोध होता)। आपस्तम्ब-धर्मसूत्र ने एक पुराण से चार श्लोक उद्धृत किये हैं और एक पुराण को भविष्यत्पुराण नाम से पुकारा है, जिससे प्रकट होता है कि पाँचवीं या चौथी ई० पू० शती तक कम-से-कम भविष्यत्पुराण नामक पुराण था, और अन्य पुराण रहे होंगे या एक और पुराण रहा होगा जिसमें सर्ग एवं प्रतिसर्ग तथा कुछ स्मृति-विषय रहे होंगे। इसे हम **पुराण-साहित्य के विकास की दूसरी सीढ़ी** कह सकते हैं, जिसके विषय के बारे में हमें कुछ थोड़ा-बहुत ज्ञात है।

महाभारत ने सैकड़ों श्लोक (श्लोकों, गाथाओं, अनुवंश श्लोकों के नाम से विख्यात) उद्धृत किये हैं जिनमें कुछ तो पौराणिक विषयों की गन्ध रखते हैं और कुछ पौराणिक परिधि में आ जाते हैं। कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं। वन-पर्व ने विश्वामित्र की अतिमानुषी विभूति के विषय में एवं उनके इस कथन के विषय में कि वे ब्राह्मण हैं दो श्लोक उद्धृत किये हैं।[30] अनुशासनपर्व ने कुछ ऐसी गाथाएँ उद्धृत की हैं जो पितरों द्वारा पुत्र या पुत्रों की महत्ता के विषय में गायी गयी हैं। ये गाथाएँ शब्दों एवं भावों में इसी विषय में कहे गये पौराणिक वचनों से मेल रखती हैं।[31] उद्योगपर्व (१७८।४७-४८) में भीष्म ने परशुराम से एक श्लोक कहा है, जो मरुत्त द्वारा गाया गया था और पुराण में घोषित था। पुराणों में भी श्लोकों, गाथाओं एवं अनुवंश श्लोकों के उद्धरण पाये जाते हैं, जो लोगों में गाये जाते थे और 'पौराणिक' (वायु ७०।७६, ८८।११४-११६, ८८।१६८-१६९ में, ब्रह्माण्ड ३।६३।६९-७० में) या 'पुराविदः'

३०. यत्रानुवंशं भगवान् जामदग्न्यस्तथा जगौ। विश्वामित्रस्य तां दृष्ट्वा विभूतिमतिमानुषीम्॥ कान्यकुब्जे-पिबत्सोममिन्द्रेण सह कौशिकः। ततः क्षत्रादपाक्रामद् ब्राह्मणोस्मीति चाब्रवीत्॥ वनपर्व (८७।१७-१८)। वैदिक यज्ञ में केवल ब्राह्मण ही सोम का पान कर सकते थे, क्षत्रिय नहीं। देखिए इस ग्रन्थ का खण्ड २।

३१. गाथाश्चाप्यत्र गायन्ति पितृगीता युधिष्ठिर। सनत्कुमारो भगवान्पुरा मय्यभ्यभाषत॥ अपि नः स कुले जायाद्यो नो दद्यात् त्रयोदशीम्। मघासु सर्पिःसंयुक्तं पायसं दक्षिणायने॥ आजेन वापि लौहेन मघास्वेव यतव्रतः। हस्तिच्छायासु विधिवत्कर्णव्यजनवीजितम्॥ एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोपि गयां व्रजेत्। अनुशासनपर्व (८८।११-१४।) मिलाइए विष्णुपुराण (३।१६।१७-२०), ब्रह्माण्ड (३।१९।१०-११), वायु (८३।११-१२), जिनमें सभी के आधे श्लोक हैं 'अपि नः . . . शीम्' जैसा कि अनु० में है।

या 'पुराणज्ञाः' (वायु ८८।१७१ एवं ९५।१९, ब्रह्माण्ड ३।६३।१७१) कहे गये हैं। वायु (९३।९४-१०१) ने ययाति द्वारा गायी गयी बहुत सी गाथाएँ उल्लिखित की हैं, जिनमें बहुत सी आदिपर्व (७५।५०-५३ एवं ८५।१२-१५), ब्रह्माण्ड (३।६८-१०३) एवं अन्य पुराणों में भी पायी जाती हैं। यह सम्भव है कि ये गाथाएँ एवं श्लोक उन लोगों द्वारा घोषित हुए हों, जो यह जानते थे कि पुराण आपस्तम्ब द्वारा जाने गये पुराण या पुराणों से लिये गये हैं। याज्ञ० (१।३) ने पुराण को धर्म-साधनों में एक साधन माना है, जिससे यह सिद्ध होता है कि कुछ ऐसे पुराण, जिनमें स्मृति की बातें पायी जाती थीं, उस स्मृति (अर्थात् याज्ञवल्क्यस्मृति) से पूर्व ही, अर्थात् दूसरी या तीसरी शती में प्रणीत हो चुके थे। **पुराण-साहित्य के विकास की यह तीसरी सीढ़ी** है। यह कहना कठिन है कि वर्तमान मत्स्य मौलिक रूप से कब लिखा गया, किन्तु यह तीसरी शती के मध्य या अन्त में संशोधित हुआ, क्योंकि इसमें आन्ध्र वंश के अधःपतन की चर्चा तो है, किन्तु गुप्तों का कोई उल्लेख नहीं है। किन्तु यह सम्भव है कि मत्स्य का मौलिक बीज इससे कई शतियों पुराना हो। यही बात वायु एवं ब्रह्माण्ड के साथ भी है। ये दोनों लगभग ३२०-३३५ ई० के आसपास संगृहीत हुए या सम्वर्धित हुए, क्योंकि इन्होंने गुप्तों की ओर संकेत तो किया है किन्तु गुप्त राजाओं के नाम नहीं लिये हैं। आज के रूप में ये दोनों पुराण (वायु एवं ब्रह्माण्ड) विकास की तीसरी सीढ़ी में ही रखे जा सकते हैं। महापुराणों में अधिकांश ५वीं या छठी शती और ९वीं शती के बीच में प्रणीत हुए या पूर्ण किये गये। यह है **पुराण-साहित्य के विकास की चौथी सीढ़ी**। उपपुराणों का संग्रहण ७वीं या ८वीं शताब्दी से आरम्भ हुआ और उनकी संख्या १३ वीं शती तक या इसके आगे तक बढ़ती गयी। यह है **पुराण-साहित्य के विकास की अन्तिम सीढ़ी**। इस प्रकार हम देखते हैं कि पुराणों ने हिन्दू समाज को ईसा के पूर्व की कुछ शतियों से प्रभावित करना आरम्भ किया और ईसा के उपरान्त १७ वीं या १८ वीं शती तक और वे आज भी प्रभावित किये हुए हैं। नवीं शती के उपरान्त कोई अन्य महापुराण नहीं प्रकट हुए, किन्तु अतिरिक्त विषयों का समावेश कुछ पुराणों में होता रहा, जिसका सबसे बुरा उदाहरण है भविष्य का तृतीय भाग, जिसमें 'आदम एवं ईव', पृथिवीराज एवं जयचन्द, तैमूर, अकबर, चैतन्य, भट्टोजि, नादिरशाह आदि की कहानियाँ भर दी गयी हैं।

'पुराण' शब्द ऋग्वेद में एक दर्जन से अधिक बार आया है, वहाँ यह विशेषण है और इसका अर्थ है 'प्राचीन, पुरातन या वृद्ध।' निघण्टु (३।२७) ने पुराण के अर्थ में छः वैदिक शब्द दिये हैं, यथा 'प्रत्नम्', 'प्रदिवः', 'प्रवयाः', 'सनेमि', 'पूर्व्यम्', 'अह्नाय'। यास्क (निरुक्त, ३।१९) ने पुराण की व्युत्पत्ति की है 'पुरा नवं भवति' (जो पूर्व काल में नया था)। ऋग्वेद में 'पुरातन' (प्राचीन) शब्द नहीं आता। 'पुराण' बीच वाले 'पुरा अण' द्वारा 'पुरातन' का अति प्राचीन रूप हो सकता है। प्राचीन के अर्थ में 'पुराण' शब्द आगे चलकर ऐसे ग्रन्थ का द्योतक माना जाने लगा जो प्राचीन गाथाओं (कथानकों) से सम्बन्धित हो; यह संज्ञा हो गया और अथर्ववेद, शतपथ एवं उपनिषदों के काल में ऐसे ग्रन्थों के लिए प्रयुक्त होने लगा जिनमें प्राचीन कथाएँ हों। जब पुराण प्राचीन कथानकों वाले ग्रन्थ का द्योतक हो गया, तो भविष्यत्-पुराण कहना स्पष्ट रूप से आत्म-विरोध का परिचायक हो गया। किन्तु सम्भवतः इस विरोध पर ध्यान नहीं दिया गया या इस विचार से इस पर लोगों ने ध्यान नहीं दिया कि ऐसे ग्रन्थ जिनमें प्राचीन कथाएँ रहती थीं, क्रमशः हाल की घटी कथाओं को भी सम्मिलित करने लगे और इसीलिए वे भविष्यवाणी की शैली को अपना बैठे और बाद वाली घटनाओं एवं कथानकों को स्थान देने लगे।

वायु ने 'पुराण' शब्द की व्युत्पत्ति 'पुरा' (प्राचीन काल में, पहले) एवं धातु 'अन्' (साँस लेना या जीना) से की है, अतः इसके अनुसार 'पुराण' का शाब्दिक अर्थ है 'जो अतीत में जीवित है' या 'जो प्राचीन काल की

साँस लेता है।' पद्मपुराण ने थोड़ी भिन्न व्युत्पत्ति की है, यथा—'यह पुराण कहलाता है, क्योंकि यह अतीत को चाहता है या उसे पसन्द करता है' ('पुरा' एवं धातु 'वश्' से; 'वश्' का अर्थ है चाहना या पसन्द करना)।[32]

उपस्थित पुराणों में गुप्तों एवं उनके उत्तराधिकारी वंशजों की वंशावलियों एवं कुलों का वृत्तान्त क्यों नहीं पाया जाता? इस प्रश्न का उत्तर सन्तोषजनक ढंग से नहीं दिया जा सकता। एक कारण यह हो सकता है कि कुछ पुराणों का मौलिक बीजारोपण (यथा मत्स्य का) गुप्तों के अभ्युदय के पूर्व ही हो गया था, किन्तु वायु एवं ब्रह्माण्ड तब प्रणीत हुए जब गुप्त-शासन अभी शैशवावस्था में था। दूसरा कारण यह हो सकता है कि पाँचवीं एवं इसके आगे की शताब्दियों में, जब कि उपस्थित पुराणों में अधिकांश का प्रणयन हुआ, उत्तरी भारत हूणों (तोरमाण एवं मिहिरकुल) से पदाक्रान्त था, कतिपय सम्प्रदाय एवं धर्म-मतभेद उत्पन्न हो गये थे, बौद्धधर्म शक्तिशाली हो गया था, अतः बुद्धिमान् एवं वेद के भक्त लोगों का प्रथम कर्तव्य हो गया कि वे सामान्य जनता का मन धर्म-मतभेद से अलग करें (बौद्ध जैसे लोगों को समझायें या उनके प्रभाव में आने से लोगों को रोकें), जनता में नयी विचारधारा की नींव डालें एवं अपने प्राचीन व्यवहारों एवं परम्पराओं में विभिन्न सम्प्रदायों एवं धार्मिक मतभेदों को पचा डालें। अतः बुद्धिमान् वर्गों ने अहिंसा, सत्य, भक्ति के नैतिक गुणों, व्रतों, तीर्थयात्राओं, श्राद्धों एवं दानों की महत्ता पर बल देना श्रेयस्कर समझा, और सम्भवतः वे इस मनःस्थिति में नहीं थे कि वे बाह्य आक्रामकों का वृत्तान्त उपस्थित करते या उन छोटे-छोटे सामन्तों की गाथा गाते जो पारस्परिक झगड़ों में उलझे हुए थे और क्रूर आक्रामकों को भगा देने में अशक्त थे। गुप्तों एवं उनके उत्तराधिकारियों के वंशों की ओर पुराणों के मौन का कारण पार्जिटर महोदय ब्राह्मणों को समझते हैं; वे ब्राह्मणों के सिर पर सारा दोष मढ़ देते हैं और उनकी निम्नलिखित आलोचना द्रष्टव्य है—'उस अवस्था के उपरान्त परम्परागत इतिहास का पूर्ण अभाव भली भाँति समझा जा सकता है, क्योंकि पुराण के संग्रहण ने परम्परा पर एक मुहर लगा दी थी तथा पुराण शीघ्र ही ब्राह्मणों के हाथ में पड़ गये जिन्होंने जो कुछ प्राप्त किया उसका संरक्षण तो किया, किन्तु इतिहास-सम्बन्धी ब्राह्मणीय उपेक्षा के कारण उन्होंने पश्चात्कालीन राजाओं के विषय में कुछ नहीं जोड़ा।' थोड़ी देर के लिए यदि यह मान लिया जाय कि ब्राह्मणों में इतिहास-सम्बन्धी चेतनता नहीं थी, तब भी पार्जिटर की सम्मति पूर्णरूपेण एकपक्षीय है। पार्जिटर महोदय यह नहीं बताते और न कोई तर्क ही उपस्थित करते कि सूतों ने (जिनका व्यवसाय ही था ऐतिहासिक परम्पराओं का संग्रह करना एवं संरक्षण करना, जैसा कि वे स्वयं कहते हैं, देखिए ए० आई० एच्० टी०, पृ० ५८) क्यों नहीं अपना वह व्यवसाय प्रचलित रखा और क्यों नहीं आगे के राजाओं की वंशावलियाँ लिखीं तथा इतिहास के अन्य विषयों को जोड़ा? और न पार्जिटर महोदय इसकी ही व्याख्या करते हैं कि सूत लोग क्यों अपने प्राचीन व्यवसाय से वंचित कर दिये गये और उन्होंने क्यों अपनी यह वृत्ति ब्राह्मणों को सौंप दी? यह सम्भव है कि कनिष्क एवं हूण जैसे बाह्य वर्गों ने सूतों को, जो सामाजिक रूप में बहुत निम्न वर्ग के समझे जाते थे, कोई बढ़ावा नहीं दिया, और वे सम्भवतः बौद्ध हो गये, क्योंकि बौद्ध धर्म की जातक कथाएँ इतनी मोहक एवं प्रसिद्ध रही होंगी कि उनको सुनाने का व्यवसाय करके जीवन-निर्वाह करना सूतों के लिए कोई कठिन कार्य नहीं रहा होगा।

३२. यस्मात्पुरा ह्यनतीदं पुराणं तेन तत्स्मृतम्। निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ वायु (१।२०३), पुरा परम्परां वष्टि पुराणं तेन वै स्मृतम्। पद्म (५।२।५३); ब्रह्माण्ड (१।१।१७३) में आया है—यस्मात्पुरा ह्यभूच्चैतत्पुराणं तेन तत्स्मृतम्। निरुक्त...मुच्यते॥

व्यास एवं सूत से सम्बन्धित अनुश्रुतियों पर भी संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक है। पुराणों ने घोषित किया है कि व्यास पराशर के पुत्र थे, वे कृष्ण द्वैपायन भी कहे जाते थे और स्वयं विष्णु के अवतार थे (ब्रह्मा के भी अवतार कहे गये हैं, यथा वायु ७७।७४-७५, शिव के भी अवतार कहे गये हैं, यथा कूर्म० २।११।१३६)। उनका द्वैपायन[33] नाम इसलिए पड़ा कि उनका जन्म यमुना नदी के एक द्वीप में हुआ था और कृष्ण नाम इसलिए पड़ा क्योंकि उनका रंग काला (कृष्ण) था। उनकी माता सत्यवती थीं और पुत्र थे शुक। उन्होंने वेद को चार भागों में विभाजित या व्यवस्थित किया, अतएव वे व्यास कहलाये (धातु 'अस्' तथा उपसर्ग 'वि'; 'अस्' का अर्थ है 'फेंकना')। उन्होंने चारों वेदों में चार शिष्यों को प्रशिक्षित किया, यथा—पैल, वैशम्पायन, जैमिनि एवं सुमन्तु जो क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद में पारंगत हुए। उनके पाँचवें शिष्य थे सूत रोमहर्षण, जिन्हें इतिहास-पुराण में प्रशिक्षित किया गया। सूत के पुत्र थे सौति, जिन्होंने महाभारत का पाठ शौनक एवं अन्य मुनियों को नैमिषारण्य में सुनाया। ऐसा विश्वास किया जाता है कि जब कभी धर्म की हानि देखी गयी, मानवों के कल्याण के लिए व्यास ने जन्म लिया (ब्रह्म० १५८।३४)। कूर्म० (१।५२।१-९) ने विभिन्न व्यासों के २७ नाम दिये हैं, किन्तु वायु० (२३।११५-२१९), ब्रह्माण्ड० (२।३५।११६-१२५), विष्णु० (३।३।११-१९) ने वैवस्वत मन्वन्तर (जो आजकल चल रहा है) के २८ द्वापर युगों के २८ व्यासों के नामों का उल्लेख किया है। व्यास ने पुराणों को किस प्रकार एक स्थान पर संगृहीत किया, इसके विषय में कई पुराणों में इस प्रकार आया है—'उसने, जो पुराण के अर्थ के विषय में प्रवीण था, आख्यानों, घटनाओं, गाथाओं से सामग्रियाँ लेकर तथा कल्पों का सम्यक् निरूपण करके पुराण संहिता का प्रणयन किया।'[34] इससे स्पष्ट है कि जहाँ वैदिक विषय ब्राह्मणों द्वारा अद्वितीय ढंग से संरक्षित होते थे, प्राचीन इतिहास-पुराण, जो पंचम वेद कहा गया है, उसी प्रकार सावधानी से रक्षित नहीं हो पाता था। इसीलिए चारों वेद और पाँचवें वेद में समय-समय पर नयी-नयी बातों का समावेश होता रहता था।

३३. अस्मिन्युगे कृतो व्यासः पाराशर्यः परन्तपः (परन्तप ?)। द्वैपायन इति ख्यातो विष्णोरंशः प्रकीर्तितः।। ब्रह्मणा चोदितः सोस्मिन्वेदं व्यस्तुं प्रचक्रमे। अथ शिष्यान् स जग्राह चतुरो वेदकारणात्।। ऋग्वेदश्रावकं पैलं जग्राह विधिवद् द्विजम्। यजुर्वेदप्रवक्तारं वैशम्पायनमेव च।। जैमिनिं सामवेदार्थं श्रावकं सोन्वपद्यत। तथैवाथर्ववेदस्य सुमन्तुमृषिसत्तमम्।। इतिहास पुराणस्य वक्तारं सम्यगेव हि। मां चैव प्रतिजग्राह भगवानीश्वरः प्रभुः।। वायु (६०।११-१६)। ब्रह्माण्ड (२।३४।११-१६, सभी शब्द एक प्रकार से समान हैं)। मिलाइए विष्णु (३।४। ७-१०), कूर्म (१।५२।१०-१५), विष्णुधर्मोत्तर (१।७४)। कूर्म (१।५१।४८), पद्म (५।१।४३), भागवत (१।४।१४-२५ एवं १२।६।४९-८०) एवं नारदीय (१।१।१८) ने व्यास को नारायण कहा है। आदिपर्व ने पुराणों के वक्तव्यों को मान लिया है, 'विव्यासैकं चतुर्धा यो वेदं वेदविदां वरः। आदि ६०।२ एवं ५; यो व्यस्य वेदांश्चतुरस्तपसा भगवानृषिः। लोके व्यासत्वमापेदे कार्ष्ण्यात्कृष्णत्वमेव च।। आदि (१०५।१५)।

३४. आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः। पुराणसंहितां चक्रे पुराणार्थविशारदः।। विष्णु (३।६। १५), ब्रह्माण्ड (२।३४।२१, यहाँ कल्पजोक्तिभिः आया है), वायु (६०।२१, यहाँ कुलकर्मभिः आया है)। 'कल्पजोक्तिभिः' का अर्थ होगा 'ऐसे शब्द या वृत्तान्त जो कल्पों (काल की लम्बी अवधियों) से सम्बन्धित होते हैं। विष्णुपुरा की टीका में आया है, 'स्वयं दृष्टार्थकथनं प्राहुराख्यानकं बुधाः। श्रुतस्यार्थस्य कथनमुपाख्यानं प्रचक्षते।।'

व्यास को जो वेद को व्यवस्थित करने की अनुश्रुतिपूर्ण महत्ता प्राप्त है, उसके विषय में पार्जिटर का एक अपना सिद्धान्त है, जिसका संक्षेप में यहाँ विवरण देना एवं उसकी जाँच करना आवश्यक है। उन्होंने ऋग्वेद को ब्राह्मणों का सबसे बड़ा ग्रन्थ ठहराया है और कहा है कि यह बहुत-से लेखकों के स्तोत्रों का संग्रह है और कुछ सिद्धान्तों के आधार पर इसकी व्यवस्था की गयी है। पार्जिटर के शब्द ये हैं—'यह (ऋग्वेद) स्पष्ट रूप से एक या कई व्यक्तियों द्वारा संगृहीत एवं संगठित किया गया है, किन्तु वैदिक साहित्य इस विषय में कुछ भी नहीं कहता। ब्राह्मण लोग इस विषय में अनभिज्ञ नहीं रहे होंगे, क्योंकि उन्होंने इसका संरक्षण किया और अद्भुत सावधानी के साथ इसके शब्दों को शुद्ध रखा।...वैदिक साहित्य अधिकांश सभी स्तोत्रों के लेखकों के नाम को जानता है या उनका उद्घोष करता है, यहाँ तक कि कुछ मन्त्रों के लेखकों के नाम भी ज्ञात हैं, तथापि इसने उस व्यक्ति या उन व्यक्तियों से अपने को अनभिज्ञ रखना चाहा, जिसने या जिन्होंने ऋग्वेद का संग्रहण एवं संग्रथन किया। यदि मान लिया जाय कि इसने प्रारम्भिक वृत्तान्त की रक्षा तो की किन्तु आगे के महत्त्वपूर्ण विषय के बारे में अनभिज्ञ रहा तो ऐसा मानना हास्यास्पद होगा।' किसने या किन्होंने ऋग्वेद का संग्रह किया या उसे संग्रथित किया, वैदिक साहित्य के इस विषय में मौन रहने से पार्जिटर महोदय अचानक एक भावात्मक एवं दृढ निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं, जैसा कि पाश्चात्य लेखकों में देखा जाता है। संस्कृत साहित्य एवं भारतीयता-शास्त्र (इण्डोलाजी) के पाश्चात्य लेखक किसी 'मौन' पर तर्क देने लगते हैं कि 'वैदिक साहित्य ने जान बूझकर इन विषयों को दबाया है (ऐंश्येण्ट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन, पृ० ९)। पार्जिटर ने इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि महाभारत एवं पुराण व्यास नाम से भरे पड़े हैं और बारम्बार उद्घोषित करते हैं कि वेद व्यास द्वारा संग्रथित किया गया है। वे इस ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं कि वैदिक साहित्य व्यास पाराशर्य के बारे में महत्त्वपूर्ण ढंग से मौन है (व्यास, सामविधान ब्राह्मण के अन्त में एवं तैत्तिरीय आरण्यक में, वंश-सूची में, विश्वक्सेन के शिष्य के रूप में उल्लिखित हैं)। इसके उपरान्त पार्जिटर महोदय व्यास के विषय में मौन रूपी दुरभिसन्धि को बार-बार दुहराते हैं (ऐ० इ० हि० ट्रे०, पृ० १०)। पार्जिटर इस प्रकार का मौन-सम्बन्धी अभियोग लगा कर एक तर्क के साथ उभर पड़ते हैं—'ब्राह्मणों ने ऐसा सिद्धान्त अग्रसारित किया कि वेद अनादि काल से ही चला आ रहा है, अतः यह कहना कि किसी ने इसका संग्रह किया या इसे संग्रथित किया, इस सिद्धान्त की जड़ को ही काट देना है...' (वही, पृ० १०)।

वैदिक साहित्य के तथाकथित मौन-सम्बन्धी पार्जिटर-सिद्धान्त के विरोध में कई समाधान उपस्थित किये जा सकते हैं। पहली बात यह है कि पार्जिटर महोदय तथ्य-सम्बन्धी अपने वक्तव्य के विषय में अमर्यादित रहे हैं। पार्जिटर इस बात से पूर्णतया अनभिज्ञ हैं, यहाँ तक कि ऋग्वेद में भी ऋक् मन्त्रों, यजुस् वचनों एवं साम गीतों में अन्तर प्रकट किया गया है। देखिए ऋकों के लिए ऋ० २।३५।१२, ५।६।५, ५।२७।४, ५।४४।१४-१५, दोनों में ऋक् मंत्र एवं साम के मन्त्र अलग-अलग वर्णित हैं; यजुस् के लिए देखिए ऋ० ५।६२।५, १०।१८१।३; साम गीतों के लिए देखिए ऋ० २।४३।२ (उद्गातेव शकुने साम गायसि), ८।८१।५ (श्रवत् साम गीयमानम्), ८।९५।७ (शुद्धेन साम्ना)।

रामायण-महाभारत एवं पुराणों से पता चलता है कि मौलिक रूप से वेद एक था, किन्तु चार दलों में विभाजित एवं संग्रथित किया गया और ये चारों संग्रथित संग्रह-दल संरक्षण एवं प्रसार के लिए व्यास के चार विभिन्न शिष्यों को सौंपे गये। ऋग्वेद में दो व्यवस्थाएँ हैं, एक मण्डलों एवं सूक्तों के रूप में और दूसरी अष्टकों, अध्यायों एवं वर्गों में। तैत्तिरीय संहिता एवं अथर्ववेद काण्डों में संग्रथित हैं। इन स्थानों में कहीं भी ऐसा नहीं आया है कि ये स्तोत्र पहले से ही हैं या संग्रथित हैं या मण्डलों या अध्यायों या काण्डों में व्यास द्वारा व्यवस्थित किये गये हैं। इसके अतिरिक्त वेद के संग्रथनकर्ता के नाम को दबाने के विषय में जो तर्क उपस्थित किया गया है वह

दुर्बल है; हास्यास्पद कहने की बात ही क्यों उभाः । जाय। ऋग्वेद के प्रत्येक स्तोत्र या प्रत्येक मन्त्र का एक ऋषि है, जो प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार लेखक नहीं था (जैसा कि पार्जिटर ने कहा है), प्रत्युत द्रष्टा था। ब्राह्मण-ग्रन्थों, उपनिषदों एवं स्मृतियों से यह स्पष्ट है कि बहुत प्राचीन काल से ही एक कठिन नियम बना था कि कोई भी बिना ऋषि, छन्द, देवता एवं विनियोग (प्रयोग) जाने किसी मन्त्र को न तो पढ़ा सकता था, न जप में कह सकता था और न यज्ञ में उसका प्रयोग कर सकता था, नहीं तो इन चारों बातों में उपेक्षा दिखाने वाले या प्रमादी या असावधान व्यक्ति को दारुण फल भुगतने पड़ते थे। स्तोत्र एवं मन्त्र विभिन्न दलों में इसलिए विभाजित एवं संगठित थे कि उनका उपयोग विभिन्न धार्मिक कृत्यों, पुनीत यज्ञों या अन्य कार्यों (यथा—शान्ति आदि) में हो सके। यह स्मरण रखना कोई आवश्यक नहीं है कि कृत्यों, यज्ञों एवं अन्य उपयोगों के लिए किसने मन्त्रों को संग्रथित किया। ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं श्रौत सूत्रों ने विभिन्न उपयोगों के लिए उन्हीं मन्त्रों के प्रयोग की विधि की व्यवस्था दी है और उनकी अनुक्रमणिकाओं में ऋषियों (द्रष्टाओं), छन्द, स्तोत्र-देवताओं एवं कतिपय मन्त्रों के नाम दिये हुए हैं। वेद का प्रत्येक मन्त्र ऋषि द्वारा दर्शित माना गया है और अमर है, केवल एक या कई सरणियों में मन्त्रों को संगृहीत करने, या उन्हें या स्तोत्रों को विभिन्न वर्गों में विभिन्न उपयोगों के लिए संग्रथित करने से मन्त्रों एवं स्तोत्रों की अमरता में कोई अन्तर नहीं पड़ता। अतः पार्जिटर का वह तर्क जो वेद के संग्रथनकर्ता के नाम को छिपाने के विषय में कहा गया है, कोई तर्क ही नहीं है।

पार्जिटर महोदय ने संभव समाधानों या व्याख्याओं पर विचार करने की ओर सोचा ही नहीं। एक व्याख्या नीचे दी जा रही है। महाभारत एवं पुराण (एक विशद साहित्य) व्यास द्वारा प्रणीत माने गये हैं, जिन्हें, जैसा कि हमने ऊपर देख लिया है (पाद-टिप्पणी ३३), विष्णु या विष्णु का अवतार कहा गया है। चार वेद एवं प्रत्येक वेद की विभिन्न शाखाएँ लोगों को भली भाँति विदित थीं। वेद का चार भागों में विभाजन दैवी शक्ति से प्रेरित व्यास का कार्य था, जिनके संग्रथित पुराण वेद से भी पूर्व के एवं उससे भी उत्तम माने गये थे। ऐसा था व्यास का महत्त्व। वेद की अमरता एवं अनादिता की रक्षा तो करनी ही थी और साथ ही व्यास को गौरवशाली बनाना था। महाभारत के लेखक एवं पुराणों को अठारह भागों में विभाजित करने वाले व्यास को सरलतम ढंग से गौरव देना चाहिए था यह उद्घोष करके कि वे वेद के विभाजन एवं संग्रथन के उत्तरदायी भी थे। यदि ईसा के पूर्व एवं उपरान्त कुछ शताब्दियों में व्यास को यह सब गौरव दिया गया था तो वही माना हुआ वेद का व्यवस्थापक एवं संग्रथनकर्ता प्रारम्भिक वैदिक साहित्य में क्योंकर वर्णित हुआ और (जैसा कि अधिकांश विद्वान् मानते हैं) बुद्ध से कुछ शताब्दियों पूर्व (अर्थात् ई० पू० छठी शती के पूर्व) उसकी महत्ता का वर्णन बन्द कर दिया गया? ऐसा कोई नहीं कह सकता कि मण्डलों या अष्टकों या काण्डों की व्यवस्था अमर है। केवल स्तोत्र या मन्त्र ही अमर कहे गये हैं। यहाँ तक कि ऋग्वेद का पदपाठ भी अनित्य कहा गया है और शाकल्य द्वारा लिखित माना गया है, जिसकी आलोचना निरुक्त (६।२८) में हुई है। याज्ञ० (३।२४२) की टीका में विश्वरूप ने स्पष्ट रूप में कहा है कि वेद के पद एवं क्रम के संगठन में मानवीय प्रयास है। यह सिद्धान्त सभी बातों पर प्रकाश डाल देता है और पार्जिटर महोदय के उस सिद्धान्त से कई गुना अच्छा है जो यह बताता है कि जान-बूझकर व्यास के विषय में मौन का सहारा लिया गया।

अपने उद्गम एवं प्रसार के विषय में पुराण एकमत होकर नहीं बोलते। इसका उद्घोष करने के उपरान्त कि व्यास ने पुराणों के संरक्षण एवं प्रचार का कार्य सूत को दिया, वायु एवं अन्य पुराण विभिन्न बातें कहते हैं। वायु (६१।५५-६१) में आया है—'सूत के ६ शिष्य थे, यथा—सुनीति आत्रेय, अकृतव्रण काश्यप, अग्निवर्चा भारद्वाज मित्रयु वसिष्ठ सावर्णि सौमदत्ति एवं सुशर्मा शांशपायन। इनमें तीन, अर्थात् काश्यप, सावर्णि एवं

शांशपायन ने नयी पुराण-संहिताएँ निर्मित कीं और सूत के पास चौथी और मूल संहिता रही। ये सभी चार काण्डों में विभाजित की गयीं, उनमें विषय वही था, किन्तु वेद की शाखाओं के समान वे पाठों में अन्तर रखती थीं (अर्थात् उनमें पाठान्तर पाया गया)। शांशपायन की संहिता को छोड़कर सभी में चार सहस्र श्लोक थे। ये ही चार मौलिक संहिताएँ (ब्रह्माण्ड २।३५।६६) या पूर्वसंहिताएँ (वायु ६१।५८) कही जाती रही हैं। ब्रह्माण्ड (२।३५।६३-७०) में यही बात अधिकांशतः इन्हीं शब्दों में लिखित है। विष्णु (३।६।१६-१७), अग्नि (२७१।११-१२) में संक्षेप में है, किन्तु ये दोनों वायु से मिलते हैं। भागवत (१२।७।४-७) कुछ बातों में इनसे भिन्न है। इस कहानी में कुछ सार है, जैसा कि वायु के कतिपय अध्यायों के कुछ इधर-उधर बिखरे हुए श्लोकों से पता चलता है (५६।१, ६०।३३-३४, ६२।१, ८९।१६)। यही बात ब्रह्माण्ड के कतिपय श्लोकों से विदित होती है, यथा २।३४।३४, २।३६।१ आदि। इसमें शांशपायन ने प्रश्न किया है और सूत ने उत्तर दिया है।

महाभारत एवं पुराणों में सूत का व्यक्तित्व एक पहेली के समान है। सूत को रोमहर्षण या लोमहर्षण कहा गया है, क्योंकि वे अपनी भावभीनी वक्तृता से श्रोता के रोंगटे खड़े कर देते थे।[35] स्कन्द में ऐसा आया है कि स्वयं सूत महोदय के रोंगटे (रोम) खड़े हो जाते थे, जब वे द्वैपायन से शिक्षा ग्रहण करते थे। सूत का एक अर्थ है 'सारथि' और दूसरा है 'वह व्यक्ति जो प्रतिलोम से जनमा हो', यथा—ब्राह्मण नारी एवं क्षत्रिय पुरुष से उत्पन्न और इसके सजातीय शब्द मागध का अर्थ है 'वह व्यक्ति जो वैश्य पुरुष एवं क्षत्रिय नारी से उत्पन्न हुआ हो' (देखिए मनु १०।७१, याज्ञ० १।९३-९४)। कौटिल्य के अर्थशास्त्र ने भी सूत एवं मागध के बारे में यही बात कही है, किन्तु कुछ जोड़ा भी है, यथा—'पुराणों में उल्लिखित सूत एवं मागध इनसे भिन्न हैं, क्योंकि वह (सूत) सामान्य ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों से भिन्न है।'[36] कौटिल्य के कहने का अर्थ यह है कि उनके समय में सूत एवं मागध प्रतिलोम जाति के थे, किन्तु पुराणों में वर्णित प्रथम वाचकों के रूप में सूत एवं मागध एक अलग श्रेणी के हैं, अर्थात् वे प्रतिलोम जाति के नहीं हैं और दोनों ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों से भिन्न हैं (अर्थात् पुराणों के सूत अधिक या कम मुनि के रूप में या अर्ध दैवी रूप में पूजित हैं)। वायु (१।२६-३३ एवं ६२-१४७), पद्म (२।२७।६५-८७, ५।१।२९-३२), ब्रह्माण्ड (२।३६।१५८-१७३), स्कन्द (प्रभासखण्ड १।८) का कथन है कि पितामह (ब्रह्मा) के यज्ञ में सूत, उस दिन जब सोम रस निकाला जाता है, विष्णु के एक अंश के रूप में उदित हुए और इसी प्रकार मागध भी उत्पन्न हुए।[37] उन्हीं पुराणों में ऐसा आया है कि इन्द्र (क्षत्रिय जाति के प्रतीक) वाली हवि बृहस्पति (ब्राह्मण जाति एवं विद्या के प्रतीक) की हवि से मिल गयी, और सूत उसी समय उत्पन्न हो गये जब मिश्रित हवि देवों को दी गयी। इससे (पश्चात्कालीन) सूत के वे ही कर्तव्य निर्धारित रहे हैं, जो आरम्भिक या मौलिक सूत के लिए व्यवस्थित थे और यह

३५. लोमानि हर्षयांचक्रे श्रोतृणां यत्सुभाषितैः। कर्मणा प्रथितस्तेन लोकेऽस्मिँल्लोमहर्षणः॥ वायु (१।१६); तस्य ते सर्वरोमाणि वचसा हर्षितानि यत्। द्वैपायनस्यानुभावात्ततोऽभूद्रोमहर्षणः॥ स्कन्द० (प्रभासखण्ड, १।६)।

३६. वैश्यान्मागधवैदेहकौ। क्षत्रियात्सूतः। पौराणिकस्त्वन्यः सूतो मागधश्च ब्रह्मक्षत्राद्विशेषतः। अर्थशास्त्र ३।७। सूत एवं मागध के उद्गम के विषय में बहुत पहले भी आया है, यथा गौ० ध० सू० ४।१५-१६, 'प्रतिलोमास्तु सूतमागधायोगवकृत-वैदेहकचण्डालाः। ब्राह्मण्यजीजनत्पुत्रान् वर्णेभ्यः आनुपूर्व्याद् ब्राह्मण-सूत-मागध-चण्डालान्।

३७. एतस्मिन्नेव काले च यज्ञे पैतामहे शुभे। सूतो सुत्यां समुत्पन्नो सौत्येऽहनि महामतिः॥ तस्मिन्नेव महायज्ञे जज्ञे प्राज्ञोऽथ मागधः। वायु (६२।१३५-१३६), ब्रह्म (४।६०-६१)। 'सूत' शब्द 'सु' धातु से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है 'निकालना'।

कहा गया था कि सूत ब्राह्मण नारी एवं क्षत्रिय पुरुष से उत्पन्न पुत्र है। एक दूसरी कथा भी इसी पर जुड़ी हुई है (वायु ६२।१४७, ब्रह्माण्ड २।३६।१७०-१७३ तथा अन्य पुराणों में) कि मौलिक सूत एवं मागध ने वेन के पुत्र पृथु की प्रशंसा में गीत गाये थे, जिससे प्रसन्न होकर राजा पृथु ने अनूप देश सूत को तथा मगध देश मागध को दान में दिया और उसी काल से सूत एवं मागध राजा की प्रशंसा में गान गाने लगे और उसे आशीर्वादों के साथ प्रातः जगाने लगे।[38] स्वयं वायु (१।३१-३४) ने कहा है कि सूत का जन्म तब हुआ था जब कि पृथु वैन्य के यज्ञ में सोम का रस निकाला गया था।

वर्तमान वायु एवं अन्य पुराणों के लेखकों को यह ज्ञात है कि उनके समयों में सूत एवं मागध को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं था, सूतों की वृत्ति थी देवों, मुनियों एवं राजाओं के कुलों (जो इतिहास एवं पुराणों में पाये जाते हैं) पर ध्यान देना और उनके प्रति सचेत रहना, जिससे वे प्रचारित होते रहें। ये पुराण इस बात से अपने को निन्दित मानते थे कि शौनक जैसे मुनियों ने सूत से पुराणों की शिक्षा ग्रहण की थी, क्योंकि सूत उन दिनों (पुराणों के काल में) प्रतिलोम जाति के थे, जिसके विषय में गौतम, विष्णुधर्मसूत्र एवं स्वयं कौटिल्य ने व्यवस्था दी है कि प्रतिलोम लोग शूद्र हैं, आर्यों द्वारा निन्दित हैं और उपनयन, वेदाध्ययन, अध्यापन आदि जैसे ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों के कर्मों से वर्जित हैं।[39] ब्राह्मण द्वारा क्षत्रिय से शिक्षा-ग्रहण उपनिषद्-काल में भी अस्वाभाविक माना जाता था। देखिए गार्ग्य बालाकि से कहे गये राजा अजातशत्रु के शब्द।[40] अतः शौनक जैसे महामुनियों के इतिहास एवं पुराण के प्रशिक्षक के रूप में सूत की स्थिति को बताने के लिए सूत के जन्म की गाथा का निर्माण किया गया और वे एक विशिष्ट स्थिति में रखे गये। यह कौटिल्य के कई शतियों पहले ही हुआ होगा क्योंकि वे सूत एवं मागध की निम्न स्थिति से परिचित थे और पौराणिक सूत एवं प्रतिलोम सूत तथा मागध में अन्तर प्रकट करते हैं। सूत की दैवी उत्पत्ति को भले ही कोई न माने, किन्तु अति प्राचीन काल में ब्राह्मण लोग बिना किसी मनस्ताप एवं मानहानि के सूत से गाथाओं एवं आख्यानों को सुन सकते थे, किन्तु जब प्रचलित पुराण संगृहीत हुए तो स्थिति में पूर्ण परिवर्तन हो चुका था।

३८. ततः स्तवान्ते सुप्रीतः पृथुः प्रादात्प्रजेश्वरः। अनूपदेशं सूताय मगधं मागधाय च ॥ तदा वं पृथिवीपालाः स्तूयन्ते सूतमागधैः। आशीर्वादैः प्रबोध्यन्ते सूतमागधवन्दिभिः॥ वायु (६२।१४७-१४८), ब्रह्माण्ड (२।३६।१७१-१७३)। आदिपर्व (५७।११२-११३) में भी अनूप एवं मगध का दान क्रम से सूत एवं मागध के लिए वर्णित है। और देखिए ब्रह्माण्ड (४।६७)। पद्म (५।१।३१) में आया है कि पृथु ने सूत को सूत का देश दिया था। मागध को मगध से निकला हुआ समझना सामान्य व्युत्पत्ति का लक्षण है। अनूप का अर्थ है ऐसा देश जहाँ पानी हो या दलदल हो। पद्म (२।२७।८६-८७) ने सूत आदि को दिये गये अन्य देशों का भी उल्लेख किया है।

३९. सूत उवाच।...स्वधर्म एष सूतस्य सद्भिर्दृष्टः पुरातनैः। देवतानां मृषीणां च राज्ञां चामिततेजसाम् ॥ वंशानां धारणं कार्यं श्रुतानां च महात्मनाम्। इतिहासपुराणेषु दिष्टा ये ब्रह्मवादिभिः॥ न हि वेदेष्वधीकारः कश्चित् सूतस्य दृश्यते। वैन्यस्य हि पृथोर्यज्ञे वर्तमाने महात्मनः। सुत्यायामभवत्सूतः प्रथमं वर्णवैकृतः। वायु १।३१-३४, पद्म ५।१।२७; देखिए ब्रह्माण्ड २।३६। पृथुवैन्यप्रतिलोमास्तु धर्महीनाः। गौतमधर्मसूत्र (४।२०); त एते प्रतिलोमाः स्वधर्मातिक्रमाद्राज्ञः सम्भवन्ति।...शूद्रसधर्माणो वा अन्यत्र चण्डालेभ्यः। अर्थशास्त्र ३।७, पृ० १६५; प्रतिलोमास्त्वार्यविगर्हिताः। विष्णुधर्मसूत्र १६।३।

४०. सहोवाचाजातशत्रुः प्रतिलोमं चैतद्यद् ब्राह्मणः क्षत्रियमुपेयाद् ब्रह्म मे वक्ष्यतीति। बृह० उ० २।१।१५। देखिए कौषीतकिब्रा० उ० ४।१८, जहाँ सर्वथा ये ही शब्द आये हैं।

पाजिटर एवं किर्फेल के उपरान्त प्रो० आर० सी० हज्रा के कार्य के विषय में भी चर्चा कर देना आवश्यक है, क्योंकि उन्होंने पुराणों के विषय में बहुत परिश्रम के साथ सोचा-विचारा है। उनके अध्यवसाय, धैर्य एवं उत्साह को देखकर उनके प्रति श्रद्धा उमड़ती है। किन्तु दुःख की बात यह है कि उन्होंने पुष्ट प्रमाणों के न रहते हुए भी आज के पुराणों एवं उपपुराणों को बहुत प्राचीन तिथियाँ देने की मनोवृत्ति बना डाली है। वे पुराणों के अध्ययन में इतने तल्लीन हो गये हैं कि वे वहाँ भी पुराणों की गन्ध पा जाते हैं, जहाँ उनकी गति नहीं है। उदाहरणार्थ, प्रो० हज्रा (पुराणिक रेकर्ड्स आन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स, पृ० ६) ने ऐसा समझा है कि पितरों को दिये गये भोजन को खा लेने पर जो प्रायश्चित्त की व्यवस्था हारीत द्वारा निर्धारित की गयी है, वह पुराणों के कथन के अनुसार ही है, जैसा कि विज्ञानेश्वर कहते हैं। किन्तु मिताक्षरा (विज्ञानेश्वर कृत याज्ञवल्क्य-स्मृति की टीका) में स्पष्ट आया है कि 'पुराणेषु' शब्द का संकेत है 'पुराण' नामक श्राद्ध की ओर, न कि 'पुराण' ग्रन्थों की ओर।[४१] प्रो० हज्रा में एक अन्य दोष यह है कि वे सरल शब्दों में भी अधिक अर्थ देखने लगते हैं और अपने निष्कर्ष के विषय में अधिक सावधान नहीं हैं, जो कि उनके समान अनुभव एवं ख्याति वाले विद्वान् को शोभा नहीं देता। अपने एक लेख 'दि अश्वमेध, दि कामन सोर्स आव आरिजिन आव दि पुराण पंचलक्षण एण्ड दि महाभारत' (ए० बी० ओ० आर० आई०, जिल्द ३६, १९५६, पृ० १९०-२०३) में उन्होंने अथर्ववेद (११।७।२४) को उद्धृत किया है, जिसमें ऋक् एवं साम मन्त्र पृथक्-पृथक् वर्णित हैं, और 'पुराण' (पुराणं यजुषा सह) शब्द 'यजुस्' से सम्बन्धित है। प्रो० हज्रा कहते हैं कि यह स्थापना उन्हें बहुत ही महत्त्वपूर्ण जँची है और वे यह कहने में किसी प्रकार का संकोच नहीं कर सकते कि पुराण-पंचलक्षण एवं महाभारत का उद्गम अश्वमेध यज्ञ से है, विशेषतः पारिप्लव आख्यानों से। हम इस लेख की परीक्षा विस्तार के साथ यहाँ नहीं कर सकेंगे। किन्तु मौलिक विरोधों एवं बातों की चर्चा कर दी जा रही है। 'पुराणं यजुषा सह' का सीधा अर्थ है 'पुराण एवं यजुस्' ('देवदत्तः सपुत्र आगतः' जैसे वाक्यों के समान)। याज्ञ० (१।१०१) ने व्यवस्था दी है कि आह्निक स्नान के उपरान्त वैदिक गृहस्थ को प्रति दिन (तीनों) वेदों, अथर्ववेद, इतिहास के साथ पुराणों एवं आध्यात्मिकी विद्या (उपनिषदों) के अंशों का जप करना चाहिए।[४२] यहाँ 'पुराणानि

४१. मिताक्षरा ने याज्ञ० (३।२९) पर विचार करते हुए निषिद्ध भोजन करने पर किये जाने वाले प्रायश्चित्तों की विशद व्याख्या उपस्थित की है। विभिन्न प्रकार के श्राद्धों में किये जाने वाले भोजन के विषय में इसने कई एक प्रमाण उद्धृत किये हैं—हारीतेनाप्युक्तम्। एकादशाहे भुक्त्वान्नं भुक्त्वा सञ्चयने तथा। उपोष्य विधिवत्स्नात्वा कूष्माण्डैर्जुहुयाद्घृतम्॥ इति। विष्णुनाप्युक्तम्। प्राजापत्यं नवश्राद्धे...पञ्चगव्यं द्विमासिके॥ इदं चापद्विषयम्। अनापदि तु चान्द्रायणं नवश्राद्धे प्राजापत्यं तु मिश्रके। एकाहस्तु पुराणेषु प्राजापत्यं विधीयते॥ इति हारीतोक्तं द्रष्टव्यम्। प्राजापत्यं तु मिश्रके इत्येतदाद्यमासिकविषयं द्रष्टव्यम्। श्राद्ध तीन प्रकार के होते हैं, नवश्राद्ध (मृत्यु के उपरान्त १० दिनों तक), मिश्र या नवमिश्र (दस दिनों के उपरान्त लगातार एक वर्ष तक करते जाना) एवं पुराण (जो मृत्यु के एक वर्ष उपरान्त किया जाता है)। 'पुराणेषु' शब्द का अर्थ है पुराणेषु श्राद्धेषु। हारीत ने नव, मिश्र एवं पुराण नामक तीनों श्राद्धों में भोजन कर लेने पर प्रायश्चित्त की व्यवस्था दी है। यहाँ श्लोक में जो 'पुराणेषु' शब्द आया है उसका पुराण नामक ग्रन्थों से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस महाग्रन्थ के खण्ड ४ में इन श्राद्धों के विषय में विस्तार के साथ बातें दी हुई हैं।

४२. वेदाथर्वपुराणानि सेतिहासानि शक्तितः। जपयज्ञप्रसिद्ध्यर्थं विद्यां चाध्यात्मिकीं जपेत्॥ याज्ञ० १।१०१। मिलाइए कूर्म (२।४६।१२९) : एकतस्तु पुराणानि सेतिहासानि कृत्स्नशः। एकत्र परमं वेदमेतद्वेदातिरिच्यते॥

सेतिहासानि' को हम 'पुराणों एवं इतिहास' के अर्थ में ही ग्रहण करते हैं। यह नहीं समझ में आता कि 'पुराणं यजुषा सह' नामक शब्द इस विश्वास के लिए क्योंकर महत्त्वपूर्ण हैं कि अश्वमेध में ही पुराण एवं महाभारत का मूल है। उस लेख के २०२ वें पृष्ठ पर प्रो० हज़्रा शंकराचार्य के भाष्य (छान्दोग्य ३।४।१-२ पर) से एक उद्धरण देते हुए एक गहरी भूल करते हैं। उनका कहना है, 'शंकर द्वारा रात्रि का बहुवचन (रात्रिषु) में प्रयोग करना इस बात का द्योतक है कि उनके मत से इतिहास एवं पुराण पारिप्लव में प्रत्येक रात्रि में प्रयुक्त होते थे, केवल ८ वीं एवं ९वीं रात्रियों में ही नहीं, जैसा कि शतपथब्रा० एवं शांखायनश्रौतसूत्र में आया है'[43] अश्वमेध यज्ञ एक वर्ष तक चला और पारिप्लव का श्रवण वर्ष भर चला, प्रत्येक पारिप्लव १० दिनों का होता है ('दिन' के स्थान पर 'रात्रि' भी हो सकता है क्योंकि होता का जप प्रातः, मध्याह्न एवं सायं इष्टियों के हो जाने के उपरान्त होता था)। दस दिनों की प्रत्येक अवधि के उपरान्त कितने मन्त्र पढ़े जायेंगे, किस प्रकार के आख्यान सुनाये जायेंगे, यह सब निश्चित रहता है, तथा इतिहास एवं पुराण केवल अष्टमी एवं नवमी को ही सुनाये जायेंगे। प्रत्येक अवधि दस दिनों की होती थी, अतः वर्ष में ३६ अवधियाँ होती रही होंगी। इसी से शंकराचार्य ने 'पारिप्लवासु रात्रिषु' (बहुवचन में) कहा है, और यह नहीं कहते कि इतिहास एवं पुराण सभी रात्रियों (सर्वासु रात्रिषु) में कहे जाने चाहिए, जैसा कि प्रो० हज़्रा उन्हें ऐसा कहते हुए समझते हैं। वेदान्तसूत्र का प्रमाण प्रो० हज़्रा के सर्वथा विरोध में जाता है (३।४।२३)।

प्रो० हज़्रा ने सन् १९५८ ई० में 'स्टडीज़ इन दि उपपुराणज़' (जिल्द १, पृ० १-४००, सौर एवं वैष्णव उपपुराण, कलकत्ता संस्कृत कालेज सीरीज १९५८) का प्रकाशन किया है, जिसके विषय में हम संक्षेप में कुछ आगे कहेंगे।

प्रो० रामचन्द्र दीक्षितार ने भी पुराणों पर बहुत-कुछ लिखा है। इनके प्रकाशनों में भी प्रो० हज़्रा में पायी जाने वाली दुर्बलताएँ हैं। उदाहरणार्थ, अपने एक लेख (१३ वीं इण्डियन हिस्ट्री कॉंग्रेस की प्रोसीडिंग में प्रकाशित, पृ० ४६-५०) में इन्होंने दर्शाया है कि विष्णुपुराण ई० पू० ६ ठी या ७ वीं शती में प्रणीत हुआ, क्योंकि उसमें (जो प्रति आज मिलती है, उसमें) व्रतों, उपवासों एवं तीर्थों पर विवेचन नहीं है। मानी हुई बात है कि आज का कोई विद्वान् इस तिथि को स्वीकार नहीं कर सकता। प्रो० दीक्षितार को चाहिए था कि वे कुछ विषयों के अभाव पर अपने तर्क को आधारित न करके उस पुराण के भीतर की बातों पर विचार करते हुए सम्भावित तिथि की चर्चा करते।

पुराणों के विषय में चर्चा करते हुए हमें बंगाल के राजा बल्लालसेन कृत 'दानसागर' में लिखित आरम्भिक बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। इस ग्रन्थ का सम्पादन श्री भवतोष भट्टाचार्य (बी० आई० सीरीज़, १९५३-५६) ने किया है। राजा बल्लालसेन द्वारा लक्षित बातें उनकी विश्लेषणात्मक शक्ति की द्योतक हैं, जो अन्य मध्यकालीन संस्कृत-लेखकों में नहीं पायी जातीं। उन्होंने गोपथब्राह्मण, रामायण, महाभारत, स्मृतियों एवं गौतम, मनु, याज्ञवल्क्य के धर्मशास्त्रों, (शंख एवं लिखित को दो मानते हुए) दान-बृहस्पति एवं बृहस्पति (दोनों पृथक्-पृथक्), वसिष्ठ आदि धर्मशास्त्रों (कुल २८) के अतिरिक्त छान्दोग्यपरिशिष्ट (कात्यायन कृत), १३ प्रमुख पुराणों (ब्रह्म, वराह, आग्नेय, भविष्य, मत्स्य, वामन, वायवीय, मार्कण्डेय, वैष्णव, शैव, स्कान्द, पद्म एवं कूर्म) तथा कूर्म एवं आदि पुराणों में उल्लिखित उपपुराणों (यथा आद्य, साम्ब, कालिका, नान्द, आदित्य, नारसिंह, विष्णुधर्मोत्तर जो मार्कण्डेय द्वारा वर्णित है) का उल्लेख किया है, जिनमें दानों की विधि का वर्णन है। उन्होंने विष्णुधर्म

४३. भाष्य का वचन यह है : 'इतिहासपुराणं पुष्पम्। तयोश्चेतिहासपुराणयोरश्वमेधे पारिप्लवासु रात्रिषु कर्मांगत्वेन विनियोगः सिद्धः।'

(कुल आठ) नामक शास्त्र का भी उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है कि अपने ग्रन्थ में हमने १३७५ दानों पर इन सभी ग्रन्थों का सहारा लिया है। उन्होंने कुछ ऐसे पुराणों एवं उपपुराणों का उल्लेख किया है जिन्हें उन्होंने कुछ कारणों से दान-सम्बन्धी अपने ग्रन्थ में छोड़ दिया है।

दानसागर के कुछ वक्तव्य बड़े महत्त्वपूर्ण हैं।[44] बल्लालसेन का कहना है कि हमने भागवत, ब्रह्माण्ड एवं नारदीय की बातें नहीं दी हैं, क्योंकि इनमें दानों का वर्णन नहीं है। अपने ग्रन्थ में उन्होंने लिंगपुराण का सहारा नहीं लिया, क्योंकि यह बड़ा होते हुए भी मत्स्यपुराण में घोषित महादानों में कोई अन्य बात नहीं जोड़ता। उन्होंने भविष्यपुराण को केवल सप्तमी की व्रतविधियों तक अपने काम का माना है, क्योंकि अष्टमी एवं नवमी की व्रत-विधियाँ तान्त्रिकों, बौद्ध आदि पाषण्डियों की मान्यताओं एवं दृष्टिकोणों से रंगायित हैं।[45] बल्लालसेन ने अपने

४४. बृहदपि लिंगपुराणं मत्स्यपुरोदितैर्महादानैः। अवधार्य तुल्यसारं दाननिबन्धेत्र न निबद्धम्॥ (५८)। सप्तम्येव पुराणं भविष्यमपि संगृहीतमतियत्नात्। त्यक्त्वाष्टमीनवम्यौ कल्पौ पाषण्डिभिर्ग्रस्तौ॥ लोकप्रसिद्धमेतद्विष्णुरहस्यं च शिवरहस्यं च। द्वयमिह न परिगृहीतं संग्रहरूपत्वमवधार्य॥ भविष्योत्तरमाचारप्रसिद्धमविरोधि च। प्रामाण्यज्ञापकाद् दृष्टेर्ग्रन्थादस्मात् पृथक् कृतम्॥ प्रचरद्रूपतः स्कन्दपुराणैकांशतोधिकम्। यत्खण्डत्रितयं पौण्ड्रेवावन्तिकथाश्रयम्॥ तार्क्ष्यं पुराणमपरं ब्राह्ममाग्नेयमेव च। त्रयोविंशतिसाहस्रं पुराणमपि वैष्णवम्। षट्सहस्रमितं लैंगं पुराणमपरं तथा। दीक्षाप्रतिष्ठापाषण्डयुक्तिरत्नपरीक्षणैः॥ मृषावंशानुचरितैः कोषव्याकरणादिभिः। असंगतकथाबन्धपरस्परविरोधतः॥ तन्मीनकेतनादीनां भण्डपाषण्डलिंगिनाम्। लोकवञ्चनमालोक्य सर्वमेवावधीरितम्॥ एतत्पुराणोपपुराणसंख्याबहिष्कृतं कश्मलकर्मयोगात्। पाषण्डशास्त्रानुगतं निरूप्य देवीपुराणं न निबद्धमत्र॥ (६७)। विष्णुपुराण की टीका विष्णुचित्ती का कथन है कि विष्णुपुराण के छः पाठान्तर हैं, यथा ६००० श्लोकों वाला, ८००० वाला, ९०००, १०,०००, २२,००० एवं २४,००० श्लोकों वाला; किन्तु दानसागर ने २३,००० श्लोकों वाले विष्णुपुराण की चर्चा की है, जिसे उसने छोड़ दिया है। मेधातिथि (मनु ४।२००) का कथन है कि प्रत्येक आश्रम की अपनी विशिष्टताएँ हैं, यथा बटुक को मेखला, मृगचर्म, पलाश-दण्ड धारण करना होता है, गृहस्थ को बाँस की छड़ी, कर्णभूषण आदि, वानप्रस्थ को जीर्णशीर्ण वस्त्र एवं जटाजूट तथा संन्यासी को काषाय वस्त्र आदि धारण करना होता है। जो लोग इन आश्रमों में न रहते हुए भी इन लक्षणों से युक्त होकर जीविकोपार्जन करते हैं, वे पापकर्म करते हैं। परा० मा० (१।२, पृ० ३८६ ने 'लिंगिन्' का अर्थ 'पाशुपतादयः' लगाया है।

४५. कल्पतरु (व्रत, पृ० २७४-३०८) एवं हेमाद्रि (व्रत, जिल्द १, पृ० ९२१-९५६) में दुर्गा की प्रशंसा में भविष्यपुराण से नवमी तिथि के लिए कतिपय श्लोक उद्धृत हुए हैं। दुर्गा के कई नाम हैं, यथा चण्डिका, नन्दा आदि, जिनमें शाक्त गन्ध आती है। उदाहरणार्थ, उभयनवमी-व्रत (कल्पतरु, व्रत, पृ० २७४-२८२) के बारे में ऐसी व्यवस्था दी हुई है कि त्र्यम्बिका नामक अष्टभुजा दुर्गा को लाल पुष्पों से सम्मानित करना चाहिए और भैंसे के मांस का नैवेद्य देना चाहिए। इसी प्रकार नामनवमी व्रत (वही, पृ० २८३-२८८) में नैवेद्य मछली एवं मांस का है तथा महानवमी व्रत (पृ० २९६-२९८) में मंगला के लिए पायस एवं मांस का नैवेद्य व्यवस्थित है। नन्दानवमी में दुर्गा को नन्दा कहा गया है और मन्त्र है 'ओं नन्दायै नमः' (पृ० ३०४) तथा महानवमी व्रत (आश्विन-शुक्ल ९) में मद्य एवं मांस के साथ भैंसों, भेड़ों एवं बकरों के मुण्डों सहित पूजा की व्यवस्था है। इन सभी नवमी-व्रतों में कुमारियों को भोजन कराने की व्यवस्था है, जो शाक्त पूजा की विशेषता है। ११ वीं शती के बहुत पहले से उत्तरी भारत के लोगों को तान्त्रिक सम्प्रदाय ने प्रभावित कर रखा था, जैसा कि सूर्यमन्त्र 'खखोल्काय नमः' से प्रकट है;

समय के प्रिय ग्रन्थ विष्णुरहस्य एवं शिवरहस्य को अपने ग्रन्थ में कोई स्थान नहीं दिया है, क्योंकि वे केवल संग्रह मात्र हैं। भविष्योत्तर (पुराण) को भी जो लोगों द्वारा व्यवहृत था और कट्टर सिद्धान्तों के विरोध में नहीं था, दानसागर में स्थान नहीं मिला है, क्योंकि इसकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं थी। निम्नलिखित ग्रन्थों का भी दानसागर में कतिपय कारणों से उपयोग नहीं हुआ है, तीन खण्ड, अर्थात् स्कन्दपुराण के पौण्ड्र, रेवा एवं अवन्ति की कथाएँ, तार्क्ष्य (गरुड़) पुराण, अपर ब्रह्म एवं आग्नेय पुराण, २३००० श्लोकों वाला विष्णुपुराण, दूसरा (अपर) लिंगपुराण (जिसमें ६००० श्लोक हैं; ये सभी छोड़ दिये गये हैं। इनके बहिष्कार के कारण नीचे पाद-टिप्पणी में बतला दिये गये हैं।

दानसागर में बल्लालसेन ने जो बातें कही हैं उनसे कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। मिताक्षरा, कृत्यकल्पतरु एवं अपरार्क की टीका के उपरान्त दानसागर ही उन निबन्धों में आता है जिनकी तिथियाँ अपेक्षाकृत निश्चित-सी हैं। दानसागर में मिताक्षर, कृत्यकल्पतरु एवं अपरार्क का उल्लेख नहीं है।

पुराण-सम्बन्धी उल्लेखों में प्रमुख ये हैं—दानसागर ने वायु एवं शिव को प्रमुख पुराणों (महापुराणों) में गिना है; लिंग, ब्राह्म, आग्नेय एवं विष्णु नाम के दो-दो पुराण हैं; ये चारों नाम वाले अन्य पुराण प्रामाणिक नहीं हैं; तान्त्रिक सम्प्रदाय की विधियाँ घृणास्पद हैं, अतः देवीपुराण एवं भविष्य के कुछ भाग बहिष्कृत हैं; स्कन्द के तीन खण्ड उपयोगी नहीं हैं; गरुड़ पुराण प्रामाणिक नहीं है। यहाँ यह कहना समीचीन होगा कि कूर्म (१।१।१७-२०) के मत से स्कन्द, वामन, ब्रह्माण्ड एवं नारदीय जैसे कुछ उपपुराण महापुराण के ही नाम धारण करते हैं। कल्पतरु (ब्रह्मचारिखण्ड, पृ० २५) द्वारा उद्धृत भविष्यपुराण से लिये गये एक वक्तव्य पर प्रो० हज्रा ने विश्वास किया है, जहाँ ऐसा आया है कि 'जय' नामक उपाधि निम्नोक्त ग्रन्थों के लिए लगायी गयी है, यथा—१८ पुराण, रामायण, विष्णुधर्मादिशास्त्र, शिवधर्म, महाभारत, सौरधर्म एवं मानवधर्म (मनुस्मृति ?)। विष्णुधर्मपुराण की चर्चा हम आगे करेंगे। किन्तु इस कथन की प्रामाणिकता एवं प्राचीनता के विषय में गहरा सन्देह है। यह कल्पतरु में उद्धृत है, अतः यह १०५० ई० से पूर्व का है। १८ पुराणों की महत्ता गाने के लिए 'जय' का अर्थ विस्तारित किया गया है। उद्योगपर्व (१३६।१८-१९) एवं स्वर्गारोहणिक (५।४९ एवं ५१) में 'जय' का प्रयोग केवल महाभारत के लिए हुआ है। अतः जब सभी पुराण प्रणीत हो चुके थे तब, अर्थात् नवीं शती के उपरान्त ही उपर्युक्त वक्तव्य सम्मिलित किया गया होगा। 'विष्णुधर्मादिशास्त्राणि' बहुवचन में है, इससे स्पष्ट है कि कई ऐसे ग्रन्थ थे जो विष्णुधर्म से सम्बन्धित थे। स्वयं कल्पतरु से प्रकट है कि 'जय' वाला श्लोक कुछ लोगों द्वारा 'स्मृति' के समान उल्लिखित है। अतः इसे भविष्य का श्लोक मानना संदेहास्पद है। बल्लालसेन ने दानों पर केवल आठ उपपुराणों का उल्लेख किया है (जिनमें मत्स्य द्वारा उल्लिखित चार भी सम्मिलित हैं)।

प्रो० हज्रा ने उपपुराणों के विषय में जो कार्य किया है वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, किन्तु उन्होंने साम्ब, विष्णुधर्म, विष्णुधर्मोत्तर, नरसिंहपुराण आदि प्रमुख उपपुराणों की जो तिथियाँ निर्धारित की हैं, वे प्रस्तुत लेखक को मान्य नहीं हो सकतीं। उनकी तिथियाँ यों हैं—साम्ब, ५०० एवं ८०० ई० के मध्य; विष्णुधर्मपुराण, २००-३००

देखिए भविष्य (१।२१५।१-६), जहाँ मूल मन्त्र एवं उसके अनुबंध, जिनमें कुछ ये हैं : 'ओं विटिविटि शिरः, ओं ज्वालिने इति शिखा, ओं सहस्ररश्मये फट् कवचम्, ओं सर्वतेजोधिपतये फट् अस्त्रम्। ओं सहस्रकिरणोज्ज्वलाय फट् ऊर्ध्वबन्धः।' (कल्पतरु, व्रत, पृ० १९९)। यह द्रष्टव्य है कि अग्निपुराण (२७२।३) ने ऐसे विष्णुपुराण की चर्चा की है जिसमें २३,००० श्लोक थे।

ई०; विष्णुधर्मोत्तरपुराण, ४००-५०० ई०; नरसिंहपुराण, ४००-५०० ई०। प्रो० हज़्रा ने इन तिथियों के निर्धारण में जो तर्क दिये हैं, वे सभी निरर्थक एवं लचर हैं। हम इस विवेचन को यहीं छोड़ते हैं।

पुराणों के विषय में बहुत-से ग्रन्थ, अनुवाद एवं लेख प्रकाशित हुए हैं। हम यहाँ कुछ का उल्लेख कर रहे हैं। इयोजीन बर्नाफ ने भागवत पुराण को फ्रांसीसी भाषा में सन् १८४० ई० से लेकर कई वर्षों में ५ भागों में अनूदित किया। विष्णु एवं मार्कण्डेय का अनुवाद क्रम से एच्० एच्० विल्सन एवं पार्जिटर ने किया। प्रो० किर्फेल ने 'पुराण पञ्चलक्षण' (१९२७, बॉन) की भूमिका लिखी (अनुवाद, जर्नल, श्री वेंकटेश इंस्टीच्यूट, जिल्द ७, पृ० ८१-१२१ एवं जिल्द ८, पृ० ९-३३); किर्फेल (फेस्ट-क्रिफ्ट जैकोबी, पृ० २९८-३१६) का लेख; के० पी० जायसवाल का 'क्रॉनालॉजिकल टेबुल्स इन पुराणिक क्रॉनिकल्स' (जे० बी० ओ० आर० एस०, जिल्द ३, पृ० २४६-२६२); 'पुराणज्ञ एण्ड इण्डस आर्यंस' एवं 'स्टडीज आव ऐंश्येण्ट जिआग्रफी इन अग्निपुराण' (इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, १९३३, जिल्द १८, पृ० ४६१ एवं ४७०) प्रो० रामचन्द्र दीक्षितार का वायु एवं मत्स्य का अध्ययन तथा पुराणों की अनुक्रमणिका, तीन जिल्दों में; रुबेन का 'पुराणिक लाइन आव हीरोज़' (जे० आर० ए० एस्, १९४१, पृ० २४७-२५६ एवं पृ० ३३७-३५०); जे० ए० एस्० बी० (१९३८, जिल्द ४, लेख १५, पृ० ३९३); 'पुराणज्ञ आन गुप्तज़' (इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, जिल्द २१, पृ० १४१); डा० डी० आर० पाटिल (बी० डी० सी० आर० आई०, जिल्द २, पृ० १४८-१६५); एच्० सी० रायचौधुरी (प्रोसीडिंग, दसवीं ओरिएण्टल कान्फ्रेंस, पृ० ३९०); डा० बी० सी० मजूमदार का 'ऑरिजिन एण्ड कैरेक्टर आव पुराण लिटरेचर' (आशुतोष मुकर्जी रजत जयन्ती जिल्द ३, ओरिएण्टैलिया, भाग २, पृ० ९-३०); इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली (जिल्द २२, पृ० २२१-२२३) के पृष्ठ ३० का श्लोक[४६]; पेनुकोण्डा दान-पत्र (एपि० इण्डिका, जिल्द १४, पृ० ३३८) जहाँ गंगराज माधव द्वितीय को शास्त्रों, इतिहास एवं पुराणों का सार-संक्षेप-ज्ञाता कहा गया है; पुराणों के अध्ययन की चर्चा सन् ५७८ ई० (एपि० इण्डिका, जिल्द २८, पृ० ५९) में हुई है।

अब आगे प्रस्तुत लेखक ने प्रकाशित पुराणों एवं निबन्धों के आधार पर सभी पुराणों एवं उपपुराणों पर अपनी टिप्पणियाँ दी हैं। इसका विश्वास है कि सबसे प्राचीन निबन्ध जो अब तक प्रकाश में आ चुके हैं वे लगभग ११०० ई० के पूर्व के नहीं हो सकते। यद्यपि विद्वानों में मतभेद है, तब भी मिताक्षरा, कृत्यकल्पतरु (जो धर्मशास्त्र के कतिपय विषयों पर एक सामान्य निबन्ध है) एवं अपरार्क का ग्रन्थ (जो याज्ञवल्क्यस्मृति की टीका के रूप में है, किन्तु है निबन्ध ही) ऐसे प्रकाशित निबन्ध हैं जो कम या अधिक रूप में समकालीन ही कहे जा सकते हैं और उनके प्रणयन का काल ११०० से ११४० ई० के बीच माना जा सकता है। कृत्यकल्पतरु ने **व्यवहार** की चर्चा करते हुए प्रकाश, हलायुध, कामधेनु एवं पारिजात का उल्लेख किया है। इतना ही नहीं, कृत्यकल्पतरु (नियत०, पृ० २८०) ने स्मृतिमञ्जरी (गोविन्दराज लिखित) द्वारा परारीक (आ० ध० सू० १।१७।२६ में) की व्याख्या उपस्थित की है और श्राद्ध पर (पृ० ४६ एवं २५९) भी ऐसा करते हुए संकेत किया है। इस महाग्रन्थ के प्रथम खण्ड में हमने देख लिया है कि प्रकाश, पारिजात, स्मृतिमञ्जरी प्रसिद्ध निबन्ध हैं, इसी प्रकार गोपाल कृत कामधेनु भी निबन्ध ही है। गोपाल लक्ष्मीधर के मित्र थे, किन्तु अपने ग्रन्थ में लक्ष्मीधर ने गोपाल को भूत काल ('चक्रे') एवं अपने

४६. श्लोक यह है : 'रामायणपुराणाभ्यामशेषं भारतं दवत्। अकृतान्वहमच्छेद्यां स च तद्वाचनस्थितिम्॥' देखिए इ० हिस्टा० क्वा०, जिल्द २२, पृ० २२१-२२३। इसमें आया है कि राजा ने भारत, रामायण एवं पुराणों के दैनिक वाचन की व्यवस्था की थी। यह श्लोक ईसा के उपरान्त छठी शती का है।

ग्रन्थ को वर्तमान में ('तन्यते') उल्लिखित किया है, जिससे प्रकट होता है कि कामधेनु का प्रणयन कल्पतरु के कुछ वर्ष पहले हो चुका था। प्रकाश, पारिजात एवं कामधेनु की प्रतिलिपियाँ नहीं प्राप्त हैं, अतः उनके विस्तार आदि के विषय में कुछ कहना असम्भव है, किन्तु स्मृतिमञ्जरी के प्रायश्चित्त नामक विभाग की पाण्डुलिपि के अन्त के सार-संक्षेप से प्रकट होता है कि वह पर्याप्त लम्बी रही होगी और पश्चात्कालीन कृत्यकल्पतरु की विधियों के अनुसार ही प्रणीत हुई होगी। क्योंकि इसका आरम्भ परिभाषाखण्ड एवं ब्रह्मचारि-विभाग से हुआ था और तब गृहस्थ-धर्मों, दान, शुद्धि एवं आशौच, श्राद्ध का वर्णन किया गया और फिर वानप्रस्थ एवं प्रवज्या (कल्पतरु के मोक्ष-काण्ड के समान) तथा अन्त में प्रायश्चित्तों पर लिखा गया। कल्पतरु से पूर्व रचित ये ग्रन्थ विस्तार एवं आकार में लक्ष्मीधर की कृति से छोटे थे, किन्तु हेमाद्रि, चण्डेश्वर, मदनरत्न, वीरमित्रोदय एवं नीलकण्ठ के मयूखों की प्रसिद्धि के समक्ष लक्ष्मीधर की कृति भी मन्द पड़ गयी। कामधेनु एवं सम्भवतः स्मृतिमञ्जरी के पूर्व ही भोज (११ वीं शती के दूसरे चरण में) ने भुजबल एवं राजमार्तण्ड जैसे कई ग्रन्थों का प्रणयन किया (या कराया); जिनमें पुंसवन से विवाह तक के संस्कारों की तथा व्रतों, यात्रा, शान्तियों, प्रतिष्ठा से सम्बन्धित ज्योतिषीय आवश्यकताओं पर प्रकाश डाला गया है (देखिए प्रस्तुत लेखक का लेख, जे० ओ० आर०, मद्रास, जिल्द २३, १९५३-५४, पृ० ९४-१२७, जहाँ भोज के पाँच ग्रन्थों पर विवेचन उपस्थित किया गया है)। तो ऐसी स्थिति में कृत्यकल्पतरु में कोई नवीनता नहीं थी, हाँ, वह विस्तार में बड़ा था, विषयों के तार्किक विवेचन और महाकाव्यों तथा पुराणों से उद्धरण लेने में प्रमुखता रखता था। मिताक्षरा में पुराणों के उद्धरण कम हैं, किन्तु अपरार्क एवं कल्पतरु बहुत उद्धरण देते हैं। कल्पतरु ने लगभग ६०० श्लोक देवीपुराण से और २०० से अधिक श्लोक कालिका, आदित्यपुराण, नन्दिपुराण एवं नरसिंहपुराण नामक उपपुराणों में प्रत्येक से उद्धृत किये हैं। किन्तु उसने विष्णुधर्मोत्तर से एक भी श्लोक नहीं लिया है। कल्पतरु ने इसे सम्भवतः प्रामाणिक नहीं माना है, यद्यपि अपरार्क एवं दानसागर ने इसका कुछ उपयोग अवश्य किया है। विशद कल्पतरु के विद्वान् सम्पादक प्रो० आयंगर ने कठिन परिश्रम पूर्वक इसके कतिपय श्लोकों को पुराणों के उद्धरणों के रूप में सिद्ध करके विद्वानों का कार्य सरल कर दिया है, किन्तु प्रो० आयंगर की सभी बातें स्वीकार्य नहीं हो सकतीं। उन्होंने यह प्रदर्शित किया है कि हेमाद्रि, चण्डेश्वर एवं मित्र मिश्र ने किस प्रकार कल्पतरु को यथास्थान ज्यों-का-त्यों उतार लिया है। यह असम्भव नहीं है कि स्वयं कल्पतरु ने अपने पूर्ववर्ती पारिजात, प्रकाश, स्मृतिमञ्जरी एवं कामधेनु से बहुत-कुछ उधार लिया हो। किन्तु वे ग्रन्थ आज प्राप्त नहीं हैं, अतः इस विषय में सप्रमाण कुछ कहना सम्भव नहीं है।

प्रस्तुत लेखक ने राजमार्तण्ड (जिसमें १४६२ श्लोक हैं) के तिथियों, व्रतों एवं उत्सवों से सम्बन्धित २८६ श्लोकों का सम्पादन किया है (ए० बी० ओ० आर० आई०, जिल्द ३६, भाग ३-४, १९५६, पृ० ३०६-३९९)। इसमें इन्द्रध्वजोत्थापन जैसे कतिपय व्रतों एवं उत्सवों का उल्लेख है और ग्रन्थ कल्पतरु से ७५ वर्ष पुराना है। कल्पतरु ने भोज के विषय में मौन साध लिया है, किन्तु कामधेनु, गोविन्दराज, प्रकाश एवं हलायुध का उल्लेख किया है, कहीं भी राजमार्तण्ड में वर्णित व्रतों का उल्लेख नहीं है। लगता है, लक्ष्मीधर ने यह नहीं चाहा कि उनके व्रत-सम्बन्धी वर्णन एवं भोज के वर्णन में किसी प्रकार की तुलना की जाय।

पुराणों की तिथियों के विषय में सचौ द्वारा अनुवादित अल्बरूनी का ग्रन्थ कुछ प्रकाश देता है। पृ० १३० में आया है कि उसने (अल्बरूनी ने) निम्नोक्त पुराणों के विषय में सुना है—आदि, मत्स्य, कूर्म, वराह, नारसिंह, वामन, वायु, नन्द, स्कन्द, आदित्य, सोम, साम्ब, ब्रह्माण्ड, मार्कण्डेय, तार्क्ष्य (अर्थात् गरुड़), विष्णु, ब्रह्म एवं भविष्य। इस सूची से स्पष्ट है कि इसमें पुराण एवं उपपुराण दोनों सम्मिलित हैं। अल्बरूनी ने यह भी कहा है कि उसने मत्स्य, आदित्य एवं वायु के कुछ अंश मात्र देखे हैं। पृ० १३१ (सचौ के अनुवाद का पृष्ठ) पर एक

अन्य सूची है जो उसे विष्णु से पढ़कर सुनायी गयी थी (अर्थात् १८ प्रमुख पुराण, जिनमें वायु के स्थान पर शैव रख दिया गया है)। पुनः पृ० २२९ पर उसने आदित्य से पृथिवी के नीचे के कुछ भागों का वर्णन किया है और प्रदर्शित किया है कि किस प्रकार इससे वायुपुराण भिन्न है तथा पृ० २४८ पर उसने विष्णु, वायु एवं आदित्य से मेरु के विषय में वर्णन दिया है। अल्बरूनी ने सन् १०३० ई० में अपना ग्रन्थ लिखा, अतः यह प्रतीत होता है कि उसके द्वारा उल्लिखित पुराण कम-से-कम १००० ई० के पूर्व अवश्य उपस्थित हो गये होंगे।

प्रो० हज्रा आदि के कुछ लेख आदि, जो पुराणों एवं उपपुराणों पर प्रकाश डालते हैं, डा० पुसल्कर द्वारा एक स्थान पर संगृहीत कर दिये गये हैं, यथा 'स्टडीज़ इन एपिक्स एण्ड पुराणज़' (पृ० २१८-२२५), उनमें कुछ का उल्लेख हम करेंगे। प्रो० हज्रा ने लगभग १६ लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराये, जो उनके ग्रन्थ 'स्टडीज़ इन पुराणिक रेकर्ड्स आव हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स' में संगृहीत हैं।

अध्याय २३

पुराणों एवं उपपुराणों पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ

[संकेत : अकारादि क्रम के अनुसार यहाँ पुराणों का विन्यास किया जा रहा है। प्रो० हज्रा को ह० एवं उपपुराण को उप० लिखा जायगा। प्रो० हज्रा के ग्रन्थ को हम 'स्टडीज' कहेंगे, साथ ही उसे पी० आर० एच० आर० भी कहेंगे]

अग्निपुराण—'वर्तमान अग्निपुराण' (ह०), इण्डियन हिस्ट्रारिकल क्वार्टरली, जिल्द १२, पृष्ठ ६८३-६९१; 'शुद्ध आग्नेय, उपनाम वह्निपुराण' का अध्ययन (ह० द्वारा 'आवर हेरिटेज' में, जिल्द १, पृ० २०९-२४५ एवं जिल्द २, भाग १, पृ० ७६-१०९); 'शुद्ध आग्नेय पुराण की खोज' ह० द्वारा '(जे० ओ० आई०, बड़ोदा, जिल्द ५, १९५६, पृ० ४११-४१६, इसमें यह व्यक्त किया गया है कि आनन्दाश्रम प्रेस द्वारा प्रकाशित आज का अग्निपुराण मौलिक नहीं है, वास्तविक आग्नेय या वह्नि अभी तक अप्रकाशित है); दानसागर (पृ० ७, श्लोक १३) में आग्नेय का उल्लेख है। जैसा कि अधिकांश पुराणों में पाया जाता है, आग्नेय पुराण ने यह कहकर अपनी महत्ता गायी है कि (२७२।१३ एवं १७) इस महापुराण में हरि विभिन्न ज्ञानों के रूप में निवास करते हैं और आग्नेय एक ऐसा महापुराण है जिसमें वेद एवं सभी विद्याएँ पायी जाती हैं।

आदिपुराण (उप०)—भारतीय विद्या, जर्नल, बम्बई (जिल्द ६, १९४५, पृ० ६०-७३)। इसके विषय में प्रो० हज्रा की मान्यता है कि इसके प्रारम्भिक एवं पश्चात्कालीन दो पाठ हैं। वायु० (१०४।७) ने ब्राह्म० के सहित १८ पुराणों में एक **आदिक** का उल्लेख किया है। अल्बरूनी (जिसने पुराणों एवं उपपुराणों को एक में मिला दिया है) ने एक आदिपुराण का नाम लिया है। वेंक० प्रेस ने २९ अध्यायों में एक आदि पुराण मुद्रित किया है। प्रो० हज्रा का कथन है कि एक प्राचीन आदिपुराण भी था, जो आज उपलब्ध नहीं है। उनके अनुसार इसकी तिथि १२०४ एवं १५२५ ई० के बीच में कहीं है (स्टडीज, पृ० २८८)। आदि एवं आद्य दोनों का अर्थ एक ही है। किन्तु कुल्लूक (मनु २।५४) ने आदि से कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं जो गृहस्थरत्नाकर (पृ० ३१४) द्वारा ब्राह्म के बताये गये हैं। निबन्धों ने **आदि** एवं **आदित्यपुराण** में सम्भ्रमता उत्पन्न कर दी है। देखिए ह० (स्टडीज, भाग १, पृ० ३०२-३०३)। प्रकाशित प्रति पश्चात्कालीन है, क्योंकि लक्ष्मीधर एवं अपरार्क द्वारा उद्धृत श्लोक इसमें नहीं पाये जाते (देखिए स्टडीज, जिल्द १, पृ० २८६-२८९)।

आदित्यपुराण—मत्स्य (५३।६२) द्वारा उप पु० वर्णित, अल्बरूनी (सचौ १, पृ० १३०, २२९, २२८) द्वारा उल्लिखित; कृत्यकल्पतरु द्वारा राजधर्म (लगभग २ श्लोक), दान (लगभग १२५ श्लोक), श्राद्ध (लगभग २० श्लोक) एवं व्रत (लगभग २२ श्लोक) पर उद्धृत। स्मृतिचन्द्रिका ने आह्निक एवं श्राद्ध पर **आदि** एवं **आदित्य** के श्लोक उद्धृत किये हैं एवं दोनों को पृथक्-पृथक् 'शौच' पर उद्धृत किया है (भाग १, पृ० ९४)। यही बात अपरार्क एवं दानसागर में भी पायी जाती है; दोनों ने **आदि** एवं **आदित्य** के उद्धरण लिये हैं।

एकाम्र—(उड़ीसा का एक ग्रन्थ)। ह० (पूना ओरियण्टलिस्ट, जिल्द १६, पृ० ७०-७६ एवं स्टडीज, भाग १, पृ० ३४१) ने यह १० वीं या ११ वीं शती की कृति मानी है।

कालिका—(वेंक० प्रेस, बम्बई द्वारा ९३ अध्यायों में उप० रूप में प्रकाशित)। देखिए ह० (ए० बी० ओ० आर० आई०, जिल्द २२, पृ० १-२३); शर्मा (इण्डि० हि० क्वा०, जिल्द २३, पृ० ३२२-३२६) ने ऐसा विचार व्यक्त किया है कि यह उपपुराण कामरूप के राजा धर्मपाल के शासन-काल में पूर्ण हुआ; ह० (भारतीय विद्या, जिल्द १६, १९५६, पृ० ३५-४०) ने शर्मा के मत का विरोध किया है। प्रो० गोड़े ने इसकी तिथि के विषय में जे० ओ० आर० (मद्रास, जि० १०, पृ० २८९-२९४) में लिखा है। और देखिए डा० राघवन (वही, जिल्द १२, पृ० ३३१-३६०), जिन्होंने व्यक्त किया है कि इसके तीन पाठान्तर हैं। ह० ने आज की प्रति एवं पहले की प्रति में अन्तर दिखाते हुए आज की प्रति को १० वीं या ११ वी शती का माना है। कल्पतरु ने कालिका के श्लोक (व्रत एवं दान पर १००, गृहस्थ पर १४, व्यवहार पर १२, नियतकाल एवं तीर्थ पर ५, ब्रह्मचारी पर २) उद्धृत किये हैं। इसी प्रकार अपरार्क एवं दानसागर में भी इसके उद्धरण हैं। वेंक० संस्करण में विष्णुधर्मोत्तर का उल्लेख है (९१-७० एवं ९२।२)।[1] आज जो प्रति उपलब्ध है उसके आधार पर कालिका को १००० ई० में रखा जा सकता है।

कल्किपुराण—देखिए ह० (स्टडीज, जिल्द १, पृ० ३०३-३०८)। इसके तीन संस्करण हैं और सभी कलकत्ता के हैं। ह० के कथनानुसार यह पश्चात्कालीन पुराण है, इसे किसी ने उद्धृत नहीं किया है, फिर भी इसे १८ वीं शताब्दी के उपरान्त का नहीं कहा जा सकता है।

कूर्म—(वेंक० प्रेस संस्करण); यह पूर्वार्ध (५३ अध्याय) एवं उत्तरार्ध (४६ अध्याय) भागों में बँटा हुआ है। देखिए ह० ('पुराणज इन हिस्ट्री आव स्मृति', इण्डि० कल्चर, जिल्द १, पृ० ५८७-६१४; 'स्मृति चैप्टर्स आव कूर्म', इण्डि० हिस्टा० क्वा०, जिल्द ११, पृ० २६५-२८६ एवं स्टडीज, पृ० ५७-७५)। ह० का कथन है कि यह आरम्भ में एक **पाञ्चरात्र** कृति था, जो **पाशुपत** बनाने के लिए परिवर्तित कर दिया गया। बहुत श्लोकों में कूर्म ने कहा है कि परमात्मा एक है (२।११।११२-११५), किन्तु नारायण एवं ब्रह्मा (१।९।४०) या विष्णु एवं शिव (१।२।९५) के रूपों में दो और कभी तीन (१।१०।७०)। स्मृतिचन्द्रिका (भाग १, पृ० १९९) ने इसके (१।२।९४, ९५, ९७-९९) उद्धरण दिये हैं, जिनके द्वारा कोई विष्णु की पूजा (ऋ० १।२२।२० या १०।९८ के मन्त्रों के साथ) या शिव की पूजा रुद्रगायत्री या रुद्रों के साथ (तै० सं० ४।५।१-११), या 'त्र्यम्बकम्' (ऋ० ७।५९।१२, तै० सं० १।८।६।२) के साथ या 'ओं नमः शिवाय' के साथ कर सकता है। स्मृतिच० ने आह्निक पर ८४ एवं श्राद्ध पर १९ श्लोक उद्धृत किये हैं। एक स्थान (१।१।२१-२२) पर इसमें आया है कि पुराण की चार संहिताएँ थीं, यथा—ब्राह्मी, भागवती, सौरी एवं वैष्णवी और प्रस्तुत संहिता ६००० श्लोकों में ब्राह्मी संहिता है। नारदीय (१।१०६।१-२२) ने अन्य तीन संहिताओं का संक्षेप उपस्थित किया है।[2] पद्म (पातालखण्ड १०२।४१-४२) ने स्पष्ट रूप से कूर्म का उल्लेख किया है और इससे एक श्लोक उद्धृत किया है। अपरार्क ने उपवास पर इसके तीन श्लोक (पृ० २०१, ३०४ एवं २०७) उद्धृत किये हैं।

गणेशपुराण—देखिए ह०, जर्नल आव दि गंगानाथ झा रिसर्च इंस्टीच्यूट, इलाहाबाद।

१. कालिका (९२।२) में आया है : 'विष्णुधर्मोत्तरे तन्त्रे बाहुल्यं सर्वतः पुनः। द्रष्टव्यस्तु सदाचारो द्रष्टव्यास्ते प्रसादतः॥' इसके उपरान्त पुत्र की इच्छा रखने वाले वेताल एवं भैरव की कथा कही गयी है।

२. कौर्मं समस्तपापानां नाशनं शिवभक्तिदम्। इदं पद्मं च शुभाव पुराणज्ञेन भाषितम्॥ ब्रह्महा मद्यपः स्तेनस्तथैव गुरुतल्पगः। कौर्मं पुराणं श्रुत्वैव मुच्यते पातकात्ततः॥ पद्म (पातालखण्ड १०२, ४१-४२)।

गरुड़पुराण—गत अध्याय में कहा गया था कि बल्लालसेन ने इसका बहिष्कार किया है। देखिए ह० (ए० बी० ओ० आर० आई०, जिल्द १९, पृ० ६९-७९; स्टडीज़, पृ० १४१-१४५); ए० पी० करमर्कर, 'बृहस्पतिनीतिसार' (सिद्ध-भारती, जिल्द १, पृ० २३९-२४०); डा० एल्० एस० स्टर्नबाच (ए० बी० ओ० आर० आई०, जिल्द ३७, पृ० ६३-११०) जिन्होंने चाणक्यराजनीतिशास्त्र एवं बृहस्पतिसंहिता (गरुड़पुराण की) पर लेख लिखा है। स्मृतिच० (२, पृ० २५७, एकादशी पर) ने गरुड़ का उद्धरण दिया है। आज के गरुड़पुराण की प्रति ने पराशरस्मृति का संक्षेप ३९ श्लोकों में दिया है। इसकी तिथि ई० छठीं शती के पूर्व एवं सन् ८५० के उपरान्त नहीं रखी जा सकती।

देवीपुराण—(उपपुराण)। देखिए ह० (न्यू इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, जिल्द ५, पृ० २-२०) जिन्होंने इसे सातवीं शती के उत्तरार्ध का माना है। देखिए दानसागर जिसने इसके उपयोग का बहिष्कार किया है। संक्रान्ति के विषय में चर्चा करते हुए भुजबल-निबन्ध (लगभग १०४० ई०) ने इसे उद्धृत किया है। कल्पतरु ने कई खण्डों में देवीपुराण को उद्धृत किया है, यथा राजधर्म में २१० श्लोक (८८ श्लोक राजधानी की किलेबन्दी पर), बकरियों एवं भैंसों की बलि के साथ आश्विन शुक्ल नवमी पर देवी की पूजा में ३७ श्लोक, देवी के सम्मान में पताका खड़ी करते समय के ५२ श्लोक, कार्तिक-अमावस्या पर गवोत्सर्ग के १० श्लोक; व्रतकाण्ड में लगभग ८० श्लोक (दुर्गाष्टमी पर २५ श्लोक, नन्दाव्रत पर ४४ श्लोक, एक गद्य खण्ड के साथ), दान पर; ४५ श्लोक (यथा—तिलधेनु एवं घृतधेनु पर २८, विद्यादान पर ५६, कूप, वापी, दीर्घिका आदि के निर्माण पर ९८, वाटिका एवं वृक्षारोपण पर २७, साधु-संन्यासियों के विश्राम-स्थल-निर्माण पर १० श्लोक); तीर्थकाण्ड में १०१ श्लोक; नियतकालकाण्ड में ३० श्लोक; ब्रह्मचारि-काण्ड में थोड़े श्लोक; गृहस्थकाण्ड में ६ श्लोक; श्राद्धकाण्ड में एक श्लोक। अपरार्क ने लगभग ३४ श्लोक उद्धृत किये हैं जिनमें ३ स्थापक के गुणों के विषय में हैं, क्योंकि स्थापक को पाञ्चरात्र के मातृ-सम्प्रदाय एवं शैव शास्त्रों के अनुसार वाम एवं दक्षिण मार्गों का ज्ञान होना आवश्यक था।

देवीभागवत—(१२ स्कन्धों में वेंक० प्रेस द्वारा प्रकाशित)। देखिए ह० (जे० ओ० आर०, मद्रास, जिल्द २१, पृ० ४९-७९, जहाँ यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि यह भागवत के उपरान्त लिखा गया है)। देखिए ताडपत्रीकर (ए० बी० ओ० आर० आई०, जिल्द २३, पृ० ५५८-५६२) द्वारा लिखित 'देवी-भागवत एवं भागवत'; इण्डि० हिस्टा० क्वा० (जिल्द २७, पृ० १९१-१९६) में रामचन्द्रन का कथन है कि देवगढ़ में नर-नारायण का उभरा हुआ चित्रांकन देवीभागवत पर आधारित है (देखिए देवीभागवत ४।५-१०); किन्तु प्रो० हज्रा श्री रामचन्द्रन की बात नहीं मानते।

नन्दिपुराण—(उपपुराण)। देखिए ह० 'बृहन्नन्दिकेश्वर एण्ड नन्दिकेश्वर' (डा० बी० सी० ला-भेंट ग्रन्थ, भाग २, पृ० ४१५-४१९, एवं जर्नल आव दि गंगानाथ झा रिसर्च इंस्टीच्यूट, इलाहाबाद, जिल्द २, पृ० ३०५-३२०); प्रो० रंगस्वामी आयंगर (न्यू इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, जिल्द ४, पृ० १५७-१६१) ने नन्दिपुराण पर चर्चा करते हुए लिखा है कि मौलिक पुराण लुप्त है, तथा लक्ष्मीधर द्वारा उद्धृत श्लोक दान के विभिन्न प्रकारों के विषय में ही हैं। कल्पतरु ने दान पर २०० श्लोक उद्धृत किये हैं, जिनमें १४० विद्यादान पर, १२ आरोग्यदान (इनमें ऐसी व्यवस्था है कि एक ऐसा अस्पताल बनवाया जाय जिसमें आयुर्वेद के आठ अंगों का ज्ञाता वैद्य हो और औषधियों आदि की समुचित व्यवस्था हो) पर हैं। अपरार्क ने विद्यादान पर १०० श्लोक उद्धृत किये हैं एवं आरोग्यदान पर कल्पतरु की भाँति उद्धरण दिये हैं। कल्पतरु ने नियतकाल पर भी इस पुराण से उद्धरण लिये हैं। यह ग्रन्थ उन चार उपपुराणों में है जिन्हें मत्स्य ने स्पष्ट रूप से उल्लिखित किया है। अल्बरूनी ने इसे नन्दपुराण कहा है जो सम्भवतः नन्दिपुराण का द्योतक है। लक्ष्मीधर, अपरार्क एवं दानसागर ने इससे पर्याप्त संख्या में उद्धरण लिये हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि यह उपपुराण आठवीं या नवीं शताब्दी में अवश्य प्रणीत हो गया होगा।

नरसिंहपुराण (या नृसिंहपुराण)––कल्पतरु ने व्रत पर चर्चा करते हुए इस उपपुराण से २९ श्लोक लिये हैं (ये श्लोक आज की प्रति में प्राप्त हैं, देखिए २६।२-२०); तीर्थ की चर्चा में कल्पतरु ने इससे ६६ लोक लिये जो इसके अध्याय ६५।२-२१ में हैं। इसी प्रकार कल्पतरु ने नियतकाल पर ६५, मोक्ष पर ५७, दानकाण्ड पर १३, ब्रह्मचारिकाण्ड पर ४ श्लोक उद्धृत किये हैं। अपरार्क ने भी इस उपपुराण से प्रभूत उद्धरण देकर इसे मान्यता दी है। स्मृतिच० ने भी इसे उद्धृत किया है। लगता है, कल्पतरु एवं अपरार्क के समय इसका आकार बड़ा था। यह द्रष्टव्य है कि ऐल वंश का अन्तिम राजा क्षेमक इस पुराण में नरवाहन का पुत्र एवं उदयन तथा वासवदत्ता का पौत्र कहा गया है। आज जो प्रति प्राप्त है उसकी तिथि लगभग नवीं शती है।

नारदपुराण (वेंक० प्रेस द्वारा प्रकाशित)––देखिए ह० (इण्डि० कल्चर, जिल्द ३, पृ० ४७७-४८८, स्टडीज़, जिल्द १, पृ० ३०९-३४५, 'बृहन्नारदीय' एवं 'नारदीय' आदि)। बृहन्नारदीय का प्रकाशन कलकत्ता एशियाटिक सोसाइटी एवं वंगवासी प्रेस द्वारा ३८ अध्यायों एवं ३६०० श्लोकों में हुआ है। ह० के अनुसार बृहन्नारदीय एक कट्टर वैष्णव साम्प्रदायिक कृति है और इसमें पुराण की विशेषताओं का अभाव है। ह० ने यह भी कहा है कि मत्स्य (५३।२३) द्वारा अवलोकित (जिसमें २३००० श्लोक थे और जिसमें नारद ने बृहत्कल्प के धर्मों की घोषणा की है) एवं अग्नि (२७२।८) द्वारा उल्लिखित नारदीय आज के नारदीय से भिन्न था और आज वाले नारदीय ने बृहन्नारदीय से बहुत कुछ उधार लिया है (स्टडीज़, जिल्द १, पृ० ३३६-३४१)। वेंक० प्रेस द्वारा प्रकाशित संस्करण दो भागों में विभक्त है, प्रथम १२५ अध्यायों में है और द्वितीय ८२ अध्यायों में (कुल लगभग ५५१३ श्लोकों में)। द्वितीय भाग के ५५१३ श्लोकों में ३४०० तीर्थों से सम्बन्धित हैं और शेष रुक्मांगद एवं मोहिनी की गाथा से सम्बन्धित हैं। प्रथम भाग में विष्णु एवं भक्ति की प्रशंसा, भारत का भूगोल, सगर की कथा, भगीरथ एवं गंगा-माहात्म्य, कुछ व्रतों, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, पातकों, सदाचार एवं श्राद्ध जैसे विषयों का उल्लेख है। नारदीय का एक श्लोक (१।९।४०) किरातार्जुनीय श्लोक[3] से मिलता है और घोषणा करता है कि यदि कोई ब्राह्मण महान् विपत्ति में भी बौद्ध मन्दिर में प्रवेश करता है तो वह सैकड़ों प्रायश्चित्तों के उपरान्त भी इस पाप से छुटकारा नहीं पा सकता, क्योंकि बौद्ध पाषण्डी और वेदविनिन्दक हैं।[4] प्रथम भाग में वैष्णवागम (३७, ४) एवं पंचरात्र-विधि (५३।९) का वर्णन है। स्मृतिच० ने नारदीय से एकादशी एवं मोहिनी-गाथा के विषय में कई श्लोक उद्धृत किये हैं। अपरार्क ने एकादशी के उपवास के विषय में दो श्लोक उद्धृत किये हैं। उपर्युक्त दशाओं से यह स्पष्ट होता है कि आज का नारदीयपुराण ७०० एवं १००० ई० के बीच कभी संगृहीत हुआ।

पद्मपुराण––ह० (इण्डि० कल्चर, जिल्द ४, पृ० ७३-९५), श्री एम० वी० वैद्य (काणे-मेट-जिल्द, पृ० ५३०-५३७, यहाँ ऐसा मत व्यक्त किया गया है कि पद्म का तीर्थयात्रा वाला विभाग महाभारत-तीर्थयात्रा विभाग से प्राचीन है), डा० वेल्वेल्कर (एफ० डब्लू० फेस्टक्रिफ्ट, पृ० १९-२८) का कथन है कि पद्म महाभारत पर आधारित है। प्रो० लूडर्स ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि पद्म में उल्लिखित ऋष्यशृंग की वार्ता महाभारत वाली वार्ता से प्राचीन है (इण्डि० हिस्ट्रा० क्वा०, जिल्द २०, पृ० २०९, जहाँ लूडर्स का मत दिया हुआ है)। ह० ने 'स्टडीज़ इन पुराणिक

३. अविवेको हि सर्वासामापदां परमं पदम्। नारदीय (१।९।५०); मिलाइए 'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।' किरात० २।३०।

४. बौद्धालयं विशेद्यस्तु महापद्यपि वै द्विजः। न तस्य निष्कृतिर्दृष्टा प्रायश्चित्तशतैरपि....बौद्धाः पाखण्डिनः प्रोक्ताः यतो वेदविनिन्दिकाः॥ नारदीय (१।१५।५०-५२)।

रेकर्ड्स आव हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स' में व्यक्त किया है कि पद्म के दो पाठ हैं, जिनमें एक उत्तर भारतीय है और दूसरा दक्षिण भारतीय। पहला ५ खण्डों में और दूसरा ६ खण्डों में है। आनन्दाश्रम एवं वेंक० प्रेस में केवल दक्षिण भारतीय संस्करण ही प्रकाशित है, यद्यपि दोनों प्रेसों के पाठों की व्यवस्था में अन्तर है। ह० का कथन है कि पद्म का उत्तर-काण्ड ९०० ई० के उपरान्त का, किन्तु १५०० ई० के पूर्व का है। एक बात द्रष्टव्य है कि मत्स्य एवं पद्म के सैकड़ों श्लोक एक-समान हैं और हेमाद्रि जैसे कुछ लेखक वही बात कभी मत्स्य की और कभी पद्म की कहते हैं। मत्स्य में स्मृति-विषयक बहुत-सी बातें पायी जाती हैं तथा मध्यकालीन निबन्धों ने उससे बहुत-से उद्धरण लिये हैं, अतः प्रस्तुत लेखक की ऐसी धारणा है कि पद्म ने ही मत्स्य से उधार लिया है। ऐसा पद्म ने कब किया, इस विषय में कोई निश्चित तिथि नहीं दी जा सकती, किन्तु यह कार्य १००० ई० के पूर्व ही हो गया होगा। पद्म (४।१०२।४०-४१ एवं ४।११०।४८३) ने कूर्म का उल्लेख किया है तथा ४।५।३२-४३ में श्लेष एवं परिसंख्या जैसे अलंकार आये हैं। कल्पतरु, अपरार्क एवं स्मृतिच० ने पद्म को उद्धृत किया है। आनन्दाश्रम प्रेस के संस्करण में ६२८ अध्याय एवं ४८,४५२ श्लोक हैं। इसमें अश्वत्थ को बोधिसत्त्व (सृष्टिखण्ड ५५।१६) कहा गया है और गुर्जरदेश (२।५१।३६-३७) के वनस्थल नामक स्थान का उल्लेख हुआ है।

ब्रह्मपुराण—आनन्दाश्रम वाला प्रकाशन पश्चात्कालीन संकलन-सा लगता है। देखिए ह० 'एपॉक्रिफल ब्रह्मपुराण' (इण्डियन कल्चर, जिल्द २, पृ० २३५-२४५ एवं पुराणिक रेकर्ड्स आदि, पृ० १४५-१५७)। ह० का कथन है कि प्रकाशित ब्रह्म में जीमूतवाहन, अपरार्क, बल्लालसेन, देवण्णभट्ट एवं हरदत्त में पाये जाने वाले उद्धरण नहीं मिलते हैं, इसमें महाभारत, विष्णु, वायु एवं मार्कण्डेय के पूरे अध्याय तक उद्धृत हो गये हैं, और यह १० वीं शती एवं १२ वीं शती के बीच में कहीं प्रणीत हुआ होगा। एच० ओट्टो श्रेडर का कथन है कि प्रस्तुत ब्रह्म के २२६-२४४ अध्याय, जिनमें सांख्य एवं योग का विवेचन हुआ है, महाभारत से लिये गये हैं (इण्डि० कल्चर, जिल्द २, पृ० ५९२-९३)। दानसागर ने दो ब्रह्मपुराणों की चर्चा की है और एक का उसने उपयोग नहीं किया है। कल्पतरु ने ब्रह्मपुराण से १५०० श्लोक लिये हैं (६०० नियतकाल पर, ६६ तीर्थ पर, ६० मोक्ष पर, ७८ राजधर्म पर, २१ गृहस्थ पर, २२ व्यवहार पर, १५ व्रतों पर, १५ ब्रह्मचारी पर)। कल्पतरु ने वायु एवं मत्स्य से भी उद्धरण लिये हैं, किन्तु ब्रह्म वाले उद्धरण सब से अधिक हैं। श्राद्ध की चर्चा में कल्पतरु ने ब्रह्मपुराण से कुछ ऐसे श्लोक उद्धृत किये हैं जो बुद्ध एवं बौद्ध साधुओं के लिए किसी विशिष्ट तिथि पर सम्मान की बात चलाते हैं। प्रकाशित ब्रह्म में २४५ अध्याय एवं १३,७८३ श्लोक हैं। ७० से १७५ तक के अध्यायों के ४६४० श्लोकों में कतिपय तीर्थों का उल्लेख है, अध्याय २८ से ६९ तक कोणादित्य, एकाम्र अवन्ती, पुरुषोत्तम-तीर्थ जैसे तीर्थों का वर्णन है। सम्पूर्ण पुराण अथवा कम-से-कम एक विभाग १७५वें अध्याय तक समाप्त-सा दृष्टिगोचर होता है और १७६ वें अध्याय से वासुदेव-माहात्म्य का आरम्भ होता है जो २१३ वें अध्याय तक चला जाता है। यहाँ वर्णनकर्ता व्यास हैं न कि ब्रह्मा जो प्रथम अध्याय से लेकर १७५वें अध्याय तक वर्णनकर्ता रहे हैं। ४२वें तथा उसके आगे के अध्यायों से बहुत-से श्लोक तीर्थचिन्तामणि द्वारा उद्धृत किये गये हैं। वाचस्पति १५ वीं शती के उत्तरार्ध में हुए थे, अतः आज के ब्रह्मपुराण का प्रथम भाग १३ वीं शती के पश्चात् नहीं रखा जा सकता। आज के ब्रह्म के कतिपय श्लोक ब्रह्माण्ड एवं वायु में पाये जाते हैं। यह सम्भव है कि जिस ब्रह्मपुराण को बल्लालसेन ने छोड़ दिया था वह आज वाला ही संस्करण हो और कल्पतरु एवं बल्लालसेन के समक्ष कोई अन्य संस्करण था, जो अपेक्षाकृत पुराना था। आज का ब्रह्म सम्भवतः ऐसे भूमिभाग में संगृहीत हुआ था जहाँ से गोदावरी (गौतमी) दण्डकारण्य में बहती है। ऐसा आया है कि दण्डकारण्य परम पुनीत देश है (८८।१८, १२३।११७ एवं १२९।५५) और वहाँ से गोदावरी बहती है (१२९।६३, ६६)। ऐसा कहा गया (८८।२२-२४) है कि 'जनस्थान' गौतमी पर वह स्थान है जहाँ जनक वंश के राजा ने यज्ञ किया था।

ब्रह्मवैवर्त—यह एक विशद ग्रन्थ है जो आनन्दाश्रम (पूना) द्वारा चार खण्डों में प्रकाशित हुआ है, यथा—ब्रह्म, प्रकृति, गणपति एवं कृष्णजन्म। इसमें धर्मशास्त्र-विषयक बातें भी हैं, यथा—जातियाँ, दान, व्रत, नरक, वर्णाश्रमधर्म, स्त्री आदि। स्मृतिच०, हेमाद्रि आदि ने इस पुराण से बहुत-से उद्धरण लिये हैं, जो प्रकाशित पुराण में नहीं पाये जाते। विल्सन ने विष्णुपुराण की भूमिका में लिखते हुए ऐसा कहा है कि ब्रह्मवैवर्त को पुराण नहीं कहना चाहिए। देखिए ह० (ए० बी० ओ० आर० आई०, जिल्द १९, पृ० ७५-७६ एवं पुराणिक रेकर्ड्स आदि, पृ० १६६ १६७)।

ब्रह्माण्ड (वेंक० प्रेस द्वारा प्रकाशित—यह चार पादों में विभाजित है, यथा—प्रक्रिया (५ अध्याय), अनुषंग (३३ अ०), उपोद्घात (७४ अ०) एवं उपसंहार (४ अ०) और अन्त में ४० अध्यायों में ललितोपाख्यान है। कूर्म में स्पष्ट रूप से आया है कि नैमिषारण्य में एक सत्र में प्रवृत्त ऋषियों को ब्रह्माण्ड पुराण सुनाया गया।[5] स्कन्द (प्रभासखण्ड २।८-९) में आया है कि आरम्भ में केवल एक पुराण था, जिसका नाम ब्रह्माण्ड था और उसमें एक सौ करोड़ श्लोक थे जो आगे चल कर अठारह भागों में विभक्त हो गये। सम्भवतः इसका प्रणयन गोदावरी के उद्गम के पास कहीं हुआ था, क्योंकि इसमें आया है कि वह स्थान, जो सह्य पर्वत की उत्तरी चोटियों के पास है और जहाँ से गोदावरी प्रसूत होती है, विश्व में सबसे सुन्दर एवं रमणीक है और वहाँ परशुराम द्वारा स्थापित गोवर्धन नाम की राजधानी थी। इसके प्रथम दो पादों में सृष्टि, भारतवर्ष एवं पृथिवी का भूगोल, मन्वन्तरों, व्यास के शिष्यों, वेद की शाखाओं के विभाजन आदि का उल्लेख है। तीसरा खण्ड (या पाद) सबसे लम्बा है, इसमें वैवस्वत मन्वन्तर एवं देवों, असुरों, गन्धर्वों, ऋषियों तथा उनकी सन्तानों की सृष्टि के विषय में वर्णन करने के उपरान्त श्राद्ध के स्वरूपों का विशद उल्लेख है; परशुराम की तपस्याओं, उनके द्वारा अस्त्र-शस्त्र-प्राप्ति, कार्तवीर्य एवं क्षत्रियों की हत्या, उनके रक्त से पाँच तालाबों के भरने का विशद वर्णन है। इसके उपरान्त सगर का कथानक, भगीरथ द्वारा गंगा के उतारने की कथा, समुद्र से गोकर्ण की रक्षा, सूर्पारक की कथा, सूर्य एवं चन्द्र के वंशों की कथा आदि वर्णित हैं। इसके उपरान्त धन्वन्तरि द्वारा भारद्वाज से आयुर्वेद के आठों अंगों के ज्ञान की प्राप्ति का उल्लेख है। चौथे खण्ड (पाद) में इसमें मनुओं, ज्ञान, कर्म, मोक्ष आदि का उल्लेख है।

ब्रह्माण्ड प्राचीनतम पुराणों में परिगणित है और इसके सैकड़ों श्लोक वायु में भी पाये जाते हैं। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।३०९) ने ब्रह्माण्ड का श्लोक उद्धृत कर कहा है कि यदि कोई व्यक्ति शैवों, पाशुपतों, लोकायतिकों एवं नास्तिकों, निषिद्ध मार्ग पर जाने वाले तीनों वर्णों के लोगों एवं शूद्रों का स्पर्श करता है तो उसे वस्त्र सहित जल में प्रवेश करना चाहिए।[6] अपरार्क ने इससे ७५ श्लोक लिये हैं जिनमें ४३ श्राद्ध-सम्बन्धी हैं। स्मृतिचन्द्रिका ने बहुत-से उद्धरण लिये हैं। इन बातों से प्रकट होता है कि इस पुराण को मत्स्य के समान बहुत प्रारम्भिक काल का नहीं कहा जा सकता। इसमें एक लम्बा सामासिक प्रयोग आया है (३।४८।८ एवं २०), भीमसेन एवं नारद[7] का उल्लेख संगीतशास्त्र-लेखकों में हुआ है (३।६१।४२-४३), गान्धर्व पर एक अध्याय है (३।६२), पहले के आचार्यों की

५. अत्र पूर्वं स भगवानृषीणां सत्रमासताम्। स वै प्रोवाच ब्रह्माण्डं पुराणं ब्रह्मभावितम्॥ कूर्म (२।४३।१४)।

६. शैवान् पाशुपतान् स्पृष्ट्वा लोकायतिकनास्तिकान्। विकर्मस्थान् द्विजान् शूद्रान् सवासा जलमाविशेत्॥ मिता० (याज्ञ० ३।३०९), स्मृतिच० (१, पृ० ११८)।

७. तस्याग्रे सरसैन्ध्ययूथचरणप्रक्षुण्णशैलोच्चयक्षोदापूरितनिम्नभागमवनीपालस्य संयास्यतः। ब्रह्माण्ड पुराण (३।४८।८)।

ओर भी संकेत है, नाट्य के ३० अलंकारों एवं इन अलंकारों के चार उपयोगों (६२।३२) की ओर निर्देश है।[८] इस पुराण को चौथी एवं छठी शतियों के बीच में कहीं रखा जा सकता है। विवेचन के लिए देखिए पार्जिटर (ए० आई० एच्० टी०, पृ० २३, ७७) एवं ह० (पी० आर० एच्० आर०, पृ० १७।१९)। ब्रह्माण्ड में व्युत्पत्ति-सम्बन्धी अधिक अभिरुचि प्रकट हुई है, यथा—वैश्य एवं शूद्र (२।७।१५७-१५८), देव, मनुष्य-प्रजा, राक्षस एवं यक्ष (२।८। ९-१०, २०, ३४), त्र्यम्बक एवं रुद्र (२।९।३-४ एवं ७८), राजन् (२।२९।६४), वसुधा, मेदिनी एवं पृथिवी (२।३७। १-३), अत्रि, वसिष्ठ, पुलह एवं पुलस्त्य (३।१।४४-४६), कुबेर (३।८।४४-४५) आदि शब्दों की व्युत्पत्तियाँ।

बृहद्धर्मपुराण (उप०)। देखिए ह० (गोहाटी यूनि० का जर्नल, स्टडीज़ आदि, जिल्द १, पृ० ११५ एवं २७७)। यह १३वीं या १४वीं शती में बंगाल में प्रणीत हुआ।

भविष्यपुराण—मत्स्य (५३।३०-३१), अग्नि० (२७२।१२) एवं नारदीय (१।१००) में उल्लिखित बातें वेंक० प्रेस द्वारा प्रकाशित भविष्य से नहीं मिलतीं। यह चार पर्वों में विभाजित है, यथा—ब्राह्म, मध्यम, प्रतिसर्ग एवं उत्तर। केवल ब्राह्म पर्व की तिथि प्राचीन है। प्रतिसर्ग पर्व में आधुनिक प्रक्षेप भी हैं, यथा—आदम एवं ईव, पृथ्वीराज एवं संयोगिता, देहली के म्लेच्छों, रामानुज, कबीर, नरश्री (नरसी?), नानक, चैतन्य, नित्यानन्द, रैदास, मध्वाचार्य, भट्टोजि आदि की कहानियाँ। बल्लालसेन ने भविष्योत्तर का बहिष्कार कर दिया था, यद्यपि वह उसके काल में पर्याप्त प्रसिद्ध था। अपरार्क ने दान के विषय में भविष्योत्तर से १६० श्लोक उद्धृत किये हैं। स्मृतिच० ने एक श्लोक लिया है (भाग १, पृ० २०३)। अतः भविष्योत्तर को हम १००० ई० के आगे नहीं उतार सकते। कल्पतरु ने सैकड़ों श्लोक उधार लिये हैं। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।६) ने सर्प के काटने पर सर्प की स्वर्ण-मूर्ति के दान की चर्चा में भविष्य को उद्धृत किया है। अपरार्क ने १२५ श्लोक लिये हैं, जिनमें लगभग ९० श्लोक प्रायश्चित्तों से सम्बन्धित हैं।

एक बात द्रष्टव्य है कि अपरार्क द्वारा लिये गये भविष्य के उद्धरणों में अंगिरा, गौतम, पराशर, मनु, वसिष्ठ एवं शंख के मत उद्धृत हैं। अपरार्क के उद्धरणों के कुछ वक्तव्यों से आज के प्रचलित भविष्य की तिथि पर प्रकाश पड़ता है। इसने आठ व्याकरणों की ओर भी निर्देश किया है, यथा—ब्राह्म, ऐन्द्र, याम्य, रौद्र, वायव्य, वारुण, सावित्र एवं वैष्णव। किन्तु प्रसिद्ध आठ व्याकरणों से यह तालिका भिन्न है (केवल ऐन्द्र मिलता है)। इसमें विदेशी शब्द 'आर' (मंगल) एवं 'कोण (शनि) मिलते हैं और ऐसा आया है कि शिव, पार्वती, गणेश, सूर्य आदि के समान इन ग्रहों की पूजा भी होनी चाहिए। भविष्य में पराशरस्मृति की कुछ व्यवस्थाओं की ओर भी संकेत है। इससे प्रकट होता है कि इस पुराण को ६ठी या ७वीं शती के पूर्व नहीं रखा जाना चाहिए। देखिए ह० (इण्डि० कल्चर, जिल्द ३, पृ० २२३-२२९ एवं पी० आर० एच्० आर०, पृ० १६७-१७३ जहाँ भविष्योत्तर की चर्चा है)। वायु (९९।२६७) में जिस भविष्य (तान् सर्वान् कीर्तयिष्यामि भविष्ये पठितान् नृपान्। तेभ्यः परे च ये चान्ये उत्पत्स्यन्ते महीक्षितः॥) की चर्चा है वह आप० ध० सू० में उल्लिखित प्राचीन भविष्यत् है। वराहपुराण (१७७।३४ एवं ५१) ने दो बार स्पष्ट रूप से भविष्यत् पुराण की चर्चा की है, यह दूसरा संकेत महत्त्वपूर्ण है। ऐसा प्रकट होता है कि भविष्य नामक पुराण साम्ब द्वारा संशोधित हुआ था और साम्ब ने सूर्य की एक प्रतिमा स्थापित की थी।[९]

८. देखिए नाट्यशास्त्र ३२।४८४ 'गान्धर्वमेतत्कथितं मया हि पूर्वं यदुक्तं त्विह नारदेन।'

९. भविष्यत्पुराणमिति ख्यातं कृत्वा पुनर्नवम्। साम्बः सूर्यप्रतिष्ठां च कारयामास तत्त्ववित्॥ वराह

भागवतपुराण—मिताक्षरा, अपरार्क, कल्पतरु, स्मृतिचन्द्रिका जैसे आरम्भिक निबन्धों ने इस पुराण से कुछ भी उद्धरण नहीं लिया है। दानसागर को इस पुराण का पता था, किन्तु दान-सम्बन्धी बातों के अभाव के कारण उसने इसकी चर्चा नहीं की। इसकी तिथि बहुत ही विवादग्रस्त है, यह पाँचवीं शती से १० वीं शती तक खींची जाती है। डा० पुसल्कर ('स्टडीज़ इन एपिक्स एण्ड पुराणज़', १९५३, पृ० २१४-२१६) ने इसके सम्बन्ध के सभी लेख एकत्र कर डाले हैं। श्री एस० एस० शास्त्री (ए० बी० ओ० आर० आई०, जिल्द १४, पृ० २४१-२४९) ने 'दो भागवतों' की चर्चा में देवीभागवत-पुराण को इस भागवत से प्राचीन माना है। ह० (जे० ओ० आर०, मद्रास, जिल्द २१, पृ० ४८-७९) ने इस मत का उलटा कहा है, अर्थात् देवीभागवत को भागवत से पश्चात्कालीन माना है। श्री बी० एन० कृष्णमूर्ति शर्मा (ए० बी० ओ० आर० आई०, जिल्द १४, पृ० १८२-२१८) ने भागवत को ५ वीं शती का माना है। प्रो० दासगुप्त ने अपने ग्रन्थ 'इण्डियन फिलासफी' के चौथे भाग में इस पुराण की चर्चा की है, किन्तु उनका मत जे० बी० आर० एस० (जिल्द ३६, पृ० ९-५०) में आलोचित हो चुका है। पद्मपुराण (भाग ४, अध्याय १८९-१९४) में ५१८ श्लोकों में भागवतपुराण का एक माहात्म्य है। इस पुराण का लेखक तमिल देशवासी है, ऐसा श्री अमरनाथ राय ने कहा है (इण्डि० हिस्टा० क्वा०, जिल्द ८, पृ० ४९-५३)। प्रस्तुत लेखक का कथन है कि यह पश्चात्कालीन पुराण है, क्योंकि कल्पतरु के मोक्षकाण्ड में भी इसका उल्लेख नहीं हुआ है, जब कि उसी काण्ड में विष्णुपुराण से ३०० श्लोक उद्धृत हुए हैं। वर्तमान संस्करण को नवीं शती के पूर्व रखने के लिए हमारे पास कोई प्रचुर एवं साधिकार प्रमाण नहीं है।

मत्स्यपुराण (आनन्दाश्रम संस्करण)—इसमें २८१ अध्याय एवं १४,०६२ श्लोक हैं। यह प्राचीन पुराणों में मुख्य है और सम्भवतः इसमें अन्य पुराणों की अपेक्षा अधिक स्मृति-सम्बन्धी अध्याय हैं। इसमें मनुस्मृति एवं महाभारत के बहुत-से श्लोक आये हैं। याज्ञवल्क्यस्मृति के भी कुछ श्लोक आये हैं (यथा याज्ञ० १।२९५, मत्स्य ९३।२; याज्ञ २।२७९।२९५-६ एवं ३०३, मत्स्य २२७।२००, २०२-२०३ एवं २०४)। लगता है, मत्स्य ने शिव एवं विष्णु को समान तुला पर रखा है। इसने न केवल विष्णु के मत्स्यावतार की महत्ता गायी है, प्रत्युत इसने तारकासुर के वध पर १२७० श्लोक एवं त्रिपुर के वध पर ६२३ श्लोक दिये हैं और ये दोनों शिव द्वारा हते गये हैं। वामन-पुराण (१२।४८) ने इसे प्रमुख पुराणों में परिगणित किया है।

मिताक्षरा (याज्ञ १।२९७) ने मत्स्य के अध्याय ९४ के ९ श्लोक (जो ग्रहों की प्रतिमाओं के आकार के सम्बन्ध में हैं) तथा अध्याय ९३ के दो (११-१२) श्लोक, जो एक मण्डल में श्वेत चावलों के साथ प्रत्येक को स्थापित करने के विषय में हैं, उद्धृत किये हैं। कल्पतरु ने व्रत पर सैकड़ों, दान पर लगभग ७५०, राजधर्मकाण्ड में ४१०, गृहस्थकाण्ड में ११५, श्राद्ध पर ११२, नियतकाल पर ६७, व्यवहारकाण्ड में १८, ब्रह्मचारी पर ६ एवं मोक्ष पर २, इस प्रकार लगभग २००० श्लोक उद्धृत किये हैं। अपरार्क ने लगभग ४०० श्लोक लिये हैं। दानसागर, स्मृतिचन्द्रिका

१७७।५१। वराह ने सूर्य के तीन मन्दिरों का उल्लेख किया है (१७८।५-७), एक यमुना के दक्षिण में, दूसरा मध्य में जिसे कालप्रिय कहा जाता है और तीसरा मूलस्थान (आज के मुलतान) के पश्चिम में। भविष्यपुराण ने सूर्य की पूजा के तीन महत्वपूर्ण स्थानों का उल्लेख किया है (यथा—मुण्डीर, कालप्रिय एवं मित्रवण)। दिलीपकुमार विश्वास की यह बात ठीक जँचती है (१५ वीं इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस की प्रोसीडिंग का सार-संक्षेप, पृ० ३०) कि मुण्डीर आज का मोढेरा है जो उत्तरी गुजरात में है और जहाँ पर लगभग एक सहस्र वर्षों से एक सुन्दर सूर्य-मन्दिर अवस्थित है।

एवं हेमाद्रि की चर्चा करना अनावश्यक है, क्योंकि इनमें तो बहुत-से श्लोक उद्धृत हैं ही। इससे प्रकट है कि १००० ई० के बहुत पहले आज का संस्करण ज्यों-का-त्यों उपस्थित था। विष्णु, वायु, सम्भवतः भविष्य (?) एवं मार्कण्डेय को छोड़कर अन्य पुराणों के विषय में इससे अधिक नहीं कहा जा सकता।

प्रस्तुत लेखक के मत से मत्स्य १८ पुराणों में सब से प्राचीन एवं सुरक्षित पुराणों में एक है, इसकी तिथि २०० ई० एवं ४०० ई० के बीच में कहीं होगी। हाँ, यह सम्भव है कि यतस्ततः दो-एक श्लोक क्षेपक के रूप में इस पुराण में आ गये हों।

मत्स्यपुराण में स्मृति-विषयक अध्यायों की तिथियों के लिए देखिए ह० (ए० बी० ओ० आर० आई०, जिल्द १७, पृ० १-३६ एवं पी० आर० एच० आर०, पृ० २६-५२) एवं प्रो० रामचन्द्र दीक्षितार (मत्स्यपुराण, ए स्टडी, मद्रास, १९३५, पृ० १-१४०)। अनिरुद्ध (लगभग ११६० ई०) की पितृदयिता (पृ० ९२) में स्वल्प-मत्स्यपुराण के चार श्लोक उद्धृत हैं और श्री मनोरञ्जन शास्त्री (जे० जी० जे० आर० आई०, जिल्द ९, पृ० १८३-१८८) ने इस पर एक लेख लिखा है। तीर्थों एवं व्रतों के बारे में मत्स्य एवं पद्म के बहुत-से अध्याय एक-से हैं। शंकराचार्य ने पौराणिकों के जो श्लोक उद्धृत किये हैं वे मत्स्य के हैं।[10] तर्पण में जिन मुनियों को जल दिया जाता है उनमें (मत्स्य-प्रोक्त) कपिल, आसुरि, वोढु एवं पञ्चशिख भी हैं। सांख्यकारिका में इन चारों में प्रथम दो एवं अन्तिम सांख्य-सिद्धान्त के तीन महान् प्रवर्तक कहे गये हैं। इसमें वररुचि नाट्य-वेद के उद्भट विद्वान् कहे गये हैं। इस के २४वें अध्याय में आया है कि अप्सरा उर्वशी एवं उसकी सखी चित्रलेखा केशी नामक राक्षस द्वारा पकड़ ली गयी थीं, और पुरूरवा ने केशी को हराकर उर्वशी को छुड़ाया तथा इन्द्र ने पुरूरवा को उर्वशी दे दी। जब उर्वशी भरत द्वारा प्रणीत 'लक्ष्मी-स्वयंवर' नामक नाटक में लक्ष्मी का अभिनय कर रही थी और पुरूरवा के प्रेम में आसक्त होने के कारण वह भरत द्वारा बताया गया अपना अनुकूल अभिनय भूल गयी, तब भरत ने उसे लता हो जाने का शाप दे दिया। यह कहना कठिन है कि मत्स्य को यह आख्यान कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नामक नाटक से प्राप्त हुआ या कालिदास को मत्स्य से। नामों एवं घटनाओं के विषय में मत्स्य एवं कालिदास के कथानक एक-दूसरे से बहुत मिलते हैं। मत्स्य (२४।२४) में आया है कि केशी को हराने के लिए पुरूरवा को वायव्य-अस्त्र का प्रयोग करना पड़ा। नाटक में भी यही उल्लिखित है। अन्तर की बातें यों हैं—नाटक में लक्ष्मी-स्वयंवर का प्रणयन सरस्वती द्वारा किया हुआ माना गया है, किन्तु मत्स्य इस विषय में मौन है। मत्स्य में आया है कि भरत ने उर्वशी को लता बन जाने का शाप दिया, किन्तु नाटक इस विषय में कुछ नहीं कहता, उसमें इतना आया है कि वह लता के समान जो दुर्बल हो गयी उसका कारण कुमार (कार्तिकेय) थे। निर्णय इस बात पर निर्भर रहता है कि मत्स्य की तिथि किसी अन्य साक्ष्य से

१०. तथा चाहुः पौराणिकाः—अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्। प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥ शंकराचार्य, वे० सू० २।१।२७। यह मत्स्य (११३।६) है। यह श्लोक भीष्मपर्व (५।१२) में भी है, किन्तु वहाँ 'योजयेत्' के स्थान पर साधयेत् है। पौराणिक (पुराणमधीते इति पौराणिकः, जैसा कि पाणिनि ४।२।५९ का कहना है) शब्द से निर्देशित होता है कि आचार्य ने पुराण की ओर संकेत किया है न कि महाभारत की ओर। 'कपिलश्चासुरिश्चैव वोढुः पञ्चशिखस्तथा। सर्वे ते तृप्तिमायान्तु मद्दत्तेनाम्बुनाखिलाः॥' मत्स्य १०२।१८ (स्मृतिच० १।१९३ द्वारा उद्धृत)। अन्त में सांख्यकारिका का कथन है : 'एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरये अनुकम्पया प्रददौ। आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम्॥' दोग्धा वररुचिश्चैव नाट्यवेदस्य पारगः। मत्स्य० २५; लक्ष्मीस्वयंवरं नाम भरतेन प्रवर्तितम्। मत्स्य० २४।२८।

क्या है। प्रस्तुत लेखक के मत से कालिदास मत्स्य की घटना से परिचित थे। कुछ लोगों का मत है कि कालिदास लगभग ई० पू० ५७ में विक्रमादित्य के काल में थे। किन्तु प्रस्तुत लेखक को यह मान्य नहीं है। यह सिद्ध करने के लिए हमारे पास कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है कि ई० पू० ५७ में उत्तर भारत एवं मध्य भारत में विक्रमादित्य नामधारी कोई शक्तिशाली राजा था। नवरत्नों वाली गाथा निरर्थक है और यदि वह सार्थक भी है तो विक्रमादित्य नामक राजा (जिसके राज्य में वे नवरत्न थे) ५ वीं या ६ ठी शती में हुआ होगा, तभी अमरसिंह, वराहमिहिर एवं कालिदास समकालीन कहे जायेंगे। गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय के एक सिक्के पर आया है—'क्षितिमवजित्य सुचरितैर्दिवं जयति विक्रमादित्य:।' प्रस्तुत लेखक के मत से कालिदास की तिथि ३५० ई० एवं ४५० ई० के मध्य में कहीं है।

मार्कण्डेय-पुराण—इसके दो संस्करण हैं : बी० जे० (१८६२) एवं वेंक० प्रेस के। प्रस्तुत लेखक ने दूसरे संस्करण का सहारा लिया है। दोनों संस्करणों में अध्यायों के श्लोकों की संख्याओं में अन्तर पाया जाता है। पार्जिटर ने इस पुराण का अंग्रेजी अनुवाद किया है। बी० जे० के संस्करण में ४२ अध्यायों तक मार्कण्डेय कोई बात नहीं करते किन्तु शेष अध्यायों में वे ही प्रमुख वक्ता हैं। यह एक विचित्र पुराण है। प्रथम अध्याय महाभारत के विषय में जैमिनि द्वारा मार्कण्डेय से पूछे गये चार प्रश्नों के साथ आरम्भ होता है, यथा—(१) निर्गुण वासुदेव ने मानव रूप क्यों धारण किया? (२) द्रौपदी पाँच भाइयों की पत्नी क्योंकर बनी? (३) बलराम ने ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त तीर्थयात्रा से क्यों किया (अपनी मृत्यु से क्यों नहीं किया)? (४) द्रौपदी के पाँच अविवाहित पुत्र, जो स्वयं महान् योद्धा थे, इस प्रकार क्यों असहाय मार डाले गये, जब कि उनके सहायक स्वयं महान् योद्धा पाण्डव लोग थे। मार्कण्डेय उन्हें विन्ध्याचल के बुद्धिमान् पक्षियों के पास जाने की सम्मति देते हैं और इस प्रकार उत्तर चौथे अध्याय से सातवें अध्याय में दिये हुए हैं। यह समझ में नहीं आता कि जैमिनि, जो पुराणों में व्यास के शिष्य कहे गये हैं, व्यास के पास न जा कर मार्कण्डेय के पास प्रश्नोत्तर के लिए क्यों गये। इस पुराण का एक अंश देवीमाहात्म्य या सप्तशती कहलाता है (वेंक० प्रेस संस्करण के अध्याय ७८-९० एवं बी० जे० संस्करण के अध्याय ८१-९३), जिसे आधुनिक विद्वान् क्षेपक मानते हैं। यदि यह क्षेपक भी है तब भी यह १० वीं शताब्दी के पूर्व का है, क्योंकि इसकी प्राचीनतम पाण्डुलिपि की तिथि ९९८ ई० है; यह छठी शती का भी हो सकता है।[11] मार्कण्डेयपुराण में व्रत, तीर्थयात्रा या शान्ति पर श्लोक नहीं हैं, किन्तु आश्रमों के कर्तव्यों, राजधर्म, श्राद्ध, नरकों, कर्मविपाक, सदाचार, योग (दत्तात्रेय द्वारा अलर्क को समझाया गया), कार्तवीर्य की कथाओं, उसके पौत्र कुवलयाश्व की एवं मदालसा की कथाओं, सृष्टि, मन्वन्तरों, भूगोल आदि पर बहुत-सी बातें दी हुई हैं। इसमें कोई साम्प्रदायिक दृष्टिकोण नहीं है। देवी-माहात्म्य को छोड़कर प्रार्थनाएँ एवं स्तोत्र नहीं के बराबर हैं। इसके एक-दूसरे से असम्बद्ध तीन भाग हैं, यथा—१ से ४२ अध्यायों तक ज्ञानी पक्षिगण वक्ता हैं, ४३ से अन्त तक मार्कण्डेय एवं शिष्य क्रोष्टुकि का संवाद चालू रहता है, केवल देवीमाहात्म्य में ऐसा नहीं है, जो कि एक स्वतन्त्र भाग है।

कल्पतरु ने मोक्ष पर मार्कण्डेय के योग से १२० श्लोक उद्धृत किये हैं। इसी प्रकार इसके ब्रह्मचारिकाण्ड में ९, श्राद्ध पर १२, नियतकाल पर १७, गृहस्थ पर १९, राजधर्म पर ३ एवं व्यवहार पर एक श्लोक उद्धृत किया गया

११. सर्वमंगलमांगल्ये शिवे सर्वार्थसाधिके। शरण्ये त्र्यम्बके गौरि नारायणि नमोस्तु ते।। मार्कण्डेय ८८।९, देवीभागवत ७।३०।६६। 'नारायणी' सुपार्श्व पर एक पीठ है। उपर्युक्त 'सर्वमंगलमांगल्ये' दधिमती-माता नामक अभिलेख (जोधपुर में प्राप्त) में, जिसकी तिथि २८९ गुप्त-संवत् है, मिलता है (एपि० इण्डि०, ११, पृ० २९९)। यह अभिलेख सन् ६०८ ई० का है, अतः यह स्पष्ट है कि देवीमाहात्म्य का उद्धृत श्लोक ६०० ई० से पुराना है।

है। अपरार्क ने ८५ श्लोक (४२ योग पर, शेष श्राद्ध, दान, आतिथ्य, शुद्धि आदि पर) लिये हैं। स्मृतिचन्द्रिका ने १५ श्लोक आह्निक पर, ४० श्राद्ध पर उद्धृत किये हैं। मार्कण्डेय ने कतिपय श्लोक मनु एवं महाभारत से लिये हैं। मार्कण्डेय में लम्बे-लम्बे रूपक भी आये हैं, यथा ३।५९-७० (जहाँ प्रज्ञा को दुर्ग-भित्ति एवं आत्मा को उसमें निवास करने वाला राजा कहा गया है) एवं ३५।८-१३ (अहमित्यंकुरोत्पन्नः आदि)। इसमें बहु विख्यात यह विचार आया है कि नारियों को अपने जन्म के घर में बहुत दिनों तक रहना श्रेयस्कर नहीं है, बान्धवों की यही इच्छा रहती है कि विवाहित स्त्री अपने पति के गृह में रहे।[12] मार्कण्डेय का कथन है कि दुःख का एकमात्र कारण है स्वत्व (अर्थात् यह मेरा है) और निर्वृत्ति है इसका अभाव (अर्थात् यह मेरा नहीं है)।[13] अध्याय १६०।३० में लग्न एवं होरा का उल्लेख है। इसमें गीता का यह सिद्धान्त आया है कि बिना फल की इच्छा के किया गया कर्म व्यक्ति को संसार के बंधन से नहीं बाँधता। दूसरी ओर इन पुराण में उन दत्त या दत्तात्रेय की कथा भी आयी है[14], जिन्होंने अलर्क को योग की शिक्षा दी थी (अध्याय १६ से आगे) और जो विष्णु के अवतार के रूप में वर्णित हैं तथा मद्यप, स्त्रियों की संगति के विषयी एवं सह्याद्रि पर पत्थर एवं लकड़ी से बने जलाशय के पास रहने वाले कहे गये हैं (१६।१३२) तथा अवधूत के रूप में उल्लिखित हैं (१७।३)। ५४ वें अध्याय में ऐसा आया है (जैसा कि हमने देख लिया है, ब्रह्माण्ड २।१६।४३-४४) कि सह्य की श्रेणियों के उत्तर में एवं गोदावरी के सन्निकट जो स्थान है वह विश्व में सबसे अधिक रमणीक है।

यह पुराण आरम्भिक पुराणों में परिगणित है और इसकी तिथि चौथी एवं छठी शतियों के बीच में कहीं पड़ सकती है।

लिंगपुराण (वेंकटेश्वर प्रेस संस्करण)—जैसा कि इसमें (२।५) आया है, इसमें ११,००० श्लोक हैं। कल्पतरु ने तीर्थ की चर्चा में इससे अविमुक्तक (बनारस, अब इसे वाराणसी कहा जाने लगा है) एवं इसके अन्य उपतीर्थों के विषय में लगभग १००० श्लोक उद्धृत किये हैं। अपरार्क ने अष्टमी एवं चतुर्दशी की तिथियों में शिवपूजा एवं ग्रहणों में स्नान एवं श्राद्ध के विषय में छः श्लोक उद्धृत किये हैं। स्मृतिचन्द्रिका ने ग्रहण-स्नान, वेदाध्ययन आदि के विषय में इससे कुछ श्लोक ग्रहण किये हैं। दानसागर (पृ० ७, श्लोक ६४) के मत से ६,००० श्लोकों वाला एक अन्य लिंगपुराण भी था जिसका उसने उपयोग नहीं किया। देखिए ह० (इण्डियन कल्चर, जिल्द ४, पृ० ४१५-४२१ एवं पी० आर० एच० आर०, पृ० ९२-९६)।

१२. बान्धवेषु चिरं वासो नारीणां न यशस्करः। मनोरथो बान्धवानां नार्या भर्तृगृहे स्थितिः॥ मार्क० ७४।१९। मिलाइए शाकुन्तल ५ 'सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशंकते।'

१३. ममेति मूलं दुःखस्य न ममेति च निर्वृतिः। मार्क० ३५।६; न च बन्धाय तत्कर्म भवत्यनभिसंधितम्। मार्क० ९२।१५।

१४. दत्तात्रेय एवं कार्तवीर्य को दिये गये उनके वरों की गाथा कई पुराणों में आयी है। देखिए मत्स्य (४३।१५), ब्रह्म (१३।१६०)। ब्रह्माण्ड (३।८।८४) में एक पौराणिक श्लोक उद्धृत है: 'अत्रेः पुत्रं महात्मानं शान्तात्मानमकल्मषम्। दत्तात्रेयं तनुं विष्णोः पुराणज्ञाः प्रचक्षते॥' भागवत (१।३।५२) में विष्णु के २२ अवतार उल्लिखित हैं, जिनमें दत्तात्रेय छठे हैं, जिन्होंने अलर्क एवं प्रह्लाद को आन्वीक्षिकी (अध्यात्मविद्या) का ज्ञान दिया। मार्क० (वेंक० प्रेस, १७।१०।१३) में दत्तात्रेय ने कहा है: 'ये च मां पूजयिष्यन्ति गन्धमाल्यादिभिर्नराः। मांसमद्योपहारैश्च मिष्टान्नैश्चात्मसंयतैः॥...तेषामहं परां पुष्टिं पुत्रदारधनादिकीम्। प्रदास्याम्यवधूतश्च हनिष्याम्यवमन्यताम्॥'

वराहपुराण (बी० आई० संस्करण)—इसमें २१७ अध्याय एवं ९६५४ श्लोक हैं, कुछ अध्याय पूर्णतया गद्य में हैं (यथा ८१-८३, ८६-८७ एवं भुवनकोश पर ७४) तथा कुछ गद्य एवं पद्य दोनों में हैं (यथा ८०, ८४, ८५, ८८ एवं ८९)। यह वैष्णव पुराण है और वराहावतार में विष्णु द्वारा पृथिवी से कहा गया माना गया है। यह द्रष्टव्य है कि इस पुराण में व्यास नहीं आये हैं, यद्यपि सूत कई अध्यायों (यथा १, २, ३९, ५०, १२७, १३७-१३८, १४८, १५१, १८१, २१३) के आरम्भ में आये हैं। इसमें व्रत, तीर्थ, दान, मूर्तियाँ एवं उनकी पूजा, आशौच, श्राद्ध, कर्म-विपाक, नरक, जगत्सृष्टि, भूगोल, प्रायश्चित्त आदि धर्मशास्त्रीय सामान्य विषयों पर चर्चा की गयी है। कल्पतरु ने १५० श्लोक व्रत पर, ४० श्राद्ध पर, २५० तीर्थ पर, १७ नियतकाल पर, ५ दान पर एवं ४ गृहस्थकाण्ड पर उद्धृत किये हैं। एक विचित्रता यह है कि इसने लोहारगल एवं स्तुतस्वामी नामक ऐसे तीर्थों का उल्लेख किया है, जो अन्य पुराणों में नहीं पाये जाते। अपरार्क ने कई विषयों में इसे उद्धृत किया है।

ब्रह्मपुराण ने वराहपुराण को कन्याराशि में प्राप्त सूर्य की स्थिति में पौर्णमासी के दिन पितरों के श्राद्ध के विषय में उद्धृत किया है। भविष्योत्तरपुराण (३२।१२) ने भी इसे उद्धृत किया है। वराह ने नन्दवर्धन नामक शक राजकुमार की चर्चा की है (१२२।३४) और एक शक राजा का उल्लेख किया है (१२२।५६)।

देखिए ह० (ए० बी० ओ० आर० आई०, जिल्द १८, पृ० ३२१-३३७)। वराहपुराण की तिथि के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। यद्यपि यह आरम्भिक पुराणों में नहीं आता, तब भी यह १० वीं शती के पूर्व का अवश्य माना जा सकता है।

वामनपुराण (वेंक० प्रेस संस्करण)—मत्स्य, वायु, वराह आदि की तुलना में यह एक छोटा पुराण है। वेंकटेश्वर प्रेस के संस्करण में ५४५१ श्लोक हैं। अध्याय २६, ४४ एवं ९३ गद्य में हैं। इसके विस्तार के लिए इसमें बहुत-सी कथाएँ हैं, यथा—शंकर द्वारा ब्रह्मा का एक सिर काट लेना; प्रह्लाद एवं उसके पौत्र बलि तथा उसके (बलि के) अधःपतन की कथा; देवी की महत्ता एवं उसके वीरोचित कार्य; देवों की प्रार्थना पर शिव एवं उमा का विवाह; कार्तिकेय का जन्म एवं उनके विभिन्न नामों की व्याख्या; बलात्कार करने के अपराधी एवं शुक्र द्वारा शापित दण्ड की कथा; वसिष्ठ एवं विश्वामित्र का वैमनस्य; गजेन्द्रमोक्ष आदि। इसमें सामान्य धर्मशास्त्रीय विषयों की संक्षिप्त चर्चा है, यथा—तीर्थ, सदाचार, आश्रमधर्म, सामान्य धर्म, व्रत, कर्मविपाक आदि। कल्पतरु ने तीर्थ पर ८८ श्लोक, व्रत पर ८०, दान पर १४ श्लोक और अपरार्क ने नियतकाल पर ११ श्लोक उद्धृत किये हैं।

वामनपुराण ने कामशास्त्रों (९१।७३) एवं मंगलवार (४१।२४) का उल्लेख किया है। इसने स्पष्ट रूप से मत्स्य को सर्वोत्तम पुराण माना है। उस दण्ड की कथा, जिसने शुक्र की कन्या के साथ बलात्कार करना चाहा था और जो अपने राज्य के साथ नाश को प्राप्त हुआ लगता है, कौटिल्य के अर्थशास्त्र की प्रतिध्वनि है (दाण्डक्यो नाम भोजः कामाद् ब्राह्मणकन्याम् अभिमन्यमानः सबन्धुराष्ट्रो विननाश।' १।६, पृ० ११)। इसमें आया है कि राजा को राजा ('राजन्') इसलिए कहा जाता है कि वह प्रजा का रंजन करता है। यही बात कालिदास ने भी कही है।[१५] इसमें आया है कि उमा को 'उमा' इसलिए कहा गया क्योंकि उसे 'उ, मा' कहकर तप करने से मना किया गया था। यह कहा गया है कि शिव ने मूँज घास की मेखला पहन कर एवं आषाढ़ (पलाश) का दण्ड धारण कर वैदिक विद्यार्थी का रूप धारण किया था। यह भी कुमारसम्भव (५) की प्रतिध्वनि-सा है। स्मृतिचन्द्रिका (१, पृ० १६८) ने

१५. ततो राजेति शब्दोस्य पृथिव्यां रञ्जनादभूत्। वामन (४७।२४); मिलाइए 'राजा प्रकृतिरञ्जनात्।' रघु० (४।१२); राजा प्रजारञ्जनलब्धवर्णः परन्तपो नाम यथार्थनामा। रघु० (६।२१)।

वामन से दो श्लोक उद्धृत किये हैं, जिनमें यह आया है कि व्यक्ति को स्नान एवं होम के उपरान्त कुछ शुभ पदार्थों को स्पर्श करके व्यवसाय आदि के लिए घर के बाहर जाना चाहिए।

उपर्युक्त बातों के आधार पर वामनपुराण को ६०० एवं ९०० ई० के मध्य में कहीं रखा जा सकता है। देखिए ह० (इण्डि० हिस्ट्रॉ०, क्वा०, जिल्द ११, पृ० ११५-१३० एवं पी० आर० एच० आर०, पृ० ७६-९२)।

वायुपुराण (आनन्दाश्रम संस्करण)—इसमें ११२ अध्याय एवं १०,९९१ श्लोक हैं। लगता है, ब्रह्माण्ड की भाँति यह भी चार पादों में विभाजित है, यथा—प्रक्रिया (अध्याय १-६), अनुषंग (अध्याय ७-६४), उपोद्घात (६५-९९) एवं उपसंहार (१००-११२)। वराह की भाँति इसका भी आरम्भ 'नारायणं नमस्कृत्य' से होता है। दूसरे श्लोक में व्यास की प्रशस्ति गायी गयी है जो अन्य संस्करणों में नहीं पायी जाती। तीसरे श्लोक में शिवभक्ति की ओर निर्देश है। १०४ वाँ अध्याय बहुत-से संस्करणों में उपलब्ध नहीं है और 'गयामाहात्म्य' वाले अन्तिम अध्याय, कुछ लेखकों के मत से, पश्चात्कालीन परिवर्धन हैं। बहुत-से अध्यायों में शिवपूजा की ओर विशेष संकेत है, लगता है यह कुछ पक्षपात है, यथा २०।३१-३५, २४।९१-१६५, ५५ एवं १०१।२१५-३३०। सम्भवतः इसी पक्षपात को दूर करने के लिए अथवा साम्प्रदायिक सन्तुलन के लिए गयामाहात्म्य के अध्याय जोड़ दिये गये हैं। इतना ही नहीं, अध्याय ९८ में विष्णु की प्रशंसा है और दत्तात्रेय, व्यास, कल्की विष्णु के अपवतार कहे गये हैं, किन्तु बुद्ध का उल्लेख नहीं हुआ है। अध्याय ९९ सबसे बड़ा है, इसमें ४६४ श्लोक हैं और इससे में बहुत-सी प्राचीन परिकल्पित एवं ऐतिहासिक कथाएँ हैं। इस पुराण में कुछ ऐसे श्लोक हैं जो महाभारत, मनु एवं मत्स्य में पाये जाते हैं। इस पुराण में भी मत्स्य की भाँति धर्मशास्त्रीय सामग्री प्रचुर मात्रा में पायी जाती है। यह पुराण प्राचीनतम एवं अत्यन्त प्रामाणिक पुराणों में परिगणित है; किन्तु इसमें कुछ पश्चात्कालीन क्षेपक एवं परिवर्धन भी हैं।

कल्पतरु ने इसके उद्धरण व्रत एवं नियतकाल के विभागों को छोड़ कर कतिपय अन्य विभागों में लिये हैं। श्राद्ध पर १६० श्लोक, मोक्ष पर ३५, तीर्थ पर २२, दान पर ७, ब्रह्मचारी पर ५ एवं गृहस्थ पर ५ श्लोक उद्धृत हैं। अपरार्क ने लगभग ७५ श्लोक (६० श्राद्ध पर तथा अन्य १५ उपवास, द्रव्य शुद्धि, दान, संन्यास एवं योग पर हैं) उद्धृत किये हैं। स्मृतिचन्द्रिका ने श्राद्ध, अतिथि, अग्निहोत्र एवं समिधा पर २४ श्लोक उद्धृत किये हैं।

वायु ने गुप्त-वंश की ओर एक चलता संकेत कर दिया है। इसे पाँच वर्षों का एक युग विदित है (५०।१८३)। इसने मेष, तुला (५०।१९६), मकर एवं सिंह (जिसमें बृहस्पति भी है) की चर्चा (८२।४१-४२) भी की है। अध्याय ८७ में पूर्वाचार्यों के सिद्धान्तों के आधार पर गीतालंकारों का वर्णन किया है। ब्रह्माण्ड का अध्याय (३।६२) उसी विषय पर है जो वायु में है और श्लोक भी समान ही हैं।

वायु में गुप्त-वंश की चर्चा आयी है और बाण ने अपने हर्षचरित एवं कादम्बरी में इसका उल्लेख किया है अतः इसकी तिथि ३५० ई० एवं ५५० ई० के बीच में कहीं होगी। शंकराचार्य ने अपने वेदान्तसूत्र में एक श्लोक जिस पुराण से उद्धृत किया है वह वायुपुराण ही है (वे० सू० २।१।१=वायु० १।२०५), केवल 'नारायण' शब्द के बदले वायु में 'महेश्वर' रखा गया है। और भी देखिए वायु ४।२७-२८=वे० सू० १।४।१; वायु ९।१२०=वे० सू० १।२।२५। थोड़े-बहुत अन्तरों के साथ बात एक ही है। योगसूत्र (१।२५) पर वाचस्पति ने तत्त्ववैशारदी में वायु (१२।३३ एवं १०।६५-६६) को उद्धृत किया है।

देखिए, प्रो० दीक्षितार का लेख 'सम आस्पेक्ट्स आव दि वायुपुराण' (१९३३, ५२ पृष्ठों में, मद्रास यूनि०); ह० (इण्डि० हिस्ट्रॉ० क्वा०, जिल्द १४, पृ० १३१-१३९ एवं पी० आर० एच० आर०, पृ० १३-१७); श्री डी० आर० पाटिल का 'कल्चरल हिस्ट्री फ्राम दि वायुपुराण' (१९४६, पूना, पी-एच्० डी० अनुसंधान)।

विष्णुपुराण—(वेंक० प्रेस संस्करण एवं शक संवत् १८२४ में मेसर्स गोपाल नारायण एवं कम्पनी द्वारा प्रकाशित, जिसमें रत्नगर्भ भट्टाचार्य की टीका वैष्णवाकूतचन्द्रिका तथा विष्णुचित्ती नामक एक अन्य टीका भी है)। आज का (वेंक० प्रेस वाला) संस्करण ६ अंशों, १२६ अध्यायों एवं लगभग ६००० श्लोकों में विभाजित है। गद्य में भी कई अध्याय हैं, यथा चौथे अंश में अध्याय ७, ८ एवं ९; गद्य एवं पद्य वाले अध्याय हैं १, २, ६, ११, १२ आदि जो चतुर्थ अंश के हैं। पंच-लक्षण रूप में यह पुराण अन्य पुराणों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह वसिष्ठ के पुत्र पराशर द्वारा मैत्रेय के प्रति कहा गया है। पराशर ने इसे सारस्वत से, सारस्वत ने नर्मदा के तट पर राजा पुरुकुत्स से सुना था और पुरुकुत्स ने दक्ष आदि से तथा दक्ष आदि ने इसे ब्रह्मा से सुना था।

ब्रह्माण्ड (३।६८।९७-१०३) के सात श्लोक विष्णु (४।१०।२३-२७) से मिलते हैं (उस विषय में जो ययाति ने तृष्णा के बारे में कहा है)। यही ब्रह्मपुराण में भी है (१२।४०-४६)। लगता है, सभी ने इस विषय में महाभारत (आदिपर्व ७५।४४, ८५।९ एवं अनुशासन ७।२१) से उधार लिया है। मिताक्षरा (याज्ञ० ३।६) ने नारायण-बलि पर विष्णुपुराण से १४ श्लोक उद्धृत किये हैं। कल्पतरु ने मोक्ष पर २५०, नियतकाल पर ७०, ब्रह्मचारी पर २१, श्राद्ध पर २८, तीर्थ पर २१, गृहस्थकाण्ड पर ४५ श्लोक लिये हैं। अपरार्क ने विष्णुपुराण से ७५ एवं स्मृति-च० ने १०० श्लोक उद्धृत किये हैं। काव्यप्रकाश (४) ने इससे (५।१३।२१-२२) दो श्लोक लिये हैं, जिनमें एक गोप-कन्या द्वारा कृष्णभक्ति से मोक्ष-पद की प्राप्ति की सूचना दी हुई है (यहाँ अतिशयोक्ति पर आधारित रस-ध्वनि के उदाहरण हैं)। कहीं-कहीं विष्णुपुराण में अद्वैत दर्शन का सिद्धान्त विवेचित है[१६]—'जो मोक्ष की इच्छा रखता है उसे चाहिए कि वह सब के साथ समान व्यवहार करने का प्रयत्न करे, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष एवं रेंगने वाले जीव अनन्त विष्णु के ही विभिन्न रूप हैं, जो यह जानता है उसे चाहिए कि वह इस विश्व को अपने समान ही जाने।' एक अन्य स्थान पर विष्णुपुराण में आया है[१७]—'मन ही मनुष्यों के बन्धन एवं मोक्ष का कारण है; वह मन जो विषय-संगी है बन्धनयुक्त होता है और जब वह निर्विषय होता है तो मोक्ष प्राप्त कराने वाला होता है।' यह पुराण गीता के मूल सिद्धान्त की ओर भी ले जाता है, यथा 'बिना फल की इच्छा किये जो कर्म किया जाता है वह बन्धन की ओर नहीं ले जाता।'[१८]

विष्णुपुराण की तिथि निश्चित करना कठिन है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यह प्राचीन पुराणों में परिगणित है और इसकी बातें बहुत अधिक प्रक्षिप्त नहीं हैं। कल्पतरु, अपरार्क एवं स्मृतिचन्द्रिका में उद्धृत बातें आज के संस्करण में उपलब्ध हैं, इससे यह सिद्ध है कि लगभग १००० वर्षों से यह ज्यों-का-त्यों है। यह द्रष्टव्य है कि अन्य पुराणों की भाँति इसमें व्यास एवं सूत बहुत महत्त्वपूर्ण हाथ नहीं रखते। जैसा कि कुछ अन्य पुराणों में भी आया है, इसका कथन है कि व्यास के चार शिष्य थे, जिन्हें उन्होंने वेद सिखाये और पाँचवें शिष्य सूत लोमहर्षण थे (३। अध्याय ३-७)। किन्तु इस पुराण के वर्णनकर्ता के रूप में सूत का दर्शन नहीं होता। चौथे अंश में एक

१६. यतितव्यं समत्वे च निर्वाणमपि चेच्छता। देवा मनुष्याः पशवः पक्षिवृक्षसरीसृपाः॥ रूपमेतदनन्तस्य विष्णोर्भिन्नमिव स्थितम्। एतद् विजानता सर्वं जगत्स्थावरजंगमम्। द्रष्टव्यमात्मवद्विष्णुर्यतोऽयं विश्वरूपधृक्॥ विष्णुपु० (१।१९।४६-४८)।

१७. मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयासंगि मुक्त्यै निर्विषयं मनः॥ विष्णुपु० ६।७।२८।

१८. बुभुजे विषयान् कर्म चक्रे चानभिसंहितम्। विष्णु ६।७।१०५; 'तत्कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तये। विष्णुपु० १।१९।४१।

अवलोकनीय बात यह है कि इसने शाक्य, शुद्धोदन एवं राहुल का उल्लेख किया है और ऐसा आया है कि शुद्धोदन इक्ष्वाकुवंश के बृहद्बल से २३ वीं पीढ़ी में उत्पन्न हुआ था। क्षेपकों की, विशेषत: गद्यांशों में, सम्भावनाएँ स्पष्ट हैं। इसमें **राशियों, लग्न एवं होरा** का उल्लेख हुआ है। वाचस्पति ने अपने योगभाष्य की टीका में (२।३२) यमों एवं नियमों (विष्णु ६।७।३६-३८) का नाम लेकर इस पुराण से बातें उद्धृत की हैं। और देखिए विष्णु० ६।७।४९ एवं योगभाष्य ३।४९। वाचस्पति ने अपना न्यायसूचीनिबन्ध ८८८ वत्सर में लिखा, जिसे विक्रम संवत् मानना चाहिए, क्योंकि वे उत्तर भारतीय थे और 'वत्सर' शब्द का प्रयोग हुआ है न कि 'शक' शब्द का। अतः इस निबन्ध की तिथि हुई सन् ८३१ ई०।

निम्नलिखित निर्देश उपर्युक्त प्रश्न के विषय में पढ़े जा सकते हैं---विल्सन की भूमिका (विष्णुपु०, जिल्द १ का अनुवाद); ह० (विष्णुपु० की तिथि, ए० बी० ओ० आर० आई०, जिल्द १८, पृ० २६५-२७५ एवं पी० आर० एच० आर०, पृ० १९-२६) ने इसे १००-३५० ई० के बीच रखा है; प्रो० दीक्षितार (प्रोसीडिंग, इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, १३ वाँ अधिवेशन, पृ० ४६-५०); जैकोबी (जे० ओ० एस०, ए० बी० एस पृ० ३८६-३९६)। दानसागर ने २३,००० श्लोक वाले एक विष्णुपुराण का उपयोग नहीं किया है। आज के विष्णुपुराण को ३०० ई० एवं ५०० ई० के बीच में कहीं रखना सत्य से बहुत दूर नहीं होगा।

विष्णुधर्मपुराण (उप०)---हमने इसकी तिथि के विषय में चर्चा करते हुए प्रो० हज्रा के विचार पढ़ लिये हैं। प्रो० अशोक चटर्जी ने इसे १२५०-१३२५ ई० के बीच रखा है (ए० बी० ओ० आर० आई०, जिल्द ३८, पृ० ३०५-३०८)। हरप्रसाद शास्त्री का कथन है कि इसकी एक पाण्डुलिपि सन् १०४७ में की गयी। बुहलर ने कहा है कि यह एवं विष्णुधर्मोत्तर अल्बरूनी के मत से धर्म-पुस्तकें हैं (इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, जिल्द १९, पृ० ४०७)। हरप्रसाद शास्त्री के मत के लिए देखिए 'नेपाल ताड़पत्र पाण्डुलिपि' (पृ० ५३)।

विष्णुधर्मोत्तर (उप०, वेंक० प्रेस संस्करण)---यह एक विशद ग्रन्थ है। हमने इस पर पहले भी (गत अध्याय में) पढ़ लिया है। कल्पतरु ने अपने व्रत, तीर्थ, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, राजधर्म, मोक्ष एवं अन्य काण्डों में इससे उद्धरण नहीं लिया है। अपरार्क ने केवल ३० श्लोक (जिनमें २४ दान पर हैं) लिये हैं। स्मृतिच० ने भी ३० श्लोक लिये हैं। किन्तु दानसागर ने दान पर बहुत-से श्लोक उद्धृत किये हैं। यह छठी शती से पुराना और १०वीं शती के पश्चात् का नहीं हो सकता, किन्तु इसके कुछ अंश पश्चात्कालीन क्षेपक या परिवर्धन के रूप में हैं। इसके प्रथम भाग के अध्याय ५२-६५ शंकर-गीता के नाम से विख्यात हैं। कालिकापुराण ने स्पष्ट रूप से (९१।७० एवं ९२।२) विष्णुधर्मोत्तर की ओर संकेत किया है कि उसमें राजनीति एवं सदाचार पर बातें दी हुई हैं।

साम्बपुराण (उप०, वेंक० प्रेस संस्करण)---देखिए ह० ('साम्बपुराण थ्रू दि एजेज', जे० ए० एस० बी०, जिल्द १८, १९५२, पृ० ९१-१११; 'ऑन साम्बपुराण ए शैव ग्रन्थ', ए० बी० ओ० आर० आई०, जिल्द ३६, १९५५, पृ० ६२-८४ एवं 'स्टडीज़ आदि', जिल्द १, पृ० ३२-१०८)। आरम्भिक निबन्धों, यथा---कल्पतरु, अपरार्क या स्मृतिच० ने इससे उद्धरण नहीं लिया है। दानसागर ने इससे चार श्लोक उद्धृत किये हैं। प्रो० हज्रा ने जो यह कहा है कि भविष्य एवं ब्रह्मपुराण ने साम्ब से उद्धरण लिया है, प्रस्तुत लेखक को मान्य नहीं है, क्योंकि साम्बपुराण के विषय में स्वयं प्रो० हज्रा ने विज्ञापित किया है कि इसमें कुछ ऐसे अंश हैं जो भाँति-भाँति के कालों एवं स्थानों में विभिन्न रूप धारण करते रहे हैं। किन्तु इतना कहा जा सकता है कि अल्बरूनी ने सन् १०३० ई० में साम्ब नामक पुराण का उल्लेख किया है।

शिवपुराण (कुछ पुराणों के मत से एक महापुराण)---वेंक० प्रेस द्वारा दो जिल्दों में प्रकाशित, देखिए ह० 'प्रॉब्लेम ऑफ डेटिंग टु शिवपुराण' (अवर हेरिटेज, कलकत्ता, १९५३, जिल्द १, भाग १, पृ० ४६-४८)। डा० पुसल्कर

(स्टडीज इन एपिक्स एण्ड पुराणज़, पृ० ३१-४१) का कथन है कि मुद्रित वायु एक शुद्ध महापुराण है तथा शिवपुराण पश्चात्कालीन कृति है और वह मात्र उपपुराण है। अल्बरूनी (सचौ; जिल्द १, पृ० १३१) में इसके विषय का प्राचीनतम संकेत एवं उल्लेख है। दानसागर ने इसे उद्धृत किया है, किन्तु कल्पतरु, अपरार्क एवं स्मृतिच० ने नहीं। यह सात संहिताओं में विभक्त है, यथा—विद्येश्वर, रुद्रसंहिता (सृष्टि, सती, पार्वती, कुमार एवं युद्ध नामक पाँच भागों में), शतरुद्र, कोटिरुद्र, उमा, कैलास, वायवीय (दो भागों में)। इसमें लगभग २३,००० श्लोक हैं। शतरुद्रसंहिता (अध्याय ४२) में १२ ज्योतिर्लिंगों का उल्लेख है, वे रुद्र के अवतार कहे गये हैं और उनका वर्णन उपस्थित किया गया है। कोटिरुद्रसंहिता (अध्याय ३५) में शिव के एक सहस्र नाम दिये हुए हैं। कैलाससं० (अध्याय ५) में पूजा के मण्डल का वर्णन है तथा अध्याय ७।५-२६ में कतिपय मुद्राओं एवं न्यासों की व्यवस्था है। रुद्रसंहिता के 'पार्वती' भाग में जो वर्णन है वह इस पुराण को कुमारसम्भव के समान प्रकट कर देता है।

शिवधर्म—देखिए ह० (जे० जी० जे० आर० आई०, जिल्द १०, पृ० १-२०); अपरार्क (पृ० २७४, याज्ञ० १।१९३) ने इससे एक श्लोक उद्धृत किया है, जो याज्ञवल्क्यस्मृति का अन्वय मात्र है।

सौर (उप०)—देखिए ह० (एन० आई० ए०, जिल्द ६, पृ० १०३-१११ एवं १२१-१२९; बी० बी०, जिल्द ४, पृ० २१२-२१६ एवं स्टडीज, जिल्द १, पृ० ३४८।

स्कन्दपुराण—यह विशालतम पुराण है और इससे सम्बन्धित समस्याएँ बड़ी चक्करदार हैं। यह दो रूपों में प्राप्त है; एक सात खण्डों में विभाजित है, यथा—माहेश्वर, वैष्णव, ब्राह्म, काशी, आवन्त्य, नागर एवं प्रभास; और दूसरा ६ संहिताओं में विभक्त है, यथा—सनत्कुमार, सूत, शांकरी, वैष्णवी, ब्राह्मी एवं सौर। वेंक० प्रेस ने सात खण्डों वाला स्कन्द प्रकाशित किया है और आनन्दाश्रम प्रेस ने माधवाचार्य की टीका के साथ सूतसंहिता का प्रकाशन किया है। इसके विस्तार के विषय में कई पाठ हैं, यथा ८१,००० श्लोक, १,००,००० श्लोक (पी० आर० एच० आर०, पृ० १५८), ८६,००० (वही, पृ० १५९)। इस पुराण का नाम स्कन्द तो है, किन्तु स्कन्द देवता का वर्णन विशद एवं प्रमुख रूप से नहीं हुआ है। स्कन्द का नाम पद्म (५।५९।२) में आया है। स्कन्द (१।२।६।७९) सर्वथा किरातार्जुनीय (२।३० 'सहसा विदधीत न क्रियाम्') के समान है।[19] स्कन्द का काशीखण्ड (२४।८) श्लेष एवं परिसंख्या में बाण की शैली के समान है, यथा—'यत्र क्षपणका इव दृश्यन्ते मूलधारिणः' (श्लोक २१) या 'विभ्रमो यत्र नारीषु न विद्वत्सु च कर्हिचित्' (श्लोक ९)। नाट्यवेद एवं अर्थशास्त्र का उल्लेख काशीखण्ड (पूर्वार्ध ७।४-५) में हुआ है। धन्वन्तरि एवं चरक का उल्लेख काशीखण्ड (पूर्वार्ध १।७१) में आयुर्वेद पर हुआ है। 'झोटिंग' शब्द काशीखण्ड (७२।७४) में आया है (झोटिंगा राक्षसाः क्रूराः)। आरम्भिक टीकाओं एवं निबन्धों में धर्मशास्त्र-विषयक प्रकरणों के सिलसिले में स्कन्द से उद्धरण लिये गये हैं। मिताक्षरा (याज्ञ० २।२९०) ने वेश्या की स्थिति के विषय में चर्चा करते हुए इसका उल्लेख किया है। कल्पतरु ने व्रत पर १५, तीर्थ पर ९२, दान पर ४४, नियतकाल पर ६३, राजधर्म (कौमुदीमहोत्सव) पर १८, श्राद्धकाण्ड में केवल ४ एवं गृहस्थकाण्ड में २ श्लोक उद्धृत किये हैं। अपरार्क ने केवल १९ श्लोक लिये हैं, जिनमें एक उद्धरण तान्त्रिक परम्परा में आ गया है।[20] दानसागर ने दान पर इससे ४८

१९. सहसा न क्रियां कुर्यात् पदमेतन्महापदाम्। विमृश्यकारिणं धीरं वृणते सर्वसम्पदः॥ स्कन्द (१।२।६।७९)।

२०. अपरार्क ने याज्ञ० (१।२०४) की टीका में गोदान के विषय में चर्चा करते समय स्कन्दपुराण को उद्धृत किया है। साढ़े पाँच श्लोकों को उद्धृत करने के उपरान्त एक गद्य मन्त्र इस प्रकार उद्धृत है—'ओं ह्रीं नमो

श्लोक लिये हैं और स्मृतिच० ने कुल २३। इस पुराण के इतने बड़े आकार के रहने पर भी इसके उद्धरण बहुत कम लिये गये हैं। यह एक विचित्र बात है। एक श्लोक में कालिदास की ध्वनि मिलती है और देवल का मत भी एक स्थान पर झलक उठता है।[21] इतने विशाल ग्रन्थ में क्षेपकों का आ जाना सरल है। अतः तिथि-निश्चय करना कठिन है। नेपाल दरबार पुस्तकालय की एक पाण्डुलिपि सातवीं शती की है, जैसा कि हरप्रसाद शास्त्री का कथन है। अतः यदि हम स्कन्दपुराण की तिथि के विषय में यह कहें कि यह सातवीं शती के पूर्व नहीं रखा जा सकता और न नवीं शती के पश्चात् का हो सकता है, तो हम सत्य से बहुत दूर नहीं होंगे।

भगवति ब्रह्ममातर्विष्णुभगिनि रुद्रदेवते सर्वपापविमोचिनि स्वरूपं स्मर इडे इडान्ते हव्ये चान्द्रे धृतिमति सरस्वति सुश्रुते एह्येहि हुंकरु हुंकुरु सर्वलोकमये एह्यागच्छागच्छ स्वाहा। इति धेनुकर्णजपः।'

२१. मरणं प्रकृतिश्चैव जीवितं विकृतिर्यथा। स्कन्द (१।२।१०।२७); मिलाइए 'मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः॥' रघुवंश (८।८७); त्रीणि ज्योतींषि पुरुष इति वै देवलोऽब्रवीत्। भार्या कर्म च विद्या च संसाध्यं यत्नतस्त्रयम्॥ स्कन्द (१।२।१५।१०)।

अध्याय २४

धर्मशास्त्र पर पुराणों का प्रभाव

साहित्यिक कृतियों एवं समाज का एक-दूसरे पर घात-प्रति-घात होता है। ईसा के पूर्व एवं पश्चात् की शतियों तक भारतीय समाज ने बौद्ध धर्म, जैन धर्म एवं अन्य विरोधी सम्प्रदायों द्वारा टुकड़े-टुकड़े हो जाने के कारण एवं यूनानियों, शकों, पह्लवों, हूणों तथा अन्य बाह्य लोगों के आक्रमणों एवं अत्याचारों के फलस्वरूप वैदिक धर्मावलम्बी चिन्तकों को सोचने के लिए विवश किया और उन्हें ऐसे ग्रन्थों के प्रणयन के लिए अनुप्राणित एवं अभिप्रेरित किया जिनमें नये दृष्टिकोणों एवं व्यवहारों का समावेश हो और उनके फलस्वरूप वैदिक एवं स्मृति-धर्म की पुनर्व्याख्या हो सके। जब ये ग्रन्थ प्रामाणिक एवं महत्त्वपूर्ण हो गये तो वेद के अनुयायियों का प्रयास यही था कि वे उनका अनुसरण करें और यथासम्भव पुराणों की आवश्यकताओं के अनुसार व्यवहारों एवं धार्मिक कृत्यों में अनुकूलता स्थापित करें। हमें यही देखना है कि पुराणों ने किस प्रकार पुनर्व्यवस्थापन की समस्या का समाधान किया। हमें यह अवश्य जानना चाहिए कि प्रचलित हिन्दू धार्मिक व्यवहारों से यही प्रकट होता है, जैसा कि प्रत्येक कृत्य के आरम्भ में लिये गये संकल्प से स्पष्ट होता है, कि उनसे श्रुति (वेद), स्मृति एवं पुराणों (श्रुति-स्मृति-पुराणोक्तफलप्राप्त्यर्थम्) द्वारा घोषित फल कर्ता को प्राप्त होता रहे। इस क्रिया के मूल में दो बातें थीं, यथा---(१) बौद्ध धर्म, जैन धर्म की शक्ति एवं मर्यादा तथा विभिन्न उत्पन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के प्रभाव को समाप्त करना[1] तथा (२) बौद्ध धर्म के आकर्षक स्वरूपों से अधिकांश लोगों के मन को हटाना और उनके मन में यह बैठाना कि वे पुनर्व्यवस्थित एवं पुनः प्रकाशित हिन्दू धर्म से उन्हीं सामाजिक एवं आध्यात्मिक लाभों को प्राप्त कर सकते हैं जो बौद्ध धर्म से परिलक्षित अथवा अभिसंधानित होते हैं, तथा यह भी बताना कि वेद के अनुयायियों के धार्मिक सिद्धान्त बौद्ध धर्म की शिक्षाओं से मेल रखते हैं और बौद्ध धर्म की बातें वैदिक व्यवहारों से ही ली गयी हैं। अन्ततोगत्वा बौद्ध धर्म अपने उद्गम स्थान भारत से विलुप्त हो गया। बौद्ध धर्म के भारत से विलुप्त हो जाने के कारणों पर प्रकाश हम इस भाग के अन्त में डालेंगे, किन्तु यहाँ पर इतना तुरत कह देना आवश्यक है कि बौद्ध धर्म के अधःपतन एवं विलुप्त होने के मूल में पुराणों का एक प्रमुख हाथ था, क्योंकि उन्होंने बौद्ध धर्म के बहुत-से सिद्धान्तों पर स्वयं बल दिया तथा उन्हें अपना लिया, यथा---अहिंसा पर बल दिया, बुद्ध को विष्णु का अवतार घोषित कर दिया, निरामिष भोजन को तपस्या का एक प्रमुख अंग मान लिया तथा मठों एवं वैराग्यवाद का उपयोग किया, जैसा कि मनु एवं याज्ञवल्क्य की स्मृतियों में कथित था।[2]

१. महावग्ग (सुत्तनिपात का भाग) में ऐसा आया है कि बुद्ध के समय में ६३ दार्शनिक सम्प्रदाय थे (देखिए सैक्रेड बुक आव दि ईस्ट, जिल्द १०, भाग २, पृ० ९२)।

२. पार्जिटर ('पुराण टेक्स्ट्स आव दि डायनेस्टीज आव दि कलि एज', पृ० २८, पादटिप्पणी) का विचार है कि पौराणिक साहित्य द्वारा हिन्दू धर्म का पुनरुद्धार हुआ और बौद्ध धर्म का अधःपतन हुआ।

पुराणों ने अपने कर्तव्य के पालन में इस बात की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया कि वेद को समझने के लिए इतिहास एवं पुराण का ज्ञान आवश्यक है। एक प्रसिद्ध श्लोक है—'इतिहास एवं पुराण के (अध्ययन एवं व्यवहार) द्वारा वेद को शक्तिशाली बनाना चाहिए; अल्प ज्ञान वाले व्यक्ति से वेद भय करता है, क्योंकि वह (अल्पज्ञ) हानि पहुँचा सकता है।'[3] मनु का कथन है कि वे ब्राह्मण, जिन्होंने वेद का अध्ययन नियमानुकूल (वेदाध्ययन के नियमों के अनुसार) और उन ग्रन्थों के साथ, जो उसे शक्तिशाली बनाते हैं, किया है, शिष्ट कहलाते हैं, और वे वेद के अर्थ को प्रत्यक्ष कराने के हेतु बनते हैं।[4] वायुपुराण में ऐसा बलपूर्वक कथित हुआ है कि जो ब्राह्मण चारों वेदों का उनके (छः) अंगों एवं उपनिषदों के साथ ज्ञाता है, वह विचक्षण या समझदार तब तक नहीं कहा जा सकता जब तक कि पुराणों का ज्ञाता न हो जाय।[5] उपनिषदों में एक ही ब्रह्म से 'आकाश' की सृष्टि के विषय में संक्षेप में संकेत मात्र है (तै० उप० २।१)। यही बात 'तेज' (छा० उप० ६।२।३) एवं 'जल' (छा० उ० ६।२।४) के विषय में भी है। किन्तु पुराणों में विस्तार के साथ इन तत्त्वों की उत्पत्ति एवं विलयन का विवरण पाया जाता है (वायु ४।१७, ब्रह्म १-३, अग्नि १७, ब्रह्माण्ड २।३, कूर्म १।२, ४, ७, ८ आदि)। ऐतरेय ब्राह्मण एवं कठोपनिषद् में उल्लिखित हरिश्चन्द्र एवं नचिकेता की कहानियाँ ब्रह्मपुराण (अध्याय १०४ एवं १५०, हरिश्चन्द्र), सभापर्व (अध्याय १२, हरिश्चन्द्र) एवं अनुशासन (अध्याय ९१, नचिकेता) में पर्याप्त विस्तार के साथ दी हुई हैं। यम एवं यमी का विख्यात कथनोपकथन (ऋ० १०।१०) नरसिंहपुराण (१३।६-३६) में विस्तारित है। विष्णुपुराण (४।६।६४) में पुरूरवा एवं उर्वशी की कथा आयी है और साथ ही साथ ऋग्वेद (१०।९५) की ऋचा की ओर भी संकेत है, किन्तु ऋचा का प्रथम चरण कुछ अशुद्ध रूप से उद्धृत है।[6]

पुराण न केवल अपने को वेद को बल देने वाला कहते हैं, प्रत्युत वे इस प्रक्रिया में बहुत आगे बढ़ जाते हैं। कूर्म में आया है—'इतिहास (महाभारत) के साथ सभी पुराणों को एक ओर रख दो और दूसरी ओर सर्वोत्तम वेद को; ये पुराण (वेद से) भारी पड़ जायेंगे।'[7] महाभारत में भी ऐसा ही साधिकार व्यक्त किया गया है।

३. इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥ आदिपर्व (१।२६७-२६८), वायु (१।२०१), पद्म (५।२।५१-५२), ब्रह्माण्ड (१।१।१७१), वसिष्ठधर्मसूत्र (२७।६१), लघुव्यासस्मृति (२।८६), वृद्धात्रि (अध्याय ३, पृ० ५०, जीवानन्द संस्करण 'प्रतरिष्यति' पढ़ता है)। स्मृतिचन्द्रिका (१, पृ० ३) ने इसे बृहस्पति का श्लोक माना है। प्रायश्चित्ततत्त्व (पृ० ५११) ने इसे वसिष्ठ से उद्धृत किया है। कूर्म (१।२।१९) में ऐसा आया है: 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थानुपबृंहयेत्।' रामानुज ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में इसे उद्धृत किया है और 'प्रतरिष्यति' पढ़ा है।

४. धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः। ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः॥ मनु (१२।१०९)।

५. यो विद्याच्चतुरो वेदान्सांगोपनिषदो द्विजः। न चेत्पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः॥ वायु (१।२००), स्कन्द (प्रभासखण्ड २।९३); पद्म (५।२।५०-५१, यहाँ दूसरी अर्धाली यों पढ़ी गयी है: 'पुराणं च विजानाति यः स तस्माद्विचक्षणः'), ब्रह्माण्ड में प्रथम अर्धाली है (१।१।१७०)।

६. विष्णुपुराण (४।६।६४) में यह गद्यांश आया है: 'ततोऽस्त्वोन्मत्तरूपो जाये हे तिष्ठ मनसि घोरे तिष्ठ वचसि कपटिके तिष्ठेत्येवमनेकप्रकारं सूक्तमवोचत्।' मिलाइए ऋग्वेद (१०।९५।१) 'हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे वचांसि मिश्रा कृणवावहै नु।'

७. एकतस्तु पुराणानि सेतिहासानि कृत्स्नशः। एकत्र परमं वेदमेतदेवातिरिच्यते॥ कूर्म (२।४६।१२९)।

पुराण वेद से अपनी वरीयता अथवा श्रेष्ठपदता (कभी-कभी बराबरी) घोषित करते हैं। मत्स्य (५३।३-११), पद्म (५।१।४५-५२), ब्रह्म (२४५।४), विष्णुपु० (३।६।२०), देवीभागवत (१।३१३) आदि में आया है कि ब्रह्मा ने सब शास्त्रों के पूर्व पुराणों के विषय में सोचा और तब वेद उनके अधरों से टपके। बहुत-से पुराण वेद के समान (वेदसंमित) कहे गये हैं, यथा—वायु (१।११, ४।१२), ब्रह्म (१।२९, २४५।४ एवं २१), विष्णु (१।१।१३, ६।८।१२), पद्म ६।२८२।११६[८] कतिपय पुराण देवों द्वारा कहे गये माने गये हैं, यथा ब्रह्मा (ब्रह्मपुराण १।३०), वायु (वायु १।१९६)। कुछ पुराण विष्णु के अवतारों द्वारा कहे गये हैं, यथा मत्य (१।२६) या वराह (२।१-३)। वेद के वचनों के जप से सभी पाप कट जाते हैं, इसी प्रकार पुराणों के पठन या श्रवण या पाठ से सभी पाप कट जाते हैं (वायु १०३।५८; मत्स्य २९०।२०; विष्णु ६।१।८।३ एवं १२)। कुछ पुराणों ने अपनी प्रशंसा करने में अतिशयोक्ति कर दी है, यथा—वराहपुराण (२१७।१२-१३, २१७।१५-१६) में आया है कि इस पुराण के दस अध्यायों के पढ़ने से वही फल प्राप्त होता है, जो अग्निष्टोम एवं अतिरात्र यज्ञों के सम्पादन से। और देखिए ब्रह्म (२५४। ३४-३५), अग्नि (३८४।१३-३०) एवं देवीभागवत (१२।१३।११-१७)। इतना ही नहीं, पुराण वैदिक यज्ञों से बढ़कर तीर्थ-यात्राओं, व्रतों, भक्ति आदि को मानते हैं। पद्म (१।३८।२ एवं १८) में आया है कि केवल गया जाने या फल्गु में स्नान कर लेने से वही फल प्राप्त होता है, जो अश्वमेध यज्ञ करने से होता है। स्कन्द (१।२।१३।५९-६०) में आया है, 'वेदोक्त यज्ञिय कृत्यों का कोई उपयोग नहीं देखा जाता, उनमें कोई जीवन नहीं है, वे अविद्या के अन्तर्गत हैं और उनसे हिंसा होती है। यदि (यज्ञ का) सम्पादन ईंधन (समिधा) जैसे निर्जीव पदार्थों से होता है, पुष्पों एवं कुशों से होता है तो फल भी वैसा ही होगा, क्योंकि कर्म कारण पर निर्भर रहता है।' देखिए शान्तिपर्व (३३७) जहाँ मुनियों एवं देवों में अन्न या बकरी के मांस की आहुतियों के विषय में चर्चा हुई है। ऋग्वेदीय काल में देवों के यज्ञों में मांस की आहुतियाँ दी जाती थीं, किन्तु कहीं-कहीं ऐसे संकेत मिलते हैं कि उस काल में घृत एवं समिधा की आहुतियों से वही फल मिलता था जो पशु-मांस की आहुतियों से घोषित था—'जो कोई अग्नि के लिए समिधा से या घृत की आहुति से या वेद मन्त्र से या नमित होकर अच्छा यज्ञ करता है, उसी के लिए द्रुतगामी घोड़े दौड़ते हैं और उसका ही यश अत्यन्त द्युतिमान् होता है; उसके पास देवों या मनुष्यों द्वारा किसी भी दिशा से कोई अनिष्ट नहीं पहुँचता' (ऋ० ८।१९।५-६)। एक दूसरा मन्त्र भी है—'हे अग्नि, हम आपके पास अपने हृदय से उत्पन्न ऋक्-मन्त्र के साथ आहुति देते हैं। वे ऋचाएँ आपके यहाँ बैल या साँड़ या गाय हों' (ऋ० ६।१६।५७)।

वेद एवं यज्ञों के विषय में कतिपय उपनिषदों में पायी जाने वाली मनोवृत्ति पुराणों में भी लक्षित होती है, यथा मुण्डकोपनिषद् में आया है—'व्यक्ति को दो विद्याएँ जाननी चाहिए : परा (उच्चतर) एवं अपरा (निम्नतर); अपरा में चारों वेद, शिक्षा, कल्प (पवित्र यज्ञों वाले सूत्र), व्याकरण, छन्द, ज्योतिष सम्मिलित हैं; परा में वह है जिसके द्वारा अक्षर (न मिटने वाली, वास्तविक सत्ता अथवा तत्त्व) का ज्ञान होता है' (१।१।४-५)। इसी उपनिषद् में अपरा विद्या की भर्त्सना भी है—ये यज्ञ अदृढ़ (चूने वाली) नौकाओं के समान हैं जिनमें १८ (व्यक्ति) हैं, जिन पर वे घोषित कर्म निर्भर रहते हैं जो अवर हैं; वे मूर्ख व्यक्ति जो इन कर्मों को सर्वोत्तम समझ अपनाते हैं, पुनः वृद्धा-

एकतश्चतुरो वेदा भारतं चैतदेकतः। पुरा किल सुरैः सर्वैः समेत्य तुलया धृतम्॥ चतुर्भ्यः सरहस्येभ्यो वेदेभ्यो ह्यधिकं यदा। तदाप्रभृति लोकेस्मिन्महाभारतमुच्यते॥ आदिपर्व (१।२७१-२७३)।

८. पुराणं संप्रवक्ष्यामि ब्रह्मोक्तं वेदसंमितम्। वायु १।११; गुरुं प्रणम्य वक्ष्यामि पुराणं वेदसंमितम्। ब्रह्म १।२९; पुराणं नारदोपाख्यमेतद्वेदार्थसंमितम्। नारदीय १।१।३६।

वस्था एवं मृत्यु को प्राप्त होते हैं।'[९] कठोपनिषद् का कथन है कि जो अविद्या एवं विद्या है, दोनों एक दूसरे से बहुत दूर हैं, विपरीत हैं और विभिन्न फल देने वाली हैं।[१०] जब नारद सनत्कुमार के पास गये और उनसे शिक्षा देने के लिए प्रार्थना की तो सनत्कुमार ने पूछा, 'बताओ, तुम कितना जानते हो, तब मैं बताऊँगा कि उसके आगे क्या है।' तब नारद ने बताया कि वे चारों वेद, इतिहासपुराण (नामक) पाँचवाँ वेद, कतिपय अन्य विद्याएँ जानते हैं। इस पर सनत्कुमार ने कहा कि तुमने (नारद ने) जो चार वेद एवं अन्य विद्याएँ पढ़ी हैं, वे नाममात्र हैं। इसके उपरान्त सनत्कुमार ने नारद को क्रमशः परमात्मा का ज्ञान दिया। बृहदारण्यकोपनिषद् (१।४।१०) ने उस व्यक्ति की भर्त्सना की है, जो यह समझ कर कि वह देवता से भिन्न है किसी इष्ट की पूजा करता है। जो व्यक्ति सत्य नहीं जानता, वह देवताओं वाले यज्ञिय पशु के समान है। इसी प्रकार, उपनिषदों के कतिपय वचनों द्वारा व्यक्त होता है कि वे तप, उदारता, ऋजुता, अहिंसा एवं सत्यता को यज्ञ के सम्पादन के बराबर या उससे उत्तम समझते हैं (देखिए छान्दोग्य ३।१७।४, प्रश्न १।१५, मुण्डक १।२।११)।

यद्यपि उपनिषदों के कुछ वचनों में 'परम आत्मा' का ज्ञान चारों वेदों से उत्तम माना गया है, किन्तु सामान्यतः उपनिषदें वेदों को प्रमाण मानती हैं और अपने कथनों की पुष्टि में वेद के मन्त्र उद्धृत करती हैं। उदाहरणार्थ, ऐत० उप० (२।५) ने ऋ० (४।२७।१ : तदुक्तमृषिणा गर्भे नु आदि) को, प्रश्नोपनिषद् (१।११) ने ऋ० (१।१६४।१२ : पंचपादं पितरम्) को, बृहदारण्यकोपनिषद् (२।५।१५।१७ एवं १९) ने ऋ० (१।११६।१२, १।११७।२२, ६।४७।१८ : रूपं रूपं प्रतिरूपो) को उद्धृत किया है। उपनिषदों ने पुनः बल देकर कहा है कि ब्रह्म-विद्या उसी को दी जानी चाहिए जो श्रोत्रिय (वेदज्ञ) हो, जो कर्तव्यशील हो और जिसने शिरोव्रत सम्पादित कर लिया हो।[११] बृह० उप० का कथन है कि वेदाध्ययन, यज्ञों, दानों आदि से ब्रह्म-ज्ञान की तैयारी होती है (अर्थात् ये ब्रह्मज्ञान के उपकरण हैं) : ब्राह्मण (तथा अन्य लोग) वेदाध्ययन, यज्ञों, दानों, तपों एवं उपवास से इसे (परम आत्मा को) जानने की इच्छा करते हैं।[१२] उपर्युक्त बातें स्पष्ट करती हैं कि उपनिषदें वेदों एवं यज्ञों की सम्पूर्णतः भर्त्सना नहीं करतीं, प्रत्युत ब्रह्मज्ञान के लिए इन्हें आवश्यक उपकरण के रूप में स्वीकार करती हैं।

९. द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो-थर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।। मुण्डकोप० (१।१।४-५); प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति।। मुण्डकोप० १।२।७। १८ व्यक्ति ये हैं, १६ पुरोहित, यज्ञकर्ता एवं यज्ञकर्ता की पत्नी। वेदान्तसूत्र (१।२।२१) के भाष्य में शंकराचार्य ने कहा है कि यह श्लोक अपरा विद्या की भर्त्सना के लिए है।

१०. दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता। कठोप० १।२।४।

११. तदेतद् ऋचाभ्युक्तम्। क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः। तेषामेवैतां ब्रह्म-विद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद् यैस्तु चीर्णम्।। मुण्डकोप० ३।२।१०। शिरोव्रत में सिर पर अग्नि रखना होता है (जैसा कि आथर्वण नियम है)। देवीभागवत (११।९।१२-१३) में आया है--'अग्निरित्यादिभिः मन्त्रैः षड्भिः शुभ्रेन भस्मना। सर्वांगोद्धूलनं कुर्यात् शिरोव्रतसमाह्वयम्।।...यावद्विद्योदयस्तावत्तस्य विद्या खलूत्तमा।' अथर्वशिरस् मन्त्र ६ हैं--'अग्निरिति भस्म, वायुरिति भस्म, जलमिति भस्म, स्थलमिति भस्म, व्योमेति भस्म, सर्वं ह्वा इदं भस्म।'

१२. तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन। बृह० उप० ४।४।२२; देखिए गीता १८।५ : यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्। यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।

इसमें सन्देह नहीं कि पुराण यत्र-तत्र अपने को वेदों से श्रेष्ठ ठहराते हैं तथा अपने मूल्य एवं प्रभाव को सिद्ध करते हैं, किन्तु वे उपनिषदों के समान ही वेदों के प्रति मनोवृत्ति रखते हैं। वे वेदों को प्रमाण मानते हैं और कतिपय कृत्यों में वैदिक मन्त्रों का प्रयोग करते हैं। मत्स्य (अध्याय ९३) ने नव-ग्रहों के होम की विधि में वैदिक मन्त्रों का उल्लेख किया है जिनमें ५ मन्त्र याज्ञ० (१।३००-३०१) से भिन्न हैं। देखिए मत्स्य (९३।११-१२)। उद्वाहतत्त्व में रघुनन्दन का कथन है कि 'आ कृष्णेन' तथा अन्य मन्त्र चारों वेदों को मानने वालों में समान हैं। यही बात भवदेव भट्ट ने भी कही है। मत्स्य में ऐसी व्यवस्था है कि जब घर के पास या उसमें (उल्लू जैसे) अशुभ पक्षी देखे जायें या इसी प्रकार पशु चिल्लायें तो होम किया जाना चाहिए और ऋ० (१०।१६५।१-५) की पाँच ऋचाओं के जप के लिए पाँच ब्राह्मणों को नियुक्त करना चाहिए।[13] देवमूर्ति या लिंग की स्थापना की विधि के वर्णन में मत्स्य (अध्याय २६५) ने (उस उत्सव के लिए) विविध ऋचाओं की व्यवस्था दी है। और देखिए अग्निपुराण (४१।६-८) जहाँ मन्दिर-निर्माण के सिलसिले में ऋचाओं का उल्लेख किया गया है, यथा—ऋ० (१०।९।१-३, १०।९।४, ९।५८।१-४) आदि। नारदीयपुराण (२।७३।८३-९०) ने प्रत्येक श्लोक के अन्त में वैदिक प्रार्थना के अंश रखे हैं (ऋ० ७।६६।१६, तै० आ० ४।४।२-५ एवं वाज० सं० ३६।२४ में वे प्रार्थनाएँ हैं)। भागवत का १।२।२१ मुण्डकोपनिषद् (२।२।८) से उद्धृत है।

पुराण बहुत-सी बातों में न-केवल वैदिक मन्त्रों की व्यवस्था करते हैं, प्रत्युत बहुत-से पौराणिक मन्त्रों के प्रयोग की भी चर्चा करते हैं। ऐसा लगता है कि ईसा की प्रथम शती के आरम्भ में ही या कुछ शतियों उपरान्त ही ब्राह्मणों के धार्मिक कृत्यों में वैदिक मन्त्रों के साथ पौराणिक मन्त्र भी व्यवहृत होने लगे। याज्ञ० (१।२२९) में व्यवस्था है कि विश्वेदेवों को श्राद्ध के समय ऋ० (२।४१।१३ : 'हे विश्वेदेव लोग, आइये, मेरे इस आह्वान को सुनिए और इन कुशों पर बैठिए') के मन्त्र के साथ बुलाना चाहिए। इस पर मिताक्षरा (लगभग ११०० ई०) में आया है कि याज्ञ० द्वारा उल्लिखित मन्त्र के साथ स्मार्त मन्त्र का भी प्रयोग होना चाहिए, और वह मन्त्र स्कन्द एवं गरुड़ में पाया जाता है।[14] वायुपुराण ने व्यवस्था दी है कि 'देवों, पितरों, महायोगियों, स्वधा एवं स्वाहा को नमस्कार; वे सदा उपस्थित हैं' नामक मन्त्र[15] का वाचन पिण्डदान के समय श्राद्ध के आरम्भ एवं अन्त में करना चाहिए; जब मन्त्र दुहराया जाता है तो पितर लोग शीघ्र आ जाते हैं और यातुधान लोग भाग जाते हैं, यह मन्त्र पितरों की तीनों लोकों में रक्षा करता है।' इस मन्त्र को 'सप्तार्चिः' (जिसमें सात ज्वाला हों) की संज्ञा मिली है (वायु ७४।२०, ब्रह्माण्ड ३।११।३०, विष्णुधर्मोत्तर १।१४०।६८, हेमाद्रि, श्राद्ध, पृ० १०७९ एवं १२०८, जिसने ऐसा

१३. मृगपक्षिविकारेषु कुर्याद्धोमं सदक्षिणम्। देवाः कपोत इति वा जप्तव्याः पञ्चभिर्द्विजैः॥ मत्स्य २३७। १३।

१४. मन्त्र यह है—'आगच्छन्तु महाभागा विश्वेदेवा महाबलाः। ये यत्र विहिताः श्राद्धे सावधाना भवन्तु ते॥ यह गरुड़पुराण (१।२१८।७) है। किन्तु इसे अपरार्क ने पृ० ४७८ पर बृहस्पति का एवं पृ० ४८१ पर ब्रह्मपुराण का कहा है।

१५. मन्त्र यह है—'देवताभ्यः पितृभ्यश्च महायोगिभ्य एव च। नमः स्वधायै स्वाहायै नित्यमेव भवन्त्युत॥ वायु ७४।१५-१६। और देखिए ब्रह्माण्ड (३।११।१७-१८)। मिताक्षरा (याज्ञ० १।१२१) में आया है कि इस मन्त्र का प्रयोग शूद्रों द्वारा दैनिक पंच यज्ञों में होना चाहिए, किन्तु कुछ अन्य लोगों का कथन है कि शूद्रों को केवल 'नमः' कहने का ही अधिकार है।

कहा है कि यह सात पुराणों में आया है)। अग्निपुराण के अध्याय २०६ में अगस्त्य को अर्घ्य देते समय ऋ० (१।१७९।६) को श्लोक १३ के रूप में रखा गया है।

पुराणों ने न-केवल वैदिक संहिताओं से ही कुछ कृत्यों के लिये मन्त्र लिये हैं, प्रत्युत उन्होंने बहुत-से उपनिषद्-वचनों को कुछ परिवर्तनों के साथ प्रयोग में लाने की व्यवस्था कर दी है। उदाहरणार्थ, कूर्म (२।१। १२, १३ एवं १८) ने तै० उप० (२।४ : यतो वाचो निवर्तन्ते), श्वेताश्वतरोपनिषद् (३।८ : वेदाहमेतं पुरुषं) आदि से लिया है। विष्णुपु० (६।५।६५) का पद्य है—'द्वे विद्ये वेदितव्ये इति चाथर्वणी श्रुतिः', जिसमें मुण्डक उप० (१।१।४) का उद्धरण है। वायु (२०।५ एवं २०।२८) क्रम से मुण्डकोपनिषद् (२।२।४) एवं श्वेताश्वतरोपनिषद् (४।५) हैं। वायु (१४।१३) सर्वथा श्वेताश्वतर० (३।१६) है और यही वामन (४७।६४-६५) में है। वामन (४७।६७) ऋ० (१।१०।१) के समान ही है।

इससे कुछ मनोरंजक प्रश्न उठ खड़े होते हैं। शूद्रों को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं है। किन्तु वास्तव में, जैसा कि हमने ऊपर देख लिया है, पुराणों में बहुत-से वैदिक मन्त्र हैं। भागवतपुराण (१।४।२५) में आया है—'स्त्रियों, शूद्रों एवं केवल नामधारी ब्राह्मणों को वेद का अधिकार नहीं है; अतः मुनि (व्यास) ने कृपा करके उनके लिए भारत का आख्यान प्रस्तुत किया।'[16] देवीभागवत का कथन है—'स्त्रियों, शूद्रों एवं ब्राह्मणों (केवल नामधारी) को वेद का अध्ययन वर्जित है, पुराण उनके लाभ के लिए संगृहीत किये गये हैं।' इन बातों से प्रकट होता है कि शूद्रों के लिए महाभारत-श्रवण वही महत्त्व रखता था जो ब्राह्मणों के लिए वेद और शूद्र भी महाभारत से आत्म-ज्ञान (मोक्ष) प्राप्त कर सकते थे।

यद्यपि ब्राह्मणों ने पाँचवीं एवं उसके पश्चात् की शताब्दियों में शूद्रों को, जो हिन्दू जनता में सब से अधिक

१६. स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।...तस्माद् भारतमाख्यानं कृपया मुनिना कृतम्॥ भागवत १।४।२५। परिभाषाप्रकाश (पृ० ३७) में उद्धृत, जिसमें ऐसा वक्तव्य है—'वेदकार्यकारित्वावगमाद् भारतस्य वेदकार्यात्मज्ञानकारित्वसिद्धिः।' स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां न वेदश्रवणं मतम्। तेषामेव हितार्थाय पुराणानि कृतानि च॥ देवीभागवत १।३।२१। शंकराचार्य ने वे० सू० (१।३।३८) में स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है कि शूद्रों को वेदाध्ययन पर आधृत ब्रह्मविद्या का अधिकार नहीं है। किन्तु उन्होंने शूद्रों के लिए आत्मज्ञान का सर्वथा निषेध नहीं किया है। उन्होंने विदुर एवं धर्मव्याध के उदाहरण दिये हैं कि वे पूर्व जन्मों के सुकृत्यों के कारण ब्रह्मज्ञानी थे, वे ब्रह्मज्ञान के फल (मोक्ष, संसार से अन्तिम छुटकारा) को पायेंगे, शूद्रों को महाभारत एवं पुराणों के पढ़ने का अधिकार है, जैसा कि 'वह चारों वर्णों को सुनाये', इससे व्यक्त है, और इसी प्रकार वे ब्रह्म एवं मोक्ष का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं—"येषां पुनः पूर्वकृतसंस्कारवशाद्विदुरधर्मव्याधप्रभृतीनां ज्ञानोत्पत्तिस्तेषां न शक्यते फलप्राप्तिः प्रतिषेद्धुं ज्ञानस्यैकान्तिकफलत्वात्। 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्' इति चेतिहासपुराणाधिगमे चातुर्वर्ण्यस्याधिकारस्मरणात्। वेदपूर्वकस्तु नास्त्यधिकारः शूद्राणामिति स्थितम्॥ भाष्य (वे० सू० १।३।३८)। वे० सू० (३।४।३६) में शंकराचार्य ने वाचक्नवी नामक एक स्त्री की चर्चा की है जिसे ब्रह्मज्ञान था, 'रैक्व-वाचक्नवी-प्रभृतीनामेवंभूतानामपि ब्रह्मवित्त्वश्रुत्युपलब्धेः।' गार्गी वाचक्नवी ब्रह्मज्ञान की खोज करने के लिए प्रसिद्ध है (बृहदारण्यकोपनिषद् ३।६।१, ३।८।१ एवं १२)। महाभारत (स्वर्गारोहणपर्व ५।५०-५१) में आया है कि वह धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष नामक पुरुषार्थों के विषय में जो कुछ कहता है वह अन्यत्र भी प्राप्त है, किन्तु वह जो कुछ इन विषयों पर नहीं कहता वह अन्यत्र नहीं है, महाभारत का श्रवण मोक्षार्थी ब्राह्मणों, राजाओं एवं गर्भवती नारियों द्वारा होना चाहिए।

थे, प्रसन्न रखना चाहा और उन्हें बौद्धधर्म से दूर खींचने के लिए भरसक प्रयत्न किया, किन्तु तब भी द्विजों एवं शूद्रों में भेद रखा ही, केवल एक ही छूट यह दी कि वे द्विजों के समान ही पूजा कर सकते हैं और अपने कृत्यों एवं उत्सवों में (पौराणिक) मन्त्रों का प्रयोग कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, पद्म (४।११०।२८६-२८९) ने भस्म-स्नान की अनुमति देते हुए व्यवस्था दी है कि तीन वर्णों के पुरुष वैदिक मन्त्रों का प्रयोग कर सकते हैं, किन्तु शूद्रों के लिए पौराणिक मन्त्र ही निर्देशित हैं (पद्म ४।११०।२९०-२९३)। पद्म में पुनः आया है कि शूद्र लोग न तो 'प्राणायाम' कर सकते हैं और न 'ओम्' का उच्चारण कर सकते हैं, वे 'प्राणायाम' के स्थान पर 'ध्यान' कर सकते हैं एवं 'ओम्' के स्थान पर 'शिव' कह सकते हैं (पद्म ४।११०।३१६)।[17]

क्रमशः कुछ विषयों में पौराणिक विधियाँ वैदिक विधियों से ऊपर उठ गयीं। अपरार्क (पृ० १४) ने कहा है कि देवपूजा में लोगों को नरसिंहपुराण आदि में वर्णित विधि अपनानी चाहिए, न कि पाशुपतों या पांचरात्रों की विधि (पृ० १५), यही बात मन्दिर में मूर्ति-प्रतिष्ठा आदि के कृत्यों में भी करनी चाहिए।[18]

नरसिंहपुराण (६३।५-६) का कथन है कि 'ओम् नमो नारायणाय' मन्त्र से सभी प्रकार के पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं और इसके जप से व्यक्ति सभी पापों से मुक्ति पा जाता है तथा अन्ततोगत्वा विष्णु में विलीन हो जाता है।[19]

अग्निपुराण (अध्याय २१८) ने राज्याभिषेक की विधि का वर्णन किया है और अध्याय २१९ में लगभग ऐसे ७० पौराणिक मन्त्रों की व्यवस्था दी है, जो अभिषेक के समय कहे जाते हैं। और देखिए विष्णुधर्मोत्तर (२।२१) जहाँ वैदिक मन्त्रों (२।२२) के साथ १८४ पौराणिक मन्त्रों के प्रयोग की विधि है। राजनीतिप्रकाश (पृ० ४९-८३), नीतिमयूख (पृ० १-४), राजधर्मकौस्तुभ (पृ० ३१८-३६३) के समान मध्यकालीन निबन्धों ने वैदिक एवं पौराणिक मन्त्रों की समन्वित विधि विष्णुधर्मोत्तर से ली है। राजनीतिप्रकाश (पृ० ४३०-४३३) ने प्रार्थनाओं एवं आशीर्वचनों के रूप में ऐसे मन्त्र उद्धृत किये हैं, जो विष्णुधर्मोत्तर में पाये जाते हैं।

पद्मपुराण (४।९४।६८-९०) ने धनशर्मा नामक व्यक्ति की बड़ी मनोरंजक गाथा कही है। धनशर्मा के पिता ने केवल श्रौत मार्ग का अनुसरण किया और वैशाख स्नान जैसी पौराणिक व्यवस्थाओं का अनुसरण नहीं किया, इसीसे वे भयंकर एवं दुखी प्रेत हुए। कुछ श्लोक तो बड़े मनोरम हैं, 'मैंने अज्ञानवश केवल वैदिक कृत्य किये और मैंने देव माधव के सम्मान में कभी वैशाखस्नान की विधि नहीं अपनायी, और न एक भी वैशाख मास की पूर्णिमा का व्रत रखा, जो ऐसे पापों के पेड़ को, जो पापकर्म आदि के इन्धन से उत्पन्न ज्वाला के समान कष्ट कारक है, काट देता।

१७. प्राणायामश्च प्रणवः शूद्रेषु न विधीयते। प्राणायामपदे ध्यानं शिवेत्योंकारवर्णनम्॥ (पद्म ४।११०।३१६)।

१८. नरसिंहपु० (अध्याय ६२) ने विष्णुपूजा की विधि का वर्णन किया है। अपरार्क (पृ० १५) में यों आया है--'एवं प्रतिष्ठायामपि पुराणाद्युक्तैवेतिकर्तव्यता ग्राह्या नान्या। तेषामेव व्यामिश्रधर्मप्रमाणत्वेन भविष्यपुराणे परिज्ञातत्वात्।'

१९. किं तस्य बहुभिर्मन्त्रैः किं तस्य बहुभिर्व्रतैः। ओं नमो नारायणेति मन्त्रः सर्वार्थसाधकः॥ इमं मन्त्रं जपेद्यस्तु शुचिर्भूत्वा समाहितः। सर्वपापविनिर्मुक्तो विष्णुसायुज्यमाप्नुयात्॥ नरसिंह० (६३।६-७); किं तस्य बहुभिर्मन्त्रै-र्भक्तिर्यस्य जनार्दने। नमो नारायणायेति मन्त्रः सर्वार्थसाधकः॥ विष्णुर्येषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराजयः। येषामिन्दीवरश्यामो हृदयस्थो जनार्दनः॥ वामनपु० (९४।५८-५९); मत्स्य का कथन है, 'ओं नमो नारायणेति मूलमन्त्र उदाहृतः।'

है; यह तो वैसा ही है जैसा कि बहुत-से शास्त्रों एवं कई वेदों को उनके सहायक विस्तृत साहित्य के साथ पढ़ लेने पर होता है, जब कि पुराणों का अध्ययन न किया गया हो।[२०] इससे प्रकट होता है कि पुराणों को महत्ता केवल शूद्रों को सुविधा देने के कारण ही नहीं प्राप्त हुई, प्रत्युत उन ब्राह्मणों के लिए व्यवस्थित विधियों के फलस्वरूप भी प्राप्त हुई, जो पहले केवल वैदिक कृत्य ही करते थे।

क्रमशः पुराणों का प्रभाव बढ़ता गया। पहले ऐसा कहा गया कि वेद से प्राप्त (अथवा समझा गया) धर्म परमोच्च और पुराणों में घोषित धर्म अवर (हीन अथवा गौण) है।[२१] किन्तु यह धारणा परिवर्तित हुई और धर्म तीन प्रकार के घोषित हुए—**मिश्र, वैदिक** एवं **तान्त्रिक** और भागवत एवं पद्म में ऐसा कहा गया कि विष्णु की पूजा इन तीनों में किसी भी विधि से की जा सकती है।[२२] पद्म ने जोड़ा है कि वैदिक एवं मिश्रक विधियाँ ब्राह्मणों आदि के लिए उचित घोषित हैं, किन्तु तान्त्रिक पूजा-विधि वैष्णव एवं शूद्रों के लिए है। देवीभागवत (११।१।२१-२३) में आया है कि श्रुति (वेद) एवं स्मृति धर्म की आँखें हैं, पुराण इसका हृदय है, और यही धर्म इन तीनों द्वारा घोषित है, यह धर्म इन तीनों के अतिरिक्त और कहीं नहीं पाया जा सकता; पुराणों में कभी-कभी वह भी उद्घोषित हुआ है जो तन्त्रों में पाया जाता है, किन्तु उसे ग्रहण नहीं करना चाहिए।

भविष्य (ब्राह्मपर्व १।४३-४७) ने शतानीक एवं सुमन्तु की वार्ता में सर्वप्रथम मनु से अत्रि तक के अठारह धर्मशास्त्रों का उल्लेख किया है और कहा है कि वेद, मनु आदि के शास्त्र एवं अंग तीन वर्णों के लिए, न कि शूद्रों के लाभ के लिए उद्घोषित हुए हैं, बेचारे शूद्र, लगता है, असहाय हैं; वे चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति कैसे कर सकेंगे? वे आगम (परम्पराजन्य विद्या) से वंचित हैं; ब्राह्मणों में बुद्धिमानों द्वारा उनके लिए कौन-सी परम्पराजन्य विद्या उद्घोषित है जिसके द्वारा वे धर्म, अर्थ एवं काम के तीन पुरुषार्थ पाने में समर्थ होंगे? सुमन्तु ने उत्तर दिया है—'मनीषियों द्वारा चारों वर्णों, विशेषतः शूद्रों के लिए जो धर्मशास्त्र उद्घोषित हैं, उन्हें सुनिए, यथा—"१८ पुराण,

२०. मया केवलमेवैकश्रौतमार्गानुसारिणा। उद्दिश्य माधवं देवं न स्नातं मासि माधवे॥ वैदिकं केवलं कर्म कृतमज्ञानतो मया। पापेन्धनदवज्वालापापद्रुमकुठारिका॥ कृता नैकापि वैशाखी विधिना वत्स पूर्णिमा। अव्रता यस्य वैशाखी सोऽवैशाखो भवेन्नरः। दश जन्मानि स ततस्तिर्यग्योनिषु जायते॥ पद्म (४।९४।६८।-८८-९०; बहुशास्त्रं समभ्यस्य बहून्वेदान् सविस्तरान्। पुंसोऽश्रुतपुराणस्य न सम्यग्याति दर्शनम्॥ पद्म (४।१०५।१३)।

२१. अतः स परमो धर्मो यो वेदादधिगम्यते। अवरः स तु विज्ञेयो यः पुराणादिषु स्मृतः॥ व्यास (अपरार्क, पृ० ९; हेमाद्रि, व्रत १, पृ० २२; परिभाषाप्रकाश, पृ० २९)। कृत्यरत्नाकर (पृ० ३९) ने 'अपरः स तु विज्ञेयो' पढ़ा है। यह द्रष्टव्य है कि अपरार्क ने 'अवरः' पढ़ा है किन्तु अपरार्क के लगभग दो शतियों के उपरान्त कृ० र० ने 'अपरः' (अन्य अर्थात् दूसरा) पढ़ा है।

२२. वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः। त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समर्चयेत्॥ भागवत (११।२७।७, नित्याचारपद्धति, पृ० ५१० द्वारा उद्धृत); पद्म० (४।९०।३-४) ने इस प्रकार पढ़ा है—'वैदिक... श्रीविष्णोस्त्रिविधो मखः। त्रयाणामुदितेनैव विधिना हरिमर्चयेत्॥ वैदिको मिश्रको वापि विप्रादीनामुदाहृतः। तान्त्रिको विष्णुभक्तस्य शूद्रस्यापि प्रकीर्तितः॥ देखिए अग्निपु० (३७२।३४) जहाँ ये शब्द समान रूप से आये हैं। मिलाइए वृद्धहारीतस्मृति (११।७७): 'श्रौतस्मार्तागमैर्विष्णोस्त्रिविधं पूजनं स्मृतम्। एतच्छ्रौतं ततः स्मार्तं पौरुषेण च यत्स्मृतम्॥'

रघुवंश के राम का चरित (रामायण), पराशर के पुत्र (व्यास) द्वारा घोषित भारत (महाभारत); कृपालु व्यास ने चारों वर्णों के कल्याण के लिए एक ऐसे शास्त्र का प्रणयन किया जिसमें वेद एवं धर्मशास्त्रों का सम्पूर्ण अर्थ दिया हुआ है। भव (सागर) में निमग्न वर्णों के लिए यह एक उत्तम नौका है।" इससे स्पष्ट है कि पुराणों, महाभारत एवं रामायण में प्राक्कालीन (प्राचीन) परम्पराएँ एवं विचार पाये जाते हैं और वे मानो लोगों की शिक्षा के साधनों के रूप में एवं सामान्य लोगों को प्रकाश देने के निमित्त प्रणीत हुए थे। वास्तव में कुछ पुराण, यथा—अग्नि, मत्स्य, विष्णुधर्मोत्तर आदि ज्ञानोदधिस्वरूप (विश्वकोशीय) हैं और उनमें राजनीति, शासन, व्यवहार (कानून), आयुर्वेद, ज्योतिष, फलित-ज्योतिष, कविता, संगीत, शिल्प आदि विषयों की सांगोपांग चर्चा है। इन (पुराणों में भारतवर्ष का देश के जीवन एवं चरित्र के रूप में) वर्णन है और उनमें भारत की उपलब्धियों, दुर्बलताओं एवं सीमाओं का दिग्दर्शन है। दो प्रश्न हठात् उठ पड़ते हैं—(१) क्या वे पुराण, जिनमें वैदिक मन्त्र उद्धृत हैं, शूद्रों द्वारा पठित हो सकते थे? यदि मान लिया जाय कि वैदिक मन्त्रों का उच्चारण शूद्र नहीं कर सकते थे, तो क्या वे बिना ब्राह्मणों की सहायता के, स्वयं पुराणों का अध्ययन कर सकते थे? सभी निबन्धों एवं टीकाओं के लेखक इस बात में एकमत हैं कि पुराणों (जो सभी वर्णों के कल्याणार्थ वैदिक मन्त्र भी रखते हैं) में सम्मिलित वैदिक मन्त्रों को शूद्र लोग न तो पढ़ सकते हैं और न सुन सकते हैं। उन्हें केवल तीन उच्च वर्णों के लोग ही अपने प्रयोग में ला सकते हैं। किन्तु कुछ लेखक पद्मपुराण के एक वचन का सहारा लेकर इस बात को मानते हैं कि शूद्र धार्मिक कृत्यों में पौराणिक मन्त्रों का पाठ कर सकते हैं। किन्तु अन्य लेखक, यथा—निर्णयसिन्धु एवं शूद्रकमलाकर के लेखक कमलाकरभट्ट जैसे लोग, भविष्य पु० के श्लोकों का सहारा लेकर ऐसा कहते हैं कि शूद्र के लिए किये गये कृत्य में पौराणिक मन्त्रों का पाठ केवल ब्राह्मण कर सकते हैं, शूद्र ब्राह्मण द्वारा पढ़े जाते हुए पुराण को केवल सुन सकता है। श्रीदत्त जैसे कुछ लेखकों का एक तीसरा मत भी है कि शूद्र लोग पौराणिक मन्त्र का पाठ कर सकते हैं; किन्तु वे स्वयं पुराण को पढ़ नहीं सकते, केवल ब्राह्मण द्वारा पढ़े जाते हुए पुराण को सुन सकते हैं। धर्मसूत्रों के कालों में केवल वैदिक मन्त्रों का प्रयोग होता था अतः गौतम (१०। ६६ : अनुज्ञातोऽस्य नमस्कारो मन्त्रः) ने शूद्रों के लिए वैदिक मन्त्र के स्थान पर केवल 'नमः' कहने की छूट दी है। ईसा के पूर्व कई शताब्दियों तक शूद्रों ने बुद्ध के उपदेश सुने थे, क्योंकि वे सभी के लिए घोषित थे। कुमारिल जैसे अपेक्षाकृत पर्याप्त आरम्भिक लेखक यह जानते थे कि बौद्धों में अधिकांश संख्या शूद्रों की है। उनका कथन है—'कतिपय दम, दान आदि के वचनों को छोड़कर, शाक्य एवं अन्य लोगों के वचन, विद्या के चौदह प्रकारों के विरुद्ध हैं। ये वचन बुद्ध एवं उन लोगों द्वारा उद्घोषित हैं, जो तीनों वेदों द्वारा उपस्थित मार्ग से दूर थे और उनके विरुद्ध कार्य करते थे। ये वचन उन लोगों में प्रचारित एवं प्रसारित हैं, जो विमूढ़ बना दिये गये हैं, जो तीनों वेदों की सीमा से बाहर हैं, जो चौथे वर्ण (अर्थात् शूद्र) में आते हैं (अर्थात् परिगणित हैं) और जो जाति खो चुके हैं।'[२३]

२३. शाक्यादिवचनानि तु कतिपयदमदानादिवचनवर्ज्जं सर्वाण्येव समस्तचतुर्दशविद्यास्थानविरुद्धानि त्रयीमार्गव्युत्थितविरुद्धाचरणैश्च बुद्धादिभिः प्रणीतानि। त्रयीबाह्येभ्यश्चतुर्थवर्णनिरवसितप्रायेभ्यो व्यामूढेभ्यः समर्पितानीति न वेदमूलत्वेन सम्भाव्यन्ते। तन्त्रवार्तिक (जैमिनि १।३।४, पृ० १९५, आनन्दाश्रम सं०)। १४ विद्यास्थान याज्ञ० (१।३) एवं भविष्य (ब्राह्मपर्व २।६) में उद्धृत हैं (४ वेद, ६, वेदांग, पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र)। कभी-कभी ४ अन्य विद्यास्थान भी जोड़ दिये जाते हैं, यथा 'आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चैव ते त्रयः। अर्थशास्त्रं चतुर्थं तु विद्या ह्यष्टादशैव ताः॥ भविष्य (ब्राह्म २।७) एवं विष्णुपु० ३।६।२८। यह श्लोक एवं अंगानि वेदाश्चत्वारः

अतः उन विद्वान् ब्राह्मणों ने, जो जन-समुदाय (जिसमें शूद्र भी थे) को बौद्ध चंगुल से छीन लेना चाहते थे, सहस्रों पौराणिक मन्त्र प्रणीत किये जिनका श्राद्धों, व्रतों आदि में प्रयोग होने लगा। इसी से प्रारम्भिक निबन्धकार (यथा श्रीदत्त आदि) शूद्रों द्वारा पौराणिक मन्त्रों के पाठ के लिए अनुमति देने को सन्नद्ध थे। किन्तु भारत में बौद्धों के अधःपतन के कई शतियों उपरान्त कमलाकर (जिसने निर्णयसिन्धु का प्रणयन सन् १६१२ ई० में किया) जैसे कट्टर ब्राह्मण लेखकों ने कठोर रूप धारण कर लिया और शूद्रों के लिए प्रतिबन्ध लगा दिया कि वे किसी ब्राह्मण द्वारा पढ़े जाते हुए पुराण को श्रवण मात्र कर सकते हैं और स्वयं पौराणिक मन्त्र भी नहीं कह सकते। यह द्रष्टव्य है कि नरसिंहपुराण ने शूद्रों के कर्तव्यों की व्यवस्था करते हुए विधान किया है कि शूद्र ब्राह्मण द्वारा कथित पुराणों को सुन सकता है और नरसिंह (विष्णु के अवतार) की पूजा कर सकता है।

नारदीयपुराण (२।२४।१४-२४) में श्रुति, स्मृति एवं पुराणों के प्रयोग के विषय में निम्नोक्त बात आयी है—"वेद कई रूपों में स्थित है। यज्ञकर्म की क्रिया (में भी) वेद है; गृहस्थाश्रम में स्मृति वेद है; ये दोनों 'क्रियावेद' एवं 'स्मृतिवेद' पुराणों में प्रतिष्ठित हैं। जिस प्रकार यह अद्भुत संसार पुराण पुरुष (परमात्मा) से उत्पन्न हुआ, उसी प्रकार इसमें कोई संदेह नहीं है कि सारा साहित्य पुराणों से उत्पन्न हुआ। मैं पुराणार्थ (पुराण के अर्थ या मन्तव्य) को वेदार्थ से अधिक विस्तृत (महत्त्वपूर्ण) मानता हूँ। सभी वेद सदैव पुराणों पर स्थिर रहते हैं। वेद अल्पज्ञ से इसलिए डरता रहता है कि वह उसे (वेद को) हानि पहुँचा देगा। वेद में न तो ग्रहसंचार (ग्रहों की गतियाँ) हैं, न (धार्मिक कृत्यों के लिए) उचित कालों को बताने वाली शुद्ध गणनाएँ हैं, न तिथिवृद्धि या तिथिक्षय पर कोई विचार है और न (उसमें) पर्वों (अमावस्या, पूर्णिमा आदि), ग्रहों आदि पर विशिष्ट निर्णय ही है। इन विषयों पर प्राचीन काल में निर्णय (या निश्चय) इतिहास एवं पुराणों में लिखा गया है। जो वेद में नहीं देखा गया है वह स्मृतियों में लक्षित है, और जो उन दोनों (वेदों एवं स्मृतियों) में नहीं दिखाई देता वह पुराणों में उद्घोषित है। जो वेदों द्वारा घोषित है और जो उपांगों द्वारा घोषित है, वह स्मृतियों एवं पुराणों द्वारा घोषित है। जो व्यक्ति पुराणों को किसी अन्य रूप में देखता है वह तिर्यग्योनि में उत्पन्न होगा।" और देखिए स्कन्द (प्रभासखण्ड, २।९०-९२)। नारदीय (१।१।५७-५९) में पुनः आया है, 'जो दुष्ट व्यक्ति पुराणों को अर्थवाद के रूप में (प्रशंसात्मक या निन्दात्मक कथन के रूप में) लेते हैं उनके सभी पुण्य नष्ट हो जाते हैं, जो दुष्ट व्यक्ति उन पुराणों को, जो कर्मों के बुरे-प्रभावों को नष्ट करने वाले होते हैं, अर्थवाद कहते हैं, वे नरक में जाते हैं।'[२४]

(विष्णु ३।६।२७) कल्पतरु (ब्रह्मचारि०, पृ० २) एवं हेमाद्रि (व्रत, भाग १, पृ० १८) एवं कृ० र० (पृ० २७) द्वारा उद्धृत किये गये हैं। निरवसित का अर्थ है बहिष्कृत, देखिए पाणिनि—'शूद्राणामनिरवसितानाम्' (२।४। १०) एवं इस पर महाभाष्य।

२४. पुराणेष्वर्थवादत्वं ये वदन्ति नराधमाः। तैरर्जितानि पुण्यानि क्षयं यान्ति द्विजोत्तमाः॥ समस्तकर्मनिर्मूलसाधनानि नराधमाः। पुराणान्यर्थवादेन (पुराणान्यर्थवादेन ?) ब्रुवन् नरकमश्नुते॥ नारदीय (१।१।५७-५९)

अर्थवादाधिकरण जैमिनि (१।२।१-१८) में है। निम्नोक्त वैदिक वचन हैं—'सोरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' (तै० सं० १।५।१।१), 'स आत्मनो वपामुदक्खिदत्' (तै० सं० २।१।१), 'देवा वै देवयजनमध्यवसाय दिशो न प्राजानन्' (तै० सं० ६।१।५।१), 'तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते' (तै० सं० ५।३।१२।२), 'न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि' (तै० सं० ५।२।७)। प्रश्न है : 'क्या इन वचनों को शाब्दिक रूप में लिया जाय, या

पुराणों ने लोगों के धार्मिक कृत्यों, व्यवहारों एवं आदर्शों में कतिपय महत्त्वपूर्ण परिवर्तन कर दिये। सबसे अधिक पुराणों का विशिष्ट विचार एवं सार है थोड़े प्रयत्न से ही महान् पुण्यों एवं प्रतिफलों की प्राप्ति। विष्णुपुराण (६।२) में आया है कि मुनियों ने व्यास से प्रश्न पूछा—'किस युग में थोड़ा-सा धर्म भी बड़े पुण्यों की उत्पत्ति करता है?' व्यास गंगा में स्नान कर रहे थे, वे बाहर आकर बोले, 'शूद्र अच्छा है, कलि अच्छा है' और वे पुनः नदी में डूब गये; पुनः बाहर निकल कर बोले, 'स्त्रियाँ अच्छी हैं और धन्य हैं; उनसे बढ़कर अन्य कौन धन्य है?' जब वे स्नान और प्रातःक्रियाएँ सम्पादित कर चुके तो मुनियों ने उनसे कलि, शूद्रों एवं नारियों के अच्छे एवं धन्य होने का कारण पूछा। उन्होंने उत्तर दिया—"कोई भी व्यक्ति कलियुग में एक दिन में तपों, ब्रह्मचर्य एवं जप से उतना ही पुण्य कमा लेता है जितना कृतयुग (सत्ययुग) में १० वर्षों में, त्रेता में एक वर्ष में और द्वापर में एक मास में प्राप्त होता था। अतः मैंने कलि को उत्तम कहा। कलि में व्यक्ति केवल केशव के नाम के लगातार कथन से जो प्राप्त करता है वह कृतयुग में गम्भीर ध्यान से, त्रेता में यज्ञों से तथा द्वापर में पूजा से प्राप्त होता है। मैं कलि से इसीलिए प्रसन्न हूँ कि इसमें व्यक्ति अल्प प्रयास से ही धर्म की महत्ता प्राप्त कर लेता है। तीन उच्च वर्णों के लोग कठिन नियमों के पालन के उपरान्त वेदों का अध्ययन करते हैं, पुनः उन्हें यज्ञ करने पड़ते हैं जिनमें अर्थ की आवश्यकता पड़ती है; यदि वे अपने कर्त्तव्य उचित ढंग से नहीं करते तो वे पाप के भागी होते हैं, वे मनचाहा न तो खा सकते हैं और न पी सकते हैं प्रत्युत वे भोजन-सम्बन्धी कतिपय नियमों के पालन पर आधारित रहते हैं; द्विज लोग बहुत कष्ट के उपरान्त उच्च लोकों की प्राप्ति करते हैं; शूद्र तीन वर्णों की सेवा करके उत्तम लोकों की प्राप्ति करता है; उसे पाकयज्ञों (बिना मन्त्रों वाले) का अधिकार है, अतः वह द्विज की अपेक्षा अधिक धन्य है। उसे भोजन-सम्बन्धी कठोर नियमों का पालन नहीं करना होता और तभी मैंने उसे उत्तम या अच्छा कहा। नारी भी विचार, शब्द (वचन) एवं कर्म द्वारा अपने पति की सेवा करके बहुत कम कष्ट के साथ उन लोकों की प्राप्ति करती है जिन्हें उसका पति बहुत प्रयास एवं कष्ट करके प्राप्त करता है, इसी से मैंने तीसरी बार यह कहा कि स्त्रियाँ धन्य हैं। कलियुग में धर्म की प्राप्ति थोड़ा कष्ट उठाने से हो जाती है और लोग अपने आत्मा की विशेषताओं के जल से अपने पापों को धो लेते हैं, शूद्र लोग द्विजों की सेवा करके तथा स्त्रियाँ अपने पतियों की सेवा करके वही फल पाती हैं। इसी से मैंने इन तीनों को धन्य कहा।" यही बात ब्रह्मपुराण (२२९।६२-८०) में भी है। और देखिए विष्णुपु० (६।२।१५-३० एवं ३४-३६)। विष्णुपुराण का कथन है कि व्यक्ति को उस समाज में, जिसमें वह जन्म लेता है, अपना कर्त्तव्य करते रहना चाहिए, या जो कार्य उसने अपने हाथ में लिया है उसे करना चाहिए; जो व्यक्ति ऐसा करता है वह चाहे ब्राह्मण हो या शूद्र, उच्च लोकों की प्राप्ति करता है। यही बात गीता (१८।४५-४६) में भी है।[२५] वेदों, जैमिनिसूत्रों, वेदान्तसूत्रों के सदृश प्राचीन ग्रन्थों ने इस बात पर कभी भी विचार नहीं किया कि स्त्रियाँ एवं शूद्र किस प्रकार आध्यात्मिक जीवन एवं अन्तिम सुन्दर गति प्राप्त कर सकते हैं। वेदान्तसूत्र (१।३।३४-३८) ने शूद्र को वेद एवं उपनिषदों के अध्ययन से वंचित माना है। बुद्ध के उपदेश कुछ दूसरे थे। उनके अनुसार सभी लोग, चाहे जिस वर्ण या जाति के हों, दुःखों से छुटकारा पा सकते हैं। अतः शूद्रों का ध्यान बौद्ध धर्म की ओर अधिक गया। भगवद्गीता एवं पुराणों ने भारतीय समाज के दृष्टिकोण को परिवर्तित

इनका कोई अर्थ है ? उत्तर है : 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' (जै० १।२।७), अर्थात् ये प्रशंसात्मक या स्तुति रूप हैं और केवल विधियों की प्रशंसा के लिए उनके अंग हैं।

२५. स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।...यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ भगवद्गीता (१८।४५-४६)।

कर दिया, छोटे या बड़े, सभी को उच्च आध्यात्मिक जीवन प्राप्त करने का अधिकार हो गया। जो व्यक्ति सामाजिक कर्त्तव्य को समझकर अपना काम करता जाय और सांसारिक फलों के पीछे न पड़े और अपने सभी कर्मों को भगवान् के नाम समर्पित कर दे, वह आध्यात्मिक जीवन की उच्चता का अधिकारी हो जाता है। पद्मपुराण में व्यास ने युधिष्ठिर से कहा है—'कलियुग में मनु द्वारा एवं वेदों द्वारा व्यवस्थित नियमों का पालन असम्भव है। एक कार्य जो सब को करना चाहिए, वह एकादशी-व्रत है जो मास में दो बार किया जाना चाहिए। यह बड़ा सरल है, इसमें अल्प धन लगता है, बहुत कम क्लेश होता है, किन्तु महाफलदायक है, और यह सभी पुराणों का सारभूत है। व्यक्ति को पवित्र होना चाहिए और द्वादशी को पुष्पों से केशव-पूजा के उपरान्त सर्वप्रथम ब्राह्मणों को खिलाकर तब स्वयं खाना चाहिए। जो लोग स्वर्ग-प्राप्ति चाहते हैं, उन्हें ऐसा व्रत जीवन भर करना चाहिए। यहाँ तक कि एकादशी-व्रत करने वाले पापी, दुराचारी एवं धर्मवर्जित लोग भी यमलोक (नरक) नहीं जाते' (पद्म ६।५३।४-९)। सूतसंहिता (१।७।२२) में आया है कि 'सत्य ज्ञान (आत्म-ज्ञान) की प्राप्ति का प्रयत्न सभी कर सकते हैं; (संस्कृत के अतिरिक्त) अन्य भाषा द्वारा और अधिक समय के प्रयास से (निम्न श्रेणी के लोगों का) कल्याण ही होगा।' इससे प्रकट होता है कि पुराणों ने सब के समक्ष उन सरल विधियों एवं साधनों को रखा जिनके द्वारा लोग इस लोक के उपरान्त सुन्दर गति प्राप्त कर सकें।

बौ० ध० सू० (२।४।३०),[26] मनु (३।२६) एवं वसिष्ठ (११।२८) में आया है कि श्राद्ध में बहुत-से ब्राह्मणों को नहीं आमन्त्रित करना चाहिए, क्योंकि बड़ी संख्या से इन पाँचों की हानि होती है, यथा—अतिथियों का उचित सम्मान, स्थान एवं काल का औचित्य, स्वच्छता तथा योग्य (सुपात्र) ब्राह्मणों की प्राप्ति। अनुशासनपर्व (९०।२)[27] आदि में आया है कि देवों की पूजा में ब्राह्मणों के ज्ञान, वंश एवं चरित्र की परीक्षा का विशेष प्रयास नहीं करना चाहिए, किन्तु पितरों के श्राद्ध में इस प्रकार की परीक्षा न्यायसंगत है। पुराण इन दोनों व्यवस्थाओं के विरोध में जाते हैं। वे श्राद्धकर्म में कृपणता के बड़े विरोधी हैं। वे नहीं चाहते कि लोग श्राद्ध, एकादशी जैसे व्रतों में कंजूसी प्रकट करें। विष्णुपुराण ने पितरों द्वारा कहे गये ९ श्लोक दिये हैं (३।१४।२२-३०)[28] जिनमें दो का अनुवाद यहाँ दिया जा रहा है—'क्या वह मतिमान् एवं धन्य व्यक्ति हमारे कुल में जन्म लेगा जो कृपणता (वित्तशाठ्य) न प्रदर्शित कर हमें पिण्ड देगा और यदि वह सम्पत्तिवान् है तो क्या हमारे लिए ब्राह्मणों को रत्न, वस्त्र, महायान, धन

२६. सत्क्रियां देशकालौ च शौचं ब्राह्मणसम्पदः। पञ्चैतान् विस्तरो हन्ति तस्मान्नेहेत विस्तरम्॥ मनु (३।२६); कूर्मपुराण (२।२२।२७); बौ० ध० सू० (२।४।३०); वसिष्ठ (११।२८)। अन्तिम दो ग्रन्थ चौथे पाद को 'तस्मात्तं परिवर्जयेत्' ऐसा पढ़ते हैं।

२७. ब्राह्मणान्न परीक्षेत क्षत्रियो दानधर्मवित्। दैवे कर्मणि पित्र्ये तु न्याय्यमाहुः परीक्षणम्॥ अनुशासनपर्व (९०।२); हे० (श्राद्ध, पृ० ५११ में उद्धृत); दैवे कर्मणि ब्राह्मणं न परीक्षेत। प्रयत्नात्पित्र्ये परीक्षेत। विष्णुध० (८२।१-२); न ब्राह्मणान् परीक्षेत सदा देये तु मानवः। दैवे कर्मणि पित्र्ये च श्रूयते वै परीक्षणम्॥ वायु० (८३।५१)।

२८. अपि धन्यः कुले जायादस्माकं मतिमान्नरः। अकुर्वन् वित्तशाठ्यं यः पिण्डान्नो निर्वपिष्यति॥ रत्नं वस्त्रं महायानं सर्वभोगादिकं वसु। विभवे सति विप्रेभ्यो योऽस्मानुद्दिश्य दास्यति॥ विष्णु० (३।१४।२२-२३), वराह० (१३।५०-५१ : 'सर्वं तोयादिकम्' २४-३०) जो श्राद्धक्रियाकौमुदी द्वारा उद्धृत एवं व्याख्यायित हुए हैं।

तथा अन्य भोगादिक सामग्री देगा ?' पद्म (१।९।१८१)[29] में आया है कि वित्तशाठ्य के त्याग से पितरों को तृप्ति प्राप्त होती है। मत्स्य (५६।११) में आया है कि कृष्णाष्टमीव्रत में कंजूसी नहीं प्रदर्शित करनी चाहिए। पद्म में आया है कि जो धनवान् व्यक्ति एकादशी पर जागर को कंजूसी के साथ मनाता है वह अपना आत्मा खो बैठता है (६।३९।२१)। ब्रह्म (१२३।१७४)[30] ने सामान्य रूप से कहा है कि जो व्यक्ति धार्मिक कृत्य वित्तशाठ्य (कृपणता) से करता है वह पातकी है।

मनु (३।१४९) ने व्यवस्था दी है कि देवों के सम्मान में किये जाने वाले कृत्य में धार्मिक व्यक्ति को चाहिए कि वह भोजन के लिए निमन्त्रित किये जाने वाले ब्राह्मणों की जाँच न करे, किन्तु पितरों के श्राद्ध में ब्राह्मणों की योग्यता (पात्रता) की जाँच अवश्य करनी चाहिए। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि देवपूजा में कोई भी बुलाया जा सकता है। हमें मनु (३।१२८) के सामान्य नियमों पर ध्यान देना चाहिए। देवों या पितरों के कृत्यों में कृत्यकर्ता को चाहिए कि वह श्रोतिय (वेदज्ञ ब्राह्मण) को ही भोजन दे। मनु ने ३।१४९ में जो कहा है उसका अर्थ यह है कि देवों के कृत्यों में कुल आदि का गम्भीर परीक्षण आवश्यक नहीं है।

वायु (८२।२७) में आया है कि गया में ब्राह्मणों के कुल, शील, विद्या एवं तप की परीक्षा नहीं की जानी चाहिए। वराह (१६५।५५ एवं ५७) में आया है कि मथुरा के ब्राह्मण देवता के समान हैं, मथुरा का वह ब्राह्मण जो एक वेद-मन्त्र (ऋचा) भी नहीं जानता, अन्य स्थान के उस ब्राह्मण से उत्तम है जो चारों वेदों का ज्ञाता हो।[31] पद्म एवं स्कन्द (काशीखण्ड ६।५६-५७) में आया है कि तीर्थों पर ब्राह्मणों का परीक्षण नहीं होना चाहिए और मनु का कथन है कि तीर्थों के अप्रेच्छुक ब्राह्मणों को भोजन देना चाहिए।[32]

यह सम्भव है कि वायु, वराह एवं पद्म के उपर्युक्त वचन पश्चात्कालीन क्षेपक हों। जब बौद्ध धर्म अपनी पराकाष्ठा पर था तो बौद्ध साधुओं की लम्बी जमातें लोगों द्वारा भोजन पाती थीं। जब १२ वीं एवं १३ वीं शतियों के उपरान्त बौद्धधर्म भारत से विलुप्त हो गया तो लोगों में एक विश्वास भर गया था कि दरिद्र ब्राह्मणों को भोजन देना पुण्य कार्य है, जैसा कि पूर्व काल में बौद्ध साधुओं को खिलाया जाता था, और पुराणों ने केवल सामान्य जनता के मनोभावों को ही व्यक्त कर दिया। उन दिनों सामान्य जनता में ऐसा विश्वास भर गया था, नहीं तो क्षेपकों के आ जाने से ही लोग वैसा न करते। पश्चिम एवं पूर्व के लेखक, १९ वीं एवं २० शती में प्रचलित धारणाओं पर आधारित हो पुराणों में व्यवस्थित ब्राह्मणों के लिए बने नियमों के विरुद्ध अति कठोर एवं अपरिमित निन्दा-सूत्र कह डालते हैं, ऐसा करके वे एक सहस्र या अधिक वर्षों पूर्वप्रणीत पुराणों के लेखकों के प्रति अन्याय करते हैं। ऐसे लेखकों को मध्यकालीन दशाओं, विचारों एवं ब्राह्मणों के कर्मों की तुलना उन पोपों, ईसाई पादरियों,

२९. वित्तशाठ्येन रहितः पितृभ्यः प्रीतिमाहरन्। पद्म (१।९।१८१); धनवान् वित्तशाठ्येन यः करोति प्रजागरम्। तेनात्मा हारितो नूनं कितवेन दुरात्मना॥ पद्म (६।३९।२१)।

३०. वित्तशाठ्येन यो धर्मं करोति स तु पातकी। ब्रह्म (१२३।१७४)।

३१. न विचार्यं कुलं शीलं विद्या च तप एव च। पूजितैस्तैस्तु राजेन्द्र मुक्तिं प्राप्नोति मानवः॥ वायु (८२।२७); अनृग् वै माथुरो यत्र चतुर्वेदस्तथापरः। वेदैश्चतुर्भिर्न च स्यान्माथुरेण समः क्वचित्॥...मथुरायां ये वसन्ति विष्णुरूपा हि ते नराः॥ वराह (१६५।५५ एवं ५७)।

३२. तीर्थेषु ब्राह्मणं नैव परीक्षेत कथंचन। अन्नार्थिनमनुप्राप्तं भोज्यं तं मनुरब्रवीत्॥ पद्म ५।२९।२१२। प्रा० कि० कौ० ने प्रथम अर्धाली को ब्रह्म० (पृ० ३४) एवं देवीपुराण (पृ० २६६) से उद्धृत किया है।

इन्क्वीज़िशनों (धार्मिक अत्याचारों) एवं यूरोप के मठीय विधानों से करनी चाहिए जो १० वीं शती से लेकर १५ वीं शती तक प्रचलित थे। तुलना करने से पता चलेगा कि यूरोप की परिस्थितियाँ उन शतियों में भारतीय परिस्थिति से कई गुनी भयंकर एवं हीन थीं।[33]

उपर्युक्त सिद्धान्तों के फलस्वरूप पुराणों ने बड़े बल के साथ दानों (विशेषतः भोजन का दान), पवित्र स्थानों के जलों में स्नान एवं तीर्थ-यात्राओं, व्रतों, अहिंसा, भक्ति, देवनाम-जप, श्राद्ध आदि की व्यवस्थाएँ की हैं। इन पर हम संक्षेप में यहाँ वर्णन करेंगे।

पुराणों ने पवित्र वैदिक यज्ञों तथा तीर्थयात्राओं एवं स्नानों में तुलना स्थापित की है। वनपर्व (८२।१७ आदि) में आया है--"मुनियों द्वारा प्रवर्तित पूत यज्ञ दरिद्र व्यक्ति द्वारा सम्पादित नहीं हो सकते; यज्ञों में बहुत-से उपकरणों, भाँति-भाँति के सामानों की आवश्यकता होती है जिन्हें केवल राजा या धनिक व्यक्ति ही सँजो सकते हैं, दरिद्र व्यक्तियों का कोई अन्य सहारा नहीं है, उन्हें अपने पर ही निर्भर रहना पड़ता है। तीर्थ स्थानों में जाने से पुण्य मिलता है और यह यज्ञों के सम्पादन से अपेक्षाकृत विशिष्ट है। जो पुण्य तीर्थ स्थानों में जाने से प्राप्त होता है वह अग्निष्टोम जैसे यज्ञों से, जिनमें प्रभूत दक्षिणा-दान किया जाता है, नहीं प्राप्त होता।"

अनुशासनपर्व एवं पुराणों ने व्रतों एवं उपवासों की महत्ता इसी महान् सिद्धान्त के आधार पर की है। अनुशासनपर्व (१०७।५-६) में आया है कि पुण्य के मामले में उपवास यज्ञों के बराबर हैं। पद्मपुराण (३।२१। २९) में उपवास यज्ञों से श्रेष्ठ गिने गये हैं, ऐसा आया है--'विष्णुव्रत श्रेष्ठ होता है; एक सौ वैदिक यज्ञ इसके बराबर नहीं हो सकते। एक यज्ञ करके व्यक्ति स्वर्ग प्राप्त कर सकता है, किन्तु जो कार्तिकव्रत करता है, वह वैकुण्ठ (विष्णु-लोक) जाता है।'[34]

दान

सर्वप्रथम हम दान को लेते हैं। ऋग्वेदिक काल से ही दानों की प्रशस्तियाँ गायी जाती रही हैं। हमने इस

३३. यूरोप के प्रत्येक देश में, विशेषतः स्पेन में इन्क्वीजिशन-सम्बन्धी असभ्य व्यवहारों एवं अत्याचारों के विषय में देखिए डब्लू० एच० रूल का ग्रन्थ 'हिस्ट्री आव इन्क्वीजिशन', १८६८ (विशेषतः पृ० २९८-३१४ जहाँ 'गोवा में किये गये इन्क्वीजिशन' की चर्चा है), राफेल सबटिनी का ग्रन्थ 'टार्क्वेमेडा एण्ड दि स्पेनिश इन्क्वीजिशन' (आठवाँ संस्करण, १९३७), 'दि स्पेनिश इन्क्वीजिशन' (प्रो० ए० एस्० टरबर्विले, होम यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी, १९३२ द्वारा लिखित) जहाँ पृष्ठ २३५ पर लेखक महोदय दुःखित हो कहते हैं कि स्पेन में पवित्र कार्यालय (होली आफिस) द्वारा भयंकर नाश के दृश्य उपस्थित किये गये। और देखिए कैम्ब्रिज मेडिएवल हिस्ट्री (जिल्द ६, अध्याय २०) का अध्याय 'हेरेसीज एण्ड दि इन्क्वीजिशन इन मिडिल एजेज' (१९२९, पृ० ६९९-७२६) तथा वहीं, जिल्द ६, पृ० ६९४-६९५ जहाँ यह प्रदर्शित है कि 'इंडल्जेंसेज' (अर्थात् पापों के लिए क्षमा-प्रदान एवं स्वर्ग में प्रवेश के सर्टिफिकेट) नियमानुकूल लाइसेंसधारी व्यापारियों द्वारा बेचे जाते थे और यह व्यवस्था ईसाई चर्च के उच्च मन्त्रियों द्वारा की गयी थी, किसी को अपराध-स्वीकरण एवं प्रायश्चित्त करने की आवश्यकता नहीं थी!!

३४ इदमंगिरसा प्रोक्तमुपवासफलात्मकम्। विधिं यज्ञफलैस्तुल्यं तन्निबोध युधिष्ठिर॥ अनु० (१०७।५-६)। श्रेष्ठं विष्णुव्रतं विप्र तत्तुल्या न शतं मखाः। कृत्वा क्रतुं व्रजेत्स्वर्गं वैकुण्ठं कार्तिकव्रती॥ पद्म (३।२१।२९)। यही बात पद्म (६।९६।२५) में भी दुहरायी गयी है।

महाग्रन्थ के खण्ड २ में दान-सम्बन्धी बातों की चर्चा कर दी है। महाभारत ने बहुत-से स्थानों पर (विशेषतः अनुशासनपर्व में) एवं पुराणों, यथा मत्स्य (अध्याय ८२-९२ एवं २७४-२८९), अग्नि (अध्याय २०८-२१३), वराह (९९-१११), पद्म (५।२१।८१-२१३, जो मत्स्य के अध्याय ८३-९२ से सर्वथा मिलता है), पद्म (२।३९-४० एवं ९४, ३।२४), कूर्म (२।२६) ने दान पर विस्तार के साथ उल्लेख किया है। किन्तु यहाँ हम दान के केवल दो विषयों पर, यथा—भोजन-दान एवं ब्राह्मणों को दिये जाने वाले दान पर प्रकाश डालेंगे। ऋग्वेद ऐसे व्यक्ति की भर्त्सना करता है और उसे पापी कहता है जो न तो देवों को भोजन देता है और न अपने मित्रों को, और केवल अपना पेट भरता है।[35] ऐत० ब्रा० एवं तै० ब्रा० ने अन्न (भोजन) को प्राण कहा है।[36] बौ० ध० सू० में आया है—"सभी प्राणी अन्न पर निर्भर रहते हैं, वेद का कथन है कि 'अन्न प्राण है', अतः अन्न दूसरे को देना चाहिए, अन्न सर्वश्रेष्ठ हवि है।"[37] मनु एवं वि० ध० सू० में आया है—'जो केवल अपने लिए भोजन पकाता है (देवों एवं अन्य लोगों के लिए नहीं) वह केवल पाप खाता है।'[38] पद्म में बहुत सुन्दर ढंग से एक वचन आया है—'जो लोग सदा लूले-लँगड़े, अन्धे, बूढ़े, दुखियों, असहायों तथा दरिद्रों को खिलाते हैं, वे स्वर्ग में सदैव सुख पाते हैं; कूपों एवं तलाबों के निर्माण से अक्षय पुण्य प्राप्त होता है, जहाँ जलवासी जीव एवं पृथिवी पर विचरण करने वाले पशु इच्छा होने पर जल पीते हैं, क्योंकि जल प्राणियों का जीवन है और प्राण जल में केन्द्रित है।' ब्रह्म (२१८।१०-३२), पद्म (५।१९।२८९-३०७) एवं अग्नि (२११।४४-४६) में विद्वान् ब्राह्मणों को भोजन (अन्न) बाँटने की बड़ी प्रशंसा गायी गयी है। 'सभी दानों में अन्न दान सर्वश्रेष्ठ कहा गया है; अन्न ही मनुष्यों का जीवन है, इसी से सभी जीव उत्पन्न होते हैं; लोक अन्न पर ही निर्भर हैं, इसी से अन्न की प्रशंसा है; अन्न-प्रदान से व्यक्ति स्वर्ग-प्राप्ति करता है। जो व्यक्ति न्यायपूर्वक प्राप्त किये हुए अन्न को वेदज्ञ ब्राह्मणों को देता है वह सभी पापों से मुक्ति पा जाता है' (ब्रह्म, २१८।१०-१३, २२-२३)। अग्नि का कथन है, 'हाथियों, अश्वों, रथों, पुरुष दासों या नारी दासियों तथा घरों के दान अन्न दान के सोलहवें अंश को (पुण्य में) भी नहीं पा सकते। वह व्यक्ति जो महापाप कर बैठता है और उसके बाद यदि अन्न दान करता है तो वह पापों से स्वतन्त्र हो जाता है और अक्षय लोकों की प्राप्ति करता है' (२११।४४-४६)। कूर्म में आया है, 'ब्रह्मचारी को श्रद्धा से प्रतिदिन अन्न देना चाहिए (जब वह भिक्षा माँगने आये), इससे सभी पापों से मुक्ति मिलती है और ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है' (२।२६।१७)। इसी प्रकार पद्म (५।१५।१४०-१४१) में आया है—'जो व्यक्ति यतियों को पात्रपूर्ण भिक्षा देता है, वह सभी पापों से विमुक्त हो जाता है और किसी दुर्गति को नहीं पाता।' बहुत प्राचीन कालों से ही गृहस्थ को पंच आह्निक यज्ञ करने पड़ते थे, जिनमें दो थे **बलिहरण एवं अतिथि-सत्कार** (मनु ३।७०); उन लोगों के लिए जो जातिच्युत होते थे, पाप-रोगी होते थे तथा चाण्डालों, कुत्तों, कौओं, यहाँ तक कि कृमिओं को भूमि पर भोजन रख दिया जाता था

३५. मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य। नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥ ऋ० (१०।११७।६)।

३६. अन्नं प्राणमन्नमपानमाहुः। तै० ब्रा० २।८।८।३; अन्नं ह प्राणः। ऐ० ब्रा० (३३।१) में, जहाँ नारद ने पाँचवीं गाथा कही है।

३७. अन्ने श्रितानि भूतानि अन्नं प्राणमिति श्रुतिः। तस्मादन्नं प्रदातव्यमन्नं हि परमं हविः॥ बौ० ध० सू० (२।३।६८)।

३८. अघं स केवलं भुंक्ते यः पचत्यात्मकारणात्। मनु ३।११८, विष्णुधर्मसूत्र ६७।४३।

(आप० ध० सू० २।४।९।५; मनु ३।९२)। इन व्यवस्थाओं के पीछे थी सार्वभौम दया, दाक्षिण्य आदि सुन्दर मनोभावों की अभिव्यक्ति, सभी सामाजिक वर्गों, नियमों एवं एक-दूसरे के विरोध में जाने वाली भावनाओं के रहते हुए भी एक भावना सजग थी कि एक ही प्रकाश सभी स्थानों में व्याप्त है जो निम्न-से-निम्न जन्तुओं को प्रकाशित करता रहता है और सम्पूर्ण विश्व को एक बन्धु-श्रेणी देखता है। यही आदर्श सदैव रहा है, किन्तु अब भोजन-अभाव, अधिक दामों एवं अन्न-नियन्त्रण नियमों के कारण प्राचीन दया-दाक्षिण्य-सम्बन्धी भावनाएँ विलुप्त होती जा रही हैं।

यह द्रष्टव्य है कि सभी ब्राह्मण पुरोहित नहीं थे और आधुनिक काल में भी यही बात पायी जाती है। इसी प्रकार सभी हिन्दू मन्दिरों एवं तीर्थों में सभी पुजारी ब्राह्मण नहीं हैं। मन्दिरों के पुजारियों की परम्परा एवं संस्था अपेक्षाकृत पश्चात्कालीन है और आज भी ऐसे पुजारी हीन दृष्टि से देखे जाते हैं। मनु (३।१५२) में आया है कि देवलक (वह ब्राह्मण जो किसी मन्दिर की मूर्ति की पूजा करके अपनी वृत्ति चलाता है), यदि उसने तीन वर्षों तक लगातार वही कार्य किया है तो श्राद्ध में निमन्त्रित होने के लिए अयोग्य है, देव-यज्ञ में भी उसे नहीं रखा जाता। आरम्भिक काल से ही ब्राह्मणों के समक्ष यही आदर्श था कि वे दरिद्र रहें, उनका जीवन सादा और विचार उच्च रहे, वे धन-लिप्सा में न पड़ें, वे वेद एवं शास्त्रों के अध्ययन में भक्ति रखें तथा उच्च संस्कृति वाले हों और साहित्यिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण की परम्परा आगे बढ़ाते जायें। याज्ञ० (१।२१३) जैसी स्मृतियों में आया है कि यदि ब्राह्मण धार्मिक दान पाने योग्य भी हो तब भी उसे दान अस्वीकार कर देना चाहिए, ऐसा करने से उसे वही लोक प्राप्त होता है जो दाता के लिए निश्चित होता है। ब्राह्मणों में इसी प्रकार के उच्च आदर्शों के संरक्षण के लिए याज्ञ० (१।३३३) ने व्यवस्था दी है कि राजा गायों, सोने एवं भूमि का दान करे और विद्वान् ब्राह्मणों को घर दे तथा उन्हें विवाह आदि के उपकरण (कुमारियाँ, विवाह-व्यय आदि) दे। आजकल लोग बहुधा प्राचीन भारत की संस्कृति एवं साहित्यिक मर्यादा-परम्पराओं की चर्चा करते हैं। किन्तु किसने इस विशाल वैदिक एवं संस्कृत साहित्य की रचना की, उसकी रक्षा की और सहस्रों वर्षों तक उसका प्रचार-प्रसार किया? उत्तर यही होगा कि यह कुछ ब्राह्मणों के कारण ही सम्भव हो सका, जो सहस्रों वर्षों तक प्राचीन आदर्शों के साथ चलते रहे।

यदि ऋग्वेद को आर्य भाषा का सबसे प्राचीन साहित्यिक स्मारक माना जाय तो यह प्रश्न हो सकता है कि किन लोगों ने इसके दस सहस्रों से अधिक मन्त्रों को अद्वितीय ढंग से सुरक्षित रखा कि कहीं भी केवल वाक्-प्रेषणीयता के रहते हुए (कानों कान आते हुए) भी कोई भी अन्तर नहीं पड़ा और एक ही पाठ सुरक्षित रहा? तो उत्तर यही होगा कि यह दुष्कर कार्य ब्राह्मणों ने ही किया। इस कार्य में ब्राह्मणों का उत्सर्ग कितना महान् रहा है, इसकी कल्पना मात्र से हमारे रोम-रोम पुलकित हो उठते हैं। ब्राह्मणों को वेद का अध्ययन उसके अंगों के साथ करना पड़ता था, जिसके पीछे कोई लाभ का उद्देश्य निहित नहीं था। वे ऐसा अपना कर्त्तव्य समझ कर करते थे, वे वेद का अर्थ समझाने के लिए उसे तथा अन्य अंगों को पढ़ाते थे, पहले से कोई शुल्क नहीं लेते थे। वे अपने कुल को इन्हीं वेद-वेदांगों में लगाते थे, यज्ञ करते थे और स्वयं दान करते थे। उनकी जीविका का साधन था यज्ञों एवं धार्मिक कृत्यों में पौरोहित्य करना एवं दान लेना। ये साधन विभिन्न प्रकार के, योग्यतानुकूल एवं कष्टसाध्य रहे होंगे।

ब्राह्मणों को कोई धार्मिक कर उगाहने का अधिकार नहीं था, जैसा कि पश्चिमी देशों में होता था। ऐंग्लिकन चर्च में पादरियों की एक लम्बी पंक्ति पायी जाती है, वैसी बात ब्राह्मणों के विषय में नहीं थी। अत ब्राह्मणों को बताया गया है कि वे अपनी जीविका के लिए राजा या धनिक व्यक्ति के पास जायें (गौतम ९।६३, 'योगक्षेमार्थमीश्वरमधिगच्छेत्')। यह द्रष्टव्य है कि बौद्धधर्म के प्रसार के पूर्व सूत्रों एवं स्मृतियों ने

यही बात बलपूर्वक कही थी कि धार्मिक दान केवल सुपात्र ब्राह्मणों को, जो विद्वान् एवं सदाचारी होते हैं, देने चाहिए। और देखिए आपस्तम्ब धर्म सूत्र (२।६।१५।९-१०), वसिष्ठ धर्म सू० (३।८, ६।३०), मनु (३। १२८, १३२, ४।३१), याज्ञ० (१।२०१), दक्ष (३।२६ एवं ३१)। सभी ब्राह्मण दान के अधिकारी नहीं माने जाते थे, जो गुणवान् होते थे वे ही पात्र कहे जाते थे। पात्र की कुछ परिभाषाएँ यहाँ दे देना ठीक होगा। अनुशासनपर्व (२२।३३-४१) ने योग्य (पात्र) ब्राह्मण के गुणों का वर्णन यों किया है—'ऐसे ब्राह्मणों को दान देना, जो क्रोधरहित, धर्मपरायण, सत्यनिष्ठ एवं आत्मसंयमी होते हैं, महाफलदायक होता है। ऋषियों का कथन है कि वही ब्राह्मण 'पात्र' है जो चारों वेद पढ़ता है, (वेदों के) अंगों को पढ़ता है, जो छः प्रकार के कार्यों (यथा—मद्य-मांस से दूर रहना, मर्यादा पालन करना, पवित्र रहना, वेदाध्ययन, यज्ञ-सम्पादन, दान देना) में प्रवृत्त रहता है। केवल एक ब्राह्मण, जो प्रज्ञावान् हो, श्रोत्रिय (वेदज्ञ) हो, शीलवान् हो, अपने सम्पूर्ण कुल को बचा लेता है। किसी ब्राह्मण के विषय में ऐसा सुनकर कि वह गुणों से परिपूर्ण है, साधुसम्मति से अच्छा समझा जाता है, उसे दूर देश से भी बुलाना चाहिए और स्वागत करना चाहिए तथा सभी प्रकारों से उसे सम्मानित करना चाहिए।'[39] याज्ञवल्क्य ने बहुत ही संक्षेप में पात्र ब्राह्मण की परिभाषा की है—'पात्रता केवल (वैदिक) अध्ययन से ही नहीं, केवल तपों से ही नहीं उत्पन्न होती; वही व्यक्ति पात्र (किसी धार्मिक दान का अधिकारी) समझा जाता है जहाँ ये दोनों (अर्थात् वेदाध्ययन एवं तप) तथा अच्छा आचरण परिलक्षित हो।'[40] मनु का कथन है कि ऐसे ब्राह्मण को, जिसने वेदाध्ययन नहीं किया है, जो लालची है तथा प्रवञ्चक है, दान देना व्यर्थ है और दानकर्ता नरक में जाता है (४।१९२-१९४)। भगवद्गीता (१७।२२) ने कुपात्र व्यक्ति को दान देने की भर्त्सना की है और उसे तामस (तमस् से प्रभावित, अबोधता या भ्रम से उत्पन्न) माना है।

जब बौद्धधर्म पर्याप्त प्रचलित एवं प्रभावशाली सिद्ध हुआ तथा उसे राजाओं का आश्रय भी मिलने लगा तो ब्राह्मणों को बहुत-सी समस्याओं का सामना करना पड़ा। उन्हें ब्राह्मणों की संख्या पर्याप्त रूप में उच्च रखनी पड़ती थी, उन्हें उन ब्राह्मणों के लिए, जो वेदाध्ययन में लगे रहते थे, जीविका-साधन जुटाने पड़ते थे; इतना ही नहीं, उन्हें प्रचलित बौद्ध विचारों में कतिपय को यथासम्भव अपने ग्रन्थों में पचा लेना पड़ता था। प्रत्येक ब्राह्मण में स्वयं अपने वेद एवं उसके सहायक साहित्य में पाण्डित्य प्राप्त करने एवं उसे स्मरण रखने की योग्यता, बुद्धि एवं लगन नहीं भी हो सकती थी। यदि एक सौ ब्राह्मण कुलों पर यह भार सौंपा गया होगा तो उनमें केवल दस प्रतिशत कुल ही अपने वेद का पाण्डित्य प्राप्त कर सकते थे। किन्तु यह सदैव सम्भावना रही होगी कि जो स्वयं वेद के पण्डित नहीं थे, उनके कुछ पुत्र ऐसे थे जो वेद के प्रकाण्ड पण्डित रहे होंगे। अतः ब्राह्मणों की संख्या बढ़ाने की आवश्यकता पड़ती थी और उन्हें भोजन आदि दिया जाता था, नहीं तो उन्हें अपनी जीविका

३९. अनुशासनपर्व के कुछ श्लोक ये हैं (२२।३३-४१)—अक्रोधना धर्मपराः सत्यनित्या दमे रताः। तादृशाः साधवो विप्रास्तेभ्यो दत्तं महाफलम्॥ सांगांश्च चतुरो वेदानधीते यो द्विजर्षभः। षड्भ्यः प्रवृत्तः कर्मभ्यस्तं पात्रमृषयो विदुः॥ प्रज्ञाश्रुताभ्यां वृत्तेन शीलेन च समन्वितः। तारयेत कुलं सर्वमेकोऽपीह द्विजोत्तमः॥...निशम्य च गुणोपेतं ब्राह्मणं साधुसम्मतम्॥ दूरादानाय्य सत्कृत्य सर्वतश्चापि पूजयेत्॥ श्लोक ३३, ३६, ३८, ४१; 'षड्भ्यः प्रवृत्तः' पर नीलकण्ठ की टीका यों है—'अनुपदोक्तैः मधुमांसवर्जनमर्यादापालनशौचैः सह अध्ययनयागदानेभ्यः, तान्यनुष्ठातुं प्रवृत्तः इत्यर्थः।'

४०. न विद्यया केवलया तपसा वापि पात्रता। यत्र वृत्तमिमे चोभे तद्धि पात्रं प्रकीर्तितम्॥ याज्ञ० (१।२००)।

कमाने में अपनी शक्ति एवं समय का उपयोग करना पड़ता और वेदाध्ययन आदि कार्य पिछड़ जाता। इन्हीं कारणों से कुछ पुराणों ने ब्राह्मणों को दान देने की बात पर लगातार बल दिया है।

जब अधिकांश पुराण लिखे गये थे उन दिनों ब्राह्मणों के समक्ष भाँति-भाँति की कठिनाइयाँ एवं विरोधी शक्तियाँ उपस्थित थीं। ई० पू० तीसरी शती से लेकर ई० उ० सातवीं शती तक बौद्ध धर्म को अशोक, कनिष्क एवं हर्ष के समान राजाओं का आश्रय प्राप्त था। बौद्ध धर्म वास्तव में जाति के विरोध में क्रान्ति नहीं था, प्रत्युत वह यज्ञ-प्रणाली, वेद एवं मोक्ष की प्राप्ति के लिए वेद के मार्ग के विरुद्ध खड़ा था। बुद्ध ने कोई नवीन धर्म नहीं प्रवर्तित किया, प्रत्युत वे हिन्दू धर्म के एक बड़े सुधारक थे। उन्होंने नैतिक प्रयास, अहिंसा, सत्य आदि पर बहुत बल दिया, जो पहले से ही हिन्दू धर्म में समन्वित हो चुके थे और उसके प्रमुख अंग बन चुके थे और आज भी उसी प्रकार से बने हुए हैं। बनारस (वाराणसी) के पास सारनाथ में बुद्ध ने जो प्रथम उपदेश दिया, उसमें उन्होंने दो अतिरेकों (निरतिशयों) को छोड़ देने की बात कही, यथा—'विषयों के पीछे पड़ा रहना एवं निरर्थक तपों का व्यवहार', यही मध्यम मार्ग उन्हें सूझ पड़ा था जो उनके ज्ञान एवं निर्वाण का कारण बना।[41] उन्होंने चार 'आर्यसत्यानि' (चार सत्यों) की व्याख्या की, यथा—**दुःख**, दुःख का कारण, अर्थात् तृष्णा (तण्हा) जिसे **दुःख-समुदय** भी कहा जाता है, **दुःख-निरोध** एवं **दुःख-निरोधगामिनी पटिपदा**, अर्थात् दुःख के निरोध के लिए मार्ग।[42] अन्तिम को 'अष्टांगिक मार्ग' कहा जाता है, यथा—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् ध्यान।[43] बुद्ध एवं उनके शिष्यों द्वारा ये सिद्धान्त सब के समक्ष रखे गये। ये विशेषतः उन शूद्रों को अधिक प्रभावित करते थे जिनकी सामाजिक स्थिति वैदिक एवं स्मृतियों के कालों में बड़ी

४१. देखिए धम्मचक्क-प्पवत्तन-सुत्त (धर्म के राज्य का प्रतिष्ठापन), सैक्रेड बुक आव दि ईस्ट, जिल्द ११ पृ० १४६।

४२. यह द्रष्टव्य है कि उपनिषदों एवं महाभारत में भी तृष्णा या काम के त्याग पर बल दिया गया है। देखिए—यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः। अथ मर्त्यो अमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥ कठ० (६। १४); या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः। योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम्॥ वनपर्व (२।३६), अनुशासनपर्व ७।२१, ब्रह्माण्ड ३।६८।१००; यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्। तृष्णाक्षयसुखस्यैते कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥ शान्ति० १७४।४६, वायु ९३।१०१, ब्रह्माण्ड ३।६८।१०३।

४३. देखिए धम्मचक्कप्पवत्तन-सुत्त (सैक्रेड बुक आव दि ईस्ट, जिल्द ११, पृ० १४७, जहाँ 'अष्टांगिको मार्गः' दिया हुआ है। पालि शब्द ये हैं—सम्मा-दिट्ठि, सम्मा-संकप्पो, सम्मा-वाचा, सम्मा-कम्मन्तो, सम्मा-आजीवो, सम्मा-वायामो, सम्मा-सति (सम्यक् स्मृति), सम्मा-समाधि। और देखिए दीघनिकाय (पालि टेक्स्ट सोसायटी) जिल्द १, पृ० १५७; महावग्ग (ओल्डेनबर्ग), जिल्द १, पृ० १० (१।६।१८) एवं धम्मचक्क-प्पवत्तन-सुत्त (सारनाथ की महिन्द वजिरा द्वारा सम्पादित, पृ० ३): दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध, दुःखनिरोधगामिनी पटिपदा के लिए देखिए महावग्ग (१।६।१९-२२), वही पृ० १०। ये चारों 'आर्यसत्यानि' अर्थात् चार श्रेष्ठ सत्य कहे जाते हैं क्योंकि वे आर्य (बुद्ध) द्वारा प्राप्त हुए थे। योगसूत्रभाष्य में व्याख्यायित चिकित्सा-शास्त्र एवं योग के चार प्रकार के सूत्रों से ये आर्यसत्यानि मिलते हैं: 'यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहम्—रोगो, रोगहेतुरारोग्यं भैषज्यमिति, एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव, तद्यथा—संसारः, संसारहेतुः, मोक्षः, मोक्षोपायः इति। तत्र दुःखबहुलः संसारो हेयः। प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः। संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम्। हानोपायः सम्यग्दर्शनम्। योगभाष्य (योगसूत्र २।१५)।

हीन थी। शूद्र के समक्ष वेद-पाठ वर्जित था, शूद्र यज्ञ नहीं कर सकते थे और उस काल में वे तीन उच्च वर्णों की सेवा करते थे। मनु (८।४१३) में शूद्रों की यही स्थिति थी, अर्थात् वे ब्राह्मणों की सेवा करने को परमात्मा द्वारा उत्पन्न किये गये थे। किन्तु यह स्थिति केवल आदर्श थी, या कार्यान्वित नहीं होती थी। ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि सम्पूर्ण भारत बौद्ध हो गया था। लाखों प्राचीन हिन्दू धर्मावलम्बी थे। हाँ, इसका भय अवश्य था कि राज्याश्रय मिल जाने एवं सरल तथा आकर्षक उपदेशों के कारण बहुत-से लोग प्राचीन धर्म को छोड़ सकते थे।

जिन दिनों बौद्ध धर्म अपने उत्कर्ष की चोटी पर था, ब्राह्मणों को प्राचीन वैदिक धर्म के झण्डे को फहराते रखना था, इसके लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक करना पड़ता था कि सामान्य जनता और यहाँ तक कि ज्ञानवान् लोग बौद्धधर्म के चंगुल से बचे रहें और प्राचीन धार्मिक मार्ग को न छोड़ें। स्वयं बौद्ध धर्म ने अपने बहुत-से आदर्शों एवं सिद्धान्तों में ईसा की प्रारम्भिक शतियों एवं उनके उपरान्त भी बड़े-बड़े परिवर्तन कर दिये थे। बुद्ध के आरम्भिक सिद्धान्त व्यक्ति के अपने (व्यक्तिगत) प्रयास एवं निर्वाण के लक्ष्य तक सीमित थे। आरम्भिक बौद्ध ग्रन्थों में आत्मा के अस्तित्व का अस्वीकरण घोषित था और परमात्मा के विषय में कोई विचार-विमर्श नहीं था।[४४] यद्यपि बुद्ध ने निर्वाण के बारे में कहा, किन्तु उन्होंने उसकी परिभाषा नहीं की और न यही बताया कि निर्वाण-प्राप्ति के उपरान्त व्यक्ति की क्या स्थिति होती है। अश्वघोष ने निर्वाण की तुलना बुझी हुई ज्वाला से की है (सौन्दरनन्द, अध्याय १६।२८-२९)। बुद्ध के समय में कर्म-सिद्धान्त लोगों के मन में समाया हुआ था, अतः उन्होंने उसे ज्यों-का-त्यों अपना लिया, जो अबौद्धों को अनात्मा वाले बौद्ध सिद्धान्त के विपरीत लगता है। धम्म शब्द पालि 'धम्मपद' (यह शब्द 'मिलिन्द पन्हो' में प्रयुक्त हुआ है, अतः यह कृति ई० पू० दूसरी शती के पूर्व की है) में तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, यथा—(१) सत्य या कानून (नियम या व्यवहार) जो बुद्ध द्वारा उपदेशित हुआ, (२) वस्तु या रूप (आकार) तथा (३) जीवन का ढंग।

जैसा हमने ऊपर देख लिया है, बुद्ध द्वारा एवं उनके परिनिर्वाण के दो-एक शती बाद अनुयायियों द्वारा उपदेशित मौलिक बौद्धधर्म इस संसार के दुःखों से छुटकारा पाने या निर्वाण प्राप्त करने के लिए व्यक्तियों के समक्ष एक कठोर नैतिक आचरण मात्र था। अति आरम्भिक बौद्धधर्म की तीन केन्द्रीय मान्यताएँ थीं, यथा—बुद्ध, धर्म एवं संघ नामक तीन रत्न या शरण, चार आर्य सत्य तथा अष्टांगिक मार्ग। धीरे-धीरे एक नया सिद्धान्त भी प्रकट हुआ।[४५] यह प्रचारित हुआ कि केवल अपने मोक्ष या निर्वाण के लिए प्रयत्न करना मात्र स्वार्थ है, स्वयं बुद्ध ने

४४. देखिए 'मिलिन्द पन्हो', सैक्रेड बुक आव दि ईस्ट, जिल्द ३५, पृ० ८८-८९, जहाँ इस सिद्धान्त के विषय में कि आत्मा नहीं है, विवेचन उपस्थित किया गया है। पृ० ५२०, ७१-७७ पर कम्म (कर्म) नामक बौद्ध सिद्धान्त एवं उस सिद्धान्त पर, जो जन्मे हुए नाम-रूप (नाम एवं आकार) कहता है न कि आत्मा, विवेचन है। सौन्दरनन्द (बिब्लियोथिका इण्डिका, १६।२८-२९) में आया है : 'दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्। दिशं न कांचिद्विदिशं न कांचित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥ एवं कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैव...कांचित् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥'

४५. श्री एच० कर्न ने अपने ग्रन्थ 'मैनुअल आव बुद्धिज्म' (गुण्ड्रिस में, पृ० १२२) में कहा है कि बौद्धों का महायानवाद भगवद्गीता का ऋणी है। मिलाइए 'लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः...सर्वभूतहिते रताः॥' ५।२५, जो महायान सिद्धान्त से मिलता है।

सम्पूर्ण मानवता के लिए कृपालु होकर ४५ वर्षों तक लोगों में उपदेश किया कि वे निर्माण की प्राप्ति करें, अत बौद्धों को अकेले अपनी मुक्ति (छुटकारा) की चिन्ता न कर कृपालु हो अन्य लोगों के छुटकारे की बात सोचनी चाहिए और ऐसा करने में बार-बार जन्म लेने को सन्नद्ध रहना चाहिए, अपने निर्वाण की चिन्ता नहीं करनी चाहि और न संसार से ही डरना चाहिए। जिन लोगों ने इस नवीन दृष्टिकोण को अपनाया उन्होंने बुद्ध को देवत्व का रू दिया और कहा कि सिद्धार्थ को कई बार जन्म लेकर सेवा करने, लोगों की सहायता करने आदि से बुद्धत्व प्राप्त हुआ और यह आचरण-मार्ग उत्तम है (**महायान,** बड़ा यान या वाहन या विधि या ढंग) तथा व्यक्तिगत मुक्ति क मार्ग व्यक्ति मात्र तक सीमित है, अर्थात् स्वार्थपूर्ण है (जो **हीनयान,** हीन वाहन या ढंग या विधि) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह दृष्टिकोण जो महायान के नाम से प्रचारित हुआ, बड़ा आकर्षक सिद्ध हुआ और एशिया के अधिकांश देशों ने इसे ही अपनाया।

४६. बौद्धधर्म पर अनेक ग्रन्थ हैं। 'महायान' के लिए देखिए डब्लू० एम० मैकगोवर्न कृत 'ऐन इण्ट्रोडक्शन टु महायान बुद्धिज्म' (लंदन, १९२२); डा० एम० एन० दत्त कृत 'ऐस्पेक्ट्स आव महायान बुद्धिज्म (१९३०); डा० हरदयाल कृत 'बोधिसत्त्व डाक्ट्रिन इन संस्कृत लिटरेचर' (केगन पाल, लंदन, १९३२); प्रो० केनेथ डब्लू० मार्गन द्वारा सम्पादित एवं बहुत-से देशों के लेखकों द्वारा लिखित (हीनयान एवं महायान दोनों पर) 'दि पाथ आव दि बुद्ध' (न्यूयार्क, १९५६)।

जो लोग बौद्धधर्म के विषय में सामान्य रूप से एवं हीनयान तथा महायान के विषय में विशेष जानकारी ग्रहण करना चाहते हैं उनके लिए कुछ अन्य प्रकाशनों की चर्चा यहाँ की जा रही है। वे लोग देखें—थेरी स्टेचेंटस्की कृत 'सेण्ट्रल कांसेप्शन आव बुद्धिज्म' (लंदन, १९२३), 'दि कांसेप्शन आव निर्वाण' (लेनिनग्राड, १९२७), 'बुद्धिस्ट लाजिक', जिल्द १ (१९५८); जे० जी० जेनिंग्स कृत 'वेदान्तिक बुद्धिज्म आव दि बुद्ध' (आक्सफोर्ड यूनि० प्रेस, १९४८); एडमण्ड होम्स कृत 'क्रीड आव बुद्ध' (पाँचवाँ संस्करण); डा० शशिभूषण दासगुप्त कृत 'इण्ट्रोडक्शन टु तान्त्रिक बुद्धिज्म' (कलकत्ता यूनि०, १९५०); ह्यूज आई० फासेट कृत 'दी फ्लेम एण्ड दि लाइट' (लंदन एवं न्यूयार्क, १९५८); डा० बी० आर० अम्बेडकर कृत 'दि बुद्ध एण्ड हिज धम्म' (१९५७); प्रो० एफ० मसूतानी कृत 'कम्परेटिव स्टडी आव बुद्धिज्म एण्ड क्रिश्चियानिटी' (टोकियो, १९५७)। असंग-कृत महायान-सूत्रालंकार (प्रो० सिलवाँ लेवी द्वारा सम्पादित) ने दो श्लोकों (१।९-१०) में दोनों सम्प्रदायों के अन्तरों (५ अन्तरों) को प्रकट किया है। डा० जे० तका कुसु द्वारा अनूदित इत्सिंग का 'रेकर्ड्स आव दि बुद्धिस्ट रेलिजिन' (आक्सफोर्ड, १८९६), इसमें आश्चर्य की बात यह कही गयी है कि दोनों साम्प्रदायिक सिद्धान्त मूल धर्म से सर्वथा मिलते हैं। दोनों सत्य को समान रूप से मानते हैं और हमें निर्वाण की ओर ले जाते हैं। बुद्ध ने आत्मा या ईश्वर की बात ही नहीं की (भले ही उन्होंने इनके अस्तित्व को भावात्मक रूप से न माना हो), उन्होंने व्यक्ति के आत्मा एवं अमरता को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने उपनिषद् की 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' नामक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शिक्षा पर कोई बल नहीं दिया। उन्होंने निर्वाण को परम शान्ति की स्थिति कहा है, साधारण जीवन को दुःखात्मक माना है और बलपूर्वक प्रतिपादित किया है कि निर्वाण इस जीवन में भी प्राप्त किया जा सकता है। उन्होंने अपने को परमात्मा नहीं कहा, प्रत्युत मानव कहा। महायान सिद्धान्तों के कई प्रकार हैं और परिभाषाओं में बड़ी विभिन्नता है। सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि वे ग्रन्थ जो महायान की शिक्षा देते हैं, व्यावहारिक रूप में मानव बुद्ध के आदर्श का त्याग करते हैं, बुद्ध एवं भावी बुद्धों की पूजा की शिक्षा देते हैं और प्रतिपादन करते हैं कि निर्वाण प्राचीन विधि से नहीं प्राप्त किया जा

बुद्ध ने वाराणसी के सारनाथ नामक स्थान पर जो शिक्षा दी उससे बोधिसत्त्वों के सिद्धान्त का मेल नहीं बैठता। हीनयान एवं महायान के आदर्शों में अन्तर है। मौलिक शिक्षा व्यक्ति-प्रयास, नैतिक विकास, दुःख तथा इच्छाओं या कामनाओं तथा स्वयं जीवन की लालसा के दूरीकरण पर निर्भर है। 'क्या मैं गत युगों में जीवित था या नहीं?' ऐसे प्रश्नों पर विचार करने को बुद्ध समय नष्ट करना समझते थे। इसी प्रकार, 'क्या मैं भविष्य में रहूँगा? क्या मेरा अस्तित्व है या नहीं है?' प्रश्न भी बुद्ध के लिए व्यर्थ थे। सब्बासवसुत्त (९-१३) में आया है कि अष्टांगिक मार्ग से चलता हुआ विज्ञ पुरुष जानता है कि किन विषयों पर विचार करना और किन विषयों पर नहीं। देखिए, सेक्रेड बुक आव दि ईस्ट (जिल्द ११, पृ० २९८-३००)। बौद्धधर्म ने एशिया के अर्ध भाग पर जो अपना प्रभाव डाला वह निर्वाण पाने का वचन देकर नहीं, प्रत्युत अपनी उस शिक्षा द्वारा, जिनमें अधिक सुलभ वेदनता (हार्दिक अनुभवशीलता), सक्रिय दाक्षिण्य, (उदारता), अच्छाई, मधुरता एवं सज्जनता आदि के गुण विद्यमान थे। महायान ने सेवा भावना एवं भक्ति पर अधिक बल दिया। हीनयान एवं महायान दोनों की शिक्षा अपने-अपने ढंग से आकर्षक थी।

बौद्धधर्म ने पंच शीलों पर बल दिया है जो सभी बौद्धों के लिए अनिवार्य थे।[४७] यथा—"किसी प्रकार का आघात एवं जीव-नाश न करना; चोरी न करना; काम-सम्बन्धी अपवित्रता से दूर रहना; झूठ से दूर रहना तथा उन्मत्त करने वाले पेय पदार्थों से दूर रहना।" इन पंच शीलों में पाँच अन्य अनुशासन या उपदेश जोड़ दिये गये। (दोनों मिलकर दश-शिक्षापद कहे जाते हैं), जो बौद्ध उपासकों के लिए आवश्यक थे, यथा—"वर्जित काल में भोजन न करना; नृत्य, संगीत, तमाशा आदि सांसारिक मनोरंजनों से दूर रहना; अंजनों एवं आभूषणों का प्रयोग न करना; लम्बे-चौड़े एवं अलंकृत पलंगों या खाटों को व्यवहार में न लाना तथा सोना-चाँदी न ग्रहण करना।" ये शील प्राचीन उपनिषदों एवं धर्मसूत्रों से ग्रहण किये गये हैं। छान्दोग्योपनिषद् (५।११।५) में आया है कि केकय के राजा अश्वपति को इसका गर्व था कि उसके राज्य में न तो कोई चोर था, न कोई कदर्य (कृपण) एवं मद्य पान करने वाला था, कोई ऐसा व्यक्ति नहीं था जिसके घर में अग्निवेदिका न हो (अर्थात् सभी आहिताग्नि थे अर्थात् यज्ञ करने वाले थे), कोई अविद्वान् नहीं था, कोई स्वैरी (व्यभिचार करने वाला) नहीं था, स्वैरिणी (व्यभिचारिणी नारी) की तो बात ही नहीं थी।[४८] इसी उपनिषद् ने एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है—'जो सोने की चोरी करता है, जो सुरा पीता है, जो गुरु-शय्या को अपवित्र करता है (पूज्य स्त्रियों के साथ गमन करता है), जो ब्रह्महत्या

सकता, वह इस जीवन में नहीं प्राप्त किया जा सकता, प्रत्युत शतियों एवं युगों तक अच्छे कर्मों, सेवा-कार्यों तथा सद्व्यवहारों के फलस्वरूप ही प्राप्त हो सकता है।

कुछ लोगों के मत के अनुसार मन्त्रयान एवं वज्रयान नामक सम्प्रदाय महायान की शाखाएँ कहे जाते हैं। वज्रयान के विषय में हम अगले अध्याय में सविस्तार पढ़ेंगे। श्री राहुल सांकृत्यायन के अनुसार वज्रयान (७००-१२०० ई०) महायान (४००-७०० ई०) का पर्यायवाची है; वह केवल उसका उत्तरकालीन विकास है (देखिए पृ० २११, जे० ए०, जिल्द २२५, १९३४ में प्रकाशित 'एल् आरजिने दु वज्रयान एटलेस ८४ सिद्धज')।

४७. देखिए खुद्दकपाठ ३, दीघनिकाय (२।४३, पृ० ६३) एवं श्री कर्न कृत 'मैनुअल आव इण्डियन बुद्धिज्म', पृ० ७०, जहाँ पंचशील पर विवेचन उपस्थित किया गया है।

४८. स ह प्रातः संजिहान उवाच 'न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः।' छा० उप० (५।११।५)।

करता है—इन चारों का पतन होता है और पाँचवाँ वह (पतित होता) है जो इन चारों का साथ करता है।'[४९] यह हम आगे देखेंगे कि अहिंसा पर उपनिषदों में भी किस प्रकार बल दिया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अहिंसा, अस्तेय (चोरी न करना), यौन शुचिता (ब्रह्मचर्य), सत्यता किस प्रकार अत्यन्त प्राचीन उपनिषदों में भी बलपूर्वक व्याख्यायित थे। परिव्राजक को सम्पूर्ण सम्पत्ति छोड़ देनी पड़ती थी और अपनी जीविका के लिए भिक्षा माँगनी पड़ती थी (देखिए बृहदारण्यकोपनिषद् ३।५।१ एवं ४।४।२२, जाबालोपनिषद् ५, गौतम ३।१०-१३, वसिष्ठ १०)।[५०] अन्य पाँच अनुशासन, यथा सोना एवं चाँदी को ग्रहण न करना, अंजनों एवं आभूषणों, पुष्पों, नृत्यों, गानों आदि के परित्याग की बात गौतम[५१] (२।१९ एवं ३।४), वसिष्ठ (१०।६) आदि में है जो वैदिक छात्रों एवं परिव्राजकों के लिए अनुशासित हैं। देखिए एच० कर्न (मैनुअल आव इण्डियन बुद्धिज्म, गुण्ड्रिस, पृ० ७०) जिन्होंने कहा है कि साधुओं (भिक्षुओं) की श्रेष्ठ नैतिकता केवल वही है जो चौथे आश्रम में द्विज के जीवन-नियम में, जब वह यति हो जाता है, देखी जाती है और इस विषय में सारी बातें धर्मसूत्रों एवं धर्मशास्त्रों से ली गयी हैं।

अहिंसा

महाभारत एवं पुराणों ने अहिंसा पर बड़ा बल दिया है। यही बात उपनिषदों में भी है। छान्दोग्य ने कई बार चर्चा की है—[५२] ३।१७।४ में आया है कि तप, दान, आर्जव, अहिंसा एवं सत्य वचन ही (बिना किसी उत्सव आदि के यज्ञ की) दक्षिणा है। इस बात की चर्चा करते हुए कि वह व्यक्ति जो आत्मा का सत्य ज्ञान प्राप्त कर लेता है, इस संसार में लौटकर नहीं आता, छान्दोग्योपनिषद् ने कहा है, 'वह तीर्थों (यज्ञों) के अतिरिक्त कहीं भी किसी जीव को कष्ट नहीं देता।' बृहदारण्यकोपनिषद् (५।२) का कथन है कि किस प्रकार प्रजापति ने देवों, असुरों एवं मानवों

४९. तदेष श्लोकः। स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरंस्तैरिति। छा० उप० ५।१०।९।

५०. एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति। बृह० उप० ३।५।१ (आत्मा के ज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त ब्राह्मण लोग पुत्रैषणा, वित्तैषणा एवं लोकैषणा से दूर हट जाते हैं और भिक्षुक की भाँति भ्रमण करते हैं)। अथ परिव्राड् विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः शुचिरद्रोही भैक्षणो ब्रह्मभूयाय भवतीति। जाबालोप० ५, शंकराचार्य द्वारा वेदान्तसूत्र ३।१।३ एवं ३।४।२० पर उद्धृत।

५१. वर्जयेन्मधुमांसगन्धमाल्य-दिवास्वप्नाभ्यंजनयानोपानच्छत्र-काम-क्रोध-लोभमोह-वाद्यवादन-स्नान-दन्तधावन-नृत्यगीत-परिवाद-भयानि॥ गौ० २।१९; मुण्डोऽममोऽपरिग्रहः। वसिष्ठ १०।६। पुरोहितों के अन्य शीलों के लिए मिलाइए गौतम (२।१९) एवं दीघनिकाय (भाग १, पृ० ६४ सामञ्ञ-फल-सुत्त १।४५): 'विरतो विकालभोजना। नच्च-गीत-वादित-विसूकदस्सना पटिविरतो होति। माला-गन्ध-विलेपन-धारण-मण्डण-विभूसण ट्ठाणा पटिविरतो होति। उच्चासयन-महासयना पटिविरतो होति। जातरूप-रजतपटिग्गहणा पटिविरतो होति। आमक-मंस-पटिग्गहणा पटिविरतो होति।'

५२. अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः। छा० उप० ३।१७।४; आचार्यकुलाद् वेदमधीत्य...स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्याहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः... न च पुनरावर्तते। छा० उप० ८।१५; तदेतत्त्रयं शिक्षेद् दमं दानं दयामिति। बृह० उप० ५।२।

से कहा कि 'द द द' स्वर, जो गरजते हुए बादलों से उत्पन्न होता है, देवों को **दम** (आत्म-संयम) की आवश्यकता बताता है; असुरों को **दया** एवं मनुष्यों को **दान** बताता है। गौतम (८।२४-२५) ने आत्मा के आठ गुणों की चर्चा की है[५३], जिनमें पहला है सब प्राणियों के प्रति दया; उनका कथन है कि वह व्यक्ति, जिसने ४० संस्कार कर लिये हैं, किन्तु यदि उसने आठ गुण नहीं प्राप्त किये हैं, ब्रह्म में समाहित नहीं हो सकता। आदिपर्व में आया है, 'अहिंसा सभी प्राणियों के लिए परम धर्म है, अतः ब्राह्मण को चाहिए कि वह किसी को भी कोई कष्ट न दे।' 'अहिंसा परमो धर्मः' कई बार महाभारत में आया है (यथा—द्रोणपर्व १९२।३८, शान्ति० २६५।६, ३२९।१८, अनुशासन० ११५।२५, ११६।३८, आश्वमेधिकपर्व २८।१६-१८, ४३।२१)। शान्तिपर्व (२९६।२२-२४) में सभी लोगों के लिए १३ गुणों का वर्णन है, जिनमें प्रथम दो हैं क्रूरता से दूर रहना एवं अहिंसा।[५४] वसिष्ठ (४।४), मनु (१०।६३) एवं याज्ञ० (१।१२२) ने सभी वर्णों के लोगों के लिए कुछ गुणों को आवश्यक माना है।

पुराणों ने भी अहिंसा पर बहुत बल दिया है। कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं।[५५] वामनपुराण में आया है—'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, दान, क्षान्ति (सहन शक्ति या सहिष्णुता), दम (आत्म-संयम), शम (इन्द्रिय-निश्चलता या शान्ति), अकार्पण्य, शौच (पवित्रता), तप—यही दशांग धर्म है जो सभी वर्णों के लिए है।' पद्म में आया है कि प्राणिहिंसा करने वाले वेदाध्ययन, दान, तप एवं यज्ञों से स्वर्ग की प्राप्ति नहीं करते; अहिंसा सर्वोत्तम धर्म, सर्वोत्तम तप एवं सर्वोत्तम दान है—यही मुनियों का कहना है; जो लोग दयालु हैं वे मच्छरों, रेंगने वाले प्राणियों (साँप

५३. दया सर्वभूतेषु शान्तिरनसूया शौचमनायासो मंगलमकार्पण्यमस्पृहेति। यस्यैते चत्वारिंशत्संस्करा न चाष्टावात्मगुणा न स ब्रह्मणः सायुज्यं सलोकतां गच्छति। गौ० ध० सू० (८।२४-२५)। मत्स्य (५२।८-११) ने भी गौतम द्वारा प्रकाशित आठ गुणों की चर्चा की है। और देखिए मार्कण्डेय (२५।३२-३३)।

५४. अहिंसा परमो धर्मः सर्वप्राणभृतांवर। तस्मात्प्राणभृतः सर्वान्न हिंस्याद् ब्राह्मणः क्वचित्॥ आदि० २।१३-१४; अहिंसां सर्वभूतेषु धर्मं ज्यायस्तरं विदुः। द्रोण० १९२।३८; अहिंसा सर्वभूतेषु धर्मेभ्यो ज्यायसी मता। शान्ति० २६५।६; न हिंस्यात्सर्वभूतानि मैत्रायणगतश्चरेत्। शान्ति० ३२९।१८; अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परं तपः। अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते॥ अनुशासन० ११५।२५; अहिंसा परमो धर्मो हिंसा चाधर्मलक्षणा। आश्वमेधिक० ४३।२१।

५५. अहिंसा सत्यमस्तेयं दानं क्षान्तिर्दमः शमः। अकार्पण्यं च शौचं च तपश्च रजनीचर। दशांगो राक्षसश्रेष्ठ धर्मोऽसौ सार्ववर्णिकः॥ वामन १४।१-२; न वेदैर्न च दानैश्च न तपोभिर्न चाध्वरैः। कथंचित् स्वर्गति यान्ति पुरुषाः प्राणिहिंसकाः॥ अहिंसा परमो धर्मो ह्यहिंसैव परं तपः। अहिंसा परमं दानमित्याहुर्मुनयः सदा॥ मशकान् सरीसृपान् दंशान्यूकाद्यान्मानवांस्तथा। आत्मौपम्येन पश्यन्ति मानवा ये दयालवः॥ पद्म १।३१।२६-२८; ये श्लोक पद्मपुराण ६।२४३।६९-७१ में दुहराये गये हैं। तस्मान्न हिंसायज्ञं च प्रशंसन्ति महर्षयः। उञ्छो मूलं फलं शाकमुदपात्रं तपोधनाः। एतद् दत्त्वा विभवतः स्वर्गलोके प्रतिष्ठिताः॥ अद्रोहश्चाप्यलोभश्च दमो भूतदया शमः। ब्रह्मचर्यं तपः शौचमनुक्रोशं (शः ?) क्षमा धृतिः। सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतद् दुरासदम्॥ मत्स्य १४३।३०-३२; ब्रह्माण्ड २।३१। ३६-३८ में वही है जो मत्स्य १४३।३०-३२ है। 'उञ्छो मूलं फलं...मूलमेतत्सनातनम्' आश्वमेधिकपर्व ९१।३२-३४ में भी है। सनातनधर्म शब्द के लिए देखिए माधववर्मा का खानपुर पत्रक (एपि० इण्डिका, जिल्द २७, पृ० ३१२): 'श्रुतिस्मृतिविहितसनातनधर्मकर्मनिरताय', प्रो० वी० वी० मिराशी द्वारा सम्पादित, इन्होंने इस लेख को ६ठी शताब्दी का माना है।

आदि), जुँओं आदि तथा मानवों को अपने समान ही मानते हैं। मत्स्य में यहाँ तक आया है कि महर्षि लोग ऐसा यज्ञ करने को नहीं कहते, जिसमें हिंसा होती है; खेत में गिरे हुए अन्नों को एकत्र कर दान करने से, मूलों, शाकों एवं जलपूर्ण पात्र अपनी सामर्थ्य से दान करने से ऋषि लोग तप करते हुए स्वर्ग में प्रतिष्ठित हुए; अक्रोध, अलोभ, दम (आत्म-निग्रह), भूतदया (जीवदया), शम (इन्द्रिय-निग्रह), ब्रह्मचर्य, तप, शौच (पवित्रता), सुकुमारता, क्षमा, धैर्य (निश्चलता)—यह सनातनधर्म का मूल है, जो कठिनता से पालन किया जा सकता है। ब्रह्माण्ड (२।३१। ३५ : 'तस्मादहिंसा धर्मस्य द्वारमुक्तं महर्षिभिः) में आया है कि महर्षियों ने अहिंसा को धर्म का द्वार कहा है। पद्म (५।४३।३८) में आया है—'अहिंसा के बराबर कोई दान या तप नहीं है।' यह मनोरंजक एवं द्रष्टव्य है कि मत्स्य एवं ब्रह्माण्ड ने अहिंसा को 'सनातनधर्म' कहा है और पशु-यज्ञों की भर्त्सना की है। कूर्म का कथन है--[56] 'अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह (धन-सम्पत्ति को इकट्ठा न करना) को संक्षेप में 'यम' कहा जाता है, जिससे मनुष्यों के मन में पवित्रता (चित्त-शुद्धि) उत्पन्न हो जाती है। परम ऋषियों ने घोषित किया है कि सदैव विचार, शब्द एवं कर्म से किसी को क्लेश न देना अहिंसा है। अहिंसा से बढ़कर कोई धर्म नहीं है, अहिंसा (के व्यवहार) से बढ़कर कोई सुख नहीं है। (वैदिक) विधि से जो हिंसा हो जाय वह अहिंसा ही घोषित है', (२।११।१३-१५)। उपनिषदों ने मर्यादित (सीमित) अहिंसा की बात चलायी है, किन्तु सामाञ्ञ-फल-सुत्त जैसे मौलिक पालि ग्रन्थों ने सभी प्राणियों की हिंसा को वर्जित बतलाया है। पुराणों में अधिकांश ने जनता में यह विश्वास जमाने के लिए कि वे बौद्ध शिक्षाओं से किसी प्रकार पीछे नहीं हैं, असीमित अहिंसा पर बल दिया है। देश-काल विचित्र होता है, वह कथा-कथा परिवर्तन नहीं ला देता। लंका, बरमा, चीन, जापान आदि देशों के बौद्ध मछली, मांस खाने में कोई निषेध नहीं बरतते, किन्तु पुराणों के लगातार परामर्श पर लाखों भारतीय (न केवल ब्राह्मण, प्रत्युत वैश्य आदि, यहाँ तक कि वे शूद्र जो वैष्णव हैं) निरामिषभोजी हैं, यद्यपि शतियों पूर्व बौद्ध धर्म यहाँ से विलुप्त हो गया है।

यह द्रष्टव्य है कि कुछ पुराण अहिंसा के अतिरेक के विरुद्ध भी हैं। ब्रह्माण्ड एवं वायु का कथन है कि उस

५६. अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ। यमाः संक्षेपतः प्रोक्ताश्चित्तशुद्धिप्रदा नृणाम्॥ कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा। अक्लेशजननं प्रोक्ता अहिंसा परमर्षिभिः॥ अहिंसायाः परो धर्मो नास्त्यहिंसापरं सुखम्। विधिना या भवेद्धिसा त्वहिंसैव प्रकीर्तिता॥ कूर्म २।११३-१५। लिंगपुराण (८।८-९) ने योग के आठ साधन बताये हैं जिनमें प्रथम यम है और पाँच साधनों को कूर्म में उल्लिखित कहा है। 'यम' कई प्रकार से वर्णित हैं। कूर्म, लगता है, योगसूत्र (२।३०-३१) का अनुसरण करता है, यथा—'अहिंसा—सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। शौच-सन्तोष-तपः-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधानानि नियमाः।' मनु (४।२०४) ने सामान्य रूप से कहा है कि व्यक्ति को यमों का सदैव व्यवहार करना चाहिए, सब लोग नियमों का पालन सदैव नहीं भी कर सकते हैं। किन्तु मनु ने यमों एवं एवं नियमों के नाम नहीं गिनाये हैं। मेधातिथि ने व्याख्या की है कि यम निषेधात्मक हैं, यथा अहिंसा, अस्तेय, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह अर्थात् दूसरे की सम्पत्ति न ग्रहण करना अथवा दान न ग्रहण करना; तथा नियम भावात्मक क्रियाएँ हैं, यथा—व्यक्ति को वेदाध्ययन सदैव करना चाहिए (मनु ४।१४७)। याज्ञ० (३।३१२-३१३) ने दस यमों के नाम गिनाये हैं, यथा—ब्रह्मचर्य, करुणा, शान्ति (सहिष्णुता), दान, कुटिल व्यवहार (आचरण) का अभाव, अहिंसा, अस्तेय, माधुर्य, इन्द्रिय-निग्रह एवं दस नियम। वैखानसस्मार्तसूत्र (९-४) ने दस यमों के नाम लिये हैं।

व्यक्ति (आततायी या साहसिक) को, जिसके मर जाने से बहुत-से लोग सुख से जीवन व्यतीत करते हैं, मार डालना न पातक है और न उपपातक, अर्थात् इससे न बड़ा पाप लगता है न छोटा पाप।[५७]

पूर्त

पूर्त-धर्म पर पुराण अत्यन्त बल देते हैं, यथा जनकल्याण कार्य, दान, समाज-सेवा, दरिद्रों एवं दुखियों की सेवा आदि करने पर। ऋग्वेद में 'इष्टापूर्त' शब्द एक बार आया है—[५८] 'तुम परम व्योम में अपने पितरों (पूर्व पुरुषों), **यम एवं इष्टापूर्त** (यज्ञों एवं जनकल्याण के लिए किये गये कर्मों से उत्पन्न फल) के साथ मिल जाओ।' 'इष्ट' शब्द ऋग्वेद में कई स्थानों पर आया है (१।१६२।१५, १।१६४।१५, १०।११।२, १०।८२।२), किन्तु केवल ऋ० (१०।१२।२) को छोड़कर, जहाँ यह 'यज्ञ' के अर्थ में प्रयुक्त-सा लगता है, कहीं भी इसका अर्थ निश्चित नहीं है। 'पूर्त' ऋग्वेद (६।१६।१८, ८।४६।२१) में आया है, किन्तु अर्थ निश्चित नहीं हो पाता। 'इष्टापूर्त' शब्द कतिपय उपनिषदों में आया है। छान्दोग्योपनिषद् (५।१०।३) में आया है—'किन्तु जो लोग ग्राम में रहते हुए यज्ञों का जीवन बिताते हैं, जनकल्याण का कार्य करते हैं एवं दान देते हैं, वे धूम आदि की ओर जाते हैं।'[५९] इसी प्रकार प्रश्नोपनिषद् (१।९) में आया है—'वे, जो यज्ञों का ढंग व्यवहृत करते हैं तथा वे जो जनकल्याण के कार्य को ही कर्तव्य समझते हैं, केवल चन्द्रलोक को पहुँचते हैं और पुनः इस लोक में लौट आते हैं।' मुण्डकोपनिषद् में कथित है—'मूढ (भ्रमित) लोग, जो यज्ञों एवं जनकल्याण के कार्यों को ही उत्तम कार्य समझते हैं, किसी अन्य कार्य को उनसे श्रेयस्कर नहीं मानते, वे स्वर्ग की चोटी पर अपनी सुकृति का फल भोगकर पुनः इस लोक में या इससे हीन लोक में प्रवेश करते हैं।' मनु (४।२२७) ने 'इष्ट' एवं 'पूर्त' का उल्लेख किया है और प्रतिपादित किया है कि व्यक्ति को प्रसन्न होकर यज्ञिय दान एवं पूर्त प्रकार के दान आदि का व्यवहार सुपात्र ब्राह्मण की प्राप्ति पर सामर्थ्य के अनुसार करना चाहिए।[६०] अमरकोश ने 'इष्ट' को यज्ञों के एवं 'पूर्त' को कूप, तालाब खुदवाने आदि के अर्थ में लिया है। मार्कण्डेय (१६।१२३-१२४) ने निम्नोक्त ढंग से इन्हें परिभाषित किया

५७. यस्मिंस्तु निहते भद्रे जीवन्ते बहवः सुखम्। तस्मिन् हते नास्ति शुभे पातकं चोपपातकम्॥ ब्रह्माण्ड २।३६।१८८; वायु ६९।१६२ (यहाँ जीवन्ते के स्थान पर लभन्ते आया है)। यही बात दूसरे शब्दों में ब्रह्मपुराण (१४१।२२) में आयी है, यथा—'यस्मिन्निपातिते सौख्यं बहूनामुपजायते। मुनयस्तद्वधं प्राहुरश्वमेधशताधिकम्॥' कल्पतरु (गृहस्थकाण्ड, पृ० ३००) ने इसे वायु का माना है (थोड़ा पाठान्तर है, यथा—जीवन्ते के स्थान पर एधन्ते आया है)।

५८. सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्। ऋ० (१०।१४।८); इष्टस्य मध्ये अदितिर्नि धातु नो भ्राता नो ज्येष्ठः प्रथमो वि वोचति॥ ऋ० (१०।११।२)।

५९. अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रिम्...। छा० उप० ५।१०।३। तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते। त एव पुनरावर्तन्ते। प्रश्न० १।९; इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः। नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वाविशन्ति॥ मुण्डकोपनिषद् १।२।१०।

६०. दानधर्मं निषेवेत नित्यमैष्टिकपौर्तिकम्। परितुष्टेन भावेन पात्रमासाद्य शक्तितः॥ मनु (४।२२७); 'त्रिष्वथ क्रतुकर्मेष्टं पूर्तं खातादिकर्मणि।' अमरकोश।

है—'अग्निहोत्र (पवित्र अग्नियों को रखना), तप, सत्य, वेदाध्ययन, आतिथ्य एवं वैश्वदेव—ये इष्ट हैं; कूप, वापी (बावड़ी), तड़ाग (तालाब) खुदवाना, देवमंदिरों का निर्माण, अभ्यर्थियों को भोजन देना—ये पूर्त नाम से घोषित हैं।'[61] अग्निपुराण में भी ऐसी ही बातें हैं। पद्म (६।२४३।१०-१४) ने पूर्तकार्य को यों कहा है—'विष्णु एवं शिव के मन्दिरों, तालाबों, कूपों, कमल-सरोवरों, वटों, पिप्पलों (पीपलों), आमों, कक्कोलों, जामुनों, नीमों के वनों, पुष्प-वाटिका का निर्माण, प्रातः से सायं तक, अन्नदान बस्तियों के बाहर जल-प्रबन्ध आदि।' स्कन्द (१०।२।१०) में आया है[62]—'धर्मशास्त्रों में 'पूर्त' शब्द का प्रयोग मन्दिरों, तालाबों, बावड़ियों, कूपों एवं वाटिकाओं के निर्माण के अर्थ में हुआ है।' पद्म (६।२४४।३४-३५) का कथन है कि जो लोग मठों, गोशालाओं, मार्गों पर आरामों, साधु-यतियों के निवासों, दरिद्रों एवं असहायों के लिए पर्णकुटियों, वेदाध्ययन के लिए विशाल भवन, ब्राह्मणों के लिए गृहों का निर्माण करते हैं, वे इन्द्रलोक (स्वर्ग) में प्रवेश करते हैं। अत्रि का कथन है कि इष्ट एवं पूर्त द्विजों के सामान्य धर्मसाधन हैं, शूद्र पूर्त-धर्म का सम्पादन कर सकता है किन्तु वैदिक कर्म (यज्ञ आदि) का नहीं।[63] और देखिए अनुशासन पर्व (अध्याय ५८)। किन्तु वराहपुराण एवं कुछ स्मृतियों में ऐसा आया है कि इष्ट से केवल स्वर्ग की प्राप्ति होती है किन्तु पूर्त से मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।[64]

कभी-कभी हम पुराणों में ऐसी बातें भी पा जाते हैं जिनमें आधुनिकता की गन्ध मिल जाती है, विशेषतः जब वे समाज-सेवा, आर्त जनों के दुःख एवं क्लेश के निवारण आदि के विषय में चर्चा करते हैं। मार्कण्डेय में एक राजा कहता है—'मनुष्य उस सुख को स्वर्ग या ब्रह्मलोक में नहीं पाते जिसे वे आर्त जनों को आश्रय या सहायता देकर प्राप्त करते हैं। यज्ञों, दानों एवं तपों से यहाँ तथा परलोक में उस व्यक्ति को कोई सहारा नहीं प्राप्त हो सकता जिसका मन आर्त जनों के परित्राण में नहीं लगा हो।'[65] विष्णुपुराण ने कहा है—'मतिमान् को विचार, शब्द एवं

६१. अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चैव साधनम्। आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते॥ वापीकूपतडागानि देवतायतनानि च। अन्नप्रदानमर्थिभ्यः पूर्तमित्यभिधीयते॥ मार्कण्डेय (१६।१२३-१२४)। अग्नि (२०९।२-३) ने 'चानुपालनं', 'च प्राहुरिष्टं च नाकदम्', 'अन्नप्रदानमारामाः पूर्तं धर्मं च मुक्तिदम्' का पाठान्तर दिया है। 'वापीकूपतडागानि...' को अपरार्क (पृ० २४, २९०) ने महाभारत से उद्धृत किया है। उपर्युक्त दोनों अत्रिसंहिता (४२-४४) में भी हैं।

६२. सुरालयसरोवापीकूपारामादिकल्पना। एतदर्थं हि पूर्ताख्या धर्मशास्त्रेषु निश्चिता॥ स्कन्द (१०।२।१०)।

६३. इष्टापूर्तौ द्विजातीनां सामान्यौ धर्मसाधनौ। अधिकारी भवेच्छूद्रः पूर्ते धर्मे न वैदिके॥ अत्रि (४६)। अपरार्क (पृ० २४) ने इसे जातूकर्ण्य का माना है। और देखिए अपरार्क (पृ० २९०) जहाँ नारद से इष्ट एवं पूर्त के विषय में उदाहरण दिये गये हैं।

६४. इष्टापूर्तं द्विजातीनां प्रथमं धर्मसाधनम्। इष्टेन लभते स्वर्गं पूर्ते मोक्षं च विन्दति॥ वराह (१७२-३३), यमस्मृति (६८), अत्रिसंहिता (१४५)।

६५. न स्वर्गे ब्रह्मलोके वा तत्सुखं प्राप्यते नरैः। यदार्तजन्तुनिर्वाणदानोत्थमिति मे मतिः॥ यज्ञदानतपांसीह परत्र च न भूतये। भवन्ति तस्य यस्यार्तपरित्राणे न मानसम्॥ मार्कण्डेय (१५।५७ एवं ६२); प्राणिनामुपकाराय यथैवेह परत्र च। कर्मणा मनसा वाचा तदेव मतिमान् वदेत्॥ विष्णु ३।१२।४५; परोपकरणं येषां जागर्ति हृदये सताम्। नश्यन्ति विपदस्तेषां सम्पदः स्युः पदे पदे॥ तीर्थस्नानैर्न सा शुद्धिर्बहुदानैर्न तत्फलम्। तपोभिरुग्रैस्तत्प्राप्यमुपकृत्य यदाप्यते॥ परिनिर्मथ्य वाग्जालं निर्णीतमिदमेव हि। नोपकारात् परो धर्मो नापकारादघं परम्॥ स्कन्द (काशीखण्ड,

कर्म से वही कहना चाहिए (करना चाहिए) जो प्राणियों के लिए यहाँ एवं परलोक में कल्याणकर हो।' स्कन्द (काशीखण्ड) में आया है—'जिनके हृदय में परोपकार की भावना जगी रहती है, उनकी विपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और प्रत्येक पद पर उन्हें सम्पदा की प्राप्ति होती है। वह शुद्धि तीर्थस्नान से नहीं प्राप्त होती, वह फल भाँति-भाँति के दानों से नहीं प्राप्त होता और न वह कठोर तपों से प्राप्त होता है, जो परोपकार से प्राप्त होता है। सभी प्रकार के वाग्जाल का मन्थन करने के उपरान्त यही निष्कर्ष निकलता है कि परोपकार से बढ़कर कोई धर्म नहीं है और न दूसरों की हानि करने से बढ़कर कोई पाप है।' ब्रह्मपुराण में आया है—'उसका जीवन सफल (धन्य) है, जो सदा दूसरों का कल्याण करता है; अग्नि, जल, सूर्य, पृथिवी एवं विविध प्रकार के धान्य परोपकार के लिए उत्पन्न होते हैं, विशेषतः सज्जन दूसरों के कल्याण के लिए जीते हैं।'

यह आश्चर्यजनक है कि भागवतपुराण में वह संकेत मिलता है जो आधुनिक समाजवादी सिद्धान्तों में परिलक्षित होता है—'मनुष्यों का स्वत्व केवल वहीं तक है जितने से उनका पेट भरता है, जो व्यक्ति उससे अधिक को अपना कहता है वह चोर है इसलिए दण्डनीय है।'[६६]

भक्ति

पुराणों ने भक्ति पर अधिक बल दिया है। हम यहाँ पर प्राचीन काल से अब तक के भक्ति-सम्बन्धी इतिहास पर प्रकाश नहीं डालेंगे। उसके लिए अलग-अलग ग्रन्थ हैं, जिनमें कुछ नीचे लिखे भी जायेंगे। सामान्य रूप से कुछ शब्द भक्ति के विषय में लिख देना आवश्यक है। इसके उपरान्त हम इस सम्बन्ध में पुराणों की बातें कहेंगे।

भक्ति-सिद्धान्त के संकेत ऋग्वेदीय सूक्तों एवं मन्त्रों में भी मिल जाते हैं, जिनमें कुछ ईश्वर-भक्ति से परिपूर्ण से लगते हैं, विशेषतः वरुण एवं इन्द्र को सम्बोधित मन्त्रों में। उदाहरणार्थ,—'मेरे सभी विचार (या उक्तियाँ) मिलकर प्रकाश ढूँढ़ते हुए, उसके लिए इन्द्र की स्तुति करते हैं। जिस प्रकार पत्नियाँ अपने पति का आलिंगन करती हैं या अपने सुन्दर नवयुवक प्रेमी से आलिंगनबद्ध होती हैं, उसी प्रकार वे (विचार) उसका (इन्द्र का) जो दानों का दिव्य दाता है, आलिंगन करते हैं'; 'तुम्हारी मित्रता (तुम्हारे भक्तों के साथ) नष्ट नहीं होने वाली (सदा चलने वाली, नित्य) है, उसके लिए, जो गाय चाहता है, तुम गाय हो जाते हो, जो अश्व चाहता है उसके लिए तुम अश्व हो जाओ'; 'हे इन्द्र, तुम मेरे पिता या भाई से, जो मुझे नहीं खिलाते, अच्छे (धनी) हो; (तुम) एवं मेरी माता, हे वसु, बराबर हैं, और धन एवं अनुग्रह देने के लिए (मेरी) रक्षा करते हैं'; 'तुमने कक्षीवान् को, जिसने तुम्हें एक सूक्त सुनाया एवं सोम की आहुति दी, और जो बूढ़ा हो गया था, वृचया दी, जो नवयुवती थी; तुम वृषणश्व की पत्नी बने; तुम्हारे ये सभी (अनुग्रह) सोम-निषेकों की आहुतियों के समय उद्घोषणा के पात्र हैं'; (हे इन्द्र) 'तुम, जो चमकने वाले हो, प्रत्येक घर में छोटे मनुष्य का रूप धारण करके आओ और मेरे दाँतों से निकाले जाते हुए इस सोमरस को भुने अन्न, अपूप (पूआ) एवं स्तवक के साथ पीओ।' (ऋ० १०।४३।१, १।६२।११ से मिलाइए; ६।४५।२६; ८।१।६; ८।९१।२; १।५१।१३)। मिलाइए ऋ० ३।४३।४; १०।४२।११; १०।११२।१० (इन सभी में इन्द्र को सखा कहा गया है); १।१०४।९; ७।३२।२६ (दोनों में इन्द्र को पिता के समान कहा गया है)। उपर्युक्त वचनों से पता चलता है कि वैदिक ऋषि लोग सख्य-भक्ति के स्तर पर पहुँच चुके थे, वे इन्द्र को माता के

६।४-५ एवं ७); जीवितं सफलं तस्य यः परार्थोद्यतः सदा। अग्निरापो रविः पृथ्वी धान्यानि विविधानि च। परार्थं वर्तनं तेषां सतां चापि विशेषतः॥ ब्रह्म (१२५।३६-३७)।

६६. यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्। अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥ भागवत (७।१४।८)।

रूप में समझ लेते थे, इन्द्र अपने भक्त के लिए पत्नी भी बन जाता था, इन्द्र अपने भक्त से लेकर वह सोमरस भी पी लेता था जो अन्य यन्त्रों के अभाव में दाँत से ही निकाला गया हो। ये ऋग्वेदीय प्राचीन कथाएँ हमें मध्यकाल की कथाओं का स्मरण दिलाती हैं, यथा राम द्वारा बदरी-फल खाना जो शबरी द्वारा जूठे किये जा चुके थे, क्योंकि भक्ति में सराबोर भील नारी शबरी बेरों को चख-चखकर रखती जाती थी, जिससे राम को मीठे फल मिलें न कि खट्टे; पंढरपुर के देवता बिठोबा जिन्होंने महार (चमार, अस्पृश्य) का रूप धारण किया और बीजापुर के नवाब को उतना धन दे दिया, जो उस अन्न का दाम था जिसे उनके भक्त दामाजी ने, जो अन्नागार के अफसर थे, अकाल-पीड़ित लोगों में बाँट दिया था। वरुण को सम्बोधित कुछ मन्त्र भी सख्य भक्ति के द्योतक हैं, यथा---'हे वरुण, वह कौन-सा अपराध मैंने किया है जिसके कारण तुम अपने मित्र एवं भाट (चारण, स्तोता) मुझको हानि पहुँचाना चाहते हो; घोषित करो, हे अजेय, स्वेच्छाचारी देव, जिससे तुम्हें (प्रसन्न करके) मैं पाप से मुक्त होऊँ और शीघ्र ही नमस्कार के लिए तुम्हारे पास पहुँच जाऊँ।' देखिए ऋ० ७।८६।४; ७।८८।५; ७।८९।५। यह द्रष्टव्य है कि ऋग्वेद में एक ऐसा मन्त्र है जिसमें नमः (नमस्कार) का देवताकरण पाया जाता है, यथा---'नमः स्वयं शक्तिशाली है; मैं नमस्कार के साथ सेवाभाव देता हूँ; नमस्कार ने पृथिवी एवं द्यौ को सँभाल रखा है; देवों को नमस्कार; नमस्कार इन देवों पर शासन करता है, जो कोई (मुझसे) पाप हो जाता है, मैं नमः (नमस्कार) से ही उसका शमन कर लेता हूँ।'[६७]

यद्यपि प्रमुख उपनिषदों में 'भक्ति' शब्द नहीं आया है किन्तु कठ एवं मुण्डक उपनिषदों में भक्ति-सम्प्रदायों का यह सिद्धान्त कि यह केवल भगवद्महिमा है जो भक्त को बचाती है, पाया जाता है, यथा---'यह परम आत्मा (गुरु के) प्रवचन से नहीं प्राप्त होता और न मेधा (बुद्धि) से और न बहुश्रुतता (अधिक ज्ञान) से; परमात्मा की प्राप्ति उसी को होती है जिस पर परमात्मा का अनुग्रह होता है; उसी के सामने यह परम आत्मा अपना स्वरूप प्रकट करता है' (कठोप० २।२२; मुण्डकोप० ३।२।३)। यह कथन इस सिद्धान्त का द्योतक है कि परमात्मा का अनुग्रह ही भक्त को मोक्ष प्रदान करता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् ने 'भक्ति' शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में किया है जो गीता तथा अन्य भक्ति-विषयक ग्रन्थों में प्राप्त होता है[६८]---'ये कथित बातें उस उच्च आत्मा वाले व्यक्ति में, जो परमात्मा में परम भक्ति रखता है और वही भक्ति जो भगवान् में है, गुरु में रखता है, अपने-आप प्रकट हो जाती हैं।' इसी उपनिषद् ने भक्ति सम्प्रदाय के दृष्टिकोण (सिद्धान्त) पर बल दिया है---'मैं, मोक्ष का इच्छुक उस परमात्मा की शरण में पहुँचता हूँ जिसने पूर्व काल में ब्रह्मा को प्रतिष्ठापित किया, जिसने उसको (ब्रह्मा को) वेदों का ज्ञान प्रदान किया और जो प्रत्येक आत्मा की मेधा को प्रकाशित करता है।'

श्वेताश्वतर उप० में प्रयुक्त 'प्रपद्ये' शब्द रामानुज जैसे वैष्णव सम्प्रदायों में 'प्रपत्ति' नामक सिद्धान्त का आधार बन गया है।

६७. नम इदुग्रं नम आ विवासे नमो दाधार पृथिवीमुत द्याम्। नमो देवेभ्यो नम ईश एषां कृतं चिदेनो नमसा विवासे॥ ऋ० (६।५१।८)।

६८. यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥ श्वेताश्व० ६।२३; यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥ श्वेताश्व० ६।१८। स्वप्नेश्वर ने शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र (४।१।१) के भाष्य में इस अन्तिम मन्त्र का आधार लिया है।

किन्तु भक्ति सम्प्रदाय के आरम्भिक उल्लेख शान्तिपर्व के नारायणीय उपाख्यान (चित्रशाला संस्करण, अध्याय ३३५-३५१) एवं भगवद्गीता में पाये जाते हैं। मेगस्थनीज़ का कथन है कि हेराक्लीस (हरिकृष्ण) की पूजा सौसेन्वाय (शौरसेनों) द्वारा जोबरेस (यमुना) के तटों पर होती थी और उसकी दो नगरियाँ थीं—मेथोरा (मथुरा) एवं क्लेइस्बोरा (कृष्णपुर ?)। नारायणीय० (३३५।१७-२४) में ऐसा आया है कि राजा उपरिचर वसु नारायण के भक्त थे, उन्होंने सूर्य द्वारा घोषित सात्वत नियमों के अनुसार देवेश की पूजा की, उन्होंने यह सोच-कर अपने राज्य, सम्पत्ति, पत्नी एवं घोड़े भगवान् के लिए समर्पित कर दिये कि ये सभी भगवान् के हैं, और सात्वत नियमों के अनुसार उन्होंने यज्ञिय कृत्य किये।

शान्तिपर्व में **सात्वत** एवं **पांचरात्र** की पहचान की गयी है[69] और यह कहा गया है कि 'चित्रशिखण्डी' (जिनकी शिखाएँ चमकदार या विचित्र थीं) नामक सात ऋषियों (मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु एवं वसिष्ठ) ने **(पंचरात्र) शास्त्र** घोषित किया और नारायण ने उनसे कहा कि यह शास्त्र लोक में प्रामाणिक होगा और राजा वसु बृहस्पति से (जिन्हें यह सात ऋषियों द्वारा क्रमशः प्राप्त होगा) इसे सीखेंगे। शान्तिपर्व के अध्याय ३३६ में ऐसा आया है कि क्षीरसागर के उत्तर में श्वेतद्वीप नामक राज्य था, जहाँ नारायण के भक्त रहते थे, जो 'एकान्ती' कहे जाते थे और पंचरात्र एकान्तधर्म कहा जाता था। पंचरात्र सम्प्रदाय का एक विचित्र सिद्धान्त है जो चार व्यूहों (मूर्तियों या आकारों) वाला होता है, यथा—परम व्यक्ति वासुदेव हैं, प्रत्येक आत्मा संकर्षण है, प्रद्युम्न मन है जो संकर्षण से उत्पन्न होता है तथा अनिरुद्ध अहंकार है जो प्रद्युम्न से उत्पन्न होता है।[70] यह वही वासुदेव के चार रूपों वाला (जिनमें से प्रत्येक अपने पूर्व से निकलता है) सिद्धान्त है, जिसका खण्डन, शंकराचार्य के मत से, ब्रह्मसूत्र (२।२।४२-४५) में हुआ है। शान्तिपर्व (३४८।८) ने स्पष्ट रूप से अर्जुन के लिए उपदिष्ट गीता की ओर निर्देश किया है। शान्ति० (३४९।६२) में ऐसा उल्लिखित है कि सांख्य, योग, पांचरात्र, वेद एवं पाशुपत ऐसी पाँच विद्याएँ हैं जिनका दृष्टिकोण एक-दूसरे से भिन्न है तथा कपिल (सांख्य), हिरण्यगर्भ (योग), अपान्तरतमा (वेद), शिव (पाशुपत) एवं स्वयं भगवान् (पांचरात्र) द्वारा प्रवर्तित हैं। विष्णुधर्मोत्तरपुराण (१।७४।३४) में ऐसा वक्तव्य आया है—'ब्रह्म की खोज के लिए पाँच सिद्धान्त हैं, यथा—सांख्य, योग, पांचरात्र, वेद एवं पाशुपत।' शान्तिपर्व (३३९।६८) पर आधारित हो कतिपय लेखक (विशेषतः रामानुज सम्प्रदाय के) ऐसा कहते हैं कि सम्पूर्ण पांचरात्र पद्धति में वैदिक प्रामाणिकता है, किन्तु अपरार्क (पृ० १३) एवं परिभाषाप्रकाश (पृ० २३) इसे पूर्णरूपेण वैदिक नहीं मानते, प्रत्युत वैकल्पिक मानते हैं।[71]

६९. **काम्यनैमित्तिका राजन् यज्ञियाः परमक्रियाः। सर्वाः सात्वतमास्थाय विधिं चक्रे समाहितः॥ पाञ्चरात्रविदो मुख्यास्तस्य गेहे महात्मनः। प्रायणं भगवत्प्रोक्तं भुञ्जते वाग्रभोजनम्॥ शान्ति० ३३५।२४-२५।**

७०. **यो वासुदेवो भगवान् क्षेत्रज्ञो निर्गुणात्मकः। ज्ञेयः स एव राजेन्द्र जीवः संकर्षणः प्रभुः॥ संकर्षणाच्च प्रद्युम्नो मनोभूतः स उच्यते। प्रद्युम्नाद् योऽनिरुद्धस्तु सोऽहंकारः स ईश्वरः॥ शान्ति० ३३९।४०-४१।**

७१. **वासुदेव सम्प्रदाय को पाञ्चरात्र क्यों कहा गया, इसका उत्तर अभी तक सन्तोषप्रद नहीं दिया जा सका है। लगता है, इस सम्प्रदाय का किन्हीं पाँच बातों से सम्बन्ध है। किन्तु 'रात्र' या 'काल' शब्द क्यों प्रयुक्त हुआ है? यही तो कठिनाई है। शान्ति० (३३६।४६) में पाञ्चरात्र को पंचकाल भी कहा गया है (तैरिष्टः पञ्चकालज्ञैर्हरिरेकान्तिभिर्नरैः)। बहुत से अनुमान लगाये गये हैं, जिनमें कुछ निम्नोक्त हैं, यथा—(१) पाँच रातों तक नारायण ने इसे अनन्त, गरुड़, विष्वक्सेन, ब्रह्मा एवं रुद्र को पढ़ाया; (२) परमसंहिता (३१।१९) में आया है कि परमात्मा ने यह**

वेदान्तसूत्र में भागवत एवं पांचरात्र पद्धति के विषय में चार सूत्र हैं।[७२] महान् आचार्य अपनी व्याख्या में एकमत नहीं हैं। शंकर कहते हैं कि ये सभी चार सूत्र भागवतों के सिद्धान्त का खण्डन कर देते हैं। रामानुज का कथन है कि प्रथम दो सूत्र भागवत सिद्धान्त का खण्डन कर देते हैं किन्तु अन्तिम दो नहीं। शंकराचार्य ने इसे स्पष्ट किया है कि भागवतों के ये सिद्धान्त कि परम देव वासुदेव परम सत्य हैं, उनके चार रूप हैं, तथा वासुदेव की पूजा उनके स्वरूप का एकाग्र चित्त से ध्यान करने में है, आपत्तिजनक नहीं हैं; जो सिद्धान्त खण्डित होने योग्य है वह है भागवतों द्वारा कहा जाने वाला, संकर्षण नामक आत्मा की वासुदेव से उत्पत्ति का सिद्धान्त और यह कि प्रद्युम्न (मन) संकर्षण से उदित होता है तथा अनिरुद्ध (अहंकार) प्रद्युम्न से। शंकराचार्य ने वेदान्तसूत्र (२।२।४५) में जो कहा है[७३] उससे प्रकट होता है कि उनके समय में शाण्डिल्य को लोग भागवत या पांचरात्रशास्त्र का

सिद्धान्त पाँच रातों तक चार मुनियों, यथा--सनत्कुमार, सनक, सनन्दन एवं सनातन को सिखाया; (३) इस सम्प्रदाय ने पाँच शिक्षाओं, यथा--सांख्य, योग, पाशुपत, बौद्ध एवं आर्हत को काला कर दिया (रात्रि काली होती है); (४) यह (पाञ्चरात्र) पाँच स्वरूपों, यथा--पर, व्यूह, विभव (अर्थात् अवतार), अन्तर्यामी एवं अर्चा (प्रतिमा-मूर्तियों) की शिक्षा देता है; (५) यह वैष्णवों के पाँच कर्तव्यों, यथा--ताप (बाहु एवं अन्य अंगों पर तप्त-मुद्रा से चिह्न या दाग लगाना), पुण्ड्र (किसी रंगीली वस्तु से मस्तक पर बनी खड़ी रेखाएँ), नाम (वासुदेवीय नाम रखना), मन्त्र (यथा ओं नमो नारायणाय) एवं याग (वासुदेव की मूर्तियों की पूजा) का विश्लेषण करता है। आलवार साहित्य ने पंचधा प्रकृति (यथा पर एवं अन्य) का उल्लेख किया है। देखिए के० सी० वरदाचारी का लेख 'सम कन्ट्रीब्यूशन्स आव आलवार्स टु दि फिलॉसाफी आव भक्ति' (रजतजयन्ती खण्ड, बी० ओ० आर० आई०, पृ० ६२१)। परमसंहिता (१।३९-४०) का कथन है क पाँच तत्त्व, पाँच तन्मात्राएँ, अहंकार, बुद्धि एवं अव्यक्त (सांख्य के पाँच तत्त्व) मानो पुरुष की रातें हैं, अतः यह शास्त्र (जो इन पाँचों से मुक्त होने का उपाय बताता है) पाञ्चरात्र कहलाता है।

७२. वेदान्तसूत्र (२।२।४२-४५) में चार सूत्र हैं--"उत्पत्त्यसम्भवात्, न च कर्तुः करणम्, विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः, विप्रतिषेधाच्च।" यद्यपि रामानुज ने इन चारों में अन्तिम दो पर अपनी टीका की है और बहुत बढ़ा-चढ़ा कर अपनी बात कही है और तीन ऐसी उक्तियाँ उद्धृत की हैं जिन्हें पाञ्चरात्र कहा जा सकता है, तथापि वे अपने श्रीभाष्य में या अपने वेदार्थसंग्रह में यह नहीं व्यक्त करते कि वे सात्वत हैं या पाञ्चरात्र।

७३. वेदविप्रतिषेधश्च भवति। चतुर्षु वेदेषु परं श्रेयोऽलब्ध्वा शाण्डिल्य इदं शास्त्रमधिगतवानित्यादिवेद-निन्दादर्शनात्। शांकरभाष्य (वे० सू० २।२।४५)। शंकराचार्य 'तत्र भागवता मन्यन्ते' से आरम्भ करते हैं (ब्रह्मसूत्र २।२।४२) तथा पुनः कहते हैं (२।२।४४) : 'न च पञ्चरात्रसिद्धान्तिभिर्वासुदेवादिष्वेकस्मिन् सर्वेषु वा ज्ञानैश्वर्यादितारतम्यकृतः कश्चिद् भेदोऽभ्युपगम्यते।' यह द्रष्टव्य है कि शान्तिपर्व में पाञ्चरात्र को सात्वतधर्म (३४८।३४ एवं ८४) कहा गया है। बाण ने अपने हर्षचरित (आठवाँ उच्छ्वास) में महान् आचार्य दिवाकरमित्र के पास आये हुए विभिन्न धर्मों एवं दर्शनों के विभिन्न सिद्धान्तों के मानने वालों में भागवतों एवं पाञ्चरात्रिकों का भी उल्लेख किया है--'विटपच्छायासु निषण्णैः. . . भागवतैर्वर्णिभिः केशलुञ्चनैः कापिलैर्जैनलोकायतिकैः. . . पौराणिकैः साप्ततन्तवैः शैवैः शाब्दैः पाञ्चरात्रिकैरन्यैश्चात्र स्वसिद्धान्ताञ् शृण्वद्भिः आदि।' सम्भवतः बाण ने भागवत को सामान्य भक्ति-सम्प्रदाय के रूप में रखा है और पाञ्चरात्र को भागवत सम्प्रदाय की विभिन्न शाखाओं में एक शाखा के रूप में माना है, जिसकी एक विशेषता थी कि वह चार व्यूहों वाला सिद्धान्त मानता था। यह 'ब्राह्मणश्रमणन्याय' के समान है। वृद्धहारीतस्मृति (११।१८१-१९२) में आया है कि शाण्डिल्य ने अवैदिक विधि से विष्णु की पूजा करने के लिए एक ग्रंथ का प्रणयन किया, जिससे विष्णु ने उन्हें नरक में पड़ जाने का शाप दिया, किन्तु जब शाण्डिल्य उनसे

प्रवर्तक मानते थे, क्योंकि वे चारों वेदों में परम कल्याण की बात नहीं पा सकते थे। द्रोणपर्व (२९।२६-२९) में परमात्मा की लोक-कल्याणकारी चार मूर्तियों के विषय में एक अन्य एवं भिन्न निर्देश है, यथा—एक मूर्ति इस पृथिवी पर तप करती है, दूसरी इस लोक के अच्छे एवं बुरे कर्मों पर एक आँख रखती है, तीसरी इस लोक में मानव रूप में आती है और मानव के समान कार्य करती है, और चौथी एक सहस्र वर्षों तक सोती रहती है और जब जागती है तो योग्य लोगों को वरदान देती है।

यह द्रष्टव्य है कि महाभारत में भी नारद का नाम पांचरात्र से सम्बन्धित है। ऐसा आया है—'यह रहस्यमय सिद्धान्त जो चारों वेदों से समन्वित है, जिसमें सांख्य एवं योग के कल्याणकारी फल हैं और जो पांचरात्र के नाम से विख्यात है, सर्वप्रथम नारायण के अधरों से प्रस्फुटित हुआ और फिर नारद द्वारा सुनाया गया।' (शान्तिपर्व ३३९।१११-११२)।

भक्ति सम्प्रदाय के अन्य बड़े समर्थक हैं भगवद्गीता (जो नारायणीय उपाख्यान ३४८।८ में स्पष्ट रूप से घोषित है), भागवतपुराण एवं विष्णुपुराण। गीता में भक्ति एवं भक्त शब्द कई बार आये हैं। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि तथाकथित नारदभक्तिसूत्र, नारद-पांचरात्र, शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र तथा अन्य पांचरात्र-संहिताएँ जो प्रकाशित हैं, गीता से पश्चात्कालीन हैं। अग्नि० (३९।१-५) में पांचरात्र पर प्रणीत २५ ग्रन्थों का उल्लेख है। महेश्वरतन्त्र ने भी विष्णु द्वारा प्रवर्तित २५ पांचरात्र तन्त्रों का वर्णन किया है और उनकी भर्त्सना की है और कहा है कि वे सब सत्य का प्रतिपादन नहीं करते (२६।१६)।

भक्ति के प्रतिपादन पर विशाल साहित्य है। थोड़े-से संस्कृत के ग्रन्थों, उनके अनुवादों एवं कुछ अंग्रेजी के ग्रन्थों का यहाँ उल्लेख होगा। बर्थ, हाप्किंस, कीथ, डा० आर० जी० भण्डारकर आदि ने श्री कृष्ण के स्वरूप के विषय में विभिन्न सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं कि वे उस विष्णु के स्वरूप क्योंकर हैं जो ऋग्वेद में सूर्य का एक अन्य रूप है, और आगे चलकर ब्राह्मणकाल में जो सबसे बड़ा देवता हो गया (यथा—ऐत० ब्रा० 'अग्निर्वै देवानां अवमः, विष्णुः परमः) तथा यज्ञ का स्वरूप माना गया (यज्ञो वै विष्णुः)। जब पाण्डवों के मित्र कृष्ण परम देव मान लिये गये तो गीता में पूर्ण अवतारों के सिद्धान्त की अभिव्यक्ति हो गयी। भक्ति-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ ये हैं—शान्तिपर्व का नारायणीय उपाख्यान (अध्याय ३२२-३५१, चित्रशाला संस्करण एवं ३२२-३३९ आलोचनात्मक संस्करण); भगवद्गीता; कतिपय पुराण, जिनमें विष्णु एवं भागवत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं[७४]; शाण्डिल्य का भक्तिसूत्र, स्वप्नेश्वर

दया की प्रार्थना करते हुए उनके चरणों में गिर पड़े तो वे प्रसन्न हो उठे और नरक-वास के शाप की अवधि को कम कर दिया।

७४. यह द्रष्टव्य है कि रामानुज (जन्म, शक संवत् १०४९, ई० ११२७) ने उस भागवत को ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्य में कहीं भी उद्धृत नहीं किया है, जो वल्लभ एवं चैतन्य तथा उनके शिष्यों जैसे मध्यकालीन वैष्णवों के लिए सर्वोत्तम एवं एक मात्र प्रमाण था। किन्तु उन्होंने विष्णुपुराण से एक सौ से अधिक श्लोक उद्धृत किये हैं। वास्तव में वेदार्थसंग्रह में रामानुज का कथन है कि जिस प्रकार श्रुतियों में नारायण का अनुवाक (विभाग) पर-ब्रह्म के विशिष्ट स्वरूप का उद्घाटन करता है, उसी प्रकार विष्णुपुराण परब्रह्म के विशेष प्रदर्शन में प्रवृत्त है तथा अन्य पुराणों की व्याख्या इस प्रकार की जानी चाहिए कि वे इसके विरोध में न हों (यथा सर्वासु श्रुतिषु केवलं परब्रह्मस्वरूपविशेषप्रदर्शनायैव प्रवृत्तो नारायणानुवाकस्तथेदं वैष्णवं च पुराणं. . .परब्रह्मस्वरूपविशेषनिर्णयायैव प्रवृत्तम्। अन्यानि सर्वाणि पुराणान्येतदविरोधेन नेयानि। वेदार्थसंग्रह, वाक्य-समूह ११०-१११, पृ० १४१-१४२

का इस पर भाष्य (जीवानन्द, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित, १८७६) एवं कोवेल द्वारा इन दोनों का अंग्रेजी अनुवाद (१८७८); शाण्डिल्यसंहिता (भक्तिखण्ड) जो अनन्तशास्त्री फड़के द्वारा सरस्वती भवन सीरीज़ में सम्पादित है (१९३५); नारदभक्तिसूत्र, अंग्रेज़ी अनुवाद, नन्दलाल सिंह द्वारा (पाणिनि आफिस, इलाहाबाद, १९११); नारद-पांचरात्र (ज्ञानामृतसार विभाग के साथ) ११ अध्यायों में, अंग्रेज़ी अनुवाद, स्वामी विजयानन्द (वही, १९२१); सर आर० जी भण्डारकर का 'वैष्णविज्म शैविज्म आदि' (१९१३); दास गुप्त की 'हिस्ट्री आव इण्डियन फिलॉसाफी' (जिल्द ४, १९४९), जहाँ इन्होंने भागवतपुराण एवं मध्व, वल्लभ, चैतन्य एवं उनके अन्य अनुयायियों के सिद्धान्तों का उल्लेख किया है; ग्रियर्सन का लेख 'ग्लीनिंग्स फ्राम भक्तमाला आव नाभादास' (जे० आर० ए० एस०, १९०९, पृ० ६०७-६४४); डकन ग्रीनलेस कृत 'हिस्ट्री आव श्रीवैष्णवाज़,' (अडयार, १९५१); नारदभक्तिसूत्र (मूल, अनुवाद एवं टिप्पणी, स्वामी त्यागीशानन्द, रामकृष्ण मठ, मेलापुर, मद्रास, १९४३, जो ५ अध्यायों एवं ८४ सूत्रों में है); पंचरात्र एवं अहिर्बुध्न्य-संहिता पर डा० ओटो श्रेडर की भूमिका (अडयार, १९१६); अहिर्बुध्न्य-संहिता (दो जिल्दों में, अडयार, १९१६); जयाख्य-संहिता, संस्कृत एवं अंग्रेजी भूमिका के साथ (गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज़, १९३१); परमसंहिता (गायकवाड़ ओ० सी०, १९४६, डा० एस्० के० आयंगर कृत अंग्रेजी भूमिका); नारद-पांचरात्र की बृहद्ब्रह्मसंहिता (आनन्दाश्रम सीरीज, १९१२); नारायणतीर्थ-कृत भक्तिचन्द्रिका (शाण्डिल्य के भक्तिसूत्र की टीका) जो सरस्वती भवन सीरीज़ में है (१९१२ एवं १९३८); मित्र मिश्र का भक्तिप्रकाश (चौखम्बा सीरीज़, १९-३४); अनन्तदेव का भक्तिनिर्णय (पं० अनन्तशास्त्री फड़के द्वारा सम्पादित, बनारस, १९३७)। दक्षिण भारत में भक्ति साहित्य बहुत अधिक है, यथा आळवारों के स्तोत्र, किन्तु कतिपय कारणों से इसकी ओर निर्देश नहीं किया जा रहा है।

पुराणोक्त भक्ति के स्वरूप के विषय में चर्चा करने के पूर्व 'भक्ति' एवं 'भागवत' शब्दों की व्याख्या संक्षेप में आवश्यक है। शाण्डिल्य ने भक्ति की परिभाषा (सा परानुरक्तिरीश्वरे) की है[75], जो दो प्रकार से व्याख्यायित

(डकन कालेज संस्करण, १९५६)। रामानुज ने वेदान्तसूत्र (२।२।४१ एवं ४५) के भाष्य में पौष्करसंहिता, सात्वतसंहिता एवं परमसंहिता को पाञ्चरात्र संहिताओं में परिगणित किया है, किन्तु कहीं भी उन्होंने यह नहीं अंगीकार किया है कि वे पञ्चरात्र सिद्धान्त के अनुयायी हैं। भागवत पर बहुत-सी टीकाएँ और टीकाओं पर बहुत-सी उप टीकाएँ हैं (दास गुप्त ने जिल्द ४, पृ० १-२ में भागवत की ४० टीकाओं की सूची दी है)। यहाँ पर मध्व एवं अन्य बड़े वैष्णव आचार्यों के शिष्यों एवं अनुयायियों की बहुत-सी टीकाओं की ओर संकेत करना अनावश्यक है। वल्लभाचार्य (१४७९-१५३१ ई०) के अनुसार सन्देह की स्थिति में भागवत परम प्रमाण है (वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि। समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्। उत्तरं पूर्वसन्देहवारकं परिकीर्तितम्।। तत्त्व-दीपनिबन्ध, अहमदाबाद, १९२६); और देखिए प्रो० जी० एच्० भट्ट (इण्डि० हिस्टा० क्वा०, जिल्द ९, ३००-३०६)। वल्लभाचार्य का पुष्टिमार्ग (जिसका अर्थ है कृष्णानुग्रह) है और उनका कथन है कि कलियुग में भक्ति की प्राप्ति भी कठिन है।

७५. अथातो भक्तिजिज्ञासा। सा परानुरक्तिरीश्वरे। शाण्डिल्य (१।१।१-२); स्वप्नेश्वर ने यह टीका की है--'आराध्यविषयकरागत्वमेव सा। इह तु परमेश्वरविषयकान्तःकरणवृत्तिविशेष एव भक्तिः।' जिस श्लोक को आधार माना गया है वह यह है--'या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी। त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु।।' विष्णुपु० (१।२०।१९)। स्वप्नेश्वर ने गीता उद्धृत की है--'मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्। कथयन्तश्च

हो सकती है—'भक्ति का सर्वोच्च रूप है परमेश्वर में अनुरक्ति' या 'परमेश्वर के प्रति सर्वोच्च अनुरक्ति ही भक्ति है।' शाण्डिल्य के भाष्यकार स्वप्नेश्वर ने प्रथम व्याख्या ठीक मानी है, किन्तु नारदभक्तिसूत्र, तिलक आदि ने दूसरी व्याख्या अपनायी है। स्वप्नेश्वर ने व्याख्या की है—'भक्ति' का सामान्यतः अर्थ होता है 'उसके प्रति अनुराग जिसे जीतना है या जिसकी पूजा करनी है', किन्तु इस शास्त्र में इसका अर्थ है—'मन की ऐसी विशेष स्थिति जिसमें परमेश्वर ही लक्ष्य हो।' ऐसा कहकर स्वप्नेश्वर ने विष्णुपुराण का श्लोक उद्धृत किया है जिसमें भक्त प्रह्लाद ने कहा है—'वह अटल प्रीति जिसे अविवेकी लोग सांसारिक वस्तुओं के लिए चाहते हैं, मुझमें से, जो तुम्हें सदैव स्मरण करता है, कभी न हटे।' गीता में भी 'प्रीति' शब्द आया है। उसमें आया है कि ('भक्ति' शब्द 'भज्' धातु से निःसृत हुआ है) "जिनके मन मुझमें लगे हैं, जिनके प्राण मुझे समर्पित हैं, जो एक-दूसरे को बोधित करते रहते हैं, जो मेरे बारे में कहते रहते हैं, वे सदैव तुष्ट रहते हैं और प्रसन्न रहते हैं। इनमें जो सदैव (लगातार) भक्ति में लगे रहते हैं और प्रीतिपूर्वक मेरी सेवा करते रहते हैं, उन्हें मैं ऐसा ज्ञान देता हूँ जिसके द्वारा वे मुझ तक पहुँचते हैं।" स्वप्नेश्वर ने व्याख्या की है कि 'अनुरक्ति' शब्द ('अनु' उपसर्ग के साथ) का प्रयोग यह बतलाने के लिए हुआ है कि ईश्वर के प्रति प्रीति या रक्ति तब उदित होती है जब भक्त ईश्वर का ज्ञान एवं उसकी अन्य उपाधियों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। विष्णुपुराण में 'भक्ति' के स्थान पर 'अनुराग' शब्द प्रयुक्त हुआ है, जहाँ पर राम एवं उनके भाइयों के स्वर्गारोहण की चर्चा करते हुए ऐसा वर्णन है कि कोसल राजधानी के लोग, जो भगवान् (विष्णु) के उन अवतीर्ण अंशों के प्रति अटूट श्रद्धा (भक्ति) रखते थे और जिनके मन उनमें लगे थे, उन्हीं के साथ उसी लोक की स्थिति में पहुँच गये। शाण्डिल्य ने आगे कहा है[76] कि यह ऐसा उपदेश है जिससे वह व्यक्ति अमर हो जाता है जो भगवान् में निवास करता है (जो भगवान् में स्थित रहता है)। छान्दोग्य० (१।१।३०) में आया है—'जो ब्रह्म में स्थित रहता है वह अमरत्व प्राप्त करता है।' तात्पर्य यह है कि परमात्मा में स्थित रहने से अमरत्व प्राप्ति की जो बात है उससे व्यक्ति में परमात्मा की जानकारी के लिए प्रयत्न करने या परमात्मा के प्रति परम भक्ति उत्पन्न करने के प्रयत्न के प्रति कोई उदासीनता नहीं आयेगी। यह द्रष्टव्य है कि नारद के सूत्र शाण्डिल्य के सूत्रों के केवल अन्वय मात्र हैं।[77] शाण्डिल्य में आगे (सूत्र ७) आया है कि भक्ति, ज्ञान की भाँति कर्म नहीं है, क्योंकि यह इच्छा के प्रयत्न का

मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥' (१०।९-१०)। 'अनुरक्ति' पर स्वप्नेश्वर ने कहा है—'भगवन्महिमादिज्ञानादनु पश्चात् जायमानत्वादनुरक्तिरित्युक्तम्।' स्वप्नेश्वर ने विष्णुपुराण (४।४।१ १०३) का हवाला दिया है, यथा—'येपि तेषु भगवदंशेष्वनुरागिणः कोसलनगरजानपदास्तेपि तन्मनसस्तत्सालोक्यतामेवापुः।' भागवत का कथन है कि परमोच्च भक्ति को अबाधित (अव्यवहित) एवं अहैतुकी होना चाहिए ('अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे')। भागवत (३।२९।१२)। आगे के श्लोक ने परम-लक्ष्य के चार स्तर वर्णित किये हैं—'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसायुज्यैकत्वमप्युत' (एकत्व पाँचवाँ अर्थात् अन्तिम लक्ष्य है)।

७६. तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशात्। शाण्डिल्य (१।१।३०); स्वप्नेश्वर ने व्याख्या की है—'तस्मिन्नीश्वरे संस्था भक्तिर्यस्य स तथोक्तः।' छान्दोग्य में घोषित है—'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' (२।२३।१) और यही अर्थ ब्रह्मसूत्र (१।१।७) 'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्' से भी प्रकट होता है।

७७. 'अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः। सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। अमृतस्वरूपा च।' नारदभक्तिसूत्र (१।३)।

अनुसरण नहीं करती अतः यह ज्ञान से भिन्न है, जैसा कि गीता ने कहा है कि आत्म-समर्पण की स्थिति कई जन्मों के ज्ञान के उपरान्त आती है।

हम लोगों के पूर्व पुरुषों में श्रेणी-विभाजन की एक बड़ी प्रवृत्ति थी। भक्ति को भी **लौकिकी** (सामान्य लोगों की), **वैदिकी** (वेदविहित) एवं **आध्यात्मिकी** (दार्शनिक), यथा—पद्म० (५।१५।१६४); या **मानसी, वाचिकी एवं कायिकी** (शरीर द्वारा की हुई, यथा—उपवास, व्रत आदि), यथा पद्म० (५।१५।१६५-१६८); **सात्त्विकी, राजसी एवं तामसी** (भागवत ३।२९।७-१० एवं पद्म ६।१२६।४-११); **उत्तमा, मध्यमा** एवं **कनिष्ठा** (ब्रह्माण्ड ३।३४।३८-४१)[७८] आदि विविध श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया है।

रामानुजीय एवं अन्य वैष्णव शाखाओं के ग्रन्थों में **प्रपत्ति** (आत्म-समर्पण)* को **भक्ति** से भिन्न माना गया है। इसमें पाँच बातें हैं—अनुकूलता का **संकल्प**, प्रतिकूलता का **त्याग**, यह **विश्वास** कि परमात्मा (भक्त की) रक्षा करेगा, भक्त की रक्षा के लिए **भगवद्भजन** तथा आत्मनिक्षेप कर देने पर **असहायता** के भाव का प्रदर्शन। भक्ति के अन्य पर्याय शब्द हैं **ध्यान, उपासना** आदि और वह प्रपत्ति की सहायिका है।[७९] गीता में इस प्रकार का भेद नहीं बताया गया है। गीता (२।७) में अर्जुन ने अपने को 'प्रपन्न' (जो मोक्ष के लिए आ पहुँचा हो या जिसने मोक्ष के लिए आत्म-समर्पण कर दिया हो) कहा है। गीता के अन्त में अन्तिम परामर्श वही है जो पश्चात्कालीन ग्रन्थों में **प्रपत्ति है**—'अपने मन को मुझमें लगाओ, मेरे भक्त हो जाओ, मेरा यज्ञ करो, मुझे नमस्कार करो; तुम अवश्य ही मुझ तक पहुँचोगे; मैं सत्य ही घोषित करता हूँ, तुम मेरे प्रिय हो। सभी कर्तव्यों को त्याग कर मेरी शरण में आ जाओ; मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त करूँगा; दुखी न होओ।'[८०] और देखिए गीता ७।१४, १५ एवं १५।४ जहाँ 'प्रपद्' शब्द के अन्य प्रयोग आये हैं। गीता एवं अन्य ग्रन्थों में भक्ति पर जो सिद्धान्त प्रतिपादित है वह यही है कि

७८. ब्रह्माण्ड ने नारद, शुक, अम्बरीष, रन्तिदेव, मारुति, बलि, विभीषण, प्रह्लाद, गोपियों एवं उद्धव को उत्तमा भक्ति के अन्तर्गत भक्तों में गिना है, वसिष्ठ एवं मनु को मध्यमा भक्ति के अन्तर्गत तथा साधारण लोगों को कनिष्ठा के अन्तर्गत परिगणित किया है। नारदभक्तिसूत्र (८३) ने इनमें कई को 'भक्त्याचार्याः' कहा है, 'इत्येवं वदन्ति। जनजल्पनिर्भया एकमताः कुमारव्यासशुकशाण्डिल्यगर्गविष्णुकौण्डिन्य-शेष-उद्धव-आरुणिबलिहनुमद्-विभीषणादयो भक्त्याचार्याः।' कुमार ब्रह्मा के पुत्र नारद के लिए प्रयुक्त हुआ है।

७९. ध्यानशब्दवाच्या भक्तिर्विद्याभेदाद् बहुविधा।...प्रपत्तिर्नाम 'आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्। रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा। आत्मनिक्षेपकार्पण्यम्' इत्यङ्गपञ्चकयुक्ता। यतीन्द्रमतदीपिका (पृ० ६४)। इस ग्रन्थ में आया है कि यह प्रपत्ति गुरु के मुख (अधरों) से सुनी जानी चाहिए और सभी यह इसकी व्याख्या नहीं उपस्थित करता। कुछ लोग 'आत्मनिक्षेपः कार्पण्यं' पढ़ते हैं और इस प्रकार प्रपत्ति के अंगों को ६ बना देते हैं।

८०. मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ गीता (१८।६५-६६)। यहाँ पर 'धर्मान्' का अर्थ है वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि) एवं आश्रमों (यथा—गृहस्थ, वानप्रस्थ आदि) के कर्तव्य, या 'धर्मान्' उन कर्मों की ओर निर्देश करता है जो वेद एवं स्मृतियों में व्यवस्थित हैं। यह अन्तिम प्रबोधन नवम अध्याय का पुनरावर्तन-सा है, यथा—'मन्मना...नमस्कुरु। मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥' (९।३४)।

भक्ति से भगवान् का 'प्रसाद' (अनुग्रह या कृपा) प्राप्त होता है जिससे भक्त मोक्ष प्राप्त करता है।[81] गीता (१८। ५६, ५८, ६२) में आया है—'वह व्यक्ति, जो यद्यपि सदैव कर्म करता रहता है, किन्तु मुझ पर ही पूर्णरूपेण निर्भर रहता है, मेरे अनुग्रह से अक्षय एवं अमर स्थान प्राप्त करता है; यदि तुम मुझ पर अपना मन केन्द्रित करो, तुम मेरी कृपा से सभी कठिनाइयों को पार कर जाओगे, तुम भगवान् की शरण में सम्पूर्ण हृदय से जाओ, हे अर्जुन, उसी की कृपा से परम शान्ति एवं अमर स्थान पाओगे।' विष्णुपुराण[82] में भगवान् ने प्रह्लाद से कहा है—'तुम्हारा मन मुझमें निश्चल एवं भक्ति पूर्वक अवस्थित है, तुम मेरे प्रसाद (कृपा या अनुग्रह) से निर्वाण प्राप्त करोगे।' भगवान् के प्रसाद की चर्चा कठोपनिषद् एवं श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी है[83]—'छोटे-से-छोटा एवं बड़े-से-बड़ा आत्मा सभी जीवों के हृदय में निहित है; वह व्यक्ति जो अक्रतु (बिना किसी इच्छा का है) एवं वीत-शोक (शोकरहित) है, सृष्टिकर्ता की कृपा से आत्मा की महत्ता को देखता है।'

गीता एवं नारायणीय उपाख्यान की बातों में बड़ा अन्तर है। गीता में, यद्यपि परमात्मा को वासुदेव कहा गया है[84], किन्तु चार व्यूहों वाला सिद्धान्त, जो कि नारायणीय की विशेषता है, नहीं पाया जाता। इतना ही नहीं, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध जैसे नाम भी गीता में नहीं आते। प्रस्तुत लेखक के मत से गीता नारायणीय उपाख्यान से पुरानी है, क्योंकि इसमें भक्ति का सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादित है, जब कि नारायणीय में पांचरात्र वाला सिद्धान्त कई भक्ति-शाखाओं में से एक है। नारायणीय से पता चलता है कि गीता का प्रतिपादन पहले हो चुका था और नारद द्वारा श्वेतद्वीप से लाया गया ज्ञान वही है जो हरिगीता (अध्याय ३४६।१०-११, ३४८।५३-५४) में उद्घोषित है। शान्ति० (३४८।५५-५७) में उल्लिखित है कि केवल एक व्यूह था, या दो, तीन या चार थे तथा एकान्ती लोग अहिंसा पर बहुत बल देते थे। वासुदेव की पूजा पाणिनि से प्राचीन है, क्योंकि पाणिनि ने 'वासुदेवक' शब्द की रचना का उल्लेख किया है और उसका अर्थ किया है, 'वह, जिसकी पूजा का आधार वासुदेव हो' (पाणिनि ४।३।९५ एवं ९८, 'भक्तिः'। . . .'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्।' वासुदेवः भक्तिः सेव्यः यस्य स वासुदेवकः)। देखिए डॉ० भण्डारकर का ग्रन्थ 'वैष्णविज्म, शैविज्म आदि' (वाक्य-समूह २-१०, जिल्द ४, संगृहीत ग्रन्थ) जहाँ वासुदेव पूजा की प्राचीनता के विषय में विवेचन है। पाञ्चरात्र के विषय में धर्मशास्त्र के मध्यकालीन लेखकों की सामान्य धारणा का प्रतिनिधित्व पारिजात नामक ग्रन्थ में है, जो कृत्यरत्नाकर में उद्धृत है और उसमें आया है कि पाञ्चरात्र एवं पाशुपत शास्त्र तभी तक प्रामाणिक हैं जब तक वे वेदों के विरोध में नहीं जाते। यही दृष्टिकोण सूतसंहिता में भी पाया जाता है, जिस पर प्रसिद्ध माधवाचार्य ने एक टीका लिखी है।

८१. भक्तिप्रपत्तिभ्यां प्रसन्न ईश्वर एव मोक्षं ददाति। अतस्तयोरेव मोक्षोपायत्वम्। यतीन्द्रमतदीपिका (पृ० ६४)।

८२. यथा ते निश्चलं चेतो मयि भक्तिसमन्वितम्। तथा त्वं मत्प्रसादेन निर्वाणं परमाप्स्यसि॥ विष्णुपुराण (१।२०।२८)।

८३. अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्। तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादाद् महिमानमात्मनः॥ कठोप० (२।२०), श्वेताश्व० (३।२०, जहाँ आत्मा गुहायां निहितोस्य जन्तोः, अक्रतुम्, महिमानमीशम् का पाठ आया है)।

८४. बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥ गीता (७।१९); वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि। गीता (१०।३७)।

कुछ पुराणों में 'वासुदेव' शब्द 'वसुदेव' से व्युत्पन्न न मान कर (वसुदेव के पुत्र को न मान कर) 'वस्' (अर्थात् वास करना या रहना) धातु से निष्पन्न माना गया है।[८५] 'वासुदेव इसीलिए कहा जाता है कि सभी जीव परमात्मा में निवास करते हैं और वासुदेव सभी जीवों में सब के आत्मा के रूप में निवास करते हैं।' मिलाइए गीता (९।२९): 'मैं सभी प्राणियों के लिए समान हूँ; न तो कोई मेरा अप्रिय है और न कोई प्रिय; किन्तु जो मुझे श्रद्धा के साथ भजते हैं वे मुझमें वास करते हैं और मैं भी उनमें वास करता हूँ।'

'भगवत्' शब्द की व्याख्या भी आवश्यक है। यह शब्द सामान्यतया वासुदेव के लिए प्रयुक्त होता था। विष्णुपुराण (६।५।७४ एवं ७५) में आया है—'भग शब्द समाहार रूप से ६ गुणों के लिए व्यवहृत हुआ है, यथा—ऐश्वर्य, वीर्य (पुरुषार्थ), यश, शुभता, ज्ञान एवं सांसारिक वस्तुओं के प्रति वैराग्य (उदासीनता) की पूर्णता। यह महान् भगवान् शब्द परमब्रह्म वासुदेव के लिए प्रयुक्त है किसी अन्य के लिए नहीं।'[८६] विष्णुपुराण (६।५।७८-७९) ने पुनः कहा है कि 'भगवत्' शब्द अन्य लोगों के लिए गौण रूप में प्रयुक्त हो सकता है, यदि उनमें विशेष गुण हों, यथा—"वह व्यक्ति 'भगवान्' कहा जा सकता है, जो (लोक की) उत्पत्ति एवं प्रलय, जीवों की प्रगति (फल) एवं गति (अन्तिम नियति) का ज्ञान रखता हो और यह जानता हो कि विद्या एवं अविद्या क्या है।"

भागवत वह है, जो भगवत् (अर्थात् वासुदेव) की पूजा करता है। यह एक अति पुरातन शब्द है। ईसा पूर्व दूसरी शती के बेसनगर स्तम्भ के लेख में भागवत शब्द आया है, वहाँ अन्तलिकित (ऐण्टियाल्काइडिस) के दूत एवं तक्षशिला के यूनानी हेलियोदोर (हेलियोडोरस) ने अपने को भागवत (वासुदेव का भक्त) कहा है (देखिए प्रो० ए० के० नारायण कृत 'इण्डो-ग्रीक्स', १९५७)। ऐसा प्रतीत होता है कि 'भगवान्' विशेषण शिव के लिए भी प्रयुक्त होता था। श्वेताश्वतरोपनिषद् (३।११) ने शिव को 'भगवान्' (सर्वव्यापी स भगवान् तस्मात्सर्वगतः शिवः) कहा है। पतञ्जलि ने अपने भाष्य (पाणिनि, ५।२।७६) में 'शिव-भागवत' (शिवो भगवान् भक्तिरस्य शिवभागवतः, अर्थात् वह भक्त जो अपने साथ शिव के आयुध त्रिशूल को लेकर चलता है) लिखा है। चित्तौड़गढ़ (राजस्थान) में नगरी नामक स्थान के पास घोसुण्डी के संस्कृत प्रस्तराभिलेख (एपि० इण्डि०, जिल्द १६, पृ० २५-२७ एवं इण्डि० ऐण्टी०, जिल्द ६१, पृ० २०३-२०५) में संकर्षण एवं वासुदेव को भगवान् कहा गया है और दोनों को सर्वेश्वर माना गया है (लगभग ई० पू० दूसरी शती), किन्तु बेसनगर-लेख में केवल 'वासुदेव' आया है और हेलियोदोर

८५. सर्वाणि तत्र भूतानि वसन्ति परमात्मनि। भूतेषु च स सर्वात्मा वासुदेवस्ततः स्मृतः॥ विष्णुपु० (६।५।८०), ब्रह्मपु० (२३३।६८, यहाँ 'निवसन्ति परात्मनि' आया है)। एक अन्य श्लोक है—'भूतेषु वसते योऽन्तर्वसन्त्यत्र च तानि यत्। धाता विधाता जगतां वासुदेवस्ततः प्रभुः॥' विष्णुपु० (६।५।८२), ब्रह्मपु० (२३३।७०, किन्तु यहाँ यह आया है कि इसमें वही कथन है जो प्रजापति ने महान् ऋषियों को बताया)। विष्णुपु० (१।२।१२-१३) में आया है—'सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः। ततः स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते॥'

८६. 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥ एवमेष महाञ्छब्दो मैत्रेय भगवानिति। परमब्रह्मभूतस्य वासुदेवस्य नान्यगः॥' विष्णुपु० (६।५।७४ एवं ७६)। वृद्धहारीतस्मृति (६।१६४-१६५) में आया है—'ऐश्वर्यं च तथा वीर्यं तेजः शक्तिरनुत्तमा। ज्ञानं बलं यदेतेषां षण्णां भग इतीरितः। एभिर्गुणैः प्रपूर्णो यः स एव भगवान् हरिः॥' शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र (२।२।४४) के भाष्य में व्यूहों के विषय में कहा है—'ईश्वरा एवैते सर्वे ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिरैश्वर्यधर्मैरन्विता अभ्युपगम्यन्ते।' शंकराचार्य ने सम्भवतः विष्णुपु० (६।५।७८-७९) का अनुसरण किया है।

ने अपने को भागवत कहा है। कुछ प्रारम्भिक लेखों में, यथा—सिंहवर्मा के पीकर दान-पत्र (एपि० इण्डि०, जिल्द ७, पृ० १६१) एवं गुप्त अभिलेख संख्या ८ (पृ० २७) में सिंहवर्मा एवं समुद्रगुप्त का पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय 'परम भागवत' कहे गये हैं। ब्रह्मपुराण (१९०।२०) में अक्रूर को महाभागवत कहा गया है। पद्मपुराण (६।२८०।२७) ने 'महाभागवत' की परिभाषा की है।[८७]

प्राचीन ग्रन्थों में तीन मार्ग उल्लिखित हैं, यथा—**कर्ममार्ग, भक्तिमार्ग** एवं **ज्ञानमार्ग**। यहाँ पर थोड़ा भक्ति एवं ज्ञान के मार्गों पर लिखना आवश्यक-सा है। ये दोनों मार्ग हमें एक ही लक्ष्य अर्थात् मोक्ष की ओर ले जाते हैं। किन्तु दोनों की पहुँच के ढंग भिन्न हैं। ज्ञानमार्ग (या अव्यक्तोपासना) में ब्रह्म के, परमात्मा या निर्गुण के रूप में केवल पुस्तकीय ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती; उसके लिए 'ब्राह्मी स्थिति' परमावश्यक है (गीता २।७२)। यह लम्बे प्रयोग एवं प्रयास से ही सम्भव है (गीता २।५५ आदि)। ज्ञान मार्ग में व्यक्ति जो कुछ करता है वह ब्रह्मार्पण होता है (गीता ४।१८-२४)। भक्तिमार्ग में भक्त ईश्वर के प्रसाद के लिए आत्म-समर्पण कर देता है और वह जो कुछ करता है वह अपने आराध्य देव को समर्पित कर देता है (यह सगुण एवं व्यक्त उपासना है)। गीता (१२।१) में अर्जुन ने भगवान् से प्रश्न किया है—'जो अनन्यप्रेमी भक्तजन पूर्वोक्त प्रकार (इस प्रकार) से निरन्तर आपके भजन-ध्यान में रहकर आपको (सगुण परमेश्वर को), और दूसरे लोग जो केवल अविनाशी एवं निराकार (अव्यक्त) ब्रह्म को ही अति श्रेष्ठ भाव से भजते हैं, उन दोनों प्रकार के उपासकों में अति उत्तम योगवेत्ता कौन हैं?' इसका उत्तर गीता (१२।२-७) में इस प्रकार है—'मुझमें मन लगाकर निरन्तर मेरे भजन-ध्यान में लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धा से युक्त होकर मुझ (सगुण रूप परमेश्वर) को भजते हैं, वे मुझको योगियों में अति उत्तम योगी मान्य हैं। किन्तु जो व्यक्ति इन्द्रियों के समुदाय को भली भाँति वश में करके सर्वव्यापी, अनिर्वचनीय (अकथनीय), सदा एकरस रहने वाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी (सच्चिदानन्दघन ब्रह्म) को निरन्तर अभिन्न भाव से (समबुद्धि से) भजते हैं, वे सभी प्राणियों में रत तथा सब में समान भाव वाले मुझको ही प्राप्त होते हैं। उनके विषय में, जिनके मन अव्यक्त में लगे रहते हैं, क्लेश अधिकतर है (अर्थात् निराकार ब्रह्म में आसक्त रहने वाले व्यक्तियों के साधन में परिश्रम विशेष है), क्योंकि अव्यक्त लक्ष्य की प्राप्ति देहधारी जीवों द्वारा कठिनता से होती है। किन्तु वे व्यक्ति जो सम्पूर्ण कर्मों को मुझमें समर्पित कर देते हैं और मुझको ही सर्वोत्तम लक्ष्य समझ कर भजते रहते हैं, हे अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगाने वाले प्रेमी भक्तों का मैं शीघ्र ही मृत्युरूपी संसार-समुद्र से उद्धार करने वाला होता हूँ।' नवें अध्याय में भक्तिमार्ग के विषय में यों कथित है—'यह विद्याओं में प्रमुख है, रहस्यों (गोपनीयों) में प्रमुख है, यह अति पवित्र है, प्रत्यक्ष फलदायक है, धर्मयुक्त

८७. तापादिपंचसंस्कारी नवेज्याकर्मकारकः। अर्थपंचकविद् विप्रो महाभागवतः स्मृतः॥ पद्म० (६।२८०।२७), ताप आदि के लिए देखिए ऊपर इसी अध्याय की पाद-टिप्पणी ७१; नव प्रकार की पूजा के लिए देखिए आगे वाली टिप्पणी। जिन पाँच शीर्षकों के अन्तर्गत रामानुज सम्प्रदाय के सिद्धान्त विवेचित हैं वे ये हैं—(१) जीव, (२) ईश्वर, (३) उपाय (ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग), (४) फल या पुरुषार्थ (मानवजीवन के लक्ष्य), (५) विरोधिनः (भगवत्प्राप्ति के मार्ग में विरोधीगण अर्थात् बाधाएँ)। नारायण-कृत अर्थपंचक नामक ग्रन्थ में इन पाँचों शीर्षकों के ५-५ विभाग भी किये गये हैं। देखिए डा० आर० जी० भण्डारकर का लेख 'प्रोसीडिंग्स आव दि इण्टरनेशनल कांग्रेस आव ओरिएण्टलिस्ट्स', वियेना, १८८६; आर्य विभाग, पृ० १०१-११०, जहाँ अर्थपंचक का निष्कर्ष दिया गया है।

है, अविनाशी है तथा बड़ा सुगम है' (गीता ९।२)। गीता के अनुसार भक्तिमार्ग ज्ञानमार्ग से अपेक्षाकृत सरल है।

भागवत (७।५।२३-२४) में भक्ति के ९ प्रकार कहे गये हैं[88]—'विष्णु के विषय में सुनना, उनका कीर्तन करना (बार-बार नाम लेना), स्मरण करना, पाद-सेवन करना (विष्णु की मूर्ति की सेवा करना), अर्चन करना, (पूजा करना), वन्दन करना (नतमस्तक हो प्रणाम करना), दास्य भाव ग्रहण करना (अपने को विष्णु का दास समझना), विष्णु को सखा (मित्र) के रूप में मानना एवं आत्मनिवेदन (अर्थात् उन्हें अपने आपको समर्पित कर देना)। नारदभक्तिसूत्र (८३) के अनुसार यह ११ प्रकार की है, यथा—गुणमाहात्म्य, रूप, पूजा, स्मरण, दास्य, सख्य, वात्सल्य, कान्त, आत्मनिवेदन, तन्मयता, परम विरह की ११ आसक्तियाँ। वृद्धहारीतस्मृति (८१-८३) ने थोड़े अन्तर के साथ ९ प्रकार किये हैं। ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि ये ९ प्रकार एक ही समय प्रयोजित होते हैं। एक भक्त इनमें से किसी एक का सहारा लेकर सच्चा भक्त हो सकता है और मोक्ष पा सकता है (शाण्डिल्यसूत्र ७३)। गीता (७।१६-१७) में आया है—'उत्तम कर्म करने वाले अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु एवं ज्ञानी—ऐसे चार प्रकार के भक्त मुझको भजते हैं। उनमें नित्य मुझमें एकीभाव से स्थित अनन्य प्रेमभक्ति वाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मुझको तत्त्व से जानने वाले ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है।' शाण्डिल्य० में आया है कि भक्ति के चार स्वरूप, यथा—स्मृति, कीर्तन, कथा (उनके विषय की कथाएँ कहना) एवं नमस्कार उन लोगों के लिए हैं जो आर्त हैं या प्रायश्चित्त करना चाहते हैं। विष्णुपुराण (२।६।३९) में आया है कि कृष्ण का स्मरण सभी प्रायश्चित्तों में श्रेष्ठ है। शाण्डिल्य० में पुनः आया है कि वे व्यक्ति जो महापातकी हैं वे केवल आर्तों वाली भक्ति कर सकते हैं, किन्तु पापमोचन के उपरान्त वे अन्य भक्ति-प्रकारों का आश्रय ले सकते हैं।

गीता में नवधा भक्ति के स्पष्ट नाम नहीं आये हैं, किन्तु इनमें अधिकांश कतिपय श्लोकों (यथा गीता ९। १४, २६, २७) से तथा पुराणों के वचनों से एकत्र किये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, विष्णुपुराण (२।९।३९) में आया है—'जो भी तपों से पूर्ण एवं दानादि वाले प्रायश्चित्त हैं उनमें कृष्णनामस्मरण सबसे उत्तम है।' इसी पुराण में एक स्थान पर पुनः आया है—'भक्ति के साथ उनके नाम का अनुसरण पाप विलयन का सर्वोत्तम साधन है, जिस प्रकार अग्नि धातुओं का है।'[89] भागवत (११।२।३६) में आया है—'भक्त अपने शरीर, वाणी, मन, इन्द्रियों, बुद्धि या

८८. श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥ इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा। क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥ भागवत ७।५।२३-२४। प्रह्लाद इसे अपने पिता से कहता है। 'स्मृतिकीर्त्योः कथादेश्चार्तौ प्रायश्चित्तभावात्। शाण्डिल्य ७४; स्मरणकीर्तनकथानमस्कारादीनामार्तभक्तौ निवेशः। स्वप्नेश्वर; महापातकिनां त्वार्तौ। शाण्डिल्य ८२; पतनहेतुपापरतानां च पुनरार्तिभक्तौ एवाधिकारः प्रायश्चित्तवत् तत्पापक्षयस्य सर्वापेक्षयाभ्यर्हितत्वात्।...तदपगमे तु सुतरामधिकारसिद्धिः। देखिए भक्तिप्रकाश (वीरमित्रोदय का एक अंश, पृ० ३०-१२८) जहाँ नवधा भक्ति की व्याख्या की गयी है। तान्त्रिकों ने भी भक्ति के इन नौ रूपों को अपनाया है, जैसा कि रुद्रयामल (२७।१०३-१०४) में आया है—'मननं कीर्तनं ध्यानं स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं...निवेदनम्। एतद्भक्तिप्रसादेन जीवन्मुक्तस्तु साधकः॥'

८९. प्रायश्चित्तान्यशेषाणि तपःकर्मात्मकानि वै। यानि तेषामशेषाणां कृष्णानुस्मरणं परम्॥ विष्णु० २।६।३९, पद्म० ६।७२।१३; यन्नामकीर्तनं भक्त्या विलायनमनुत्तमम्। मैत्रेयाशेषपापानां धातूनामिव पावकः॥ विष्णुपु० (स्वप्नेश्वर द्वारा शाण्डिल्यभक्तिसूत्र ७४ की व्याख्या में उद्धृत)।

आत्मा या धातु-स्वभाव से जो कुछ करता है उसे सब कुछ नारायण को समर्पित कर देना चाहिए।' यह गीता (९।२७) के समान ही है और इसे **दास्य भक्ति** कहा जा सकता है; किन्तु अर्जुन की भक्ति **सख्य भक्ति** है (गीता ४।३, कृष्ण ने अर्जुन को अपना भक्त एवं मित्र कहा है)। ऐसा प्रकट होता है कि गीता ने भक्त द्वारा जीवन में अपनी स्थिति के अनुरूप कर्तव्य-पालन को भगवान् की पूजा (अर्चन या पूजा) कहा है--'अपने कर्तव्यों के पालन द्वारा उस भगवान् की पूजा से (जहाँ फल की कोई कामना न हो) जिससे यह लोक निकला हुआ है, और जिससे यह लोक परिव्याप्त है, व्यक्ति पूर्णता प्राप्त करता है (केवल पुष्पों के चढ़ाने या नाम के अनुस्मरण से ही नहीं)।' इसी को **निष्काम कर्म** कहा गया है।

उपर्युक्त निष्कामकर्म को, जो गीता का मुख्य सिद्धान्त है, पुराणों ने स्वीकार किया है। अग्निपुराण (अध्याय ३८१) ने ५८ श्लोकों में गीता का निष्कर्ष उपस्थित किया है जो अधिकांशतः गीता के ही वचन हैं। एक श्लोक के साथ[९०] निष्कर्ष का अन्त किया गया है और अन्तिम श्लोक में भक्ति पर बल दिया गया है।[९१] गरुड़पुराण ने गीता को २८ श्लोकों में रखा है (१।२१०-२३८)। पद्मपुराण (६।१७१-१८८) ने गीता के १८ अध्यायों में प्रत्येक का माहात्म्य उपस्थित किया है (कुल १००५ श्लोकों में)। और देखिए कूर्म (१।३।२१; २।७।२८), मार्कण्डेय (९२।१५) एवं भागवत (११।३।४६)।

उपनिषदों का **अद्वैत सिद्धान्त** (यथा--ईशा० १६; तै० उप० ३।४ एवं ८; बृ० उप० २।४।१४, ४।३।३०-३१, ४।५।१५) ज्ञानियों के लिए है। उपनिषद् सर्वसाधारण को कुछ नहीं देतीं, उनसे भगवान्, या परम तत्त्व, मानव के अन्तिम रूप, परमात्म-प्राप्ति के मार्ग के विषय में साधारण लोगों को कुछ नहीं प्राप्त होता और न उनकी समस्याओं का समाधान ही मिलता है। गीता ने सामान्य अथवा साधारण व्यक्ति की समस्याएँ उठायी हैं, इसने निम्न स्तर के लोगों को भी आशा दी है कि उनके जीवन में भी वह परम तत्त्व एवं सत्य स्वरूप समा सकता है, यदि ऐसे लोग अपने दैनिक कर्तव्यों एवं अपनी स्थिति के अनुरूप कर्मों को भगवान् में समर्पित कर दें तो उन्हें मुक्ति मिलेगी; यदि लोग श्रद्धा के साथ भगवान् की कृपा पूर्ण शरण में आ जायँ तो मोक्ष-पद की प्राप्ति हो जाय। गीता (९।३०-३२) में उद्घोषणा है—'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभाव से मेरा भक्त होकर मुझको भजता है, तो वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चय वाला है। अर्थात् उसने भली भाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वर के भजन के समान अन्य कुछ भी नहीं है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहने वाली परम शान्ति को प्राप्त होता है। हे अर्जुन, तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता। हे अर्जुन, स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि चाण्डाल आदि जो कोई भी हों, वे भी मेरी शरण में आकर परम गति को प्राप्त करते हैं।' और देखिए शाण्डिल्यसूत्र (७८)। पुराण उसी स्वर से उद्घोषित करते हैं जिस स्वर में गीता के वचन हैं, बल्कि वे अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट एवं बलशाली हैं। ब्रह्मपुराण ने गीता (९।३२) का अन्वय मात्र दे दिया है—'मेरा भक्त, भले ही वह चाण्डाल हो, किन्तु सत्य श्रद्धा से अपनी कामना की तुष्टि पाता है; अन्यों के विषय में कहने की क्या आवश्यकता है?' पद्मपुराण (१।५।१० एवं ४।१०।६६) में आया है—'पुल्कस, यहाँ तक कि

९०. यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ गीता (१८।४६)।

९१. अतः प्रवृत्ति...म्यर्च्य विष्णुं सिद्धिं च विन्दति। कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा। ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगद् विष्णुं च वेत्ति यः। सिद्धिमाप्नोति भगवद्भक्तो भागवतो ध्रुवम्॥ अग्निपु० (३८१।५६-५८)। कर्माण्यसंकल्पिततत्फलानि संन्यस्य विष्णौ परमात्मभूते। अवाप्य तां कर्ममहीमनन्ते तस्मिंल्लयं ये त्वमलाः प्रयान्ति॥ विष्णु० (२।३।२५)।

श्वपाक और म्लेच्छ जातियों के लोग भी, यदि वे हरि के चरणों की सेवा करते हैं, वन्द्य एवं महाभाग हो जाते हैं'; 'एक श्वपाक भी वैष्णव है यदि उसके अधरों पर हरि का नाम हो, जिसके हृदय में विष्णु विद्यमान हों, और जिसके उदर में विष्णु का नैवेद्य (चढ़ा हुआ प्रसाद) जाता हो।' भागवतपुराण (२।४।१८) में निम्नोक्त वक्तव्य पाया जाता है—'उस प्रभविष्णु को नमस्कार, जिसकी शरण में पहुँचने पर किरात (पर्वतवासी, यथा भील आदि), हूण, अन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कंक, यवन, खस आदि तथा अन्य पापी व्यक्ति शुद्ध हो जाते हैं।'[९२] ये केवल वचन मात्र नहीं हैं, प्रत्युत ये कार्यान्वित भी होते थे। मध्यकाल में नारी भक्तिनियाँ हुई हैं, यथा मीराबाई (उत्तरी भारत) तथा आण्डाल (दक्षिणी भारत); रायदास (रैदास), जो चमार थे और रामानन्द के शिष्य थे; अजामिल जैसे पापी भी सन्तों के समान सम्मानित हुए थे। कबीर (एक मुसलमान जुलाहा) एवं तुकाराम जैसे अनपढ़ सन्तों की वाणियाँ कट्टर ब्राह्मणों द्वारा भी बड़े मनोयोग से पढ़ी जाती हैं।

११ वीं शती के उपरान्त जब भारत पश्चिमोत्तर भाग के मुस्लिम आक्रमणों से आक्रान्त हो उठा तो इसके समक्ष एक महान् चुनौती आ उपस्थित हुई। वह चुनौती कई ढंगों से स्वीकार की गयी। पहला ढंग था स्मृतियों के विस्तृत निबन्धों का प्रणयन, जिनमें सबसे प्राचीन उपलब्ध निबन्ध है कृत्यकल्पतरु, जो लक्ष्मीधर (लगभग १११० से ११३० ई०) द्वारा प्रणीत है। लक्ष्मीधर उत्तरी भारत के हैं, और दूसरे प्राचीन निबन्धकार हैं हेमाद्रि (१३वीं शती के तीसरे चरण में), जो दक्षिण भारत में उत्पन्न हुए थे। दूसरा एवं अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ढंग था आध्यात्मिक। १३ वीं शती से १७ वीं शती तक अभूतपूर्व आध्यात्मिक पुनरुद्धार की उत्क्रान्तियाँ पनपीं, जिनके फलस्वरूप भारत के सभी भागों में सन्तों एवं रहस्यवादियों का प्रादुर्भाव हुआ, यथा—ज्ञानेश्वर, नामदेव, रामानन्द, कबीर, चैतन्य, दादू (राजस्थान), नानक, वल्लभाचार्य, एकनाथ, तुकाराम, रामदास आदि, जिनके प्रमुख तत्त्व एक ही थे, यथा परमात्मा एक है, आत्म-शुद्धि, जाति की उच्चता की भर्त्सना, पूजा के आडम्बरों की निन्दा तथा मोक्ष के लिए भगवान् में आत्मसमर्पण। तीसरा ढंग था स्वतन्त्र राज्यों की सृष्टि, यथा—विजयनगर (१३३०-१५६५ ई०), महाराष्ट्र (शिवाजी तथा पेशवाओं के शासन-काल में) एवं सिक्खों का पंजाब में राज्य। इस अन्तिम का विवरण हम यहाँ नहीं करेंगे।

९२. किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकंका यवनाः खसादयः। येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥ भागवत २।४।१८। जब विश्वामित्र के ५० पुत्रों ने अपने पिता द्वारा गोद लिये गये पुत्र शुनःशेप को अपने बड़े भाई के रूप नहीं स्वीकार किया तो विश्वामित्र ने शाप दिया कि इनकी सन्तानें अन्ध्र होंगी, निम्न जाति की स्थिति वाली होंगी और वे शबर आदि होंगी तथा अधिक संख्या में दस्यु होंगी—'ताननुव्याजहारान्तान्वः प्रजा भक्षीष्टेति। त एतेऽन्ध्राः पुण्ड्राः शबराः पुलिन्दाः मूतिबा इत्युदन्त्या बहवो भवन्ति वैश्वामित्रा दस्यूनां भूयिष्ठाः। ऐ० ब्रा० (७।१८, अध्याय ३३।६)। और देखिए एपि० इण्डि० (जिल्द ८, पृ० ८८), जहाँ शिवदत्त के पुत्र ईश्वरसेन नामक आभीर राजा के ९ वें वर्ष का अभिलेख वर्णित है। पुल्कस एवं श्वपाक अस्पृश्य तथा अन्त्यज कहे गये हैं। वाजसनेयसंहिता (३०।१६) में किरातों को गुफाओं में रहने वाले कहा गया है। मौसलपर्व (७।४६-६३) में आभीरों को दस्यु एवं म्लेच्छ कहा गया है। जब अर्जुन कृष्ण के अन्तर्धान होने के उपरान्त यादव-स्त्रियों को लिये जा रहे थे तो आभीरों ने अर्जुन पर पञ्चनद में आक्रमण कर दिया और उन स्त्रियों को हर लिया (मौसलपर्व, ८।१६-१७)। और देखिए विष्णुपुराण (५।३८।१२-२८)। मत्स्य (२७३।१८) ने दस आभीर राजाओं का उल्लेख किया है। खस जातियों में एक परम्परा थी अपने मृत भाई की पत्नी से विवाह कर लेना।

भक्ति के सिद्धान्त ने हिन्दू समाज के सभी दलों को प्रभावित किया और जब पुराणों द्वारा भक्ति का प्रचार बढ़ा तो बौद्ध धर्म से हिन्दू लोग बाहर निकलते गये। अपितु, स्वयं महायानी बौद्ध सम्प्रदाय ने भक्ति सिद्धान्त को अपना लिया और 'मिलिन्द प्रश्न', 'सद्धर्मपुण्डरीक' जैसे ग्रन्थों में ऐसे वचनों का समावेश हो गया जो गीता से बहुत मिलते-जुलते हैं। गीता में ऐसी आश्चर्यजनक सहिष्णुता एवं संयोजन पाया जाता है जो महान् पैगम्बरों द्वारा संस्थापित अन्य धर्मों में नहीं उपलब्ध होता। गीता (९।२३) में आया है—'यहाँ तक कि वे लोग, जो अन्य देवों के भक्त हैं और उन्हें भक्ति एवं विश्वास के साथ पूजते हैं, (परोक्ष रूप से) मुझे ही भजते हैं, किन्तु अशास्त्रीय विधि से।' भागवतपुराण (१०।४०।८-१०) में यही बात बढ़ाकर कही गयी है।[९३] शान्तिपर्व (३४१।३६) में भी यही विचार उल्लिखित है[९४]—'जो ब्रह्मा, शिव या अन्य देवताओं की पूजा करते हैं और जिनका आचरण प्रबुद्ध है (अन्त में) वे मुझ परम तत्त्व के पास ही आते हैं।' इस सिद्धान्त का स्रोत ऋग्वेद में पाया जाता है, जहाँ यह आया है[९५]—'उसी एक को मुनि लोग कई नामों से कहते हैं; वे उसे अग्नि, यम, मातरिश्वा (वायु) कहते हैं।' हम यहाँ पर भक्ति की विभिन्न शाखाओं, यथा—रामानुज, मध्व, चैतन्य, वल्लभ आदि द्वारा प्रवर्तित शाखाओं का उल्लेख स्थानाभाव से नहीं कर सकेंगे।

पुराणों ने भक्ति के प्रचार में अत्युक्ति भी कर दी है। ब्रह्मपुराण (२१६।८७-८९) में आया है—'मोह में आकर बहुत पाप कर डालने पर भी पाप को हरने वाले हरि के स्मरण से व्यक्ति नरक में नहीं जाता है। वे व्यक्ति जो सदैव जनार्दन का स्मरण करते हैं वे शठता करने पर भी मृत्यूपरान्त सुखमय विष्णुलोक चले जाते हैं। वह व्यक्ति भी, जो अत्यन्त क्रोध में आसक्त रहता है, हरि के नाम का स्मरण करने से पापरहित हो जाता है और मुक्तिपद प्राप्त कर लेता है, जैसा कि चेदि देश के राजा ने किया था।'[९६] वामनपुराण (९४।५८-५९) में आया है कि जो विष्णु का भक्त है उसे बहुत-से मन्त्रों की आवश्यकता नहीं है। 'नमो नारायणाय' नामक मन्त्र सर्वार्थसाधक है। जो विष्णु के लिए भक्ति रखते हैं, उनकी जय होती है, जिनके हृदय में इन्दीवर श्याम जनार्दन बसते हैं उनकी पराजय का प्रश्न ही नहीं उठता। वामन एवं पद्म का कथन है कि विष्णु के नाम लेने से वैसे ही फल प्राप्त होते हैं जो इस पृथिवी के पवित्र तीर्थों एवं स्थानों में जाने से मिलते हैं।

९३. येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥ गीता ९।२३; त्वामेवान्ये शिवोक्तेन मार्गेण शिवरूपिणम्। बह्वाचार्यविभेदेन भगवन्समुपासते॥ सर्व एव यजन्ति त्वां सर्वदेवमयेश्वरम्। येऽप्यन्यदेवताभक्ता यद्यप्यन्यधियः प्रभो॥ यथाद्रिप्रभवा नद्यः पर्जन्यापूरिताः प्रभो। विशन्ति सर्वतः सिन्धुं तद्वत्त्वां गतयोऽन्ततः॥ भागवत (१०।४०।८-१०)।

९४. ब्रह्माणं शितिकण्ठं च याश्चान्या देवताः स्मृताः। प्रबुद्धचर्याः सेवन्तो मामेवैष्यन्ति यत्परम्॥ शान्ति० (३४१।३६)।

९५. एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ ऋ० (१।१६४।४६)।

९६. चेदि देश का राजा सम्भवतः शिशुपाल था, जिसकी कथा सभापर्व (अध्याय ४३-४६) में आयी है। वह कृष्ण की बहिन का पुत्र था। कृष्ण ने उसके १०० अपराधों को क्षमा कर देने का वचन दिया था और अन्त में युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के अवसर पर उसे मार डाला। शिशुपाल की कथा विष्णुपु० (४।१५।१-१७) में भी आयी है और ऐसा उल्लेख है कि शिशुपाल भी कृष्ण का नाम सदैव लेता रहता था और उन्हें शत्रु के रूप में सदैव स्मरण रखता था, इसी से वह अन्त में भगवान् के पास पहुँच गया।

कतिपय पुराण, विशेषतः विष्णु एवं भागवत भक्ति के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक प्रयोगों, उसकी प्रशंसाओं तथा उससे सम्बन्धित कथानकों से परिपूर्ण हैं। स्थानाभाव से हम विस्तार में नहीं जा सकते। कुछेक विशिष्ट बातें यहाँ दे दी जा रही हैं। भागवतपुराण की प्रशंसा में पद्मपुराण में यों आया है—'सहस्रों अश्वमेध और सैकड़ों वाजपेय यज्ञ शुक द्वारा कही गयी गाथा के सोलहवें अंश के बराबर भी नहीं हो सकते। जो कोई भागवत के आधे श्लोक या चौथाई श्लोक का पाठ करता है वह अश्वमेध एवं राजसूय यज्ञ का फल प्राप्त करता है। जो मृत्यु के समय शुकशास्त्र (भागवत) सुनता है, गोविन्द उससे प्रसन्न होकर वैकुण्ठ प्रदान करते हैं; विष्णु के नाम लेने से सभी पाप कट जाते हैं, यह स्वयं एक प्रायश्चित्त है, क्योंकि स्मरण करते समय केवल विष्णु ही मन में अवस्थित रहते हैं।' एक अन्य बात है अजामिल की कथा (भागवत ६।१।२० एवं ६।२; पद्म १।३१।१०९ एवं ६।८७।७ आदि)। अजामिल जिसने अपनी ब्राह्मण पत्नी का त्याग किया था और एक दासी को रख लिया था, चरित्र-भ्रष्ट था तथा चोरी एवं जुए के दुर्गुणों से परिपूर्ण था। जब वह ८० वर्ष की आयु में अपनी मरण-सेज से अपने कनिष्ठ पुत्र नारायण को (जो दस दासीपुत्रों में एक था) जोर से पुकारने लगा और स्नेहवश उसी नाम को मन में रखे रहा तो वह पापमुक्त हो गया और कठिन तपःसाध्य स्थिति को प्राप्त हो गया। इस प्रकार की कथाओं से एक विश्वास-सा जग उठा कि मृत्यु के समय अन्तिम विचार अपने अनुरूप नया जीवन प्रदान करता है (अन्ते मतिः सा गतिः)। उपनिषदों में इस अन्तिम विचार का मूल बीज उपस्थित है (छा० उप० ३।१४।१, ८।२।१०, बृ० उप० ४।४।५)। 'मिलिन्द प्रश्न' (एस० बी० ई०, जिल्द ३५, पृ० १२३-१२४) में अन्तिम विचार के महत्त्व की इस भावना पर प्रश्नोत्तर हुआ है। ऐसा सम्भव है कि केवल एक बार भगवान् के नाम का आह्वान, पश्चात्ताप के उपरान्त श्रद्धापूर्वक केवल एक सत्कर्म तथा भगवान् की इच्छा के अनुरूप आत्म-समर्पण अपराध एवं पापमय जीवन के फल को काट दे। अजामिल के जीवन की गाथा का यही नैतिक निष्कर्ष है। किन्तु इससे एक दुर्भावना उत्पन्न हो सकती है कि व्यक्ति जीवन भर दुराचारी रहे, भ्रष्ट रहे तथा हर सम्भव पाप एवं अपराध करता रहे, किन्तु यदि वह मरते समय भगवान् का नाम ले ले तो उसके सभी पाप कट जायेंगे। यह एक भयंकर सिद्धान्त है। गीता (८।५-७) इस पर प्रकाश डालती है—'वह व्यक्ति, जो मुझे मरते समय स्मरण करता है और शरीर त्याग कर इस संसार से चला जाता है, मेरा तत्त्व प्राप्त करता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। जब व्यक्ति मरता है उस समय वह जो कुछ आकार या स्वरूप स्मरण करता है, वह उसी को प्राप्त होता है, क्योंकि वह उसी आकार या प्रतिमा या स्वरूप में सदैव संलग्न था। अतः मुझे सदा स्मरण करो और युद्ध करो; इसमें कोई सन्देह नहीं कि मुझमें अपना मन एवं बुद्धि लगाकर तुम मुझे प्राप्त करोगे।' इस वचन का तात्पर्य यह है (गीता का ऐसा निर्देश है) कि व्यक्ति भगवान् का नाम मरते समय तभी स्मरण कर सकेगा जब वह जीवन भर वैसा करता रहेगा, जब कि वह अपने कर्तव्यों का पालन निष्काम भाव से करता रहेगा। ऐसा अधिकतर नहीं होता और यह एक प्रकार से असम्भव है कि व्यक्ति जीवन भर पाप करता रहे और अन्त में मरते समय भगवान् का नाम लेने लगे। यही बात पुनः कही गयी है (८।१०-१३; १३।३ : यो यच्छ्रद्धः स एव सः)।

इस सिद्धान्त के रहते हुए भी कि परमात्मा एक है, और यह जानते हुए कि चाहे जिस रूप में हम किसी देवता को पूजें, वह पूजा परमात्मा को ही प्राप्त होती है, वैष्णवों एवं शैवों में बड़े भयंकर वाक्-युद्ध होते रहे हैं। उदाहरणार्थ, वराहपुराण (७०।१४ 'नारायणः परो देवः') ने रुद्र द्वारा विष्णु की महत्ता घोषित करायी है, और शैव सिद्धान्तों को, वेदों के बाहर की बातें कह कर निन्दित किया है और ऐसा मत प्रकाशित किया है—'यह अवैदिक मत स्वयं शिव ने विष्णु की प्रार्थना पर लोगों को भ्रम में डालने के लिए प्रवर्तित किया है।' कुछ पुराणों ने ऐसा प्रचार करना आरम्भ किया कि बौद्ध एवं जैन असुर एवं देवों के शत्रु हैं, और वे भगवान् द्वारा जान-बूझकर भ्रमित

कर दिये गये हैं। उदाहरणार्थ, मत्स्य (२४।४३-४९) में आया है कि रजि के पुत्रों ने इन्द्र को राज्य एवं यज्ञों के भाग (अंश) से वंचित कर दिया; इन्द्र की प्रार्थना पर बृहस्पति ने वेद के विरुद्ध जिन-धर्म नामक ग्रन्थ लिखकर रजि के पुत्रों को भ्रमित कर दिया और तब इन्द्र ने उन्हें मार डाला। वायु (९६।२३०-३२), मत्स्य (४७।११-१२), भागवत (१।३।२४) ने, लगता है, ऐसा कहा है कि स्वयं विष्णु ने लोगों को भ्रम में डाल दिया। अग्नि (१६। १-४) में भी आया है कि विष्णु ने बौद्धों को भ्रमित कर दिया था। विष्णुपुराण (३।१७-१८) में उल्लिखित है कि जब देव लोग असुरों (जो तप करते थे और वेदाध्ययन करते थे) द्वारा पराजित हुए तो वे विष्णु के पास गये और सहायता के लिए प्रार्थना की; इस पर विष्णु ने अपने शरीर से माया-मोह उत्पन्न किया और उसे देवों को समर्पित कर दिया। मायामोह नंगा था, उसने अपना सिर मुँड़ा रखा था और उसके हाथ में मोर के पंख थे। वह नर्मदा के तटों पर तप करने वाले असुरों के पास गया (३।१८।१२) और बोला कि यदि वे उसकी बात मानेंगे तो मुक्ति की प्राप्ति करेंगे। उसने उन्हें वेद के मार्ग से विचलित कर दिया और उन्हें हठवादी तर्क के नियम बतलाकर धर्म से विचलित कर दिया। इसके उपरान्त वह अन्य असुरों के पास जाकर बोला कि पशु-यज्ञ पापमय है और उन्हें निर्वाण एवं विज्ञानवाद का पाठ पढ़ाया। कुछेक वचन बड़े विचित्र हैं—'कुछ ही क्षणों में असुर लोग मायामोह द्वारा मोहित हो गये और तीनों वेदों पर आश्रित मार्ग का अवलम्बन छोड़ दिया। कुछ ने वेदों की निन्दा की, कुछ ने देवों की, तथा यज्ञ-कार्यकलापों एवं ब्राह्मणों की निन्दा की। (उन्होंने सोचा या कहा कि) 'धर्म के लिए (यज्ञों में) हिंसा (पशु-बलि) उचित है' ऐसा कथन तर्कसंगत नहीं है; ऐसा कहना कि अग्नि में हवि डालने से (उस लोक में) फल मिलेगा, मूर्खता है; (यदि ऐसा कहा जाय कि) बहुत-से यज्ञों के द्वारा ही इन्द्र को देवत्व की स्थिति प्राप्त हुई और वह शमी वृक्ष की समिधा का उपभोग करता है, तो वह पशु जो शमी की पत्तियाँ खाता है, इन्द्र से बढ़कर है। यदि वेद एसा चाहते हैं कि यज्ञ में बलि दिया हुआ पशु स्वर्ग प्राप्त करता है, तो यजमान स्वयं अपने पिता को यज्ञ में क्यों नहीं मार डालता (और उसे स्वर्ग में भेज देता)? यदि कोई (पुत्र) (इस विचार से) श्राद्ध करता है कि जो किसी द्वारा खाया जाता है (श्राद्ध में ब्रह्मभोज) उससे दूसरे (यजमान के मृत पिता) की तृप्ति होती है, तो यात्री लोग (अपनी पीठ पर) अन्न न ढोते और न थकते।' ये ऐसे तर्क हैं जिन्हें नास्तिक (चार्वाक लोग) प्रयोग में लाते हैं।[97] यह द्रष्टव्य है कि कुलार्णवतन्त्र जैसे तान्त्रिक ग्रन्थ शिव से ऐसा कहलाते हैं कि उन्होंने कुछ शास्त्रों का उद्घोष केवल दुष्ट लोगों को, जो कौल धर्म नहीं जानते हैं, मोहित करने के लिए किया था।[98]

९७. स्वल्पेनैव हि कालेन मायामोहेन तेऽसुराः। मोहितास्तत्यजुः सर्वां त्रयीमार्गाश्रितां कथाम् ॥ केचिद् विनिन्दां वेदानां देवानामपरे द्विज। यज्ञकर्मकलापस्य तथान्ये च द्विजन्मनाम् ॥ नैतद्युक्तिसहं वाक्यं हिंसा धर्माय चेष्यते। हवींष्यनलदग्धानि फलायेत्यर्भकोदितम् ॥ यज्ञैरनेकैर्देवत्वमवाप्येन्द्रेण भुज्यते। शम्यादि यदि चेत्काष्ठं तद्वरं पत्रभुक् पशुः ॥ निहतस्य पशोर्यज्ञे स्वर्गप्राप्तिर्यदीष्यते। स्वपिता यजमानेन किन्नु तस्मान्न हन्यते ॥ तृप्तये जायते पुंसो भुक्तमन्येन चेत्ततः। कुर्याच्छ्राद्धं श्रमायान्नं न वहेयुः प्रवासिनः ॥ विष्णुपु० (३।१८।२४-२९)। इसी प्रकार के मायामोह के विषय में देखिए पद्म० (५।३।३४६-३९०, अन्तिम पद्य २४ तीर्थंकरों की ओर संकेत करता है)। सर्वदर्शनसंग्रह (महामहोपाध्याय वासुदेवशास्त्री अभ्यंकर द्वारा सम्पादित, १९२४) में चार्वाकदर्शन के अध्याय में कुछ श्लोक बृहस्पति से उद्धृत हैं, यथा—पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति। स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते ॥ पृ० १३। देखिए पद्म (५।१३।३७०-३७४)।

९८. भ्रामिता हि मया देवि पशवः शास्त्रकोटिषु। कुलधर्मं न जानन्ति वृथा शास्त्राभिमानिनः ॥ पशुशास्त्राणि

जैनों एवं बौद्धों की भर्त्सना करते हुए पुराण इतने आगे चले गये कि वे गीता (९।२३) के वचन को भी भूल गये (देखिए टिप्पणी ९३) और कहने लगे कि जो ब्राह्मण वैष्णव नहीं है वह नास्तिक (पाषण्डी) है; स्वयं विष्णु ने बुद्ध का रूप धारण करके एक भ्रामक शास्त्र की उद्घोषणा की और सभी शास्त्र, यथा—पाशुपत, कणाद का वैशेषिक, गौतम का न्याय, कपिल का सांख्य एवं बृहस्पति का चार्वाक तामस हैं; शंकर का मायावाद एक भ्रामक शास्त्र है और प्रच्छन्न (छिपा हुआ, दूसरे वेश में) बौद्ध है तथा जैमिनि का विशाल शास्त्र (पूर्वमीमांसा) निन्दित है क्योंकि इसने देवों को अपनी पद्धति के भीतर निरर्थक सिद्ध कर दिया है। पद्मपुराण (६।२६३।६७-७१ एवं ७५-७६) में इस प्रकार आया है[99]—"हे देवि, सुनिए, मैं क्रम से तामस शास्त्रों के विषय में बताता हूँ, जिनके स्मरण मात्र से ज्ञानी लोग भी पतित हो जाते हैं। सर्वप्रथम मैंने शैव शास्त्रों, यथा पाशुपत का उद्घोष किया; इसके उपरान्त मेरी शक्ति से अभिभूत हो ब्राह्मणों ने निम्नोक्त शास्त्र उद्घोषित किये, यथा—कणाद ने वैशेषिक पद्धति का उद्घोष किया; न्याय एवं सांख्य पद्धतियाँ क्रम से गौतम एवं कपिल द्वारा उद्घोषित हुईं; अति गर्हित चार्वाक सिद्धान्त की उद्घोषणा बृहस्पति ने की; स्वयं विष्णु ने बुद्ध का रूप धारण करके दैत्यों का नाश करने के लिए उन बौद्धों के भ्रामक सिद्धान्त की उद्घोषणा की जो नंगे चलते हैं या नीला वस्त्र धारण करते हैं। स्वयं मैंने हे देवि, ब्राह्मण रूप धारण करके कलियुग में उस मायावाद के भ्रामक शास्त्रों की उद्घोषणा की, जो प्रच्छन्न बौद्ध हैं। ब्राह्मण जैमिनि ने उस पूर्वमीमांसा का प्रणयन किया जो अपने निरीश्वरवादी दृष्टिकोण के कारण व्यर्थ है।" सांख्यप्रवचन-भाष्य में विज्ञानभिक्षु (लगभग १५५० ई०) ने पद्मपुराण (६।२६३) के कतिपय श्लोक उद्धृत किये हैं और एक ऐसा विचित्र मत प्रकाशित किया है कि कोई भी शास्त्र, जो आस्तिक (जो आत्मा को मानता) है, अप्रामाणिक नहीं है और न कहीं कोई विरोध है, प्रत्येक शास्त्र अपनी परिधि में शक्तिशाली एवं सत्य है। वह मौलिक सांख्यसूत्र, जिस पर उसने टीका की है, यह असम्भव स्थापना रखता है कि सांख्य की शिक्षाएँ ब्रह्म की विभुता एवं एकता वाले सिद्धान्त के विरोध में नहीं पड़तीं। साम्प्रदायिक अनन्यसमानता एवं कट्टरपन इतना आगे बढ़ गया कि ब्रह्माण्ड० में अगस्त्य एवं राम की वार्ता के बीच में कह दिया गया है कि कृष्ण (जो स्वयं विष्णु के एक अवतार हैं) के १०८ नाम इतने शक्तिशाली हैं कि विष्णु के १००८ नामों को तीन बार कहने से जो पुण्य प्राप्त होता है वह कृष्ण के १०८ नामों में केवल एक को एक बार कह देने से प्राप्त हो जाता है।[100]

सर्वाणि मयैव कथितानि हि। मूर्त्यन्तरं तु गत्वैव मोहनाय दुरात्मनाम्॥ कुलार्णवतन्त्र (२।९६-९७, आर्थर एवालों द्वारा सम्पादित)।

९९. शृणु देवि प्रवक्ष्यामि तामसानि यथाक्रमम्। येषां स्मरणमात्रेण पातित्यं ज्ञानिनामपि॥ प्रथमं हि मया चोक्तं शैवं पाशुपतादिकम्। मच्छक्त्यावेशितैर्विप्रैः प्रोक्तानि च ततः शृणु॥ कणादेन तु संप्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं महत्। गौतमेन तथा न्यायं सांख्यं तु कपिलेन वै॥ धिषणेन तथा प्रोक्तं चार्वाकमतिगर्हितम्। दैत्यानां नाशनार्थाय विष्णुना बुद्धरूपिणा॥ बौद्धशास्त्रमसत्प्रोक्तं नग्ननीलपटादिकम्। मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते। मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा॥...द्विजन्मना जैमिनिना पूर्वं वेदमपार्थकम्। निरीश्वरेण वादेन कृतं शास्त्रं महत्तरम्॥ पद्म० (६।२६३।६७-७१ एवं ७५-७६, सांख्यप्रवचनभाष्य, पृ० ६-७ में विज्ञानभिक्षु द्वारा उद्धृत)।

१००. शृणु देवि प्रवक्ष्यामि नाम्नामष्टोत्तरं शतम्। सहस्रनाम्नां पुण्यानां त्रिरावृत्त्या तु यत्फलम्॥ एकावृत्त्या तु कृष्णस्य नामैकं तत्प्रयच्छति। तस्मात्पुण्यतरं चैतत् स्तोत्रं पातकनाशनम्॥ ब्रह्माण्ड० (३।३६।१८-२०।) २१-४१

विष्णुपुराण एवं पद्मपुराण में ही ऐसी निन्दोक्तियाँ नहीं पायी जातीं कि स्वयं विष्णु या शिव को नास्तिकों एवं वेदविरोधियों को मोह में डालने के लिए भ्रामक सिद्धान्त प्रतिपादित करने पड़े, प्रत्युत अन्य पुराण भी यही गीत गाते हैं। उदाहरणार्थ, कूर्मपुराण ने कई शास्त्रों एवं पद्धतियों के विरोध में कई स्थानों पर विचार प्रकट किये हैं। दो-एक वचन यहाँ दिये जा रहे हैं। देवी कहती हैं—'बहुत-से शास्त्र जो इस लोक में विद्यमान हैं और श्रुतियों एवं स्मृतियों के विरुद्ध हैं वे तामस हैं, यथा—कापाल, भैरव, यामल (एक प्रकार के तान्त्रिक ग्रन्थ), वाम (तान्त्रिकों के एक वर्ग की वाम क्रियाएँ), आर्हत (जैन सिद्धान्त), ये तथा अन्य केवल मोह उत्पन्न करने के लिए हैं। मैंने दूसरे जन्म में लोगों को मोह में डालने के लिए इन शास्त्रों को प्रकट किया'; 'अतः उन लोगों की उनसे, जो वेद-प्रभाव से बाहर हैं, रक्षा के लिए तथा पापियों के नाश के लिए हम, हे शिव, उन्हें मोहित करने के लिए शास्त्र लिखेंगे। इस प्रकार माधव (कृष्ण) द्वारा बताये जाने पर रुद्र ने शास्त्र प्रणीत किये और लोगों को भ्रमित किया तथा रुद्र द्वारा प्रेरित हो विष्णु ने भी वैसा ही किया; दोनों ने कापिल, नाकुल, वाम, भैरव (पूर्व एवं उत्तर-कालीन), पाञ्चरात्र, पाशुपत तथा सहस्रों अन्य शास्त्र बनाये।"[१०१] 'शंकर मानवमुण्डों की माला पहन कर एवं श्मशान से भस्म लेकर शरीर में लगाकर, जटाजूट बाँधे हुए, इस संसार को मोहित करते हुए तथा अन्य लोगों के कल्याण के लिए भिक्षा माँगते हुए इस पृथिवी पर उतरे।' 'शब्दों द्वारा भी पाञ्चरात्र एवं पाशुपत लोगों का सम्मान नहीं करना चाहिए, क्योंकि वे नास्तिक हैं, वर्जित वृत्तियाँ करते हैं और वाम शाक्त आचरण करते हैं। जब बौद्ध साधु, निर्ग्रन्थ, पाञ्चरात्र सिद्धान्तवादी, कापालिक, पाशुपत एवं अन्य समान नास्तिक लोक (पाषण्डी लोग) जो दुष्ट एवं मोहित होते हैं, श्राद्ध का भोजन खा लेते हैं तो वह श्राद्ध निरर्थक हो जाता है, उसका इस लोक एवं

वाले श्लोकों में कृष्ण के १०८ नाम आये हैं। विष्णु के १००८ नाम महाभारत, अनुशासनपर्व (१४९।१४-१२०) एवं गरुड़पुराण (१।१५।१-१६०) में आये हैं।

१०१. यानि शास्त्राणि दृश्यन्ते लोकेऽस्मिन्विविधानि तु। श्रुतिस्मृतिविरुद्धानि निष्ठा तेषां हि तामसी॥ कापालं भैरवं चैव यामलं वाममार्हतम्। एवंविधानि चान्यानि मोहनार्थानि तानि तु॥ मया सृष्टानि शास्त्राणि मोहायैषां भवान्तरे॥ कूर्म० १।१२।२६१-२६३; और देखिए कूर्म० १।१६।१७-१९ एवं २४-२६ जहाँ कापाल, नाकुल, वाम, भैरव, पांचरात्र एवं पाशुपत उसी कार्य के लिए उत्पन्न उल्लिखित हैं। ताराभक्तिसुधार्णव (छठी तरंग) ने कूर्म० का उद्धरण देते हुए कहा है कि ये वचन केवल वेद की प्रशंसा में कहे गये हैं, उन्हें ऐसा नहीं समझना चाहिए कि वे तान्त्रिक आगमों को अप्रामाणिक सिद्ध करते हैं। 'नाकुल' वही हैं जो लकुलीश-पाशुपत-दर्शन में वर्णित हैं (देखिए सर्व-दर्शनसंग्रह)। लिंगपुराण (२४।१२४-१३३) में लकुली के विषय में विस्तार से उल्लेख है। वायुपुराण (२३। २२१-२२४) में आया है कि लकुली एक शैव सम्प्रदाय का प्रवर्तक था और कायारोहण (आधुनिक कारवण, बड़ोदा के डभोई तालुका में अवस्थित) उसका सिद्ध-क्षेत्र था। मथुरा अभिलेख, जो चन्द्रगुप्त *द्वितीय के काल (गुप्त संवत् ६१, ई० ३८०)* का है, बताता है कि पाशुपत सम्प्रदाय का प्रवर्तक लकुली ईसा के उपरान्त प्रथम शती में हुआ था (एपि० इण्डि०, जिल्द २१)। देखिए डा० आर० जी० भण्डारकर कृत वैष्णविज्म, शैविज्म आदि, पृ० १६६ एवं 'ऐण्टिक्विटीज इन कारवन विथ रेफरेंस टु लकुलीश वर्शिप' (जर्नल आव बाम्बे यूनि०, जिल्द १८, भाग ४, पृ० ४२-६७); एपि० इण्डि०, जिल्द २१, पृ० १-९; जे० बी० बी० आर० ए० एस्०, जिल्द २२, पृ० १५१-१६७ (दोनों में डा० डी० आर० भण्डारकर के लेख हैं); इण्डि० हिस्ट्रा० क्वा०, जिल्द १९, १९४३, पृ० २७०-२७१, जहाँ पर लकुली सम्प्रदाय के उद्गम एवं इतिहास का उल्लेख है।

परलोक में कोई उपयोग नहीं होता।' कुछ नास्तिक सम्प्रदायों की जानकारी के लिए देखिए श्री राधाकृष्ण चौधरी कृत लेख 'हेरेटिकल सेक्टस इन दि पुराणज़' (ए० बी० ओ० आर० आई०, जिल्द ३७, १९५६)।

गीता (१६ वाँ अध्याय) ने मानवों को दो श्रेणियों में बाँटा है—दैवी प्रवृत्ति वाले एवं आसुरी प्रवृत्ति वाले और दूसरी श्रेणी के लोगों को ७-२० श्लोकों में वर्णित किया है। कुछ श्लोकों से प्रकट होता है कि वहाँ नास्तिकों आदि की ओर निर्देश है, क्योंकि ८वें श्लोक में आया है—'उनके कथनानुसार यह विश्व सत्यरहित है (अर्थात् इसमें कुछ भी ऐसा नहीं है जिसमें लोगों का विश्वास हो), इसमें कोई स्थिर सिद्धान्त नहीं है (यथा गुण या दोष), यह शासक-रहित है, यह केवल कामजनित संयोग द्वारा उत्पन्न है।' उनके विचारों एवं आकांक्षाओं के उल्लेख के उपरान्त गीता ने निष्कर्ष निकाला है—'ये ऐसे यज्ञकर्म करते हैं जो केवल नाम मात्र हैं, उनमें केवल छाद्मिकता है और वे विधि-व्यवस्था के प्रतिकूल हैं; वे मुझे अपने लोगों एवं अन्य लोगों में घृणा की दृष्टि से देखते हैं; इन अपवित्र एवं क्रूर दुष्टों को मैं सदैव आसुरी योनियों में फेंकता जाता हूँ; आसुरी जन्मों में प्रविष्ट हो वे मोहित रहते हैं, प्रत्येक जन्म में वे अत्यन्त बुरी स्थितियों में पड़ जाते हैं और मेरे पास नहीं पहुँच पाते हैं।' पद्म एवं अन्य पुराणों ने पाशुपतों, पाञ्चरात्रों एवं अन्य अवैष्णवों के विषय में जो कुछ कहा है उससे उपर्युक्त कथन पूर्णतया भिन्न है।

भागवत-माहात्म्य या पद्म० में आया है कि भक्ति का उद्भव सर्वप्रथम द्रविड़ देश में हुआ, इसकी वृद्धि कर्णाटक में हुई, यह महाराष्ट्र के कुछ ही स्थानों में पायी गयी और गुर्जर देश में इसकी अवनति हुई; यह भयंकर कलियुग के कारण पाखण्डियों द्वारा खण्डित हो गयी और चिरकाल तक दुर्बल पड़ी रही; किन्तु वृन्दावन (मथुरा के पास) पहुँच कर इसने नवीन रूप धारण किया और सुरूपिणी हो गयी (भागवतमा० १।४।४८-५०; पद्म० ६।१८९।५४-५६)। भागवत (११।५।३८-४०) में पुनः आया है कि कलियुग में लोग कहीं-कहीं पूर्णतया नारायण-भक्त होंगे, किन्तु द्रविड़ देश में, जहाँ ताम्रपर्णी, कृतमाला, कावेरी एवं महानदी पश्चिम में बहती हैं, ऐसे लोग अधिक विस्तार से पाये जायेंगे, जो लोग इन नदियों का जल पीते हैं वे सामान्यतः वासुदेवभक्त होते हैं।

यह अधिकतर देखने में आता है कि अधिकांश नैतिक एवं आध्यात्मिक उत्क्रान्तियाँ आगे चलकर हीन अवस्था को प्राप्त हो जाती हैं। यह बात भागवत धर्म के साथ भी हुई। अत्रि-संहिता में भागवतों के विषय में एक व्यंग्यात्मक संकेत मिलता है (श्लोक ३८४)—'वेदविहीन लोग शास्त्र (व्याकरण, वेदान्त, न्याय आदि) पढ़ते हैं; शास्त्रहीन लोग पुराण पढ़ते हैं; पुराणहीन लोग कृषक होते हैं; किन्तु जो वहाँ भी भ्रष्ट होते हैं, वे भागवत हो जाते हैं।'[१०२] अत्रि के कहने का तात्पर्य यह है कि भागवत लोग आलसी होते हैं, जो न तो वेद पढ़ते हैं, न शास्त्र पढ़ते हैं और न अपनी जीविका के लिए औरों को पुराण पढ़कर सुनाते हैं, यहाँ तक कि खेती (श्रम) भी नहीं करते, वे केवल विष्णु या कृष्ण के भक्त बनकर अन्य लोगों के दानों पर मोटे-मुस्टण्डे बने रहते हैं, मानो भगवान् की भक्ति में पड़कर वे सब कुछ का त्याग कर बैठे हैं। वे मराठी भाषा में 'बुवा' और हिन्दी में 'बाबाजी' के नाम से विख्यात हैं।

भक्ति सम्प्रदाय का एक अन्य मनोरंजक विकास है **मधुरा भक्ति,** जो कृष्ण एवं राधा की भक्ति से सम्बन्धित है और चैतन्य एवं वल्लभाचार्य द्वारा संस्थापित वैष्णववाद के रूप में प्रकट हुई है। इस विषय में देखिए डा० एस० के० दे कृत 'दि वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेण्ट इन बेंगाल' (कलकत्ता, १९४२) एवं प्रस्तुत लेखक का ग्रन्थ 'हिस्ट्री आव संस्कृत पोइटिक्स' (१९५१), जहाँ पृ० २९८-३०२ में रूप गोस्वामी कृत उज्ज्वलनीलमणि के विषय में उल्लेख

१०२. वेदैर्विहीनाश्च पठन्ति शास्त्रं शास्त्रेण हीनाश्च पुराणपाठाः। पुराणहीनाः कृषिणो भवन्ति भ्रष्टास्ततो भागवता भवन्ति॥ अत्रिसंहिता (३८४ वाँ श्लोक)।

है। वल्लभाचार्य द्वारा संस्थापित भक्ति-सम्प्रदाय में गुरु को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है, वह गुरु वल्लभाचार्य के वंशजों में होता है और उसे दिव्य सम्मान दिया जाता है। एक अन्य भक्ति-शाखा राम एवं सीता को लेकर चली है जो रामायण एवं अन्य परम्पराओं में पालित हुई है। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम और उनकी पत्नी सीता मधुरा भक्ति के अति शालीन प्रतीक हैं। वल्लभाचार्य के अनुयायियों में गुरु भक्त से आशा करता है कि वह उसे (गुरु को) कृष्ण समझे और स्वयं अपने को गोपी समझे। स्थानाभाव के कारण हम अन्य भक्ति-शाखाओं का विवरण यहाँ नहीं उपस्थित कर सकेंगे।

वेदार्थ पर कुछ विचार

आराधना एवं कर्मकाण्ड के प्रसंग में वैदिक एवं पौराणिक मन्त्रों को परम महत्त्व प्रदान किया गया है। तन्त्रों एवं पूर्वमीमांसा के प्रकरण में हम उन पर विस्तार से विवेचन उपस्थित करेंगे। किन्तु थोड़े में, विशेषतः वैदिक मन्त्रों के विषय में, यहाँ कुछ कहा जा सकता है। ऋग्वेद में 'मन्त्र' शब्द लगभग २५ बार आया है। केवल एक बार 'मन्त्रकृत्' शब्द आया है।[१०३] अपने ग्रन्थ 'ऋग्भाष्य-भूमिका' (अंग्रेजी में) में कपाली शास्त्री ने यह त्रुटिपूर्ण बात कही है—'हम ऋक् संहिता में मन्त्र के प्रणेता के रूप में ऋषि का उल्लेख बहुधा पाते हैं', और वे केवल ऋ० ९।११४।२ एवं १।६७।२ का हवाला दे पाते हैं। किन्तु १।६७।२ में 'मन्त्रकृत्' शब्द आया भी नहीं है। ऋ० १।६७।२ में प्रत्यक्ष रूप से 'ऋषि' की ओर कोई संकेत नहीं है, केवल 'नर' की ओर है। प्राचीन काल में मन्त्रों द्वारा इन्द्र को दिन में तीन बार थोड़ी देर के लिए बुलाया जाता था (ऋ० ३।५३।८)। इसी प्रकार विज्ञ लोग यम को हवि देने के लिए मन्त्रों द्वारा बुलाते थे (ऋ० १०।१४।४)। ऋ० (१०।८८।१४) में आया है—'हम मन्त्रों के साथ अपना स्वर वैश्वानर अग्नि की ओर उठाते हैं, जो विज्ञ हैं और जो सभी दिनों में प्रकाश के साथ चमकते हैं।' कभी-कभी 'मन्त्र' शब्द एकवचन में भी आया है, यथा ऋ० १।४०।५-६, ७।३२।१३, १०।१९१।३। और भी देखिए ऋ० १।३१।१३, १।७४।१, १।१४७।४, १।१५२।२, २।३५।२, ६।५०।१४, ७।७।६, १०।५०।४ एवं ६, १०।१०६।११। दो स्थानों (ऋ० १०।९५।१ एवं १०।१९१।३) में 'मन्त्र' शब्द का अर्थ है 'परामर्श, एकत्र हो मन्त्रणा करना।' ऋ० (१।२०।४) में 'ऋभुओं' को 'सत्यमन्त्राः' कहा गया है और ऐसा कहा गया है कि उन्होंने अपने माता-पिता को युवा बना दिया था। 'ऋभु' कौन हैं और 'सत्यमन्त्राः' से उनका क्या सम्बन्ध है, इस विषय में मतभेद है, स्पष्ट रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। ऋ० (७।७६।४) प्रहेलिकामय कथन है। इसका अर्थ है—'केवल वे (अंगिरा), हमारे पुराने पितर लोग विद्वान् (विज्ञ) लोगों और उचित मार्ग का अनुसरण करते हुए देवों के साथ का आनन्द लेते रहे और उन्होंने (स्वर्भानु या ग्रहण द्वारा) छिपाये गये प्रकाश (सूर्य) को प्राप्त किया; उन्होंने, जिनके मन्त्र सत्य थे, उषा को प्रकट किया।' कुछ वचनों में, जहाँ स्तोम या ब्रह्म जैसे शब्द आये हैं, कहा गया है कि भक्त द्वारा स्तोम या ब्रह्म निर्मित किये गये या चमकाये गये (ऋ० १०।३९।१४, ५।२९।१५, ७।३२।२ एवं १०।५०।७)। 'गिर्' (कई सौ बार), 'धीति' (लगभग सौ बार), 'ब्रह्म' (एक सौ से अधिक बार), 'यति' (लगभग सौ बार), 'मनीषा' (६० बार से अधिक), 'वचस्' एवं

१०३. ऋषे मन्त्रकृतां स्तोमैः कश्यपोद्वर्धयन् गिरः। सोमं नमस्य राजानं यो जज्ञे वीरुधां पतिरिन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ ऋ० (९।११४।२); हस्ते दधानो नृम्णा विश्वान्यमे देवान्धाद् गुहा निषीदन्। विदन्तीमत्र नरो धियं धा हृदा यत्तष्टान् मन्त्राँ अशंसन्॥ ऋ० (१।६७।२); सायण ने व्याख्या की है : 'अग्नौ हविर्भिः सह पलायिते सति सर्वे देवा अभैषुरित्यर्थः।' अजो न क्षां दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्यां मन्त्रेभिः सत्यैः। ऋ० (१।६७।३)।

'वचस्या' (सौ बार से अधिक), 'स्तोम' (२०० बार से अधिक), 'सुकीर्ति' (पाँच बार), 'सूक्त' (चार बार); ये शब्द 'विचार, शब्द या विचारे हुए स्तोत्र या प्रशस्ति-वाक्य' के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। कतिपय प्रसंगों में ऋग्वेद के ऋषियों का कथन है कि यह एक नया पद्य या प्रशस्ति है (जिसे वे प्रयुक्त कर रहे हैं)। देखिए ऋ० ५।४२।१३, ६।४९।१, ७।५३।२, १।१४३।१, ६।८।१, ८।७४।७, १०।४।६, ६।६२।५, १।६०।३, ९।९१।५, ९।९।८। यह द्रष्टव्य है कि 'सुकीर्ति' एवं 'सूक्त' जैसे शब्द, जो केवल ४ या ५ बार प्रयुक्त हुए हैं 'नव्य' (नवीन) कहे गये हैं किन्तु 'मन्त्र' शब्द, जो कितनी ही बार प्रयुक्त हुआ है, 'नवीनता' के विशेषण से कभी भी सुशोभित नहीं किया गया है। इससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बहुत-से मन्त्रों के समूह पहले से ही विद्यमान थे, जिनसे अवसर पड़ने पर प्रार्थनाएँ ग्रहण की जाती थीं, यद्यपि समय-समय पर नये पद्य भी जोड़े जाते थे। यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि कहीं-कहीं ऋग्वेद ने 'धीति' जैसी प्रार्थनाओं को दैवी कहा है और उन्हें अश्विनों, उषा एवं सूर्य (८।३५।२) की प्रार्थनाओं की श्रेणी में रखा है और यह भी कहा है कि प्राचीन प्रार्थनाएँ पूर्व-पुरुषों से प्राप्त की गयी हैं (३।३९।२, 'सेयमस्मे सनजा पित्र्याधीः')। ऋग्वेद के बहुत-से मन्त्र एवं सूक्त शुद्ध रूप से दार्शनिक, सृष्टि-सम्बन्धी, रहस्यवादी एवं कल्पनाशील हैं, यथा १।१६४।४, ६, २९, ३२, ४२, १०।७१, १०।९० (पुरुषसूक्त), १०।१२१ (हिरण्यगर्भ), १०।१२९, १०।८१-८२ (विश्वकर्मा), १०।७२, १०।१२५ (वाक्), १०।१५४ (मृत्यूपरान्त की स्थिति), १०।१९० (सृष्टि)।

वैदिक मन्त्रों के अर्थ एवं उपयोग के विषय में कई मतभेद हैं। यहाँ इतना कहा जा सकता है कि पूर्वमीमांसा के अनुसार सम्पूर्ण वेद का सम्बन्ध यज्ञों से है, वेद दो श्रेणियों में विभाजित है—'मन्त्र एवं ब्राह्मण या विधि वाक्य', जो वेद के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग हैं। वैदिक वचनों में बहुत-से अर्थवाद हैं (या तो वे विधियों की प्रशस्तियाँ हैं या रूपक द्वारा व्याख्या के योग्य हैं, या वे केवल वही दुहराते हैं जो विद्यमान है या केवल काल्पनिक हैं), तथा मन्त्र केवल यजमान या पुरोहितों के मन में यह बात बैठाने का कार्य करते हैं कि यज्ञ में क्या करना है तथा मन्त्रों में प्रयुक्त शब्द वही अर्थ रखते हैं जो सामान्यतः संस्कृत भाषा में पाये जाते हैं।

यास्क के पूर्व (ईसा से कई शतियों पूर्व) वैदिक मन्त्र-व्याख्या की कई शाखाएँ थीं, यथा **ऐतिहासिकों** (जिन्होंने निरुक्त २।१६ में ऐसा कहा है कि वृत्र 'त्वष्टा' का पुत्र एवं असुर है, **नैरुक्तों** के अनुसार वृत्र का अर्थ 'बादल' है। वेद में युद्धों का आलंकारिक विवरण है, तथा वे युगल जिन्हें ऋ० १०।१७।२ के अनुसार सरण्यु ने त्यागा था, इन्द्र एवं माध्यमिका-वाक् थे, जब कि ऐतिहासिकों के अनुसार वे यम एवं यमी हैं, जैसा कि निरुक्त १२।१० में वर्णित है) की शाखा, **नैदानों** की शाखा (स्याल एवं साम, निरुक्त ६।१९), पुराने **याज्ञिकों** की शाखा (निरुक्त ५।११, ऋ० १।१६४।३२)। परिव्राजकों एवं नैरुक्तों ने याज्ञिकों की शाखा की व्याख्या विभिन्न ढंग से की है। निरुक्त में ऐसे १७ पूर्ववर्ती लोगों का उल्लेख है जो उससे भिन्न मत रखते थे और आपस में भी एक-दूसरे से भिन्न थे, यथा—आग्रायण, औदुम्बरायण, कौत्स, गार्ग्य, गालव, शाकटायन, शाकपूणि। कई ऐसे मन्त्र हैं जिनके दो-दो अर्थ निरुक्त द्वारा किये गये हैं (यथा—ऋ० ८।७७।४, निरुक्त ५।११)। ऋ० १।१६४ में कई मन्त्रों के दो अर्थ या अधिक अर्थ कहे गये हैं, सायण ने ३९ वें मन्त्र के चार अर्थ किये हैं, ४१ वें मन्त्र का अर्थ सायण ने दो प्रकार से किया है और वे दोनों अर्थ यास्क (निरुक्त ११।४०) से भिन्न हैं; ४५ वें मन्त्र की व्याख्या सायण ने ६ प्रकार से की है, इसका अर्थ महाभाष्य ने भी किया है। ऋ० ४।५८।३ (चत्वारि शृंगाः) का अर्थ आरम्भिक कालों से ही कई प्रकार से किया जाता रहा है। निरुक्त (१३।७) ने इसे यज्ञ से सम्बन्धित माना है। यही बात महाभाष्य में भी पायी जाती है। सायण ने इसे अग्नि (यज्ञीय) से सम्बन्धित माना है। यह एक पहेली ही है। शबर ने पूर्वमीमांसासूत्र (१।२।३८) के भाष्य में इसका अर्थ किया है, किन्तु कुमारिल ने अपना मतभेद प्रकट किया है। ऋ० (१।१६४) में ११-१३ एवं ४८ मन्त्र बहुत ही कल्पनाशील एवं कवित्वमय हैं, इनमें वर्ष, ऋतुओं, मासों, सम्पूर्ण दिनों एवं रात्रियों का वर्णन है।

कुछ वर्ष पूर्व श्री अरविन्द घोष ने अपने 'ह्वीम्स टु दि मिस्टिक फायर' (गूढ़ अर्थ में अनूदित, १९४६) में एवं उनके भक्त शिष्य श्री टी० वी० कपाली शास्त्री ने 'ऋग्भाष्यभूमिका' (संस्कृत एवं इसका अंग्रेजी अनुवाद, पाण्डिचेरी, १९५२) में ऋग्वेद के मन्त्रों के विषय में एक सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, जिसका थोड़े में यहाँ विवरण उपस्थित किया जा रहा है। श्री अरविन्द घोष ने सर्वप्रथम ऋग्वेद का शब्दशः सम्पादन एवं अंग्रेजी अनुवाद करना चाहा था, परन्तु अन्य कार्यों में अति व्यस्त होने के कारण उन्होंने वह विचार त्याग दिया और वे प्रथम, द्वितीय एवं छठे मण्डलों के २३० मन्त्रों तक उपर्युक्त ग्रन्थ निर्मित कर सके। उन्होंने इस ग्रन्थ में ४८ पृष्ठों की भूमिका में अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। जिन दिनों यह ग्रन्थ लिखा जा रहा था, प्रस्तुत लेखक (काणे) को श्री अरविन्द घोष लिखित ६३४ पृष्ठों का ग्रन्थ 'आन दि वेद' (१९५६ ई० में प्रकाशित) मिला। ६० से अधिक सूक्त इस विशाल ग्रन्थ में व्याख्यायित हैं और उपर्युक्त सिद्धान्त २८३ पृष्ठों में विवेचित हुआ है। 'आन दि वेद' के ९ वें पृष्ठ पर उनक कथन है—'सायण द्वारा स्वीकृत नैगमिक विधान ज्यों-का-त्यों रह जाय, यूरोपीयों द्वारा स्वीकृत प्रकृतिवादी विचारधारा सामान्य मान्यताओं के अनुरूप भले ही मान ली जाय, किन्तु इन सब के पीछे वेद का एक सत्य एवं गुप्त रहस्य अब भी छिपा पड़ा हुआ है—वे रहस्यभरे शब्द जो पवित्रात्माओं के लिए कहे गये थे तथा उनके लिए निःसृत हुए थे जो ज्ञान के रूप में जगे हुए थे।' इस पुस्तक में वे 'ऋत' का अर्थ 'सत्य' मानने पर अडिग हैं और पृ० ८४ पर 'ऋतम्' को 'सत्य-चेतना' के अर्थ में (ट्रुथ-कांशसनेस) लिया है। ऋग्वेद के उन सैकड़ों स्थानों की, जहाँ 'ऋत' शब्द प्रयुक्त हुआ है, तुलना करके उन्होंने अपने अर्थ को ही सम्यक् एवं समीचीन माना है, जो अधिकांश लेखकों को मान्य नहीं है। लोग प्रकाश (लाइट) एवं चेतना (कांशसनेस) के आधुनिक एवं ऋग्वेदीय अर्थों के अन्तर को जानना चाहेंगे। जहाँ तक प्रस्तुत लेखक को ज्ञात है, प्राचीन प्रतीकवादी भाषा में 'चेतना' 'प्रकाश' के अनुरूप मानी जाती है। श्री अरविन्द घोष ने अपनी पुस्तक 'आन दि वेद' में सम्पूर्ण वेद के केवल १/१५ अंश (ऋग्वेद में कुल १०१७ या १०२८ सूक्त हैं) का उल्लेख किया है। उन्होंने प्रथम ग्रन्थ में ऋग्वेद के केवल १/४० वें भाग का अनुवाद करके यह चाहा है कि लोग उनकी मान्यता स्वीकार कर लें। उन्होंने 'ऋत' जैसे शब्दों की व्याख्या तक नहीं की है।

श्री अरविन्द घोष ने यह स्वीकार किया है कि सायणाचार्य ने वेद की आध्यात्मिक प्रामाणिकता अस्वीकृत नहीं की है और माना है कि ऋचाओं में महत्तर सत्य भरा पड़ा है (प्राक्कथन, पृ० ३)। उन्होंने पुनः कहा है (प्राक्कथन, पृ० ९) कि हमें यास्क (उन्होंने यास्क का उद्धरण नहीं दिया है, किन्तु सम्भवतः निरुक्त १।२० : 'साक्षात्-कृतधर्माण ऋषयो बभुवुः' की ओर उनका आशय है) के संकेत को गम्भीरतापूर्वक लेना चाहिए। इसके उपरान्त उनका कथन है कि बहुत-सी वैदिक ऋचाएँ रहस्यवादी अर्थ वाली हैं (पृ० १७) और ऋषियों ने उन्हें गोपनीय बनाने के लिए दो अर्थों में रखा है, जो संस्कृत भाषा की एक सरल विधि है (पृ० १९)। यह एक ऐसी धारणा है जो मात्र कल्पना है और अन्य लोगों द्वारा मान्य नहीं हो सकती। वैदिक मन्त्र सहस्रों वर्ष पूर्व प्रणीत हुए, जब वे सभी लोग, जिनके बीच ऋषि रहा करते थे, उसी भाषा का व्यवहार करते थे, यद्यपि उनकी बोल चाल की भाषा उतनी परिमार्जित एवं कवित्वमय नहीं रही होगी जैसी मन्त्रों की है, और वे मन्त्र आजकल के लोगों को सम्बोधित नहीं थे जिनके विचार, परिस्थितियाँ एवं भाषाएँ भिन्न एवं पूर्णतया सर्वथा पृथक् हैं। गुरु एवं शिष्य, दोनों (श्री अरविन्द घोष एवं श्री कपाली शास्त्री) यह सोचकर कि जो कठिनाई आज के पाठकों के समक्ष है वही मन्त्रों के प्रणयन के समय भी थी, लोगों को भ्रम में डालते हैं (यह सम्भव है कि वे दोनों स्वयं भ्रम में हैं)। ऋग्वेद का सर्वोच्च अथवा उत्कृष्ट विचार यह है कि इन्द्र, वरुण, अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि विभिन्न देवों के भीतर केवल एक ही शक्ति है तथा मौलिक रूप में वही एक है। "आरम्भ में न तो कोई दिन था, न रात्रि थी और न थी अमरता"—स्वयं

श्री अरविन्द ने वर्णन किया है (पृ० ३२) कि ऋग्वेद का यह १।१६४।४६ एवं १०।१२९।२ अंश वैदिक शिक्षा (ज्ञान) की चरमावस्था है। एक ही सत्ता वाला यह सिद्धान्त (दृष्टिकोण) ऋ० ८।५८।२ में भी है, यथा—'एक और वही अग्नि कई स्थानों में प्रज्वलित होता है, एक ही सूर्य सम्पूर्ण विश्व में प्रविष्ट होता है और कई हो जाता है; एक ही उषा इस सभी (भौतिक) विश्व को प्रकाशित करती है, एक ही यह सब हुआ (विभिन्न रूपों में परिणत होता है)।' इस मौलिक सत्य को लेकर कोई गोपनीयता नहीं बरती गयी और आज का कोई भी थोड़ी-सी संस्कृत जानने वाला साधारण व्यक्ति इसे समझ सकता है। यदि इतनी शतियों के उपरान्त, भाषा के परिवर्तन के कारण, आज का व्यक्ति बहुत-से मन्त्रों को नहीं समझ सकता, तो हमें यह नहीं मान लेना चाहिए कि प्राचीन ऋषियों (द्रष्टाओं) ने अर्थ छिपाने का अपराध किया और उन्होंने जान-बूझ कर मन्त्रों में दो अर्थ भर दिये। हाँ, कहीं-कहीं कवित्वमय उक्तियों में रूपक एवं श्लेष का आ जाना स्वाभाविक है और कुछ द्रष्टाओं ने कवि-चातुर्य प्रकट कर दिया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।[१०४] यदि हम उनका अर्थ नहीं समझ पाते हैं तो यह द्रष्टाओं (ऋषियों) का दोष नहीं है, जिस प्रकार यदि कोई अन्धा व्यक्ति मार्ग में किसी खम्भे से भिड़ जाता है और सिर फूट जाने से कष्ट में पड़ जाता है और अपने को दोष न दे खम्भे को दोषी ठहराना आरम्भ कर देता है, उसी प्रकार हमारी भी स्थिति होगी यदि हम अपने अज्ञान को दोष न देकर प्राचीन ऋषियों को अपनी कल्पना द्वारा प्रसूत योजना से दोषी बनायें और कहें कि उन्होंने जान-बूझ कर दो अर्थ किये हैं, अथवा यह किया है या वह किया है।[१०५]

श्री अरविन्द घोष ने यह स्वीकार किया है (पृ० ३३) कि ऋग्वेद में कुछ ऐसे शब्द हैं जो कुंजी का कार्य करते हैं, यथा—ऋत, क्रतु, केतु, श्रवस्; उन्होंने यह भी माना है कि इन शब्दों के अर्थों को ठीक-ठीक बैठाने के लिए बृहत् कार्य करना चाहिए। किन्तु उन्होंने इन कुंजी-शब्दों (जिनमें 'केतु' को छोड़ कर, प्रत्येक ऋग्वेद में सैकड़ों बार आया है) का अध्ययन नहीं किया है। उन्हें ऋग्वेदीय वचनों में प्रयुक्त इन शब्दों की तुलना करनी चाहिए थी और संहिताओं एवं ब्राह्मणों में पाये जाने वाले शब्दों के प्रकाश में उनका अध्ययन करना चाहिए था। उन्होंने 'ऋत' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद के १।१६४।७ एवं ४।२१।३ (सदनात्–ऋतस्य) में तथा 'ऋतस्य पथ्या' का प्रयोग (ऋ० ३।१२।७) देखकर झट से यह निष्कर्ष निकाल लिया कि 'ऋतस्य पथ्या' का अर्थ है 'सत्य का मार्ग' और

१०४. गुरु (श्री अरविन्द घोष) एवं शिष्य (श्री कपाली शास्त्री) दोनों मन्त्रों के कवित्वमय स्वरूप के विषय में एक-दूसरे से पृथक् मत रखते हैं। श्री अरविन्द (पृ० ३४) ने यह कहने के उपरान्त कि उनका अनुवाद साहित्यिक है न कि पूर्णतया शाब्दिक, मन्त्रों को महान् कविता ('ग्रेट पोइट्री') कहा है और उन्हें रंगों एवं आकारस्थापन में (कलरिंग एवं इमेजेज) परम शोभन एवं लय में उत्कृष्ट तथा सुन्दर माना है। अब हम जरा उनके शिष्य की बात भी जान लें। पृ० ६५ पर श्री कपाली शास्त्री कहते हैं: 'स्तोत्रीय कवित। असामान्य है, अन्य कविता से भिन्न है, यहाँ तक कि अति उत्कृष्ट नमूनों से भी पृथक् है।' इसके उपरान्त वे पाठकों, प्रस्तुत लेखक के समान अन्य लोगों, यहाँ तक कि उपलक्षित ढंग से स्वयं अपने गुरु की यह कहकर भर्त्सना करते हैं: 'वैदिक मन्त्रों को साहित्यिक एवं सौन्दर्याभिव्यक्तिमय कविता के अन्तर्गत रखना अग्राह्य (अथवा अस्वीकृत) है।' वे ऐसा क्यों कहते हैं? पृ० ३१ में श्री शास्त्री बलपूर्वक कहते हैं कि 'मन्त्र दो अर्थ वाले हैं, (१) आन्तरिक, जो मनोवैज्ञानिक या आध्यात्मिक हैं और सत्य अर्थ वाले हैं तथा (२) बाह्य या स्थूल अर्थ वाले, जो सामान्य लोगों के लिए हैं' और उन्होंने यह जोड़ा है कि द्व्यर्थक शब्दों का प्रयोग जान-बूझ कर किया गया है किन्तु वह स्वाभाविक एवं अनायास रूप से हुआ है।

१०५. यथो एतदविस्पष्टार्था भवन्तीति। नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति पुरुषापराधः स भवति। निरुक्त (१।१६)।

यह कह दिया कि हमें सत्य के मार्ग का अन्वेषण करना चाहिए (प्राक्कथन, पृ० ३०)। हमने इस महाग्रन्थ के चौथे खण्ड में देख लिया है कि ऋग्वेद में ऋत का अर्थ तीन प्रकार का है, यथा—(१) जगत् में नियमित एवं सामान्य व्यवस्था; (२) देवों के विषय में सम्यक् एवं व्यवस्थित विधि; (३) 'मानव का नैतिक आचरण।' ऋग्वेद में 'ऋत' वही नहीं है जो 'सत्य' है, प्रत्युत दोनों में अन्तर प्रकट किया गया है। ऋग्वेद (५।५१।२) में विश्वेदेवों को 'ऋतधीतयः' (जिनके विचार ऋत पर अटल या स्थिर हैं) एवं 'सत्यधर्माणः' (जिनके धर्म या व्यवस्थाएँ या नियम सत्य हैं या स्थिर हैं) कहा गया है और ऋषि ने उनसे यज्ञ में आने के लिए तथा अग्नि की जिह्वा से (आज्य एवं सोम) पीने के लिए प्रार्थना की है। ऋग्वेद (१०।१९०।१) में ऋत एवं सत्य दोनों को (सृष्टिकर्ता के) कठिन एवं देदीप्यमान तप से उत्पन्न कहा गया है। ऋग्वेद में 'ऋत' का अर्थ, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, बहुत व्यापक है, उसका सम्बन्ध एक महान् धारणा से है, किन्तु 'सत्य' का अर्थ एक संकुचित रूप में है, यथा 'मात्र 'सत्य' या स्थिर व्यवस्था। ऋग्वेद (९।११३।४) में सोम को ऋत, सत्य एवं श्रद्धा की घोषणा करने वाला कहा गया है।[१०६] अतः जब श्री अरविन्द 'ऋत' का अर्थ 'सत्य' लगाते हैं तो वे बड़ी त्रुटि करते हैं और अपने त्रुटिपूर्ण अनुवाद से महान् निष्कर्ष निकालने पर उतारू हो जाते हैं।

इसी प्रकार श्री अरविन्द ने 'ऋतचित्' को 'सत्य-चित्' '(ट्रुथ-कांशस) के अर्थ में लेकर त्रुटि की है (ट्रुथ-कांशस का अर्थ, उनके अनुसार, चाहे जो हो)। इस विषय में देखिए उनका प्राक्कथन (फोरवर्ड, पृ० ३०)। पृ० ४६ में उनके शिष्य श्री कपाली शास्त्री एक पग आगे बढ़कर कहते हैं कि मन्त्रों में सत्य ज्ञान को ऋतचित् (ट्रुथ-कांशसनेस) कहा गया है। ऐसा लगता है कि गुरु एवं शिष्य दोनों ब्रह्म के लिए प्रयुक्त 'सत्+चित्+आनन्द में संलग्न 'चित्' के फेर में पड़ गये हैं। दोनों ने 'ऋतचित्' को 'ऋत' एवं 'चित्' दो पृथक् वस्तुओं के अर्थ में ले लिया है। 'ऋतचित्' शब्द ऋग्वेद में पाँच बार आया है, यथा १।१४५।५, ४।३।४, ५।३।९ (यहाँ 'ऋतचित्' अग्नि की उपाधि है), ७।८५।४ (यहाँ यह होता का विशेषण है) एवं ४।१६।१० (यहाँ यह इन्द्र की पत्नी शची के सन्दर्भ में नारी शब्द की विशेषता बताता है) में।[१०७] प्रस्तुत लेखक को आश्चर्य होता है कि गुरु एवं शिष्य दोनों ने इन स्थलों पर प्रयुक्त 'ऋतचित्' के अर्थ को जानने का प्रयत्न क्यों नहीं किया। उन्होंने ऋ० २।२३।१७ में प्रयुक्त 'ऋणचित्' की ओर, जो ब्रह्मणस्पति की उपाधि है, अपना ध्यान नहीं दिया।[१०८]

श्री अरविन्द एवं श्री कपाली शास्त्री के अन्य अप्रामाणिक प्रस्तावों एवं निष्कर्षों की चर्चा करने के लिए यहाँ स्थान नहीं है। अब यहाँ श्री अरविन्द के अन्तिम निष्कर्ष को उपस्थित किया जा रहा है (प्राक्कथन, पृ० २९)—

१०६. ऋतधीतय आ गत सत्यधर्माणो अध्वरम्। अग्नेः पिबत जिह्वया॥ ऋ० ५।५१।२; ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥ ऋ० १०।१९०।१; ऋतं वदन्नृतद्युम्न सत्यं वदन् सत्यकर्मन्। श्रद्धां वदन् सोम राजन् धात्रा सोम परिष्कृत इन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ ऋ० ९।११३।४।

१०७. व्यब्रवीद् वयुना मर्त्येभ्योऽग्निर्विद्वाँ ऋतचिद्धि सत्यः॥ ऋ० १।१४५।५। यह द्रष्टव्य है कि यहाँ 'ऋतचित्' एवं 'सत्य' दोनों अग्नि की उपाधियाँ हैं। इन दोनों को पृथक्-पृथक् अर्थ वाला मानना ही पड़ेगा। 'स सुक्रतुर्ऋतचिदस्तु होता य आदित्य शवसा वां नमस्वान्। ऋ० ७।८५।४, जिसका अर्थ यों है : 'हे अदिति के पुत्रो, वह होता, जो तुम्हें शक्ति (उच्च स्वर) के साथ नमस्कार करता है, जो ऋत जानता है (नैतिक चरित्र या जगत्-सम्बन्धी नियम जानता है) वह अच्छे कर्मों (या इच्छा) वाला व्यक्ति बने।' १।१४५।५ में 'सत्य' शब्द का अर्थ होगा सच्चा या शुद्ध। 'चित्' शब्द 'चि' (एकत्र करना) से या 'चित्' (जानना) से निष्पन्न हो सकता है।

१०८. स ऋणचिदृणया ब्रह्मणस्पतिर्द्रुहो हन्ता मह ऋतस्य धर्तरि॥ ऋ० २।२३।१७।

"इस प्रकार वेद को समझने पर जो प्रकट होता है वह कौन गुप्त अर्थ है अर्थात् वह कौन गोपनीय (अलौकिक या गूढ़) रहस्य छिपा हुआ है ? . . . वह विचार जिस पर सब कुछ केन्द्रित है, वह है सत्य, प्रकाश, अमरता की खोज। बाह्य रूप से प्रकट होने वाले सत्य से बढ़कर गूढ़ एवं उच्च वह सत्य है, वह प्रकाश मनुष्य की समझ से बढ़ कर बड़ा एवं उच्च है, जो ऐशोन्मेष एवं प्रबोधन से प्राप्त होता है, और वह अमरता वह है जिसके लिए आत्मा को उठना है (जागना है)। हमें उसके लिए मार्ग ढूंढ़ना है, इस सत्य एवं अमरता के संस्पर्श को प्राप्त करना है।" यह एक महान् उपसंहार है, किन्तु यह सब कच्ची एवं कम्पित होने वाली नींव पर आधृत है, क्योंकि यहाँ 'ऋत' एवं 'चित्' के ग़लत अर्थों का सहारा लिया गया है। श्री कपाली शास्त्री (पृ० ४६) ने अपने गुरु के इस निष्कर्ष को ज्यों-का-त्यों रख दिया है।

श्री शास्त्री महोदय ने (पृष्ठ २२।२६) सायण के विरोध में निन्दात्मक लेख लिखा है, किन्तु अन्त में उन्हें यह (पृ० २७-२८) मानना पड़ा है कि सायण वेद के पाठकों के लिए न-केवल उपयोगी हैं, प्रत्युत अपरिहार्य हैं। पृ० २३ पर उन्होंने जैमिनि का सूत्र अनूदित किया है—'वेद का उद्देश्य क्रिया-संस्कार के लिए है, वे शब्द जिनका सम्बन्ध इससे नहीं हैं, व्यर्थ है', और कहा है कि इससे यह स्पष्ट व्यवस्था झलकती है कि वेद का एकमात्र उद्देश्य है क्रिया-संस्कार-विधि, जो इससे सम्पर्क नहीं रखते (अर्थात् विधि या क्रिया-संस्कार से सम्पर्क नहीं रखते) वे मन्त्र निरर्थक हैं। प्रस्तुत लेखक को ज्ञात होता है कि श्री शास्त्री महोदय ने पूर्वमीमांसासूत्रों का अध्ययन सावधानी से नहीं किया है और न वस्तुस्थिति का प्रकाशन ही सम्यक् रूप से किया है; उन्होंने जो उद्धृत किया है वह मात्र पूर्वपक्ष है। जैमिनि का प्रसंग यों है—

'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते।'. . .

'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः।'—पू० मी० सू० (१।२।१ एवं ७)

इस दूसरे सूत्र का अर्थ है—'क्योंकि वे वचन (जो सीधी तौर से क्रिया-संस्कारों अथवा विधि-कर्मों से सम्बंधित नहीं हैं) जो वाक्यरचना के विचार से विधि की व्यवस्था करने वाले वचनों से पूर्णतया (एक रूप से) सम्बन्धित हैं, वे विधियों को मान्यता देने वाले कहे जाते हैं।' श्री शास्त्री यह कहकर सन्तोष नहीं करते कि 'मधुच्छन्द ऋषिगण एवं अन्य मन्त्रद्रष्टा थे, इन प्राचीन द्रष्टाओं के समक्ष देवता उपस्थित थे', प्रत्युत वे और आगे कहते हैं—'परोक्ष को देखने वाला सत्य को देखने वाला भी कहा जाता है; अतः कवि—द्रष्टा सत्यश्रुत (कवयः सत्यश्रुतः) हैं, वेद में प्रसिद्ध हैं' (पृ० ६४)। प्रस्तुत लेखक को आश्चर्य है और लगता है कि श्री शास्त्री ने वेद में आये हुए इन वाक्यों को सावधानी से नहीं पढ़ा है जहाँ 'कवयः सत्यश्रुतः' प्रयुक्त हुआ है। 'कविः' एवं 'कवयः' शब्द ऋग्वेद में कई बार आये हैं, किन्तु 'सत्यश्रुतः' केवल तीन बार आया है, यथा ५।५७।८, ५।५८।८ एवं ६।४९।६; ऋ० ५।५७।८ तथा ५।५८।८ तो एक ही हैं। ऋ० ५।५७।८ एवं ५।५८।८ में मरुतों को 'कवयः' (विज्ञ या समझदार) एवं 'सत्यश्रुतः' (सत्य पुरस्कार देने में प्रसिद्ध) उपाधियों से सम्बोधित किया गया है, न कि ऋषियों को। ऋ० ६।४९।६

१०९. हये नरो मरुतो मृळता नस्तुवीम घासो अमृता ऋतज्ञाः। सत्यश्रुतः कवयो युवानो बृहद्गिरयो बृहदुक्षमाणाः॥ ऋ० ५।५७।८ एवं ५।५८।८; पर्जन्यवाता वृषभा पृथिव्याः पुरीषाणि जिन्वतमप्यानि। सत्यश्रुतः कवयो यस्य गीर्भिर्जगतः स्थातुर्जगदा कृणुध्वम्॥ ऋ० ६।४९।६। ५।५७।८ के उत्तरार्ध में 'सत्यश्रुतः कवयः' के साथ और जो शब्द आये हैं वे पूर्वार्ध में मरुतों की उपाधियाँ हैं। ६।४९।६ के उत्तरार्ध में 'सत्यश्रुतः कवयः' सम्बोधन है जैसा कि पदपाठ से प्रकट होता है और मरुतों के लिए सम्बोधित है, जैसा कि ५।५७।८ एवं ५।५८।८ से प्रकट है। 'सत्यश्रुतः कवयः' शब्द वेद के कवियों की ओर, किन्हीं भी तीन कारकों में, संकेत नहीं करता।

(जिसका प्रथम अर्ध भाग पर्जन्य एवं वायु देवता को सम्बोधित है) इस प्रकार है—'हे जगत् को प्रतिष्ठापित करने वाले! (हे मरुत् गण), जो सत्य फल देने में प्रसिद्ध हैं और विज्ञ हैं, ऐसे आप जगत् को उस मनुष्य की ओर घुमा दें जिसके गीतों से आप प्रशंसित हैं' (यह ऋचार्थ, ऐसा प्रकट होता है, मरुतों के झुण्ड या समूह को सम्बोधित है)। अब और टिप्पणी व्यर्थ है।[११०]

मीमांसकों ने एक समेट में (झाड़ूमार ढंग से) यह सामान्यवाद प्रकाशित कर दिया है कि सम्पूर्ण वेद यज्ञ के लिए ही है। ऐसा कहने में वे बहुत आगे चले गये, किन्तु ऐसा करने के लिए उनके पास पर्याप्त तर्काधार था। हमने इस ग्रन्थ के खण्ड २ में यह देख लिया है कि किस प्रकार स्वयं ऋग्वेद से प्रकट है कि उन दिनों भी तीन सवनों, कई पुरोहितों, तीन अग्नियों वाले यज्ञ होते थे, यथा—अतिरात्र (ऋ० ७।१०३।७) एवं त्रिकद्रुक (ऋ० १।३२।३, २।११।१७, ८।१३।१८, ८।९२।२१, १०।१४।१६) नामक यज्ञ। मीमांसकों के पीछे प्राचीन परम्पराएँ थीं। किन्तु श्री अरविन्द के सिद्धान्त सर्वथा भिन्न हैं। बहुत ही निर्बल आधारों एवं त्रुटिपूर्ण अर्थों पर वे वैदिक मन्त्रों के साधारण एवं गूढ़ अर्थ वाले तथा देखने में भड़कीले ढाँचे का निर्माण करके उद्घोषणा करते हैं कि ऋषियों ने अपने सिद्धान्तों को गोपनीय रखना चाहा था और वे जो कुछ कहना चाहते थे, वह सत्य था, प्रकाश था और था चेतना। यह हमने पहले ही देख लिया है कि ऋग्वेद में कई दार्शनिक एवं कल्पनात्मक ऋचाएँ हैं। किन्तु वहाँ संगोपन-सम्बन्धी कोई प्रवृत्ति नहीं है। यदि केवल सत्य (ट्रुथ), प्रकाश (लाइट) एवं चेतना (कांशसनेस) तक ही वैदिक ऋषियों का सम्बन्ध था तो इसके लिए दस सहस्र पद्यों की आवश्यकता नहीं थी। लोग यह जानना चाहेंगे कि ऋ० ७।५५ (सोता हुआ प्रलोभन या कान्ति या शोभा या माया आदि), ७।१०३ (मण्डूक-स्तुति), १०।३४ (जुआरी का गान), १०।११९ (इन्द्र पर सोम की शक्ति की आनन्द-पुलकितावस्था), १०।१६६ (शत्रुओं के नाश का आवाहन), १०।१९१ (सहयोग एवं सहकारिता वाली) ऋचाओं में वह कौन-सा रहस्य या उच्चतर अथवा गूढ़तर सत्य का प्रकाश या चेतना है जो साधारण लोगों की दृष्टि से छिपा कर रखी हुई है। इसी प्रकार बहुत-सी ऐसी ऋचाएँ उदाहरण-स्वरूप प्रकट की जा सकती हैं, जहाँ पर सत्य, प्रकाश एवं चेतना वाला सिद्धान्त पूर्णतया असफल एवं आधारहीन सिद्ध हो जायगा। इसके अतिरिक्त यह पूछा जा सकता है कि ऋ० १।१६४।४६, १०।१२९।२ एवं ८।५८।२ (जो ऊपर उद्धृत है) में वह कौन-सा (आध्यात्मिक या गूढ़) रहस्य है, जो अत्यन्त महान् सत्य को स्पष्ट रूप से प्रकट करता है। यदि मीमांसकों ने बहुत लम्बा एवं चौड़ा सामान्यवाद प्रकाशित किया है तो श्री अरविन्द ने बहुत ही क्षीण आधार पर उससे भी बड़ा एवं लम्बा-चौड़ा सामान्यवाद उद्घाटित कर दिया है, अर्थात् एक छोटी बात को बिना किसी पुष्ट आधार के बड़ी महत्ता दे देनी चाही है।

ऋग्वेद के मन्त्रों का एक अर्थ होता है, न कि वे तान्त्रिक ग्रन्थों के मन्त्रों के समान बहुधा निरर्थक शब्दों के समुच्चय मात्र होते हैं। निरुक्त (१।१५-१६) में एक विवाद दिया हुआ है, जहाँ यह आया है कि निरुक्त के अभाव

११०. श्री अरविन्द एवं उनके शिष्यों का कहना है कि उन्होंने वेद के विषय में एक ऐसा नया प्रकाश ग्रहण किया है जो प्राचीन एवं आधुनिक विद्वानों को गोचर नहीं हो सका है। श्री अरविन्द एवं उनके शिष्यों ने यास्क, जैमिनि, सायण एवं अन्य टीकाकारों को बड़ी निष्ठुरता के साथ पकड़ा है। श्री अरविन्द ने जो वैदिक सिद्धाभ्यास या रात्रि-अध्ययन किया है वह क्यों एवं कैसे गलत एवं त्रुटिपूर्ण है, यह कहने की स्वतन्त्रता अन्य लोगों को भी मिलनी चाहिए। श्री अरविन्द के भक्तों एवं समर्थकों से प्रार्थना है कि वे प्रस्तुत लेखक की श्री अरविन्द के सिद्धान्तों से संबंधित आलोचनाओं को अन्यथा एवं असम्मानसूचक न समझें।

में मन्त्रों में प्रयुक्त शब्दों का अर्थ प्रकट न हो पाता, वहीं कौत्स का यह दृष्टिकोण भी दिया हुआ है कि मन्त्रों के अर्थ को मानने के लिए निरुक्त निरर्थक एवं निरुपयोगी है, क्योंकि स्वयं मन्त्रों का कोई अर्थ नहीं है (या वे व्यर्थ या निरर्थक या उद्देश्यहीन या अनुपयोगी हैं)। यास्क ने उत्तर दिया है कि मन्त्रों के अर्थ अवश्य हैं क्योंकि उनमें ऐसे शब्द प्रयुक्त हैं जो सामान्य संस्कृत में प्रयुक्त होते हैं, और वे इस कथन के उपरान्त ऐतरेय ब्राह्मण (१।५) का एक वचन उद्धृत करते हैं।[१११] शबर (जै० १।२।४१) का कथन है कि जब कोई व्यक्ति अर्थ नहीं लगा पाता तो वह अन्य वैदिक वचनों की विवेचना के सहारे किसी अर्थ को पा लेता है, या निरुक्त एवं व्याकरण के अनुसार धातुओं के आधार पर कोई-न-कोई अर्थ कर लेता है।

अवतार–विवेचन

विस्तार से वर्णित पुराण-विषयों में एक महत्त्वपूर्ण विषय है अवतार-विवेचन। धार्मिक पूजा, व्रतों एवं उत्सवों के विविध स्वरूपों पर अवतारों से सम्बन्धित पौराणिक धारणाओं का बड़ा प्रभाव पड़ा है। इस महाग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में हमने अवतारों के विषय में अध्ययन कर लिया है। वहाँ ऐसा कहा गया है कि अवतारों के सिद्धान्तों का आरम्भ तथा बहुत-से प्रसिद्ध अवतार वैदिक साहित्य में पाये जाते हैं, यथा—शतपथब्राह्मण में मनु एवं मत्स्य का उपाख्यान (१।८।१।१-६), कूर्म का (७।५।१।५) एवं वराह का उपाख्यान (१४।१।२।११), वामन (१।२।५।१) एवं देवकीपुत्र कृष्ण का उपाख्यान (छान्दोग्योपनिषद् ३।१७।६)। अवतारों की संख्या एवं नामों में भी बहुत भिन्नता पायी जाती है। किन्तु पहले अवतार-विवेचन विस्तार से नहीं हुआ था, अतः पुराणों एवं सामान्य बातों के आधार पर कुछ विशिष्ट बातें यहाँ कही जा रही हैं।

'अवतार' (धातु 'तृ' एवं उपसर्ग 'अव') शब्द का अर्थ है उतरना अर्थात् ऊपर से नीचे आना, और यह शब्द देवों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो मनुष्य रूप में या पशु के रूप में इस पृथिवी पर आते हैं (अवतीर्ण होते हैं) और तब तक रहते हैं जब तक कि वह उद्देश्य, जिसे लेकर वे यहाँ आते हैं, पूर्ण नहीं हो जाता। पुनर्जन्म (री-इनकार-नेशन) ईसाई धर्म के मौलिक सिद्धान्तों में एक है। किन्तु उस सिद्धान्त एवं भारत के सिद्धान्त में अन्तर है। ईसाई धर्म में पुनर्जन्म एक ही है, किन्तु भारतीय सिद्धान्त (गीता ४।५।८ एवं पुराणों में) के अनुसार ईश्वर का जन्म कई बार हो चुका है और भविष्य में कई बार हो सकता है। यह एक सन्तोष की बात साधारण लोगों में समायी हुई है कि जब संसार की गति एवं कार्यों में गड़बड़ी होती है तो भगवान् यहाँ आते हैं और सारी कुव्यवस्थाएँ ठीक करते हैं। यह विश्वास न-केवल हिन्दुओं एवं बौद्धों में पाया जाता है, प्रत्युत अन्य धर्मावलम्बियों में (पश्चिम के कुछ धनी एवं शिक्षित लोगों में भी) जो एक-दूसरे से बहुत दूर हैं, पाया जाता है। तब भी बहुत-से हिन्दू ऐसा नहीं विश्वास करते कि शंकराचार्य, नानक, शिवाजी या महात्मा गान्धी जैसे महान् व्यक्ति, सन्त एवं पैगम्बर अवतारों के रूप में पुनः आवश्यकता पड़ने पर (जब धर्म की हानि होती है, असुर, महा-अज्ञानियों की वृद्धि होती है आदि)

१११. अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते।...तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकं च।...अर्थवन्तः शब्दसामान्यात्।...यथो एतद् ब्राह्मणेन रूपसम्पन्ना विधीयन्त इति, उदितानुवादः स भवति। एतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यत्कर्म क्रियमाणमृगभिवदति। निरुक्त (१।१५-१६); अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः। जै० (१।२।३२); अविशिष्टस्तु लोके प्रयुज्यमानानां वेदे च पदानामर्थः। स यथैव लोके विवक्षितस्तथैव वेदेपि भवितुमर्हति।... अर्थप्रत्यायनार्थमेव यज्ञे मन्त्रोच्चारणम्॥ शबर का भाष्य।

जन्म लेते हैं। बौद्धों ने अपने धार्मिक सिद्धान्त महायान के अनुसार बुद्ध को बुद्धत्व प्राप्त करने के पूर्व बहुत-से बोधिसत्त्वों के अवतारों के रूप में जन्म लेते हुए प्रदर्शित किया है। आधुनिक काल में भी बहुत-से व्यक्ति स्वयं अपने को तथा उनके अनुयायी-गण उन्हें अवतार कहते हैं। कुछ दिन पूर्व श्री जे० जी० बेन्नेट (हाडर एण्ड टाउघटन, १९५८) ने 'सु-बु-द'(सुशील, बुद्ध एवं धर्म) नामक एक पुस्तक प्रकाशित की है, जिसमें उन्होंने निर्देशित किया है और अपना विश्वास प्रकट किया है कि इण्डोनेशिया के निवासी पवित्र सुबुह एक अवतार हैं, वे ऊपर से एक दूत के रूप में आये हैं जिनकी बाट मानव-संसार जोह रहा था। भारतीय अवतार-सिद्धान्त युगों एवं मन्वन्तरों के सिद्धान्त से सम्बन्धित है। जब संसार गम्भीर क्लेश में पड़ जाता है, तब मनुष्यों का ऐसा विश्वास होता है कि परमात्मा के अनुग्रह से मुक्ति आयेगी और उनका यह विश्वास सत्य-सा प्रकट हो जाता है—जब कोई विशिष्ट व्यक्ति किसी उदात्त भावना से प्रेरित होकर किसी विशिष्ट काल में किसी विशिष्ट स्थान पर आविर्भूत हो जाता है।

मध्य एवं वर्तमान काल में विष्णु के दस अवतार कहे जाते रहे हैं, यथा—मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह या नरसिंह, वामन, परशुराम, राम (दशरथ के पुत्र), कृष्ण, बुद्ध एवं कल्कि। वराहपुराण इन दस अवतारों को एक क्रम में रखता है।[११२] वराह-पेरुमल मन्दिर में शंकर-नारायण की प्रतिमा के ऊपर लिण्टेल भाग में जो शिलालेख है उसमें उक्त श्लोक तक्षित है, केवल प्रथम ६ अक्षर खण्डित हैं।[११३] भगवद्गीता (४।७-८) में भगवान् के अवतरण के विभिन्न रूपों के विषय में आया है—जब-जब धर्म की ग्लानि होती है, अधर्म का उत्थान होता है, मैं अपना सर्जन करता हूँ। युग-युग में मैं अच्छे लोगों की रक्षा, दुष्टों के नाश एवं धर्म-संस्थापन के लिए जन्म लेता हूँ।[११४] यही भावना महाभारत के कुछ अन्य पर्वों में भी पायी जाती है, यथा—वनपर्व (२७२।७१) एवं आश्वमेधिक-पर्व (५४।१३)। कृष्ण एवं सम्भवतः राम ('रामः शस्त्रभृतामहम्', गीता १०।३१) को छोड़कर दशावतारों में किसी का नाम भगवद्गीता में नहीं आया है। महाभारत में अवतारों के नामों एवं संख्या में एक-क्रमता नहीं पायी जाती। शान्तिपर्व के नारायणीय उपाख्यान में केवल ६ अवतारों एवं उनके कार्यों का उल्लेख हुआ है (३३९।७७-१०२), यथा—वराह (समुद्र में मग्न पृथिवी को ऊपर लाते हुए), नरसिंह (हिरण्यकशिपु नामक राक्षस को मारते हुए), वामन (बलि को हराते एवं पाताल में उसे निवास कराते हुए), भार्गव राम (क्षत्रियों का नाश करते हुए), दशरथ-

११२. मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोथ वामनः। रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्की च ते दश॥ वराह ४।२।

११३. देखिए आक्योलाजिकल सर्वे आव इण्डिया, श्री एच० कृष्ण शास्त्री द्वारा (मेम्वायर नं० २६)। महाबलिपुरम् (पृ० ५) के प्रस्तर-तक्षित मन्दिर में दो पल्लव राजाओं की मूर्तियों एवं पाँच पल्लव-अभिलेखों पर श्री एच० कृष्ण शास्त्री ने लिखते हुए व्यक्त किया है कि यह लेख ७ वीं शती के उत्तरार्ध का है। सुरक्षित लेख इतना है...हस्य नारसिंहश्च वामनः। रामो रामस्य (श्च) रामस्य (श्च) बुद्ध (:) कल्की च ते दश॥ इस मेम्वायर के उसी पृष्ठ पर लिखा है कि मध्यप्रदेश के सीरपुर के एक तीर्थ पर लगभग आठवीं शती का एक मन्दिर है जिसमें राम एवं बुद्ध की प्रतिमाएँ अगल-बगल में ध्यान मुद्रा में बैठायी हुई हैं।

११४. यदा यदा हि धर्मस्य ... सृजाम्यहम्। ... धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥ गीता (४।७-८); मिलाइए हरिवंश १।४१।१७ 'यदा यदा...भारत। धर्मसंस्थापनार्थाय तदा सम्भवति प्रभुः॥' जाते पुनः पुनर्विष्णुर्यज्ञे च शिथिले प्रभुः। कर्तुं धर्मव्यवस्थानमधर्मस्य च नाशनम्॥ वायु (९८।६९), मत्स्य (४७। २३५, यहाँ 'धर्मे प्रशिथिले' एवं 'असुराणां प्रणाशनम्' का पाठ आया है); बह्वीः संसरमाणो वै योनीर्वर्तामि सत्तम। धर्मसंरक्षणार्थाय धर्मसंस्थापनाय च॥ आश्वमेधिक ५४।१३; असतां निग्रहार्थाय धर्मसंरक्षणाय च। अवतीर्णो

पुत्र राम (रावण को मारते हुए), कृष्ण (कंस, नरकासुर, कालयवन, जरासंघ, शिशुपाल को मारते या हराते हुए)। उसी अध्याय में दस नाम इस प्रकार आये हैं—हंस, कूर्म, मत्स्य, वराह, नरसिंह, वामन, राम (भार्गव), राम (दाशरथि), सात्वत, कल्कि। यहाँ बुद्ध का नाम नहीं है। कृष्ण को सात्वत कहा गया है और एक नाम हंस आया है। आदि० (२१८।१२) में वासुदेव को सात्वत कहा गया है। हरिवंश (१।४१।११) में ऐसा कथित है कि प्राचीन काल में सहस्रों अवतार हुए हैं और भविष्य में भी सहस्रों होंगे। यही बात शान्तिपर्व (३३९।१०६) में भी है। और देखिए भागवत (१।३।२६) एवं अग्नि (१६।११-१२)। हरिवंश (१।४१।२७) में अधोलिखित नाम आये हैं—वराह, नरसिंह, वामन, दत्तात्रेय, जामदग्न्य (परशुराम), राम, कृष्ण एवं वेदव्यास। किन्तु केशव को नवाँ अवतार कहा गया है (१।४१।६)। अतः यह समझा जा सकता है कि मत्स्य एवं कूर्म की भी गणना हुई है, यद्यपि इनके नाम स्पष्ट रूप से आये नहीं हैं और विष्णुयशा कल्कि को भावी अवतार कहा गया है। दस अवतारों के नाम वराह (४।२, ४८।१७-२२, ५५।३६-३७), मत्स्य (२८५।६-७)[११५], अग्नि (अध्याय २-१६, जहाँ दसों की गाथाएँ दी हुई हैं), नरसिंह (अध्याय ३६), पद्म (६।४३।१३-१५) में आये हैं। वायु (९८।६८-१०४) में अवतारों का उल्लेख अन्य ढंग से हुआ है और दस नाम ये हैं—वराह, नरसिंह, वामन, दत्तात्रेय, मान्धाता, जामदग्न्य, राम (दाशरथि), वेदव्यास वासुदेव, कल्कि विष्णुयशा। ब्रह्माण्ड (३।७३।७५) में वर्तमान दस नामों से भिन्न नाम आये हैं। भागवत में विष्णु के अवतारों का उल्लेख कई स्थानों पर हुआ है—१।३।१-२५ में २२ अवतारों का उल्लेख है जिनमें ब्रह्मा, देवर्षि नारद (जिन्होंने सात्वतसिद्धान्त चलाया), नर-नारायण, कपिल (जिन्होंने आसुरि को सांख्य सिद्धान्त पढ़ाया), दत्तात्रेय, ऋषभ (नाभि एवं मेरुदेवी के पुत्र)[११६], धन्वन्तरि, मोहिनी, वेदव्यास, बलराम एवं कृष्ण, बुद्ध, कल्कि भी सम्मिलित हैं। २।७ में २३ अवतारों का उल्लेख है, जिनमें बहुत-से १।३ में भी पाये जाते हैं। २।७ में ध्रुव, पृथु (वेन के पुत्र), हयग्रीव भी उल्लिखित हैं, जिनमें प्रथम दो कहीं और अवतारों के रूप में नहीं घोषित हैं। भागवत (११।४०।१७-२२) में निम्नोक्त अवतार वर्णित हैं—मत्स्य, हयशीर्ष, कूर्म, सूकर, नरसिंह, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, बुद्ध, कल्कि। भागवत (११।४।१६-२२) में १६ अवतार उल्लिखित हैं—सामान्यतः वर्णित दस तथा हंस, दत्त (दत्तात्रेय), कुमार (नारद), ऋषभ, व्यास एवं हयग्रीव। मत्स्य (९९।१४) एवं पद्म (५।१३।१८२-१८६) में १२ अवतारों का उल्लेख है। प्रपंचसारतन्त्र (अद्वैत-गुरु शंकराचार्य द्वारा लिखित कहा गया) के पटल २०।५९ में मत्स्य, कूर्म, वराह,

---

मनुष्याणामजायत यदुक्षये।। स एव भगवान् विष्णुः कृष्णेति परिकीर्त्यते। वनपर्व २७२।७१-७२। ब्रह्मपुराण (१८०।२६-२७ एवं १८१।२-४) में गीता के ही शब्द हैं। देवीभागवत (७।३९) में है 'यदा यदा...भवति भूधर। अभ्यु...तदा वेषान् बिभर्म्यहम्।।'

११५. मत्स्य का २८५।६-७ अंश क्षेपक है, क्योंकि एक अन्य स्थान पर अवतारों के नाम भिन्न हैं। मत्स्य के ४७।१०६ में भृगु द्वारा विष्णु को दिये गये शाप का उल्लेख है, क्योंकि विष्णु ने अपनी पत्नी को मार डाला था अतः उन्हें सात बार मनुष्य-योनि में उत्पन्न होना पड़ा और वे सात अवतार हैं—दत्तात्रेय, मान्धाता, जामदग्न्य (भार्गव) राम, राम दाशरथि, वेदव्यास, बुद्ध, कल्कि तथा तीन अन्य (४७।२३७-२४०), यथा—नारायण, नरसिंह एवं वामन जोड़ दिये गये हैं; मत्स्य (५४।१५-१९) में नक्षत्रपुरुष-व्रत और दस अवतारों का उल्लेख है।

११६. ऋषभ, जो नाभि के पुत्र थे, जैनों के प्रथम तीर्थंकर-से लगते हैं, और वे सम्भवतः बुद्ध के समान विष्णु के अवतार कहे गये हैं। भागवत (१।३।२४) में बुद्ध के लिए कहा गया है—ततः कलौ संप्रवृत्ते संमोहाय सुरद्विषाम्। बुद्धो नाम्नाऽजनसुतः कीकटेषु भविष्यति।।; नमो बुद्धाय शुद्धाय दैत्यदानवमोहिने। १०।४०।२२।

नृसिंह, कुब्ज (अर्थात् वामन), तीन रामों (भार्गव राम, दाशरथ राम एवं बलराम), कृष्ण एवं कल्कि के नाम आये हैं (इसमें बुद्ध का नाम नहीं है)। अहिर्बुध्न्यसंहिता (५।५०-५७) में वासुदेव के ३० अवतारों के नाम आये हैं जिनकी सूची श्री ओटो श्रेडर ने अपनी पंचरात्र एवं अहिर्बुध्न्यसंहिता की भूमिका में उपस्थित की है। विष्णुपुराण (१।९।१३९-१४१) में आया है कि लक्ष्मी विष्णु के अवतारों में उनके साथ आती हैं। पुराणों ने विष्णु के विभिन्न अवतारों के क्रिया-कलापों का पर्याप्त उल्लेख किया है। किन्तु ऐसा नहीं समझना चाहिए कि शिव के अवतार नहीं थे। वायु (अध्याय २३) ने महेश्वर के २८ अवतारों का उल्लेख किया है जिनमें अन्तिम हैं नकुली (लकुली), जैसा कि २२१ वें श्लोक में वर्णित है। वराह (१५।१०-१९) में बुद्ध को छोड़कर सभी अवतारों के नाम हैं। वराह (४८।२०-२२) में आया है कि नरसिंह की पूजा से पापों के भय से मुक्ति मिलती है, वामन की पूजा से मोह का नाश होता है, परशुराम की पूजा से धन की प्राप्ति होती है, क्रूर शत्रुओं के नाश के लिए राम की पूजा करनी चाहिए, पुत्र की प्राप्ति के लिए बलराम एवं कृष्ण की पूजा करनी चाहिए, सुन्दर शरीर के लिए बुद्ध की तथा शत्रु घात के लिए कल्कि की पूजा करनी चाहिए। अग्निपुराण (४९।१-९) में दस अवतारों की मूर्तियों की विशेषताओं का उल्लेख है। बुद्ध की प्रतिमा के विषय में यों वर्णन है—मूर्ति में शान्तात्मा वाला मुख होना चाहिए, कर्ण लम्बे हों, अंग गौर हो, बुद्ध भगवान् उत्तरीय धारण किये हों, पद्मासन में बैठे हों और हाथों में वरद एवं अभय की मुद्रायें हों।[117]

विष्णु के दस अवतारों की परिगणना सम्पूर्ण भारत में कम-से-कम दसवीं शती तक प्रचलित हो चुकी थी, जैसा कि क्षेमेन्द्र ने अपने दशावतार-चरित (सन् १०६६ ई० में प्रणीत) एवं जयदेव (लक्ष्मणसेन के दरबारी कवि) ने गीतगोविन्द में उल्लिखित कर रखा है। इसके अतिरिक्त अपरार्क (१२ वीं शती के पूर्वार्ध में) ने भी मत्स्य द्वारा वर्णित दशावतारों के श्लोक का उद्धरण दिया है।[118] कुमारिल (सातवीं शती) ने बुद्ध को अवतार नहीं माना, किन्तु तब तक बहुत-से लोगों ने उन्हें अवतार मान लिया था (देखिए पाद-टिप्पणी सं० १२०)। इसके अतिरिक्त, अवतारों की संख्या, नामों एवं क्रम के विषय में बहुत-से दृष्टिकोण रहे हैं। देखिए डा० कत्रे का लेख (इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज, जिल्द १०, पृ० ३७-१३०) जिसमें ३३ अवतारों का विवेचन है। वराह अवतार का उल्लेख तोरमाण के एरण शूकर-प्रस्तराभिलेख (गुप्त इंस्क्रिप्शंस, पृ० १५८-१६०) में हुआ है। इसकी तिथि ६ठी शती का प्रथम चरण है।[119] रघुवंश (४।५३ एवं ५८) ने सह्य पर्वत के पास, पश्चिमी समुद्र से, राम (भार्गव)

११७. शान्तात्मा लम्बकर्णश्च गौरांगश्चाम्बरावृतः। ऊर्ध्वं पद्मस्थितो बुद्धो वरदाभयदायकः॥ अग्नि (४९।८); बृहत्संहिता ५७।४ : पद्मांकितकरचरणः प्रसन्नमूर्तिः सुनीचकेशश्च। पद्मासनोपविष्टो पितेव जगतो भवति बुद्धः॥; देखिए वराह ४८।२०-२२; वामनं मोहनाशाय वित्तार्थे जमदग्निजम्। क्रूरशत्रुविनाशाय यजेद्दाशरथिं बुधः। बलकृष्णौ यजेद्धीमान् पुत्रकामो न संशयः। रूपकामो भजेद् बुद्धं शत्रुघाताय कल्किनम्॥

११८. मत्स्यः कूर्मो वराहः पुरुषहरिवपुर्वामनो जामदग्न्यः। काकुत्स्थः कंसहन्ता स च सुगतमुनिः कल्किनामा च विष्णुः॥ दशावतारचरित १।२।

११९. अभिलेख का प्रथम श्लोक है : 'जयति धरण्युद्धरणे घनघोणाघातघूर्णितमहीध्रः। देवो वराहमूर्तिस्त्रैलोक्यमहागृहस्तम्भः॥ गुप्त इंस्क्रिप्शंस, पृ० १५९। यह अभिलेख हूणराज तोरमाण के राज्यकाल के प्रथम वर्ष में फाल्गुन की १० वीं तिथि को, जब कि नारायण के शूकर अवतार के मन्दिर का निर्माण हुआ था, तक्षित किया गया। अनुमानित तिथि है लगभग ५०० से ५१० ई०। यह अवतार कभी-कभी आदिवराह, यज्ञवराह, श्वेतवराह, महावराह

द्वारा पृथिवी की पुनः प्राप्ति का उल्लेख किया है। ऋ० (१०।११०) की सर्वानुक्रमणी (पृ० ४२) ने जमदग्नि ऋषि या उनके पुत्र राम का उल्लेख किया है। मेघदूत में विष्णु के वाम पाद को बलि के ऊपर रखने का उल्लेख है (वामनावतार)। माघ ने शिशुपालवध (१५।५८) में बोधिसत्त्व (बुद्ध) को हरि का अवतार माना है (वहाँ कामदेव की सेना से बुद्ध को मोहित करने के प्रयास की ओर निर्देश है)। माघ लगभग ७२५-७७५ ई० के आस-पास हुए थे। वामन एवं कृष्ण नाम के अवतारों की जानकारी पतंजलि के महाभाष्य से प्राचीन है, क्योंकि इसमें बलि के बन्धन एवं कंस-वध के नाटकीय प्रतिरूपों का उल्लेख पाया जाता है। एलोरा की दशावतार गुफा में वराह, नरसिंह, वामन एवं कृष्ण की प्रतिमाएँ हैं। ये गुफाएँ आठवीं शती की कही गयी हैं। उपर्युक्त बातों से प्रकट है कि कुछ अवतार, यथा वामन, परशराम एवं कृष्ण, ईसा से कई शतियों पूर्व से ज्ञात थे और सभी दस अवतार कुछ लेखकों एवं अन्य लोगों द्वारा सातवीं शती तक मान लिये गये थे।

धर्मशास्त्र-सम्बन्धी उपकरणों की वृद्धि में अवतारों की धारणा ने बहुत कुछ सहयोग दिया। अवतारों की धारणा एवं मान्यता से बहुत-से व्रतों एवं उत्सवों का धार्मिक कृत्यों में समावेश हो गया, यथा—वराहपुराण में द्वादशी व्रतों के विषय में एवं मत्स्य से लेकर कल्कि तक दस अवतारों के सम्मान में ३९-४८ अध्याय लिखित हैं। अवतारों की जयन्तियों के विषय में पृथक् पर्व बने, यथा—वैशाख शुक्ल १४ को नरसिंह-जयन्ती, वैशाख शुक्ल ३ को परशुराम-जयन्ती।[120]

अवतारों एवं उनकी जयन्तियों का वर्णन बहुत-से धर्मशास्त्र ग्रन्थों में भी पाया जाता है, किन्तु डा० पी० एल० वैद्य द्वारा सम्पादित (गंगा ओरिएण्टल सीरीज़) टोडरानन्द (भाग १) में सबसे अधिक विस्तार से वर्णन है। पुराणों ने दान, श्राद्ध, तीर्थ, व्रत आदि पर सहस्रों श्लोक प्रणीत किये हैं जो धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में सविस्तार उद्धृत हैं। स्थानाभाव से हम यहाँ उनकी ओर संकेत नहीं कर सकेंगे।

ऐसा नहीं समझना चाहिए कि पुराणों में केवल धार्मिक विषयों तथा पंच-लक्षणों (सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर, वंशानुचरित या वंश्यानुचरित) का ही उल्लेख है। कुछ पुराणों में अधोलिखित विषयों पर सविस्तार वर्णन है—राजाओं, मन्त्रियों, सेनापति, न्यायाधीश, दूत, लेखक, राजवैद्य के कर्तव्य, राज्याभिषेक, आक्रमण आदि। इस ग्रन्थ के खण्ड ३ में इन विषयों में कुछ पर विवेचन हो चुका है। राजनीतिक विषयों की अति विशद चर्चा मत्स्य (अ० २१५-२२६, २४०), अग्नि (२१४-२४२), विष्णुधर्मोत्तर (२, अ० २-७, १८-२१, २४-२६, २८, ६१-६३, ६६-७२, १४५-१५२, १७७) में हुई है। अन्य पुराणों, यथा—गरुड़ (१।१०८-११५), मार्कण्डेय (२४, वेंकटेश्वर

भी कहा गया है। मिलाइए हर्षचरित (३): 'महावराहपीवरस्कन्धपीठे नरकासुर इव भुवो गर्भादुद्भूतः।' देखिए 'रायल कांक्वेस्ट्स एण्ड कल्चरल माइग्रेशंस', शिवराम मूर्ति (कलकत्ता, १९५५), जहाँ चौथी शती के 'आदिवराह' की आकृति छपी है (प्लेट संख्या २ सी)।

१२०. निर्णयसिन्धु में पुराणसमुच्चय से निम्नोक्त श्लोक उद्धृत है: मत्स्योऽभूद् धुतभुग्दिने मधुसिते, कूर्मो विधौ माधवे, वाराहो गिरिजासुते नभसि, यद् भूते सिते माधवे। सिंहो, भाद्रपदे सिते हरितिथौ श्रीवामनो, माधवे रामो गौरितिथावतः परमभूद् रामो नवम्यां मधोः॥ कृष्णोऽष्टम्यां नभसि सितपरे, चाश्विने यद्दशम्यां बुद्धः, कल्की नभसि समभूच्छुक्लषष्ठ्यां क्रमेण॥ भक्तिप्रकाश (वीरमित्रोदय का एक भाग, पृ० ७९) ने भी इसे उद्धृत किया है। निर्णयसिन्धु में भी ऐसी टिप्पणी है कि कुछ लोगों ने विभिन्न तिथियों वाले वचन उद्धृत किये हैं और कुछ कोंकणी लेखकों ने वराहपुराण के श्लोक उद्धृत किये हैं, जिनमें मत्स्यजयन्ती आषाढ़ शुक्ल ११, बुद्ध की पौष शुक्ल ७ आदि हैं।

प्रेस संस्करण, या २७, बनर्जीसंस्करण), कालिका (८७) में भी राजनीतिक बातों का उल्लेख है। यह द्रष्टव्य है कि मत्स्य (२४०।२) एवं अग्नि (२२८।१) दोनों में 'आक्रन्द' एवं 'पार्ष्णिग्राह' नामक दो पारिभाषिक शब्द आये हैं, जो 'मण्डल-सिद्धान्त' के अन्तर्गत कहे गये हैं (कौटिल्य ४।२, पृ० २६०)।

अत्यन्त आरम्भिक निबन्धों में कृत्यकल्पतरु ने राजधर्म पर एवं व्यवहार-काण्ड पर मत्स्यपुराण को पर्याप्त रूप से उद्धृत किया है। इस निबन्ध ने ब्रह्म० को भी उद्धृत किया है, किन्तु वे उद्धरण प्रकाशित संस्करण (आनन्दाश्रम) में नहीं मिलते, यद्यपि वे मित्र मिश्र के राजनीतिप्रकाश में तथा अनन्तदेव के राजधर्मकौस्तुभ में भी उद्धृत हैं। राजधर्म पर कृत्यकल्पतरु ने विष्णुधर्मोत्तर को अपने राजधर्म में उद्धृत नहीं किया है, किन्तु राजनीतिप्रकाश में वह अधिकतर उद्धृत हुआ है, यथा—वि० ध० २।१८।१, ५-१४=रा० नी० प्र०, पृ० ६१; वि० ध० २।१८।२-४=रा० नी० प्र० प्र०, ६६-८१ (राज्याभिषेक पर मन्त्रों एवं सात देवों के आवाहन के लिए); वि० ध० २।२३।१-१३=रा० नी० प्र०, पृ० ८२-८३। राजधर्मकौस्तुभ ने वि० ध० को २१ बार उद्धृत किया है। मत्स्य, अग्नि एवं विष्णुधर्मोत्तर में राजधर्म एवं उससे सम्बन्धित विषयों पर कई सहस्र श्लोक हैं। गरुडपुराण (१।१०८-११५) में राजनीति पर लगभग ४०० श्लोक हैं जिनमें बहुत-से सुभाषित रूप में हैं और मनुस्मृति आदि में भी आये हैं (यथा गरुड़ १।१०९।१ एवं ५२, १०।७ एवं ११५।६३ क्रम से मनु ७।२१३, ८।२६, २।२३९ एवं ९।३ के जैसे हैं, महाभारत एवं नारदस्मृति, उदाहरणार्थ, 'न सा सभा' जो गरुड़ ११५।५२ है वह नारद ३।१८ ही है)। स्वयं गरुड़ में आया है कि वह अर्थशास्त्र पर आधारित नीति (राजधर्म) का सार-संक्षेप रखेगा, किन्तु १०८-११४ वाले अध्यायों के अन्त में जो आया है वह बृहस्पति द्वारा उद्घोषित नीतिशास्त्र है। बाण की कादम्बरी का एक आरम्भिक श्लोक भी गरुड़ में आया है।[१२१]

मार्कण्डेयपुराण (२४।५, २३-३३ या अध्याय २७ एवं २१-३१, बनर्जी संस्करण) के कुछ श्लोक रा० नी० प्र० (पृ० ३०-३१) द्वारा उद्धृत हैं (राजाओं के कर्तव्यों पर तथा उनके द्वारा इन्द्र, सूर्य, यम, सोम एवं वायु नामक पंच देवों के विलक्षण गुणों के अपनाये जाने पर)। दायभाग ने रिक्थ एवं उत्तराधिकार वाले सापिण्ड्य को अशौच के सापिण्ड्य से पृथक् मानने में मार्कण्डेयपुराण को उद्धृत किया है। राजा द्वारा मनाये जाने वाले 'कौमुदीमहोत्सव' पर कृत्यकल्पतरु ने (राजधर्म, पृ० १८२-१८३) स्कन्दपुराण को उद्धृत किया है। यही उद्धरण रा० नी० प्र० (पृ० ४१९-४२१) में भी है।

कृत्यकल्पतरु (राजधर्म काण्ड) ने वसोर्धारा पर भविष्यपुराण से एक लम्बा वचन उद्धृत किया है, जो रा० नी० प्रकाश द्वारा देवीपुराण से उद्धृत है। कालिकापुराण ने ८७ वें अध्याय में राजनीति पर १३१ श्लोक लिखे हैं, जिनमें राजा द्वारा सम्पादित किये जाने वाले कर्तव्यों पर एक निष्कर्ष उपस्थित किया गया है। इस अध्याय में उशना एवं बृहस्पति के ग्रन्थों का उल्लेख है (श्लोक ९९ एवं १३०) और राजा द्वारा ऐसे ब्राह्मणों को सम्मानित करने की ओर निर्देश है, जो ज्ञान, विद्या, तप एवं आयु में श्रेष्ठ हों आगे इसमें राजा को इन्द्रियनिग्रह, (साम, दान, दण्ड एवं भेद नामक) चार उपायों के पालन; जुआ, मद्यपान, विषय-भोग, आखेट-यापन आदि के त्याग; ६ गुणों (यान, आसन

१२१. अकारणाविष्कृतकोपधारिणः खलाद् भयं कस्य न नाम जायते। विषं महाहेर्विषमस्य दुर्वचः सुदुःसहं संनिपतेत् सदा मुखे॥ गरुड़ १।११२।१६; मिलाइए कादम्बरी का प्रारम्भिक श्लोक ५ : 'अकारणाविष्कृतवैरदारुणादसज्जनात् कस्य भयं न जायते। विषं महाहेरिव यस्य दुर्वचः सुदुःसहं संनिहितं सदा मुखे॥' (खल-वन्दना)

आदि) के पालन; राजकुमारों, मन्त्रियों, रानियों की तथा अन्य स्त्री-जाति की सम्बन्धिनियों की उपधा (कई प्रकार से चरित्र के विषय में खोज करना) द्वारा परीक्षा करने की सम्मति दी गयी है।[122]

ऐसा प्रतीत होता है कि मध्यकाल के अधिकांश निबन्धकारों को कौटिल्य का अर्थशास्त्र उपलब्ध नहीं था और इसी से उन्होंने राजधर्म के विषयों में पुराणों को अधिक उद्धृत किया है। किन्तु आरम्भिक पुराणों में (यथा मत्स्य आदि में) कौटिल्य का उद्धरण पाया जाता है। देखिए प्रस्तुत लेखक का लेख 'कौटिल्य एण्ड दि मत्स्यपुराण' (डा० बी० सी० लॉ भेंट ग्रन्थ, जिल्द २, पृ० १३-१५)।

न्याय-व्यवहार, रिक्थ, वसीयत (उत्तराधिकार) आदि के बारे में भी पुराणों ने निबन्धकारों के दृष्टिकोणों को प्रभावित किया है। कृत्यकल्पतरु ने व्यवहार पर कालिकापुराण से साक्ष्य के विषय में एवं कतिपय वर्णों के लिए समुचित दिव्य-परीक्षण-विधियों के बारे में लगभग बारह श्लोक उद्धृत किये हैं (पृ० ७९, २०५, २१०, २११, २२१, २३१, २३८)। बारह प्रकार के पुत्रों, पुनर्भव, स्वयंदत्त तथा राजा के उत्तराधिकारी और दास के विषय में कालिकापुराण से रा० नी० प्र० (पृ० ३५ एवं ४०) ने तीन श्लोक उद्धृत किये हैं। दत्तकमीमांसा (पृ० ६०, आनन्दाश्रम संस्करण) एवं व्यवहारमयूख (पृ० ११४, यद्यपि यहाँ ऐसा उल्लिखित है कि इस पुराण की दो तीन पाण्डुलिपियों में वे नहीं पाये जाते) ने कालिकापुराण के अध्याय ९१ के ३८ से लेकर ४१ श्लोक उद्धृत किये हैं (जिनमें गोद लिये जाने वाले पुत्रों और किस अवस्था तक ये गोद लिये जा सकते हैं आदि के विषय में संकेत हैं)। युग्म बच्चों में कौन बड़ा माना जाता है, इस विषय में मयूख ने भागवत (३।१९।१८) पर की गयी श्रीधर की टिप्पणियाँ उद्धृत की हैं। भागवत में आया है कि जो पहले उत्पन्न होता है वह छोटा होता है। इसको लेकर व्यवहारमयूख ने कहा है कि पुराणों में स्मृतियों के विरोध में पड़ने वाली बातें बहुधा देखने में आती हैं।[123]

१२२. मिलाइए कौटिल्य (१।१०) का शीर्षक 'उपधाभिः शौचाशौचज्ञानममात्यानाम्।' क्षीरस्वामी ने 'उपधा' की व्याख्या करते हुए कौटिल्य का यह शीर्षक उद्धृत किया है।

१२३. यत्तु 'द्वौ तदा भवतो गर्भौ सूतिर्वंशविपर्ययात्' इत्यादिना भागवते पश्चाज्जातस्य ज्यैष्ठ्यमुक्तं तदप्यनेन बाध्यते। पुराणेषु स्मृतिविरुद्धाचाराणां बहुशो दर्शनात्। व्य० म० (पृ० ९८)।

अध्याय २५

भारत से बौद्ध धर्म के विलीन होने के कारण

गत अध्याय के आरम्भ में कहा जा चुका है कि अपनी जन्म-भूमि से बौद्ध धर्म के विलीन होने के जितने कारण रहे हैं, उनमें पुराणों का सबसे अधिक सहयोग था। भारत से बौद्ध धर्म का विलीनीकरण पूर्णरूपेण हो गया और यह सब अचानक हुआ। ऐसा क्यों हो सका ? यह एक जटिल समस्या है। इसके लिए किसी एक कारण को या थोड़े-से कुछ अन्य कारणों को मान लेना युक्तिसंगत नहीं जँचता। इस विलीनीकरण की महत्त्वपूर्ण घटना के पीछे भीतरी एवं बाहरी दोनों प्रकार के कारण बहुत लम्बे काल से परिचलित रहे होंगे। इनमें से कुछ कारण तो कम या अधिक मात्र कल्पनात्मक थे। पाँचवीं शती के प्रथम चरण में फाहियान को बौद्ध धर्म अपनी उत्कर्षावस्था में दिखाई पड़ा था, किन्तु सातवीं शती के पूर्वार्ध में युवाँ च्वाँग (ह्वेन-साँग) की दृष्टि में वह अवनति के मार्ग पर अग्रसर हो रहा था। आठवीं शती के आरम्भ में बौद्ध धर्म की अधिक अवनति हो चुकी थी, जैसा कि इ-त्सिंग का अभिवचन है। भारत से बौद्ध धर्म के सर्वथा विलुप्त हो जाने के कारणों पर हम यहाँ संक्षेप में प्रकाश डालेंगे। इस विषय में हम कतिपय विद्वानों की उक्तियों की समीक्षा करने का प्रयास करेंगे। इस विषय पर कुछ विद्वानों के ग्रन्थ एवं लेख इस प्रकार हैं—ए० बर्थ कृत 'रिलिजंस आव इण्डिया' (जे० वुड द्वारा अनूदित, १८८२); 'पर्जीक्यूशन आव बुद्धिस्ट इन इण्डिया', राइज़ डेविड्स द्वारा (जर्नल आव पालि सोसाइटी, १८९६, पृ० ८७-९२); कर्न की 'मैन्युअल आव बुद्धिज्म' (जर्मन ग्रुण्ड्रिस में, पृ० १३३-१३४); राइज़ डेविड्स कृत 'बुद्धिस्ट इण्डिया' (१९०३, पृ० १५७-१५८, ३१९); इण्डि० हिस्टा० क्वा० (जिल्द ९, पृ० ३६१-३७१, जहाँ म० म० हरप्रसाद शास्त्री द्वारा दिये गये बौद्ध धर्म के विलोप के कारणों का उल्लेख है); 'दि सम आव हिस्ट्री' जो रेने ग्राउसेट द्वारा लिखित एवं ए० एच० टेम्पुल पैटर्सन द्वारा अनूदित है (टावर ब्रिज प्रकाशन, १९५१); डा० आर० सी० मित्र कृत 'दि डिक्लाइन आव बुद्धिज्म इन इण्डिया' (१९५४, विशेषतः पृ० १२५-१६४); देवमित्त धम्मपाल कृत 'लाइफ एण्ड टीचिंग आव बुद्ध' (जी० ए० नटेसन एण्ड कम्पनी, मद्रास, १९३८); 'बुद्धिज्म के २५०० वर्ष' (प्रो० पी० वी० बापट द्वारा सम्पादित, १९५६); प्रो० केनेथ डब्लू० मार्गन द्वारा लिखित 'दि पाथ आव दि बुद्ध' (पृ० ४७-५०, न्यूयार्क, १९५६); एन० जे० ओ' कोनर, राल्फ फ्लेचर सेयमूर द्वारा 'हाऊ बुद्धिज्म लेफ्ट इण्डिया' (चिकागो, १९५७)।

भारत से बौद्ध धर्म के वास्तविक निष्क्रमण के कारणों पर विचार करने के पूर्व कुछ विशिष्ट बातों पर प्रकाश डाल देना आवश्यक है। बुद्ध अपने काल के व्यवहृत हिन्दू धर्म के केवल एक सुधारक मात्र थे। उन्होंने न तो इसका अनुभव किया और न ऐसा कर्तव्य ही समझा कि वे किसी एक नये धर्म का निर्माण कर रहे हैं और न तो उन्होंने हिन्दू धर्म का और न इसके सभी विश्वासों एवं व्यवहारों का परित्याग ही किया। बुद्ध ने अपने कुछ उपदेशों में वेदों एवं हिन्दू ऋषियों की ओर ससम्मान संकेत किया है। उन्होंने योग की क्रियाओं एवं ध्यान की महत्ता स्वीकार की है। उनकी शिक्षाओं में तत्कालीन हिन्दू विश्वासों में से कुछ तो ज्यों-के-त्यों आ गये हैं, यथा कर्मवाद एवं पुनर्जन्म-सम्बन्धी तथा जगत्-परिवर्तन-सम्बन्धी सिद्धान्त। बुद्ध की शिक्षा का एक बहुत अंश उपनिषद्-काल के सिद्धान्तों का अंग मात्र था। जिन दिनों बुद्ध का जन्म हुआ था, जनता में विचारों एवं व्यवहारों की दो

प्रमुख धाराएँ प्रवाहित थीं, जिनमें एक थी देवों के लिए यज्ञ-कर्म के मार्ग से सम्बन्धित और दूसरी थी नैतिक प्रयास, आत्म-निग्रह एवं आध्यात्मिक लक्ष्य के मार्ग से सम्बन्धित। हमने गत अध्याय में यह देख लिया है कि उपनिषदों ने वेदों एवं उनके द्वारा व्यवस्थित अथवा उनमें पाये जाने वाले यज्ञों को हीन स्तर पर रखा है (वेदों को अपरा विद्या के अन्तर्गत कहा गया है) तथा उच्च नैतिक गुणों की सम्प्राप्ति के उपरान्त आध्यात्मिक ज्ञान को यज्ञों की अपेक्षा उच्च माना है। उपनिषदों ने पहले तो वैदिक यज्ञों को प्रतीकात्मक ढंग से व्याख्यायित करना चाहा है, यथा बृहदारण्यकोपनिषद् (१।१।१) में, जहाँ उषा, सूर्य एवं संवत्सर को यज्ञिय अश्व का क्रम से सिर, आँख एवं आत्मा कहा गया है, या छान्दोग्योपनिषद् (२।२।१-२) में जहाँ 'साम' के पाँच भागों को प्रतीकात्मक ढंग से पृथिवी, अग्नि, आकाश, सूर्य एवं स्वर्ग कहा गया है। इसके उपरान्त उपनिषदों ने वेद का केवल नाम लेना आरम्भ किया और उसे ब्रह्मविद्या से नीचे बहुत ही निम्न श्रेणी में रखा (यथा—बृह० उप० ४।४।२१, १।४।१०, छा० उप० ७।१-४, मुण्डक० १।१।४-५)।

इतना तो सभी संस्कृत विद्वान् सामान्यतः स्वीकार करते हैं कि कम-से-कम बृहदारण्यक एवं छान्दोग्य जैसी अत्यन्त प्राचीन उपनिषदें बुद्ध से बहुत पहले की हैं और उनमें बुद्ध या उनकी शिक्षाओं या पिटकों के विषय में कोई संकेत नहीं मिलता। दूसरी ओर, यद्यपि दर्जनों सुत्तों में ब्राह्मणों एवं बुद्ध की या बुद्ध के शिष्यों एवं धर्मदूतों की सभाओं की आख्याएँ मिलती हैं, किन्तु उन सभाओं में दोनों ओर की आपसी सद्भावनाएँ एवं मृदुताएँ स्पष्ट झलकती हैं। आरम्भिक पालि-ग्रन्थों या ब्राह्मण-ग्रन्थों में कहीं भी किसी प्रकार की एक-दूसरे के विरोध में कोई कटुता नहीं प्रदर्शित है, न तो उन पालि-ग्रन्थों में ब्राह्मणवाद के सिद्धान्तों की और न ब्राह्मण ग्रन्थों में बुद्ध की वैधर्मिकता की भर्त्सना हुई है। इतना ही नहीं, इन सभी सभाओं एवं संवादों में उपनिषदों की ब्रह्म-सम्बन्धी केन्द्रीय धारणा की न तो बुद्धदेव ने और न आरम्भिक बौद्ध-प्रचारकों ने खिल्ली उड़ायी है। बुद्ध ने जो कुछ कहा है उसे हम नीचे संक्षेप में दे रहे हैं—

'हे भिक्षुओ, यहाँ तक कि मैंने पूर्व काल के सम्यक् ज्ञानवान् लोगों द्वारा अनुसरित प्राचीन मार्ग को देखा है। और, हे भिक्षुओ, वह प्राचीन पथ, प्राचीन मार्ग, जो उन सम्यक् ज्ञानवान् लोगों द्वारा अनुसरित हुआ है, क्या है? सर्वथा इसी अष्टांगिक मार्ग (सम्यक् विचार आदि) की भाँति। हे भिक्षुओ, यह वही प्राचीन मार्ग है जो पूर्व काल में सम्यक् रीति से ज्ञान प्राप्त करने वाले व्यक्तियों द्वारा अनुसरित हुआ था। उसी मार्ग से मैं गया हूँ, और उसी मार्ग से चलता हुआ मैं जरा एवं मृत्यु के विषय में भली प्रकार ज्ञान प्राप्त कर सका हूँ। भली प्रकार जान लेने के उपरान्त मैंने इसे भिक्षुओं, भिक्षुकियों, उपासकों, पुरुषों एवं स्त्रियों से कहा है। यही ब्रह्मचर्य चारों ओर प्रसारित है, विस्तारित है, सब को ज्ञात है और सर्वप्रिय है तथा देवों एवं मनुष्यों द्वारा प्रकट किया गया है।'[1] यह द्रष्टव्य है कि बुद्ध ने जिस अष्टांगिक मार्ग को दुःख दूर करने का सरल उपाय माना है उसे उन्होंने उन लोगों द्वारा अनुसरित माना है

१. देखिए संयुत्तनिकाय (पालि टेक्स्ट सोसाइटी), भाग २ (निदानवग्ग), एम० लेयान फीयर द्वारा सम्पादित (पृ० १०६-१०७)। कुछ वाक्य यों हैं—'एवमेव ख्वाहं भिक्खवे अद्दसं पुराणं मग्गं पुराणंजसं पुब्बकेहि सम्मासंबुद्धेहि अनुयातं॥ कतमो च सो भिक्खवे मग्गो पुराणंजसो...अनुयातो। अयमेव अट्ठंगिको मग्गो। सेय्यथापि समादिट्ठि।...अयं खो भिक्खवे पुराणमग्गो अनुयातो। तं अनुगच्छिं। तं अनुगच्छन्तो जरामरणं अभिञ्ञाय आचिक्खि भिक्खूनं भिक्खुनीनं उपासकानं उपासिकानं। तयिदं भिक्खवे ब्रह्मचरियं इद्धं चेव फीतं च वित्थारिकं बहुजञ्ञं पुथुभूतं याव देवमनुस्सेहि सुप्पकासितं ति।'

जो प्राचीन काल में हुए थे और सम्यक् सम्बुद्धि से परिपूर्ण थे। बुद्धदेव ने अपने को विलक्षण नहीं कहा है, प्रत्युत उन्होंने यही कहा कि मैं केवल सम्बुद्ध लोगों की पंक्ति में आ जाता हूँ और इस बात पर बल देकर वे कहते हैं कि जिन सद्गुणों की ओर मैं मनुष्यों का ध्यान आकृष्ट करता हूँ वे प्राचीन काल के हैं। धम्मपद एवं सुत्तनिपात (महावग्ग, वासेट्ठ सुत्त) में वास्तविक सद्गुणी को ब्राह्मण के समान कहा गया है—"मैं उसे ब्राह्मण कहता हूं जो शरीर, वचन एवं विचार से किसी को दुःख नहीं देता, जो इन तीनों से संयत रहता है, अर्थात् जो अपने को इन तीनों से सुरक्षित रखता है"; "कोई व्यक्ति जटा रखने से, गोत्र से, जाति से ब्राह्मण नहीं होता, वह व्यक्ति जिसमें सत्य एवं धर्म विराजमान है, सुखी है और ब्राह्मण है"; "उस व्यक्ति को मैं ब्राह्मण कहता हूँ जो कामना (इच्छा या सुख) से नहीं लगा रहता और जल में कमलपत्र के समान है (जल में रहता कमलदल पानी को अपने ऊपर नहीं रखता) या आरे के ऊपर सरसों के दाने (जो उस आरे पर नहीं ठहरता) के समान है।"[२] इसके अतिरिक्त, ऐसा नहीं प्रतीत होता कि किसी काल में सम्पूर्ण भारत या इसके बड़े-बड़े भाग पूर्णतया बौद्ध हो गये थे। भारत के लोग एक प्रकार से सदैव हिन्दू थे।[३] सभी कालों में लाखों लाख ऐसे भारतीय थे जो हिन्दू थे न कि बौद्ध। इतना ही नहीं, जब अशोक, कनिष्क एवं हर्ष जैसे राजाओं के आश्रय में बौद्ध धर्म पल रहा था, उन दिनों भी बौद्ध धर्म केवल मठों एवं पाठशालाओं तक सीमित था और लोगों में एक महती सहिष्णुता विद्यमान थी। उदाहरणार्थ, हर्ष के पिता सूर्य के उपासक थे और वह स्वयं शिव का भक्त था, उसका बड़ा भाई राज्यवर्धन परमसौगत (बुद्ध का भक्त) था और हर्ष ने बौद्ध यात्री युवाँ च्वांग (ह्वेन-सांग) के प्रति अनुग्रह प्रकट किया था।[४]

२. यस्स कायेन वाचाय मनसा नत्थि दुक्कतं। संवुत्तं तीहि ठानेहि तमहं ब्रूमि ब्राह्मणम्।। न जटाहि न गोत्तेन न जच्चा होति ब्राह्मणो। यम्हि सच्चं च धम्मो च सो सुखी सो च ब्राह्मणो।। वारि पोक्खरपत्तेव आरग्गेरिव सासवो। यो न लिम्पति कामेसु तमहं ब्रूमि ब्राह्मणम्।। धम्मपद (३९१, ३९३, ४०१, डा० पी० एल० वैद्य का संस्करण, देवनागरी लिपि में, १९३४); सुत्तनिपात (महावग्ग, वासेट्ठसुत्त) में अन्तिम श्लोक आया है। 'न जटाहिं' आदि से मिलाइए महाभारत के वनपर्व का श्लोक (२१६।१४-१५): 'यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्मे च सततोत्थितः। तं ब्राह्मणमहं मन्ये वृत्तेन हि भवेद् द्विजः।।' 'वारि पोक्खरपत्तेव' आदि को मिलाइए छान्दोग्योपनिषद् (४।१४-३): 'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यत इति।' एवं गीता (५।१०) 'लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।'

३. देखिए 'रिलिजंस आव ऐंश्येण्ट इण्डिया' (यूनिवर्सिटी आव लन्दन, १९५३), जिसके लेखक प्रो० रेनौ ने पृ० १०० पर इसी प्रकार का विचार प्रकट किया है।

४. देखिए बांसखेड़ा पत्रक (६२८-२९ ई०), एपि० इण्डि०, जिल्द ४, पृ० २१०-२११ तथा मधुवन पत्रक (६३१-३२ ई०), एपि० इण्डि०, जिल्द १, पृ० ७२-७३ (बुहलर) एवं एपि० इण्डि०, जिल्द ७, पृ० १५७-१५८ (कीलहार्न)। ह्वेन-सांग ने यह नहीं लिखा है कि राज्यवर्धन बुद्ध का भक्त था, किन्तु उसने ह को आरम्भ से ही बौद्ध कहा है और एक काल्पनिक कहानी दी है कि किस प्रकार वह राजगद्दी पर बैठने से रोका गया और 'कुमार' की उपाधि धारण करने को एक ऐसे बोधिसत्व द्वारा प्रेरित किया गया जो पूजा के प्रभाव में आकर अलौकिक ढंग से प्रकट हो गया था। इससे यह प्रकट होता है कि बुद्ध से सम्बन्धित विवरणों को हमें बहुत सोच-समझ कर स्वीकार करना चाहिए। देखिए वाटर्स, 'ह्वेन-सांग्स ट्रेवल्स इन इण्डिया' (लन्दन, १९०४, जिल्द १, पृ० ३४२), जहाँ यह गाथा दी हुई है।

प्रो० के० डब्लू० मार्गन जैसे कुछ हाल के लेखकों का कथन है कि बौद्ध धर्म के अपकर्ष के कारण थे संघ की शक्ति का ह्रास, मुस्लिम आक्रमण एवं हिन्दू जनता का विरोध (देखिए 'दि पाथ आव दि बुद्ध', पृ० ५८)।

श्री ए० कुमारस्वामी के इस कथन में पर्याप्त सत्यता प्रतीत होती है कि बौद्ध धर्म एवं ब्राह्मण धर्म का जितना गम्भीर अध्ययन किया जाय, उतना ही दोनों के बीच का अन्तर जानना कठिन हो जाता है, या यह कहना कठिन हो जाता है कि किन रूपों में बौद्ध धर्म, वास्तव में अशास्त्रीय या अहिन्दू है (देखिए उनका ग्रन्थ 'हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज्म', पृ० ४५२)। बुद्ध एवं उनके उत्तराधिकारी अनुयायियों ने ब्राह्मण धर्म की कुछ लोक-प्रचलित मान्यताओं पर ही आक्रमण किया था। राइज डेविड्स महोदय ने अपने 'दि रिलेशंस बिटवीन अर्ली बुद्धिज्म एवं ब्राह्मणिज्म' (इण्डि० हिस्टा० क्वा०, जिल्द १०, पृ० २७४-२८६) *नामक भाषण में यह प्रदर्शित करने का प्रयास* किया है कि त्रिपिटकों से यह नहीं प्रकट होता कि उनका ब्राह्मणों से कोई विरोध था और बुद्ध ने वही कहा जो उन दिनों के ब्राह्मणवाद के प्रमुख तत्त्वों में विद्यमान था। बुद्ध ने उपनिषदों की उस शिक्षा को स्वीकार किया (या कम-से-कम उस शिक्षा से उनका कोई विवाद नहीं था) कि ब्रह्मानन्द एवं मोक्ष की प्राप्ति के लिए नैतिक आचरण अति उच्च होना चाहिए (बृ० उप० ४।४।२३ 'तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्यति'; कठोपनिषद् १।२।२३, १।३, ८, ९, १३, १५; प्रश्नोपनिषद् १।१५-१६; मुण्डकोपनिषद् १।२।१२-१३)।

बुद्ध एवं तत्कालीन हिन्दू धार्मिक तथा दार्शनिक सिद्धान्तों के बीच उपस्थित मतभेदों के विषय थे जाति-विभाजन, जाति-अभिमान, वेदों की एकमात्र प्रामाणिकता एवं यज्ञों के प्रति स्थापित महत्ता।[5] बुद्ध का कथन था कि सदाचार एवं ज्ञान सर्वोत्तम हैं, उन्होंने स्पष्ट रूप से ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया, प्रत्युत यह उद्घोषित किया कि इस विषय में निश्चितता प्राप्त कर लेना अनावश्यक है, और न उन्होंने कुछ प्रश्नों के विषय में अपने निश्चित दृष्टिकोण ही प्रकट किये, यथा यह विश्व नित्य है या अनित्य। क्योंकि उनके मतानुसार ऐसे प्रश्नों पर विचार-विमर्श करना 'सिद्धान्त-क्रिया की जटिलता या दुर्भेद्य संकुलता, शृंखला आदि उत्पन्न करना है. . .और न ऐसा करने से निवृत्ति, विराग, निरोध, उपशम (शान्ति), अभिज्ञान, सम्बोधि एवं निर्वाण की ही प्राप्ति हो पाती है।'[6] बुद्ध ने पूजा एवं प्रार्थना के विषय में अधिक नहीं सोचा-विचारा। उनके मतानुसार महत्त्वपूर्ण बात थी चिन्ता एवं दुःख से व्यक्ति का छूट जाना तथा निर्वाण (जिसकी स्थिति के विषय में उन्होंने स्पष्ट एवं सम्यक् रूप से कभी

५. अपनी पुस्तक 'रिलिजंस आव इण्डिया' (पृ० १२५-१२६) में बार्थ ने उस सिद्धान्त का उपहास किया है और उसे मात्र कल्पनात्मक कहा है जिसके आधार पर संघ-संस्था एवं आरम्भिक बौद्ध धर्म को जाति-प्रथा की प्रभुता एवं ब्राह्मणों के आध्यात्मिक प्रभुत्व के विरोध की प्रतिक्रिया कहा गया है।

६. देखिए मज्झिम-निकाय (चूल-मालुंक्यसुत्त एवं अग्गि-वच्छगोत्तसुत्त), वी० ट्रेंकनेर द्वारा सम्पादित, जिल्द १, सुत्त ६३ एवं ७२, पृ० ४३१ एवं ४८६ 'न निब्बिदाय न विरागाय न निरोधाय न उपसमाय न अभिञ्ञाय न सम्बोधाय न निब्बानाय संवत्तति।' ये ही शब्द दीघनिकाय के पोट्ठपाद-सुत्त में भी पाये जाते हैं जहाँ पोट्ठपद ने बुद्ध से पूछा है कि यह विश्व नित्य है या अनित्य, यह अनन्त है या सान्त, यह देह एवं आत्मा भिन्न हैं या एक ? बुद्ध ने उत्तर दिया है कि हमने इन विषयों की व्याख्या इसलिए नहीं की है कि इनसे कोई उपयोग सिद्ध नहीं होता और न इनसे निर्वाण की प्राप्ति ही होती है (पालि टेक्स्ट सोसाइटी, जिल्द १, पृ० १८८-१८९)।

भी कोई व्याख्या नहीं उपस्थित की) की प्राप्ति।[७] प्रारम्भिक सिद्धान्त (हीनयान) के अन्तर्गत ऐसा व्यक्त है कि सम्बोधि का अनुभव एवं निर्वाण मनुष्यों द्वारा इसी जीवन में प्राप्त किया जा सकता है, यदि वे बुद्ध के निर्धारित मार्ग का अनुसरण करें। अस्तु, अब हम बौद्ध धर्म के लोप के उन कारणों को उपस्थित करेंगे जिन्हें विद्वानों ने समय-समय पर व्यक्त किया है।

(१) शासकीय उत्पीडन को कुछ विद्वानों ने मुख्य कारणों में एक कारण माना है। शुंग वंश के पुष्यमित्र ने, ऐसा अभियोग लगाया गया है, ऐसी उद्घोषणा की थी कि जो कोई किसी श्रमण का सिर लायेगा वह एक सौ दीनार पायेगा;[८] कश्मीर के राजा मिहिरकुल को युवाँ च्वाँग (अथवा ह्वेन-साँग, जैसा कुछ विद्वान् लिखते हैं) ने

७. 'निर्वाण' का शाब्दिक अर्थ है 'बुझा हुआ' या 'ठण्डा हो जाना।' बुद्ध की शिक्षा को ध्यान में रखकर यदि इसका अर्थ लगाया जाय तो कहा जा सकता है—काम (विषय या कामना) की अग्नि, क्रोध एवं मोह का बुझना, और इनका नैतिक शुचिता, दया-दाक्षिण्य एवं ज्ञान के रूप में परिवर्तित हो जाना। यह बाइबिल वाले स्वर्ग का द्योतक नहीं है। यह सम्यक् सम्बोधि, शान्ति एवं सुख की उस स्थिति का द्योतक है, जो केवल मृत्यु के बाद ही नहीं, प्रत्युत इसी जीवन में और इसी पृथिवी पर प्राप्त की जा सकती है। यह वास्तव में वर्णनातीत है, जैसा कि पालि उदान (८) में कथित है—'अव्यक्त, अजन्मा, निराकार आदि' और ब्रह्म के लिए प्रयुक्त 'नेति नेति' (बृ० उप० २।३।६, ४।२।४, ४।४।२१, ४।५।१५) से मिलता-जुलता है।

८. अशोकावदान (सं० ३९) के शब्द (दिव्यावदान, कोवेल एवं नील द्वारा सम्पादित, कैम्ब्रिज, १८८६, पृ० ४३४) 'यावत् पुष्यमित्रो यावत्संघारामं भिक्षूंश्च प्रघातयन् प्रस्थितः। स यावच्छाकलमनुप्राप्तः। तेनाभिहितम्। यो मे श्रमणशिरो दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यामि।... यदा पुष्यमित्रो राजा प्रघातितस्तदा मौर्यवंशः समुच्छिन्नः।' अधिकांश में लोगों ने पुष्यमित्र को शुंग कहा है एवं 'सेनानी' शब्द उपाधि रूप में पुराणों, हर्षचरित (६) एवं अयोध्या शिलालेख (एपि० इण्डि०, जिल्द २०, पृ० ५४) में आया है, किन्तु उपर्युक्त अवदान ने उसे मौर्य कहा है। इससे प्रकट होता है कि या तो दिव्यावदान (जो पश्चात्कालीन कृति है) का लेखक इस विषय में शुद्ध ज्ञान नहीं रखता था या वह वचन त्रुटिपूर्ण या क्षेपक है। देखिए हिस्ट्री कांग्रेस की छठी बैठक (अलीगढ़ १९४३, पृ० १०९-११६) की प्रोसीडिंग्स्, जहाँ श्री एन्० एन्० घोष ने यह सिद्धान्त घोषित किया है कि पुष्यमित्र ने बौद्धों को अवश्य उत्पीडित किया, किन्तु उसके उत्तराधिकारियों ने ऐसा नहीं किया। दूसरी ओर डा० राय चौधरी (पोलिटिकल हिस्ट्री आव इण्डिया, ५वाँ संस्करण) इस सिद्धान्त को नहीं मानते कि पुष्यमित्र बौद्धों का घातक या उत्पीडक था। आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प (त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज, भाग ३, ५३ वाँ अध्याय, पृ० ६१९-६२०) में भविष्यवाणी के रूप में ऐसा उल्लिखित है कि गोमिमुख्य (तथा गोमिषण्ड भी) नामक कोई राजा पूर्व भारत से कश्मीर तक अपने राज्य का विस्तार करता हुआ बुद्ध के शासन को तिरोहित कर देगा, विहारों का नाश करेगा तथा भिक्षुओं को मार डालेगा। काशीप्रसाद जायसवाल ने 'इम्पीरियल हिस्ट्री आव इण्डिया इन ए संस्कृत टेक्स्ट' (पृ० १९) में ऐसा विचार प्रकट किया है कि गोमिमुख्य पुष्यमित्र का प्रच्छन्न नाम है और जो बात उपर्युक्त उद्धृत है, वह ८०० ई० के लगभग लिखी गयी है और उसका तिब्बती अनुवाद सन् १०६० ई० में हुआ। देखिए रामप्रसाद चन्द का लेख 'पुष्यमित्र एण्ड दि शुंग एम्पायर' (इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टली, जिल्द ५, पृ० ३९३-४०७) और देखिए पृ० ३९७, जहाँ दिव्यावदान के अन्तिम वाक्यों का अंग्रेजी में अनुवाद भी है तथा पृ० ५८७-६१३ तथा हरिकिशोर प्रसाद द्वारा लिखित लेख 'पुष्यमित्र शुंग एण्ड बुद्धिस्ट्स' (जे० बी० आर० एस०, जिल्द ४०, पृ० २९-३०)।

उत्पीडक कहा है और लिखा है कि उसने गन्धार में बौद्ध स्तूपों को गिरा दिया, उसने मठों एवं सैकड़ों बौद्धों को मार डाला (देखिए 'इन दि फूटस्टेप्स आव बुद्ध,' रेने ग्रोस्सेट द्वारा लिखित, पृ० ११९-१२०); युवाँ च्वाँग ने लिखा है कि राजा शशांक ने बोधिवृक्ष का उच्छेद कर दिया, बुद्ध-प्रतिमा के स्थान पर महेश्वर की प्रतिमा रख दी तथा बुद्ध के धर्म का नाश किया (देखिए बील की पुस्तक 'बुद्धिस्ट रेकर्ड्स आव दि वेस्टर्न वर्ल्ड,' जिल्द २, पृ० ११८, १२२ एवं वाटर्स की पुस्तक 'युवाँ च्वाँग्स ट्रैवेल्स', जिल्द २, पृ० ११५-११६); कुमारिल के कहने पर राजा सुधन्वा ने एक अनुशासन निकाला कि हिमालय से लेकर कुमारी-अन्तरीप तक (जो सर्वथा असंगत है) अपने उस नौकर को, जो बौद्धों की हत्या नहीं करेगा, मार डालूँगा।[९]

ये उदाहरण प्रसिद्ध विद्वान् राइज़ डेविड्स द्वारा पालि टेक्स्ट्स सोसाइटी के जर्नल (१८९६, पृ० ८७-९२) में परीक्षा की कसौटी पर जाँचे गये हैं। उन्होंने यह कहकर कि पालि पिटकों में कहीं भी उत्पीडन की चर्चा नहीं हुई है, पालि ग्रन्थों का स्वर ब्राह्मणों की प्रशंसा से युक्त है, कहीं भी किसी प्रकार के धार्मिक उत्पीडन अथवा घात या व्यक्तियों के विनाश की कथा उल्लिखित नहीं है; बलपूर्वक घोषणा की है कि वे इन गाथाओं में विश्वास नहीं करते। किन्तु साथ ही यह भी कहा है कि मैं पुष्यमित्र से सम्बन्धित किंवदन्ती को सर्वथा झूठ मानने को सन्नद्ध नहीं हूँ (किन्तु 'अवदान' का लेखक पूरी जानकारी नहीं रखता था और जो वचन आये हैं वे अशुद्ध हैं, अतः ऐसा निर्णय अभी नहीं दिया जाना चाहिए)। वे सुधन्वा एवं कुमारिल की गाथा को सभी उत्पीडन-सम्बन्धी गाथाओं में सबसे आधारहीन मानते हैं और कहते हैं कि वह केवल अत्युक्तिपूर्ण दर्प मात्र है।[१०] राइज़ डेविड्स का कथन है—'दोनों विरोधी धर्मों

९. देखिए राइज़ डेविड्स कृत 'बुद्धिस्ट इण्डिया', पृ० ३१८-३२० (५वाँ संस्करण, १९१७, प्रथम संस्करण १९०३ ई० में प्रकाशित) जहाँ उत्पीडन के विषय में दिया हुआ है, और देखिए देवमित्त धम्मपाल कृत 'लाइफ एण्ड टीचिंग आव बुद्ध' (पृ० ७) जहाँ ऐसा उल्लिखित है कि कुमारिल एवं शंकर ने केवल विवादात्मक युद्ध किया था। कुमारिल के तन्त्रवार्तिक में भी ऐसा आया है कि बौद्ध लोग मीमांसकों से विवादात्मक युद्ध (शास्त्रार्थ) करने से डरते हैं, और वे जहाँ एक ओर यह कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु क्षणिक है वहीं वे मूर्खतापूर्वक यह गर्व से कहते हैं कि उनके पवित्र ग्रन्थ अमर हैं और इस प्रकार वे वेद के सिद्धान्तों से ऋण लेते हैं---'यथा मीमांसकत्रस्ताः शाक्यवैशेषिकादयः। नित्य एवागमोऽस्माकमित्याहुः शून्यचेतनम्॥' पृ० २३५; 'तत्र शाक्यैः प्रसिद्धापि सर्वक्षणिकवादिता। त्यज्यते वेदसिद्धान्ताज्जल्पद्भिर्नित्यमागमम्॥' पृ० २३६। देखिए तन्त्रवार्तिक, पृ० ३७६-३७७ जिससे प्रकट होता है कि कुमारिल बुद्ध की शिक्षा की उपयोगिता को किसी सीमा तक मानने को सन्नद्ध थे। अन्य ग्रन्थ भी यही प्रकट करते हैं कि यह केवल विवादात्मक युद्ध (शास्त्रार्थ) मात्र था, यथा---सुबन्धु (छठी शती) की वासवदत्ता नाट्य-पुस्तक में आया है---'केचिज्जैमिनिमतानुसारिण इव तथागतमतध्वंसिनः', पृ० १४४ हाल का संस्करण)।

१०. माधवाचार्य के शंकरदिग्विजय (१।५६ एवं ५९) में ऐसा वर्णित है कि राजा सुधन्वा इन्द्र का अवतार था और कुमारिल स्कन्द (जिन्हें कुमार भी कहा जाता है) के अवतार थे। उस ग्रन्थ में सुधन्वा की आज्ञा इस प्रकार है---'व्यधादाज्ञां ततो राजा वधाय श्रुतिविद्विषाम्। आ सेतोरा तुषाराद्रेर्बौद्धानावृद्धबालकम्। न हन्ति यः स हन्तव्यो भृत्यानित्यन्वशान्नृपः॥' (शंकरदिग्विजय १।९२-९३)। यह प्रत्यक्ष रूप से असंगतिपूर्ण गाथा है। प्राचीन भारत में किसी भी राजा ने, सुधन्वा की तो बात ही निराली है, हिमालय से लेकर रामेश्वर तक राज्य नहीं किया। आगे, यह भी द्रष्टव्य है कि वह आज्ञा जिसे प्रचारित रूप में हम मान भी लेते हैं, केवल राजा के भृत्यों को ही दी गयी, सब को नहीं। शंकरदिग्विजय (१५।१) में ऐसा उल्लिखित है कि जब शंकराचार्य ने अपनी दिग्विजय

के अनुयायी एक सहस्र वर्षों तक लगातार शान्तिपूर्वक एक-दूसरे के साथ रहते चले आये हैं और यह सह-अस्तित्व अशोक के काल से लेकर आगे तक की भारतीय जनता की विशेषताओं की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है।' इससे प्रकट होता है कि भारत में धार्मिक उत्पीडन नहीं हुआ और पाश्चात्य धार्मिक उत्पीडन की गाथाओं की आवृत्ति यहाँ नहीं हो सकी। डा० आर० सी० मित्र ने भी अपनी पुस्तक 'डिक्लाइन आव बुद्धिज्म इन इण्डिया' (पृ० १२५-१३०) में उत्पीडन-सम्बन्धी गाथाओं के विषय में ऐसा ही निष्कर्ष उपस्थित किया है। बार्थ ने अपनी पुस्तक 'रिलिजंस आव इण्डिया' (पृ० १३६) में यह माना है कि सभी बातें यही सिद्ध करती हैं कि बौद्ध धर्म अवसाद के कारण क्षय को प्राप्त हुआ और हमें इसके अपने दोषों में ही इसके विलीन होने के कारण ढूँढ़ने चाहिए। उन्होंने अपने कथन को इस प्रकार पुष्ट किया है—'सिक्के एवं शिलालेख तथा अत्यन्त विश्वास करने योग्य प्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि शासन-सम्बन्धी शक्तियाँ विशेष रूप से सहिष्णु एवं उदार थीं' (पृ० १३३), और वे इसकी पुष्टि में उदाहरण भी देते हैं।[11]

रामेश्वर के लिए प्रारम्भ की तो उनके साथ राजा सुधन्वा भी गया। माधवाचार्य अपने नायक की गरिमा बढ़ाने के उत्साह में गाथा-पर-गाथा जोड़ते जाते हैं और इतिहास एवं काल-क्रम को हवा में उछाल देते हैं, अर्थात् वे इतिहास एवं काल से सम्बन्धित क्रमों को तोड़ देते हैं। उदाहरणार्थ, उन्होंने वर्णन किया है कि आचार्य अभिनवगुप्त (जो एक महान् शैव एवं तान्त्रिक आचार्य थे) शंकर द्वारा शास्त्रार्थ में (१५।१५८) हरा दिये गये और यह भी लिखा है कि अभिनवगुप्त ने महान् आचार्य के विरोध में मारण का प्रयोग किया था। अभिनवगुप्त की कृतियों से स्वयं प्रकट है कि उनके साहित्यिक कर्म ९८० एवं १०२० ई० के मध्य में सम्पादित हुए थे (देखिए प्रस्तुत लेखक का ग्रन्थ 'हिस्ट्री आव संस्कृत पोइटिक्स', १९५१, पृ० २३१-२३२), किन्तु शंकराचार्य को कोई भी विद्वान् ८०० ई० के उपरान्त का नहीं मानता। माधवाचार्य ने (१५।१५७) यह भी कहा है कि शंकराचार्य ने 'खण्डनखण्डखाद्य' के लेखक श्रीहर्ष को भी, जिन्हें गुरु, भट्ट एवं उदयन नहीं हरा सके थे, अपने तर्कों से हराया। श्रीहर्ष १२ वीं शती के अन्त में हुए थे। तारानाथ ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री आव बुद्धिज्म' में लिखा है कि सम्भवतः इसी समय बौद्धों के प्रबल शत्रु, शंकराचार्य एवं उनके शिष्य भट्टाचार्य प्रकट हुए, जिनमें प्रथम (शंकराचार्य) बंगाल में एवं दूसरे (भट्टाचार्य) उड़ीसा में। उसके थोड़े समय के उपरान्त बौद्ध लोग दक्षिण में कुमारलील एवं कणादरुरु द्वारा उत्पीडित हुए। यहाँ बौद्ध राजा शालिवाहन का उल्लेख है, यद्यपि बौद्धों का कथन है कि कुमारलील, शंकराचार्य या भट्टाचार्य आदि के शास्त्रार्थ के अन्त में धर्मकीर्ति की विजय हुई (इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, जिल्द ४, पृ० ३६५)। यह प्रकट है कि उक्त वृत्तान्त सर्वथा भ्रामक है। देखिए डा० मित्र कृत 'डिक्लाइन आव बुद्धिज्म', पृ० १२९।

११. यस्मिन्देशे य आचारो व्यवहारः कुलस्थितिः। तथैव परिपाल्योऽसौ यदा वशमुपागतः॥ धार्मिक उत्पीडन एवं तोड़-फोड़ के कुछेक उदाहरणों के सम्पूर्ण अस्वीकार से कुछ प्राप्ति नहीं होती। किन्तु ऐसे उदाहरण बहुत ही थोड़े हैं और उनकी अल्पता इस बात को बल देती है और प्रमाणित करती है कि दो सहस्र वर्षों से अधिक काल तक भारतीय जनता में महान् धार्मिक सहिष्णुता विराजमान थी। ऐब्लूर से प्राप्त एक शिलालेख (एपि० इण्डि०, जिल्द ५, पृ० २१३, २४३) से एक मनोरंजक उदाहरण की प्राप्ति होती है, जहाँ एकान्तद राम नामक एक कट्टर शैव की गाथा वर्णित है। शिव के कट्टर भक्त एकान्तद राम ने हुलिगर (लक्ष्मेश्वर) के जैनों के साथ, जिनके मुखिया संकगौडा थे, एक शर्त बदी और ताड़पत्र पर लिखकर दाव लगाया कि वह अपना सिर काट कर हुलिगर में सोमनाथ के चरणों पर रख देगा और सात दिनों के उपरान्त अपने सिर को पुनः प्राप्त कर लेगा।

यह अवलोकनीय है कि याज्ञवल्क्य जैसे स्मृतिकारों ने ऐसी व्यवस्था दी है कि जब कोई राजा किसी अन्य देश पर अधिकार कर ले, तो उसका यह कर्तव्य होता है कि वह विजित देश के आचार, व्यवहार एवं कुल-स्थिति का सम्मान करे। अशोक स्वयं बुद्ध-शिक्षाओं का अनुयायी था, किन्तु उसने यह आज्ञापित किया है कि सभी धर्मों एवं सम्प्रदायों के प्रति सम्मान प्रकट किया जाय और उसने स्वयं ऐसा ही किया था (१२ वाँ प्रस्तर-लेख)---'न तो अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा और न अन्य सम्प्रदायों की अवमानना होनी चाहिए', 'अन्य सम्प्रदायों का सम्मान प्रत्येक रूप में होना चाहिए', 'केवल समवाय श्लाघ्य है, अर्थात् लोगों को एक-दूसरे के धर्म को सुनना एवं सम्मान करना चाहिए।'[12] सातवें स्तम्भ (दिल्ली-टोपरा, पृ० १३६) में अशोक ने घोषित किया है कि मैंने महामात्र नामक अधिकारियों की नियुक्ति की है, जो संघ (शिक्षा या उपदेश करने वाले भिक्षुओं का समुदाय), ब्राह्मणों, आजीवकों, निग्गन्थों एवं अन्य सभी पासण्डों (पाषण्डों या पाखण्डियों) की सुरक्षा व्यवस्था देखेंगे। सहस्रों वर्षों तक भारत एक ऐसा देश रहा है जहाँ पूर्णरूपेण सहिष्णुता बरती गयी है, जो शाब्दिक अर्थ में स्वयं एक धर्म है। किन्तु

यदि इसमें उसे सफलता प्राप्त हो गयी तो जैनों को अपने धर्म एवं परमात्मा का त्याग करना पड़ेगा। एकान्तद राम सफल हो गया, किन्तु जैनों ने जिनदेव की प्रतिमा को त्यागना अस्वीकार किया, जिस पर एकान्तद ने जैनों द्वारा भेजे गये घोड़ों एवं रक्षकों को हरा कर भगा दिया, जिन-मन्दिर तोड़ दिया और वहीं एक बड़ा शिव-मन्दिर बनवा दिया। जैनों ने राजा बिज्जल से शिकायत की, जिन्होंने राम को बुला भेजा और उससे पूरी बातें जाननी चाहीं। राम ने लिखित प्रमाण उपस्थित कर दिया और पुनः वैसी ही शर्त बदी, जिसे जैन मानने को तैयार नहीं हुए। बिज्जल ने जैनों से अपने पड़ोसियों के साथ शान्तिपूर्वक रहने को कहा, एक जयपत्र (राम की सफलता का प्रमाण-पत्र) दिया और सोमनाथ के मन्दिर के लिए एक ग्राम दान में दिया। यह स्पष्ट है कि राम द्वारा जैन-प्रतिमा हटायी गयी और उसके स्थान पर शिव-प्रतिमा रखी गयी (यहाँ अलौकिक बातों पर विचार नहीं किया जा रहा है)। राम को हम ११६२ ई० के कुछ ही पूर्व रख सकते हैं। स्थानीय झगड़ों में, जैसा कि उपर्युक्त लेख से व्यक्त है, तथा किसी जन-समुदाय या राजा की सम्पूर्ण नाश अथवा उत्पीडन-सम्बन्धी सामान्य नीति में बड़ा अन्तर होता है।

१२. देखिए 'इंस्क्रिप्शंस आव अशोक' (डा० हुल्श द्वारा सम्पादित, १९२५, पृ० २०-२१, जहाँ पर गिरनार का प्रस्तर-लेख अनुवादित है)। डा० मीनाक्षी अपने ग्रन्थ 'एडमिनिस्ट्रेशन एण्ड सोशल लाइफ अण्डर दि पल्लवज' (मद्रास यूनि०, १९३८, पृ० १७०-१७२) में यह कहने के उपरान्त कि पल्लव राजा लोग अन्य धार्मिक सम्प्रदायों के प्रति सहिष्णु थे, इस बात की ओर संकेत करते हैं कि पल्लवमल्ल राजा ने कुछ कठोर ढंगों एवं उत्पीडन का सहारा लिया था। प्रो० आनर्ल्ड टायन्बी ने 'ईस्ट एवं वेस्ट' (आक्सफोर्ड यूनि० प्रे०) ने निर्देश किया है कि ईसाई धर्म एवं मुस्लिम धर्म ने 'जीओ एवं जीने दो' के सिद्धान्त का अनुशीलन कदाचित् ही किया है और दोनों विश्व-इतिहास को अपमानित करने वाले महाभयंकर द्वन्द्वों, क्रूरतम निर्दयताओं एवं दुष्कर्मों के उत्तरदायी हैं (पृ० ४९)। इसी प्रकार वी० ओ० वोग्ट ने अपने ग्रन्थ 'कल्ट एण्ड कल्चर' में मुसलमानों एवं ईसाई धर्मदूतों के उस अडिग एवं अटल औद्धत्यपूर्ण अहंकार की भर्त्सना की है जिसके द्वारा वे अपने धार्मिक सिद्धान्त को परमात्मा द्वारा प्राप्त प्रमाण मानते हैं; उन्होंने शोक के साथ यह व्यक्त किया है कि धर्म यदि अपनी उत्प्रेरणा-सम्बन्धी धारणा से अतीत एवं भविष्य को आलिंगन-सूत्र में बाँधने की प्रक्रिया में सार्वजनीनता नहीं प्रकट करता (पृ० ७०), तो वह नाश को प्राप्त हो जायगा

यूरोपीय धार्मिकता सदैव असहिष्णु रही है, और जब कभी यह असहिष्णु नहीं रही है, तो यह मानसिक विरोध (ईर्ष्या) या सम्पूर्ण उदासीनता के तुल्य ही रही है। भारतीयों में अधिकांश धार्मिक व्यक्ति सदैव अतीत में ऐसा मानते रहे हैं और आज भी ऐसा स्वीकार करते हैं कि जीवन के रहस्य एवं आत्मा की मुक्ति के विषय में बहुत-से वैकल्पिक मार्ग हो सकते हैं। भारतीय लोग उन कतिपय लाखों लोगों के इस कथन पर कि उनके द्वारा सम्मानित पैगम्बर को ही भगवान् और परलोक की ज्ञान-प्राप्ति का एकाधिकार प्राप्त है, बाल-साहस मानकर उपेक्षा के साथ मुसकराते रहे हैं। यहाँ अन्य विरोधी सिद्धान्तों एवं सम्प्रदायों के प्रति ऐसी सहिष्णुता सदैव विराजमान रही है; अशोक के पहले कई शतियों पूर्व से लेकर १३०० ई० तक, जब कि मुसलमानों ने भारत को तहस-नहस करना आरम्भ कर दिया, इसके कदाचित् ही विरल अपवाद पाये गये हों। कुछ थोड़े-से उदाहरण (प्राचीन एवं पश्चात्कालीन, दोनों) यहाँ दिये जाते हैं—

(१) खारवेल ने, जो कलिंग का जैन राजा था, अपने राज्यकाल के नवें वर्ष में ब्राह्मणों को कर-मुक्त कर दिया (ईसा पूर्व द्वितीय या प्रथम शती, देखिए एपि० इण्डि०, जिल्द २०, पृ० ७९ एवं ८८); (२) नासिक गुफा-लेख (संख्या—१०) में आया है कि क्षहरात वंश के क्षत्रप नहपान के दामाद उषवदात ने पवित्र नदियों के तटों पर तथा भरुकच्छ (भड़ौच), दशपुर एवं गोवर्धन (नासिक) के देवों एवं ब्राह्मणों को बहुत दान दिये तथा बौद्ध संघ के भोजन के लिये भूमि-खण्ड दान किया; (३) गुप्त सम्राट् सामान्यतः विष्णु के भक्त थे, किन्तु उन्होंने भी बौद्धों को दान दिये, यथा—गुप्त लेख सं० ५ (गुप्त इंस्क्रिप्शंस, फ्लीट, पृ० ३१-३४) में आया है कि आम्रकार्दव (चन्द्रगुप्त द्वितीय के एक राज्य कर्मचारी) ने आर्यसंघ को गुप्त संवत् के ९३ वें वर्ष (४१२-१३ ई०) में विशेष दान दिया; (४) आन्ध्रदेश में श्रीपर्वत के इक्ष्वाकु राजा सिरि चान्तमूल ने अग्निष्टोम, वाजपेय एवं अश्वमेध यज्ञ किये, किन्तु उसके कुल की स्त्रियों में अधिकांश बौद्ध थीं, जिनमें एक ने परम बुद्ध के सम्मान में एक स्तम्भ बनवाया (एपि० इण्डि०, जिल्द २०, पृ० ८ एवं जायसवाल की 'हिस्ट्री आव इण्डिया', ५० से ३५० ई०, पृ० १७५); (५) वलभी (काठियावाड़) के मैत्रक राजाओं में सभी महेश्वर (शिव) के पूजक थे; बम्बई यूनि० के जर्नल (जिल्द ३, पृ० ७४-९१) में इनके पाँच दान-पत्रों का उल्लेख किया गया है जिनमें चार बौद्धों के लिए तथा एक ब्राह्मण के लिए हैं। इनमें प्रथम गारुलक महाराज वराहदास नामक सामन्त द्वारा वलभी के २३० वें वर्ष (५४९ ई०) में दिया गया और अन्य स्वयं वलभी-राजाओं द्वारा। बौद्धों को दिये गये चारों दान यक्षशूर-विहार एवं पूर्णभट्ट-विहार (दोनों भिक्षुकियों के मठ थे) को दिये गये भूमि-खण्डों एवं ग्रामों से सम्बन्धित हैं, जिनसे भिक्षुकियों को वस्त्र, अन्न, बिस्तर, आसन, दवा आदि तथा बौद्ध प्रतिमाओं के लिए धूप, पुष्प, चन्दन आदि की व्यवस्था की जा सके। (६) उड़ीसा के राजा ने, जिसका नाम शुभाकरदेव था, जो बौद्ध राजा का पुत्र था और अपने को परमसौगत कहा करता था, आठवीं शती के उत्तरार्ध में विभिन्न गोत्रों वाले सौ ब्राह्मणों को दो ग्रामों का दान किया (एपि० इण्डि०, जिल्द १५, पृ० ३-५, नेउलपुर दान); (७) बंगाल के राजा विग्रहपाल ने, जो बौद्ध पालवंश का था, अपने राज्य-काल के १२ वें वर्ष में चन्द्र-ग्रहण के अवसर पर बुद्धके सम्मान में गंगा-स्नान करके (भगवन्तं बुद्धभट्टारकमुद्दिश्य) एक सामवेदी ब्राह्मण को दान दिया (अंगच्छी दान-पत्र, एपि० इण्डि०, जिल्द १५, पृ० २९३, लगभग १००० ई०); (८) विग्रहपाल के उत्तराधिकारी महीपाल ने विषुव-संक्रान्ति पर गंगा में स्नान करके बुद्ध के सम्मान में एक ब्राह्मण को एक ग्राम दान में दिया (एपि० इण्डि०, जिल्द १४, पृ० ३२४); और देखिए इण्डियन ऐण्टीक्वेरी (जिल्द २१, पृ० २५३-२५८) जहाँ बंगाल के बौद्ध राजा देवपालदेव द्वारा ९वीं शती के अन्त में एक विद्वान् ब्राह्मण को एक ग्राम दिये जाने की चर्चा है। (९) कसिया से प्राप्त कलचुरि प्रस्तराभिलेख (एपि० इण्डि०, जिल्द १८, पृ० १२८) में गद्य में प्रथम आवाहन रुद्र का और उसके उपरान्त बुद्ध का हुआ है; प्रथम दो श्लोक शंकर की स्तुति में हैं, तीसरा तारा (बौद्ध देवी) की

स्तुति में तथा चौथा एवं पाँचवाँ श्लोक बुद्ध (मुनीन्द्र) की प्रशंसा में कहा गया है। (१०) कन्नौज के गहड़वार राजा गोविन्दचन्द्र की चौथी रानी कुमारदेवी ने, जो एक कट्टर हिन्दू थी, एक विहार बनवाया, जिसमें उसने धर्मचक्र जिन अर्थात् बुद्ध की प्रतिमा प्रतिष्ठापित की (एपि० इण्डि०, जिल्द ९, पृ० ३१९ एवं ३२४); (११) स्वयं गोविन्दचन्द्र ने ६ ग्रामों का दान शाक्यरक्षित नामक एक विद्वान् बौद्ध को (जो उड़ीसा से आया था) तथा उसके शिष्य को किया, जो जेतवन महाविहार (देखिए 'सहेत-महेत' नामक गोविन्दचन्द्र का पत्रक, संवत् ११८६, सन् ११२८-२९ ई०, एपि० इण्डि०, जिल्द ११, पृ० २० एवं २४) के संघ के कल्याण के निमित्त था। (१२) पूर्वी बंगाल के बौद्ध राजा श्रीचन्द्र के मदनपुर दान-पत्र से प्रकट है कि राजा ने अगस्तितृतीया पर स्नान करके बुद्धभट्टारक के सम्मान में शुक्रदेव नामक एक ब्राह्मण को भूमि-दान किया।[23] (१३) चालुक्य त्रिभुवनमल्ल उर्फ 'विक्रमादित्य' (शक संवत् १०१७, १०९५-९६ ई०) के काल का दम्बल शिलालेख बुद्ध के स्तवन से आरम्भ होता है और उसमें दो विहारों के दान की चर्चा है, जिनमें एक बुद्ध का है जो धर्मपुर या धर्मवोलल (धारवाड़ जिले में दम्बल) के सेट्टियों द्वारा निर्मित हुआ और दूसरा तारादेवी का है, जो लोक्किगुण्डि (या आधुनिक लक्कुण्डि) के सेट्टि द्वारा बनवाया गया था। (१४) एपि० इण्डिका (जिल्द १६, पृ० ४८, ५१) के लक्ष्मणेश्वर के शिलालेख (सन् ११४७ ई०) से प्रकट है कि एक सेनापति शैव, वैष्णव, बौद्ध एवं जैन नामक चारों सम्प्रदायों का उद्धारक था (चतुस्समयसमुद्धरणम्)। (१५) श्रावस्ती (आधुनिक सहेत-महेत) से प्राप्त एक शिलालेख से प्रकट होता है कि वास्तव्य कुल के विद्याधर नामक एक व्यक्ति ने बौद्ध श्रमणों के लिए एक मठ उसी बस्ती (जहाँ शिलालेख प्राप्त हुआ था) में बनवाया (इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, जिल्द १७, पृ० ६१)। (१६) तंजौर के सेवप्प नायक के कुम्भकोणम् नामक शिलालेख (१५८० ई०) से पता चलता है कि तिरुमलियराजपुरम् के ब्राह्मण-ग्राम ('अग्रहार') में कुछ भूमि का दान, तिरुविलदुर के बुद्ध-मन्दिर से सम्बन्धित एक व्यक्ति को दिया गया था।[24]

उपर्युक्त उदाहरण यह व्यक्त करते हैं कि भारत के सभी भागों, उत्तर से दक्षिण तक में, राजाओं के एवं उनके कर्मचारियों के मध्य धार्मिक सहिष्णुता एवं सभी धर्मों की सुरक्षा करना यह एक सामान्य नियम-सा था। यदि कहीं कोई अपवाद था तो वह किसी व्यक्ति-विशेष, राजा या कर्मचारी या उसके समान किसी व्यक्ति तक ही सीमित था। दूसरी ओर, यद्यपि अशोक, जो प्रजा के अन्य धर्मों के प्रति आदर-सम्मान प्रकट करने में प्राचीन भारतीय सहिष्णुता का उत्तराधिकारी था, और जिसके ७ वें एवं १२ वें प्रस्तर-लेख सहिष्णुता का उज्ज्वलतम उदाहरण या प्रतीक थे, आगे चल कर वही यह कहने में सन्तोष प्रकट करने लगा कि जम्बूद्वीप के देव लोग झूठे (अमान्य) पड़ गये और वह गर्व के साथ घोषित करने लगा कि यह परिणाम 'मेरी महत्ता का प्रभाव नहीं, प्रत्युत मेरे उत्साह का है।'

यह द्रष्टव्य है कि अशोक की अहिंसा भी आरम्भ में पूर्ण नहीं थी, प्रत्युत सीमित थी। अपने प्रथम प्रस्तर-लेख में उसने कहा है कि राजा की रसोई में पहले सहस्रों पशु मारे जाते थे, अब यह हत्या प्रति दिन दो मोरों एवं एक

२३. श्रीचन्द्र की तिथि के विषय में मतभेद है। देखिए डा० आर० सी० मजूमदार कृत 'हिस्ट्री आव बंगाल' (जिल्द १, पृ० १९६), जहाँ श्रीचन्द्र की तिथि कुछ विद्वानों द्वारा ११ वीं शती के आरम्भ में रखी गयी है।

२४. अन्तिम दो उदाहरणों से प्रकट होता है कि यद्यपि कन्नौज के राजा जयचन्द्र हरा दिये गये थे और कन्नौज पर मुसलमानों का अधिकार सन् ११९३ ई० में हो चुका था, तथापि बौद्ध धर्म १३ वीं शती के प्रथम चरण में उत्तरी भारत से पूर्णतया विलीन नहीं हुआ था और बौद्ध धर्म के कुछ अवशेष दक्षिण में १६ वीं शती तक विद्यमान थे।

हिरन तक सीमित हो गयी है (वह भी कभी-कभी,) और ये तीन पशु भी भविष्य में नहीं मारे जायेंगे (कार्पस इस्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम्, जिल्द १, पृ० १-२)। यह अन्तिम प्रण कार्यरूप में परिणत हुआ कि नहीं, कोई नहीं जानता। इसके अतिरिक्त, अशोक ने सभी प्रकार के प्राणियों की रक्षा करने की उत्सुकता को बहुत अधिक बढ़ावा दे डाला और एक अधिनायक की भाँति मनुष्य-स्वभाव के विरोध में अपनी राजशक्ति का प्रयोग किया। दिल्ली-टोपरा स्तम्भ के चौथे लेख में अशोक ने उल्लेख किया है कि उसके लजूक नामक कर-व्यवस्थाधिकारियों का हजारों मनुष्यों से पाला पड़ता था और उन्हें दण्ड देने, यहाँ तक कि प्राण-दण्ड देने तक का अधिकार था और उसमें तीन दिनों की छूट की चर्चा है, जिसमें प्राण-दण्ड पाने वालों के सम्बन्धियों को इसका अवसर प्राप्त हो सके कि वे लजूकों से दण्ड-व्याक्षेप या क्षमा की माँग कर सकें। पाँचवें दिल्ली-टोपरा स्तम्भ-लेख (का० इं० इण्डि०, जिल्द १, पृ० १२५-१२८) में राज्याभिषेक के २६ वें वर्ष के उपरान्त अशोक ने घोषित किया है कि २३ प्रकार के पक्षी एवं अन्य पशु (यथा तोता, मैना, लाल या जंगली हंस अर्थात् चक्रवाक या श्वेत हंस, पण्डूक, कुछ विशिष्ट मछलियाँ एवं कछुवे) बिल्कुल नहीं मारे जायेंगे, भेड़ एवं शूकरी, जो अभी छोटी हैं या दूध देने वाली हैं या इनके बच्चे अभी ६ मास से कम अवस्था के हैं वे भी नहीं मारी जायेंगी। उसने कुछ पूर्णिमाओं को एवं उनके एक दिन पूर्व एवं उपरान्त मछली बेचना, अष्टमी, चतुर्दशी एवं अमावस्या पर बैलों, भेड़ों एवं घोड़ों को बधिया करना तथा पुष्य, पुनर्वसु एवं चतुर्मासियों में घोड़ों एवं बैलों पर तप्त लोहे के चिह्न या दाग लगाना बन्द करा दिया। इन उपर्युक्त आदेशों से निर्धन लोगों पर बुरा प्रभाव अवश्य पड़ा होगा, और ये नियम लोगों को अवश्य कठोर लगे होंगे, विशेषतः जब इनके विषय में लजूकों को सभी प्रकार के अधिकार थे। जीवन के पश्चात्कालीन भाग में, ऐसा लगता है, अशोक ने हिन्दू देवों की पूजा का विनाश चाहा था। रूपनाथ प्रस्तर-लेख (इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, जिल्द ६, पृ० १५४-१५६) में ऐसा आया है कि वह कुछ वर्षों तक उपासक मात्र (केवल बुद्ध की पूजा करने वाला) था, किन्तु अभी आस्थावान् नहीं हो सका था, किन्तु एक वर्ष या अधिक काल से (आस्थावान् हो गया) और उस अवधि में वे देव, जो जम्बूद्वीप (भारत) में सच्चे कहे जाते थे, झूठे पड़ गये और यह उसकी आस्था (उत्साह, प्रयत्न आदि) का परिणाम था।[१५] इससे यह अर्थ निकाला

१५. यहाँ पर ब्रह्मगिरि, रूपनाथ एवं अन्य छः स्थानों पर पाये गये प्रस्तर-लेखों के महत्त्वपूर्ण शब्द उद्धृत हुए हैं (कुछ भाषान्तर हैं और कहीं-कहीं कुछ छूट भी गया है)। यहाँ प्रो० जूल्स ब्लोच ('लेस इंस्क्रिप्शंस डी' अशोक', पेरिस, १९५०, पृ० १४५-१४८) द्वारा उपस्थापित मूल दिया जा रहा है---'देवानं पिये हेवमाह। सातिरेकानि अढ़तियानि व (स्सानि) य सुमि पाकासके (उपासके ?) नो चु बाढ़ि पक्कते (पक्कन्ते)। सातिलेके चु छवच्छरे य सुमि हकं संघ (संघे) उपेते बाढि पक्कन्ते। या इमाय कालाय जम्बुदिपस्सि अमिस्सा देवा हुसु ते दानि मिस्सा कटा। पक्कमस्स हि एस फले। नो च एसा महतता पापोतवे। खुद्दकेन पि पक्कमिनेन सकिये पिपुले पि स्वगे आरोधेवे (शेष छूट गया है)।' इस अनुशासन की एरंगुडी प्रतिलिपि यों है—'इमिना चु कालेन अमिस्सा मुनिस्सा देवेहि ते दानि मिस्सिभूता।' आस-पास के दो अन्य भाषान्तर यों हैं—'इमिना चु कालेन अमिस्सा समाना मुनिस्सा जम्बुदीपस्सि मिस्सा देवेहि।' इनमें कहीं-कहीं छूट पड़ गयी है और त्रुटियाँ भी हैं और अर्थ प्रकट नहीं हो पाता। सम्भवतः इन अन्तिम शब्दों का वाक्य यों अनूदित हो सकता है—'उस काल के अन्तर में जो मनुष्य सत्य थे (या यदि हम 'अमिस्सा' को 'अमिथा' के रूप में लें, 'जो देवों से मिश्रित नहीं हो सके थे') वे झूठे पड़ गये, (या 'देवों से मिश्रित हो गये')। 'पक्कमस' से आगे के शब्दों का अर्थ यों है---'यह उपक्रम (उत्साह) का फल है; यह महत्ता से (उससे जो महत्त्वपूर्ण स्थिति वाला हो) नहीं प्राप्त हो सकता; क्षुद्र व्यक्ति द्वारा भी उपक्रम से

जा सकता है कि जब वह आस्थावान् या कट्टर बौद्ध हो गया तो उसने लोगों को देव-पूजा से दूर कराने का प्रयत्न किया और सम्भवतः उस दिशा में कुछ कठोर नियम भी बनाये। प्रस्तुत अभिलेख पर डा० हुल्श का अनुवाद (का० इं० इण्डि०, जिल्द १, पृ० १६६) स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस विषय में अब हम आगे कुछ नहीं लिखेंगे।

सम्राट् हर्षवर्धन के विषय में ह्वेन-सांग ने लिखा है कि उसने पंच देशों में पशु-मांस खाना वर्जित कर दिया और जीव-हिंसा कर्म के लिए प्राण-दण्ड निर्धारित किया (वाटर्स, पृ० ३४४)। यह भी अधिकांश लोगों को बुरा लगा होगा और सम्भवतः इसे लोगों ने धार्मिक उत्पीडन के रूप में ग्रहण किया होगा। यह द्रष्टव्य है कि हर्ष ने पशु-पक्षी-हत्या के विरुद्ध अपने उत्साह एवं शत्रु-विजय के लिए लम्बी सेना रखने के बीच में किसी प्रकार के संकोच का अनुभव कहीं किया।

अन्य धर्मों के प्रति बरती जाने वाली सहिष्णुता एवं परस्पर सहयोग से रहने की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण उदाहरण दिये जा सकते हैं। लगभग ३६० ई० में श्रीलंका के बौद्ध राजा मेघवर्ण की प्रार्थना पर बोधगया में तीन मंजिलों वाले संघाराम के निर्माण की अनुमति हिन्दू गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त ने दी। देखिए 'अर्ली हिस्ट्री आव इण्डिया' (चौथा संस्करण, १९२४, पृ० ३०३-३०४, वी० ए० स्मिथ द्वारा लिखित), जहाँ इतिहासकार ने इतना और कहा है कि जब ह्वेन-साँग बोधगया गया हुआ था तो उस संघाराम में एक सहस्र भिक्षु रहते थे। मुहम्मद उफी नामक एक व्यक्ति ने एक घटना का उल्लेख किया है। यद्यपि मुहम्मद ग़जनवी ने काठियावाड़ एवं गुजरात को कई बार लूटा और मन्दिरों को तोड़ा-फोड़ा एवं अपवित्र किया, तथापि हिन्दुओं ने आततायी एवं आक्रामक मुसलमानों एवं व्यवसायी मुसलमानों में व्यावहारिक अन्तर बनाये रखा। पारसियों द्वारा उकसाये जाने पर खम्भात के कुछ हिन्दुओं ने एक मस्जिद तोड़ डाली एवं कुछ मुसलमानों को मार डाला। उनमें से एक बचा हुआ मुसलमान सिद्धराज नामक राजा के पास गया और उसके समक्ष अपनी प्रार्थना रखी। वेश परिवर्तित कर राजा ने स्वयं सारी बातों का पता चलाया, अपराधियों को दण्डित किया और मुसलमानों को मस्जिद के पुनर्निमाण के लिए एक लाख बलोत्र दिये और खतीब को चार वस्त्र-खण्ड दिये, जो मस्जिद में सुरक्षित रख दिये गये। उफी का कथन

स्वर्ग प्राप्त किया जा सकता है।' प्रो० रंगस्वामी आयंगर प्रेजेण्टेशन वाल्यूम (पृ० २५-३०) में श्री रामचन्द्र दीक्षितार ने तर्क उपस्थित किया है कि अशोक हिन्दू है, क्योंकि उसने 'स्वर्ग' की बात कही है। यह तर्क ठीक नहीं है, क्योंकि स्वयं अनुशासन में यह आया है कि इस अनुशासन के पूर्व ढाई वर्षों तक अशोक बुद्ध का उपासक मात्र था और इससे एक वर्ष से कुछ पूर्व वह संघ (भिक्षुओं के समुदाय) में पहुँचा और उपक्रमी अथवा उत्साही बौद्ध बन गया (या सम्भवतः भिक्षु बन गया)। आरम्भिक पालि ग्रन्थों में भी ऐसा आया है कि स्वर्ग से देवता लोग उतर कर बुद्ध का सम्मान करने आया करते थे। अतः 'स्वर्ग' शब्द के उल्लेख से कुछ अर्थ नहीं निकाला जा सकता। यदि पवित्र पालि ग्रन्थ रहे भी हों तो अशोक उनमें पारंगत नहीं था। उसने कहीं भी निर्वाण का उल्लेख नहीं किया है और न अपने अनुशासनों में कहीं 'चार आर्य सत्यों' या 'अष्टांगिक मार्ग' या 'प्रतीत्य-समुत्पाद' नामक बौद्धों के मौलिक सिद्धान्तों का उल्लेख ही किया है। सम्भवतः उसने नैतिक आचरण की शुद्धता के प्रयत्न से सम्बन्धित बौद्ध शिक्षा से आकृष्ट होकर ही उन सिद्धान्तों को स्वीकार किया था और यज्ञों को अस्वीकार किया था। ऐसा लगता है कि वह देवों में विश्वास करता था और चाहता था कि लोग स्वर्ग-प्राप्ति के लिए उपक्रम एवं उद्योग करें (देखिए छठा प्रस्तर-लेख, गिरनार—'परत्र च स्वग्गं आराधयन्तु' और इसी प्रकार के शब्दों के लिए १० वाँ प्रस्तर-लेख)। केवल इतना ही भावात्मक ढंग से उपस्थित किया जा सकता है।

है कि जीवन में मैंने इस प्रकार की घटना कहीं और नहीं सुनी। देखिए इलियट की 'हिस्ट्री आव इण्डिया' (जिल्द २, पृ० १६२-१६३)। सोमनाथ-पट्टन लेख (इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, जिल्द ११, पृ० २४१) एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लिखित प्रमाण है। हर्मज के एक जहाज वाले व्यक्ति ने पवित्र सोमनाथ-पट्टन की बस्ती में एक भूमि-खण्ड खरीद लिया, वहाँ एक मस्जिद, एक घर एवं एक दूकान बनवायी। उपर्युक्त पत्रक (लेख) का तात्पर्य था उस भूमि की बिक्री को स्वीकृत कर लेना, उससे प्राप्त धन का व्यय सोमनाथ के शिया नाविकों द्वारा मनाये जाने वाले विशिष्ट मुस्लिम धार्मिक उत्सवों में करने की व्यवस्था करना और इसकी व्यवस्था करना कि जो कुछ शेष हो वह मक्का एवं मदीना के पवित्र नगरों में भेज दिया जाय। इसकी तिथि चार संवतों में है, यथा रसूल-मुहम्मद संवत् अर्थात् हिज्री वर्ष ६६२, विक्रम सं० १३२० (=१२६४ ई०), वलभी वर्ष ९४५ एवं सिंह संवत् १५१ (अर्थात् सम्भवतः चालुक्य सिद्धराज जयसिंह का)। दक्षिण भारत के हिन्दू राजाओं ने सीरिया के तत्कालीन ईसाइयों को बहुत-सी सुविधाएँ दे रखी थीं।

उपर्युक्त उदाहरण यह सिद्ध करते हैं कि मध्यकाल में भी, जब मुसलमान भारत पर आक्रमण एवं अत्याचार कर रहे थे, भारतीय राजा एवं प्रजाजन सहिष्णु थे। पाठक गण स्वयं सोचें कि १३ वीं शती में यदि कोई हिन्दू ईसाई या मुस्लिम देशों में किसी मन्दिर के निर्माण का साहस करता या ईसाई या मुस्लिम धर्म एवं जीवन के विषय में लिखने के लिए सामग्री एकत्र करने का साहस करता तो उसकी क्या गति होती, जब कि ११ वीं शती में अल्बरूनी बिना किसी अत्याचार या कष्ट के हिन्दू पण्डितों एवं सामान्य जनों से विशद सामग्री एकत्र करने में समर्थ हो सका था।

मुस्लिम बादशाह कितने असहिष्णु थे, इस विषय में विस्तार से कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। दो-एक उदाहरण पर्याप्त होंगे। हम यहाँ 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया' की जिल्द ३ के पृष्ठों की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करेंगे। फीरोज शाह तुगलक ने एक ब्राह्मण को जिन्दा जला दिया, क्योंकि उसने अपने धर्म के प्रसार की जुर्रत (साहस) की थी (वही, पृ० १८७); यही कृत्य सिकन्दर लोदी ने एक ब्राह्मण के साथ किया (पृ० २४६), उसने हिन्दू मन्दिरों को बहुत बड़ी संख्या में तोड़-फोड़ डाला; कश्मीर के सुल्तान सिकन्दर ने अपनी प्रजा के सामने दो विकल्प रखे : मुसलमान बनो या देश के बाहर जाओ (पृ० २८०); बंगाल के हुसेनशाह ने एक सेना नवद्वीप के विध्वंस के लिए भेजी और बहुत-से ब्राह्मणों को बलात् मुसलमान बना दिया। जहाँगीर ने अपने संस्मरण (मेम्वायर्स, ए० रोजर्स द्वारा अनूदित एवं एच्० बेवरिज द्वारा सम्पादित, १९०९, पृ० ७२-७३) में लिखा है कि उसने गुरु अर्जुनसिंह को उनके धार्मिक कार्यकलाप के फलस्वरूप मार डाला। देखिए यदुनाथ सरकार कृत 'हिस्ट्री आव औरंगजेब' (जिल्द ३, अध्याय ३०, पृ० २६५-२७९), जहाँ कतिपय फरमानों का उल्लेख है, जो सोमनाथ, मथुरा, विश्वनाथ (बनारस, जो अब पुनः वाराणसी कहा जाने लगा है) एवं उज्जैन के मन्दिरों को तोड़ देने के लिए निकाले गये थे। और देखिए उस ग्रन्थ का एपेण्डिक्स ५। यहाँ, यूरोप में यहूदियों पर किये गये अत्याचारों, 'इंक्वि-जिशन' द्वारा विशेषतः स्पेन एवं पोर्तुगाल में आचरित भयंकर क्रूर यातनाओं की ओर ध्यान ले जाने की आवश्यकता नहीं है। इन भीषण दुष्कर्मों से विश्व के इतिहास के पन्ने गन्दे हो गये हैं। यहूदियों पर किये गये अत्याचारों और उत्पीडनों आदि के विषय में पढ़िए सेसिल रॉथ कृत 'ए शार्ट हिस्ट्री आव दि ज्यूयिश पीपुल' (मैक्मिलन एण्ड कम्पनी, १९३६), अध्याय २०-२१। दो-एक उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं। 'इन्क्विजिशन' द्वारा धर्म के कार्य या 'आँटोस्-द-फा' उपस्थित किये जाते थे। सहस्रों व्यक्तियों की उपस्थिति में, उन व्यक्तियों पर, जिनके विषय में पवित्र कैथोलिक धर्म के विरोध में सन्देह उत्पन्न हो जाता था, महादारुण यातनाएँ ढाही जाती थीं। जो प्रायश्चित्त करने के लिए मान जाते थे उनकी सम्पत्ति छीन ली जाती थी और वे बन्दीगृह में डाल दिये जाते थे, या देश-निष्कासित कर दिये जाते थे या दास बनाकर नाव खेने या युद्ध-पोत पर पतवार चलाने के लिए भेज दिये जाते थे। कुछ लोग, जो धर्म-

विरोधिता को स्वीकार नहीं करते थे और अपने दृष्टिकोण पर आरूढ़ रहते थे, उसी क्षण जला दिये जाते थे। राजा एवं भद्र लोग ऐसे अवसरों को अपनी उपस्थिति से सुशोभित करते थे। ऐसे उत्पीडनों की उस समय विशेष रूप से व्यवस्था की जाती थी जब कि भद्र लोगों के यहाँ विवाह होते थे या राज्य करने वाले राजा को पुत्रोत्पत्ति होती थी। तीन शतियों के भीतर जब तक यह महान् दारुण धार्मिक अत्याचार-नाटक खेला जाता रहा, लगभग ३,७५,००० व्यक्ति इसकी चपेट में आये, जिनकी १/१० संख्या जीते-जी जला डाली गयी (देखिए सेसिल राथ कृत उपर्युक्त पुस्तक, १९३६, पृ० ३१२)। हेनरी सी० ली ने अपने ग्रन्थ 'सुपरिस्टिशन एण्ड फोर्स' (१८७८, पृ० ४२६-४२७) में लिखा है—'इंक्विजिशन का सारा ढंग इस प्रकार का था कि दारुण एवं भयंकर कष्ट का मिलना अवश्यम्भावी था। इसकी कार्यवाहियाँ गुप्त रहा करती थीं; बन्दी को उसके अभियोगों के विषय में किसी प्रकार की जानकारी नहीं रहा करती थी और न उन साक्ष्यों को वह जान पाता था जिन पर वे (अभियोग) आधृत रहते थे। वह अपराधी मान लिया जाता था और न्यायाधीश तथाकथित अपराधी द्वारा अपने ऊपर थोपे हुए अपराध को स्वीकार कर लेने के लिए उस पर अपनी सम्पूर्ण शक्तियाँ लगा देते थे। इसको पूर्ण करने के लिए कोई भी साधन अधम एवं क्रूर नहीं समझा जाता था।'

गोवा में पोर्तुगालों के शासन में हिन्दुओं की क्या स्थिति थी ? इस विषय में जानकारी प्राप्त करना शिक्षाप्रद होगा। गोवा में कुख्यात 'इंक्विजिशन' सन् १५६० ई० में स्थापित हुआ और इसने अपना दारुण, असहिष्णु एवं अमानुष कृत्य लगभग २५० वर्षों तक चलाया। जो लोग इस विषय में अभिरुचि रखते हैं, वे सन् १९२३ में पोर्तुगाली सरकार द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ 'ए इण्डिया पोर्चुगूइज़ा' (जिल्द २, विशेषतः गोवा हाईकोर्ट के भूतपूर्व न्यायाधीश एण्टोनियो डे नोरुन्हा का लेख 'ओस इण्डसे डे गोवा' पठनीय है) को पढ़ सकते हैं। जे० एच० डे कुन्हा राइवरा (जो भारत में सन् १८५५ से १८७० ई० तक पोर्तुगीज़ गवर्नर जनरल का सेक्रेटरी था) द्वारा लिखित निबन्ध 'हिस्टारिकल एसे आन दि कोनकनी लैंग्वेज' का एक संक्षिप्त वक्तव्य प्रकाश डालने वाला सिद्ध होगा। उसमें इस प्रकार आया है (पोर्चुगीज़ भाषा में)—'अब हम उन कारणों की खोज करेंगे जो पोर्तुगाली शासन में कोंकणी भाषा की संस्कृति के विकास के पक्ष या विपक्ष में थे। विजय के प्रथम उत्साह में मन्दिर गिराये गये; हिन्दू धर्म के सभी प्रतीक नष्ट कर दिये गये और वे सभी पुस्तकें, जो जन-भाषा में लिखित थीं, जिनमें मूर्तिपूजा विषयक सिद्धान्त एवं शिक्षाएँ प्रतिपादित थीं अथवा जिनमें ऐसी बातों का सन्देह था, जला डाली गयीं। एक ऐसी इच्छा परिव्याप्त थी कि जन-संख्या का वह सम्पूर्ण भाग, जो शीघ्रतापूर्वक ईसाई धर्मावलम्बी न बनाया जा सके, नष्ट कर दिया जाये; यह इच्छा केवल उसी काल में नहीं थी, प्रत्युत दो शतियों के उपरान्त भी बनी रही। एक व्यक्ति ऐसा भी था जिसने प्रशासक-जैसी गम्भीरता के साथ सरकार को ऐसा परामर्श दिया कि वह वैसी ही नीति का अनुसरण करती रहे।'[१६] अस्तु,

(२) भारत से बौद्ध धर्म के विलीन होने के दूसरे प्रमुख कारण पर अब हम प्रकाश डालेंगे। सिद्धार्थ (बुद्ध) द्वारा अपनी राजकीय स्थिति, युवती पत्नी, बच्चे एवं गृह का त्याग, दुःख एवं चिन्ता से मानव की मुक्ति के हेतु मार्ग ढूँढ़ने के लिए परिव्राजक बन इधर-उधर भटकना, उसके उपरान्त वर्षों तक शरीर को तप से सुखाना, ध्यान के लिए सर्वथा एकान्त में चला जाना, मार (कामदेव) से उनका युद्ध एवं अन्तिम विजय, उनका ऐसा विश्वास कि मैंने मुक्ति का मार्ग ढूँढ़ लिया है, अपने द्वारा प्राप्त किये हुए सत्यों को लगभग ४५ वर्षों तक गाँव-गाँव, नगर-नगर घूम-घूम कर प्रसारित करना, यज्ञों में अबोध एवं मूक प्राणियों की बलि के विरोध में उनका अभियान, शान्ति एवं

१६. प्रो० ए० के० प्रियोल्कर कृत 'दि प्रिंटिंग प्रेस इन इण्डिया' (बम्बई, १९५८), पृ० १६१ से उद्धृत।

सन्तोष के साथ पूर्ण अवस्था को प्राप्त कर संसार से चला जाना---ऐसा था बुद्ध का महत्त्वपूर्ण एवं गरिमामय जीवन। इसके बल पर उनका अति उदात्त एवं विशिष्ट व्यक्तित्व मनुष्यों को अनायास अपनी ओर आकृष्ट कर लेता था। एडविन अर्नाल्ड ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'लाइट आव एशिया' की भूमिका (पृ० १३) में बुद्ध की शिक्षा के विषय में उन्मुक्त भाव से प्रशस्ति-गान किया है—"यह श्रद्धास्पद धर्म, जिसमें सार्वभौम आशा की अमरता है, असीम प्यार की अक्षयता है, अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के विश्वास में कभी न क्षय होने वाला तत्त्व है तथा मानवीय स्वतन्त्रता (विमुक्ति) के विषय में किया गया अब तक का सब से गर्वीला वचन है।" बुद्ध द्वारा जो प्रकाश-दीप जलाया गया वह योग्य एवं सामर्थ्यवान् शिष्यों के हाथों तब तक जलता रहा जब तक छठी शती में बौद्ध धर्म अपनी महत्ता के शिखर पर नहीं पहुँच गया। उस काल में एक प्रतिक्रिया उठ खड़ी हुई थी। प्राचीन बौद्ध धर्म में पर्याप्त परिवर्तन हो गये थे और आदर्शों में भी परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगे थे। हमने इस विषय में ऊपर देख लिया है। इस धर्म में ईश्वर के विषय में कोई स्पष्ट धारणा नहीं थी, बहुत-से ऐसे सम्प्रदाय उठ खड़े हुए जो पूर्णतया ईश्वरवादी थे, स्वयं बुद्ध की पूजा की जाने लगी, और लोग उन्हें भगवान् मानने लगे, वज्रयानी तान्त्रिक सम्प्रदायों के विचित्र सिद्धान्तों एवं दुष्प्रयोगों के चंगुल में बहुत-से सम्प्रदाय पड़ गये। इसका परिणाम यह हुआ कि बौद्ध धर्म कई विरोधी रूढ़ियों का सम्मिश्रण-सा हो गया और पारस्परिक द्रोह एवं झगड़ों से इसकी दीवारों में दरारें पड़ने लगीं। जब बुद्ध का देहावसान हो गया उसी समय सिद्धान्तों को लेकर विवाद उठ खड़ा हुआ, जो राजगृह में बुलायी गयी प्रथम संगीति में प्रकट हुआ, दूसरी संगीति एक सौ वर्षों के उपरान्त वेसालि (वैशाली) में हुई और तीसरी अशोक के शासन-काल में पाटलिपुत्र में हुई। परम्पराओं से यह प्रकट है कि कुल चार संगीतियाँ हुईं जिनमें शास्त्रीय मापदण्ड निर्धारित किये गये, किन्तु अशोक (लगभग २५० ई० पू०) के पूर्व की कोई पालि पुस्तक अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी है। इन विवादों एवं भाँति-भाँति के उत्तरों-प्रति-उत्तरों के कारण तथा उनके फलस्वरूप जो धर्म-भेदमूलक शाखा-प्रति-शाखाएँ उत्पन्न हुईं उनसे बौद्ध धर्म की हानि हुई। श्री एन० जे० ओ' कोन्नोर ने इस कारण को उन चार प्रमुख कारणों में प्रधान माना है जिनके फलस्वरूप बौद्ध धर्म का ह्रास होता चला गया और अन्त में यह एक दिन भारत से विलीन हो गया।

(३) सातवीं शती का अन्त होते-होते भारत कई छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्यों में बँट गया, जो सदा एक दूसरे से युद्ध करते रहते थे। बौद्ध धर्म को अशोक, कनिष्क एवं हर्ष जैसे समर्थ, प्रभु-सत्तासम्पन्न, उत्साही एवं प्रजावत्सल सम्राटों का आश्रय नहीं प्राप्त हो सका। अब उसे राजकीय आश्रय मिलना असम्भव था, हाँ, बंगाल के पाल-वंशीय राजाओं से कुछ वर्षों तक स्नेह अवश्य मिला, किन्तु बौद्ध धर्म अब ह्रास की ओर ही उन्मुख हो गया था।

(४) बौद्ध धर्म के महान् सिद्धान्तों के योग्यतम एवं उद्भट व्याख्यातागण अपने धर्म के प्रचारार्थ इस देश को छोड़कर अन्य देशों में चले गये। डा० राधाकृष्णन ने अपनी पुस्तक 'इण्डिया एण्ड चाइना' में ऐसे २४ महत्त्वपूर्ण भारतीय विद्वानों का उल्लेख किया है जो बुद्ध के उपदेशों के प्रचारार्थ चीन में तीसरी शती से ९७३ ई० तक जाते रहे (पृ० २७); उन्होंने कुछ ऐसे चीनी विद्वानों का उल्लेख किया है जो बौद्ध धर्म-सम्बन्धी पवित्र स्थलों के दर्शनार्थ एवं बौद्ध धर्म की शिक्षा ग्रहण करने के लिए भारत में आते रहे हैं (पृ० २७-२८)।

(५) गौतम बुद्ध द्वारा स्थापित एवं प्रकाशित उच्च नैतिक आदर्शों का पालन उनके अधिकांश अनुयायियों को, विशेषतः उनके व्यक्तिगत उदाहरणों के अन्तर्हित हो जाने के उपरान्त, कष्टकारी लगा होगा। महापरिनिब्बान-सुत्त (सैक्रेड बुक आव दि ईस्ट, जिल्द ११, पृ० १२७) में आया है कि उस सुभद्द ने, जो बुढ़ौती में संघ में सम्मिलित हुआ था, बुद्ध के निर्वाण के उपरान्त अपने उन साथियों से कहा जो बहुत दुखी थे—"रोओ नहीं, विलाप न करो। हम महान् श्रमण से छुटकारा पा गये। 'यह तुम्हारे योग्य नहीं है, यह तुम्हें शोभा नहीं देता' इस प्रकार कहे जाने पर

हम क्रोध में आ जाया करते थे; अब हम मनोनुकूल करेंगे और जो करना नहीं चाहते हैं वह नहीं करेंगे।" सामान्य जन एक ही प्रकार के उपदेशों को सदैव नहीं पसन्द करते, यथा, इस प्रकार के विचार कि क्लेश ही मनुष्यों के भाग्य में है, नीरस मठ-जीवन, मनोभावों के प्रति विराग तथा निर्वाणप्राप्ति का वचन, जो कदाचित् ही सुन्दर ढंग से व्याख्यायित हो सका हो। निर्वाण का अर्थ सम्भवतः बुद्ध के मतानुसार था 'अहंता एवं कामना का नाश, एक ऐसी आनन्द-स्थिति जो ज्ञानातीत थी; न कि सम्पूर्ण नाश या समाप्त हो जाना।' किन्तु अधिकांश लोग इस अन्तिम अर्थ को ही निर्वाण मानते थे। बुद्ध व्यर्थ की कल्पनात्मक स्थिति के प्रतिकूल थे, विशेषतः उन बातों के विषय में जो उनके विशुद्ध नैतिक प्रयत्न एवं उद्देश्य के लिए सर्वथा अनुपयुक्त थीं और उनसे मेल नहीं रखती थीं। बहुत-से दार्शनिक एवं कल्पनात्मक प्रश्न, यथा—'यह विश्व नित्य है या नहीं, यह अनन्त है या अन्तयुक्त, आत्मा वही है जो देह है या देह से भिन्न है, तथागत मृत्यु के उपरान्त रहते हैं या नहीं' आदि प्रश्न बुद्ध द्वारा अनुत्तरित ही रहे (देखिए मज्झिमनिकाय, ६३, ट्रेंकनर संस्करण, जिल्द १)। धीरे-धीरे भिक्षुओं एवं भिक्षुकियों के मठ प्रमादों, विषयों एवं अनैतिक आचरणों के अड्डे हो गये और वज्रयानी तन्त्रवादियों के समान पथभ्रष्ट लोगों के दुष्कर्मों एवं व्यभिचारों के केन्द्र बन गये। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने, जो किसी समय स्वयं बौद्ध भिक्षु थे, अपने निबन्ध 'वज्रयान एण्ड दि ८४ सिद्धज़' (जर्नल, एशियाटिक० जिल्द २२५, १९३४, पृ० २०९-२३०) में लिखा है—"मठ एवं मन्दिर लोगों द्वारा पवित्र मन से दिये गये धन से परिपूर्ण थे। भिक्षु का जीवन साधारण उपासक की अपेक्षा अधिक सुखमय था। अनुशासन ढीला पड़ गया और अयोग्य व्यक्ति संघ में प्रविष्ट हो गये।[१७] सुन्दर चित्रकारियों, एकान्त भूमि, देवियों एवं देवताओं के परिवेष में जो उन्मुक्त जीवन प्रवाहित होता चला आ रहा था, इससे लोगों का ध्यान विषय-वासना, भोग-लिप्सा, मैथुन की ओर अवश्य आ गया होगा। कथावत्थु (२३।१) से हमें ज्ञात है कि अन्धक-शाखा किसी विशिष्ट उद्देश्य के लिए मैथुन की अनुमति देती थी; यह रहस्यवादी सम्प्रदाय में सम्मिलित हो गया था।[१८] दक्षिण में आकर, मन्त्रों के प्रयोग, मानस आचरणों एवं इन्द्रियों के आनन्द के लिए कुछ विशिष्ट क्रियाओं के समावेश से वज्रयान पूर्ण हो गया।"

(६) गौतम (९।४७, ६८, ७३), मनु (४।१७६, २०६, १०।६३) एवं याज्ञवल्क्य (१।१५६, ३।३१२-३१३) जैसी स्मृतियों ने वेद एवं ब्राह्मण को सम्मान देने के साथ-साथ चारों वर्णों के लिए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, दान, दम, दया, शान्ति, ब्रह्मचर्य तथा अन्य गुणों पर बल दिया है, जैसा कि बुद्ध एवं अन्य प्रारम्भिक बौद्ध

१७. डा० ए० एस० अल्तेकर (१७ वीं अखिल भारतीय ओरिएण्टल कान्फ्रेंस, अहमदाबाद, १९५३, पृ० २४३-२४६) द्वारा आचारसार (नवागन्तुक बौद्धों के लिए प्रतिपादित नियम) की श्रमणेर-टीका पर जो निबन्ध लिखा गया है उसमें भर्त्सनाओं का (जिनमें कुछ पृ० २४५ पर लिखित हैं) उल्लेख है, जिनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि भिक्षुओं की एक लम्बी संख्या ऐसी होती थी जिससे बौद्ध धर्म को कुख्याति मिलती थी। 'मिलिन्द-प्रश्न' (सैक्रेड बुक आव दि ईस्ट, जिल्द ३५, पृ० ४९-५०) में एक प्रश्न है—'लोगों ने संघ की शरण क्यों ली है?' इसके उत्तर में नागसेन ने महत्त्वपूर्ण उत्तर दिया है कि कुछ लोगों ने इसलिए संघ की शरण ली है कि उनके दुःख का अन्त हो जाये और वे पुनः दुःख में न पड़ें, 'बिना विश्व से लगाव रखे पूर्णरूपेण चला जाना हमारा सब से बड़ा उद्देश्य है'; . . .कुछ लोगों ने संसार का त्याग राजाओं के अत्याचार के भय से किया है; कुछ लोग लूटे जाने के भय से यहाँ आ गये हैं; कुछ ऋणों से परेशान हो यहाँ चले आये हैं और कुछ लोग केवल जीविका साधने के लिए यहाँ प्रविष्ट हो गये हैं।

१८. एकाधिप्पायो मेथुनो धम्मो पटिसेवितब्बो ति। आमन्ता। कथावत्थु (२३।१)।

ग्रन्थों ने अपने अनुयायियों के लिए निर्देश किया है।[१९] मनु (५।४५) एवं विष्णुधर्मसूत्र (५१।६८) में आया है—'वह व्यक्ति जो केवल अपने आनन्द के लिए अहानिकर पशुओं (यथा हरिण) को मारता है, वह जीते-जी या मृत्यु के उपरान्त न तो सुख-वृद्धि कर पाता और न चैन से पलता ही है।' ऐसा ही वचन धम्मपद (१३१) में भी आया है। यहाँ तक कि ऋ० (१०।८५।१) में आया है—'यह पृथिवी सत्य द्वारा आधृत है, आकाश सूर्य द्वारा ठहरा हुआ है।' मुण्डकोपनिषद् (३।१।६) में आया है—'केवल सत्य की विजय होती है, असत्य की नहीं।'

(७) उन ब्राह्मणों का शक्तिशाली विश्वास (धर्म) एवं जागरूकता, जिन्होंने वेद, उपनिषदों के दर्शन, मध्यम मार्ग की यौगिक क्रियाओं (यथा—गीता में ६।१५-१७), विश्वास एवं भक्ति से सब के लिए मुक्ति-प्राप्ति के सिद्धान्त आदि को एक में बाँध दिया और जो सब के मन में अटल विराजमान था।

(८) बौद्ध धर्म के वेग को रोकने के हेतु अपने धार्मिक विश्वासों एवं प्रयोगों में परिवर्तन करने के लिए एवं हिन्दू धर्म को अधिक जनप्रिय करने के लिए ब्राह्मणों एवं समाज के अन्य नेताओं ने ईसा के पूर्व एवं उपरान्त कई शतियों तक आदान-प्रदान की विलक्षण नीति अपना ली थी। पुराने वैदिक देव (इन्द्र, वरुण आदि) पृष्ठभूमि में पड़ गये, बहुत-से वैदिक यज्ञ छोड़ दिये गये, देवी, गणेश एवं मातृका आदि देव-देवियाँ प्रसिद्धि को प्राप्त हो गयीं, वैदिक मन्त्रों के साथ पौराणिक मन्त्रों का प्रयोग होने लगा। वराहमिहिर (छठी शती का पूर्वार्ध) ने वैदिक मन्त्रों के साथ साधारण मन्त्रों का प्रयोग किया है (बृ० सं० ४७।५५-७०, ४७।७१)। यहाँ तक कि अपरार्क (पृ० १४-१५) ने देवपूजा में नरसिंहपुराण एवं देवप्रतिमा-प्रतिष्ठा में पौराणिक विधि की बात उठायी है। इसके अतिरिक्त अहिंसा, दान, तीर्थयात्रा एवं व्रतों पर बल दिया गया और यहाँ तक कह दिया गया कि अन्तिम दो (यात्रा, व्रत) वैदिक यज्ञों से अपेक्षाकृत अधिक लाभकर हैं। इस प्रकार के परिवर्तनों ने बौद्ध धर्म के प्रभाव को अवश्य कम कर दिया। पौराणिक गाथाएँ जातक गाथाओं से होड़ लगाने लगीं, देवों एवं अवतारों से सम्बन्धित कथाएँ लोगों के मनों को आकृष्ट करने लगीं। बाण (सातवीं शती का पूर्वार्ध) की कादम्बरी में आया है कि उज्जयिनी के लोग महाभारत, पुराणों एवं रामायण के अनुरागी थे। श्री ओ' कोन्नोर ने इसे बौद्ध धर्म के ह्रास के चार प्रमुख कारणों में अन्तिम कारण माना है।

(९) सातवीं शती से बुद्ध हिन्दुओं द्वारा विष्णु के एक अवतार कहे जाने लगे और दसवीं शती तक वे सम्पूर्ण भारत में इस प्रकार परिज्ञात हो गये।

१९. अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥ मनु (१०।६४); अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्॥ याज्ञ० (१।२२); अथाष्टावात्मगुणाः। दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूया शौचमनायासो मंगलमकार्पण्यमस्पृहेति। यस्यैते चत्वारिंशत्संस्कारा न चाष्टावात्मगुणा न स ब्रह्मणः सायुज्यं सालोक्यं गच्छति। गौतमधर्मसूत्र (८।२३-२५)। मत्स्य० (५२।८-१०) वेद एवं आचार की ओर निर्देश करके इन आठ गुणों को आत्मगुण कहता है—'वेदोऽखिलो धर्ममूलमाचारश्चैव तद्विदाम्। अष्टावात्मगुणास्तस्मिन् प्रधानत्वेन संस्थिताः॥' मत्स्य० (५२।७-८)। अत्रिस्मृति (श्लोक ३४-४१) ने भी इन्हीं आठ का उल्लेख किया है और इनकी व्याख्या की है, तथा हरदत्त ने (गौतम की व्याख्या में) इन आठ गुणों की परिभाषा में आठ श्लोक उद्धृत किये हैं। धम्मपद (श्लोक १३१) में आया है—'सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन विहिंसति। अत्तनो सुखमेसानो पेच्च सो न लभते सुखम्॥'

(१०) मुसलमानी कट्टरता एवं उनके भारतीय आक्रमण ने बौद्ध धर्म को अन्तिम धक्का दिया। लगभग १२०० ई० में एवं उसके उपरान्त नालन्दा एवं विक्रमशिला जैसे विश्वविद्यालय नष्ट कर डाले गये और अधिक संख्या में निर्दयतापूर्वक भिक्षु मार डाले गये। जो लोग इस प्रकार के संहार से बच गये वे तिब्बत या नेपाल में भाग गये। देखिए एच० एम० इलियट कृत 'हिस्ट्री आव इण्डिया' (जिल्द २, पृ० ३०६) जहाँ बख्तियार खिलजी के अत्याचार का वर्णन है, जो तबाकत-ए-नासिरी से लिया गया है। उसमें लिखा है कि बख्तियार खिलजी अपनी सेना लेकर विहार गया और वहाँ लूटपाट की, उसके हाथ में प्रभूत सम्पत्ति पड़ी, वहाँ के निवासी अधिकतर ब्राह्मण थे, जिनके सिर मुण्डित थे, वे मार डाले गये, बहुत-सी पुस्तकें पायी गयीं और ऐसा माना गया कि सम्पूर्ण स्थान एक अध्ययन का नगर (मद्रसा अर्थात् मदरसा) था। इस वर्णन से प्रकट होता है कि मुण्डित-सिर ब्राह्मण बौद्ध भिक्षु थे।

ऐसा नहीं समझा जाना चाहिए कि बौद्ध भिक्षुओं ने सम्पत्ति का सम्पूर्ण त्याग कर दिया था। देखिए इण्डियन ऐण्टीक्वेरी (जिल्द ७, पृ० २५४-२५६, शिलालेख २ एवं ९) जहाँ भिक्षु एवं भिक्षुणी दाता के रूप में उल्लिखित हैं, और देखिए कनिंघम का 'भिलसा स्तूप' (पृ० २३५-२३६) जहाँ बहुत-से भिक्षु एवं कुछ भिक्षुणियाँ दाता के रूप में उल्लिखित हैं। आरम्भिक बौद्ध धर्म का साधारण जनता पर जो आकर्षण था, उसका कारण इसके द्वारा प्रचारित आत्मत्याग, अनुशासन, सेवा एवं बलिदान की भावना थी।

जब मुसलमानी आक्रमणों से भिक्षुओं का विनाश हो गया तो सामान्य जनता किंकर्तव्य-विमूढ हो गयी, वह या तो मुस्लिम हो गयी या हिन्दुओं में समा गयी। यह पूर्व ही कहा जा चुका है कि बुद्ध स्त्रियों को संघ में नहीं रखना चाहते थे, किन्तु अपने परम भक्त आनन्द के बार-बार कहने पर वे झुक गये और भविष्यवाणी की कि यह पवित्र धर्म जो एक सहस्र वर्षों तक चलने वाला था अब उतने वर्षों तक नहीं चलेगा, केवल ५०० वर्षों तक ही रह सकेगा। देखिए चुल्लवग्ग (सैक्रेड बुक आव दि ईस्ट, जिल्द २२, पृ० ३२५)।

भिक्षुओं के लिए **पातिमोक्ख** की २२७ धाराएँ थीं जो मास में दो बार चार भिक्षुओं की सभा में सुनायी जाती थीं और नियमों के उल्लंघन को वहाँ स्वीकार करना पड़ता था। यदि चुल्लवग्ग (सै० बु० ई०, २०, पृ० ३३०-३४०) को पढ़ा जाय तो पता चलेगा कि जब बहुत-से भिक्षु एवं भिक्षुणियाँ मठों में एकत्र होते थे तो शालीनता एवं नैतिकता का सामान्य पालन कुछ लोगों के लिए टूट-सा जाता था। प्रारम्भ में भिक्षुओं द्वारा भिक्षुणियों के समक्ष पातिमोक्ख सुनाया जाता था और भिक्षुणियाँ अपने दोषों को भिक्षुओं के समक्ष स्वीकार करती थीं, किन्तु आगे चलकर इस विधि में परिवर्तन हुआ और ऐसा नियम बना कि केवल भिक्षुणियाँ ही अपने लिए ऐसा करेंगी। पृ० ३३३ में आया है कि भिक्षुणियाँ आपस में झगड़ पड़ती थीं और मुक्केबाजी करने लगती थीं। पृ० ३३५ में ऐसा उल्लेख है कि कुछ भिक्षु भिक्षुणियों पर गन्दा पानी छोड़ देते थे और कभी-कभी अपने अंगों एवं जाँघों को भिक्षुणियों के समक्ष खोल देते थे।

प्रस्तुत लेखक ने ऊपर बौद्ध धर्म के विलोप के मुख्य कारणों का जो लेखा-जोखा उपस्थित किया है वह अधिकांश लोगों के मतों के अनुसार ही है। विभिन्न लेखकों ने अपनी रुचि के अनुसार इनमें कुछ को अति महत्त्वपूर्ण कहा है। ये कारण भारत में बौद्ध धर्म के नाश के मूल में थे, किन्तु प्रस्तुत लेखक के मत से इसका प्रमुख कारण यह था कि भारतीय समाज की अधिक संख्या ने यह अनुभव किया कि बौद्ध धर्म के लेखकों द्वारा जो यह कहा गया और बल दिया गया कि यह संसार दुःख से परिपूर्ण है, सभी कामनाओं को त्याग देना चाहिए और विहारवासी (परिव्राजकीय) जीवन बिताना चाहिए, वह सामान्य लोगों के लिए बहुत असह्य था, और आश्रमों पर आधारित हिन्दू जीवन ने, जिसमें कर्तव्यों एवं अधिकारों की विशिष्ट व्याख्या थी, विशेषतः गृहस्थाश्रम पर जो इतना बल दिया गया था, लोगों के समक्ष कौटुम्बिक जीवन का ऐसा आदर्श रखा जो अति नियमानुकूल एवं अनुशासित था और उसके द्वारा परमोक्ष

सुख की उपलब्धि सम्भव थी। कामनाओं के त्याग की भावना ने मानव समाज की स्थिरता एवं लगातार चलते रहने की प्रक्रिया पर प्रभाव डाला और लोगों में क्रमशः शारीरिक एवं मानसिक शक्ति का ह्रास दृष्टिगोचर होने लगा तथा प्रमाद, अनैतिकता एवं जातिगत आत्महनन की भावना घर करने लगी। मनु (३।७७-७८, ६।८९-९०), वसिष्ठ-धर्मसूत्र (८।१४-१७), विष्णुधर्मसूत्र (५९।२९), दक्ष (२।५७-६०) तथा अन्य ऋषियों एवं लेखकों ने गृहस्थ आश्रम को सर्वश्रेष्ठ माना है। महाभारत (शान्ति० २७०।६-११) एवं रामायण (अयोध्या० १०६।२) एवं पुराणों ने भी यही बात कही है।

केवल धर्मशास्त्रों ने ही नहीं, प्रत्युत कालिदास जैसे कवियों ने भी समाज में गृहस्थाश्रम को सर्वोच्च महत्त्व दिया है। रघुवंश (५।१०) में राजा रघु ने एक विद्वान् ब्राह्मण विद्यार्थी से कहा है—'अब यही समय है कि आप दूसरे आश्रम में प्रवेश करें, जो अन्य आश्रमों (में रहने वाले व्यक्तियों) के लिए उपयोगी है। शाकुन्तल (१) में भी यही बात पायी जाती है।

जब बुद्ध परमात्मा के रूप में बौद्धों द्वारा पूजित होने लगे, जब बौद्धों ने इसी जीवन में स्वार्थभरी कामनाओं के त्याग एवं अष्टांगिक मार्ग के अनुसरण द्वारा साध्य निर्वाण-प्राप्ति के मौलिक सिद्धान्त का बहिष्कार कर दिया, जब बौद्धों ने भक्ति के सिद्धान्त को अपना लिया और उन्होंने सुकृत्यों के फलस्वरूप बोधिसत्त्वों के सतत विकास के सिद्धान्त को अपना लिया, तब हिन्दू एवं बौद्ध के बीच की दूरी कम हो गयी और क्रमशः समाप्त-सी हो गयी। इसी मौलिक सिद्धान्त से हट जाने के कारण बौद्ध धर्म भारत से तिरोहित हो गया। ब्राह्मणों ने हिन्दू धर्म को बहुत विस्तृत कर दिया, उन्होंने आश्रमिक आदर्शवाद, बहुत-से देवों की पूजा, वैदिक तथा अन्य धार्मिक क्रियाओं (यथा कर्ममार्ग) को उच्चतर आध्यात्मिक जीवन के लिए उचित ठहराया और उन्हें मान्यता दी। हिन्दूवाद की अन्तिम विजय यह व्यक्त करती है कि इसके धर्म एवं दर्शन में शक्ति एवं विशालता है, जो कि बौद्ध धर्म की एकपक्षता एवं उसके कतिपय रूपों में नहीं पायी जाती थी और न उसमें मानव-मन की पिपासा को शान्त करने की शक्ति थी, क्योंकि वह (बौद्ध धर्म) इन बातों में मूक था।

पुराणों एवं धर्मशास्त्रों ने अहिंसा पर इतना बल दिया कि भारत के लाखों व्यक्ति कट्टर निरामिषभोजी हो गये; कट्टर निरामिषता न-केवल ब्राह्मणों में ही पायी गयी, प्रत्युत वैश्यों एवं शूद्रों में भी फैल गयी, जब कि आज के कतिपय बौद्ध देशों में बौद्ध लोग निरामिषभोजी नहीं हैं। बौद्ध धर्म ने जो आदर्श उपस्थित किये वे सभी देशों के बौद्धों के लिए आज प्रयास के विषय (कष्टसाध्य) मात्र हैं। बुद्ध ने पशु-यज्ञों के विरोध में अभियान किया, अशोक ने पशु-पक्षी के प्रति की जाने वाली निर्ममता के विरोध में नियम एवं अनुशासन घोषित किये, तब भी यह देखने में आया कि भारतीय राजाओं ने ईसा के पूर्व एवं उपरान्त कई शतियों तक वैदिक यज्ञ (पशु-यज्ञ भी) किये। कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं—(१) सेनापति पुष्यमित्र (लगभग १५० ई० पू०) ने दो अश्वमेध यज्ञ किये (एपि० इण्डिका, जिल्द २२, पृ० ५४-५८), हरिवंश (३।२।३५) में आया है कि सेनानी काश्यप-द्विज ने कलियुग में अश्वमेध यज्ञ किया, कालिदास के मालविकाग्निमित्र (अंक ५) में राजसूय यज्ञ किये जाने का उल्लेख है। (२) कलिंग के जैन राजा खारवेल ने अपने शासन के छठे वर्ष में राजसूय यज्ञ किया (एपि० इण्डि०, जिल्द २०, पृ० ७९)। (३) भारशिव वंश के भवनाग ने (लगभग २०० ई०) दस अश्वमेध यज्ञ किये (गुप्त इंस्क्रिप्शंस, सं० ५५, सं० २३६-२३७; वाकाटक रुद्रसेन द्वितीय की धर्मपत्नी प्रभावती गुप्ता के लेख में भी इसका उल्लेख है)। (४) वाकाटक सम्राट् प्रवरसेन प्रथम (लगभग २५० ई०) भवनाग का दौहित्र एवं चार अश्वमेधों का सम्पादनकर्ता कहा गया है (एपि० इण्डिका, जिल्द १५, पृ० ३९)। (५) गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त (लगभग ३२५-३७० ई०) बहुत काल से छूटे हुए अश्वमेध को पुनः करने वाला कहा गया है (देखिए बिलसद प्रस्तर-लेख, गुप्त इंस्क्रिप्शंस, सं० १०, पृ० ४२, स्कन्दगुप्त का बिहार स्तम्भ-लेख, वही, संख्या

१२, पृ० ५१)। (६) पल्लवराज शिवस्कन्दवर्मा (लगभग ३००-३५० ई०) को अग्निष्टोम, वाजपेय एवं अश्वमेध करने वाला कहा गया है (एपि० इं०, जिल्द १, पृ० २)। (७) पल्लवराज सिंहवर्मा भी अश्वमेधकर्ता कहा गया है (एपि० इं०, जिल्द ८, पृ० १५९)। (८) चालुक्यराज पुलकेशी प्रथम (लगभग ५७० ई०) ने अश्वमेध यज्ञ किया (ऐहोल शिलालेख, एपि० इं०, जिल्द ६, पृ० १)। (९) चालुक्यराज पुलकेशी द्वितीय ने भी अश्वमेध यज्ञ किया (वही, जिल्द ६, पृ० १, जिल्द ९, पृ० ९८)। (१०) विष्णुकुण्डी माधववर्मा (वाकाटक कुल के एक सम्बन्धी) ने ११ अश्वमेध, एक सहस्र अग्निष्टोम, पौण्डरीक, पुरुषमेध, वाजपेय, षोडशी एवं राजसूय यज्ञ (लगभग ७ वीं या ८ वीं शती में) किये। यह सम्भव है कि यह मात्र गर्व का द्योतक (अत्युक्ति) हो।

यह द्रष्टव्य है कि विद्वान् ब्राह्मण भी कभी-कभी विस्तार के साथ वैदिक यज्ञ करते थे। उदाहरणार्थ, भवभूति से पहले की पाँचवीं पीढ़ी में दक्षिणापथ के पद्मपुर में उनके पूर्व-पुरुष ने वाजपेय यज्ञ किया था। वाजपेय में १७ संख्या के अनेक वर्ग होते थे और उसमें १७ पशुओं की बलि होती थी। भवभूति ८ वीं शती के पूर्वार्ध में हुए थे अतः उनसे पूर्व की पाँचवीं पीढ़ी में लगभग सौ वर्ष पूर्व अर्थात् ७ वीं शती के पूर्वार्ध में उनके पूर्व-पुरुष ने वाजपेय यज्ञ किया था।

आजकल बुद्ध और उनके सिद्धान्तों की प्रशंसा करने का एक फैशन (परिपाटी) हो गया है और साथ-ही-साथ जहाँ बौद्ध धर्म की प्रशंसा में लोग आकाश तक स्वर-गुंजार करते हैं वहीं हिन्दू धर्म की खिल्ली भी उड़ायी जाती है। बुद्ध के मौलिक सिद्धान्तों एवं हिन्दू समाज के वर्तमान व्यवहारों तथा सीमाओं की जो तुलना की जाती है वह गर्हित है। प्रस्तुत लेखक इस प्रवृत्ति का विरोधी है। यदि तुलना करनी ही है तो वह बौद्ध धर्म के पश्चात्कालीन रूपों एवं वर्तमान बौद्ध व्यवहारों को एक ओर रखकर तथा हिन्दू धर्म के आज के रूपों एवं व्यवहारों को दूसरी ओर रखकर की जानी चाहिए। उपनिषदों का दर्शन गौतम बुद्ध के दर्शन की अपेक्षा अधिक स्पष्ट (परिमार्जित) था; उन्होंने अपने दर्शन को उपनिषदों के दर्शन पर ही आधारित किया। यदि हिन्दू धर्म कालान्तर में ह्रास को प्राप्त हो गया और उसने बुरी प्रवृत्तियाँ अभिव्यंजित कीं, तो वही स्थिति या उससे भी गयी बीती स्थिति थी पश्चात्कालीन बौद्ध धर्म की। जिस बौद्ध धर्म ने हमें वह भद्र बुद्ध दिया जो मानव था, किन्तु वह आगे चलकर देवता हो गया और उसकी प्रतिमाओं की पूजा होने लगी और लोग उसे एवं उसके धर्म को लेकर इतने उन्मत्त हो गये कि वज्रयान जैसी महाविकृत वृत्तियों को फूलने-फलने का अवसर प्राप्त हो गया। आज के अर्थशास्त्रियों ने बौद्ध धर्म के बारे में जो कुछ कहा है उसके प्रतिकूल कथन में प्रस्तुत लेखक स्वामी विवेकानन्द की उक्तियाँ उद्धृत करना चाहता है, जो पर्याप्त शक्तिशाली एवं न्यायपूर्ण हैं (देखिए 'दि सेजेज़ आव इण्डिया', कम्पलीट वर्क्स, जिल्द ३, पृ० २४८-२६८, ७ वाँ संस्करण, १९५३, मायावती, अल्मोड़ा)—"आरम्भिक बौद्धों ने पशुओं के वध के विरोध में आक्रोश प्रकट किया और वेदों के यज्ञों की भर्त्सना की; और ये यज्ञ प्रत्येक घर में होते थे...। इन यज्ञों की परिसमाप्ति हुई और उनके स्थान पर गगनचुम्बी मन्दिरों, विशाल उत्सवों एवं भड़कीले पुरोहितों या अन्य उन सभी बातों को, जो आधुनिक समय में दीख रही हैं, खुलकर चमकने का अवसर प्राप्त हो गया। जब मैं आज के लोगों द्वारा लिखित ग्रन्थों को पढ़ता हूँ तो हँसी आती है, उन्हें यह जानना चाहिए कि बुद्ध ब्राह्मणवादी मूर्तिपूजा के नाशक थे। वे यह नहीं जानते कि बौद्ध धर्म ने भारत में ब्राह्मणवाद एवं मूर्तिपूजा को उत्पन्न किया...। इस प्रकार पशुओं के प्रति दया का उपदेश देने पर भी, उदात्त नैतिक धर्म के रहते हुए भी, आत्मा की नित्यता या अनित्यता के विषय में वाद-प्रति-वाद होने पर भी, बौद्ध धर्म का सम्पूर्ण भवन खण्ड-खण्ड होकर ध्वस्त हो गया और वह ध्वंस वास्तव में महादारुण था। क्योंकि जुगुप्सित उत्सव, अत्यन्त अश्लील पुस्तकें तथा धर्म के नाम पर अत्यन्त पशुवत् जो रूप सामने आये वे सभी इस भ्रष्टता के परिणाम थे।"